प्रकाशन : प्रथम संस्करण : १०००
आषाढ़ शुक्ला ११ वी० नि० सं० २४९९

प्रकाशिका : श्रीमती सौ० भँवरीदेवी पांड्या
सुजानगढ़ ( राजस्थान )

सम्पादक : श्री पं० पन्नालालजी जैन साहित्याचार्य
सागर ( म० प्र० )

मुद्रक : नेमीचन्द बाकलीवाल
कमल प्रिन्टर्स
मदनगंज-किशनगढ़ ( राज० )

कागज : २०×३०=१४.३ Kg. ८६ फार्म में
९० रीम लगा

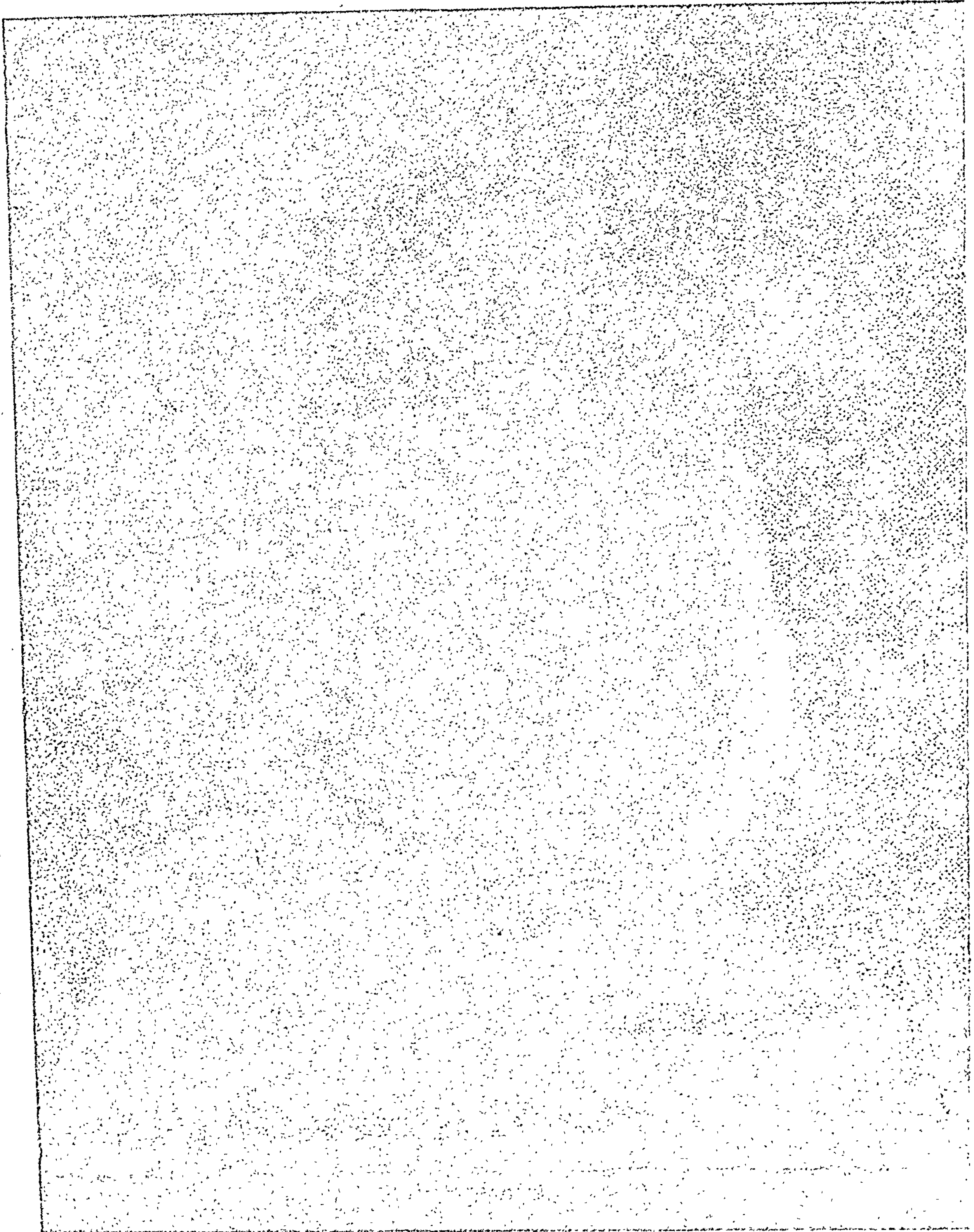
मूल्य : १५) रुपया मात्र

# अभिनन्दन

[ पू० आर्यिका श्री विशुद्धमती माताजी ]

आचार्य श्री शिवसागर
स्मृति ग्रन्थ आपका
करती हूँ—अभिनन्दन !
अभिवन्दन !!
अभिवादन !!!
इसलिये कि आपने
अपने में सँजोकर
सम्हाल कर रखे हैं
तारण-तरण
पूज्य आचार्य श्री
शिवसागर गुरुवर की
स्मृतियाँ
श्रद्धाञ्जलियाँ
पुष्पाञ्जलियाँ
संस्मरण
इतना ही नहीं, देखा !
देखा है !!
अन्तस्थल खोलकर
तुम्हारा मैंने
चारों अनुयोगों की
गरिमा से, महिमा से
अनुपम प्रमेयों से
श्रुत के निकुञ्ज कुञ्ज
श्रद्धा के पुञ्ज आप
× × ×
परमोपकारी सूरि
शिवसागर गुरुवर की
स्मृति में
हुआ है अवतार, ऐसे

स्मृतिग्रन्थ आपकी
बनी रहे स्मृति
भव्यों के स्मृतिपटल पर
सदा ही, निरन्तर ही
प्रकाशन आपका शीघ्र ही
कवलित करे
मिथ्यात्व की वासना
मोह का अंधकार
एवं कषाय अरु
विषयों की सघनतम
कालिमा को
× × ×
जिनकी गुणगरिमा के
प्रकाशन हेतु
प्रकाश पुञ्ज
हो रहे प्रकाशित आप
उन्हीं का
अनुसरण !
अनुकरण !!
अनुचरण !!!
कर सकूँ शीघ्र ही
इसीलिये "विशुद्ध" मन
वचन और काय से
काव्य-निकुञ्ज के
किञ्चित्-प्रसूनपुञ्ज
सादर समर्पित कर
करती हूँ अभिनन्दन
श्रद्धा अरु भक्ति से
ग्रन्थराज आपका



परमपूज्य १०८ चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री

शांतिसागरजी महाराज



# अमर-सन्देश

## मानव कल्याण का आधार सत्य और अहिंसा

### चारित्र चक्रवर्ती पू० आचार्य १०८ श्री शांतिसागरजी महाराज का

### अंतिम आदेश एवं उपदेश

ॐ जिनाय नम । ॐ सिद्धाय नमः । ॐ अर्हं सिद्धायनमः । भरत ऐरावत क्षेत्रस्थ भूत-भविष्य-वर्तमान तीस चौबीसी भगवान नमो नमः । सीमंधरादि बीस विहरमान तीर्थंकर भगवान नमो नमः । ऋषभादिमहावीर पर्यंत चौदह सौ बावन गणधर देवेभ्यो नमो नमः । चौसठ ऋद्धिधारी मुनीश्वराय नमो नमः । अंतकृत केवली मुनीश्वराय नमो नमः । प्रत्येक तीर्थंकर के समय में होने वाले दश दश घोरोपसर्ग विजयो मुनीश्वराय नमो नमः ।

ग्यारह अंग चौदह पूर्व शास्त्र महासमुद्र है । उसका वर्णन करने वाला आज कोई श्रुतकेवली नहीं है । कोई केवली भी नहीं है । श्रुत केवली उसका वर्णन कर सकता है । मुझ सरीखा क्षुद्र मनुष्य क्या वर्णन कर सकता है ? यह सर्व जीवों का कल्याण करने वाला है । जिनवाणी सरस्वती देवी अनन्त समुद्र प्रमाण है, फिर उसमें जिनधर्म को जो जीव धारण करेगा उसका कल्याण अवश्य होता है । अनन्त सुख को प्राप्त कर वह मोक्ष प्राप्ति कर लेता है । अनन्त आगमों में एक अक्षर-एक ॐ अक्षर-मात्र को जो धारण करता है उस जीव का कल्याण होता है । सम्मेदशिखर में दो बन्दर लड़ते थे, णमोकार मंत्र के प्रभाव से बन्दर स्वर्ग गया । श्रेष्ठी सुदर्शन ने बैल को उपदेश दिया, वह स्वर्ग गया । सप्त व्यसनधारी अंजन चोर को णमोकार मंत्र के उपदेश से उच्च गति हुई । यह तो जाने दो । कुत्ते जैसे महानीच जाति के जीव को जीवंधर कुमार ने उपदेश दिया, वह भी देवगति में गया । इतनी महिमा जिनधर्म की है । परन्तु इसे कोई धारण नहीं करता है ।

जैनी होकर भी जिनधर्मका विश्वास नहीं । अनन्त काल से जीव पुद्गल दोनों भिन्न-भिन्न हैं, यह सब जगत जानता है, परन्तु विश्वास करते नहीं । पुद्गल अलग है, जीव अलग है । दोनों ही भिन्न भिन्न होते हुए भी अपन जीव हैं या पुद्गल, इसका विचार करना चाहिए । अपन तो जीव हैं, पुद्गल नहीं । पुद्गल अलग है, जड़ है, उसमें ज्ञान नहीं है । दर्शन चैतन्य यह गुण जीव में है । स्पर्श, रस, वर्ण, गंध यह पुद्गल में हैं । दोनों का गुणधर्म अलग है और दोनों अलग अलग हैं ।

अपन जीव हैं या पुद्गल ? अपन जीव हैं । पुद्गल के पक्ष में पड़ने के कारण अपने को इस मोहनीय कर्म ने अपने जाल में फँसा लिया है । मोहनीय कर्म जीव का घात करता है ।

पुद्गल के पक्ष में पड़े तो जीव का घात होता है। जीव के पक्ष में पड़े तो पुद्गल का घात होता है। अपन तो जीव हैं इसलिये जीव का कल्याण होना, जीव को अनन्त सुख में पहुँचाना, मोक्ष को जाना, यह सब जीव में होता है। पुद्गल मोक्ष में नहीं जाता है।

इतना समझने पर भी यह सब जग भूल भटक रहा है, पंच पापों में पड़ा हुआ है। दर्शन मोहनीय कर्म के उदय ने सम्यक्त्व का घात किया है, चारित्र मोहनीय कर्मके उदय ने संयम का घात किया है। इस प्रकार इन दोनों कर्मों ने अनन्त काल से जीव का घात किया है। फिर अपने को क्या करना चाहिए ?

**आदेश और उपदेश :**

सुख प्राप्ति जिसको करने की इच्छा हो उस जीव को हमारा आदेश है कि दर्शन मोहनीय कर्म का नाश करके सम्यक्त्व प्राप्त करो। चारित्र मोहनीय कर्म का नाश करो, संयम को धारण करो। इन दो मोहनीय कर्मों का नाश कर अपना आत्म कल्याण करो। यह हमारा उपदेश है।

अनन्त काल से यह जीव संसार में परिभ्रमण कर रहा है। किस कारण से ? एक मिथ्यात्व कर्म के उदय से। अपना कल्याण किससे होगा ? इस मिथ्यात्व कर्म के नाश से। अतः उसका नाश अवश्य करना चाहिए।

सम्यक्त्व किसे कहते हैं, इसका कुन्द कुन्द स्वामी ने समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पंचास्तिकाय, अष्टपाहुड़ में और गोम्मटसारादि बड़े बड़े ग्रन्थों में वर्णन किया है। इस पर कौन श्रद्धा रखता है ? अपना आत्मकल्याण करने वाला रखेगा। जीव संसार में भ्रमण करता आरहा है यह हमारा आदेश है, उपदेश है। ॐ सिद्धायनमः।

**कर्तव्य :**

फिर आपको क्या करना चाहिए ? दर्शन मोहनीय कर्म का क्षय करना चाहिए। किससे उसका क्षय होता है ? एक आत्म चिंतन से होता है। कर्म निर्जरा किससे होती है ? आत्म चिंतन से होती है। तीर्थयात्रा करने पर पुण्य बंध होता है। प्रत्येक धर्म कार्य करने पर पुण्यबंध होता है।

**आत्म चिंतन :**

कर्म निर्जरा होने के लिये आत्म चिंतन साधन है। अनन्त कर्मों की निर्जरा के लिये आत्मचिंतन ही साधन है। आत्मचिंतन किये बिना कर्मों की निर्जरा होती नहीं। केवलज्ञान होता नहीं, केवलज्ञान के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है।

फिर अपने को क्या करना चाहिए ? चौबीस घंटों में छह घड़ी उत्कृष्ट कही गई है। चार घड़ी मध्यम कही गई है, दो घड़ी जघन्य कही गई है। जितना समय मिले उतना समय आत्म चिंतन

करो। कम से कम १०, १५ मिनिट तो करो। हमारा कहना है कि कम से कम पाँच मिनट तो करो। आत्म चिन्तन किये बिना सम्यक्त्व-प्राप्त नहीं होता है। सम्यक्त्व के बिना कर्मों का संसार-बंधन टूटता नहीं। जन्म जरा मरण छूटता नहीं। सम्यक्त्व प्राप्त कर संयम के पीछे लगना चाहिए। यह चारित्र मोहनीय कर्म का उदय है कि सम्यक्त्व होकर जीव ६६ सागर तक रहता है और मोक्ष नहीं होता। क्यों? चारित्र मोहनीय कर्म का उदय होने से।

**संयम पालन :**

चारित्र मोहनीय कर्म का क्षय करने के लिए संयम को ही धारण करना चाहिए। संयम के बिना चारित्र मोहनीय कर्म का नाश नहीं होता। इसीलिए यह संयम कैसा भी हो, परन्तु संयम धारण करना चाहिए। डरो मत। धारण करने में डरो मत। संयम धारण किये बिना सातवां गुणस्थान नहीं होता है। सातवें गुणस्थान के बिना आत्मानुभव नहीं होता है। आत्मानुभव के बिना कर्मों की निर्जरा नहीं होती। कर्मों की निर्जरा के बिना केवलज्ञान नहीं होता। ॐ सिद्धाय नमः।

**समाधि :**

निर्विकल्प समाधि, सविकल्प समाधि, इस प्रकार समाधि के दो भेद कहे गये हैं। कपड़ों में रहने वाले गृहस्थ सविकल्प समाधि करेंगे। मुनियों के सिवाय निर्विकल्प समाधि होती नहीं है। वस्त्र छोड़े बिना मुनि पद नहीं होता। भाइयो, डरो मत, मुनिपद धारण करो। यथार्थ संयम हुए बिना निर्विकल्प समाधि नहीं होती है। इस प्रकार समयसार में कुन्द कुन्द स्वामी ने कहा है। आत्मानुभव के बिना सम्यक्त्व नहीं होता है। व्यवहार सम्यक्त्व को उपचार कहा है। यह यथार्थ सम्यक्त्व नहीं है, यह साधन है। जिस प्रकार फल आने के लिये फूल कारण है, उसी प्रकार व्यवहार सम्यक्त्व कहा है।

यथार्थ सम्यक्त्व कब होता है? आत्मानुभव होने के बाद होता है। आत्मानुभव कब होता है? निर्विकल्प समाधि होने पर होता है। निर्विकल्प समाधि कब होती है? मुनिपद धारण करने पर ही होती है।

निर्विकल्प समाधि का प्रारम्भ कब होता है? सातवें गुणस्थान से प्रारम्भ होता है और बारहवें गुणस्थान में पूर्ण होता है, तेरहवें गुणस्थान में केवलज्ञान होता है, इस प्रकार नियम है। शास्त्रों में ऐसा लिखा है। इसलिये डरो मत। संयम धारण करो, सम्यक्त्व धारण करो, ये आपके कल्याण करने वाले हैं। इनके सिवाय कल्याण होता नहीं। संयम के बिना कल्याण नहीं होता है। आत्मचिंतन के बिना कल्याण नहीं होता है।

पुद्गल और जीव अलग-अलग हैं यह पक्का समझना। तुमने साधारण रूप से समझा है, यथार्थ तत्त्व अभी समझ में आया नहीं। यथार्थ समझ में आया होता तो इस पुद्गल के मोह में तुम

क्यों पड़ते ? संसार में बाल बच्चे, भाई बन्धु, माता पिता, ये सब पुद्गल के सम्बन्ध से होने वाले हैं। जीव के सम्बन्ध वाले कोई नहीं। अरे भाई ! जीव अकेला ही है अकेला ही जाने वाला है। देवपूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, संयम तप और दान ये छह षट्कर्म कहे गये हैं। असि मसि कृषि वाणिज्य शिल्प विद्या ये छह आरम्भ कहे गये हैं। इन छह आरम्भ जनित दोषों को क्षय करने के लिये छह कर्म करने की आवश्यकता है। यह व्यवहार हुआ। उससे यथार्थ में मोक्ष नहीं होता। ऐहिक सुख मिलेगा, पंचेन्द्रिय सुख मिलेगा, परन्तु मोक्ष नहीं मिलेगा। मोक्ष किससे मिलता है ? मोक्ष केवल आत्म चिन्तन से ही मिलता है। वाकी किसी भी कर्म से, क्रिया से, कार्य से और किसी कारण से मोक्ष नहीं मिलता।

## जिनवाणी पर श्रद्धा :

नय, शास्त्र, अनुभव इन तीनों को मिला कर विचार करो कि मोक्ष किससे मिलता है ? बाकी सब रहने दो। अपना अनुभव क्या ? भगवान् की वाणी के सामने उसका कोई मूल्य नहीं है। वाणी सत्य है। उस वाणी पर पूर्ण विश्वास रखना चाहिए। उस वाणी के एक शब्द सुनने पर एक शब्द से ही जीव तिर कर मुक्ति को जायेगा ऐसा नियम है।

सत्य वाणी कौनसी है ? एक आत्म चिन्तन। आत्म चिन्तन से सर्व कार्य सिद्ध होने वाले हैं। उसके सिवाय कुछ भी नहीं। अरे भाई ! बाकी कोई भी क्रिया करने पर पुण्य बन्ध पड़ता है, स्वर्ग सुख मिलता है, संपत्ति, संतति, धनवान, स्वर्ग सुख यह सब होते हैं, पर मोक्ष नहीं मिलता है। मोक्ष मिलने के लिये केवल आत्मचिंतन है तो वह कार्य करना ही चाहिए। उसके विना सद्गति नहीं होती, यह क्रिया करनी चाहिए।

सारांश—धर्मस्य मूलं दया। जिनधर्म का मूल क्या है ? सत्य, अहिंसा। मुख से सभी सत्य, अहिंसा बोलते हैं, पालते नहीं। रसोई करो, भोजन करो। ऐसा कहने से क्या पेट भरेगा ? क्रिया किये बिना, भोजन किये बिना, पेट नहीं भरता है। इसलिये क्रिया करने की आवश्यकता है। क्रिया करनी चाहिए, तब अपना कार्य सिद्ध होता है।

सब कार्य छोड़ो। सत्य, अहिंसा का पालन करो। सत्य में सम्यक्त्व आ जाता है। अहिंसा में किसी जीव को दुःख नहीं दिया जाता। अतः संयम होता है यह व्यावहारिक बात है। इस व्यवहार का पालन करो। सम्यक्त्व धारण करो। संयम धारण करो, तब आपका कल्याण होगा। इसके बिना कल्याण नहीं होगा।

( दिनांक ८-६-१९५५ समय ५-१० से ५-३२ तक संध्या )





परम पूज्य श्री १०८ स्व० आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज

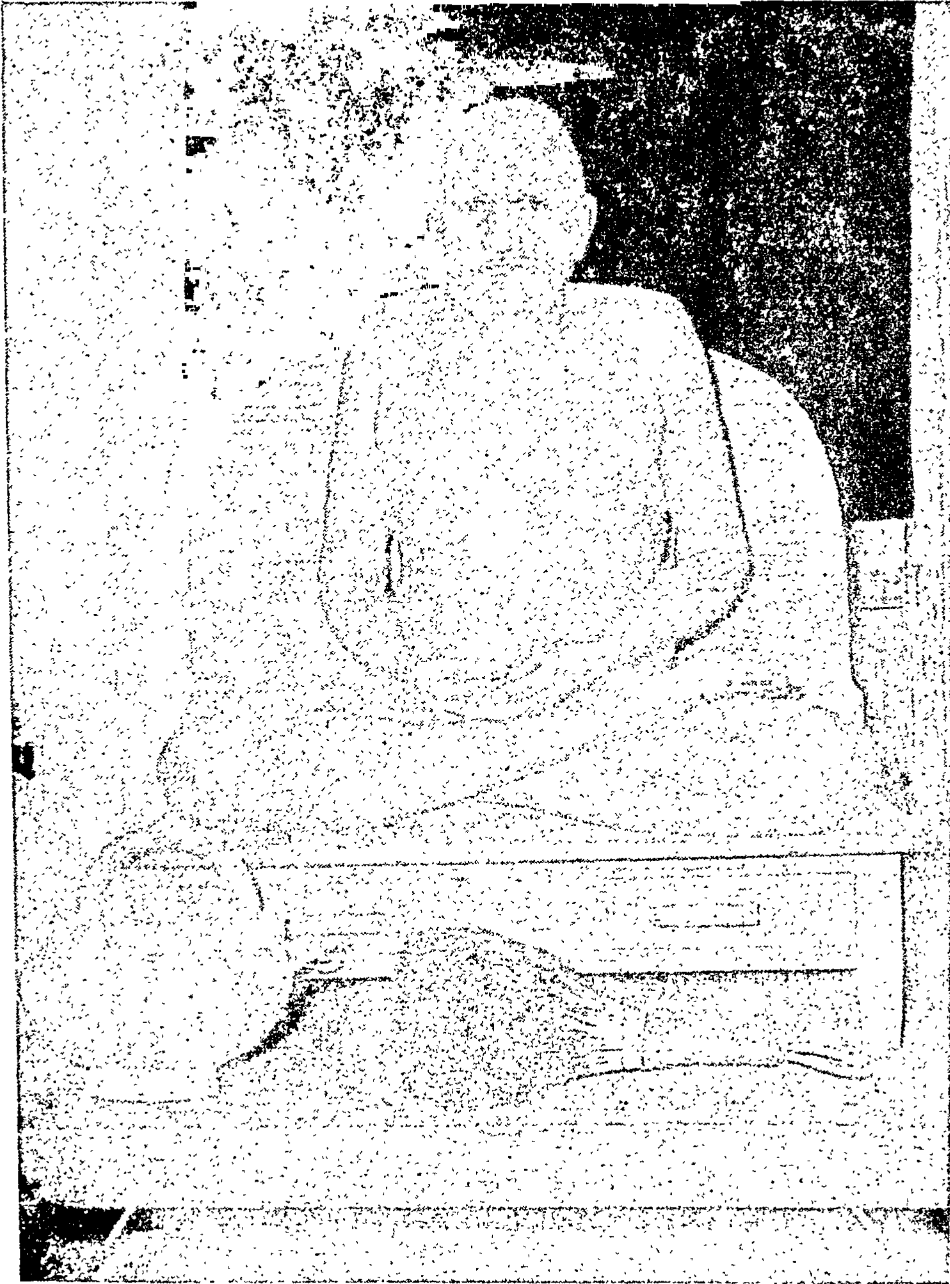
प्रातःस्मरणीय स्वर्गीय श्री १०८ श्री परमपूज्य आचार्य

# श्री शिवसागरजी महाराज



तुभ्यं नमोऽस्तु शिवसागरसंधात्रे, तुभ्यं नमोऽस्तु शिवसागर सौख्यदात्रे ।
तुभ्यं नमोऽस्तु शिवसागरकामजेत्रे, तुभ्यं नमोऽस्तु शिवसागरधर्मनेत्रे ।।

| जन्म | दीक्षा | समाधि दिवस |
| --- | --- | --- |
| वि० सं० १९५८ | आषाढ़ शुक्ला एकादशी | फाल्गुन कृष्णा अमावस्या |
| | वि० सं० २००६ | वि० सं० २०२५ |



श्री १०८ स्व० आचार्य शिवसागरजी महाराज के पट्टाधीश

**श्री १०८ आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज**

परम पूज्य आचार्यकल्प १०८ श्रुतनिधि श्री

# श्रुतसागरजी महाराज



| जन्म तिथि | मुनि दीक्षा |
| --- | --- |
| फाल्गुन कृष्णा ८ | भाद्रपद शुक्ला ३ |
| वि० सं० १९६२ | वि० सं० २०१४ |
| बीकानेर | जयपुर ( खानियां ) |

# समर्पण

श्रीमद् परमपूज्य विश्व नमस्करणीय

चारित्र शिरोमणि परम तपस्वी

उद्भट विद्वान श्रुतनिधि

चतुर्विध संघनियन्ता

आचार्यकल्प

श्री १०८ श्री श्रुतसागरजी महाराज

के

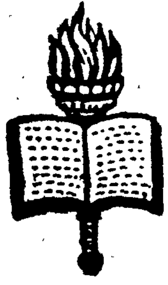
कर कमलों में

—※ सविनय सादर समर्पित ※—

चरण सेवक :

चांदमल सरावगी पांड्या

भँवरीदेवी सरावगी पांड्या



# मेरे प्रेरणा स्रोत



**प्रथम दर्शन :**

परमपूज्य प्रातः स्मरणीय जगतवंद्य चारित्रमूर्ति परमशांत स्व० दिगम्बर जैनाचार्य १०८ श्री वीरसागरजी महाराज के पट्टाधीश प० पू० परम तपस्वी कृश काय चारित्र शिरोमणि श्री १०८ स्व० आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज के दर्शन सर्व प्रथम मुझे वि० सं० २००६ में राजस्थानान्तर्गत नागौर डेह के उपनगर भदाना में आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज के सान्निध्य में हुए थे। आपके पावन दर्शन के उपरान्त आत्मा को परम आह्लाद प्राप्त हुआ। यही पुण्य भावना लेकर वहां से रवाना हुआ कि ऐसे महान वीतरागी साधु-पुंगवों के दर्शन बार-बार करता रहूँ व इनके ही पुनीत चरणों में चारित्र धारण करने में चरम लक्ष्य की ओर अग्रसर बनूं।

**शांति-लाभ :**

इसी प्रसंग में भदाना में ही आचार्यश्री के साथ ब्र० सूरजमलजी के भी दर्शन हुए तथा उनसे निकट परिचय प्राप्त हुआ। ब्रह्मचारीजी के ही निमित्त से मेरी भावना मुनि-संघ-दर्शन तथा अन्य धार्मिक कार्यों के प्रति बढ़ती चली गई। परम पूज्य आचार्यश्री वीरसागरजी महाराज के जहां-जहां मैंने दर्शन किए, वहां ही प० पू० स्व० आचार्य शिवसागरजी महाराज तथा अन्य साधु-सन्तों के भी दर्शन होते रहे। तपस्वी महात्माओं के दर्शनों से मुझे अपूर्व शांति मिली तथा त्याग-प्रवृत्ति में निरंतर वृद्धि होती गई।

**चैत्यालय-निर्माण :**

वि० संवत् २०११ में हमारे निवास-स्थान सुजानगढ़ में गृह चैत्यालय का निर्माण हुआ तथा ब्रह्मचारीजी के द्वारा ही आर्षमार्गानुकूल वेदी प्रतिष्ठा कराकर देवाधिदेव को विराजमान किया गया। परम पूज्य आचार्यश्री कहा करते थे कि जिस घर में जिनेंद्र भगवान की प्रतिकृति नहीं है, वह घर स्मशानतुल्य है। उनके सदुपदेशों से ही प्रभावित होकर मैंने घर में चैत्यालय बनवाया, जहाँ मेरे बाल-बच्चे परिजन दर्शन-पूजन आरती द्वारा आत्मा पवित्र-विकसित कर सकें। गोहाटी में भी पान बाजार स्थित निवास स्थान में मैंने चैत्यालय-निर्माण कराया, वेदी प्रतिष्ठा हुई व देवाधिदेव विराजमान किए गए। यह सब गुरु-उपदेश का ही सतत् प्रभाव था।

## गिरिनार-यात्रा :

प० पूज्य आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज अपने प्रथम शिष्य मुनि श्री शिवसागरजी महाराज को जयपुर खान्या में आचार्य पट्ट देकर वि० संवत् २०१४ आश्विन कृष्णा अमावस्या के प्रातः १०-५० पर स्वर्गवासी हुए। तदनन्तर आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज अपने विशाल चतुर्विध संघ सहित सिद्ध क्षेत्र गिरिनार आदि क्षेत्रों के दर्शनार्थ गए तथा सौराष्ट्र स्थित सारे क्षेत्रों के दर्शनोपरान्त पुनः राजस्थान पधारे।

## प्रभावपूर्ण प्रवचन :

आचार्यश्री का सदुपदेश बड़ा ही मार्मिक, जीवनोपयोगी, तलस्पर्शी एवं अत्यन्त प्रभावपूर्ण होता था। श्रद्धापुञ्ज महाराजश्री के दर्शन फिर समय-समय पर होते रहे व उनके प्रवचनों से निरंतर लाभ उठाया। फुलेरा, महावीरजी, टोडारायसिंह, जयपुर ( खान्या ) लाडनूं, सीकर, कोटा, उदयपुर, प्रतापगढ़ में उनके दर्शनों से मैंने लाभ उठाया।

## त्याग का महत्व :

आचार्य प्रवर की ही सद्प्रेरणा से शांतिवीर नगर की ओर मेरा ध्यान आकृष्ट हुआ। तदनुसार ही प्रतापगढ़ में आचार्य श्री का 'आहार' होने के उपरान्त उनके ही चरणों में शांतिवीर नगर में विशालकाय मानस्तंभ बनाने का संकल्प किया। पूज्य आचार्यश्री का यही सदुपदेश था कि शक्ति नहीं छिपाकर विषय कषायों का त्याग करते चले जाओ, पास में पैसा हो तो पैसे का त्याग करो व सदुपयोग करो। शरीर हो तो शरीर से ममत्व का त्याग करो। इन तीनों पदार्थों की जल-बुलबुले के समान स्थिति है अर्थात् अनित्य है, क्षण स्थायी है जो इनसे काम ले लेता है, उसे अंत में पश्चाताप नहीं करना पड़ता है। अतः मौके पर कर लिया सो अपना है।

## सुख की प्राप्ति :

"सेठजी, हमारे पास तो त्याग का ही उपदेश है, तंत्र-मंत्र, जादू-टोना, तेजी-मंदी कुछ भी नहीं है। जीवों को संसारबंधन से छुड़ाकर अक्षय अविनाशी पद को प्राप्त करा देनेवाला एक त्याग मार्ग ही है। इसी त्याग के माध्यम से बड़े-बड़े ऋषि-मुनियों ने ऋद्धि-सिद्धि ही क्या सम्पूर्ण कर्मों को काटकर चिदानंद सुख को प्राप्त कर लिया। बिना त्याग के यह संसार का प्राणी चारों गतियों में भटकता हुआ अनादि काल से बेकार ही जन्म-मरण का दुःख उठा रहा है अतः त्याग करें, भक्ति धारण करें, अनादि निधन णमोकार मंत्र का जाप करें। यही हमारे पास ज्ञानी आत्मा को तारने के लिए एवं संसार से मुक्ति पाने के लिए एक शक्तिशाली मंत्र-तंत्र या जादू-टोना है। बस, यही एक मात्र साधन है।"

**परम वीतराग तपस्वी :**

उपरोक्त आशय के मार्मिक प्रवचनों से परमपूज्य आचार्य श्री एवं साधु वृन्दों के प्रति मेरी आत्मा में श्रद्धा बढ़ती ही चली गई। परमादरणीय आचार्यप्रवर शरीर से बहुत ही दुबले-पतले थे परन्तु आपका चरित्रबल अत्यन्त सुदृढ़ तथा तेजोमय था। आप १०-१० दिन के लगातार उपवासों में भी घण्टों उपदेश देते थे। संघस्थ त्यागीगणों एवं भारत की धर्म-श्रद्धालु जनता पर आपके त्याग-तपस्या तथा संघ शासन की गहरी छाप पड़ गई थी। आप जैसे परम वीतराग तपस्वी साधु पुंगवों का अभाव जन-सामान्य को सदैव खटकता रहेगा। आपकी आत्मा महान थी।

**समभावी :**

परमपूज्य आचार्य श्री ज्ञान चारित्र की तेजोमय प्रतिभा के साक्षात् शक्तिपुंज थे, उनके हृदय में समत्व भाव अटूट था, वे समभावी थे। विरोधियों के प्रति भी स्मित हास्य के साथ धर्म वृद्धिमय उनका आशीर्वाद प्रत्येक दर्शनार्थी को बरबस अपनी ओर आकृष्ट कर लेता था। खानियां तत्त्व-चर्चा में जिन व्यक्तियों को भाग लेने का शुभावसर मिला, वे दिवंगत आचार्य श्री के समभाव को कदापि न भूले होंगे। वस्तुतः समभाव की अभिव्यक्ति नहीं की जाती लेकिन जिनकी आत्मा महान है, जो जिनमार्ग के सच्चे पोषक हैं, उनकी मृदु भावनाएं छिपाये नहीं छिपतीं।

ऐसे शत्रु-मित्र समभावी क्षपकराज के प्रति मेरा शतशत वंदन, शत शत नमन।

**पूजा भावना का विकास :**

देव शास्त्र गुरुओं के प्रति निश्छल पूजा-भावना का क्रमिक विकास मेरे अन्तस्तल में परम पूज्य आचार्य श्री १०८ शिवसागरजी महाराज की निर्मल ज्योति एवं सतत् आशीर्वाद से हुआ। मेरा आकुलतापूर्ण जीवन शांति सरिता में प्रवहमान हुआ। पू० आचार्य श्री के वियोगजन्य अनभ्र वज्रपात से मैं किंकर्तव्यविमूढ़ हुआ लेकिन आचार्यश्री के गुरुभाई संघस्थ "श्रुतनिधि चारित्र शिरोमणि परम-पूज्य आचार्य कल्प श्री १०८ श्रुतसागरजी महाराज का मृदुल आशीर्वाद मुझे सतत् उपलब्ध रहा। गुरुचरणों के प्रति मेरी आस्था श्रद्धा दृढ़तर हुई। मेरे मानस में परम पूज्य आचार्यकल्प श्रुतसागरजी महाराज तथा परमपूज्य मुनिराजों व तपस्वियों के प्रति जो पूजा भावना का चरम विकास हुआ, उसका श्रेय गुरु चरण शरण के अतिरिक्त संहितासूरि पूज्य ब्र० सूरजमलजी महाराज व मेरी धर्मपत्नी को भी है। इन्हीं की सद्प्रेरणा से मेरी आत्मा में देव शास्त्र गुरुओं के प्रति पूजा-भावना बढ़ी है तथा त्यागवृत्ति का क्रमिक विकास हुआ है।

**श्रद्धांजलि :**

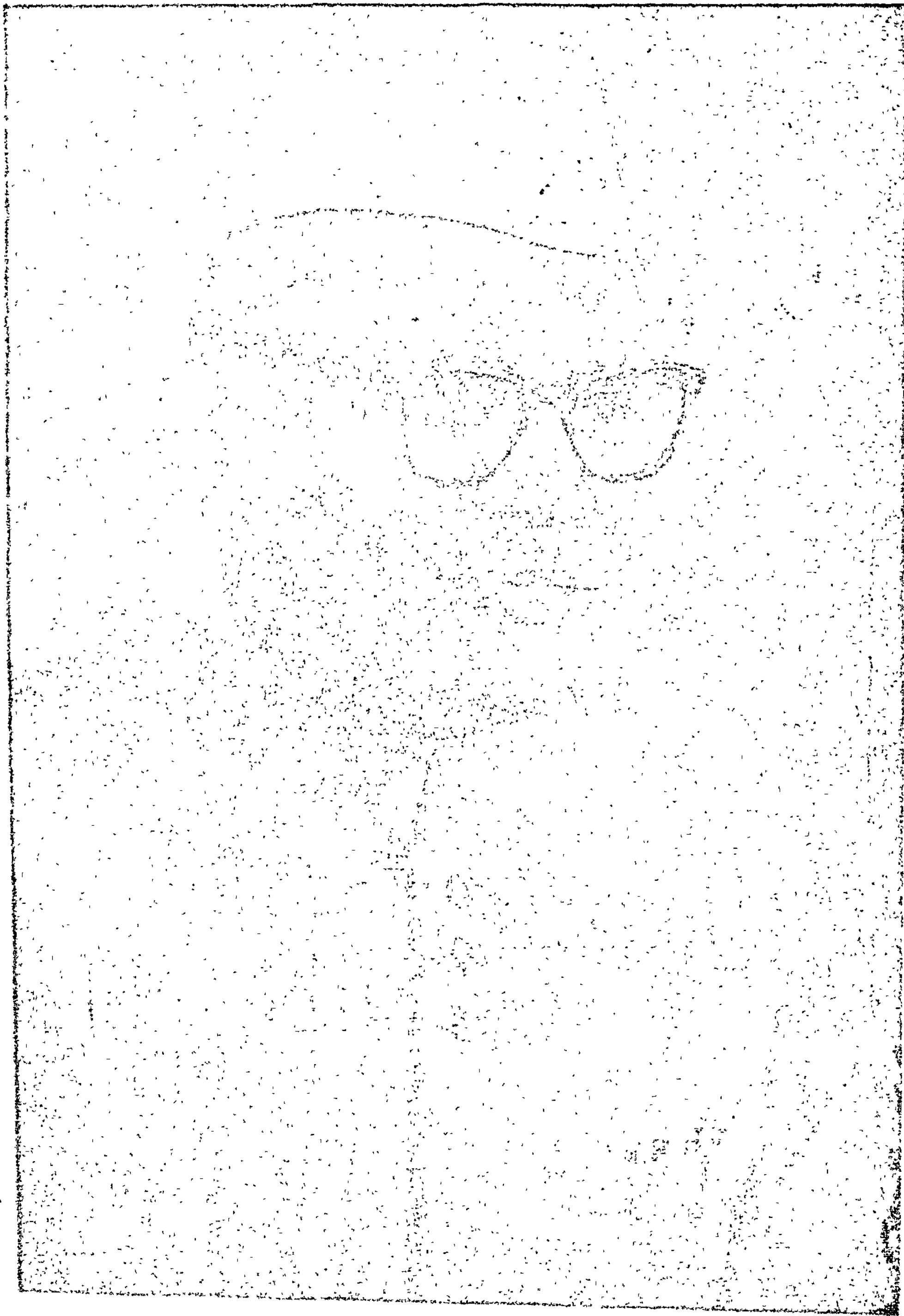
भगवान जिनेंद्रदेव से प्रार्थना है कि इसी प्रकार सच्चे गुरुओं का सदुपदेश मिलता रहे, मेरी भावनाएं निर्मल बनें और कालान्तर में गुरु-चरणों का अनुचर बन सकूं। अंत में देवाधिदेव के पावन

चरणों में यही निवेदन है कि हमारे पूज्य गुरुदेव को शीघ्र ही पंचमगति प्राप्त हो। बस, मेरी यही गुरुवर के चरणों में विनम्र श्रद्धांजलि है।

श्री प० पू० स्व० आचार्य श्री १०८ श्री शिवसागरजी महाराज का यह स्मृतिग्रन्थ प० पू० आचार्यकल्प श्री मुनि श्रुतसागरजी महाराज की प्रेरणा से प्रकाशित कराया है। इसमें आचार्यप्रवर का पावन जीवन-चरित्र है व विविध विषयों पर विद्वानों के लेख हैं। पाठकों से निवेदन है कि वे प्रस्तुत स्मृतिग्रंथ से प्रेरणा-लाभ कर अपने जीवन को समुन्नत करें।

—चांदमल सरावगी, पांड्या





श्रीमान् दानवीर जैनरत्न धर्मदिवाकर संघभक्त शिरोमणि
राय सा० सेठ चांदमलजी पांड्या, सुजानगढ़

सरल, उदार और निरभिमानी व्यक्तित्व के धनी

दानवीर जैनरत्न रा० सा० सेठ

# श्री चांदमलजी सरावगी

खादी की धोती और कुर्ते से तन को ढांके, गौ रक्षक जूते पहने, हाथ में छड़ी तथा सौम्य मुख पर चश्मा लगाये हुए जब आप उन्हें देखेंगे तो आप कल्पना भी नहीं कर सकेंगे कि यही व्यक्ति अनेक उपाधियों, पदों, सम्मानसूचक अलङ्कारों से विभूषित दानवीर रायसाहब सेठ श्री चांदमलजी सरावगी, गौहाटी निवासी हैं। श्री सरावगी साहब ऊपर से नीचे तक तथा बाहर से अन्दर तक सरलता, सौम्यता, उदारता और निरभिमानता से पगे हुए हैं। धनी समाज में इस प्रकार का सीधा सादा परन्तु पर दुःख कातर व्यक्तित्व बहुत कम देखने को मिलता है।

( मरु प्रदेश ) राजस्थान के लालगढ़ कस्बे में स्वनाम-धन्य स्वर्गीय श्री मूलचन्दजी सरावगी के घर मातुश्री जंवरीबाई की कुक्षि से ३ जनवरी, १९१२ को सेठ चांदमलजी का जन्म हुआ था। श्री सरावगीजी का बचपन तथा छात्रकाल कलकत्ता में बीता जहाँ के विश्वविद्यालय से उन्होंने १९३० में मैट्रिक्युलेशन किया। 'होनहार बिरवान के, होत चीकने पात'—कहावत के अनुसार नेतृत्व और समाज-सेवा के गुणों का प्रदर्शन उनमें तभी से होने लगा था जब कि वे स्कूल जीवन में ही छात्र आन्दोलनों में भाग लेने लगे और ब्रिटिश झण्डे-यूनियन जैक का अपमान करने पर गिरफ्तार किये गये। मैट्रिक तक शिक्षा प्राप्त करने के बाद श्री सरावगीजी ने तत्कालीन विख्यात फर्म सालिगराम राय चुन्नीलाल बहादुर एण्ड कम्पनी में व्यवसायिक जीवन आरम्भ किया और अल्पकाल में ही उसके मैनेजिंग पार्टनर तथा गौहाटी डिवीजन के प्रबन्धक बन गये। श्री सरावगीजी ने धर्म तथा समाज के कार्यों में आस्था तथा रुचि रखते हुए अपने उद्यम से खूब धनोपार्जन किया और उनकी गणना असम के प्रमुख उद्योगपतियों में होने लगी।

उनकी समाज के प्रति भावना को शीघ्र ही मान्यता मिलने लगी जब कि उन्हें अनेकों बार गौहाटी नगर परिषद् का पार्षद निर्वाचित किया गया और आनरेरी मजिस्ट्रेट नियुक्त किया गया। स्वतंत्रता से पूर्व ब्रिटिश सरकार ने उन्हें यद्यपि कारोनेशन तथा सिल्वर जुबली

मेडिल्स प्रदान किए और रायसाहब की उपाधि से विभूषित किया किन्तु वे देश की स्वतन्त्रता के लिए लड़े जा रहे स्वतन्त्रता संग्राम के प्रति बेखबर नहीं थे और ब्रिटिश सरकार के सामीप्य व्यापारिक सम्बन्ध होने के उपरान्त भी कांग्रेस को बराबर विपुल आर्थिक सहायता देते रहते थे। १९३४ में नौगांव में आई प्रलयङ्कारी बाढ़ के समय श्री सरावगीजी ने निस्वार्थ-भाव से पीड़ितों की सेवा के लिये जो कार्य किया उसकी सभी वर्ग के लोगों द्वारा मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की गई। द्वितीय महायुद्ध के समय जापानी आक्रमण से भयभीत होकर जब अधिकांश व्यापारी आसाम से भागने लगे तो श्री सरावगीजी ने ऊंचा मनोबल रखकर जनता को साज सामान की सप्लाई की गति यथावत बनाए रखी। १९४२ के भारत छोड़ो आन्दोलन के समय कांग्रेस को विपुल सहायता देकर उन्होंने राष्ट्र-भक्ति का परिचय दिया। यद्यपि ब्रिटिश सरकार से सीधा व्यापारिक सम्बन्ध होने से उन्हें इसमें भारी जोखिम हो सकती थी परन्तु उन्होंने उसकी रंचमात्र चिन्ता नहीं की।

## शिक्षा के अनुरागी :

भारत स्वतन्त्र होने से पूर्व ही ११-८-४७ को ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रदत्त सभी उपाधियों को लौटाकर श्री सरावगीजी ने अपनी निःस्पृहता का परिचय दिया। स्वतन्त्रता के बाद जहाँ श्री सरावगीजी ने अनेक व्यावसायिक प्रतिष्ठानों के प्रबन्धक और स्वामी होने के नाते आसाम के औद्योगीकरण में योग दिया वहाँ वे समाज के निर्माण कार्यों में सदा तत्पर रहे और गौहाटी विश्वविद्यालय के निर्माण में उन्होंने सक्रिय रूप से भाग लिया। लोकप्रिय स्वर्गीय गोपीनाथ बारदोलोई के अध्यक्ष काल में वे गौहाटी विश्वविद्यालय के संयुक्त कोपाध्यक्ष रहे। उन्होंने गौहाटी, सिल्चर, शिलांग तथा असम के अन्य महत्वपूर्ण कस्बों में कांग्रेस भवन बनाने में दिल खोलकर आर्थिक सहायता प्रदान की। उदार, निर्धनों की सहायता को सदा तत्पर श्री सरावगीजी जरूरतमन्दों के मित्रों के रूप में सर्वत्र जाने जाते हैं। उन्होंने अपनी पत्नी श्रीमती सेठानी भंवरीदेवीजी के नाम पर गौहाटी में मूक बधिरों का स्कूल स्थापित किया है जो सारे असम प्रान्त में अपने ढंग की एकमात्र संस्था है।

आपने अभी हाल ही में सुजानगढ़ में एक सार्वजनिक स्कूल की स्थापना की है तथा गौहाटी में एक मोन्टेसरी स्कूल भी अपनी धर्मपत्नी के नाम से स्थापित किया है।

## दरिद्रनारायण के हिमायती :

श्री सरावगीजी सामाजिक, सांस्कृतिक और शैक्षणिक संस्थाओं को सदा ही मुक्तहस्त से दान देने में अग्रणी रहे हैं। डा० बी० बरुआ कैंसर इन्स्टीट्यूट गौहाटी, कुष्ठरोग चिकित्सालय, यक्ष्मा [illegible] शिलांग, वनस्थली विद्यापीठ वनस्थली, गुरुकुल कुम्भोज (महाराष्ट्र), बरद्रावा स्मृति मन्दिर नौगांव, चिरा कॉलेज, बीको कॉलेज, मंगलदई कॉलेज, कामाख्या स्कूल, मालीगांव सेवा आश्रम तथा विभिन्न स्थानों पर चल रहे मारवाड़ी विद्यालय आदि कुछ संस्थाएँ हैं जिनकी स्थापना

तथा वाद में संचालन में श्री सरावगीजी का उल्लेखनीय योगदान रहा। आत्म शक्ति में अटूट विश्वास रखने वाले तथा धार्मिक आस्थाओं से युक्त श्री सरावगीजी ने अपने जीवन में अनेकों विधवाओं तथा निर्धन छात्र-छात्राओं को सदैव सहायता प्रदान की है।

## दिगम्बर जैन समाज के अग्रणी नेता :

जैन आगम और कुन्दकुन्दाचार्य प्रणीत जैन दर्शन में असीम श्रद्धा रखने वाले श्री सरावगीजी अपने चिन्तन, समय के योगदान और विपुल औदार्य दान के कारण आज जैन समाज के अग्रणी नेता के रूप में उदित हो चुके हैं और सम्पूर्ण भारत की जैन समाज उन्हें सम्मान की दृष्टि से तो देखती ही है, समाज के सक्षम नेतृत्व के लिए उन पर अपनी दृष्टि गड़ाए हुए है। वे समाज की सबसे पुरानी संस्था अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा के वर्षों से निरन्तर अध्यक्ष हैं और उनकी सेवाओं को मान्यता प्रदान करते हुए समाज के श्रावक तथा विद्वत्वर्ग ने उन्हें समय समय पर जैनरत्न, धर्मवीर, दानवीर, श्रावक शिरोमणि तथा आचार्य संघ भक्त दिवाकर, गुरुभक्त शिरोमणि आदि उपाधियों से सम्मानित किया है। आपकी गुरुभक्ति श्लाघनीय और अनुकरणीय है। मुनि संघों की परिचर्या तथा उनके सान्निध्य में रहकर धर्म साधना करने में आजकल आप सपत्नीक दत्त चित्त रहते हैं। व्यापारिक गतिविधियों से सम्बद्ध रहते हुए भी श्री सरावगीजी का अधिकांश समय आजकल धार्मिक संस्थाओं और संगठनों के कार्य को सुचारु करने, उनकी आर्थिक स्थिति मजबूत बनाने और उन्हें सुदृढ़ स्वरूप प्रदान करने के उपायों में ही बीतता है। जैन जनगणना के व्यापक उद्देश्य की सम्पूर्ति के लिये आप निरन्तर सचेष्ट रहे और इन कार्यों की पूर्ति हेतु आपने भारी आर्थिक सहयोग भी प्रदान किया था।

आजकल आप श्री १००८ भगवान् महावीर स्वामी के २५०० सौ वें निर्वाण महोत्सव के कार्य-क्रमों की प्रगति के लिये विशेष रूप से क्रियाशील हैं। आप इस सम्वन्ध में श्रीमती इन्दिरा गाँधी की अध्यक्षता में गठित राष्ट्रीय समिति के भी सदस्य हैं तथा उक्त समिति की कार्यकारिणी के भी सदस्य हैं। इसके अतिरिक्त इस सम्वन्ध में बिहार गवर्नमेंट द्वारा गठित-बिहार राज्य कमेटी के भी सदस्य हैं।

इसी भाँति आसाम सरकार द्वारा गठित ऑल आसाम २५०० वीं निर्वाण समिति के भी आप सदस्य हैं। ऑल इण्डिया दिगम्बर भगवान् महावीर २५०० वीं निर्वाण महोत्सव सोसायटी, देहली के आप वर्किंग प्रेसीडेन्ट हैं।

## मन्दिरों के निर्माता एवं संरक्षक :

श्री सरावगीजी मन्दिरों के निर्माण, मानस्तम्भों की स्थापना तथा अन्य धार्मिक अनुष्ठानों में श्रद्धापूर्वक भाग लेते हैं। गौहाटी, मरसलगंज तथा शान्तिवीरनगर, श्री महावीरजी में सम्पन्न पञ्च कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सवों में आपका मुक्त हस्त से सहयोग सर्वविदित है। आपने स्वअर्जित चंचला लक्ष्मी का सदुपयोग विभिन्न तीर्थों पर लाखों रुपयों का दान देकर किया है। श्री सरावगीजी

ने सुजानगढ़ में मानस्तम्भ का निर्माण कराया तथा शान्तिवीर नगर (श्री महावीरजी) में ६१ फीट ऊंचे संगमरमर के मानस्तम्भ का निर्माण कार्य उनकी ओर से प्रगति पर है। श्री सरावगीजी तीन बार सम्पूर्ण भारत के जैन तीर्थों की वंदना कर चुके हैं और सन् ६६ से प्रतिवर्ष पर्युषण पर्व तथा अष्टाह्निका पर्व में उपवास करके आत्मा का कल्याण करते हैं।

## भरा पूरा सुखी परिवार :

श्री सरावगीजी एक भरे पूरे सुखी परिवार के स्वामी हैं। उनका विवाह १-५-१९३० को श्रीमती भंवरीदेवी जी के साथ सम्पन्न हुआ जो स्वयं सरल स्वभाव की धर्मपरायणा विदुषी महिला रत्न हैं और अपने अतिथियों को स्वजनों से भी अधिक मान सत्कार देती हैं। श्री सरावगीजीके सर्वश्री गणपतरायजी, रतनलालजी व भागचन्दजी (तीन में से प्रथम दो विवाहित) सुयोग्य पुत्र हैं, तथा गिनियादेवी, सुशीलादेवी, किरणदेवी, विमलादेवी तथा सरलादेवी नामक पांच पुत्रियाँ धर्मप्राण, सुसंस्कृत और सम्पन्न परिवारों में विवाहित हैं। अभी पिछले वर्षों ही आपके दो पुत्रों तथा एक पुत्रवधु ने जापान आदि देशों का भ्रमण कर वैदेशिक अनुभव लाभ लिया है। इस प्रकार से आप सभी गार्हस्थिक दायित्वों से मुक्त होकर आजकल दान, पुण्य, धर्माराधना एवं तीर्थ यात्राओं के द्वारा कल्याण मार्ग पर अग्रसर हो रहे हैं।

## स्वयं में संस्थाओं का समूह :

दानवीर सेठ श्री चांदमलजी सरावगी स्वयं में अनेक संस्थाओं का समूह हैं। जितनी संस्थाओं के संस्थापक, जन्मदाता, संरक्षक, सभापति और कार्यशील नेता वे हैं, यदि उन सबका नाम लिया जाय तो उसके लिए अलग से एक परिशिष्ट लगाना पड़ेगा। लगभग ६० संस्थाओं से श्री सरावगीजी इस समय सम्बद्ध हैं, जिनमें से अधिकांश अखिल भारतीय ख्याति की हैं तथा जिनके वे अध्यक्ष हैं। अनेक स्थानीय महत्व की हैं, अनेक धार्मिक हैं, अनेक सामाजिक हैं, अनेक शैक्षणिक हैं और अनेक राष्ट्रीय सामाजिक कार्यक्रमों को चलाने वाली हैं। वे आसाम प्रदेश कांग्रेस के सदस्य रह चुके हैं तथा आसाम चेम्बर आफ कामर्स के अध्यक्ष पद को सुशोभित कर चुके हैं। अनेक संस्थाओं का आजीवन संरक्षक बनने का गौरव भी श्री सरावगीजी को प्राप्त है।

देश तथा जैन समाज को दानवीर सेठ श्री चांदमलजी सरावगी से भारी आशाएं हैं वस्तुतः आप समाज के लिये गौरवास्पद हैं, और उनकी तत्परता तथा युवकोचित उत्साह युवा पीढ़ी को मार्गदर्शन देता रहता है।

ओमानीराम शर्मा, बी. ए.
सुजानगढ़





श्रीमती सौ० दानशीला जैन महिला रत्न

**भँवरीदेवीजी**

धर्मपत्नी श्रीमान् रायसाहब दानवीर सेठ चांदमलजी सा० पांड्या

श्रीमती सौभाग्यवती दानशीला जैन–महिलारत्न धर्मचन्द्रिका पतिव्रत परायणा

## श्रीमती भँवरीदेवी पांड्या सुजानगढ़ निवासी का

# संक्षिप्त परिचय

श्रीमती सौभाग्यवती दानशीला जैन महिलारत्न धर्मचन्द्रिका सेठानी श्री भँवरीदेवीजी पांड्या सुजानगढ़ निवासी से कोई अपरिचित नहीं है। आप अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा के अध्यक्ष एवं कई उच्च पदों पर प्रतिष्ठित श्रीमान् जैनरत्न, श्रावक शिरोमणि, धर्मवीर आचार्य-संघ-भक्त दिवाकर, गुरु-भक्त-शिरोमणि, दानवीर, राय साहिब सेठ चाँदमलजी सरावगी पांड्या सुजानगढ़ निवासी की धर्मपत्नी हैं। आप जैनमहिलादर्श पत्र की संरक्षिका हैं।

आपका जन्म मारवाड़ प्रान्त के अन्तर्गत मैनसर ग्राम में स्वर्गीय सेठ मन्नालालजी गंगवाल की धर्मपत्नी श्रीमती बालीदेवी की वाम कुक्षि से हुआ। सच ही कहा है कि पुण्यात्मा जीव के घर में आते ही लक्ष्मी स्वतः ही आने लगती है। पिता मन्नालालजी के चारों ओर से लाभ ही लाभ होने लगा। आपका बाल्यकाल बड़े आमोद-प्रमोद के साथ व्यतीत हुआ। श्रीमान् मदनलालजी, मालचन्दजी, चम्पालालजी इन तीन भ्राताओं में आप मध्यवर्ती बहिन हैं। आप इकलौती होने के कारण घर में बहुत लाड़ प्यार से पाली गईं। १३ वर्ष की अवस्था में लालगढ़ निवासी स्वर्गीय सेठ मूलचन्दजी के पुत्र रत्न श्रीमान् रा. सा. चांदमलजी पांड्या के साथ आपका शुभ पाणिग्रहण संस्कार दिनांक १ मई सन् १९३० को सानन्द सम्पन्न हुआ।

विवाह के पहले श्रीमान् चांदमलजी पांड्या की स्थिति आज जैसी नहीं थी। इस नारी रत्न के आते ही चारों ओर से प्रकाश की किरणें प्रस्फुटित होने लगीं और श्री चांदमलजी की ख्याति तथा यश-मान दिन दूना रात चौगुना वृद्धिगत होने लगा। आप उच्च आदर्श विचारधारा की एक सुशीला नारी हैं। आपका परिवार पूर्णरूप से हरा भरा है। आपके तीन पुत्र रत्न एवं पांच पुत्रियाँ तथा नाती पोतों का ठाट है।

१. श्रीमान् गणपतरायजी साहब आपके ज्येष्ठ पुत्र हैं। उनका विवाह लाडनूं निवासी श्रीमान् दीपचन्दजी पहाड़िया की सुपुत्री नवरत्न देवी के साथ हुआ है। श्रीमान् गणपतरायजी भी अपने पिता की तरह गुणवान एवं कुशल सामाजिक कार्यकर्त्ताओं में से एक हैं। इस समय आप व्यापारिक क्षेत्र में जुटे हुए हैं तथा अपने व्यापार की उन्नति के लिये संलग्न

हैं। अभी हाल ही में आप व्यापारिक पहलुओं को लेकर जापान यात्रा पर गये थे, साथ में अपने लघु भ्राता श्री भागचन्दजी एवं अपनी धर्मपत्नी को भी ले गये थे। आपके एक पुत्र तथा दो पुत्रियाँ हैं। श्री नरेन्द्रकुमार आपका पुत्र है।

२. आपके मँझले पुत्र श्री रतनलालजी हैं। इनका विवाह लाडनू निवासी श्रीमान् नथमलजी सेठी की सुपुत्री श्रीमती सरितादेवी के साथ हुआ। शिक्षा के क्षेत्र में आपकी प्रवल इच्छा आरम्भ से ही रही है। अतः आपने जयपुर इन्जीनियरिंग कॉलेज से पोस्ट ग्रेज्यु-एशन प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण किया है। आपके एक पुत्र है जिसका नाम विमल कुमार है।

३. श्री भागचन्दजी साहब आपके कनिष्ठ पुत्र हैं। अभी आप अध्ययन में संलग्न हैं। आप एक कुशल टेबिलटेनिस खिलाड़ी हैं। इसकी विशेष योग्यता के कारण आपके पास जगह जगह से आमन्त्रण आते रहते हैं। इसके साथ साथ आपकी भावी प्रवल इच्छा एक कुशल संगीतकार के रूप में आने की है। गौहाटी विश्व विद्यालय से B. Com. की परीक्षा में फर्स्ट क्लास फर्स्ट उत्तीर्ण हुये हैं। वस्तुतः यह एक सुसंयोग ही है कि इस धार्मिक परिवार में लक्ष्मी सरस्वती का पूर्ण वरदहस्त है।

आपकी पांचों पुत्रियाँ सुन्दर तथा गृह कार्य में निपुण हैं। सभी के विवाह सुसम्पन्न घरानों में हुये हैं।

धार्मिक क्षेत्र में भी आपकी रुचि अनूठी व अनुकरणीय है। आपका अधिकांश समय धार्मिक कार्यों में ही व्यतीत होता है। आपकी रुचि सदैव श्रावक एवं त्यागी वर्ग की सेवा में निमग्न रहती है। आप नश्वर संसार की असारता को देखते हुये पूर्ण रूप से सादगी में रहती हैं। सादा जीवन एवं उच्च विचार आपका लक्ष्य बना हुआ है, इसी आधार पर आपने अपना जीवन का अधिकांश भाग आत्म-कल्याण के मार्ग में ही लगा रखा है। आपके हृदय में कोमलता एवं करुणा भाव सदैव विद्यमान रहते हैं। इन सब उच्च आदर्श विचारों के कारण आपने दिगम्बर जैन महिला समाज में ख्याति प्राप्त की है। प्रत्येक धार्मिक क्षेत्र में आगे आना तथा धार्मिक कार्य में अग्रसर रहना आपकी विशेषता है। आपकी मृदु वाणी सुनकर महिला समाज ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है। आपकी प्रवल इच्छा रहती है कि वे सदैव १०८ मुनिराजों की सेवा में रत रहें तथा उनके उपदेशों की झलक आपके दैनिक जीवन में दिखाई देती रहे।

इस धार्मिक रुचि के कारण आप समय समय पर तीर्थ-धामों की यात्रा अपने पति के साथ करती रहती हैं। तीर्थ क्षेत्रों की सहायता करना एवं आवश्यकताओं की पूर्ति करना आपका एक विशेष गुण है। मुनियों के दर्शनार्थ समय समय पर बाहर जाना तथा मुनियों को आहारदान देना एवं उनके सदुपदेशों को सुनना आपकी जीवनचर्या का प्रमुख अङ्ग है। आपने मुनिराजों के सद्-

उपदेशों से प्रेरित होकर अपने पतिदेव के द्वारा मरसलगंज में पंचकल्याणक प्रतिष्ठा करवाई और अपनी चंचला लक्ष्मी का सदुपयोग किया। श्री शान्तिवीरनगर श्री महावीरजी एवं गोहाटी के पञ्च-कल्याणकों में आपका सराहनीय योगदान रहा। आपके पतिदेव द्वारा श्री शान्तिवीरनगर, श्री महावीरजी में मानस्तम्भ की स्वीकारता दिलाने में आप ही की सत्प्रेरणा है जो शीघ्र ही बनकर तैयार हो रहा है।

धर्म की लगन के कारण तथा अपने बच्चों में धार्मिक संस्कार लाने के लिये सुजानगढ़ एवं गौहाटी में आपने अपने निवासस्थान पर चैत्यालयों का निर्माण करवाया है। इस धार्मिक रुचि के कारण गत वर्ष आप १०८ आचार्यकल्प मुनिराज श्रुतसागरजी के दर्शनार्थ भिंडर ग्राम गई थीं। वहां की जैन समाज ने आपका हृदय से स्वागत किया। वहीं पर आपने भाद्रपद में सदा की भाँति अपने पति-देव के साथ दशलक्षण व्रत किये और मुनिराजों के सद्‌उपदेशों का लाभ उठाया। आपकी पतिव्रत परायणता को देखकर वहाँ की समाज ने आपकी भूरि भूरि प्रशंसा की। वास्तव में यह सत्य ही है कि अपने पतिदेव को सच्चरित्र बनाने में आपने चेलना जैसा कार्य किया है। जो कि सचमुच ही आज की महिला समाज के लिये अनुकरणीय है।

आपकी शालीनता को देखकर भिंडर की समाज ने आपको मान-पत्र भेंट किया। भिंडर की समाज ने आपकी भूरि भूरि प्रशंसा की तथा आपकी मिलनसारिता व आत्मीयता वहाँ की समाज में कूट कूट कर भर गयी जो भुलाये नहीं भूल पाती है। इससे पहले आप मांगीतुंगी तीर्थक्षेत्र और १०८ आचार्य महावीरकीर्तिजी के दर्शनार्थ गये थे। वहाँ पर आचार्य श्री के उपदेशों से प्रेरित होकर श्री आदिचन्द्रप्रभु आचार्य महावीरकीर्ति सरस्वती प्रकाशन माला की स्थापना की। जिसका प्रथम पुष्प श्री नव देवता मंडल विधान पूजा के नाम से प्रकाशित हुआ तथा दूसरा आत्मान्वेषण पुष्प प्रकाशित हुआ है। इसकी लेखिका, सम्पादिका पूज्य १०५ श्री आर्यिका विजयमतिजी माताजी हैं। यह पुस्तक आध्यात्मिक विकास के लिये अत्यन्त उपयोगी है। तीसरा पुष्प पंचाध्यायी है जिसके टीका-कार न्यायालंकार श्री पं० मक्खनलालजी शास्त्री हैं। यह महान् धार्मिक ग्रन्थ है चतुर्थ सागार धर्मामृत है जिसकी अनुवादिका सुप्रसिद्ध आर्यिका विदुषीरत्न श्री १०५ सुपार्श्वमतीजी माताजी हैं। छठा पुष्प स्व० श्री १०८ आचार्य शिवसागरजी स्मृति ग्रन्थ है जो श्रद्धाञ्जलि समर्थक विशाल ग्रन्थ है यह महान् ग्रन्थ आपके सम्मुख है तथा और भी कई बड़े-बड़े ग्रन्थ छपाने की इनकी हार्दिक इच्छा है।

आपने सामाजिक क्षेत्र में भी बहुत सराहनीय कदम बढ़ाया है। आपने अपने जीवन में लाखों का दान दिया है, सच ही है कि लक्ष्मी का पास में आ जाना फिर भी सरल काम हो सकता है, लेकिन उसका सुकार्य एवं सुपात्र में लगाना अपनी एक अलग विशेषता रखता है। आपके नाम से अनेक संस्थाएं चल रही हैं। आपने इस चंचला लक्ष्मी को हमेशा सन्मार्ग में लगाया है। गौहाटी में मूक वधिर बच्चों का एक स्कूल चल रहा है जिसमें अनेक गूंगे और बहरे बच्चे शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। यह स्कूल आसाम भर में अपनी विशेषता रखता है। इसके अतिरिक्त एक अन्य मोन्टेसरी पद्धति पर आधारित छोटे

बच्चों का स्कूल भी हाल ही में निर्माण करवाया है। समय समय पर खुलने वाली बहुत सी संस्थाएं ऐसी हैं जो इनकी दानशीलता को भुलाये नहीं भूलतीं। आपके द्वार को जिस जिसने भी खटखटाया है सबको आशा की झलक मिली है। आये हुये को निराश लौटाना आपने सीखा ही नहीं, गरीबों को दान वस्त्रादि देना नित्यप्रति का कार्य है।

आपकी विचारधारा धार्मिक एवं उच्च भावनामय है। समय किसी की भी नहीं सुनता है, इस सिद्धान्त को लेकर कोई भी कार्य धार्मिक हो या सामाजिक, उसमें आप कभी भी आलस्य या प्रमाद नहीं करती हैं। इतना करते हुये भी आप अपने में अहङ्कार की बू तक नहीं आने देती हैं। आये हुये अतिथि व मेहमान का स्वागत करना, आवभगत करना आपका सचमुच अनुकरणीय गुण है। आपका हंसमुख चेहरा एक बार देखने मात्र से कभी विस्मृत नहीं हो सकता। ये सब बातें मैंने स्वयं अपनी आँखों से आपके निवास स्थान गौहाटी जाकर देखी हैं।

अतः इस महान् महिला रत्न को मैं शत शत शुभ कामनाएं अर्पित करता हूँ।

देवी महिला-रत्न आप जिनवर पदसेवी,<br>
अपने पति की धर्म कार्य में रुचि करलेवी।<br>
सदा दान में लीन गुरुन की आज्ञापेवी,<br>
अमर रहो गुणशील भरी हे भँवरीदेवी।

गुलाबचन्द जैन<br>
एम० ए०, जैन दर्शनाचार्य

श्री आदि-चन्द्रप्रभु आचार्य श्री महावीरकीर्त्ति

# सरस्वती प्रकाशन माला

## एक दृष्टि में

संचालिका

श्रीमती सौ० भँवरीदेवी पांड्या, सुजानगढ़

उक्त संस्था की स्थापना वी. नि. सं० २४९५ में श्री सिद्धक्षेत्र गजपंथा में स्वर्गीय परमपूज्य आचार्य १०८ श्री महावीरकीर्तिजी महाराज के तत्त्वावधान में जैनरत्न, श्रावक-शिरोमणि, भक्त-दिवाकर, मुनिसंघ-भक्त-शिरोमणि, दानवीर, धर्मवीर, रायसाहब सेठ चांदमलजी साहब पांड्या, अध्यक्ष भा० दि० जैन महासभा, सुजानगढ़ की धर्मपत्नी सौ० दानशीला श्रीमती भंवरीदेवीजी पांड्या के करकमलों से हुई थी।

प्रकाशन-माला की ओर से प्रथम पुष्प के रूप में 'श्री नवदेवता विधान पूजन' (सकल सौभाग्य व्रत) संहितासूरि ब्रह्मचारी सूरजमलजी द्वारा लिखित प्रकाशित हो चुकी है। द्वितीय पुष्प के रूप में पूज्य आर्यिका श्री विजयमती माताजी की नवीन कृति 'आत्मान्वेषण' प्रकाशित हो चुकी है। इस पुस्तक में सरल, सुबोध और सुरम्य भाषा में आत्मा की खोज का बहुत ही सुन्दर विवेचन किया गया है जिससे श्रद्धालु धार्मिक जनता ने पर्याप्त लाभ उठाया है।

तीसरा पुष्प-'पंचाध्यायी' नामक महान् ग्रन्थ पाठकों के हाथ में पहुंच चुका है। इसकी टीका समाज के प्रतिष्ठित मनीषि, विद्यावारिधि, वादीभकेसरी, विद्वत्-तिलक, प्रौढ़ विद्वान्, मुनि संघ श्री दि० जैन-आर्ष मार्गपोषक, न्याय-दिवाकर, न्यायाचार्य, तर्करत्न, न्यायालंकार, धर्मवीर श्रीमान् पं० मक्खनलालजी शास्त्री, प्राचार्य श्री गोपाल दि० जैन सिद्धान्त महाविद्यालय मोरेना (म० प्र०) ने की है। प्रकाशन-माला का चौथा पुष्प 'सागार धर्मामृत' है जिसकी लेखिका सुप्रसिद्ध विदुषी १०५ आर्यिका श्री सुपार्श्वमतीजी हैं। इन दोनों ही धर्मग्रन्थों की पर्याप्त मांग हुई है। तथा धार्मिक जनता ने लाभ उठाया है। पाँचवां पुष्प-'कुन्द कुन्द शोध प्रबंध' है जो प्रेस में है इसके लेखक मनीषि विद्वान डा० लालबहादुरजी शास्त्री एम. ए., पी-एच. डी हैं। छठा पुष्प 'आचार्य श्री शिवसागरजी स्मृति ग्रन्थ'

भी प्रकाशित होकर पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत है। जिसका मुद्रण कमल प्रिन्टर्स मदनगंज-किशनगढ़ में श्री नेमीचन्दजी बाकलीवाल की सुव्यवस्था में हुआ है। आशा है धार्मिक जन इससे लाभान्वित होंगे।

सातवाँ पुष्प—'आचार्य श्री महावीर कीर्ति स्मृतिग्रन्थ' के प्रकाशन की तैयारी है। इस दिशा में क्षुल्लक १०५ श्री शीतलसागरजी, डा० लाल बहादुरजी शास्त्री, एम. ए., पी-एच. डी. तथा समाज-रत्न, धर्मालंकार विद्यावाचस्पति न्याय-काव्य तीर्थ, व्याख्यान केसरी वर्द्धमान पार्श्वनाथजी शास्त्री विद्यालंकार प्रयत्नशील हैं।

आठवाँ पुष्प पूज्य १०५ श्री आर्यिका विजयमतिजी द्वारा रचित पुस्तक 'नारी' है। प्रत्येक महिला के लिए यह पुस्तक पढ़ने योग्य है।

नवम पुष्प "विद्वत् परिचय ग्रन्थ" अ० भा० दि० जैन शास्त्री परिषद् के तत्त्वावधान में भगवान महावीर के २५०० वें निर्वाण-दिवस के उपलक्ष्य में प्रकाशनाधीन है।

दशम पुष्प 'जैन धर्म में शासन-देवता' है जिसका संपादन पं० वर्द्धमानजी पार्श्वनाथजी शास्त्री शोलापुर कर रहे हैं। यह ग्रन्थ भगवान महावीर की २५ वीं निर्वाण महोत्सव शताब्दी के अवसर पर प्रकाशित होगा।

और भी अनेक महत्वपूर्ण धार्मिक पुस्तकों के छपाने का सुविचार है। बालकोपयोगी पुस्तकें भी प्रकाशित होंगी।

आशा है, श्रद्धालु जनता इनसे लाभ उठा हमें अपना ठोस सहयोग प्रदान करेगी।

श्री आदि चन्द्र-प्रभु आचार्य श्री महावीर कीर्ति सरस्वती प्रकाशन माला के उद्देश्य निम्न लिखित हैं—

(१) श्री दिगम्बर जैन आर्ष मार्ग का पोषण करने वाले धार्मिक ट्रैक्ट (धर्म ग्रन्थ) छपाना तथा उनके निःशुल्क या उचित मूल्य पर वितरण का संयोजन।

(२) श्री दिगम्बर जैन विद्वानों को समुचित पारितोषिक देकर उनका यथेष्ट सम्मान।

(३) श्री दिगम्बर जैन आचार्य, साधु साध्वियों द्वारा लिखित मौलिक पुस्तकें छपाना एवं उनके उपदेशों का सर्व सामान्य में प्रचार-प्रसार।

(४) साधुवर्ग को स्वाध्याय हेतु शास्त्र ग्रन्थादि प्रदान की समुचित व्यवस्था।

(५) प्राचीन, अनुपलब्ध, विलुप्त एवं अप्रकाशित ग्रंथों का अनुसंधान, उनका संग्रह एवं उनके प्रकाशन का आवश्यक प्रबंध करना।

—अभयकुमार जैन
रंगमहल, अजमेर



## परमपूज्य श्री १०८ श्री आचार्य महावीरकीर्तिजी महाराज



| जन्म | मुनि दीक्षा | स्वर्गारोहण |
|---|---|---|
| वि० सं० १९६७ | वि० सं० १९९९ | मेहसाना, दिनांक ६-१-७२ |

परम पूजनीय
तरण-तारण-तपोनिधि
महान उपसर्ग विजेता
सिद्धक्षेत्र-वंदना
भक्ति शिरोमणि
विश्ववंद्य १०८

# आचार्यवर्य स्व० श्री महावीरकीर्तिजी महाराज का

# जीवन परिचय

भारत देश समस्त विश्व में एक अध्यात्म-प्रधान देश है। इसकी आध्यात्मिक संस्कृति के कारण ही यह सभी देशों में सम्मानित और आदर्श देश माना जाता है। भारत यह रत्न प्रसवा भूमि है। इसने सारे संसार को ऐसे ऐसे महान तेजस्वी, दैदीप्यमान और पूजनीय नर रत्न दिये जिसके कारण इसका रत्नप्रसवा भूमि नाम सार्थक हो गया है।

आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पहले इस देश में चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर हुए जिन्होंने अपनी आदर्श आध्यात्मिक ज्योति तथा त्याग और तपस्या के प्रभाव से सारे विश्व को हिंसा के तांडव-नृत्य से बचाया और अहिंसा, अपरिग्रह तथा अनेकान्त का सन्मार्ग दिखाया एवं सच्चे धर्म का रहस्य लोगों को समझाया।

भगवान महावीर की उसी वीतराग और आदर्श दिगम्बर परम्परा में भगवत् कुंदकुंद, जिनसेन, समन्तभद्र, विद्यानंदि, नेमिचन्द्र, अकलंकदेव, पद्मनंदि तथा आचार्य शान्तिसागर जैसे महान विद्वान सच्चरित्र तपस्वी साधु सन्त हुए जिनने अपने अपने समय में उन्हीं भगवान महावीर के आध्यात्मिक संदेश और सच्चे धर्म का विश्व में प्रसार किया।

उसी आदर्श दि० साधु सन्त परम्परा में इस बीसवीं सदी में जो तपस्वी साधु सन्त हुये उनमें आचार्य महावीरकीर्तिजी महाराज भी एक ऐसे प्रमुख साधु श्रेष्ठ तपस्वीरत्न थे जिनकी अगाध विद्वत्ता, कठोर तपस्विता, प्रगाढ़ धर्म श्रद्धा, आदर्श चारित्र्य और अनुपम त्याग ने विश्व में वास्तविक धर्म की ज्योति प्रज्ज्वलित की।

आचार्य महावीरकीर्तिजी का जन्म मिति बैशाख बदी ९ वि० १९६७ को सुप्रसिद्ध औद्योगिक नगर फिरोजाबाद ( आगरा ) में हुआ। आपके पिता का नाम लाला रतनलालजी और माता का नाम बून्दादेवी था। ये पद्मावती पुरवाल जाति के प्रसिद्धकुल महाराजा खानदान के थे। आपके माता

पिता बड़े धार्मिक प्रवृत्ति के थे। धार्मिक कार्यों में उनकी बहुत रुचि थी। अतिथि-सत्कार करने में सदैव तत्पर रहते थे। इनके पिताजी एक कुशल व्यापारी थे।

आचार्य महाराज अपने माता पिता के तृतीय सुयोग्य पुत्र थे। जिनका पूर्व नाम महेन्द्रकुमार था। इनके चार भाई हुए जिनमें कन्हैयालाल और धर्मेन्द्रनाथ बड़े हैं और सन्तकुमार तथा राजकुमार उपनाम विलासराय छोटे हैं। ये सभी अपना अलग अलग व्यवसाय करते हैं। इनमें श्री कन्हैयालालजी और सन्तकुमारजी तो अच्छे व्यापारी हैं तथा धर्मेन्द्रनाथजी तथा राजकुमारजी दोनों कुशल चिकित्सक हैं।

इन पांच भाइयों में केवल महेन्द्रकुमारजी ही 'होनहार विरवान के होत चीकने पात' के अनुसार एक ऐसे नर रत्न निकले जिन्होंने अपने आदर्श त्याग और तपस्यामय जीवन से सारे विश्व में एक महान लोकोत्तर अवस्था प्राप्त की है। भगवान महावीर की तरह इन्होंने अपना महावीरकीर्ति नाम सार्थक कर दिखाया है।

श्री महेन्द्रकुमार की प्रारम्भिक शिक्षा फिरोजाबाद के एक स्कूल में हुई। दस वर्ष की अवस्था में स्नेहमयी माता का देहान्त हो गया। उसके बाद आपका मन विषण्ण हो गया और यहीं से संसार की असारता को लक्ष्य में लेकर आपके मन में विरक्ति के भाव जाग्रत हुए तथा आत्म-कल्याण करने के लिये आपने पहले जैनधर्म के शास्त्रों का विशेष ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक समझा और इसीलिए दि० जैन महाविद्यालय ब्यावर, सरसेठ हुकमचन्द महाविद्यालय इन्दौर एवं अन्य संस्कृत महाविद्यालय में जाकर वहां पर आपने अनेक विषयों पर शास्त्री कक्षा तक ज्ञान प्राप्त किया। आपकी बुद्धि तीक्ष्ण और प्रतिभायुक्त होने से आपने शीघ्र ही अनेक विषयों का सहज में ज्ञान प्राप्त कर लिया। न्याय-तीर्थ, आयुर्वेदाचार्य आदि की परीक्षाएं देकर उनमें आप उत्तीर्ण हुए। संस्कृत, व्याकरण, साहित्य, न्याय सिद्धान्त आदि अनेक विषयों का गहन अध्ययन कर आपने अच्छी योग्यता हासिल कर ली थी। साथ-साथ आपने अनेक भाषाओं का ज्ञान भी अच्छा प्राप्त कर लिया था।

शिक्षा प्राप्त करते-करते आप युवावस्था को प्राप्त हो गये। इस अवस्था में सहज ही मनुष्य के मन में भोगविलास की प्रवृत्ति तीव्र हो उठती है और उसको परितृप्त करने के लिये तथा गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने के लिए मनुष्य उद्यत हो जाता है। परिवार के लोग भी मनुष्य को इसी संसार जाल में फंसाने के लिये आतुर हो जाते हैं। श्री महेन्द्रकुमार को परिवार के लोगों ने भी ऐसा ही करने को कहा। किन्तु महेन्द्रकुमार का मन अपनी स्नेहमयी माता के वियोग से तो पहले से ही इस असार संसार से उदासीन हो गया था, धर्म शिक्षा के संस्कारों ने इस उदासीनता को विरक्ति में परिवर्तित कर दिया और इन्होंने अपने परिवार के लोगों द्वारा रखे गये विवाह के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। इन्होंने इस [illegible] अवस्था में ही आजन्म अखण्ड ब्रह्मचर्य में रहने का व्रत ग्रहण कर लिया।

सोलह वर्ष की अवस्था में ही आपने श्रावक धर्म का निर्दोष आचरण करना प्रारम्भ कर दिया तथा उत्कृष्ट धर्म का पालन करने लगे और तपस्या के बल से पापों का नाश करने लगे।

असार संसार, शरीर और भोग से आपकी निर्मोह वृत्ति दिन पर दिन बढ़ने लगी और बीस वर्ष की अवस्था में ही आपने परमपूज्य महान् तपस्वी, परम निर्भीक, प्रखर प्रभावी वक्ता १०५ आचार्यकल्प श्री चन्द्रसागरजी महाराज के साथ सप्तम प्रतिमा ब्रह्मचर्य रूप से रह कर आपने परमपूज्य आचार्य १०८ वीरसागर महाराज से वि० सं० १९९४ में टाकाटूका ( मेवाड़ ) में क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण की। अब आप सारा समय ज्ञान प्राप्ति में लगाने लगे। इस कारण क्षयोपशम विशेष बढ़ गया। चार पांच वर्ष तक आप क्षुल्लक रूप में रह कर बत्तीस वर्ष की अवस्था में पूज्य १०८ आचार्य श्री आदिसागरजी महाराज से सर्वसंग परित्याग कर दिगम्बर जैनेन्द्री दीक्षा धारण की। आपका दीक्षान्त नाम महावीरकीर्ति रखा गया। आप वास्तव में महावीर ही थे।

वीतराग मार्ग के अनुसार व्रत अनुसरण करने में और कठोर तपस्या करने में आप सदैव निर्भीक और कठोर रहते थे आगम के प्रकाश में आप अपनी दिगम्बर जैन साधु चर्या निर्दोषता के साथ पालन करते थे। आप सिंहवृत्ति के आदर्श एवं महान तपस्वी थे।

दिगम्बर साधु अवस्था धारण कर कुछ वर्ष तक आप दक्षिण प्रान्त में विहार कर धर्म का उद्योत करते रहे। इनके दीक्षा गुरु पूज्य १०८ आदिसागरजी महाराज ने सल्लेखना पूर्वक वीर मरण किया। तब उसके पहले अपने संघ में आचारांग के अनुसार आपने विशिष्ट योग्यता को धारण करने वाले विद्वान तपस्वी पूज्य १०८ महावीरकीर्त्तिजी को अपने आचार्य पट्ट पर आसीन किया। आचार्य होकर आप बहुत योग्यता पूर्वक चतुर्विध संघ का संचालन करने लगे। वास्तव में परम पूज्य आचार्य १०८ महावीरकीर्त्तिजी में आचार्य पद के अनुसार सब गुण प्रकाशमान थे। आप महाव्रतों का आचरण निर्दोषता से पालन करते थे तथा आप शास्त्र पारंगत महान विद्वान थे। आप अनेक भाषाओं के ज्ञाता थे। कठोर तपस्या कर कर्म निर्जरा करते थे। आप में अपूर्व क्षमा शक्ति थी आप निर्भय होकर महाव्रतों का आचरण कर दिगम्बर जैन धर्म की महान प्रभावना करते थे।

आपने अपने चतुर्विध संघ के साथ भारत के प्रायः सभी देशों में जैसे दक्षिण महाराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान, मालवा, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश, बंगाल, बिहार आदि में विहार कर दिगम्बर जैन धर्म का प्रचार किया। समाज को त्याग और संयम की तरफ प्रवृत्त किया तथा अनेकों को मुनि, आर्यिका, ऐलक, क्षुल्लक, ब्रह्मचारी आदि की दीक्षा देकर आत्म-कल्याण में लगाया। पूज्य आचार्य श्री की वाणी में भारी प्रभाव था। जिसके कारण उनके धर्म उपदेश को लोग जल्दी हृदयंगम कर लेते थे।

पूज्य आचार्यश्री महान उपसर्ग विजयी और निर्मोही साधु रत्न थे। आप अपने शरीर से भी निःस्पृह रहते थे। कठिन से कठिन प्राण घातक उपसर्ग होने पर भी आपने अपने शरीर की जरा भी परवाह नहीं की। उपसर्ग और परिषहों को सहन करने में आप हिमालय की तरह अडिग थे।

एक बार जब आप राजस्थान में भ्रमण कर रहे थे तब एक किसी गुन्डे ने धर्मद्वेष से और दुष्टता से पीठ पीछे से बहुत जोर से लाठी का प्रहार किया। इस भयंकर प्रहार से आचार्य श्री की पीठ सूज गयी और वहां पर एक बहुत बड़ा घाव हो गया। इस घाव से बहुत भारी वेदना होती थी परन्तु आचार्य श्री ने बहुत शान्ति पूर्वक उस वेदना को सहन कर लिया। पुलिस मारने वाले अपराधी को पकड़ कर जब पूछताछ करने लगी तथा उसको महाराज के पास लाया गया तो पूज्य महाराज ने करुणा कर उसे क्षमा कर दिया। तथापि कोर्ट ने उस अपराधी को छह माह की जेल की सजा दी। महाराज श्री को जब यह मालूम पड़ा तो उनको बहुत भारी दुःख हुआ।

इस घटना से पूज्य आचार्य श्री की क्षमाशीलता, साहस और समता का बड़ा भारी अद्भुत परिचय मिलता है। ऐसे उपसर्ग इनके जीवन में अनेकों बार आए। इसी धैर्य और साहस के साथ आपने उन्हें सहन किया है।

इसी प्रकार उपसर्ग आप पर तब हुआ जब आप बड़वानी सिद्ध क्षेत्र पर ध्यान में मग्न थे। पर्वत के ऊपरी भाग में मधु मक्खियों का एक बहुत बड़ा छत्ता था। किसी दुष्ट मनुष्य ने छत्ते पर एक पत्थर मारा। आचार्य श्री के ध्यान में विघ्न डालने के लिए पत्थर लगा कर स्वयं तो भाग गया, लेकिन सब मधु मक्खियां उड़ीं और वे महाराज के शरीर से चिपट गयीं और आचार्य श्री को काटने लगीं। महाराज श्री का शरीर लोहू लुहान हो गया और भयंकर रूप से सूज गया। फिर भी आचार्य श्री ध्यान से बिल्कुल डिगे नहीं। भयंकर पीड़ा को सहज भाव से सहन किया। जरा भी विचलित नहीं हुए तथा मुंह से उफ तक नहीं निकला। लोग एक मधुमक्खी के काटने से आसमान को नीचे गिरा लेते हैं। पर जहाँ सैकड़ों मधु मक्खियों ने मिलकर काटा और उनके शरीर पर चिपटी रहीं उस समय उनको कितनी भयंकर पीड़ा तथा दुःख हुआ होगा? यह सहज ही जाना जा सकता है। जब श्रावकों को इस महान उपसर्ग का पता चला वे महाराज के पास गये तथा महाराज श्री का उपसर्ग दूर किया। उपसर्ग के दूर होने पर महाराज श्री ने अपना ध्यान छोड़ा तथा अपूर्व साहस और वीरता का परिचय दिया।

तीसरा महान प्राण घातक उपसर्ग आचार्य श्री पर तब हुवा जब आप खंडगिरि उदयगिरि क्षेत्र की यात्रा के लिए पुरुलिया (बिहार) ग्राम से विहार कर रहे थे। उस समय भारत सरकार ने पुरुलिया को जो बिहार प्रान्त में था बंगाल की सीमा में मिलाने के लिए तीन सदस्यों का एक आयोग भेजा। अतः उस क्षेत्र को बंगाल में मिलाने के विरोध में सड़क के दोनों तरफ हजारों लोग ६ मील की दूरी तक खड़े थे। महाराज श्री उसी समय सड़क से गुजर रहे थे। उनके साथ उस समय केवल धर्मनिष्ठ गुरुभक्त सेठ चांदमलजी बड़जात्या नागोर निवासी ही थे। संघ के अन्य लोग लारी में बैठ कर आगे चल दिये थे।

पूज्य महाराज रास्ते चलते चलते रास्ते के दोनों ओर खड़े लोगों को मांस मदिरा चोरी आदि छोड़ने का उपदेश देते जा रहे थे तथा जनता भी आपके चरणों में पड़ती जाती थी। बहुत दूर तक ऐसा

होता जाता था। जब आप पुरलिया के निकट पहुँच रहे थे तब भीड़ में से कुछ दो तीन शराबी लोगों ने नशे में चूर होने के कारण पूज्य महाराजश्री पर लाठियां मारने को उठाईं। सेठ चांदमलजी बड़जात्या ने उन लोगों को बहुत समझाया किन्तु वे लोग नशे में होने की वजह से कुछ नहीं सुन पाये। महाराज श्री तो अपने पर उपसर्ग जान कर ध्यान अवस्था में लीन हो गये और सेठ चांदमलजी ने धर्म भक्ति वश होकर तथा अपनी जान की भी परवाह न करके पूज्य महाराज को बचाने के लिए स्वयं अपने हाथ फैला कर अपना सिर महाराज के ऊपर रख दिया जिससे लाठियों की मार स्वयं पर पड़ने लगी। कुछ लाठियां महाराज के भी शरीर पर पड़ीं। धन्य है इस गुरु भक्ति को व धर्म वात्सल्य को। सौभाग्य से उसी समय पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट की कार वहां पर आ गयी। उन्होंने लाठियाँ मारने वालों को खूब फटकारा। दुष्ट लोग उसी समय भाग गये तथा पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट महाराज श्री के चरणों में नतमस्तक हो गया। उसने दुष्टों द्वारा दिये गये कष्टों के लिए क्षमा मांगी। पूज्य श्री महाराजजी ने उपसर्ग टला जान कर ध्यान समाप्त किया। लाठियों की मार से महाराज तथा चांदमलजी को बहुत चोटें लगीं। पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट ने उनको पुलिस की सहायता से पुरलिया भेजना चाहा। लेकिन आचार्य श्री ने यह स्वीकार नहीं किया तथा आचार्य श्री तथा चांदमलजी दोनों विहार करके पुरलिया पहुँचे।

यदि उसी समय पुलिस नहीं आती तो क्या दुर्घटना होती कोई नहीं कह सकता। किन्तु महाराज की महान तपस्या तथा सेठ चांदमलजी की महान साधु भक्ति के कारण पुलिस समय पर आ गई। इसमें सन्देह नहीं कि संकटों में निश्चय से धर्म भक्ति काम में आती है। आचार्य श्री इस बार भी महान उपसर्ग विजेता और परिषह विजयी बने।

इसी प्रकार एक बार पूज्य श्री आचार्य महाराज तीर्थराज सम्मेदशिखरजी पर टोंक की वंदना करने को गये तब रात्रि में जल मन्दिर में ठहर गए। उसी समय अगहन माह की कड़कड़ाती सर्दी थी। तब श्वेताम्बर कोठी के कर्मचारियों ने दुष्टता वश आचार्य श्री को जल मन्दिर से बाहर निकाल दिया। श्वेताम्बर कोठी के बाहर आकर आचार्य श्री शांति पूर्वक बाहर बैठ गये। उस असहनीय सर्दी को रात भर सहने के कारण आपका सारा शरीर अकड़ गया तथापि आचार्य श्री ने यह सब सहज भाव से सहन किया तथा वीरता का परिचय दिया। इस प्रकार थोड़े से उपसर्गों का यहां पर परिचय दिया गया है।

वास्तव में पूज्य आचार्य श्री ने इस अत्यन्त विषम कलियुग में इस वीतराग साधुचर्या में रह करके अपने अपूर्व आत्मतेज, अविचल धर्मनिष्ठा और आदर्श मुनि का उदाहरण उपस्थित किया है। आचार्य श्री जैसे सिद्धान्त और धर्म के महान ज्ञाता थे उसी प्रकार आप ज्योतिष, वैद्यक, मन्त्र शास्त्र आदि के भी अच्छे विद्वान थे। आपके द्वारा की गयी भविष्य-वाणियाँ पूर्ण सत्य निकलती थीं।

आचार्य श्री के शरीर पर ब्रह्मचर्य की अपूर्व आभा दीखती थी। इस ब्रह्मचर्य के कारण ही आप घन्टों तक एक आसन से अविचल होकर ध्यान मग्न रहते थे। पूज्य आचार्य श्री ने जब से मुनि व्रत

धारण किया तब से आपने इन्दौर, भोपाल, कटनी, शिखरजी, फिरोजाबाद, जयपुर, नागौर, उदयपुर गिरनार, पावागढ़, ऊन, धरियावाद, बड़वानी, मांगीतुंगी, गजपन्था, हुम्मच पद्मावती, कुन्थलगिरि आदि अनेक बड़े बड़े शहरों और सिद्धक्षेत्रों में चातुर्मास योग धारण किया। आपने स्वात्मकल्याण के साथ साथ धर्म का भी महान उद्योत किया है।

ता० १९-११-१९७१ को श्री गिरनारजी तीर्थ क्षेत्र से विहार करके श्री शत्रुन्जय पालिताना, अहमदाबाद होते हुए मेहसाना पहुँचे जहाँ वे ता० ६-१-१९७२ को देवलोकवासी होगए। अपने स्वर्गवास के एक दिन पहले ही सर्व संघ का प्रबन्ध कर दिया क्योंकि मृत्यु उनको स्पष्ट दिखाई दे गई थी। संघका आचार्य पद श्री १०८ सन्मति सागरजी महाराज को दिया जिसका विधिवत् संस्कार ता० १६-२-१९७२ को उदयपुर में हुआ।

पूज्य आचार्य श्री की निर्वाण भूमियों पर विशेष भक्ति रहती थी। एकान्त ध्यान के लिये और कर्म निर्जरा के लिये ये निर्वाण भूमियाँ महान निमित्त हैं। इसलिये अंतिम कुछ वर्षों में आचार्य श्री ने चातुर्मास योग प्रायः सिद्धक्षेत्रों पर व्यतीत किया। आपको ऐसे पुण्य रूप निर्वाण स्थानों में अपूर्व आत्म-शान्ति मिलती थी।

आचार्य श्री से अनेकों पुण्यशाली धर्मात्मा सत्पुरुषों ने उनके उपदेशों से और तपस्या से प्रभावित होकर दीक्षा ग्रहण की थी जो अपने आत्म-कल्याण में लगे हुए हैं, तथा जगह जगह विहार कर जैनधर्म के प्रचार में अपना योग दे रहे हैं। हजारों श्रावक और श्राविकाओं को प्रतिमा रूप चारित्र देकर उनके मानव जीवन का सुधार किया है। वास्तव में सच्ची आध्यात्मिक शिक्षा का प्रसार और प्रचार ऐसे सर्व संग परित्यक्त साधु संतों से ही होता है।

पूज्य आचार्य महावीरकीर्तिजी महाराज एक आदर्श साधु रत्न थे। शरीर से पूर्ण निःस्पृह रहकर आप सदैव ज्ञान और ध्यान में अनुरक्त रहते थे। दिन में केवल चार घन्टा बोलते थे। शेष समय हमेशा मौन रखते थे।

ख्याति लाभ पूजा जैसी अनुचित प्रवृत्तियों से सदैव दूर रहते थे। क्षमा और शान्ति की परम मूर्ति थे, करुणा के सागर थे, सिद्ध क्षेत्र वंदना के भक्त शिरोमणि थे, रत्नत्रय धर्म की महान् विभूति थे और सच्चे आध्यात्मिक महात्मा सद्गुरु थे। परम पूज्य आचार्य श्री की श्रेष्ठ निर्दोष तपस्या का यह प्रभाव है कि आपका जहाँ जहाँ विहार होता था वहाँ किसी प्रकार का संकट, दुर्भिक्ष आदि नहीं होता था तथा धर्म की महान प्रभावना और प्रचार होता था।

पूज्य श्री के गुण अपरिमित हैं। उनका कहाँ तक कोई वर्णन कर सकता है कि उन जैसे परम दिगम्बर वीतराग साधु रत्न ऐसे कठिन दुर्धर समय में विद्यमान हुए हैं।

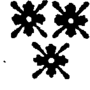
नांदगांव (नासिक)
विजया दशमी
वीर निर्वाण संवत्
[illegible]

आचार्य चरण सेवी :
तेजपाल काला, साहित्यभूषण,
सह-सम्पादक जैन दर्शन तथा
सं० मंत्री भा. शान्तिवीर दि० जैन सिद्धांत संरक्षिणी सभा



पू० आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज की सुशिष्या
पू० १०५ श्री विदुषी आर्यिका विशुद्धमती माताजी, शास्त्री, साहित्यरत्न





# आद्य-वक्तव्य

मूल संघ एवं भगवान कुन्दकुन्द की आम्नाय में सिंह सदृश निर्भय, आकाशवत् निर्लेप, समुद्रवत् गम्भीर, स्फटिकवत् स्वच्छ और रत्नत्रय गुण विभूषित चारित्र चूड़ामणि १०८ आचार्य श्री शान्तिसागर जी महाराज हो चुके हैं। उनके प्रथम शिष्य बालब्रह्मचारी गुरु-भक्त पूज्य १०८ स्व० आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज पट्टाधीश आचार्य हुये। आपके प्रथम शिष्य बालब्रह्मचारी पूज्य १०८ श्री शिवसागरजी महाराज सम्वत् २०१४ में पट्टाधीशाचार्य पद पर सुशोभित हुये।

सुना जाता है कि जब गुरु के द्वारा छोड़ा हुआ यह वृहद् भार आपके कन्धों पर आया तब सभी जन सोचते थे कि ये इस महान् पद को कैसे सम्हाल पावेंगे ? किन्तु पूज्य गुरुवर्य शिवसागरजी महाराज के पास दो शक्तियाँ बड़ी प्रबल थीं। एक तो उनमें अटूट और अपूर्व गुरु भक्ति थी और दूसरे उनके पास एक सूत्र था कि "काम, काम का गुरु होता है"। इन दोनों शक्तियों के आधार से एवं आश्चर्योत्पादक तपश्चरण के बल से आप चौमुखी प्रतिभा सम्पन्न बने, और गुरु द्वारा छोड़ी हुई रत्नत्रय की क्यारी को आपने अपने वात्सल्यादि अनेक गुणरूपी जल से सींच सींच कर सुन्दर उपवन बना लिया। लगभग बारह वर्षों तक आप जीवों का कल्याण करते हुये आचार्य पद पर आसीन रहे, और सम्वत् २०२५ फाल्गुन बदि अमावस्या १६ फरवरी सन् १९६९ रविवार को मध्याह्न काल में ३.२५ पर स्वर्गारोहण कर गये।

आचार्य श्री की समाधि के चार छह दिन बाद ही मैंने पंचकल्याणक प्रतिष्ठा में पधारे हुये विद्वानों से कहा कि आप पूज्य आचार्य श्री से सम्बन्धित सामग्री का संचय कर एक छोटा सा ग्रन्थ तैयार करें। जितना शक्य होगा हम लोग भी सहयोग देंगे। दुर्भाग्य वश सफलता नहीं मिल सकी। श्रद्धाञ्जलि स्वरूप श्रेयोमार्ग का एक विशेषाङ्क निकाल कर हम लोगों ने अपने कर्तव्य की इतिश्री मान ली और करीब १० माह तक फिर कोई ठोस चर्चा या कार्य इस विषय में नहीं हो सका। जब गुरुदेव का प्रथम समाधि दिवस का समय समीप आया तब फिर मन आकुलित हुआ और परम पूज्य आचार्यकल्प १०८ श्री श्रुतसागरजी महाराज से विनय पूर्वक निवेदन किया कि महाराज ! समाधिदिवस तक कोई विशेष ग्रन्थ आचार्यश्री से सम्बन्धित निकलवाने की आज्ञा दीजिये। महाराजश्री ने कहा—कि "पिता के गुणगान यदि बालक ही गावें तो इसमें कोई विशेषता नहीं"। अतः इस विषय में किन्हीं अन्य त्यागी वर्ग या विद्वानों को कदम उठाना चाहिये। समय समीप आ चुका था और इस विषय में जब

कहीं से कुछ होता न दिखा तब मन की शान्ति के लिये मैंने सोचा कि देव शास्त्र गुरु की एक सम्मिलित पुस्तिका निकाल लें जिससे "अपने गुरु के प्रसंशात्मक गीत स्वयं अपन ही गावें यह शोभास्पद नहीं" महाराज श्री की इस बात की भी रक्षा हो जायगी और प्रथम समाधि दिवस पर पुस्तक भी निकल जायगी। फलस्वरूप दो दर्शन पाठ, एक वीतराग स्तोत्र, दो पार्श्वनाथ स्तोत्र, एक महावीर स्तोत्र एवं एक सरस्वती स्तोत्र के साथ गुरुओं की पूजन आरती आदि भी सम्मिलित कर दी गई। आचार्य श्री का मात्र एक जीवन चरित्र एवं दो श्रद्धाञ्जलियाँ उसमें विशेष दीं गईं। पुस्तक का नाम "शिवसागर-स्मारिका" रखा गया। भाग्य ने यहाँ भी साथ नहीं दिया और प्रथम समाधि दिवस पर पुस्तिका प्रेस से बाहर न निकल सकी। मन दुखी हुआ, परन्तु दृढ़ संकल्प यही रहा कि ज्यादा नहीं तो कम से कम पांच वर्षो तक समाधि दिवस की स्मृति में कोई न कोई पुस्तक प्रतिवर्ष निकलती रहे। फलतः परम पूज्य १०८ अजितसागरजी महाराज के द्वारा संकलित सुभाषित मञ्जरी का द्वितीय भाग द्वितीय समाधि दिवस के उपलक्ष में, सकलकीर्त्याचार्य विरचित सुभाषितावली तृतीय समाधि दिवस के उपलक्ष में तथा गुणभद्राचार्य कृत धन्यकुमार चरित्र और सहस्रनाम सटीक चतुर्थ समाधि दिवस के उपलक्ष में प्रकाशित हुये।

प्रथम समाधि दिवस के उपलक्ष में निकली हुई 'शिवसागर स्मारिका" बहुत दिनों बाद पण्डित पन्नालालजी साहित्याचार्य सागर वालों के हाथ में पहुँची। उस छोटी सी पुस्तिका ने पण्डितजी के हृदय पर गहरी चोट पहुँचाई। परिणाम स्वरूप उनका पत्र संघ में आया और पेपरों में भी आपने लिखा कि इतने महान आचार्य की स्मृति में इतनी छोटी सी पुस्तिका ? यह उनका बहुत बड़ा अपमान है। अतः किन्हीं दानवीरों को आगे आकर आचार्य श्री के नाम एवं काम के अनुरूप ही ग्रन्थ छपवाना चाहिये।

सन् १९७१ के उदयपुर चातुर्मास में धर्म वत्सल चांदमलजी सा० गोहाटी वाले पूज्य आ० कल्प श्रुतसागर महाराजजी के पास धर्म साधन हेतु पधारे। आपने जैन गजट में पण्डितजी के वक्तव्य के विषय में महाराज श्री से चर्चा की। पुण्ययोग से अजमेर में पर्यूषण पर्व समाप्त कर आसीज में पण्डितजी भी उदयपुर आये। पूरी रूप रेखा बनी और श्री चांदमलजी सा० ने ग्रन्थ छपाने की स्वीकृति देकर, गुरुभक्ति एवं अपनी स्वाभाविक उदारता का परिचय दिया।

ग्रन्थ सम्पादन का पूरा भार पं० पन्नालालजी सागर वालों को ही दिया गया और उन्होंने उसे सहर्ष स्वीकार किया यह अत्यन्त हर्ष का विषय है।

पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य गण्यमान्य विद्वान हैं। आपके जीवन का अधिकांश भाग जिनवाणी माता की सेवा में ही व्यतीत होता है। इसके साथ साथ 'स्वर्ण में सुगन्ध' के सदृश आप ब्रती भी हैं और आपने अपनी जीवन चर्या बड़ी संयमित बना रखी है। आचार्य श्री का प्रथम दर्शन आपको सं० २०२० में खानियाँ में हुआ था। तभी से आपकी विशेष श्रद्धा आचार्य श्री के चरणों में बनी,

और उसी लगन के कारण प्रायः प्रत्येक वर्ष आप आचार्य श्री के दर्शनार्थ आते रहे तथा अभी भी आते हैं। जब आप आते तब आचार्य श्री को "गुणिषुप्रमोदं" वचनानुसार आन्तरिक प्रसन्नता होती, जब आप चले जाते तब भी आचार्य श्री कुछ देर तक आपके स्वभाव एवं गुणों की प्रशंसा करते रहते थे और कभी कभी तो गद्गद हृदय से बोल उठते कि किसी भी प्रकार हो पण्डितजी को इस गृहस्थी के कीचड़ से वाहर निकलना चाहिये।

आप जब तक अपनी मोह रूपी जड़ को गृहस्थी रूपी कीचड़ से भिन्न नहीं करेंगे, तब तक इस सर्वोत्तम मनुष्य पर्याय और अपूर्व विद्वत्ता को सार्थक नहीं बना सकते। आप स्वयं विवेकवान् हैं। अतः आपके विषय में विशेष कुछ कहना योग्य नहीं। पण्डित जी सा० पूर्व अवस्था में मेरे गुरु थे, इस-लिये उस अपेक्षा मुझे तो उनके विषय में कुछ लिखने का अधिकार नहीं है। किन्तु फिर भी जो लिख रही हूँ वह बात मेरी नहीं है आचार्य श्री की है।

जब सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र जी से किन्हीं ऋषि ने स्वप्न में सारा राज्य ले लिया और प्रातः आकर बोले कि अभी मेरी दान की दक्षिणा बाकी है। उस दक्षिणा के लिये हरिश्चन्द्र को अपना शरीर वेचना पड़ा। उसीप्रकार आचार्य श्री के स्मृति ग्रन्थ को जन्म देकर तथा उसका सम्पादन कर आपने बहुत वड़ा दान दिया है, किन्तु उसकी दक्षिणा अभी बाकी है। पूज्य आचार्य श्री के योग्य दक्षिणा में आपको वही वस्तु देना चाहिये, जिसे वे प्रारम्भ से ही चाहते थे। उनकी मांग केवल इतनी ही थी कि आप संयममार्ग पर स्पर्धापूर्वक आगे बढ़ें क्योंकि जीवन का बहुभाग व्यतीत हो चुका है। पका हुआ पत्र वृक्ष में अभी तक लगा हुआ है, यही वड़ा आश्चर्य है। गिरने का आश्चर्य नहीं है।

अन्त में मैं परमपूज्य १०८ आचार्यकल्प श्री श्रुतसागरजी महाराज का भी महान आभार मानती हूँ जिन्होंने अपनी सद्प्रेरणा एवं उचित परामर्श देकर ग्रन्थ को सर्वांगीण सुन्दर बनाया। यह ग्रंथ अपने आपमें अपनी विशेषताओं को लिये हुए जन साधारण के कल्याण का भी साधन बनने से परम हितकारी होगा।

बिना किसी की प्रेरणा के पण्डित जी इस कार्य को करने के लिये उद्यत हुये उनका यह परम पुरुषार्थ आचार्य श्री के प्रति विशेष भक्ति का द्योतक है।

श्रुत पंचमी<br>वी० नि० सं० २४९९ }

—आ० विशुद्धमती

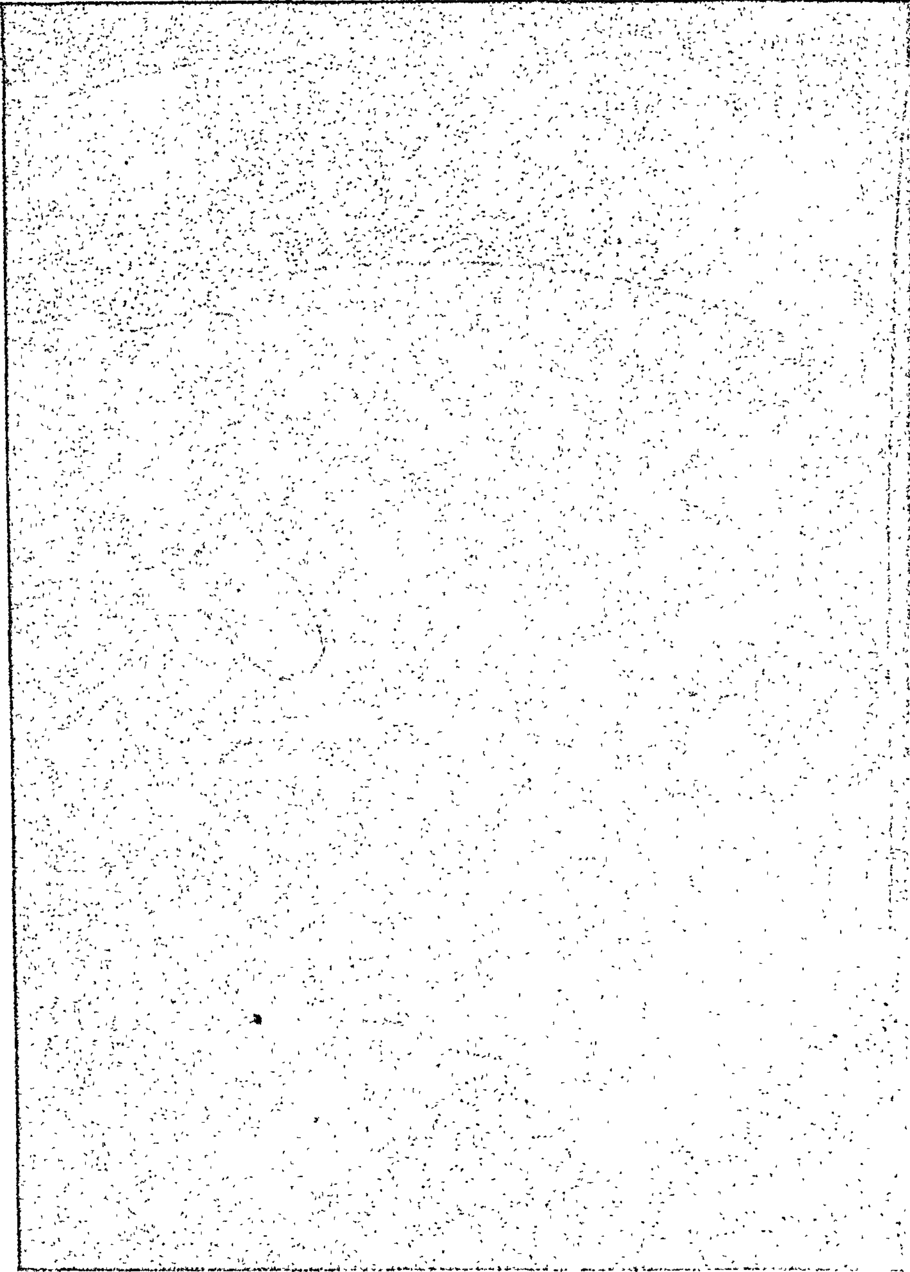


# सम्पादकीय



भारतवर्ष के समस्त प्रदेशों में दिगम्बर मुनिधर्म का निर्बाध प्रचार करने वाले चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागरजी के प्रशिष्य और परम तपस्वी आचार्य वीरसागरजी के शिष्य दिवंगत आचार्य शिवसागरजी महाराज का दिगम्बर जैन साधुओं में महनीय स्थान रहा है। उन्होंने अपनी कार्य कुशलता से एक बड़े संघ का संचालन किया था तथा अनेक भवभ्रमण भीरु साधु साध्वियों को मोक्षमार्ग में लगाकर उनका सच्चा हित किया था। श्री अतिशय क्षेत्र महावीर जी में फाल्गुन कृष्णा अमावस्या वि० सं० २०२५ को जब ६-७ दिन के साधारण ज्वर के बाद आपका समाधिमरण हुआ था तब समस्त भारत में शोक की लहर व्याप्त हो गई थी। जिस पञ्चकल्याणक समारोह में सम्मिलित होने के लिये आप महावीरजी गये थे उसमें आपके समाधिमरण से मलिनता आ गई। श्री १०८ आचार्य धर्मसागरजी महाराज उस संघ के आचार्य बनाये गये। संघ के प्रत्येक साधु और आर्यिकाओं का समूह अपने गुरु शिवसागर जी महाराज के समाधिमरण से खिन्न था पर काल की गति को परिवर्तित करने की क्षमता किसमें थी ?

दिवंगत आचार्य महाराज के चरणों में श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिये 'श्रेयोमार्ग' का विशेषांक निकाला गया और 'शिवसागर' नामकी एक छोटी सी पुस्तिका भी प्रकाशित की गई जिसमें कुछ प्राचीन स्तोत्रावली और आचार्य महाराज की पूजा उनके जीवन चरित्र के साथ प्रकाशित की गई थी। आचार्य महाराज के व्यक्तित्व और कृतित्व को देखते हुए उनके प्रति सन्मान और भक्ति प्रकट करने का यह लघुरूप मुझे रुचिकर नहीं हुआ इसलिये मैंने 'शिवसागर' पुस्तिका की जैन गजट में आलोचना करते हुए यह भाव प्रकट किया था कि आचार्य महाराज के प्रति सम्मान और भक्ति प्रकट करने के लिये एक अच्छा अभिनन्दन ग्रंथ प्रकट किया जाना चाहिये जिसमें श्रद्धाञ्जलियों और संस्मरणों के साथ स्वाध्याय की उत्तम सामग्री का संकलन हो। समालोचना के सिवाय श्री आचार्यकल्प श्रुतसागरजी महाराज को इसी आशय का एक पत्र भी लिखा। पूज्यवर श्रुतसागर जी महाराज का ध्यान इस ओर गया जिससे उन्होंने उदयपुर के चातुर्मास में धर्म ध्यान के लिये आगत श्री सेठ चांदमलजी सरावगी से हमारे पत्र की चर्चा की। प्रसन्नता की बात है कि श्री सेठ चांदमल जी ने अपने द्वारा निर्मित श्री आदि चन्द्रप्रभु ग्रन्थमाला की ओर से इसका प्रकाशन करना स्वीकृत कर लिया।



श्री पं० पन्नालालजी जैन, साहित्याचार्य

सागर ( म० प्र० )

'वोले सो बिगूचे' की लोकोक्ति के अनुसार संपादक का दायित्व मुझ पर डाला गया। मेरी व्यस्तताएं बहुत हैं अतः मैंने असमर्थता प्रकट की फिर भी पूज्यवर श्रुतसागरजी महाराज और माता विशुद्धमतीजी का खास आदेश रहा इसलिये विवश होकर मुझे यह भार स्वीकृत करना पड़ा। खानियाँ-जयपुर के चातुर्मास में पर्युषण पर्व के समय वहां रहने तथा खानियाँ तत्त्वचर्चा के प्रसङ्ग में साथ रहने से पूज्य आचार्य महाराज के प्रति हृदय में श्रद्धा का भाव भी प्रस्फुटित हो चुका था इसलिये इस महान् कार्य को करने के लिये हृदय की अन्तःप्रेरणा भी प्राप्त थी।

मेरी इच्छा थी कि चूंकि यह ग्रन्थ आचार्य महाराज की स्मृति में प्रकाशित हो रहा है इसलिये इसमें चारों अनुयोगों की ऐसी उच्चतम सामग्री संकलित की जाय जिससे यह ग्रन्थ मात्र विद्वानों के उपयोग की वस्तु न रह कर प्रत्येक जिज्ञासु के स्वाध्याय की वस्तु बन जावे। इसमें सरलता से प्रत्येक विषयों का प्रतिपादन किया जावे। इस इच्छा के अनुसार ग्रन्थ के विषयों की एक रूप रेखा बनाकर मैंने पूज्य श्री श्रुतसागर महाराज जी के पास भेजी तथा अन्य विद्वानों को भी बतलाई। प्रसन्नता की वात थी कि वह रूप रेखा पूज्य महाराज जी तथा विद्वानों को रुचिकर हुई। फलतः प्रकाशित कराकर विद्वानों के पास भेजी गई।

मैंने सामग्री का संकलन करना चालू कर दिया। ग्रन्थ के विषय हम पहले से निर्धारित कर चुके थे इसलिये खास प्रेरणा देकर हमने उन्हीं विषयों पर लेख लिखवाये। यही कारण है कि इसमें वोझिल सामग्री नहीं आ पाई है। प्रसन्नता है कि अधिकारी विद्वानों ने हमारी भावना को समझ कर सरल भाषा में उत्तमोत्तम सामग्री ग्रन्थ के लिये दी है। प्रथमानुयोग के रूप में आचार्य महाराज का जीवनवृत्त और श्रद्धांजलि तथा संस्मरण दिये गये हैं। शेष तीन अनुयोग—करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग से सम्बन्ध रखने वाले लेखों का चयन किया गया है। चार अनुयोगों से सम्वन्ध रखने वाले चार खण्ड तथा प्रकीर्णक विषयों के लिये एक स्वतन्त्र खण्ड, इस प्रकार पांच खण्डों में यह ग्रन्थ पूर्ण हो रहा है।

लेख-सामग्री संकलित कर मैं अजमेर गया और वहां अवलोकन करने के लिये सब सामग्री पूज्यवर आचार्यकल्प श्रुतसागरजी महाराज तथा विशुद्धमती माताजी को सौंप आया। उन्होंने प्रत्येक लेख का वाचन कर उसमें रहने वाली सैद्धान्तिक त्रुटियों का संशोधन किया-कराया। जो लेख उन्हें देने के योग्य प्रतीत नहीं हुए वे उन्होंने हमारी सम्मति पूर्वक वापिस कराये। इस तरह ग्रंथ के सही संपादक तो आचार्यकल्प श्रुतसागरजी महाराज ही हैं। मैं तो मात्र सामग्री को संकलित करने वाला संपादक हूँ।

ग्रन्थ में अनेक मुनियों, माताओं, ब्रह्मचारियों तथा ब्रह्मचारिणियों ने ज्ञानवर्धक सामग्री दी है इससे आचार्य महाराज के प्रति उनकी अगाध भक्ति प्रकट होती है। यदि इन सवका इस

प्रकार का सहयोग प्राप्त न होता तो ग्रंथ की रचना कठिन होती। मुझे अत्यन्त प्रसन्नता है कि माता ज्ञानमतीजी, सुपार्श्वमतीजी, जिनमतीजी तथा विशुद्धमतीजी ने अपनी संस्कृत तथा हिन्दी रचनाओं से ग्रन्थ के गौरव को वढ़ाया है। श्री १०८ श्रुतसागरजी, अजितसागरजी तथा सुबुद्धिसागरजी महाराज ने भी उत्तमोत्तम सामग्री से परिपूर्ण लेख देकर आचार्य महाराज के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट की है। इसके लिये मैं इन सबका अत्यन्त आभारी हूं। श्री पं० दयाचन्द्र जी शास्त्री सागर, पं० वंशीधरजी व्याकरणाचार्य वीना, पं० वर्धमानजी शास्त्री सोलापुर तथा पं० सुमेरुचन्द्र जी दिवाकर सिवनी आदि जिन विद्वानों ने लेख भेजे हैं मैं अपने ऊपर उन सबका अनुग्रह मानता हूं।

लेखों को खण्ड के अनुसार प्रकाशित करने की सावधानी रखते हुए भी श्री १०८ पूज्य अजितसागरजी महाराज का 'षडावश्यक' शीर्षक चरणानुयोग का लेख करणानुयोग के खण्ड में प्रकाशित हो गया है इसका खेद है। ग्रन्थ के प्रकाशन में श्री चांदमलजी सरावगी ने जिस उदारता का परिचय दिया है वह सचमुच ही महत्वपूर्ण है। उनकी उदारता के विना इस महान् ग्रन्थ का प्रकाशन प्रयत्न साध्य होता अतः इस प्रसङ्ग में उनका आभारी हूं। श्री नेमीचन्दजी वाकलीवाल, कमल प्रिंटर्स मदनगंज ने सुन्दरता पूर्वक ग्रंथ का प्रकाशन किया है और कई लेखों की अवाच्य लिपि होने पर भी उन्हें शुद्धता पूर्वक छापा है तथा इस दिशा में पर्याप्त श्रम किया है इसके लिये उनका आभार मानता हूँ।

ग्रन्थ को विविध चित्रों से अलंकृत करने के लिये जिन महानुभावों ने चित्र भेजे हैं उन सबके प्रति मैं आभार प्रकट करता हूं।

दूरवर्ती होने के कारण मैं प्रूफ स्वयं नहीं देख सका हूं इस कारण रही अशुद्धियों के लिये मैं पाठकों से क्षमा प्रार्थी हूं। ग्रंथ के संपादन-लेखों की भाषा और भाव को परिमार्जित करने के कारण, यदि किन्हीं लेखक को असंतोष हुआ हो तो उसके लिये क्षमा चाहता हूँ। साथ ही उन सभी लेखकों से क्षमा याचना करता हूं जिनके लेख इस ग्रंथ में प्रकाशित नहीं कर सका हूं। अन्त में प्रकाशक महोदय से यह प्रार्थना करता हूं कि ग्रन्थ का वितरण सुव्यवस्थित रीति से करें जिससे यह ग्रन्थ जिज्ञासुजनों के लिये सदा सुलभ बना रहे।

श्रुत पंचमी<br>वीर नि० सं० २४९९

विनीत :<br>पन्नालाल साहित्याचार्य



# अनुक्रमणिका



| विषय | लेखक | पृष्ठ |
|---|---|---|

## प्रथम खंड

**संस्मरण और जीवन वृत्त :**

## द्वितीय खंड

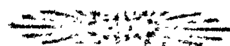
## तृतीय खंड

## चतुर्थ खंड



## पञ्चम खण्ड ( प्रकीर्णक )







# श्री शिवसागर स्मृति ग्रन्थ

* श्री वीतरागाय नमः *





# श्री वर्द्धमान स्तवनम्

---

* मालिनी छन्दः *

सजलजलदसेतुर्दुःखविध्वंसहेतु —निहतमकरकेतुर्वारितानिष्टहेतुः ।
क्वणितसमरहेतुर्नष्टनिःशेषधातुर्जयति जगति चन्द्रो वर्द्धमानो जिनेन्द्रः ॥१॥

समयसदनकर्ताऽसारसंसारहर्ता सकलभुवनभर्ता भूरिकल्याणधर्ता ।
परमसुख समर्ता सर्वसन्देहहर्ता जयति जगति चन्द्रो वर्द्धमानो जिनेन्द्रः ॥२॥

कुगतिपथविनेता मोक्षमार्गस्य नेता प्रकृतिगहनहन्ता तत्त्वसंघातवेत्ता ।
गगनगमनगन्ता मुक्तिरामाभिकान्तो जयति जगति चन्द्रो वर्द्धमानो जिनेन्द्रः ॥३॥

सजलजलदनादो निर्जिताशेषवादो यतिवरनुतपादो वस्तुतत्त्वज्ञगादः ।
जयति भविकवृन्दो नष्टकोपाग्निकन्दो जयति जगति चन्द्रो वर्द्धमानो जिनेन्द्रः ॥४॥

प्रबलबलविशालो मुक्तिकान्ता रसालो विमलगुणसरालो नित्यकल्लोलमालः ।
विगतशरणशालो धारितस्वच्छभालो जयति जगति चन्द्रो वर्द्धमानो जिनेन्द्रः ॥५॥

मदनमदविदारी चारुचारित्रधारी नरकगति निवारी स्वर्गमोक्षावतारी ।
विदितभुवनसारी केवलज्ञानधारी जयति जगति चन्द्रो वर्द्धमानो जिनेन्द्रः ॥६॥

विषयविषविनाशो भूरिभाषानिवासो गतभवभयपाशो कान्तिवल्लीविकाशः ।
करण सुख निवासो वर्णसम्पूरिताशो जयति जगति चन्द्रो वर्द्धमानो जिनेन्द्रः ॥७॥

वचनरचनधीरः पापधूलीसमीरः कनकनिकरगौरः क्रूरकर्मारिशूरः ।
कलुषदहननीरः पातितानङ्गवीरो जयति जगति चन्द्रो वर्द्धमानो जिनेन्द्रः ॥८॥

---

* स्तोत्र के रचयिता का नाम अज्ञात है, इसकी उपलब्धि गौरा बाई जैन मन्दिर कटरा सागर के एक हस्तलिखित प्राचीन गुटका से हुई है।

# श्री गुरो शिवसागरस्य स्तवः

[ परम पूज्य प्रातः स्मरणीय बाल ब्रह्मचारी वयोवृद्ध आचार्य श्री शिव सागरजी महाराज के प्रथम शिष्य आचार्य श्री १०८ ज्ञानसागर जी महाराज द्वारा रचित ]

सम्यक् त्रिगुप्तियुक्ताय, नमोस्तु शिवसिन्धवे ।
ज्ञानसागरतां नीतोऽहमज्ञः गुरुणामुना ।।
महाव्रतोपयोगेन, समितिस्त्रधिकारिणा ।
ऋषिप्रणीतग्रन्थानां सदध्ययन शालिना ।।
वात्सल्यान्वितचित्तेन, सदा धर्मप्रभाविना ।
कृपायुक्तेन दीनेषु, भव्यांबुरुहभानुना ।।

---

# सूरिं प्रवन्दे शिवसागरं तम्

[ रचयिता—मुनि श्री १०८ अजितसागरजी महाराज ]

ध्यानैकतानं सुगुणैकधानं ध्वस्ताभिमानं दुरिताभिहानम् ।
मोक्षाभियानं महनीयगानं सूरिं प्रवन्दे शिवसागरं तम् ।।१।।
यो लीन आसीत्सुतपः समूहे नो दीन आसीद् दुरिताभिहान्याम् ।
यः सागरोऽभृत्सुखशान्तिराशेः सूरिं प्रवन्दे शिवसागरं तम् ।।२।।
हिंसादि पापं प्रथिताभितापं संहृत्य दूरं सुकृतैकपूरम् ।
यो वृत्तभारं सुदधेऽतिसारं सूरिं प्रवन्दे शिवसागरं तम् ।।३।।
येन क्षता मन्मथमानमुद्रा येन क्षताबोधचयातिनिद्रा ।
येन क्षता मोहमहाभितन्द्रा सूरिं प्रवन्दे शिवसागरं तम् ।।४।।
योऽनेकसाधुव्रजपालनाय साध्वीचयस्यापि सुरक्षणाय ।
आसीत्प्रदक्षो विगतारिपक्षः सूरिं प्रवन्दे शिवसागरं तम् ।।५।।

# श्री शिवसागराचार्य स्तुतिः

[ रचयित्री—परम विदुषीरत्न आ० श्री ज्ञानमती माताजी ]

( छन्दः—वसन्ततिलका )

**श्रीवीरसागरमुनीश्वरशिष्यरत्न ! रत्नत्रयाख्य-निधिरक्षणसुप्रयत्न ! ।**
**आचार्यवर्य ! मुनिवृंदसुसेव्यमान ! भक्त्या नमामि शिवसागरपूज्यपाद ॥१॥**

गुरुवर वीरसिन्धु सूरि के शिष्यरत्न मुनिवर्य महान् ।
रत्नत्रय निधि के रक्षण में सतत यत्नशाली गुणखान ॥
मुनिगण सेवित सूरिवर्य ! हे शिवसागर मैं तुम्हें नमूं ।
भक्ति भाव से चरण कमल में प्रणमूं नित संस्तवन करूं ॥

**जातेर्जरामरणतः परिखिन्नचेताः, संसारसौख्यभवदुःखमयं निशम्य ।**
**सर्वं विहाय खलु विश्रुतवीरसिन्धुं, संश्रित्य साधुरभवत् तमहं नमामि ॥२॥**

जन्म जरा औ मरण दुःख से हो उद्विग्न चित्त नित ही ।
जग के सुख भव-भव दुखकारी तुमने ऐसा समझ सही ॥
छोड़ सभी परिग्रह परिजन को ख्यात वीरसागर गुरु को ।
आश्रय लेकर दीक्षा धारी हे मुनिवर ! वन्दन तुमको ॥

**सम्यक्चरित्रगुणशील-विभूषितांगं, स्याद्वादवारिधिविवर्धन-चन्द्रतुल्यं ।**
**बाह्यैस्तपोभिरतिशुष्ककुकर्मबंधं, तं क्षीणगात्र–शिवसिन्धुमुनिं स्तवीमि ॥३॥**

सम्यग्दर्शन चरित शील गुण भूषण से भूषित मुनिराज ।
स्याद्वाद सागर वर्धन में चन्द्रसमान तुम्हीं गुरुराज ॥
वाह्यतपश्चर्या अनशन से शोषित किया कर्मबन्धन ।
क्षीण शरीरी शिवसागर मुनि को नितप्रति मेरा वन्दन ॥

**अस्मिन्ननादिभवसंकटदावमध्ये, दंदह्यमानबहुजंतुगणान् निरीक्ष्य ।**
**कारुण्यपुण्यवचनामृतसेचनेन, संरक्षतीह शिवसिंधुमुनिं स्मरामि ॥४॥**

इस अनादि भव वन में जलती दावानल की अग्नि में ।
झुलस रहे जल रहे बहुत से, प्राणीगण दुःखित भव में ॥
उन्हें देख कारुण्य पुण्य वचनामृत से सिंचन करके ।
संरक्षण करते सब जन का, उन गुरु को वन्दन रुचि से ॥

संघाधिनाथ ! भवबन्धमुमुक्षुजीवान्, धर्मोपदेश-जलदैः परितर्प्यमानान् ।
दीक्षाव्रतादिषु नियोज्य कृपां करोति, तं धर्मपात्र ! शिवसिंधुगुरुं नमामि ॥५॥

हे संघाधिप ! भवबन्धन में पड़े मुमुक्षु जीवों को।
धर्मदेशना मेघवृष्टि से सन्तर्पित करते सबको॥
दीक्षाव्रतआदिक में आश्रित जन को लगा कृपा करते।
धर्मपात्र ! हे शिवसागर जी नमोस्तु तुमको नितप्रति है॥

ग्रीष्मे मरुस्थल–महातपनप्रदेशे, स्वात्मानुभूतिरसमास्वदतेऽह्निमध्ये ।
आतापनं धरति योगमतीवक्लिष्टं, प्लोषन् तनुं च खरकर्मरसं तमीडे ॥६॥

ग्रीष्मऋतु में मरुभूमि में तीक्ष्ण किरण से सूर्य तपे।
मध्य दिवस में खड़े घाम में आतापन तपते रुचि से॥
निज आतम अनुभवअमृत को आस्वादन करते रहते।
नमोऽस्तु तुमको तनु अरु तीव्र कर्म को नित शोषण करते॥

प्रावृड्घनाघनतडित्सुरचापचित्रैः, धाराप्रपातसलिलैश्च रवैश्च भीमे ।
कालेऽच्युते धृतमतिः स्खलितो न मार्गात्, स श्रीगुरुर्विजयते शिवसिंधुसूरिः ॥७॥

वर्षाऋतु में मेघ गरजते बिजली इन्द्र धनुष दिखते।
महा भयंकर शब्दों से अरु मूसलधारा वर्षा से॥
धैर्यशील मुक्ति में बुद्धि, नहिं शिवमारग से चिगते।
धैर्यमना आचार्यवर्य शिवसिन्धु सदा जयशील रहें॥

शीते तुषारपतने शिशिरो विधत्ते, जीवं प्रकंपिततनुं रविरश्मिसक्तं ।
रात्रौ निरावृततनुर्धृतिकंबलः स्यात्, श्रीमान् चिरं विजयतां शिवसिंधुसूरिः ॥८॥

शीतकाल में बर्फ पड़े सब जन कँपते घर में छिपते।
रवि किरणों में प्रीति करते शीतल वायु से डरते॥
रात्रि में वस्त्रादिरहित तनु आप धैर्य कम्बल ओढ़ें।
ऐसे शिवसागर सूरीश्वर विजयी रहें सदा जग में॥

धीरो जितेन्द्रियमनाः सुकृती तपस्वी, सार्वो गभीरहृदयोऽखिलतत्त्ववेदी ।
क्रोधप्रमोहमदमारजयी विशुद्धः योऽसौ क्रियाद्धि मम बोधिसमाधि सिद्धिं ॥९॥

धीर जितेन्द्रियमना तपस्वी सुकृती सबके हितकारी।
अखिल तत्त्व के ज्ञाता गुरुवर अतिगम्भीर हृदयधारी॥

क्रोध मोह मद काम विजेता विशुद्धहृदयी हे मुनिराज।
मम रत्नत्रय बोधि समाधि, की सिद्धि करिये सुखकाज॥

मासोपवासकुचणैः शुभकर्मनिष्ठैः, स्वाध्यायध्यानरतसाधुभिरीड्यमानः।
मुख्यः परीषहजयी नृसुरादिपूज्यः, भूयात स मे शिवनिधिः शिवसौख्यसिद्ध्यै ॥१०॥

मास-मास उपवास कुशल शुभक्रिया निष्ठ साधूगण से।
ध्यान तथा स्वाध्याय निरत चउविध संघ से वंदित नित हैं॥
नरसुर पूज्य, प्रधान, परीषह सहने में तत्पर रहते।
वे शिवनिधि गुरुदेव हमारी शिवसुखसिद्धि झट करिये॥

मया संस्तूयते नित्यं शिवसिन्धुर्मुनीश्वरः।
कुर्याच्छिवं सुभव्याय मह्यं च जगतेऽपि च ॥११॥

करूं स्तुति शिवसिन्धु की भविजन के हितकाज।
मुझको भी अरु जगत को मिले सौख्य साम्राज्य॥

# आचार्य शिवसागर स्तोत्रम्

[रचयित्री-आर्यिका सुपार्श्वमती जी]

ध्यानी विवेकी परमस्वरूपी ज्ञानी व्रती प्राणिहितोपदेशी।
यः कामजेता शिवसौख्यकारी वन्दे मुनीशं शिवसागरं तम् ॥१॥

मुक्त्यङ्गनायै रचिता मनोज्ञा रत्नत्रयीस्रग् भुवि या जिनेन।
तां कण्ठमासाद्य बभूव श्रेष्ठो वन्दे मुनीशं शिवसागरं तम् ॥२॥

प्रशंसितो यो न दधाति तोषं विरोधितो यो न बिभर्ति रोषम्।
सर्वेषु जीवेषु कृपां दधानं सूरीश्वरं तं प्रणमामि भक्त्या ॥३॥

ध्यानैकनिष्ठं मुनिहंस सेव्यं सुरेशनागेशनरेश वन्द्यम्।
दिगम्बरं सुन्दरदिव्यदेहमाचार्यवर्यं प्रणमामि भक्त्या ॥४॥

सद्दर्शनज्ञानचरित्रयुक्तं संसारभोगेषु सदा विरक्तम्।
कायेन वाचा मनसा च नित्यमाचार्यवर्यं प्रणमामि भक्त्या ॥५॥

नेमिचन्द्रः पिता यस्य सवित्री दगड़ावती।
वीरसिन्धोः प्रशिष्यं तं वन्देऽहं शिवसागरम् ॥६॥

# आचार्य कल्पद्रुम

[ श्री १०५ विशुद्धमति माताजी ]

( संघस्था प० पू० आ० कल्प १०८ श्री श्रुतसागर जी महाराज )

मुनि जन मन अधिनायक जय हे, शिवसागर द्रुम प्यारा,
शिवसागर द्रुम प्यारा ।

सम्यग्दर्शन मूल आपका, ज्ञान स्कन्ध–अपारा ।
पंच महाव्रत शाखा दृढ़तम, डाली समिति प्रवाला ॥
व्रत कोंपल उमगाये,
गुप्ति कली हरषाये,
पावे शिवफल आला
मुनि गण विहग सुरक्षक जय हे, शिवसागर द्रुम प्यारा,
जय हे, जय हे, जय हे, जय जय जय जय हे,
शिवसागर द्रुम प्यारा ॥१॥

अन्तर तप है सार पीड का, बाह्य त्वचा अनिवारा ।
लता वेलि दश लक्षण सुन्दर सुरभित पंचाचारा ॥
पुष्प सुगुण विकसाये,
नियम भंवर मंडराये,
पावे सब जग छाया,
विषय-ताप दुख हर्ता जय हे, शिवसागर द्रुम प्यारा,
जय हे, जय हे, जय हे, जय जय जय जय हे,
शिवसागर द्रुम प्यारा ॥२॥

फाल्गुन बदी अमावस काली, वज्रपात अनियारा ।
हरे भरे शुभ कल्प वृक्ष को, ध्वंस किया इक वारा ॥
श्रद्धा सुमन संजोये,
[वि] शुद्धमति मन रोये,
छोड़ गये निरधारा,
शीतल छाया दायक जय हे, शिवसागर द्रुम प्यारा,
जय हे, जय हे, जय हे, जय जय जय जय हे,
शिवसागर द्रुम प्यारा ॥३॥

हे गुरुवर्य ! क्या आप मात्र तप, ध्यान, अध्ययन के आधार थे ? या सौम्यता की साक्षात् मूर्ति थे ?
या मधुर वार्तालाप के समय सुधारस थे ? या शीतलता के स्रोत चन्द्रकांत मणि थे ? या अपनी
आकर्षक वाणी से जन समुदाय को आकर्षित करने वाले चुम्बक थे ? या समाज
के लिये धार्मिक ज्योतिर्मय दीप थे ? या साधु संघ के लिये सूर्य थे ?
या शांति-सुधा के पान कराने वाले चन्द्र थे ? या जन्म-मरण रूपी रोग
को नष्ट करने वाले धन्वन्तरि थे ? या भव समुद्र में डूबने
वालों को तिनके के सहारे थे ? या मिथ्या पथ पर भटकने
वाले विषय कषायान्धों को लकड़ी के सहारे थे ?
या भव समुद्र के पोत थे ?



हमारी यह अल्प बुद्धि नहीं समझ सकती कि
आप क्या थे ?

प्रातः स्मरणीय

## स्वर्गीय १०८ आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज के प्रति

# मुनिवृन्दों को श्रद्धांजलियाँ

## पूज्य आचार्य १०८ श्री धर्मसागरजी महाराज

आचार्य शिवसागर जी महाराज, शान्तस्वभावी, सरल प्रकृति के महान् तपस्वी साधु थे। व्रत उपवास व तपश्चर्या में अद्वितीय क्षमता रखते थे। मेरा बहुत समय तक स्व० आचार्य महाराज का साथ रहा था। समस्त संघ को उनने बड़ी शान्ति से सम्हाला था। यह दैवयोग ही समझना चाहिये कि उनके अन्तिम समय में मेरा और मेरे साथ साथ अनेक साधुओं का महावीर जी में संयोग रहा। उनके आकस्मिक स्वर्गारोहण से संघ की व समाज की भारी क्षति हुई है। मैं स्वर्गीय महान् आचार्य श्री के प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

× × ×

## श्री १०८ परमपूज्य आचार्यकल्प श्रुतसागरजी महाराज

जिन महापुरुषों के प्रति हमारे द्वारा श्रद्धांजलि लिखने का प्रयत्न किया जाता है उनके प्रति और उनके चारित्र के प्रति हमारे अन्तरङ्ग में अटल श्रद्धा होनी चाहिये। वह श्रद्धा ही हमें एक दिन उस रूप बनने के लिये प्रेरणा देती है। अतः जिन्होंने निर्वाण प्राप्ति के लिये अन्तरङ्ग रागद्वेषादि व वहिरङ्ग वस्त्राभूषण आदि परिग्रह का त्यागकर जैनेश्वरी दीक्षा धारण की, जो संसार परिभ्रमण से मुक्त होनेके लिये संसारी जीवों के मार्ग दर्शक थे, जो लौकिक ख्याति पूजा लाभ की लिप्सा से रहित थे, संसार परिभ्रमण से भयभीत होकर आगमानुसार, विवेकपूर्वक तपश्चरण करने में तत्पर रहते थे, ऐसे दिवंगत आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज के चरणों में अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए नतमस्तक होता हूँ।

× × ×

# पूज्य १०८ श्री सन्मतिसागरजी महाराज

**गुरवः पान्तुं नो नित्यं ज्ञान दर्शन नायकाः ।**
**चारित्रार्णव गंभीरा मोक्ष मार्गोपदेशकाः ।।**

मेरे में इतनी बुद्धि नहीं है कि मैं कुछ लेख या काव्य आदि बना सकूं परन्तु स्वर्गीय आचार्य शिवसागरजी के प्रति मेरी अटूट भक्ति है उसे मैं भूल नहीं सकता। मुझे भक्तामर का एक श्लोक स्मरण होता है—

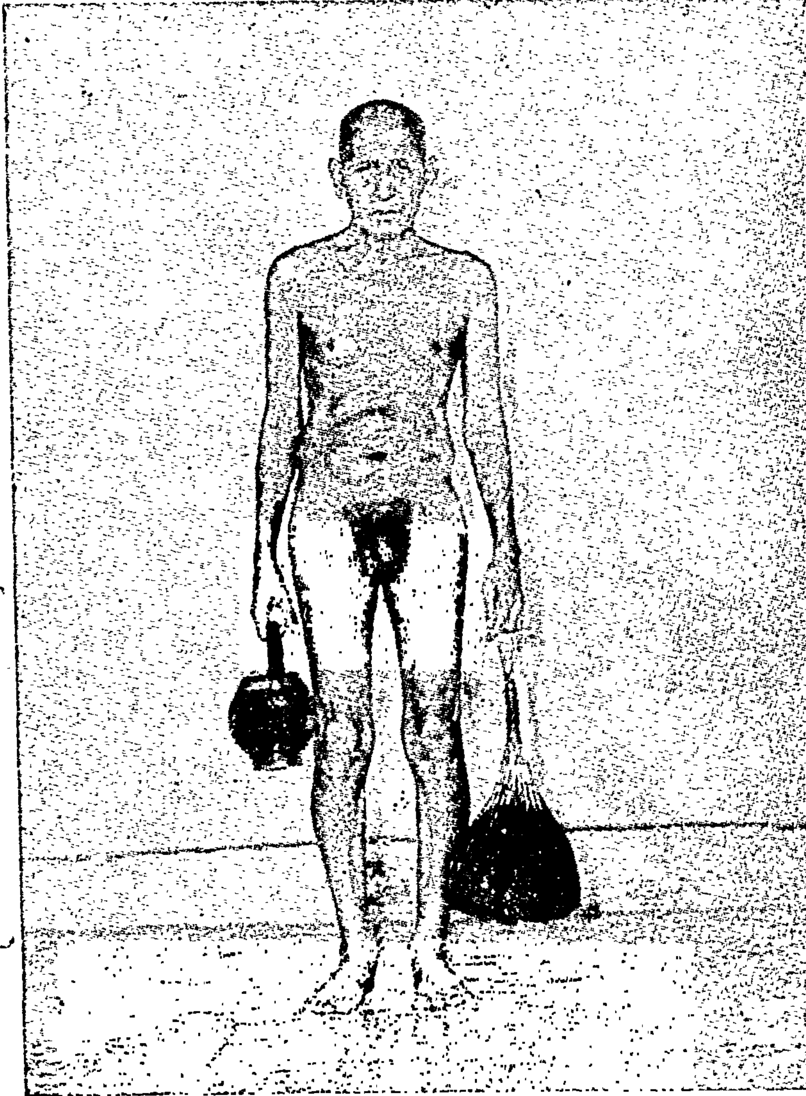
**अल्प श्रुतं श्रुतवतां परिहासधाम, त्वद्भक्तिरेव मुखरी कुरुते बलान्माम ।**
**यत्कोकिलः किल मधौ मधुरं विरौति, तच्चाम्रचारु कलिकानिकरैकहेतु ।।**

इस काव्य को दृष्टि में रखकर कुछ गुणानुवाद गाने की इच्छा हुई है। मेरे साथ उन्होंने कितना उपकार किया है उसकी मुझे याद आरही है और उसे ही मैं लिख रहा हूँ।

प्रथम, आचार्य श्री वीरसागरजी का चातुर्मास जब नैनवां में था, चातुर्मास समाप्त होनेके पश्चात् संघ बांसीदुगारी के पास पहुँचा। मेरे उस समय ५ वीं प्रतिमा थी और मैं संघ के दर्शनार्थ टोडारायसिंह से बांसीदुगारी पहुँचा। आचार्य श्री शिवसागरजी उस समय क्षुल्लक अवस्था में थे और उन्होंने मेरी परीक्षा करने के बाद कहा कि अगर आत्म कल्याण करना चाहते हो तो धर्मशास्त्र कण्ठस्थ याद करो। मैंने असमर्थता प्रगट की, परन्तु आचार्य श्री ने मेरे ऊपर कानून लगाया कि संघ में रहते हुये जब तक तुम एक श्लोक याद करके मुझे नहीं सुनाओगे तब तक भोजन नहीं कर सकते। उसी दिन श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार प्रारम्भ कराया। इस कड़े अनुशासन का यह फल निकला कि एक डेढ़ माह में ही सम्पूर्ण ग्रन्थ पूर्ण कर लिया और करीब १०० श्लोक कण्ठाग्र भी कर लिये।

मेरी क्षुल्लक दीक्षा टोडारायसिंह में विक्रम सम्वत् २०११ फाल्गुन शुक्ल १० को हुई, पश्चात् संघ का विहार राजमहल की ओर हुआ—यह पहाड़ी स्थान है और नदी के किनारे बालू अधिक होनेसे गरम लू अधिक चलती थी जिसकी ताप से मैं दिन भर आकुलित रहता था। यह बात मैंने आचार्य शिवसागरजी से कही। आचार्य महाराज ने उसी समय मुझे ज्ञानरूप अमृतमय औषधि पिलाई वह यह थी कि दिन के १ बजे से ३ बजे तक चौबीसठाना चर्चा की पुस्तक मेरे हाथ में देते और तीन चार ब्रह्मचारी एवं ब्रह्मचारिणियों को सामने बैठाकर उनके साथ चर्चा करवाते जिससे मेरा समय निराकुलता पूर्वक निकल जाता और मुझे अत्यन्त शान्ति भी मिलती। इस प्रकार मेरे ऊपर अनुग्रह करनेवाले महाराज का गुणानुवाद गाये बिना मेरा हृदय नहीं रुक सकता। अतः मेरी आत्मा उन गुणज्ञ महाराज के उपकार को इस भव में तो क्या अगले भव में भी विस्मरण नहीं कर सकती।

आगम वचन है कि यदि एक अक्षर का भी ज्ञानदान कोई किसी को देता है तो उसे अवश्य ही केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। अतः मेरी आत्मा में यह अटल विश्वास है कि उन्हें शीघ्र ही केवलज्ञान प्राप्त होकर अविनाशी पद की प्राप्ति होगी।



प्रवर वक्ता

श्री १०८ पू० श्री सन्मतिसागरजी महाराज



मैं ५७ वर्ष की उमर तक ब्रह्मचर्य अवस्था में रहा और प्राय: बीमार रहता था तो वे अन्य त्यागियों द्वारा मेरे शरीर का उपचार भी उचित रूपसे कराते रहते थे।

आचार्य श्री को समयसार के कलश कण्ठाग्र थे। मैं ब्रह्मचारी था तो भी मुझे पुस्तक हाथ में देकर आप स्वयं कण्ठाग्र किये हुए कलश सुनाते उसके फल स्वरूप मैं भी कलश पढ़ने लगा और उससे अब शान्ति भी प्राप्त कर रहा हूँ।

आचार्यश्री का आत्मबल भी अटूट था, टोडारायसिंह के चातुर्मास में आषाढ़ की अष्टाह्निका में उन्होंने आठ उपवास किये थे। गुरु पूर्णिमा को आचार्य महाराज वीरसागरजी का जन्म दिवस था उस दिन करीब एक घण्टे तक गुरु वीरसागरजी के गुणानुवाद गाये और कहा कि महाराजजी ने मुझे औरङ्गाबाद की पाठशाला में प्रारम्भ से शिक्षा दी है।

आचार्य श्री कहा करते थे कि आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज का गृहस्थ अवस्था में हीरालालजी नाम था और वे ( आ० वीरसागरजी ) जैन पाठशाला में बालकों को धर्म का अध्ययन कराते थे। मैं ( आ० शिवसागरजी ) भी उस पाठशाला में अध्ययन करता था। महाराज श्री ( आ० वीरसागरजी ) को लोग गुरूजी के नाम से पुकारा करते थे। आज वे मेरे ( आ० शिवसागरजी ) शिक्षा गुरु होते हुये भी दीक्षा गुरु बन गये। मेरा भी ( आ० शिवसागरजी ) गृहस्थ अवस्था में हीरालाल नाम था। गुरु सेवा का फल मेवा साक्षात् मिल गया। समाधि शतक में लिखा है कि यदि आत्मा परमात्मा की उपासना करता है तो वह स्वयं परमात्मा बन जाता है। मुझे भी ( आ० शिवसागरजी ) यही अवसर प्राप्त हुआ। इस प्रकार की गुरु भक्ति से अत्यन्त भीगे हुए भावों के साथ गुरु पूर्णिमा के दिन उपदेश दिया और वही दिन महाराज का जन्म दिवस था।

कहने का आशय यह है कि महाराज के चित्त में अटूट गुरु भक्ति थी और यह गुरु भक्ति ही संसार से तारने वाली है इसलिये प्रत्येक मानव का कर्त्तव्य है कि गुरु भक्ति का विस्मरण न करें।

× × ×

# सफल संघ संचालक

## लेखक–श्री १०८ आचार्य सन्मतिसागरजी महाराज

( संघस्थ श्री १०८ आचार्य महावीरकीर्तिजी महाराज )

श्री १०८ आचार्य महावीरकीर्तिजी महाराज ने हमें बताया था कि जब स्वर्गीय श्री १०८ आचार्य शिवसागरजी महाराज को आचार्य पद देने का अवसर आया तब आपने आचार्य श्री १०८ महावीर-कीर्तिजी महाराज से कहा कि मैं साधारण मुनि रहकर ही आत्म कल्याण करना चाहता हूँ, संघ संचालन की मुझमें क्षमता नहीं है। इसके उत्तर में महाराज श्री ने कहा था कि मैं आपकी योग्यता को भलीभाँति

जानता हूँ फिर ऐसे नक्षत्र में आपको यह पद दिया जा रहा है जिसमें किया हुआ काम निरन्तर बढ़ता ही रहता है।

यह सर्व विदित है कि आचार्य शिवसागरजी संघ के संचालन और उसकी श्री वृद्धि करने में अत्यन्त कुशल थे। उनके संघ में जो साधु या माताजी वगैरह पहुँच जाते थे, वे अपने जीवन को सफल समझने लगते थे। उनका संघ बड़ा संघ कहलाता था, वे बड़े तपस्वी और अनुशासन प्रिय आचार्य थे। उनके विषय में जितना भी कहा जाय, थोड़ा है। उनके प्रति नम्र श्रद्धांजलि अर्पित है।

× × ×

## श्री १०८ मुनिराज श्री भव्यसागरजी महाराज

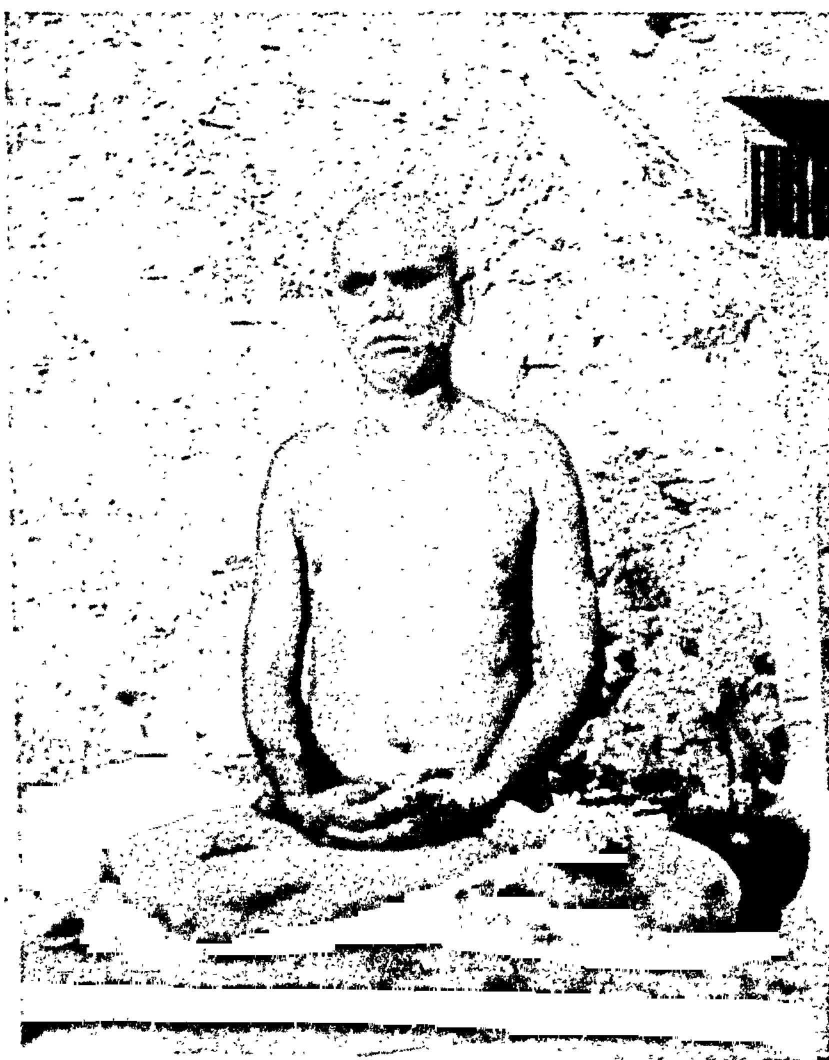
वास्तव में इस कलियुग में आप महान तपस्वी थे। आपका दर्शन पाते ही जनता में आपका बहुत प्रभाव पड़ता था। आपके किसी प्रकारकी लाग लपेट तथा याचनाका नामनिशान भी नहीं था। आपके हृदयमें अपूर्व अनुकंपा थी। बाहरसे आप कठोर जान पड़ते थे सो भी ठीक ही तो था, क्योंकि शासन आपको चलाना था। परन्तु आपका हृदय कोमल, मधुर रससे भरा हुआ था। आपका संघ आगमयुक्त अनुशासन करनेमें भारतवर्ष में चमक गया। यदि आप कुछ दिन और भव्य आत्माओंके पुण्ययोगसे ठहरते, तो सैंकड़ों छात्र जैनधर्मकी शिक्षामें अपूर्व भाग लेते। आजकल प्रेरणा बिना धर्मकी पढ़ाई में बहुत ग्लानि आ रही है। श्री शान्ति वीर दिगम्बर जैन गुरुकुल आपकी कृपासे प्रकाशमान् है।

आप सिर्फ जनताके ही नहीं, वरन् साधुओं के भी साधु थे। विद्वत्जन तथा पंडितगण आपकी चर्यासे प्रभावित होते थे। आपके सम्पर्कमें रहनेवाले आपके गुरुभाई श्रुतसिद्धांतके अनुभवी, महान् तपस्वी, परमपूज्य आचार्य कल्प १०८श्री श्रुतसागरजी महाराज वर्तमानमें धर्मकी प्रभावना बढा रहे हैं यह बड़े सौभाग्यकी बात है। उनके पास प्रतिदिन षटखंडागमकी तथा और भी अनेक प्रकारकी जिनागमकी सुन्दर चर्चा होती है। जिसमें भक्तिवश बड़े बड़े विद्वत्जन, सिद्धांतभूषण रतनचंदजी मुख्त्यार सरीखे सज्जन तत्पर रहते हैं। एक समय भी व्यर्थ नहीं जाता।

पूज्य शिवसागरजी महाराजके अन्त्यदर्शन, दुर्भाग्यवश मैं नहीं कर सका। जिससे महाराज के स्मरण होते ही मनमें बड़ा पश्चाताप होता है। उनकी एक एक बात आगमानुकूल थी और उनके निकट रहनेवाला पुनीत बन जाता था। गुरुराज जिस समय उपदेश देते थे, उनका मुखकमल मोतियोंकी तरह झलकता था। और अल्पज्ञानी में भी धर्मकी रुचि जाग्रत होती थी।

ऐसे महान तपस्वी को मैं अंतःकरणसे बारंबार विनयता पूर्वक श्रद्धांजलि अर्पण करता हूँ।

× ×



परम पूज्य स्व० आचार्य श्री १०८ शिवसागरजी महाराज के सुशिष्य
अभीक्ष्णज्ञानोपयोगी बाल ब्रह्मचारी
**श्री १०८ श्री अजितसागरजी महाराज**

# अनुपम गुण गरिमा के अधीश्वर

## लेखक—पू० १०८ मुनिराज श्री अजितसागरजी

( संघस्थ-प० पू० आ० कल्प १०८ श्री श्रुतसागर जी महाराज )

श्री १०८ परमपूज्य प्रातः स्मरणीय जगद्वन्द्य अलौकिक गुणधारक स्वर्गीय गुरुवर्य आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज मोक्षमार्ग के अद्वितीय नेता थे, उनके गुण कीर्तन का कार्य ऐसा होगा कि जैसे मूक व्याख्यान करे, अन्धा सौन्दर्य देखे और बधिर सद्गुरु देशना श्रवण करे। तदपि गुरुभक्ति से प्रेरित होकर किञ्चित् यथा मति श्रद्धा सुमन उनके चरणों में अर्पित करता हूँ:—

वे प्राणीमात्र के संरक्षक, हितमित प्रिय वचन अभ्यासी, अदत्त ग्रहण त्यागी, सार्वभौम व्रत के निरतिचार प्रतिपालक, आत्मातिरिक्त अन्य पदार्थों की मूर्च्छा से रहित, चतुर्हस्त भूमि विलोकन पूर्वक गमनकारी, सुविचार पूर्वक वचन उच्चारक, एषणा समिति दोषों से रहित आहार-ग्राहक, स्थान विलोकन मार्जन पुनर्निरीक्षण पूर्वक ज्ञान, शौच संयमादि उपकरणों के ग्रहणादान के अभ्यासी, प्रासुक विशाल एकान्त भूमि में शरीर मल विमोचक, प्राणी मात्र के हित चिन्तक, समस्त जीवों को सन्मार्ग दर्शक, अखिल प्राणियों के सुखजनक प्रवृत्तिकारक, अक्षम्यापराध दोषों को पृथ्वीवत् सहिष्णु, मार्दव गुणधारक, ऋजुधर्म पालक, बाह्य वस्तु की ममता से रहित, सूर्य चन्द्र मणि के अविषयभूत अज्ञानान्धकार के विनाशक वचन भाषी, इन्द्रिय प्राणि संयम के स्वयं पालक तथा आश्रितों को सतत् पालन प्रेरणा प्रदाता, अंतरंग बहिरङ्ग, तप के अभ्यासी, अनेक बार दशलक्षण व अष्टाह्निका व्रतधारी, एकान्तर तथा बेला तेला आदि करके भी दस-दस बारह-बारह मील चलने वाले, चार चार पांच पांच उपवास करके भी उपदेश देने वाले तथा इस स्थिति में भी कठिन व्रतपरिसंख्यानधारी, छहों रसों में भी केवल मात्र दूध लेने वाले व उसका भी कई बार त्याग कर नीरस भोजी, एकान्त में ध्यान अध्ययन विधायी, तत्वचर्चा के विशेषाभिलाषी, निद्रा विजयी, जीवन में कई करोड़ जाप्य विधायी, ग्रीष्म काल में घंटों आतप में बैठकर सामायिक करने वाले, ज्ञानदान प्रेरक, धर्मज्ञानशून्य बालक बालिकाओं को देखकर उन्हें पूर्णधर्मनिष्ठ बनाने की पूर्णप्रेरणा करने वाले थे। इत्यादि अनेक स्वपर हितकारी गुणों के आधार श्री गुरुवर्य ने अपना आत्मकल्याण किया तथा आश्रितों को यथार्थ हित पथ प्रदर्शन किया, अतः भक्त गण उस पथ का अपने जीवन में उपयोग कर कृतज्ञ गुण के पालक होकर अपना हित करें।

मुझ पर भी उन गुरुवर्य का महान् उपकार है, उनके प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुये यह शुभ भावना करता हूँ कि स्वर्ग से च्युत होकर मनुष्य पर्याय पाकर निर्ग्रन्थ अवस्था धारणकर मोक्ष रूपी मानसरोवर के हंस हों, तथा उन पूज्य गुरुवर्य का यह शुभाशीर्वाद चाहता हूँ कि मेरा धारण किया हुआ यह साधु पद निर्दोष रूप से पालन हो और शिव सुख की प्राप्ति हो।

× × ×

# महती द्युति

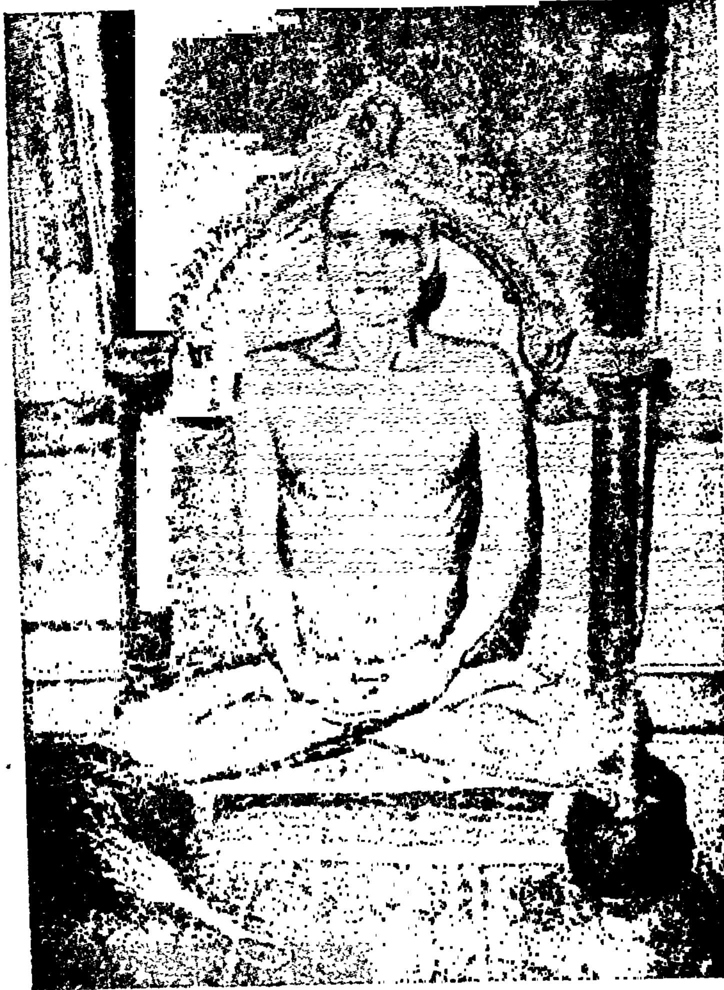
## लेखक–श्री १०८ मुनिराज श्रेयांससागरजी महाराज

दिगम्बर अवस्था में और आचार्य पद पर जिन जिन बातों की आवश्यकता आगम में बताई गई उनका बराबर आप पालन करते थे आपका तप और उपवासादि सब अनोखे थे। आपकी जाप-मालायें इतनी चलती थीं कि आप रात्रि में भी जैसा आगम में बताया है तदनुसार २-२॥ घण्टे से अधिक निद्रा नहीं लेते थे और चार चार उपवास करने पर भी आपकी साधु क्रिया में कोई अन्तर नहीं आता था, बराबर अपने ध्यान में लीन रहकर जगत को अध्यात्म का पाठ आपने उज्ज्वल और घोर तपस्या के द्वारा बता दिया। इतना ही नहीं, श्रावकों के लिये तो उपदेश देना इसमें भी अन्तर नहीं पड़ता था। आपकी इन अद्वितीय क्रियाओं को देखकर आज के भौतिक युग में जब कि यह मानव अनाज का कीड़ा बना हुआ है आपके उपवासों को देखकर जनता चकित हो जाती थी और आपके चरणों में जरूर नत मस्तक होती थी।

आपकी शरीर दृष्टि देखे तो एक बौनीमूर्ति कृश शरीर श्यामवर्ण जैसी थी। पर तपस्या का तेज चेहरे पर अद्वितीय झलकता था, तथा आपकी सतत शान्त और हास्यमय मुद्रा को देखकर जनता प्रभावित हुये बगैर नहीं रहती थी।

आपके वचनों में एक आकर्षक शक्ति थी जिसको सुनकर त्याग की प्रवृत्ति पर सब खिच जाते थे और आपमें शैली भी ऐसी थी कि आप बराबर अपने उपदेश द्वारा सामने वाले को त्याग के लिये आमादा करते थे। आपके कर-कमलों से व्रती कितने बने इसकी तो गिनती ही नहीं और त्यागी भी बहुतों को आपने बनाया और कल्याण मार्ग पर लगा दिया।

मेरे ही बारे में एक घटना हुई कि मैं ब्रह्मचारी अवस्था में श्री १०८ प० पू० स्वर्गीय सुपार्श्व-सागरजी महाराज जिनको सल्लेखना के बारह वर्ष पूर्ण करके उदयपुर में समाधि के साथ शरीर को छोड़ना हुआ, उनको श्री सम्मेदशिखर की यात्रा करा कर दक्षिण में वापिस लौट रहा था तब मार्ग में आपके दर्शन करने का सौभाग्य सागर में हुआ। उसी समय आपने मुझसे सहज प्रश्न किया कि ब्रह्मचारी एक बात तो बताओ—मैंने कहा महाराज क्या? तो आपने कहा कि घर से खड़ा निकलना अच्छा है कि आड़ा निकलना अच्छा है? कितना मार्मिक और समयोचित प्रश्न था। मैंने जवाब दिया महाराज खड़ा निकलना अच्छा है। बस इतना मेरा जवाब मिलते ही महाराज प्रसन्न हुये और प्रसन्न मुद्रा में कहने लगे कि भाई फिर क्या देर [illegible] कहकर ही न रहे बल्कि मेरे भावों में और अपने उपदेश द्वारा दृढ़ता



स्व० आचार्य श्री १०८ शिवसागरजी महाराज के सुशिष्य

**श्री १०८ पू० श्री श्रेयांस सागरजी महाराज**



पैदा करदी, फलस्वरूप मैंने वहां पर सागर में ही महाराज श्री के चरणों में मुनि दीक्षा के भावों को प्रकट करके मुनि बनने के कारण आचार्य श्री के चरणों में श्रीफल चढ़ा दिया था।

आज इस प्रकार समयोचित वैराग्य पर उपदेश देने वाले की महान क्षति हो गई है। और भविष्य में उसकी पूर्ति कब होगी, केवली जाने।

अभी जो शान्तिवीर नगर में पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव हुआ, उसके प्रेरक आप थे। इतना ही नहीं तप कल्याणक के दिन जो ११ दीक्षाएँ हुईं उनके प्रेरक आप थे। एक १९ वर्ष के यशवन्तकुमार सनावद वाले को होनहार समझ कर मुनि दीक्षा की सम्मति आपने दे दी थी और आपके आदेशानुसार उसने भी जैनेश्वरी दीक्षा को ग्रहण करके सच्चा अध्यात्मवाद जग के सामने रख दिया। ऐसा शिव का मार्ग बताने वाले और नाम को सार्थक करने वाले शिवसागर ही थे। सागर में जिस प्रकार सब नदियां जा मिलती हैं उसी प्रकार इस शिव रूपी सागर में मुमुक्षु के भावों को रखने वाली सब नदियां आकर मिलती थीं और उन सबको यथायोग्य शिव के मार्गरूपी चारित्र पर अटल रखने का मार्ग बताते थे। यही एक कारण है कि जो आप एक विशाल संघ को बनाकर उचित मार्ग बतलाने वाले रहे और चतुर्थकाल का दृश्य बताते रहे। आज वह क्षति हो गई है।

ऐसी महान् प्रभावशाली आत्मा शीघ्रातिशीघ्र मनुष्य भव धारण कर वापसी मुनि पद को भूषित करें तथा निर्वाण प्राप्त करें, ऐसी वीर प्रभु से प्रार्थना करता हुआ, श्रद्धांजलि अर्पण करता हुआ साथ में यह प्रार्थना करता हूँ कि आप जैसा मेरा आत्मबल सतत् जाग्रत रहे और मेरे द्वारा मुनिधर्म का पालन निर्दोष रीति से होता रहे।

× × ×

# शिष्य वत्सल

## लेखक—मुनिराज श्री १०८ सुबुद्धिसागर जी महाराज

( पूर्वनाम—श्री मोतीलालजी जौंहरी संघपति )

(संघस्थ—प० पू० आचार्य कल्प १०८ श्री श्रुतसागर जी महाराज)

परम पूज्य आचार्यश्री के साथ मेरा परिचय कुछ वर्षों पहले हुआ, जब आचार्य श्री वीरसागर जी महाराज का चातुर्मास जयपुर-खानियां में हो रहा था तब मैं सह कुटुम्ब आचार्यश्री के दर्शनार्थ जयपुर गया था, आचार्य श्री ने हमारा परिचय कराया। समस्त मुनिसंघ के दर्शन से अपूर्व शांति मिली। इस शांति ने मेरी अंतरंग भावना बदलने की प्रेरणा की व महाराज के उपदेश से कुछ वैराग्य भावना जागृत हुई। बाद में कोटा के चातुर्मास में फिर वहां जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। वहां भी मेरी भावना को

अधिक बल मिला, यहां भावना पुष्पित हुई। बाद में फिर उदयपुर चातुर्मास हुआ तो फिर भादों में वहां गये। वहां आचार्य श्री के उपदेश से मेरे को क्षुल्लक दीक्षा धारण करने का परम दुर्लभ अवसर मिला और बाद में ६ मास के अनन्तर आचार्यश्री के पाद मूल में रहते रहते सलुम्बर में दिगम्बरी मुनिदीक्षा धारण करने का मेरा मनोरथ सफलित हुआ। इस तरह संसार कीच से मुझे बाहर निकालने का परम श्रेय पूज्य आचार्यश्री को ही है।

शिष्यों के प्रति उनका कितना धर्मस्नेह रहता था यह मैंने जो इन १२ महीने में देखा उसका कथन करना मेरी शक्ति के बाहर है फिर भी यहां कारण है कि आचार्यश्री का इतना विशाल संघ है। तपस्या से कृश हुये उनके शरीर में अपार मनोबल था। वे परम तपस्वी और विशिष्ट ज्ञानी थे, संघ के कुशल नेता थे और आत्म साधना के पथ पर निरन्तर अग्रसर रहते थे।

अन्त में मैं परम प्रभु परमात्मा से प्रार्थना करता हूँ कि उनकी आत्मा को शांति लाभ हो और निकट भविष्य में मनुष्य भव धारण करके कर्मों से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करें उनके पथ पर चलकर मैं भी संसार से छूटूं, ऐसी मैं कामना करता हूँ। आचार्यश्री के चरणों में श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

## श्री १०८ मुनि अभिनन्दनसागरजी महाराज

यह महान् दुःख का विषय है कि गुरुवर्य श्री शिवसागर जी महाराज हमसे बिछुड़ गये। पूज्य गुरुवर्य हमें समय समय पर संबोधते थे कि भाई अपने चारित्र पर दृढ़ रहो उसमें किसी प्रकार की त्रुटि न होने दो। जिससे कि दुनियां अपने ऊपर उंगली न उठा सके। वे स्वयं चारित्र में दृढ़ थे। अत्यन्त ही कठोर तपस्या करते थे। उनका शरीर कृश एवं जीर्ण देखकर यमराजरूपी परहितैषी मित्र ने उनकी आत्मा को इस जीर्ण कुटी से निकाल कर नूतन महल प्राप्त करवाया। मैं जिनेन्द्र भगवान से प्रार्थना करता हूँ कि स्वर्गीय आत्मा को शीघ्रातिशीघ्र शिवलक्ष्मी प्राप्त होवे। पुनः ऐसी भावना करता हूँ कि मैं भी गुरुवर्य के दिये हुये बोध के अनुसार चलकर अपनी आत्मा का कल्याण कर सकूं। स्वर्गीय आचार्य श्री के चरणों में श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

× × ×

# साधना से महानता

## लेखक—श्री १०८ मुनि संभवसागरजी

स्वर्गीय परम पूज्य १०८ आचार्य श्री शिवसागर महाराज की साधना महान् थी। आप बड़े तेजस्वी एवं त्याग की साक्षात् मूर्ति थे। आपका शरीर बहुत कृश, दुबला-पतला दिखता था, परन्तु आपकी चर्या एवं त्याग, तपस्या को देखकर कहना पड़ता है कि दिखने में जितना कृश था उसमें कई

गुनी उस शरीर में शक्ति थी। उस शक्ति का आचार्यश्री ने स्वकल्याण व परकल्याण करने में सदुपयोग किया।

उपसर्ग व परीषह सहने में आप बड़े सहनशील थे। आपने कई वर्षों तक एक उपवास व एक आहार किया। भाद्रपद मास में तो आप पांच-पांच उपवास तक किया करते थे। चातुर्मास में दो-दो, चार-चार उपवास करते हुए भी आपके उपदेशादि एवं नित्य क्रियाओं में किसी भी प्रकार का अन्तर नहीं पड़ता था।

आप अपनी आत्म साधना में सतत लगे रहते थे। ग्रीष्म ऋतु में भी मध्याह्न की सामायिक खुली धूप में खड्गासन व पद्मासन से करते थे। गर्मी के कारण शरीर से पसीने की झड़ी लग जाती थी परन्तु आप अपने ध्यान में मग्न रहते थे।

आचार्य श्री जाप बहुत करते थे और रात्रि में बहुत कम सोते थे तथा निद्रा के ऊपर विजय प्राप्त कर ली थी।

आपका शिष्यों के प्रति वात्सल्य व अपार अनुग्रह था, साथ ही साथ में अनुशासन भी बहुत शक्तिशाली था। उसी कारण आपका शिष्य वर्ग आगम से विपरीत नहीं चल सकता था। इसी अनुशासन के प्रभाव से आपके संघ की निरन्तर वृद्धि होती रही। आपके अनुशासन का अन्य संघों पर भी बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा। कड़क शासन होने पर भी संघ में बड़ी शान्ति का वातावरण रहता था उस शान्त वातावरण से शिष्यों की आचार्य श्री के प्रति अगाध श्रद्धा प्रकट होती थी। कई बार संघ की वृद्धि के कारण संघ के साधु साध्वियों को पृथक्-पृथक् बिहार करने का आदेश दिया परन्तु यह आदेश संघ के साधु-साध्वियों ने स्वीकार नहीं किया क्योंकि आपका संघ के त्यागी वर्ग के प्रति जो वात्सल्य भाव था उसी कारण आपके चरण सान्निध्य को कोई भी साधु या त्यागी वर्ग छोड़ना नहीं चाहता था। चाहे कितनी भी तकलीफ क्यों न हो परन्तु संघ से अलग होना मंजूर नहीं था।

आप साधना की प्रति-मूर्ति थे, आपकी साधना का वर्णन कहां तक किया जावे? यह सब आपकी साधना का ही दिग्दर्शन है कि आपकी अनुशासन प्रणाली एवं कठोर साधना के बल पर आपके संघ में एक सूत्र में रहते हुये साधु-साध्वियां कभी भी चारित्र से विचलित नहीं हुए। जब मैंने संघ में प्रवेश किया था, उस समय कुल दस साधु-साध्वी थे। फिर मेरे देखते-देखते संघ में लगभग चालीस साधु-साध्वी एक सूत्र में रहकर आत्म साधन रत रहते हुये आत्म कल्याण में लगे रहते थे। जब आचार्यश्री की समाधि हुई उस समय आपके चरण सान्निध्य में लगभग ४५ साधु-साध्वी थे। यही सब आपकी महान साधना का परिचय था।

आचार्यश्री की तप, त्याग साधना का वर्णन तो सरस्वती स्वयं भी नहीं कर सकती तो मैं अल्पज्ञ कैसे वर्णन कर सकता हूँ। परन्तु यह सब आचार्य देव के आशीर्वाद का ही फल है कि उनके कतिपय गुणानुवाद लेखनी द्वारा कर सका।

# श्री १०८ मुनि यतीन्द्रसागरजी महाराज

( संघस्थ प० पू० आ० कल्प १०८ श्री श्रुतसागरजी महाराज )

महान् वज्रपात सा हो गया, निष्ठुर काल ने फाल्गुन कृष्णा अमावस्या, रविवार को महान् चारित्रधारी अनुशासक को अपनी गोद में ले लिया।

उदयपुर में महाराज श्री को लाने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ, वहां पर जो एक घटना बीती कि मुनि बने हुये धर्मकीर्ति वहां पर चातुर्मास में महाराज श्री के पास पहुँचे तब प्रथमतः आचार्य श्री ने उनको चारित्र में दृढ़ करने का बहुत प्रयास किया पर जब वह अपने पद पर स्थिर नहीं दीखे, तो उन धर्मकीर्ति को वापिस कांतिलाल बना दिया, और जैनधर्म का सच्चा शासन बता दिया। इसी एक कारण को देखकर मेरे भाव संसार से विरक्त होने के हुये और मैंने भी आचार्य श्री से दीक्षा धारण कर ली। ऐसे महान् अनुशासक की क्षति की पूर्ति कब होगी, केवली जाने।

मैं श्रद्धांजलि अर्पण करता हुआ, आपको शीघ्र ही निर्वाण प्राप्त होवे और मुझको भी वह सौभाग्य प्राप्त होवे, ऐसी प्रार्थना करता हूँ।

× × ×

# मुनिराज १०८ श्री वर्धमानसागरजी

कौन जानता था कि पूज्य गुरुवर्य हमारे बीच से इतनी शीघ्र दूर हो जावेंगे। पूज्य श्री ज्ञानमती माताजी के दूरदर्शी विचारों के साथ साथ उनकी सद्प्रेरणा, उनके सदुपदेश एवं सद् आदेश से मुझ संसार समुद्र में डूबे प्राणी ने शिवसागरजी रूपी नौका से पार उतरने का सौभाग्य प्राप्त किया ही था, कि अचानक वह नौका मेरे हाथ से सदा के लिये छूट गई। आचार्य श्री के पुत्रत्व प्रेम को भुलाया नहीं जा सकता। जब कि मेरी रुग्णावस्था में स्वयं ने अन्य त्यागियों के साथ पास बैठकर मेरी परिचर्या की एवं आशीर्वादात्मक हाथ फेरकर मुझे जीवन दान दिया। यह घटना उनकी विशाल हृदयता एवं पुत्रत्व प्रेम का परिचय कराती है। मेरी यह दिगम्बरी दीक्षा भी उन्हीं के पथ प्रदर्शन की ही देन है। यह महान् व्रत उन महापुरुष के पावन आशीर्वाद से निर्दोष पलता रहे इस भावना के साथ मैं परम पूज्य गुरुवर्य के पावन चरणों में विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करता हुआ १००८ श्री जिनेन्द्र भगवान् से यह प्रार्थना करता हूँ कि स्वर्गीय आत्मा शीघ्रातिशीघ्र शिव रमणी को प्राप्त करे।

× × ×

# पूज्य मुनिराज श्री विद्यासागरजी महाराज

( शिष्य पू० १०८ श्री ज्ञानसागरजी महाराज )

भव्यात्मा थे, मुनिगण मुखी थे अतः साधु नेता,
शान्तिके थे निलय गुरुजी दर्पके थे विजेता।
आचार्य श्री शिवपथ रती थे बड़ेऽध्यात्म वेत्ता,
सत्यात्मा थे करण–नगके भी तथा वे सुभेत्ता ॥१॥

शुद्धात्माके तुम अनुभवी थे अतः अप्रमादी,
संतोषी थे वृषरसिक थे और नेकान्तवादी।
स्वप्नोंमें भी न तुम करते दूसरे की उपेक्षा,
खाली देखो शिवसदन की आपको थी अपेक्षा ॥२॥

मोक्षार्थी जिनभजक थे साम्यवादी तथा थे,
ध्यानी भी थे परहितरती सानुकम्पी सदा थे।
भव्यों को थे शिवसदनका मार्ग भी औ दिखाते,
सन्तों के तो शिवगुरु यहां जीवनाधार भी थे ॥३॥

साथीको भी अरु अहित को देखते थे समान,
थोड़ासा भी तव हृदयमें स्थान पाया न मान।
दीक्षा देके कतिपय जनों को बनाया सयोगी,
औ पीते थे वृष-अमृतको चावसे थे विरागी ॥४॥

कामारी थे शिवयुवतिसे मेल भी चाहते थे,
नारी से तो परम डरते शील नारीश यों थे।
ज्ञानी भी थे सुतप तपते देह से क्षीण तो थे,
मुक्ति श्री को निशिदिन अहो ! पास में देखते थे ॥५॥

माथा रूपी शिवफल तजूं आपके पादको मैं,
श्रद्धारूपी स्मित कुसुम को मोचता हूँ तथा मैं ।
मुद्रा जो है शिवचरण में औ रहे नित्य मेरी,
प्यारीमुद्रा ममहृदयमें जो रहे हृद्य तेरी ॥६॥

छाई फैली शिव रवि छिपा गाढ़ दोषा अमा की ।
आई हा ! हा ! घनदुखघटा ले अमा फागुना की ।
आचार्यश्री अब इह नहीं लोचनोंकेऽभिगम्य,
जन्मे हैं वे अमर पुरिमें है जहां स्थान रम्य ॥७॥

पाया मैं तो तव दरश ना, जो बड़ा हूँ अभागा,
ज्ञानी होऊं तव भजनको किन्तु मैं तो सुगा, गा ।
मैं पोता हूँ भवजलधिके आप तो पोत दादा,
'विद्या' की जो शिवगुरु अहो ! दो मिटा कर्म बाधा ॥८॥

× × ×

## ईमानदारी गिरवी रख गया है ।

पान वाला अपनी दूकान से लघु शङ्का के लिये गया तो पीछे से एक ग्राहक ने दूकान सूनी पाकर उसके गल्ले की रेजगी चुरा ली। कुछ देर वाद दूकानदार के पास दूसरा ग्राहक आया। उसने सौदा लिया और शेष दाम देने के लिये पान वाले ने गल्ला खोला तो उसमें अपनी रेजगी गायब देख कर हक्का बक्का रह गया। ग्राहक ने यह दशा देखकर पान वाले से कारण पूछा तो उसने वताया "कोई सज्जन अपनी ईमानदारी गिरवी रखकर मेरी पेटी में से रेजगारी ले गये हैं"।

# आर्यिकाओं द्वारा श्रद्धांजलियाँ

## श्री १०५ आर्यिका सुपार्श्वमतीजी

( वसन्ततिलका वृत्तम् )

यो वीरसागरगुरोश्चरणारविन्दे
धृत्वा तु शुद्धमनसा हि जिनेन्द्रमुद्राम् ।
धर्मामृतं तनुभृतां घनवत्प्रवर्षन्
शिष्यैः सहैव विजहार बहूंश्च देशान् ।।१।।

भोगाभिलाषविषमाग्निशिखाकलाप-
संवृद्धयेऽस्ति विषयेन्धनराशिरुच्चैः ।
इत्थं विचार्य परिहृत्य भवाक्षसौख्यं
जग्राह सर्वसुखदां हि जिनेन्द्रदीक्षाम् ।।२।।

मिथ्यान्धकारपिहिते सुमरुप्रदेशे
भव्यान्प्रबोध्य विषयाभिषगर्तमग्नान् ।
धर्म समादिशदथोद्धरणाय सत्यं
रत्नाकरं शिवयुतं हृदि भावयामि ।।३।।

तत्त्वावबोधविशदीकृतचित्तवृत्ति-
माभ्यन्तरेतरसमीहननिर्विमुक्तिम् ।
दुर्वारसंसरणकारणभेदनाय
भक्त्या सदा गुरुवरं प्रणमामि हर्षात् ।।४।।

संसारतापपरिमर्दनशीतरश्मि
भव्याब्जबोधनविधौ दिननाथतुल्यम् ।
कल्याणसागरगुरोश्चरणारविन्दं
संपूजयामि समुदा महतादरेण ।।५।।

भक्त्या नुतं सकलवत्सल सप्रभावं
चित्ते दधामि वरमन्त्रपदैः स्तवीमि ।

संसारसिन्धुभवदु:सहदु:खभीता
संपूजयामि गुरुभक्तिभरा सुपार्श्वा ।।६।।

कुज्ञानदर्शनचरित्रमलापमुक्त:
सज्ज्ञानदर्शनचरित्रविभूषिताङ्गः ।

त्वत्पादपद्मयुगभक्तिभरावनम्रा ।
श्रद्धाञ्जलिं गुरुवराय समर्पयामि ।।७।।

तुभ्यं नमोस्तु शिवसागरसङ्घधात्रे
तुभ्यं नमोऽस्तु शिवसागर सौख्यदात्रे ।

तुभ्यं नमोऽस्तु शिवसागरकामजेत्रे
तुभ्यं नमोऽस्तु शिवसागरधर्मनेत्रे ।।८।।

× × ×

## श्री १०५ आर्यिका ज्ञानवतीजी

हे सूरिवर ! शिवसिन्धु गुरुवर ! भव्य कैरवचन्द्रमा ।
हे साधुगण सेवित चरण ! मुनि पद्मबोधन अर्यमा ।
मुनि आर्यिका ऐलक सुक्षुल्लक क्षुल्लिका गण से सहित ।
वर्णी सुश्रावक श्राविका छात्रादि गण से विभूषित ।।१।।

बहु घोर तप उपवास करके श्रांत भी न कभी हुये ।
अतिक्षीण तनु बस अस्थिमय वपु में अतुल शक्ती लिये ।।
उपदेश दोनों काल चर्चा में सदा तत्पर रहे ।
संग्रह अनुग्रह तथा निग्रह में कुशल आचार्य थे ।।२।।

रस त्याग औ उपवास से शिवमार्ग थे साकार तुम ।
आध्यात्मवादी विषयलोलुप को किया आह्वान तुम ।।
सिखला दिया तुमने कि पंचम काल में हैं मुनि अभी ।
निर्दोष चर्या पालते हैं देख लो आकर सभी ।।३।।

मध्याह्न में जब घाम में तुम ध्यान में निश्चल हुये ।
सचमुच अहो ! तब भानु भी लज्जित हुआ तव तेज से ।।

गंभीर सागर सम, सुमेरु सम चरित सम्यक्त्व में ।
गुण ज्ञान रत्नाकर भविक जन खेत सिंचन मेघ हैं ।।४।।

संघाधिपति गुरुवर! तुम्हें शत शत नमन, शत शत नमन ।
हे मोक्ष पथ के सत्पथिक ! शत शत नमन, शत शत नमन ।।
बहु भव्य जन को बोध देकर मुनि बना निज सम किये ।
होकर अकिंचन भी विभूति सु रत्नत्रय गुण मणि दिये ।।५।।

श्री वीरसागर गुरु वचन से कार्य सूई का किये ।
फल रूप त्यागी गण पचास इक सूत में हि पिरो लिये ।।
कर वृद्धि चउ संघ की द्विगुण बहु शिष्य रत्न महानतम ।
नहिं काम कैंची का किया गुरु वाक्यमें अनुरक्त मन ।।६।।

सब बाल वृद्ध सरोगि शिष्यों को सँभाला मातृवत् ।
विद्या सुशिक्षा दान दे दुर्गुण निकाला वैद्यवत् ।।
स्नेह अमृत मय सुजल से शिष्य उपवन सींचकर ।
ध्यानाध्ययन सद् गुणमयी पुष्पों फलों से युक्त कर ।।७।।

व्यापा: यश: सौरभ दिविज तक गगनचुंबी पुष्पसम ।
इस शिष्य उपवन बीच सच्चे आप ही थे कल्पद्रुम ।।
हा! हंत! हंत! विधे! तुम्हें क्या हो गया यह क्या किया ।
झट हम सभी के बीच से ये "कल्पतरु-गुरु" हर लिया ।।८।।

हे काल! निष्ठुर! निर्विवेकिन! यह अचानक वज्रवत् ।
गुरुवर वियोग सहें कहो किस विध धरें हम धैर्य अब ।।
श्रद्धांजलि पुट में लिये अश्रु सुमन गुरु भक्ति से ।
गुरु चरण में अर्पण करूं मैं "ज्ञानमति" त्रय शुद्धि से ।।९।।

× × ×

# श्री १०५ जिनमति माताजी

सुशिष्यो वीरसिन्धोर्यो मूलसङ्घस्य चन्द्रमाः ।
नेमिचन्द्रात्मजः सूरिः स्तुवे तं शिवसागरम् ।।

शिखरिणीच्छन्दः

यदीयं सूरित्वं जगति विदितं सर्वमुनिभिः
कृशाङ्गः सन्यो वै धरति सुविशालं यतिगणम् ।
रुचिं मार्गे जैने नयति जनतां यः सुखकरे
शिवाचार्यः सोऽयं नयनपथगामी भवतु मे ।।१।।

तपश्चर्या धत्ते स्थिरतरगतिं गन्तुमिह यः
प्रशान्तात्मा सम्यक् त्यजति रसभारं स्म विविधम् ।
वशीकुर्वन्नास्ते विरहितमना योऽक्षनिचयं
शिवाचार्यः सोऽयं नयनपथगामी भवतु मे ।।२।।

प्रभावं यो नित्यं विशदजिनधर्मस्य वहति
स्वयूथ्ये वात्सल्यं प्रशमितकषायः प्रकुरुते ।
मुनीन्भव्यान्यो वै धरति हितहेतौ जिनमते
शिवाचार्यः सोऽयं नयनपथगामी भवतु मे ।।३।।

अनादौ संसारे कलुषितहृदो भव्यपुरुषान्
सदा श्रेयोमार्गे शिवसुखकरे स्थापयति यः ।
स्फुटं तेषां दोषं प्रकटयति न क्वापि भुवने
शिवाचार्यः सोऽयं नयनपथगामी भवतु मे ।।४।।

चले दुःखार्ते यो न खलु निरतो जातु जगति
स्वकाये निःस्नेहो विषमविषतुल्ये च विषये ।
न धत्ते यः कांक्षां विकमितमतिः तुष्टु विरतः
शिवाचार्यः सोऽयं नयनपथगामी भवतु मे ।।५।।

अरक्षापञ्चत्वप्रभृतिभयदूरस्थहृदयो
विधत्ते नाशङ्कां जिनपगदिते तत्त्वनिचये ।
कृती यः स्याद्वादे प्रकटितरुचिर्नित्यमभवच्
छिवाचार्यः सोऽयं नयनपथगामी भवतु मे ।।६।।

ऋतौ ग्रीष्मे भीमे तपनकिरणैस्तप्तधरणौ
विधत्ते यो ध्यानं समरसरुचिर्भोगविरुचिः ।
गुणैः षट्त्रिंशद्भिर्विलसितमतिर्यस्य सततं
शिवाचार्यः सोऽयं नयनपथगामी भवतु मे ।।७।।

विभावेनैवास्मिन् जगति खलु ये सन्ति मलिनाः
स्ववाक्कल्लोलैर्यः स्नपयति किलैतान् कुमतिगान् ।
जुगुप्सां नो धत्ते क्षुधितकृशरुग्णेषु मतिमान्
शिवाचार्यः सोऽयं नयनपथगामी भवतु मे ।।८।।

कृतं शिवाष्टकं स्तोत्रं पद्यैः स्वल्पपदैरिदम् ।
यः पठेत् स्थिरचित्तेन प्राप्नुयात् स परं पदम् ।।

× × ×

## श्री १०५ आर्यिका श्री आदिमतीजी

परम पूज्य गुरुदेव आचार्य श्री शिवसागर जी महाराज के वचनामृत के सिंचन से न जाने कितने जीव इस संसार समुद्र से पार होकर मुक्ति को प्राप्त करेंगे। यथा नाम तथा गुण के धारक गुरुदेव शिवपुर का मार्ग दिखाने के लिये सूर्य सदृश और शिष्यों पर अनुग्रह करने वाले माता के तुल्य उनके दुर्गुण रूपी रोग को निकालने के लिये वैद्य के समान इस भव रूपी गहन वन से पार करने के लिये हस्तावलम्बरूप अगणित गुणों के धारक थे जिनका वर्णन सहस्र जिह्वा से भी नहीं हो सकता।

शास्त्रों में जो गुरु का लक्षण वतलाया है वह सब लक्षण उनमें पूरे घटित होते थे, ऐसे परमोपकारी गुरुवर्य हम लोगों के वीच से इतनी जल्दी चले गये। उनके चरणों का आश्रय जितना हम लोगों को प्राप्त होना था, नहीं हुआ। इससे वढ़कर और क्या हमारा दुर्भाग्य होगा? हमारा हृदय शून्य हो गया, कभी स्वप्न में भी ऐसा विचार नहीं आया था कि गुरुदेव इतनी जल्दी यहां से प्रयाण कर जावेंगे। अभी सारा विश्व अंधकार मय सा प्रतीत हो रहा है, क्योंकि भारत का एक अद्वितीय धर्म सूर्य अस्त हो गया। हमारे ऐसे परोपकारी जगतवंद्य गुरुदेव के चरण कमलों में श्रद्धांजलि अर्पित करते हुये यही प्रार्थना करती हूँ कि हे गुरुवर्य! जब तक इस संसार से पार होकर मुक्ति की प्राप्ति न हो तब तक आपका शुभाशीर्वाद मेरे पर रहे।

× ×

# शत शत श्रद्धाञ्जलि अर्पित है

## श्री १०५ आर्यिका श्री विशुद्धमति माताजी

( संघस्था—प० पू० आ० कल्प १०८ श्री श्रुतसागरजी महाराज )

शत शत श्रद्धाञ्जलि अर्पित है, गुरुवर के पावन चरणों को ।
श्रुतसागर से साथी अभिन्न, उन वृहद् संघ अधिनायक को ।।

श्री वीर सिन्धु के प्रमुख शिष्य,
गुण गरिमा तेज तपस्वी थे ।
श्रीफलवत् नम्र कठोर प्रभो!,
पथ भ्रष्टोंके अवलम्बन थे ।

थे खेवटिया भवसागर के, शिव मारग ज्योति प्रकाशक को ।
शत शत श्रद्धांजलि अर्पित है, गुरुवर के पावन चरणों को ।।१।।

थे मेघ, भरे व्रत संयम से,
संतप्त हृदय को अमृत थे ।
थे स्याद्वाद के मेरु दण्ड,
आगम अनुसार विचरते थे ।।

नरभव रूपी मणि मन्दिर पर, तप कलश चढ़ाने वाले को ।
शत शत श्रद्धांजलि अर्पित है, गुरुवर के पावन चरणों को ।।२।।

हा! चले गये गुरु चले गये,
विधिना ने क्यों कर लूट लिया ।
नहिं करी दया हम अज्ञों पर,
सच्चा सम्बल क्यों छीन लिया ।

दर्शन बिन नेत्र तड़फते हैं, शिवमार्ग बताने वाले को ।
शत शत श्रद्धांजलि अर्पित है, गुरुवर के पावन चरणों को ।।३।।

नभ सूर्य चन्द्र तारे रोये,
रोया जगती तल का कण कण ।
दृग अम्बर में पावन घन बन ।
हैं आये बरसाने आंसू कण ।

अन्तर पीड़ा हरने वाले, समदृष्टी सूरि दिगम्बर को।
शत शत श्रद्धांजलि अर्पित है, गुरुवर के पावन चरणों को ।।४।।

गुरु भक्ति का हृदयासन पर,
अति सौरभ कमल रचाया है।
नयनों के पथ आह्वानन कर,
श्रद्धायुत शीश झुकाया है ।।

आंसू का अर्घ सँजोया है, मति (वि)शुद्ध बनाने वाले को।
शत शत श्रद्धांजलि अर्पित है, गुरुवर के पावन चरणों को ।।५।।

× × ×

## श्री १०५ आर्यिका श्री कनकमती जी

( संघस्था—प० पू० आ० कल्प १०८ श्री श्रुतसागरजी महाराज )

दयामूर्ति परम तपस्वी प्रातः स्मरणीय श्री १०८ पूज्य गुरुवर्य आचार्य शिवसागरजी महाराज के चरण कमलों में श्रद्धांजलि समर्पित सहित लक्ष लक्ष नमोस्तु।

गुरुदेव विश्व की महान् विभूति थे। बस पंचम काल में जगत वंदनीय वीतराग तपोमूर्ति चतुर्थकाल के सदृश्य जैनधर्म के प्रकाशक सूर्य तुल्य शोभायमान थे।

महान् तपोनिधि वेला, तेलादि हजारों उपवासों को किये सर्दी गर्मी, कंचन कांच, शत्रु मित्र में समदर्शी थे। हमेशा ज्ञान ध्यान में लीन रहते थे। जिनने आपके उपदेशामृत का पान एक बार भी कर लिया तो वे अपना कल्याण कर लेते थे। ऐसे महात्माओं का जन्म बार बार नहीं होता। हमारे दुर्भाग्य से गुरुवर्य का वियोग हो गया जो असह्य है। सबके हृदय संतप्त हैं।

हे भगवन्! आपका असामयिक निधन हम लोगों को बहुत दाह पैदा कर रहा है। हे गुरुदेव आपने हमें गृह रूपी कूप से निकाल कर उत्तम मार्ग में लगाया, अतः आपके कर कमलों द्वारा दी हुई पीछी का निर्दोष पालन करते हुये निरन्तर चारित्र की वृद्धि करूं तथा इस निन्द्य स्त्री पर्याय का छेद कर शीघ्रातिशीघ्र मोक्ष प्राप्त करूं यही आशीर्वाद आपसे चाहती हूँ।

× × ×

# भाव मालिका

## श्री १०५ विदुषी आर्यिका विशुद्धमती माताजी

दे के त्राण,
चिर प्रयाण
कर गये ।
देश शून्य,
ग्राम शून्य,
संघ शून्य,
कर गये ।
चले गये,
कुछ नहीं,
जब कि इस—
शून्य का है
मूल्य नहीं ।
हृदय शून्य
करने की,
आप में है
शक्ति नहीं ॥

× × ×

हृदय में विराजमान,
मुनियों में गण्यमान्,
जगत में प्रकाशमान्,
कीर्ति रहे ज्योतिमान्,
यावत् नभ,
नभ पर रवि,
चन्द्रमादि भासमान्,
गंगादि नदियों में,
नीर रहे विद्यमान,
तावत् सूरि
"शिव" अमर
"शिव" अजर
जैसे—
शिव पन्थ है ।
अनाद्यनन्त
अजर अमर ॥

× × ×

प्रथम ही आप
कर गये
मुझको अकिञ्चनवत्
पुष्प पत्र
अर्घ आदि
लाऊँ कहाँ से अब ?
इसीलिये
श्रद्धा
अरु
भक्ति का
हार यह
लाई हूँ अन्तर के,
आँसुओं से सींचकर ।
वेदना के
अनुपमतम
धागे में डालकर ।
चरणों में अर्पित यह
श्रद्धाञ्जलि,
बद्धांजलि
शीघ्र ग्रहण कीजिये
( मति विशुद्ध कीजिये )
शिष्या को
भाव मालिका ॥

# श्री १०५ आर्यिका श्रेयांसमती माताजी

फाल्गुन कृष्णा अष्टमी का दिन था, प्रातःकाल की क्रिया के बाद मैं और माताजी अरहमती जी महाराज के पास गईं और कहा गुरुवर्य ! सात बजे हैं, अभिषेक देखने के लिये चलिये। उन्होंने कहा नहीं, आज थोड़ा बुखार आ रहा है, सर्दी हुई है। उसी दिन उनका केशलोंच था, हम नहीं जानते थे कि यह उनका अन्तिम केशलोंच होगा। उसी दिन से बुखार आया, वह उतरा ही नहीं तो भी वे अपनी दैनिक चर्या में पूर्ण सावधान थे। फाल्गुन कृष्णा अमावस्या का दिन था। हम संघस्थ सब माताजी मिलकर शांतिमंत्र का अखण्ड जाप और विधान करने का प्रारम्भ किया था जिससे हमारे गुरुवर्य के असाता कर्म का उदय क्षीण हो और वे शीघ्र से शीघ्र अच्छे हों परन्तु क्या मालूम था कि हमको इतना शीघ्र गुरु वियोग सहना पड़ेगा। उसी दिन मध्याह्न के ३। बजे महाराज जी हमारे सामने देखते देखते चले गये। ठीक कहा है – "मणि मंत्र तंत्र बहु होई, मरते न बचावे कोई" हमें कितनी देर तक अपनी आँखों पर भी विश्वास नहीं हुआ कि हम क्या देख रही हैं पर होनहार कौन मेट सकता है।

वे अपने संघ का पुत्रवत् पालन करते थे उन्होंने अपना शिवसागर नाम सार्थक किया, वे वास्तव में भव्यों के लिये कल्याण स्वरूप ही थे।

उनका मनोबल, वचनबल और कायबल इतना दृढ़ था कि चार चार, पांच पांच उपवास में भी वे प्रातःकाल और दोपहर में घंटा घंटा भर उपदेश देते थे, रात को प्रायः नींद अधिक से अधिक दो ढाई घंटे लेते थे, जब कभी समय मिला तब वे माला फेरते दिखते थे, न मालूम रोज की कितनी माला फेरते थे। विहार में भी कोई साधु थक गया है, पीछे है या आगे चला गया है, निश्चित स्थान पर पहुँचा है या नहीं इस बात का वे पूरा ध्यान रखते थे।

हम लोगों का क्या पठन चल रहा है, इसकी भी वे बीच बीच में अवश्य संभाल करते थे। ऐसे कृपालु गुरु के लिये मैं श्रद्धांजलि अर्पण करती हूँ कि वे गुरु अपनी स्वर्ग की आयु पूरी कर इस मनुष्य भव में आकर संयम धारण करके शीघ्र मोक्ष पधारें और उनके द्वारा हमें जो यह व्रत और शिक्षण मिला है उसकी वृद्धि होकर सद्गति मिले।

× × ×

# श्री १०५ आर्यिका भद्रमतीजी

परम पूज्य प्रातःस्मरणीय स्वर्गीय आचार्य १०८ श्री शिवसागरजी महाराज के चरणों में भद्रमती का त्रिकाल शत शत वन्दन।

अहो अमावस्या की काली घटा ने रत्नों के प्रकाशपुन्ज मानस्तम्भ को उठा लिया। हम सब अब मूर्च्छित होकर अंधेरे में पड़ी रह गई हैं।

हे गुरुवर ! आकर उद्धार करो, मेरा शत शत वन्दन स्वीकार करो।

× × ×

# आर्यिका श्री १०५ श्री कल्याणमतीजी

गुरुवर्य श्री १०८ आचार्य शिवसागरजी महाराज के चरणों में शत शत नमोस्तु। गुरुवर ! महान् दुःख की बात है कि आप अचानक स्वर्गस्थ हो गये। आप घोर तपस्वी, चारित्रवान् और ज्ञान के भण्डार थे। आप में दया और शांति सराहनीय थी। आपने मुझ जैसे हीन प्राणी को शिवमार्ग में लगाकर अपने 'शिवसागर' नाम को सार्थक किया। मेरी निरन्तर यही भावना है कि आप द्वारा दिया हुआ चारित्र रूपी रत्न भली प्रकार पलता रहे और आप शीघ्र ही स्वर्ग सुखों को तिलांजलि देकर मनुष्य भव या मुनिव्रत धारण कर मोक्ष प्राप्त करें। मुझे भी आपके चरण कमल के प्रसाद से मोक्ष लक्ष्मी का पद प्राप्त होगा। यही मेरी आपके प्रति हार्दिक श्रद्धांजलि है।

× × ×

# आर्यिका श्री १०५ श्री सुशीलमतीजी

गुरुदेव ! आपके चरणों में श्रद्धांजलि अर्पित है। हे गुरुदेव ! मैं आपके गुणों का क्या उल्लेख कर सकती हूँ, जिस प्रकार सूर्य के सामने दीपक का प्रकाश फीका लगता है उसी तरह आपके गुणों का उल्लेख करने के लिये मैं असमर्थ हूँ। फिर भी साहस करके थोड़ा लिख रही हूँ। जिस तरह छोटी नदियां या नाले वर्षा के पानी को अपने पेट में धारण नहीं कर सकती परन्तु समुद्र अच्छा या बुरा सब पानी अपने में समा लेता है उसी तरह आप शिवपुर का रास्ता बताने वाले थे तथा आपके द्वारा भारतवर्ष में हजारों जीवों का कल्याण हुआ। आपके जाने से जैन व अजैन सभी लोगों को महान् दुःख हुआ क्योंकि मोह रूपी अन्धकार में खोई हुई समाज को आप ज्ञान भरी वाणी में जगाते थे। इसीका फल है कि भारत में व्रती व मुनि संघ दिखाई दे रहा है। विशाल रूप में आपका जैसा नाम था वैसा आपने काम करके दिखाया तथा अपना कल्याण किया। साथ ही हम जैसी अबलाओं को घर से निकाल कर लाये परन्तु दुर्भाग्य है कि गुरु की अमृत भरी वाणी कुछ दिनों ही मिल सकी। आपके शब्द नपे तुले निकलते थे जो अमृत का काम करते थे। आपका उपदेश था कि सबसे छोटे बनो तथा अपनी भूल को हमेशा स्वीकार करोगे तो तुम्हारा कल्याण होगा।

महान् दुःख है कि हम लोगों को अज्ञान अवस्था में छोड़कर आप चले जायेंगे यह स्वप्न में भी नहीं जानते थे लेकिन अब आपकी आत्मा शीघ्र ही शिवपुर पहुँचे मेरी यही शुभ भावना है।

× × ×

# श्री १०५ आर्यिका श्री सन्मति माताजी

( संघस्था—प० पू० आ० कल्प १०८ श्री श्रुतसागर जी महाराज )

श्री १०८ पूज्य गुरुवर्य आचार्य शिवसागर जी महाराज के चरणों में श्रद्धांजलि सादर समर्पित सहित शतशः नमोस्तु।

परम पूज्य प्रातःस्मरणीय विश्ववंद्य चारित्र नायक तपोनिधि त्यागमूर्ति थे। परम प्रभावक महापुरुष पूज्य गुरुवर्य आपके दर्शन कर अपने को कृतकृत्य माना था और जीवन सफल बनाने के लिये व्रत धारण करने को अग्रसर हुई। आप जैसे महान तपस्वी के द्वारा जो महान् कल्याण हो रहा था, वह हम अधिक समय तक न प्राप्त कर सकीं और हमारा उन महान गुरु से विछोह का असह्य संताप हुआ। वह अचानक हम सबको छोड़ स्वर्ग सामग्री के भोक्ता बन गये तथा कुछ ही समय उपरान्त मोक्ष लक्ष्मी के अधिकारी बनेंगे। गुरुवर्य ! आपके आशीर्वाद से हम स्त्री पर्याय को नष्ट कर आप जैसी तपस्या कर कर्म क्षय करके आत्मीय सुख की अधिकारिणी बनूँ यही सद्‌भावना है।

× × ×

# श्री १०५ आर्यिका श्री विनयमती माताजी

( संघस्था—प० पू० आ० कल्प १०८ श्री श्रुतसागरजी महाराज )

परम पूज्य श्री १०८ आचार्य शिवसागरजी महाराज के चरणों में श्रद्धांजलि सादर समर्पित सहित शतशः नमोस्तु।

महान् उपकारक गुरुवर्य ! आप हम सबको असामयिक छोड़कर स्वर्गवासी बन गये, इससे हम सबको महान् आघात पहुँचा। आपके बिछुड़ने से संघ में महान् क्षति हुई। आपकी छत्रछाया में जो व्रतों को ग्रहण किया वे आपके आशीर्वाद से परिपूर्ण रीति से पलते रहें व आपके बताये मार्ग का सदैव अनुसरण करती रहूँ।

इस समय आपका भौतिक शरीर इस संसार में नहीं है। किन्तु आपके द्वारा दिया हुआ उपदेश पग पग पर स्मरण होता रहता है। पूज्य श्री गुरुवर्य ! आपने अमिट उपकार जो किसी भी दशा में भुलाया नहीं जा सकता। आपका पथ प्रदर्शन सदैव हृदय में अङ्कित रहेगा।

पूज्य गुरुवर्य के चरणों में शतशः अभिनन्दन करती हुई उनकी आत्मा को उत्तरोत्तर शान्ति लाभ के साथ मोक्ष प्राप्ति की कामना करती हूं।

× × ×

# श्री १०५ आर्यिका श्री धन्यमतीजी

चारित्र तपोनिधि, अशरण को शरण देने वाले, दयामूर्ति १०८ आचार्य श्री के पवित्र चरण कमलोंमें विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करती हूं, शत शत नमोस्तु।

आचार्य महाराज हम लोगों को छोड़कर चले गये, यह महान् दुःख की बात है। गुरु वियोग सहा नहीं जाता, परन्तु कर्मों की विचित्र गति है।

हे गुरुदेव ! आपने मुझे संसार रूपी कूप से निकालकर जो जीवन दान दिया और जितना आपने मेरा उपकार किया है उसका वर्णन करोड़ों जिह्वाओं से भी नहीं हो सकता। आप एक महान् तपस्वी थे। आपने अपने जीवन का बहुभाग तपश्चरण में ही बिताया। एकान्तर आहार के लिये उठना तो आपके लिये एक साधारण सी बात थी। आपके उपवासों की संख्या हजारों थी। आप शरीर से कृश थे लेकिन आप महान् आत्मबली थे। मैं एक अज्ञानी बालिका हूं अत: आपका महान् गुणानुवाद करने में असमर्थ हूं। आपकी मुझ जैसी अज्ञानी बालिका पर महाती अनुकम्पा थी। आप यही समझाते थे—तुमने जो व्रत लिये हैं उनका ख्याति लाभ पूजादि रहित यथायोग्य पालन करो, अपने पदस्थ का ख्याल रखो, मैं कौन हूं, मुझे क्या करना है, मुझे कहां जाना है आदि, अनेक तरह से शिक्षण देते थे। ऐसे महान् उपकार करने वाले गुरुवर का वियोग हो जाने से सभी तरफ अन्धकार छा गया है। हम सब शोकातुर हो गये हैं। गुरुवर्य ! कैसे धैर्य धारण करें ? यह कौन जानता था कि इतनी जल्दी ही आपका वियोग हो जायगा, परन्तु यह काल की विचित्र गति है, न मालूम किस समय आकर यह अपना ग्रास बना ले। मैं भी यही प्रार्थना करती हूं कि भगवन् ! इस आपके द्वारा दी हुई पीछी का निर्दोष रीति से पालन हो और जब तक मुक्ति न प्राप्त हो तब तक आप हमेशा शुभाशीर्वाद देते रहें। मैं यह भावना भाती हूं कि स्वर्गस्थित आत्मा को शान्ति प्राप्त होवे और मानव पर्याय प्राप्त कर निर्वाण पद को प्राप्त करें। मैं भी उस पथ की अनुगामिनी बनूं।

× × ×

## सफल जीवन

जिन मनुष्यों के पास न तो उत्तम विद्या है, न व्रत उपवास करने की शक्ति, न सत्कार्य में धन का सदुपयोग, न ज्ञान, न शील, न विवेक और न धर्म है, वे मनुष्य इस पृथ्वी पर भार स्वरूप होकर मनुष्य के भेष में पशुओं के समान भटकते फिरते हैं, अतः मानव को हमेशा दान, पुण्य, व्रत, नियमादिक सद्कार्य करते रहना चाहिये तभी उनका जीवन सफल है।

# महोपकारी के पावन चरणों में

## श्री १०५ आर्यिका अभयमतीजी

हे पूज्य गुरु! श्री शिवसागर, भव्य कमल बोधनभास्कर।
महाव्रत धारी धीर वीर, हे गुप्ति समिति के प्रतिपालक ।।
हे सूरिवर! तव प्रसाद से ही, दुर्लभ पाई हूँ संयम मैं।
नमोस्तु गुरुवर नमोस्तु गुरुवर, श्रद्धा के सुमन चढ़ाऊं मैं ।।

किसको ज्ञात था कि पूज्य गुरुवर हमारे बीच से अति शीघ्र दूर हो जायेंगे, मुझ अबोध शिष्या को अकस्मात् छोड़कर चल बसेंगे। पूज्य श्री १०५ आर्यिका ज्ञानमती माताजी ने मुझ अज्ञानी को संसाररूपी समुद्र से निकाल कर उत्तम संयम रूपी मार्ग पर लगाया।

मुझे पूज्य गुरुवर श्री १०८ आचार्य शिवसागर रूपी नौका से पार उतरने का सौभाग्य प्राप्त हुआ लेकिन वह अचानक हाथसे निकल गई। पूज्य गुरुके पुत्रीपनेके प्रेमको भुलाया नहीं जा सकता। आप हम सभी को निरन्तर यही शिक्षा देते थे कि श्रीगुरु वीरसागरजी की परम्परा को निभाकर चलो। आपने अति उपवास करके भी उपदेश देने में कमी नहीं की। मुनि, आर्यिका, श्रावक-श्राविका, क्षुल्लक, क्षुल्लिका आदि शिष्यों से विभूषित होकर उनका संग्रह, निग्रह और अनुग्रह करने में सदा कुशल रहे। तथा आपने सभी को यह भी दिखला दिया कि देखो इस पंचमकाल में निर्दोष चारित्र को पालन करने वाले ऐसे मुनि आज भी विद्यमान हैं। जैसा कि आत्मानुशासन में गुणभद्राचार्य ने भी कहा है:—

भर्त्तारः कुल पर्वता इव भुवो मोहं विहाय स्वयं,
रत्नानां निधयः पयोधय इव व्यावृत्तवित्तस्पृहाः।
स्पृष्टाः कैरपि नो नभोविभुतया विश्वस्य विश्रान्तये,
सन्त्यद्यापि चिरन्तनान्ति कचराः सन्तः कियन्तोऽप्यमी ।।

जो स्वयं मोह को छोड़कर कुल पर्वतों के समान पृथ्वी का उद्धार करने वाले हैं, जो समुद्रों के समान स्वयं धन की इच्छा से रहित होकर रत्नों के स्वामी हैं तथा जो आकाश के समान व्यापक होने से किन्हीं के द्वारा स्पष्ट न होकर विश्व की विश्रान्ति के कारण हैं, ऐसे अपूर्व गुणों के धारक पुरातन मुनियों के निकट में रहने वाले कितने ही साधु आज भी विद्यमान हैं।

"वर्षसहस्त्रेण पुरा यत्कर्म हन्यते तेन कायेन।
तत्संप्रति वर्षेण हि निर्जरयति हीन संहनेन ।।"

अर्थात्—पहले समय में मुनि लोग अपने शरीर से हजार वर्ष में जिन कर्मों को नष्ट करते थे, उन्हीं कर्मों को आज-कल के स्थविर कल्पी मुनि अपने हीन संहनन से १ वर्ष में ही क्षय कर देते हैं। आपकी तपस्या को देखकर सर्व जन आश्चर्य को प्राप्त होते थे। तथा हे गुरुवर! श्री शिवसागरजी। आप ऐसे महान् पुण्यशाली सिद्ध हुये कि जिस समय आपका समाधिमरण हुआ, उस समय मुनि, आर्यिका, ऐलक, क्षुल्लिका आदि सभी मिलाकर ५० थे। आपने स्नेह रूपी अमृतमय जल से शिष्य रूपी उपवन को सींचकर सद्गुणमयी पुष्पों, फलों से युक्त किया। ऐसे पूज्य श्री १०८ गुरुवर्य शिवसागरजी के चरणों में अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पण करती हूँ।

× × ×

## श्री १०५ आर्यिका श्री गुणमतीजी

पूज्य श्री १०८ आचार्य परम तपस्वी, धैर्य मूर्ति, कृपालु गुणों के भण्डार, धर्म के जहाज को चलाने वाले नेता, महान् ऋषीश्वर श्री शिवसागरजी महाराज को श्रद्धांजलि अर्पित करती हूँ। सम्पूर्ण संघस्थ मुनि, आर्यिका तथा श्रावक श्राविकाओं ने अपने भाव प्रगट करके अनेक प्रकार से महाराज श्री का गुणानुवाद गाया है, मेरे लिये कोई बाकी नहीं रहा। इसलिये मैं तो एक अज्ञान अन्धकार में डूबी हुई को निकालने वाले ऐसे यति नहीं मिलने के, हर समय उत्साहित करते थे, क्या कहा जाय? आपके उपकार का तथा गुणों का वर्णन हजार जिह्वा से किया जाय तब भी नहीं हो सकता है। महाराज की दृष्टि सबके प्रति समान थी, कोई बच्चा भी आये तो बिना बोले नहीं रहते थे। ऐसी त्याग की मूर्ति को कहां देखें, स्वप्न जैसी माया हो गयी। दीक्षा लेने के लिये बार बार सम्बोधन करते थे। मैंने तो एक ही प्रण सा कर लिया था कि महावीरजी पंचकल्याणक में ही दीक्षा लेना है।

हमारे दुर्भाग्य वश ऐसी घटना बीती सो गुरुदेव को बुखार शुरु हो गया। आपने कहा था कि एकम को दीक्षा वालों की बिन्दौड़ी निकाल लो, ये मालूम नहीं था कि उससे पहले आपकी ही बिन्दौड़ी निकल जायगी। ये दुःखों का वज्रपात हमारे ऊपर पड़ गया, सारा हर्ष महाराज ले गये, घोरानघोर पहाड़ टूट पड़ा। कार्य होना था अतः फिर पूज्य श्री १०८ गुरुवर्य श्री धर्मसागरजी का आचार्य पद का होना, सब की दीक्षा होना, अचानक ही प्राप्त हुई। पूज्य श्री १०५ ज्ञानमती माता जी ने अंधकूप में हाथ पकड़ लाकर लौंच शुरु किया। फिर ये शिवसागरजी के वचनों द्वारा ही आर्यिका दीक्षा श्री धर्मसागरजी महाराज द्वारा प्राप्त हुई। ऐसे श्री शिवसागरजी महाराज अमर पद को, मोक्षरूपी लक्ष्मी को प्राप्त होवें। आपकी आत्मा को शांति पहुंचे।

शिवसागर आचार्य को वन्दूं मन, वच, काय,
चरण कमल महाराज के विनऊं शीस नवाय।
हम सब आपकी क्यारियां, फूलें फलें अपार,
श्रद्धांजलि अर्पित करें, गुणमति बारम्बार॥

× ×

# श्री १०५ आर्यिका श्री जयामतिजी

( शिष्या:—प० पू० १०८ आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज )

देव असुर मानव पशु गण भी, सादर शीस झुकाये ।
तुम मेरे भवतारक गुरुवर, ज्ञान की ज्योति जगाये ।।१।
आत्मा आह्लाद अनुपम, संकेत रूप प्रगटाये ।
जग विकल्प चिन्तायें मन से नष्ट भ्रष्ट विघटाये ।।२।।
अन्तस्तत्त्व एक है मेरा, धुन आत्मकता बनाये ।
भाषा में ला नित प्रयोग कर, तन की सुध बिसराये ।।३।।
है प्रयास केवल विकास का, मग उसका मिल जाये ।
मेरे इस निर्मल प्रकाश को, नहिं विभाव छू पाये ।।४।।
विषय वासना लेश न रहकर, सुख अनन्त बल आये ।
"शान्ति" रूप मय ज्योति प्रगट हो, आत्म आत्म रह जाये ।।५।।

परम पूज्य श्रद्धेय रत्नत्रय विशुद्ध शरीरी, परम परोपकारी, जिन शासन प्रकाशी, सत्य बुद्धि प्रदायक, दूरदर्शी एवं समदर्शी, सिद्धान्तानुसार गुरुलक्षणधारी, दिगम्बर गुरुवर ! जिसने भी आपका सान्निध्य पाया वही धन्य धन्य एवं कृतार्थ हो गया। सम्यग्दर्शन के विषयभूत स्थितिकरण अङ्ग तो आपका आत्मसहेतुक विशिष्ट अङ्ग है इस हेतु आपकी ख्याति विश्व व्यापी एवं जगत् विख्यात है। फलस्वरूप इस ख्याति को मैंने भी छह मास पूर्व बड़ौत में कर्ण पुटों द्वारा श्रवण किया, तभी मैंने भी निश्चय कर लिया कि मैं भी उन्हीं के सान्निध्य में रहकर उन्हीं की तरह अपना कल्याण करूंगी। परन्तु आपका निवास स्थान विज्ञप्त न होने के कारण शीघ्र से शीघ्र आपके पास न पहुँच सकी। सिर्फ ४ दिन पूर्व ही शुभोदय वश आपके समक्ष पहुंच पाई।

मैंने अपना परिचय देते हुये आपसे दीक्षा लेने का सानुरोध निवेदन व्यक्त किया तो आपने उसको स्वीकार भी कर लिया। मेरा हृदय मारे खुशी के गद्‌गद हो गया और मैंने दीक्षा के लिये नारियल भी चढ़ा दिया। परन्तु दुष्ट कर्म अन्तराय बली ने मेरे लिये महान् अभीष्ट क्षति पैदा कर दी। अर्थात् इन महामना विशिष्ट आत्मा का मनुष्य शरीर से ही प्रयाण करा दिया। आपकी यह समाधि मेरे लिये बड़े खेद और दुःख का विषय बन गई। क्योंकि मेरी दीक्षा इस समय अचानक रुक ही गई। मानों वह

मेरा सर्वस्व ही लूट ले गई और मैं उस समय दीक्षा से वंचित ही रह गई। मैंने आपको आहार देने तथा आपकी दिव्य अमृतमयी वाणी को सुनने की बहुत चेष्टा की परन्तु आपके ज्वर की अति उग्रता के कारण वंचित ही रह गई। हा दुर्भाग्य !

फाल्गुन वदी अमावस्या के दिन संध्या के पांच बजे त्याग तपस्या एवं चारित्र प्रेरणा की मूर्ति धू धू करती हुई आग की लपटों के साथ राख बनकर सदा के लिये विलुप्त एवं आच्छन्न हो गई।

तुच्छ बुद्धि से सुकल्पित, भाव से श्रद्धा सुमन ।
तव चरण में श्रद्धांजलि, कर रही अर्पित सुमन ।।

× × ×

## श्री आर्यिका १०५ श्री शुभमति जी

( शिष्या—परम पूज्य १०८ आचार्य श्री धर्मसागर जी महाराज )

चारित्र तपोनिधि, अशरण को शरण देने वाले, दयामूर्ति, परम पूज्य श्री १०८ आचार्य शिवसागर जी महाराज के चरण कमलों में बारम्बार नमस्कार हो। हे गुरुवर्य ! असमय में स्वर्गस्थ होने से हृदय में भारी चोट आई है। गुरु वियोग सहा नहीं जाता लेकिन कर्मों की गति निराली है। संसारी प्राणियों को संयोग वियोग लगा ही रहता है यह सोचकर हृदय में धैर्य को धारण कर आपके गुणों का स्मरण करते हुये आपसे यही प्रार्थना करती हूँ कि जिस तरह आपने इस हृदयरूपी उजाड़ भूमि में व्रत रूपी बीज डालकर आगे बढ़ने का मार्ग बताया, कृतार्थ किया, उसी प्रकार अंत तक ज्ञानाध्ययन और चारित्र में वृद्धि करते हुये अपने जीवन को सफल बनाऊं तथा समाधि सहित मरण को प्राप्त होऊं। महाराज क्या थे ? कितने भव्य आत्मा थे ? कितने डूबे हुये प्राणियों को अमृत रूपी वचनों के द्वारा संसार से निकालते थे। ये सब बातें बताने की मुझ में शक्ति नहीं है। मैं तो एक अज्ञान बालिका हूँ तथा आपके गुणों का वर्णन करने में असमर्थ हूँ। हे गुरुवर्य ! आपकी स्मृति सदा स्वप्न में भी बनी रहे जिससे चारित्र को बढ़ाते हुये आत्म कल्याण करूं। अंत में मैं आपके चरणों में शिर झुकाते हुये श्रद्धांजलि पुष्प अर्पण करती हूँ। आचार्य श्री वीरसागरजी के लाड़ले आचार्य शिवसागरजी के चरणों में शत शत वन्दन।

× × ×

# १०५ क्षुल्लक शीतलसागरजी

( शिष्य—१०८ आचार्य श्री महावीरकीर्ति जी )

स्वर्गीय आचार्य श्री शिवसागर जी महाराज क्या और कैसे थे, तथा उन्होंने मुनि अवस्था से लेकर आचार्य पद में अपने साथ साथ कितने मानवों को मुक्ति मार्ग में लगाया यह किसी से छिपा नहीं है। आज विश्व में सच्चे साधुओं का सबसे बड़ा संघ उन्हीं का है। क्रमश: वि० सं० २०१६ और २०१८ में सुजानगढ़ तथा लाडनूं में मुझे भी उनके संघ में चातुर्मास करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। संस्कृत न्याय, काव्य, व्याकरण आदि के उद्भट विद्वान् श्री मुनि ज्ञानसागरजी उनके प्रथम शिष्य हैं। ऐसे ही उद्भट विद्वान् श्री मुनि अजितसागरजी उनके योग्यतम शिष्य हैं। ऐसे स्वपरोपकारी रत्नों को समाज के सामने लाने वाले स्व० श्री आचार्य शिवसागरजी महाराज के प्रति मेरी हार्दिक श्रद्धांजलि है।

× × ×

# महान तपस्वी के चरणों में

## ब्र० श्री लाडमलजी जैन

पूज्य १०८ श्री आचार्य शिवसागरजी महाराज महान् तपस्वी आचार्य थे। स्वल्प काल में ही आचार्य पद पर रह कर आपने देश में अच्छी ख्याति प्राप्त की थी। संवत् २००० में जब आपने श्री १०८ आचार्य वीरसागरजी महाराज से क्षुल्लक दीक्षा ली तभी से मेरा आचार्य श्री से बराबर सम्बन्ध चला आ रहा था।

आचार्य वीरसागरजी महाराज का संघ उज्जैन, झालरापाटन, रामगंजमण्डी, नैनवाँ, सवाई माधोपुर आदि शहरों में चातुर्मास कर भ्रमण करता हुआ जब नागौर पहुँचा तब आपने अपने भ्राता के साथ मुनि दीक्षा धारण कर पूरी तरह से अपने को मोक्षमार्ग में लगा दिया। पश्चात् फुलेरा चातुर्मास में आपकी भावना सम्मेदशिखरजी की यात्रा की हुई। पूज्य आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज ने अपनी अस्वस्थता प्रकट की तब आपने यह कह कर कि "हम अपने कन्धों पर आपको बिठा कर ले चलेंगे" साहस दिलाया, फलस्वरूप संघ शिखरजी पहुंचा। ईसरी में चातुर्मास किया। आप चातुर्मास में दो दिन छोड़कर आहार को निकलते थे। आपको १०६ डिगरी मलेरिया बुखार ने घेर लिया तथा यहां पर आपके भ्राता मुनिराज १०८ सुमतिसागरजी महाराज भी चल बसे। हृदय को बड़ा धक्का लगा किन्तु आप इन विपत्तियों से रञ्च भी नहीं घबराये। धर्मध्यान में अपने को और भी दृढ़ता से लगा लिया।

पश्चात् निवाई व टोडारायसिंह में संघ का चातुर्मास हुआ। टोडा में आपने श्री १०८ सन्मतिसागर जी महाराज एवं श्री १०८ श्रुतसागरजी महाराज को क्षुल्लक दीक्षा दिलाकर अपने साथ बना लिये। जयपुर में संवत् २०१२, २०१३, २०१४ आचार्य वीरसागरजी महाराज के तीन चातुर्मास हुये। संवत् २०१४ के चातुर्मास की समस्त जिम्मेवारी मुझ पर डाली गई, मैंने उसे निभाया। आचार्य श्री का मुझ पर बहुत अधिक स्नेह हो गया। श्री आचार्य १०८ श्री महावीरकीर्तिजी के संघ का भी चातुर्मास कराया। दोनों संघों का चातुर्मास सानन्द सम्पन्न हुआ।

आचार्य श्री १०८ वीरसागरजी महाराज का स्वर्गवास हो जाने से खानियां में श्री शिवसागरजी आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुये। पश्चात् गिरनार यात्रा की भावना हुई, संघ अनेक नगरों, गाँवों में भ्रमण करता हुआ गिरनार पहुँचा। राणोली में उक्त आचार्य श्री ने ही मुझे अष्टम प्रतिमा के व्रत देकर त्याग के पथ पर लगा दिया। यह मुझ पर आचार्य श्री का बहुत बड़ा उपकार था।

पश्चात् संघ जयपुर ( खानियां ) में चातुर्मास कर बुंदेलखण्ड के तीर्थों की यात्रा करता हुआ पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठा में श्री महावीरजी पहुंचा। यहीं पर चातुर्मास किया। श्री शान्तिवीर नगर में ३० फुट ऊंची विशाल प्रतिमा की एवं चौबीसी बनवाने की योजना बनी। श्रीमती सेठानी अंगूरीबाई धर्मपत्नि श्री सेठ कंवरीलालजी बाकलीवाल जोरहाट ( आसाम ) ने स्वीकृति दे दी और अन्य दाता भी मिल गये। फलतः शान्तिवीर नगर में यह महान् कार्य हो गया। यह सब आचार्य शिवसागरजी महाराज की अंतःकरण की भावना का ही फल है। उनकी प्रेरणा ने ही मुझे इस महान् कार्य में लगाया।

कोटा चातुर्मास में आचार्य महाराज ने गुरुकुल खुलवा कर कार्य चालू करने का काम मुझ पर डाल दिया। आचार्य श्री की कोई भी बात को टालना मेरे लिये अशक्य था। अतः उनकी आज्ञा को शिरोधार्य करना पड़ा। प्रतापगढ़ ( राजस्थान ) के चातुर्मास में मैंने सब कार्यों की जिम्मेवारी से मुक्त होने की प्रार्थना की, तब आचार्य श्री ने कहा कि प्रतिष्ठा करा दो तब छोड़ देना, मैं भी आचार्य पद छोड़ दूंगा। मैंने कहा, महाराज ! ट्रस्टियों की इच्छा इस वर्ष प्रतिष्ठा कराने की नहीं है। तब आचार्य श्री बोले, तुम अपनी जिम्मेवारी मन्जूर कर लो। इस पर प्रतिष्ठा का निश्चय हो गया। संघ भी समय पर आ पहुंचा किन्तु दुर्भाग्य कि प्रतिष्ठा होने से पूर्व ही बिना कोई विशेष बीमारी के काल [illegible] ने हमारे आचार्य श्री को उठा ले गया। यह सबके हृदय को आघात पहुंचाने वाली घटना हो गयी।

आचार्य श्री ने प्रतिष्ठा को शीघ्र कराने का आग्रह क्यों किया ? क्या उन्हें अपनी आयुष्य का आभास पहले ही लग गया था ? सर्वज्ञ जाने ! अन्त में मैं आचार्य श्री के चरणों में अपनी तुच्छ श्रद्धांजलि समर्पण करता हूँ।

× × ×

# महामुनि पुङ्गव

## [ श्री ब्र० सूरजमलजी जैन ]

श्री पूज्य आचार्य शिवसागरजी महाराज का जन्म औरंगाबाद जिले में अड़गांव नाम के ग्राम में हुआ था। यह गाँव छोटा किन्तु देखने में वड़ा सुन्दर है। मुझे उसे देखने का अवसर प्राप्त हुआ है। आपका बाल्यकाल बड़ा आमोद-प्रमोद के साथ व्यतीत हुआ। ८ वर्ष की अवस्था में आपके पिता श्री नेमीचन्दजी व माता श्री दगड़ाबाई ने औरङ्गाबाद की ही पाठशाला में ब्र० श्री हीरालालजी ( स्व आ० श्री वीरसागरजी महाराज ) के पास अध्ययन हेतु भेज दिया। ब्र० हीरालालजी ने हमारे चरित्रनायक हीरालाल के अन्तरङ्ग में धार्मिकता का ऐसा अंकुर बो दिया कि संसार के विषयों से वे सदैव दूर रहे। ये समान नाम वाले गुरु शिष्य ही भविष्य में आकर मुनि दीक्षा में भी गुरु शिष्य बने, और गुरु शिष्य ही नहीं किन्तु एक सच्चे गुरु के सच्चे उत्तराधिकारी भी बनें, यह भी एक संयोग की बात थी।

पश्चात् ब्र० हीरालालजी मुनि-दीक्षा धारण कर मुनिराज वीरसागरजी बन गये। तब उनके त्यागमय जीवन का इन हीरालालजी पर बहुत प्रभाव पड़ा और माता पिता और परिवार वालों के आग्रह करने पर भी विवाह करना अस्वीकार कर दिया। बाल-ब्रह्मचारी रहकर कार्य करते रहे।

विक्रम सम्वत् १९९७ में पूज्य आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज का संघ अतिशय क्षेत्र कचनेर आया, उस समय ये हीरालालजी चौका लेकर वहाँ पहुँचे, चार मास तक उपदेश सुना, और वैराग्य के रङ्ग से अपनी आत्मा को रँग लिया। वि० सं० १९९८ में सिद्धक्षेत्र कुन्थलगिरि पर संघ के आगमन पर आपने आचार्य वीरसागरजी महाराज से व्रत धारण करने की प्रार्थना की तब आचार्य श्री ने कहा कि "पहले सम्मेदशिखरजी की वन्दना करके आइये"। ऐसी आज्ञा होने पर श्री हीरालालजी, ब्र० सोनाबाई व आर्यिका श्री अनन्तमती माताजी के साथ आनन्द से सम्मेदाचल की वन्दना करके आ गये। पश्चात् मुक्तागिरि में आपने सप्तम प्रतिमा के व्रत लेकर मोक्ष पथ पर आगे बढ़ना प्रारम्भ कर दिया। तथा सम्वत् २००० में आपने सिद्धक्षेत्र सिद्धवरकूट पर उक्त आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज से ही क्षुल्लक दीक्षा धारण की। आपका नाम उस समय शिवसागरजी रखा गया।

वि० सं० २००६ में संघ के साथ भ्रमण करते हुये उक्त महाराज नागौर पधारे, तब आपने सङ्ग परित्यागी होकर मुनि दीक्षा धारण की। मुनि बनने के पश्चात् आप आचार्य वीरसागरजी महाराज के साथ संघ में विहार करते हुये अनेक ग्रन्थों के स्वाध्याय व अध्ययन से विद्वान् बन गये। वि० सं० २०१४ में खानियाँ में आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज बीमार हो गये व उनका स्वर्गवास हो गया, तब उनके पट्ट पर आपको स्थापित किया गया। ११ वर्ष तक आचार्य पद पर रहकर आपने संघ का बड़ी बुद्धिमानी व अद्भुत क्षमता से संचालन किया। किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं होने दी। व संघ बढ़ता ही

चला गया। समस्त जैन समाज में आपका प्रभाव अच्छा जम गया था। प्रत्येक व्यक्ति आपकी आज्ञा को टालता नहीं था—किन्तु दुर्भाग्य! वि० सं० २०२५ में अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी में आठ दिन के बुखार ने आपको कमजोर बना दिया, फलस्वरूप आप दिनांक १६-२-६९ को सायंकाल ३-५५ पर समाधिमरण पूर्वक विशाल संघ को छोड़कर स्वर्गवास कर गये। आचार्य श्री के स्वर्गवास से हुये रिक्त स्थान की पूर्ति बहुत दुर्लभ है।

मेरा स्वर्गीय आचार्य श्री का ३० वर्ष का संसर्ग था। मैंने ही बलात् उन्हें शूद्र जल का त्याग कराया था। आपका स्वभाव बड़ा कोमल था, शरीर बहुत दुर्बल था किन्तु आत्मा बड़ी प्रबल थी। आपके तप, त्याग, विद्वत्ता, संघ संचालन की कुशलता आदि गुणों की प्रत्येक मनुष्य प्रशंसा किये बिना नहीं रहता था। काश! वे कुछ और समय तक मनुष्य पर्याय में रहते तो अनेक जीवों का कल्याण होता। ऐसे परम तपस्वी मुनि पुङ्गव के लिये मेरी हार्दिक श्रद्धांजलि समर्पित है। भगवज्जिनेन्द्र देव से प्रार्थना करता हूँ कि स्वर्गीय आचार्य को शीघ्र ही मोक्ष प्राप्ति हो।

× × ×

# श्री ब्र० कमलाबाईजी जैन

शान्तिवीर नगर, श्री महावीरजी में पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव की तैयारियों का अन्तिम चरण, सभी ओर व्यस्तता और इसी मध्य १६ फरवरी का अभागा दिन। परम तपस्वी, सौम्यमूर्ति आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज के समाधिमरण पूर्ण देह त्याग का समाचार अग्नि की भाँति चारों ओर फैल गया। जिसे देखो हतप्रभ। विधि की विडम्बना।

आचार्य महाराज इस युग में त्याग और तपश्चर्या के प्रतीक, प्रकाश स्तम्भ थे। घोर शीत हो या झुलसाती हुई गर्मी, इस कृशकाय सी देह वाले सन्त ने घोर तपस्या, घण्टों जलती धूप में बैठकर सामायिक का अपना दैनिक कार्यक्रम कभी नहीं छोड़ा। विशाल संस्था में त्यागियों को साथ लेकर चलने वाले चतुर्विध मुनि संघ में आचार्य महाराज के पुण्य, त्याग और अनुशासन का ही तो प्रताप था कि सभी यन्त्रवत् अपने कार्यों में और त्यागीगण साधना अध्ययन में लीन रहते। इस भौतिक युग में भी आचार्य महाराज के भक्तों और अनुयायियों की संख्या बढ़ती ही रही। धर्म को प्रगतिवाद का नारा देकर आगम के मूल पथ से चलायमान तत्त्वों का बिना किसी विकार और कषाय के महाराज ने निर्भयतापूर्वक सामना कर जैन शास्त्रों और जैनाचार्यों द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर आगम की मशाल को जाज्वल्यमान रखा। महीने में मुश्किल से १०-१२ दिन आहार लेकर पूरे उत्साह और परिश्रम से न केवल त्यागियों को आत्मा का उत्थान करने के लिये मार्गदर्शन देना बल्कि न्यायोचित तरीकों से अर्थोपार्जन कर गार्हस्थ धर्म का पालन करते हुये धर्म मार्ग में चलने की शिक्षा देना आचार्य महाराज के

लिये ही सम्भव था। आचार्य महाराज की विरक्त भावनाओं और जिनधर्म पर कट्टर आस्था सदियों तक भौतिक युग की लहर में भटकने वाले प्राणियों को रास्ता दिखाती रहेंगी। महाराज श्री के निधन से समाज नेतृत्वशून्य हो गया है, त्यागीगण अनाथ अनुभव करते हैं—और श्रावक किंकर्त्तव्य विमूढ़ हैं। महाराज श्री की शिक्षाओं का यदि हम थोड़ा भी अनुसरण कर पायें तो वह उनके प्रति हमारी हार्दिक श्रद्धांजलि होगी।

आगम के प्रतीक उस युग पुरुष, महातपस्वी और वीतराग महासन्त के चरणों में मेरा शत-शत बार प्रणाम।

× × ×

## ब्र० पं० श्री विद्याकुमारजी सेठी, न्यायतीर्थ, काव्यतीर्थ, अजमेर

तपस्वियों की मुद्रा में, वचन में, प्रसन्नता में, बडी अद्भुत शक्ति होती है। जो काम हमें अत्यन्त कठिन जान पड़ते हैं वे इन महानुभावों की कृपा दृष्टि से अनायास ही सिद्ध हो जाते हैं। अतः गृहस्थ का कर्त्तव्य है कि समय समय पर इन योगियों के सामीप्य को प्राप्त कर सद्बुद्धि एवं शान्ति का अर्जन करे। वैसे तो श्री १०८ आचार्य शिवसागरजी महाराज से पंचमप्रतिमा धारण करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। अजमेर नगर के चातुर्मास योग में पास रहने से ग्रीष्मावकाश में बुन्देलखन्ड में सपत्नीक जाकर वैयावृत्यादि करने से चारित्र्यगत शैथिल्य दूर हुआ किन्तु प्रतापगढ़ वर्षायोग के समय मूल वेदी के आगे जब मैं श्री १०५ क्षुल्लक संभवसागरजी आदि को कातन्त्र व्याकरण के अन्तर्गत समास प्रकरण को समझा रहा था उस समय दिवंगत आचार्य महाराज अपने संघस्थ साधुओं के कार्यों का निरीक्षण करते हुये उधर आये और इस कार्य को मुझे करते हुये देखकर आपने अत्यन्त हर्ष प्रकट किया तथा यह कामना इन शब्दों में प्रकट की—"मैं चाहता हूँ कि आप यह कार्य कुछ समय के लिये ही नहीं करें किन्तु अपने जीवन काल में सदा ही करते रहें"। मैं नहीं कह सकता कि इन शब्दों में क्या जादू था; सरकारी नौकरी से रिटायर्ड होने के बाद अनायास ही मुझे मदनगंज किशनगढ़ में श्री १०८ श्रेयांससागरजी महाराज आदि के अध्यापन सम्बन्धी शुभावसर मिलते ही चले गये और अब मैं उन मंगलमयी वचनों के प्रभाव से इस लोक सम्बन्धी अभ्युदय को तथा पारलौकिक शान्ति को प्राप्त कर रहा हूं। जो विषय समझने में कठिन था उसे भी साधुओं के समक्ष पढ़ाने का साहस करते ही न मालूम कहां से प्रतिभा शक्ति जागृत हो जाती है और मुझे तत्सम्बन्धी कार्य करने में अपूर्व बल की प्राप्ति हो जाती है।

आपकी कार्य कुशलता और संघ संचालन व्यवस्था अपूर्व ही थी। आप अपनी कमी को सदा ध्यान में रखकर बड़े उत्तरदायित्व एवं जागरूकता के साथ ही साथ वात्सल्यभावना से परिपूर्ण रहने के कारण अपने पद का निर्वाह करने में असाधारण सिद्ध हुये।

पंच परमेष्ठी के अन्तर्गत आचार्य, उपाध्याय एवं सर्व साधुओं को नमस्कार हम सदा ही करते हैं तथा साधुओं को ही परममंगलरूप, लोक में सर्व श्रेष्ठ एवं शरण देने योग्य समझ कर सदा ही स्मरण कर अपना कल्याण करते हैं फिर भी इस वर्तमान शासन चलाने वाली दिगम्बर जैन श्रमण परम्परा में आचार्य शांतिसागरजी, आचार्य वीरसागरजी के साथ ही साथ आचार्य शिवसागरजी महाराज का भी प्रमुख स्थान है अतः इन्हें श्रद्धांजलि देना हम सबका आवश्यक कर्त्तव्य है, कृतज्ञता श्रावक का परम भूषण है। हर्ष है कि आपके संघ एवं कार्य परम्परा का निर्वाह अक्षुण्णतापूर्वक चल रहा है। जैसा महाराज का नाम है वही नाम हमारा कल्याण करे तथा उनके प्रभाव से हमें उसी पद की प्राप्ति भी हो यही हमारी कामना है।

× × ×

# स श्रीमान् शिवसागरो मुनिपतिर्भूयाद्भवार्तेर्हरः

## [रचयिता—पं० मूलचन्द्रजी शास्त्री, महावीरजी]

सम्यग्दर्शनशुद्धबोधचरणं संधारयन्नादरात्
स्वस्थानोचितसद्गुणैश्च विविधैराकर्षयन् मानवान्।
वैराग्योद्भवकारकैर्हितवहैर्नित्यं वचोभिः श्रितः
स श्रीमान् शिवसागरो मुनिपतिर्भूयाद्भवार्त्तेर्हरः ॥१॥

निस्सारां परिभाव्य संसृतिमिमां बाल्येऽपि धर्मस्पृहः
मुक्तिस्त्रीनवसंगमोत्सुकमना अत्यादरादत्यजत्।
श्री वीराब्धिगुरोर्निपीय नितरां सद्धर्मसद्देशनाम्
विद्वन्मानसराजहंससदृशो नोऽव्याच्छिवाब्धिर्गुरुः ॥२॥

येनाऽधारि महामहाव्रतमयः शीलोऽपवर्गप्रदः
स्वर्गश्रीललनाकटाक्षकलितांसंत्यज्य लावण्यताम्।
तारुण्यं विगणय्य गण्यकृतिनाऽरण्यापगांभःसमम्
आयुष्यं जललोलबिन्दुचपलं संचिन्त्य संख्यावता ॥३॥

साक्षा बन्धुकुटुम्बसंगिनिकरा नो शक्तिमन्तोऽभवन्
धैर्याच्चालयितुं स्थिरादपि मनाक् स्वान्तं यदीयं जवात्।
वीरस्यास्य विचालने कथमहो शक्तो भवेयं ह हाऽ!
नऽङ्गत्वादिति वीक्ष्य यं विजयिनं कामः स कामिस्थितः ॥४॥

येनापूर्वमहोजसाऽतितरसा रागेप्रहार: कृत:
चित्रं वापि किमत्र मेच भवताद् यद्दुर्दशाऽपीदृशी ।
इत्येवं सहसा विचिन्त्य भवतो निर्वेदिनोवेदिन:
यस्माद् रागसखो व्यधाद्विमुखतां द्राग् रागिसंगीत्यभूत् ।।५।।

चित्रं चित्रं तव मुनिपते ! वृत्तमेतत्पवित्रम्
यत्त्वं गोभि: कुवलयमिदं संतनोषि प्रबुद्धम् ।
एवं कृत्ये वद कथमिमं सूरिभावं विभर्षि
सूरित्वे वा भवति भवता कौमुद: किं प्रबुद्ध: ।।६।।

इत्थं विस्मयकारि यत्सत्पथस्थस्यापि सुरेरिदम्
पुण्याभिर्वितनोषि योऽभृतप्रदामिर्गोभिरात्यन्तिकम् ।
निर्दोषोऽप्यकलंकितोऽस्मरसखो हर्षप्रकर्षाञ्चितम्
जीवंजीवमतो विदांवरगुरुश्चन्द्रोऽस्त्यपूर्वोभुवि ।।७।।

स्वात्मानंदप्रकाशान्निजहृदि समतावल्लरीवृद्धिजुष्टा:
तुष्टा: शिष्टाभिराध्या विधृतशमदमाद्यैर्गुणै: सद्भिशिष्टा: ।
हृष्टाश्चारित्रलब्ध्या विमलगुणगणान् निष्ठयाऽऽराधयन्त:
सन्त: सन्तु प्रसन्ना मयि गुणिगुरव: सूरिवर्या: शिवास्ते ।।८।।

जितेन्द्रमुद्राङ्कित ! चारुवृत्ते ! तत्त्वज्ञ ! धर्मज्ञ ! विदांवरेण्य !
नमोऽस्तु ते मोहमहारिरत्नत्रयीसमाराधक ! संघभर्ते ।।९।

शास्त्रिणा मूलचन्द्रेण मालथौन निवासिना ।
भक्त्या कृता स्तुतिर्दिव्या महावीर प्रवासिना ।।१०।।

× × ×

# गुरोश्चरणयोः श्रद्धाञ्जलिः

## रचयिता—श्री पंचरामो जैनः श्री शान्तिवीरनगरस्थः

गुरो ! त्वमस्मान् परितो विहाय ।
दिवंगतः स्यामहमत्रदुःखी ॥
तथापि युष्मद्गुणरत्नराशिः ।
पुनातु नित्यं भववर्तिजीवान् ॥१॥

आचार्यवर्यशिवसागरमत्र वन्दे ।
गुण्यैर्गुणैरतिसमुज्वलजीववन्तम् ॥
धर्मोपदेशवृषवृष्टिवशात् प्रबोध्य ।
स्वर्गं गतोऽमरततिं सहसा प्रबोद्धुम ॥२॥

गुणानगण्यानधमर्षिणस्ते ।
वक्तुं समस्तानहमस्म्यशक्तः ।
तथापि भक्त्या तव पादपद्मे ॥
श्रद्धाञ्जलिं देव समर्पयामि ॥३॥

× × ×

# स्वर्गीयाचार्यशिवसागराणाम् श्रद्धाञ्जलिः

## रचयिता—पं० महेन्द्रकुमारो 'महेशः'

हा सूरिवर्य शिवसागर कुत्र यातो ।
भक्तान् विहाय जनवृन्दगणान् सुभव्यान् ।
रत्नत्रयेण निखिलेन विभूषिताङ्ग—
आसीस्त्वमेव मुनिराजगणे प्रमुख्यः ॥१॥

अस्तंगतोऽवनितले मुनिवृन्दसूर्यो ॥
हा भारतेऽद्य पतितोऽघनवज्रपातः ।
विघ्नं बभूव बहुलं शुभधर्मकार्ये ।
हा हन्त दुष्ट यमराज विनिष्ठुरोऽसि ॥२॥

निखिलमुनिवरेण्यः सर्वलोकैकवन्द्यो–
जगति जनशरण्यः पुण्यमूर्तिर्महात्मा ।
यतिपतिततिपूज्यो मोक्षमार्गी विशुद्धो
वदतु वदतु लोकः क्वास्ति योगी शिवाख्यः ।।३।।

ज्ञानध्याने निमग्नः सकलगुणनिधिर्दिव्यतेजा मुनिन्द्रो
जैनाकाशैकभानुर्निखिलनरनुतो ज्ञानसिन्धुः पवित्रः ।
रे रे ज्ञानं न पूर्वं न विदितमेतत् क्वापि केनापि लोके
सर्वान् भक्तान् विहाय त्वमिह लघुतरं यास्यसि स्वर्गलोकम् ।।४।।

दर्शनज्ञानचारित्र दिव्यतेजोऽवभासितम् ।
सूरीश्वरं सदा स्तौमि शिवसागरसंज्ञितम् ।।५।।

× × ×

# शत शत वन्दन शत शत प्रणाम

## रचयिता–वैद्य दामोदरदासजी 'चन्द्र' घुवारा, छतरपुर

विद्यासागर गुणगणआगर, नीतिज्ञ तपस्वी विपुलज्ञान ।
कर्मठ आदर्श गुणी सुसन्त, आध्यात्मिक निधि के हे निधान ।।
हे प्राणवान गौरव विशाल, श्री शिवसागर आचार्य नाम ।
ऐसे महात्मा के पद में, शत शत वन्दन शत शत प्रणाम ।।१।।

हे धर्ममूर्ति राजर्षि व्रती, विद्या प्रेमी प्रकाण्ड पण्डित ।
सत् शोधक तत्त्व समीहक हे, उत्कृष्ट त्यागि शान्तिपण्डित ।।
मानवता के आदर्श रूप, जीवन की निधियों से ललाम ।
शुभ वक्ता हित उपदेशी को, शत शत वन्दन शत शत प्रणाम ।।२।।

युग के गौरव हे सत् साधक, मृदु भाषी हो संसार-विरत ।
सन्यासि निरीह समाज प्राण, हो जन हितैषी वात्सल्य निरत ।।
तुम योगी शिव सुख भोगी हो, हे बाल ब्रह्मचारी सुनाम ।
आत्मानुरक्त तुमको मेरा, शत शत वन्दन शत शत प्रणाम ।।३।।

आध्यात्मिक सन्त सुज्ञान-सूर्य, कई शुभ संस्था के निर्माता ।
निश्छलता के प्रति रूप अरे, सर्वोदय के तुम हो ज्ञाता ।
हे विद्वानों के हितचिन्तक, स्तम्भ-अहिंसा न्याय धाम ।
विद्वेष हारि तुम पूज्यपाद, शत शत वन्दन शत शत प्रणाम ।।४।।

आगम-वारिधि मथकर तुमने, पाया आत्मिक अमृत महान् ।
बन गये अमर जग को तुमने, बांटा अमरत्व अरे प्रकाम ।।
निर्मानि ज्ञान गुरु-तुमगुणका, नहिं अन्त कहां क्या किया काम ।
जाज्वल्यमान जग के नेता, शत शत वन्दन शत शत प्रणाम ।।५।।

दिव्यावतार अध्यात्म-पुरुष, हो चित उदार निरपेक्ष धीर ।
समदर्शी सम्यग्ज्ञानी हे शिवपथ साधक महव्रति गंभीर ।
मानव चरित्र की पुण्यमूर्ति, तुम महामना सत्पथिक नाम ।
जन उद्धारक शुभ शान्तिमूर्ति, शत शत वन्दन शत शत प्रणाम ।।६।।

तुम ज्ञानवृद्ध, अनुभव समृद्ध, हो वयोवृद्ध शुभ देश-भक्त ।
तुम सिद्ध हस्त हो त्यागमूर्त्ति, शुभ ज्ञान कल्पतरु तीर्थ-भक्त ।।
प्रातःस्मरणीय महान् सन्त, जो पहुँच गये अब-देवधाम ।
अड़गांव नग्र 'हीरा' अमूल्य, शत शत वन्दन शत शत प्रणाम ।।७।।

ऐसे आदर्श महान् सन्त का, गुण सागर को तैर सके ।
मैं तो अल्पज्ञ निरा शिशु हूं, तैरत तो कवि सम्राट थके ।।
जब तक रवि 'चन्द्र' खिलें जग में, जगती सागर का रहे नाम ।
तब तक यश तुम्हरे ग्रन्थ रहें, तुमको शत वन्दन शत प्रणाम ।।८।।

× × ×

# "शिव की सुधा लुटाते"

रचयिता—शर्मनलाल जैन "सरस" सरस साहित्य सदन सकरार ( झांसी )

जहाँ जहाँ हम गये, वहां के कण कण हमें बताते ।
शिवसागरजी रहे हमेशा, शिव की सुधा लुटाते ।।

क्रोध मान मायाको जिसने, हर क्षरा हँसकर जीता,
बना रहा जो मोक्ष मार्ग की, चलती फिरती गीता,
जिसके स्वाँस स्वाँस में, लगती थी मानवता ठहरी,
जिसके जीवन का हर क्षण, चारित्र रहा था प्रहरी,
संतों, सज्जन स्वजनों की, हम बात अलग ही पाते,
आप जहाँ भी गए-क्रूर कातिल, सिर रहे झुकाते ।।१।।

जाने कितने धन्य हुए थे, पाकर पावन छाया,
लगता था फिरसे युग में, जिनवाणी का युग आया,
तन से थे कृश काय, मगर आतम से बड़े सबल थे ।
त्याग मार्ग के मार्ग आपको, पाकर बड़े प्रबल थे,
जहाँ पतित जो मिला, उसी को पावन रहे बनाते,
शिवसागरजी रहे हमेशा, शिव की सुधा लुटाते ।।२।।

हे-संयम के मेघ आप बिन सारी धरती सूखी,
क्रूर काल ने निधि अचानक, हाय ! आनकर लूटी,
लगता हम तुममें अब मुनिवर, बस इतना अंतर हो,
जब तुम बाहर थे लेकिन अब मन के मंदिर में हो,
सरस-सुमन से-सुमन-मुनि श्रद्धा के सुमन चढ़ाते,
शिवसागरजी रहे हमेशा, शिव की सुधा लुटाते ।।३।।

× × ×

# श्रद्धांजलि समर्पण

## रचयिता—हजारीलाल जैन 'काका' सकरार ( झांसी )

परम पूज्य आचार्य श्री शिवसागर को शत वन्दन ।
श्रद्धा सहित युगल चरणों में श्रद्धांजलि समर्पण ।।

संत शिरोमणि आज आपकी स्मृति भुला न पाते,
आध्यात्मिक उपदेश आपके याद सदा ही आते,
तत्वों का कितना सुन्दर करते थे आप विवेचन,
श्रद्धा सहित युगल चरणों में श्रद्धांजलि समर्पण ।।१।।

कृष काया में छिपा हुआ था अतिशय तेज अनोखा,
मुनी-धर्म को कभी शिथिलता का मिल सका न मौका,
चले शास्त्र अनुकूल आपने किया न वाह्य प्रदर्शन,
श्रद्धा सहित युगल चरणों में श्रद्धांजलि समर्पण ।।२।।

आपा, पर का जड़ चेतन का भेद आपने जाना,
ले समाधि त्यागा शरीर जड़ इसका मोह न माना,
वतला दिया जगत को कैसे होता जड़ पर शासन,
श्रद्धा सहित युगल चरणों में श्रद्धांजलि समर्पण ।।३।।

चलें आपके पद चिन्हों पर वह साहस हम पायें,
इच्छाओं को त्याग दिगम्बर मुनि पदवी पा जायें
कर्म काट कर 'काका' पायें सिद्ध शिला की आसन,
श्रद्धा सहित युगल चरणों में श्रद्धांजलि समर्पण ।।४।।

× × ×

# शत शत वन्दन

## रचयिता–श्री लाडली प्रसादजी जैन 'नवीन' सवाई माधोपुर

शत शत वन्दन शत शत वन्दन

श्री नेमीचन्द के प्यारे ललाम, अड़गांव बना था सुखद धाम।
मां दगड़ा बाई के नन्दन, शत शत वन्दन शत शत वन्दन ॥

संसार भोग निष्काम जान, लिया ब्रह्मचर्य व्रत चित्त ठान।
जा किया वीर सिन्धु को वन्दन, शत शत वन्दन, शत शत वन्दन ॥

वस्त्रों का भी मोह त्याग, वैराग्य भाव मन जगमगात।
शिव सिन्धु नाम पाया कुन्दन शत शत वंदन, शत शत वन्दन ॥

गुरुवर के संग रहते हमेश, था नहीं किसी से राग द्वेष।
करते थे ग्रन्थों का मन्थन, शत शत वन्दन, शत शत वन्दन ॥

महावीरकीर्ति सूरी समक्ष, पद मिला सूरि सम जान दक्ष।
शिव सिन्धु बने जग के वंदन, शत शत वन्दन, शत शत वन्दन।

तुम धर्म ध्यान करते महान्, सब संघ का रखते सदा ध्यान।
विपरीत मार्ग करते खण्डन, शत शत वन्दन, शत शत वन्दन ॥

महावीर क्षेत्र भारत विशाल, आए संघ लेकर खुशाल।
किया सभी ने अभिनन्दन, शत शत वन्दन, शत शत वन्दन ॥

कौन जानता फागुन अंधियारी, मावस होगी जग को कलिहारी।
तुम चले छोड़ सारे बन्धन, शत शत वन्दन, शत शत वन्दन ॥

तुम तिरे और तारन हारे, चरण तिहारे हृदय हमारे।
लाड चरण करता वन्दन, शत शत वन्दन, शत शत वन्दन ॥

× × ×

# श्रद्धांजलि

शिवसागर शिव का लक्ष बना,
चल दिये, जगत नाता तोड़ा।
सब संघ साथ यहाँ छोड़ दिया,
शिव नारी से नाता जोड़ा ।।

कौन जानता था फागुन की,
मावस अंधियारी यों आवेगी।
भारत विशाल महावीर क्षेत्र में,
काल घटा सी छावेगी ।।

हे गुरुवर शिवनारी वरने,
तुम चले बिलखता छोड़ हमें।
अब कौन मार्ग बतलायेगा,
हम ढूंढें गुरुवर कहां तुम्हें ।।

मन फूट फूट कर रोता है,
चरणों में मस्तक धरता है।
आचार्य तुम्हारे गुणगान हृदय,
करते करते यह भरता है ।।

चरणों में श्रद्धा सुमन तुम्हें,
मैं आज नयन भर चढ़ा रहा।
गुरुवर श्रद्धांजलि स्वीकार करो,
लाड दर्श बिन तरस रहा ।।

× × ×

# हे भविजन आधारा

### रचयिता–श्री मनोहरलालजी शाह शास्त्री, रांची

( तर्ज—नाथ तेरी पूजा को फल पायो................ )

आज शुभ दिन है नाथ हमारा
माया ममता हीन सुगुरु तुम दर्श लहा सुखकारा ।।टेर।।
दक्षिण में अड़गांव में जन्मे तुम हो मंगल कारा ।
नेमीचंद पिता दगड़ा बाई मां सुख विस्तारा ।।१।।
खंडेलवाल सुजाति अनूपम रांवका गोत्र पियारा ।
पढ़ लिखकर सद्ज्ञानी बने तुम ब्रह्मचर्य व्रत धारा ।।२।।
फिर कुछ दिन में सप्तम प्रतिमा के व्रत धर सुखकारा ।
सिद्धवर कूट में क्षुल्लक दीक्षा धारी शिव दातारा ।।३।।
दो हजार छः साल में तुम नागौर गये हितकारा ।
श्री गुरु वीर-सिन्धु चरण नम तब ही महाव्रत धारा ।
शिवसागर तब नाम रखा तुम कर्म करो नित छारा ।
श्री गुरु स्वर्ग गये फिर तुम आचार्य महा पद धारा ।।५।।
शिवमग दर्शक जन मन हर्षक है प्रिय वचन तुम्हारा ।
'शाह मनोहर लाल' को तारो हे भविजन आधारा ।।६।।

× × ×

# चारों दिशि करती प्रणाम

### रचयिता–श्री गुलाबचन्द्रजी जैन 'भुवन' अहारन, आगरा

चरण कमल से हो गई धन्य,
भारत भूमि व वृद्ध बाल ।
भारत भूमि के ओ लाल लाल,
लाली करके ले गई लाल ।।१।।
ओ अन्तःकरण स्नेह राशि,
शिवसागर पाया था नाम ।
पूरब पश्चिम उत्तर दक्षिण,
चारों दिशि करती प्रणाम ।।२।।

आतम की जोति खोज तुम वन,
किरीट जल हो गये काम ।
पुरुषार्थ मार्ग को दिया मार्ग,
तप सूरज बन गयी शाम ।।३।।
सोलह फरवरी उनहत्तर सन्,
महावीर जी शुद्ध भूमि ।
रहे सदा ही अमर याद ओ,
शिवसागर के चरण चूमि ।।४।।
उदार हृदय समता भोगी,
तप तपी रत्नत्रय योगी ।
परम शान्ति के लिये प्रार्थना,
करते वीर प्रभु से जोगी ।।५।।
इस भुवन भुवन के साथ 'भुवन'
धरता अन्त:करण बिन्दु ।
बिन्दु मध्य विस्तीर्ण भरो तुम,
तुझसा होवे शक्ति सिन्धु ।।६।।

× × ×

## करुण व्यथा

### रचयिता—श्री अशोक वड़जात्या, शान्तिवीर नगर,

सुनो सुनो तुम जैन जाति वर । सुनो सुनो तुम करुण कथा ।।
कैसी थी वो शाम भयानक । देकर गई थी हृदय व्यथा ।।१।।
आती थी चहुं ओर अरे ! । आवाज यही जग जन जन की ।।
हा छोड़ गये क्यूं नाव भँवर में । कौन सुने सबके मन की ।।२।।
सत्यधर्म के वो ज्ञाता थे । वह थे सबके हित भाषी ।।
कैसा था आचार उन्होंका । कैसी थी उनकी वाणी ।।३।।
आती है अब याद हमें वो । उनकी हित मित मृदु वाणी ।।
छोड़ गये वो साथ हमारा । छोड़ गये वो सब साथी ।।४।।
करूं प्रार्थना वीर प्रभु से । दे मुझ को ऐसी शक्ति ।।
भूल जाऊं मैं दुःख दर्दों को । उनको मिले शीघ्र मुक्ति ।।५।।

× × ×

# सफल संघ संचालक

## रचयिता—श्री भगवत्स्वरूप जैन 'भगवत्' फरिहा मैनपुरी

श्री शिवसागर महाराज, संघ के स्वामी ।।
योग्यता युक्त सब, संघ व्यवस्था थामी ।।
थे कृश शरीर गम्भीर, सरल चित पाऊं,
मन वच तन करि त्रयवार, चरण शिर नाऊं ।।१।।

तन में केवल हड्डी का, ही ढांचा था ।।
पर मन में गुरु का, तपो सु बल सांचा था ।।
वाणी सु मधुर थी, मनों फूल झरते थे ।।
सुनकर सब जैना जैन, हृदय धरते थे ।।२।।

सब संघ सु भार सम्हाल, न आलस पाऊं ।।
मन, वच, तन करि त्रयबार, चरण शिरनाऊं ।।
था कद छोटा बुधिबल, विशाल था भाई ।।
तप की प्रदीप्ति थी तेज, विपुल चतुराई ।।३।।

बेला, तेला, चौला, उपवास घनेरे ।।
नाना प्रकार के, व्रत विधान तन पेरे ।।
गुरु का प्रभाव शिष्यों पर, पड़ा दिखाऊं ।।
मन, वच, तन करि त्रयवार, चरण शिर नाऊं ।।४।।

ये धीर, वीर, गम्भीर अचल व्रत ध्यानी ।।
थे तपःशूर, गुणपूर, सदागम ज्ञानी ।।
गुरु गुण वरणन की, ना समर्थ पाता हूँ ।।
गुरु गुण सुमिरण कर, सदा शीश नाता हूँ ।।
असमय में हुये स्वर्गस्थ, न अब यहाँ पाऊं ।।
मन, वच, तन करि त्रयवार, चरण शिर नाऊं ।।
सन्यास धारि तजि देह, विदेह पधारे ।।
या स्वर्गपुरी में, भोग रहे सुख भारे ।।६।।

× × ×

# श्री रा० ब० सर सेठ भागचन्दजी सा० सोनी,

[ संरक्षक महसभा ]

श्रीमद् परम पूज्य आचार्यवर्य श्री १०८ शिवसागरजी महाराज के असामयिक स्वर्गारोहण से समस्त दिगम्बर जैन समाज का एक ऐसा आध्यात्मिक जाज्वल्यमान नक्षत्र अस्त हो गया जिनके आध्यात्मिक तेज पुंज से समस्त जैन समाज प्रकाशमान था।

परम पूज्य आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज इस युग के धर्म-साम्राज्य नायक, चारित्र चक्रवर्ती तपोनिधि स्व० श्री १०८ आचार्य शान्तिसागरजी महाराज के पट्ट शिष्य तथा उनकी धर्म ध्वजा को सर्वत्र फहराने वाले महान् तपस्वी साधु थे। आचार्य पद के सभी गुण उनमें विद्यमान थे। वे महान् आगमनिष्ठ आचार्य तथा परम जीवोद्धारक विभूति थे।

पूज्य आचार्य महाराज का निधन निःसन्देह धार्मिक समाज की अपूरणीय क्षति है जिसकी पूर्ति होना अशक्य है।

मैं दिगम्बर आचार्यश्री की पावन स्मृति में हार्दिक भक्ति से नत-मस्तक होकर अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ और कामना करता हूँ कि आचार्यश्री शीघ्र ही परिनिर्वाण प्राप्त करें तथा हम संसारी प्राणियों का कल्याण करें।

× × ×

# श्री रा. व. सेठ राजकुमारसिंहजी सा. कासलीवाल, इन्दौर

आधुनिक काल में श्रमण संस्कृति के संरक्षण और लोक कल्याण हेतु दिगम्बर मुनि परम्परा का निरन्तरायी रहना परमावश्यक है। श्री १०८ आचार्य शिवसागरजी महाराज ने चारित्र चक्रवर्ती श्री १०८ आचार्य शान्तिसागरजी महाराज एवं श्री १०८ आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज के संघ संचालन सम्बन्धी दायित्व का भली भांति निर्वाह करते हुए वीतराग मार्ग की प्रभावना की है। आपने दिगम्बर जैन मुनि चर्या का पालन करते हुए आध्यात्मिक जीवन को समुन्नत किया है। दुःख है कि उनका सहसा असमय में ही समाधिमरण हो गया। आचार्य श्री का परम शांत, अद्वितीय एवं लोकोत्तर व्यक्तित्व था। आचार्य शिवसागर स्मृति ग्रन्थ प्रकाशन के पावन प्रसंग पर आचार्यश्री के प्रति मैं अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि समर्पित करता हूँ।

× × ×



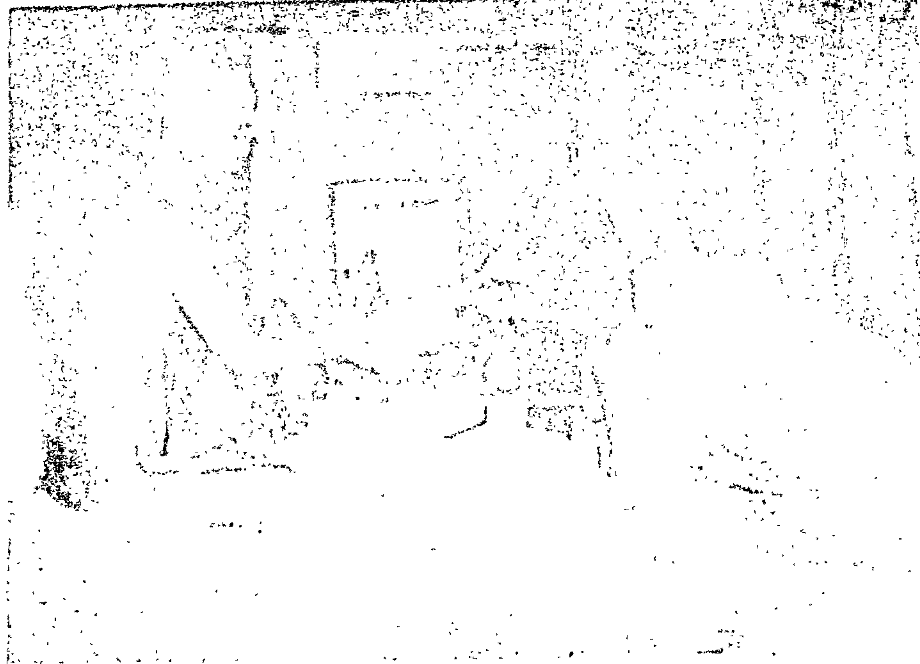
परमपूज्य १०८ स्व० श्री आचार्य शिवसागरजी महाराज के चरणों में श्रद्धावनत
श्री रा० सा० सेठ चांदमलजी पांड्या



परमपूज्य १०८ श्री आचार्य धर्मसागरजी महाराज के चरणों में श्रद्धावनत
सपत्नीक श्री रा० सा० सेठ चांदमलजी पांड्या



स्व० पू० आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज को आहार कराते हुए श्री रा० सा० चांदमलजी पांड्या



सपत्नीक श्री रा० सा० को आशीर्वाद देते हुए आचार्य श्री



श्री ब्र० सूरजमलजी एवं श्री राय सा०

# श्री जैन रत्न रा० सा० सेठ चांदमलजी सा० पांड्या,

[ अध्यक्ष-महासभा ]

दिगम्बर जैन समाज की आस्था तथा श्रद्धा के केन्द्र, जैन धर्म के महान् उपदेष्टा, परम तपस्वी प्रातःस्मरणीय आचार्य प्रवर श्री १०८ शिवसागरजी महाराज का दिनाङ्क १६-२-६९ को अत्यल्प सी बीमारी के बाद दुर्भाग्यपूर्ण असामयिक निधन जैन समाज के हृदय पर अनभ्र वज्रपात है।

परम पूज्य आचार्य श्री के जीवन में त्याग, तपस्या, भद्रता और शांति की अनुपम धारा अविरल बहती थी। सम्पूर्ण भारत में स्याद्वाद तथा समन्वय की अजस्र धारा अपनी ओजस्वी शैली से प्रवाहित करने वाले वे ठोस विद्वान तपस्वी थे।

४७ पिच्छियों वाले विशाल संघ का निराबाध संचालन तथा अपने व्रत नियमों का निराकुलता व दृढ़ता पूर्वक पालन आचार्य श्री की श्लाघनीय विशेषता थी।

धर्म साम्राज्य नायक युग प्रवर्तक चारित्र चक्रवर्ती महान् तपस्वी श्री १०८ स्व० आचार्य शान्तिसागरजी महाराज की पावन परम्परा में तृतीय पट्टाधीश स्वर्गीय आचार्य शिवसागरजी महाराज निःसन्देह उनके धर्म स्तम्भ को पूर्ण सुरक्षित रखने वाले तपस्वी थे। आचार्य पद के सभी गुण उनमें पूर्ण रूप से विद्यमान थे।

परम पूज्य आचार्य श्री के आकस्मिक निधन से धार्मिक जगत की अकथनीय क्षति हुई है।

मैं दिवंगत आचार्य श्री के पावन चरणों में अपनी भक्ति सिंचित श्रद्धांजलि समर्पित करता हुआ कामना करता हूँ कि आचार्य श्री यथाशीघ्र शिवरमणी का वरण करें।

× × ×

# श्री साहू शान्तिप्रसादजी जैन, दिल्ली

दिवंगत आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज के प्रत्यक्ष सम्पर्क से यद्यपि मैं लाभान्वित नहीं हो सका तथापि उनके कार्यों से यह स्पष्ट है कि वे एक 'साधक सन्त' थे। कठिन तपस्या से उन्होंने अपने आपको पवित्र बनाया और संसार में भटकते हुए अनेक भव्य आत्माओं को पवित्र किया। वे निःस्पृह तपस्वी और आत्म प्रशंसा से दूर रहने वाले सच्चे साधक थे। उनके असामयिक समाधि मरण से साधु संस्था की महती क्षति हुई है। उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन के लिये प्रकाशित होने वाले स्मृतिग्रन्थ के माध्यम से मैं उनके चरणों में अपनी विनम्र श्रद्धांजलि समर्पित करता हूँ।

× × ×

# श्री हरकचन्द्रजी पाण्डया, रांची

श्री पू० १०८ स्व० आचार्य शिवसागरजी महाराज परम तपस्वी महाव्रत धारी संत थे। आपका जन्म दक्षिण में हुआ था। दिगम्बर जैन खंडेलवाल जाति के आप अनुपम रत्न थे। आत्म कल्याण की इच्छा से आपने आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार किया था। इसके कुछ समय बाद ही आपने श्री पूज्य आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज के चरणों में दिगम्बर दीक्षा धारण की व कठोर तपश्चर्या करने लगे।

आप परम शांत व गम्भीर थे, चारित्र पालन में परिपक्व थे। शिथिलाचार का आपने सदा ही विरोध किया। मुनि संघ का नेतृत्व आप अत्यन्त सरलता एवं गम्भीरता के साथ करते थे। यद्यपि आपका शरीर अत्यन्त कृश था परन्तु आपकी तपश्चर्या अत्यन्त उग्र थी। जब जयपुर खानियाँ में श्री पू० श्री १०८ आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज का स्वर्गवास हुआ तो तदनन्तर आप ही आचार्य पद के सर्वाधिक योग्य माने गये एवं आपको चतुर्विध संघ समक्ष आचार्य पद प्रदान किया गया। बरसों तक आपने विशाल संघ का सफल नेतृत्व किया। अंत में आपने श्री महावीरजी अतिशय क्षेत्र पर समाधिमरण पूर्वक मरण को वरण किया। ऐसे परम तपस्वी स्व० श्री पूज्य आचार्य शिवसागरजी महाराज के चरणों में मैं अपनी विनम्र श्रद्धांजलि समर्पित करता हूँ।

× × ×

# श्री चौधरी सुमेरमलजी जैन भूतपूर्व महामंत्री महासभा

परम पूज्य प्रातःस्मरणीय आचार्य शिरोमणि श्री १०८ शिवसागरजी महाराज के असामयिक देहावसान के समाचारों से समस्त दिगम्बर जैन समाज स्तब्ध रह गया! आचार्य श्री के स्वर्गारोहण से आध्यात्मिक जगत का एक दीप अकस्मात् बुझ गया। सरल तथा विशाल हृदय आचार्य श्री का जीवन कठोर तपश्चरण तथा महान् आध्यात्मिक साधना का सुन्दर शिखर था।

आचार्य श्री महान् निस्पृह तपस्वी थे। आपके साधु जीवन का बहु भाग तपश्चरण में ही बीता। एकान्तर आहार के लिये उठना तो आपके लिये एक साधारण सी बात थी। आपके उपवासों की संख्या हजारों थी। आप शरीर से कृश लेकिन महान् आत्मबली थे।

आपके निधन से दिगम्बर जैन समाज की अपूरणीय क्षति हुई है। आयुष्य प्रबल है।

मैं परम पूज्य दिगम्बर आचार्य पुंगव के असामयिक निधन पर अपनी हार्दिक भक्ति सहित श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ तथा कामना करता हूँ कि आचार्य श्री शीघ्र ही सर्वोच्च पद प्राप्त करें।

× × ×

# डॉ० कैलाशचन्दजी जैन, राजा टॉयज, दिल्ली

परम पूज्य १०८ श्री आचार्य शिवसागरजी महाराज के प्रथम दर्शन खानियाँ तत्व चर्चा के समय जयपुर में हुए थे। महाराज श्री की सौम्यमुद्रा, उनकी सहन शीलता के ही कारण उक्त चर्चा सफल हो सकी थी।

भौतिकवाद के इस युग में चारित्र और सम्यक् ज्ञान के आधार से आत्म विभूति का साक्षात् दर्शन महाराज श्री के जीवन से होता था।

इसके पश्चात् कोटा, मेहरकलां, गेंगला, भीमपुर आदि ग्रामों में और उनके अन्तिम दर्शन शान्तिवीरनगर के पंचकल्याणक प्रतिष्ठा से पूर्व श्री महावीरजी में पदार्पण के समय हुये। महाराज श्री सदैव छोटे छोटे गाँवों में रहना पसन्द करते थे। ऐसे ऐसे गांव जहां सड़कें भी पूरी सीधी नहीं होती थीं, अभी तक बिजली भी नहीं पहुँची थी। इतना बड़ा संघ एक सूत्र में पिरोया हुआ—इतना शांत तथा आत्मरस में डूबा हुआ वातावरण—हमेशा समस्त संघ को तत्वचर्चा तथा धर्म ध्यान में ही लीन पाया। कभी भी इधर उधर की बातें करते नहीं पाया। मैत्री कारुण्य प्रमोद संवेग अनुकम्पा आस्तिक्य मानों किरणों के समुदाय उनके मुखरूपी शांत चन्द्र से अविरल रूप से भव्य जनों के मोहान्धकार को नष्ट करते थे।

ऐसे हमारे महान् आचार्य शिवसागरजी महाराज की पवित्र आत्मा शीघ्र अति शीघ्र निर्वाण प्राप्त करे तथा हमारा मार्ग प्रशस्त करती रहे यही हमारी नम्र भावना है।

× × ×

# जयपुर का सौभाग्य

## लेखक–श्री हरिश्चन्द्रजी टकसाली, जयपुर

श्री १०८ पूज्य आचार्य शिवसागरजी महाराज ने अपने विद्या तथा दीक्षागुरु श्री १०८ वीरसागरजी महाराज के साथ जयपुर में अनेक चातुर्मास किये हैं। वि० सं० २०१४ के वर्षायोग में आसोज कृष्णा अमावस्या के दिन प्रातः १०।५० बजे जब आचार्य वीरसागरजी महाराज का स्वर्गारोहण हो चुका तब आपको कार्तिक शुक्ला ११ वि० २०१४ को चतुर्विध संघ, पूज्य महावीर कीर्तिजी मुनिराज और हजारों की संख्या में उपस्थित जन समुदाय के समक्ष आचार्य पद दिया गया। आचार्य पद मिलने के बाद आपने जयपुर से गिरनारजी सिद्ध क्षेत्र की संघ सहित यात्रा के लिये विहार किया। संघ का संचालन श्री ब्र० सेठ हीरालालजी पाटनी निवाई वालों ने किया। संवत् २०२० में आचार्य वीरसागरजी

महाराज की छत्री की प्रतिष्ठा खानियाँ ( जयपुर ) में आपके सान्निध्य में हुई। इसी वर्ष चातुर्मास के समय विशाल तत्वचर्चा का आयोजन खानियाँ में हुआ जिसमें जैन समाज के उच्च कोटि के विद्वान् अच्छी संख्या में उपस्थित हुये थे। आपने अपने सरल और सुबोधप्रद उपदेशों से न जाने कितने भव्य प्राणियों का कल्याण किया है। मुझे भी व्रतग्रहण की प्रेरणा आपसे ही प्राप्त हुई थी।

आपके आकस्मिक स्वर्गारोहण से जैन समाज की जो क्षति हुई है उसकी पूर्ति नहीं हो सकती। उनके पुनीत चरणों में मेरी विनम्र श्रद्धांजलि है।

× × ×

# समाज पर वज्राघात

## लेखक—डॉ० लालबहादुर शास्त्री एम० ए०, पी० एच० डी०

परम पूज्य श्री १०८ आचार्य शिवसागरजी के पार्थिव शरीर का १६ फरवरी १९६९ को अन्त हो गया। आचार्य महाराज की आयु एवं शारीरिक स्थिति को देखकर यह कल्पना करना कठिन था कि उनके जीवन का इतना जल्दी अवसान हो जावेगा लेकिन इसे जैन समाज का ही नहीं देश का भी अत्यधिक दुर्भाग्य ही समझना चाहिये कि विश्व के कल्याण को हृदय में समेट कर रखने वाले एक सर्वोदयी वीतरागी व्यक्तित्व का वरद अस्तित्व हमारे ऊपर से उठ गया। संसार से परे रहकर भी संसारी जीवों के एकमात्र आधार इस महान आत्मा का वियोग समाज की उस दशा का आभास करा रहा है जब कि भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद तत्कालीन समाज और मुनिसंघ ने अश्रुपूर्ण नेत्रों से उनके अभाव को महसूस किया था।

परम पूज्य आचार्य वीरसागरजी के स्वर्गारोहण के बाद एक बार ही यह महसूस हुआ था कि अब परम पूज्य आचार्य शान्तिसागरजी की संघ परम्परा को कौन सम्हालेगा। लोगों की दृष्टि कहीं टिक न पाती थी। बहुत छान-बीन के बाद समाज के सौभाग्य से एक ऐसी वीतराग आत्मा पर दृष्टि टिकी जिसने संघ का अधिनायकत्व ग्रहण किया और अपनी तपस्विता और तेजस्विता से न केवल संघ में ही अनुशासन कायम रखा प्रत्युत संघ की चौगुणी वृद्धि की। वे थे परम पूज्य आचार्य शिवसागरजी।

संघ के अग्रणी बनने से पहले जनता में आचार्य महाराज की उतनी ख्याति नहीं थी। लेकिन संघ के पट्ट पर बैठते ही उनमें आचार्य शान्तिसागरजी एवं वीरसागरजी के सभी गुण अवतरित हुये और लोगों की श्रद्धा भी उनके लिये उतनी ही उमड़ी जितनी आचार्य शान्तिसागरजी एवं वीरसागरजी के लिये थी। अनेक लोग अपने व्यक्तिगत झन्झटों से ऊबकर आचार्य महाराज के चरणों में पहुँचते थे और अपनी व्यथा बिना कहे ही उनसे अपरिमित शान्तिलाभ प्राप्त करते थे।

हमने देखा है कि जैन समाज में जहाँ श्रद्धालु लोग अधिक हैं वहाँ छिद्रान्वेषी भी कम नहीं हैं। दोनों ही प्रकार के व्यक्तियों में सभी वर्ग के लोग हैं। परन्तु जहाँ तक आचार्य महाराज के व्यक्तित्व की

वात थी उसके प्रति जनता के सभी वर्गों का एक ही प्रकार था और वह था आचार्य महाराज पर अनन्य श्रद्धा रखने वालों का। जिसको देखा या पूछा वही आचार्य महाराज के लिये श्रद्धा से अवनत था। उनकी प्रशंसा में 'किन्तु' 'परन्तु' 'लेकिन' आदि शब्दों के लिये गुंजायश ही नहीं थी।

आचार्य महाराज स्वयं भी वीतरागता की पावन मूर्ति थे उनके निकट भक्त या अभक्त का कोई प्रश्न ही नहीं था। कौन जैन है, कौन अजैन है, कौन तेरह है, कौन बीस है, कौन पण्डित है, कौन बाबू है, कौन किस साधु को मानता है या कौन नहीं मानता यह उनमें तो सर्वथा था ही नहीं किन्तु उनके संघ के किसी साधु में भी नहीं था। सबके लिये आशीर्वाद, सबके लिये हितमित शब्दों का प्रयोग, सबके लिये सर्वोदयी भावना उनकी अपनी सहज प्रवृत्ति थी।

इसके अतिरिक्त जो सबसे वड़ी वात थी वह यह थी कि उन्होंने कभी धनी और निर्धन में भेदभाव नहीं किया। सबसे वड़ी बात इसे हम इसलिये लिख रहे हैं कि आज के युग में लोग सारा बड़प्पन धन में ही निहित देखते हैं।

उनके मन में कभी कोई आधि नहीं थी, व्याधि का उन पर कोई प्रभाव नहीं था, उपाधि वे किसी प्रकार की पालते नहीं थे, मात्र समाधि की भावना रहती थी और साधु समाधि में निरत रहते थे। इसीका यह प्रभाव था कि समाधि में ही उनके प्राणों का विसर्जन हुआ।

परम पूज्य आचार्य महाराज एक वहुत बड़े संघ के अधिपति थे। संघ के सभी प्रकार के साधुओं की प्रकृति को समझ कर वे उनका निर्वाह करते थे किन्तु उनकी चर्या में वे शास्त्र विरोध को सहन नहीं करते थे। शास्त्रों में लिखा है "आगम चक्खू साहू" अर्थात् साधु की आँखें आगम होती हैं, सचमुच में वे इस आज्ञा का अक्षरश: पालन करते थे। संघ व्यवस्था में वे अत्यन्त कुशल थे और अनुशासन रखना जानते थे। महाराज का कोटा में जव चातुर्मास हुआ वहाँ उनके दर्शन का हमें सौभाग्य मिला। वहाँ हमने उनकी संघ व्यवस्था को निकटता से देखा। असुविधा को लेकर दो क्षुल्लिकाओं के असन्तोष को उन्होंने किस प्रकार अपने अवपीड़क गुण से दवाया यह हमें आज तक याद है। उसीसे हमने यह समझा कि यह संघ इतना वड़ा होकर व्यवस्थित क्यों है। और संघ का प्रत्येक साधु आडम्बर हीन क्यों है।

महाराज का अन्तरङ्ग टटोलने के लिये एक बार हमने महाराज के समक्ष तेरह बीस की चर्चा छेड़ी। महाराज बोले कि शास्त्र में कहीं तेरह बीस का विधान है? हमने कहा नहीं, तो महाराज कहने लगे कि तुम पण्डित हो, तुम्हें शास्त्र की चर्चा करना चाहिये। महाराज के इस उत्तर से हमने समझा कि उन्हें इस प्रकार के औपचारिक वर्ग भेद से कोई मतलब नहीं है। उन्होंने कहा कि आज तो लोगों के दर्शनों की भी आखड़ी नहीं है तुम पूजा पद्धति की बात करते हो।

महाराज का शास्त्रीय ज्ञान वड़ा अच्छा था। ध्यान के समय को छोड़कर उनका समय स्वाध्याय या धर्म चर्चा में ही व्यतीत होता था। राष्ट्र कथा या राज कथा जैसी विकथाओं को वे कभी प्रश्रय नहीं देते थे। अपने सार्वजनिक भाषण में वे अपनी स्थिति और पद का सदा ध्यान रखते थे। उनका वाचनिक प्रयत्न सम्यक्त्व की हानि और व्रतों के दूषण से परे होता था।

आचार्य महाराज साक्षात् धर्म की मूर्ति थे। और धर्म के संरक्षण में जैसे आत्मा संकट मुक्त रहती है जैन समाज भी आचार्य महाराज के संरक्षण में अपने को निर्भय समझता था। आचार्य महाराज के स्वर्ग प्रयाण से मानों जैन समाज के ऊपर से धर्म का छत्र भङ्ग ही हो गया है। लगता है कि जैन समाज अनाथ हो गया है और उसका अब कोई धनी धोरी नहीं है। महाराज के स्वर्ग के समाचार जैसे ही १७ फरवरी के प्रातः दैनिक समाचार पत्रों में पढ़े हृदय पर वज्राघात सा हुआ। हमने समझा कि कहीं सागर के साथ शिव शब्द गलत न छप गया हो। क्योंकि अनेक साधुओं के नाम के पीछे सागर लगा रहता है। परन्तु ये समाचार महावीरजी क्षेत्र के थे अतः सन्देह को कोई गुंजाइश नहीं थी। प्रायः जिसने यह समाचार सुना वही मर्माहत हुआ। सचमुच में महाराज के स्वर्गवास से धर्म का एक महान् स्तम्भ ही टूट गया है। निकट भविष्य में उसे दुबारा खड़ा करने में समय लगेगा।

शान्तिवीर नगर प्रतिष्ठान के कार्यकर्त्ताओं से हमारा निवेदन है कि वे महाराज की स्मृति में उनके अनुरूप एक स्मारक का निर्माण करावें जिसमें महाराज और उनके संघ की पूर्ण प्रशस्ति संस्कृत तथा हिन्दी में हो। यह कार्य प्रतिष्ठा से भी अधिक अत्यावश्यक है। परम पूज्य आचार्य महाराज के पावन गुणों का स्मरण करते हुये हम उनके चरणों में मस्तक झुकाते हैं और उनके निर्वाण लाभ की जैन गजट के हजारों पाठकों की तरफ से हार्दिक कामना करते हैं।

× × ×

# श्री तनसुखलालजी काला, बम्बई

महान संघनायक स्व० प० पू० श्री १०८ आचार्य शिवसागरजी महाराज ने अपने अलौकिक त्याग, तपश्चर्या, समताभाव एवं लोकहितकारी कल्याण की भावनाओं के साथ रत्नत्रय धर्म तथा मुनि मार्ग की परम्परा चालू रखी एवं सर्वत्र राजस्थान में भ्रमण कर जनता को सन्मार्ग प्रदर्शन के साथ महती प्रभावना कर संघ का संचालन किया। उनका व्यक्तित्व महान् था। उनके निधन से धर्म तथा संघ की जो अपूरणीय क्षति हुई है उनकी पूर्ति होना दुर्निवार है। समाज पर यह अनभ्र वज्रपात हुआ है। श्री महावीरजी पंचकल्याणक प्रतिष्ठा की लोकोत्तर उदार भावना को लेकर उनका स्वर्गवास हुआ। ऐसे परम शांति महान् आत्मा को शीघ्र ही परम निःश्रेयस सुख की प्राप्ति हो इस भावना के साथ मैं उनके चरणों में अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पण करता हूँ।

× × ×

# दिगम्बर परम्परा के महान् आचार्य का महा प्रयाण

[ डा० श्री दरबारीलालजी कोठिया, वाराणसी ]

दिनांक १६ फरवरी १९६९ को पूज्य श्री १०८ आचार्य श्रेष्ठ शिवसागरजी महाराज के वियोग का समाचार जैन समाज में सर्वत्र बड़े दुःख और आश्चर्य के साथ सुना गया। प्रवास में १७ फरवरी को टीकमगढ़ में मुझे उनके दुःखद वियोग का समाचार मिला तो स्तब्ध रह गया और एकाएक विश्वास न हुआ।

आचार्य श्री का व्यक्तित्व अद्भुत था। उनके नेतृत्व में दिगम्बर संस्कृति और दिगम्बर परम्परा सुरक्षित थी। उनका संघ सबसे बड़ा था और इसका कारण उनका प्रभाव, व्यक्तित्व के अतिरिक्त संघ संचालन कुशलता, गम्भीरता, उच्च चारित्र साधना और असाधारण तत्वज्ञान भी था। उन्होंने जिस कुशलता के साथ संघ को एक सूत्र में संगठित कर संचालित किया, वह निश्चय ही अपूर्व था। उनके असामयिक स्वर्गवास से एक महान् क्षति हो गई है, जिसकी पूर्ति निश्चय ही असम्भव दिखती है। हम पूज्य श्री के देहावसान पर श्री गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला, वीरसेवा मन्दिर ट्रस्ट और अपनी ओर से हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

× × ×

## पं० श्री कमलकुमारजी जैन शास्त्री कलकत्ता

प्रातः स्मरणीय चारित्र चक्रवर्ती, विश्ववन्द्य श्री १०८ पूज्य आचार्य श्री शान्तिसागरजी महाराज की आचार्य परम्परा को अक्षुण्णता प्रदान करने वाले पूज्य श्री १०८ आचार्य शिवसागर महाराज की पुण्य स्मृति में प्रकाशित होने वाले स्मृति ग्रन्थ के माध्यम से मैं उक्त आचार्य श्री के पूज्य चरणों में अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ। वे इस युग के दिगम्बराचार्य शिरोमणि तपःपूत, महा मानव थे।

× × ×

## श्री पं० हीरालालजी जैन "कौशल" शास्त्री, न्यायतीर्थ

श्री १०८ आचार्य शिवसागरजी महाराज स्वयं बड़े ज्ञानी, दीर्घतपस्वी, शान्त स्वभावी, निस्पृही, स्वाध्यायरत, सरल प्रकृति के महापुरुष थे। वे अपने संघ के साथ आज कल के नगरों के लुभावने और दूषित वातावरण से दूर देहाती स्थानों तथा तीर्थक्षेत्रों पर रहना अधिक श्रेयस्कर समझते थे, जहाँ निर्बाधरूप से आतम साधना हो सके।

आपने लगभग सभी रसों का त्याग कर रखा था और तीसरे या चौथे दिन ही आहार लिया करते थे। यद्यपि तपस्या के कारण आपका शरीर कृश हो गया था पर आपकी आतम शक्ति बहुत बढ़ी

हुई थी। आप अपने प्रत्येक क्षण का शास्त्राध्ययन, आत्मध्यान तथा संघ व्यवस्था में सदुपयोग करते थे। जो आपके पास पहुँच जाता वह इतना प्रभावित होता कि उसका दृष्टिकोण और जीवन ही बदल जाता।

आपके व्यक्तित्व की छाप लोगों पर पड़े बिना नहीं रहती। अनेक उच्चकोटि के सज्जनों तथा विदुषी महिलाओं ने आपसे प्रभावित होकर दीक्षा ग्रहण करली और संसार का बन्धन तोड़कर आत्म कल्याण में लग गए। आपके संघ में उपदेश के अतिरिक्त प्रतिदिन नियमित रूप से प्रातः और अपराह्न में शास्त्र सभा होती जिनमें गम्भीर ग्रन्थों का अध्ययन चलता था। उससे सभी लोगों की ज्ञान लाभ के साथ रुचि परिष्कृत होती।

आपकी भावना थी कि धार्मिक समाज संगठित रहे। उसमें मतभेद और मनमुटाव न हो। मतभेदों का चर्चा वार्ता से समाधान कर लिया जाय जिससे सबकी शक्ति आत्म कल्याण तथा धर्म प्रभावना में लग सके। इसी दृष्टि से खानियाँ ( जयपुर ) में चातुर्मास के समय आपके सान्निध्य में समाज के दोनों प्रकार की विचारधारा के विद्वानों की लिखित चर्चा का आयोजन हुआ था। उस समय पद की मर्यादा के अनुकूल आपकी गम्भीरता, शक्ति तथा निष्पक्ष और सौम्य व्यवहार से दोनों पक्ष के विद्वानों ने समान रूप से प्रभावित होकर मुक्तकण्ठ से आपकी प्रशंसा की थी। आप वास्तव में एक सुयोग्य, सर्व हितैषी और सर्व मान्य आचार्य थे।

ऐसे परमतपस्वी आचार्य महाराज का ता० १६ फरवरी १९६९ को श्री महावीरजी क्षेत्र पर ६८ वर्ष की आयु में समाधिपूर्वक स्वर्गवास हो गया। उनके वियोग से धर्म और समाज की जो महती क्षति हुई है उसकी पूर्ति होना कठिन है। उनके चरणों में हमारी श्रद्धांजलि तभी सार्थक सिद्ध हो सकती है जब हम अपने जीवन में संयम का महत्त्व समझें, एकता को अपनायें तथा अपनी आत्मा को निर्मल बनाने का प्रयास करें।

× × ×

## श्री पं० सुमतिचन्द्रजी शास्त्री, शांतिवीर नगर

पूज्य श्री १०८ आचार्य शिवसागरजी महाराज संघ का सुचारुरीत्या संचालन कर रहे थे। आपका संघ सबसे बड़ा संघ है। मनोबल अधिक था। शरीर दुर्बल एवं कमजोर होते हुए भी आत्मिक शक्ति अपार थी, कई व्रत उपवास करने पर भी आपका प्रवचन बराबर होता था।

आप काम, क्रोध, मान, माया आदि दुर्गति के द्वार रूप अनिष्ट प्रवृत्तियों से अभिभूत नहीं थे। संसार परिभ्रमण से मुक्ति पाने के लिये विवेक पूर्वक पुरुषार्थ निरत थे।

[illegible] शान्तिसागरजी महाराज के महान रत्नत्रय ज्योति के पद चिह्नों पर चल रहे थे जिनके ज्योतिर्मय जीवन से ही मोक्षमार्ग ज्योति देदीप्यमान हुई।

ज्ञानी ध्यानी विवेकी हितोपदेशी परमतपस्वी पूज्य आचार्य १०८ श्री शिवसागरजी महाराज अब हमारे बीच नहीं रहे किन्तु उनके द्वारा बतलाये गये मार्ग का अनुसरण करते हुये उनके उपदेशों की गूंज जन मानस के हृदय में सद्‌मार्ग की प्रेरणा करती रहेगी एवं उनके पद चिह्नों पर चलने से मन को शान्ति और लाभ मिलेगा अत: मैं वीर प्रभु से कामना करता हूँ कि स्वर्गस्थ आत्मा को शीघ्र मुक्ति सुख की प्राप्ति हो।

× × ×

# विनयांजलि

## श्री पं० छोटेलालजी बरैया, उज्जैन

परम पूज्य आचार्य शिवसागरजी महाराज एक महान तपस्वी विद्वान संघ नायक थे। उनकी संघ संचालन क्रिया बड़ी प्रशस्त थी, इतने बड़े विशाल संघ का संचालन वे बड़ी कुशलता के साथ करते थे उनके शिष्य तथा प्रशिष्य गण उनके आदेशों को बड़ी विनय के साथ शिरोधार्य करते थे उनकी आज्ञा के विरुद्ध किसी में यह साहस नहीं था। कि वे उनकी आज्ञा को न मानें, सभी आज्ञाकारी शिष्य थे आचार्य श्री को भी सन्तोष था।

इतना ही नहीं आचार्य श्री का प्रभाव उनकी शिष्य मण्डली पर ही हो, सो नहीं आचार्य श्री का प्रभाव दिगम्बर जैन समाज पर भी अत्यन्त अधिक था। उनके आदेशों को समाज भी शिरोधार्य करता था। वे महान विद्वान शास्त्र मर्मज्ञ लोकाचार के पण्डित थे उनका उपदेश सरल शब्दों में सादा और मीठी भाषा में होता था। जिसका प्रभाव जन साधारण पर अपूर्व पड़ता था, ऐसी महान विभूति की पवित्र स्मृति में उनके स्मृति ग्रन्थ का प्रकाशन किया जाना अत्यन्त समयोपयोगी और आचार्य श्री के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन का महान कार्य है।

मैं भी आचार्य श्री के पाद मूल में अपनी विनय पूर्वक विनयांजलि अर्पण कर अपनी ओर से कृतज्ञता ज्ञापन कर अपने आपको कृतकृत्य मानता हूँ।

× × ×

# "आचार्य शिवसागराभिनन्दनम्"

[ श्री पं० हेमचन्द्रजी जैन शास्त्री, एम. ए. न्याय-काव्यतीर्थ प्रभाकर धर्मालङ्कार, अजमेर ]

हे तपस्विन् !

आपको कर्म की कृपा द्वारा ऐसा शरीर प्राप्त हुआ है जिसमें सौन्दर्य के नाम की चर्चा करना नींबू में मिठास की खोज करना है। फिर भी आपने रत्नत्रय से अलंकृत होकर बाह्य सौन्दर्य की उपेक्षा करते हुए अपने आपको जिस अलौकिक सौन्दर्य से अलंकृत किया है वह सौन्दर्य सनत्कुमार सदृश चक्रवर्तियों को भी सुलभ नहीं हुआ। आपकी कठोर तपस्या ने आत्मा को इस प्रकार तपा दिया कि आपके अंतरङ्ग में तो देह और आत्मा का भेद विज्ञान हुआ ही, पर शरीर में भी अस्थि और चर्म का भेद साकार हो गया। धन्य है आपकी यह तपसाधना !

अनुशासिन् !

इस कषाय सम्भरित भव में कलि-काल की तमच्छाया सर्वत्र विस्तृत हो रही है। अनेक प्रकार के त्यागी और अनेक ही प्रकार के कषायशील व्यक्ति ! भोग भावनाओं का सर्वत्र साम्राज्य जम रहा है। अनादिकालीन वासनाओं ने सभी प्राणियों को झक झोर दिया है। ऐसी विषमावस्था में संघ का निपुणतया संचालन चतुर योगी द्वारा ही संभव था। आपकी प्रकर्तृत्व आत्म शक्ति ने अपने अल्प काल के शासकत्व में जिस दृढ़ता का परिचय दिया है वह पीढ़ी दर पीढ़ी स्मरणीय रहेगा और आपकी शिष्य मण्डली जीवन के अन्त तक इस उपकार को नहीं भूलेगी।

ज्ञानिन् !

'आगमचक्खू साहू' साधुकी आंख आगम है, इस उक्ति के अनुसार सत्यांश में आप आगम चक्षु ही रहे हैं। वर्तमान के सर्व विशाल संघ में अपनी वात्सल्यमयी ममता द्वारा सभी वर्ग के शिष्यों को अध्ययन-अध्यापन में प्रेरणा देना यह आपका ही अनुशासित प्रयोग था। आपकी अजमेर चातुर्मास में अवस्थित स्वाध्याय-पद्धति देखकर कौन ऐसा व्यक्ति होगा जो अपने अज्ञान अन्धकार को नष्ट करने का उद्यम न करेगा। क्या स्वच्छ निर्मल और शीतल जल से प्रवाहित नदी के कूल पर पहुँच कर भी कोई पिपासाकुल रह सकता है? कभी नहीं।

ध्यानिन् !

बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग तपों का प्रतिफल ध्यान होता है। उस ध्यान की सिद्धि के लिये आपने [illegible] अधिक [illegible] कर दिया। एक पैर पर घण्टों खड़े होकर कायक्लेश करना आपके लिए

साधारण बात रही। मानसिक एकाग्रता की सिद्धि वर्तमान काल में अत्यन्त दुष्कर है फिर भी आपने अपनी इस साधना को एक साधक की तरह पूर्णतः निर्वाह करने का समुचित प्रयत्न किया है। इसी साधना का परिणाम हुआ कि आप अन्तिम समय में व्याधि पीड़ित होते हुए भी अत्यन्त सावधान रहे तथा इस नश्वर शरीर से रत्नत्रय साधना न होते हुए देखकर सर्प की कंचुली की तरह इसे त्याग दिया जो साधना की कसौटी थी।

लोकोपकारिन्,

कर्मोदय के प्रबल थपेड़ों द्वारा आपका जीवन क्रम बदला। अपने शिक्षागुरु और बाद में दीक्षागुरु की महती अनुकम्पा से जीवन में स्वोपकार पूर्वक लोकोपकार की भावना जागी। जैन त्याग मार्ग में कदम बढ़ाना कोई साधारण बात नहीं है। भोगी को योगी बनाना महान् दुष्कर कर्म है, परन्तु जहाँ आपने सारी विघ्न बाधाओं को सहते हुए आगे बढ़ना ही सीखा वहाँ दूसरे अनुयायियों को बढ़ाना भी सीखा। पूज्य गुरुओं द्वारा तैयार की गई बगीची में जहाँ रङ्ग बिरंगे चरित्रधारी थोड़े पुष्प विकसित हुये थे वहाँ अनेक पुष्पों द्वारा विरक्ति-उद्यान में आपने भी वृद्धि की। स्वपरोपकार ही महान् जनों की वास्तविक वैयावृत्ति है।

इन्द्रिय विजयिन् !

अज्ञानी की ज्ञान सीमा इन्द्रियों तक ही सीमित रहती है इन्द्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि इन्द्रवत् स्व विषय स्वाधीन होते हुए भी निम्न प्रवृत्ति को नहीं छोड़तीं हैं। दुष्ट अश्ववत् ये किसी का नियन्त्रण नहीं चाहती हैं। ज्ञानी अश्वारोही ही इन्हें नियंत्रण करना जानता है और जब वह अपनी शक्ति का परिज्ञान कर प्रयोग करने लगता है तब ये दुष्ट इन्द्रियाँ दुर्दमनिय होते हुए भी आत्मवश हो जाती हैं। साधु का वैराग्य तभी निखार प्राप्त करने लगता है। आगम में 'ज्ञान ध्यान तपोरक्तः' ही साधु भवन का निर्माण है जिसकी विषयाशावशातीतः ही प्रारम्भिक भूमिका है। आपने अनेक रसों को त्याग कर और कई दिनान्तरों से यथा प्राप्त नीरस आहार लेकर जो इन्द्रिय विजय प्राप्त की है वह आगामी पीढी के लिये अनुकरणीय रहेगी।

आपकी गुणावली एक सरागी द्वारा संभव नहीं है। वीतरागी की मनोभावना को उसके परीक्षक ही अंकन कर सकते हैं। एक भाक्तिक केवल श्रद्धा के पुष्प अर्पण कर ही अपने में संतुष्टि का अनुभव करता है और यही गुणानुराग उसके आत्म विकास का कारण एवं महान साधन है।

× × ×

# महान संत के प्रति श्रद्धांजलि

## श्री पं० सुजानमलजी सोनी, अजमेर

परम पूज्य तरण तारण श्री १०८ आचार्य शिवसागरजी महाराज का जन्म हैदराबाद के औरङ्गाबाद जिले के अन्तर्गत अडगाँव नामक ग्राम में खंडेलवाल दिगम्बर जाति के राँवका गोत्र में श्री सेठ नेमीचन्दजी की धर्म पत्नि श्रीमती दगड़ाबाई की कुक्षि से हुआ था। उस समय आपका नामकरण हीरालालजी के नाम से किया गया। आपके बाल्यकाल में पठन-पाठन श्री अतिशय क्षेत्र कचनेर व औरङ्गाबाद में ब्र० श्री हीरालालजी गंगवाल ( स्वर्गीय परम पूज्य आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज ) ने मराठी हिन्दी धर्म आदि सप्तम कक्षा तक कराया था उसके पश्चात् आपके माता-पिता ने आपका पाणिग्रहण संस्कार कराने का बहुत आग्रह किया। आप उसे स्वीकार न कर बाल ब्रह्मचारी ही रहे और व्यापार करते रहे। परन्तु जो संस्कार बाल्यकाल से आपके अन्दर धार्मिकता के भर गये उससे आपके अन्दर वैराग्य की छटा जगमगाती ही रही। फलस्वरूप व्यापार आदि को छोड़कर दृढ़ संस्कार कराने वाले पूज्य स्वर्गीय मुनिराज श्री वीरसागर स्वामी के सानिध्य में मुक्तागिरि सिद्धक्षेत्र पर पहुँच कर गुरु महाराज से सप्तम प्रतिमा के व्रत सं० १९९९ में धारण किये। फिर इससे आगे बढ़ने के भाव हुए तब विक्रम संवत् २००० फाल्गुन शुक्ला पंचमी के दिन श्री सिद्ध क्षेत्र सिद्धवरकूट में आपने क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण की। उस समय पूज्य गुरुदेव वीरसागरजी महाराज ने आपका नाम शिवसागरजी रखा। उसी समय से आप सङ्घ के साथ विहार करते रहे जब संघ का पदार्पण नागौर मारवाड़ में हुआ तब असाढ़ शुक्ला ११ संवत् २००६ में आपने पूज्य श्री वीरसागरजी स्वामी से मुनि-दीक्षा ग्रहण कर गुरु महाराज से न्याय व्याकरण व अनेक धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन मनन किया जिससे आपके ज्ञान अध्ययन व तपश्चर्या में दिनों दिन वृद्धि होती ही रही। आप बड़े ही शांत स्वभावी गुणवान निस्पृह साधुरत्न थे। जब विक्रम संवत् २०१४ के आश्विन कृष्णा अमावस्या को परम पूज्य आचार्य वीरसागर महाराज का स्वर्गवास हो गया उस समय आपको आचार्य पद खानियाँ ( जयपुर ) में प्रदान किया गया। खानियां से आपने संघ सहित विहार कर प्रथम ही श्री गिरनार सिद्धक्षेत्र, श्री शत्रुंजय सिद्धक्षेत्र एवं तारंगादि सिद्धक्षेत्र की यात्रा कर ब्यावर, अजमेर, सुजानगढ़, सीकर, लाडनूं, [illegible], कोटा, उदयपुर, प्रतापगढ़ आदि में चातुर्मास किये। आपही की सानिध्यता में श्री महावीरजी अतिशय क्षेत्र पर श्री १०८ आचार्य स्वर्गीय शान्तिसागरजी महाराज एवं स्वर्गीय आचार्य वीरसागरजी महाराज के स्मारक स्वरूप शान्तिवीर नगर की स्थापना होकर वहां विशाल जिनालयों की स्थापना हुई।

आपके गुड़, खाँड, नमक, तेल, दधि का तो त्याग था ही इसके साथ साथ [illegible] [illegible] आहार [illegible] थे। [illegible] निर्दोष पालक थे। आपका शरीर

पिञ्जर सा नजर आता था- मगर तेजस्विता बड़ी प्रबल थी। ऐसे महान् तपस्वी संत श्री आचार्य परमेष्ठी हम लोगों को कल्याण मार्ग बता असमय में ही फाल्गुन बदी अमावस रविवार को जगत विख्यात अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी से स्वर्ग पधार गये। उनके चरणों में मेरी विनम्र हार्दिक श्रद्धांजलि समर्पित है।

× × ×

# एक अबोधबालक के हृदयोद्गार

## प्रभुलाल चित्तौड़ा, उदयपुर, (राज०)

दिवङ्गत परमपूज्य प्रातःस्मरणीय ! रत्नत्रयभूषित ! भव्यकमलबोधक ! विश्ववन्द्य ! स्वर्गीय १०८ आचार्यवर्य श्री शिवसागरजी के पुनीत चरण कमलों में त्रिवार नमोऽस्तु यद्यपि आपके अनुपम तथा अपरिमित गुणों के वर्णन में सुरगुरु सदृश बुद्धि के धारक व्यक्ति भी असमर्थ हैं तब मुझ जैसा धार्मिक तथा लौकिक ज्ञान शून्य बालक आपके गुण कीर्तन में कैसे समर्थ हो सकता है, तथापि भक्ति से प्रेरित होकर कुछ लिखने का साहस करता हूँ। आप पञ्चमहाव्रत पञ्चसमिति पञ्चेन्द्रिय रोध षडावश्यक द्वादश प्रकार तप तथा त्रिगुप्ति इस प्रकार ३६ मूलगुणों का स्वयं निर्दोषरीत्या पालन करते थे तथा संघस्थ साधु वर्गों को प्रतिदिन यही प्रेरणा देते थे कि अपने पदानुसार प्रवृत्ति करो। यद्यपि हमारी मेवाड़ समाज को आपके विशाल संघ सहित दो बार चातुर्मास कराने का परम सौभाग्य मिला तथापि मेवाड प्रान्त को अत्यल्प सेवावसर मिला। "पीयूषं नहि निःशेषं पिवन्नेव सुखायते" इस सूक्ति के अनुसार इस अल्प काल में धार्मिक जैन समाज में जो धार्मिक संस्कार कुम्हलाये हुये थे- वे आपके उपदेशामृत के सिंचन से पल्लवित होकर स्वर्गीय सुख रूपी पुष्प को देकर मोक्ष रूपी फल को प्रदान करेंगे, ऐसा मेरा हृदय कहता है। आपके प्रभाव से उदयपुर की जैन समाज में कई वर्षों से चला आया पारस्परिक वैमनस्य एक दिन में आपकी प्रेरणा से दूर होकर एकता तथा स्नेह की सद्भावना ने (सं० २०२४ में) जो जन्म लिया था वह आज भी विद्यमान है तथा आगे भी बनी रहेगी। उसी समय पर मेरे हृदय में भी संसार शरीर भोगों से विरक्ति रूपी गङ्गा की समुद्भूति हुई थी और वह तीन वर्ष तक तो मन्दगति से गमन करती रही किन्तु २०२८ में जो परमपूज्य १०८ आचार्यकल्प श्री श्रुतसागरजी महाराज के संघसहित चातुर्मास के बाद तो वह भवाङ्ग भोग विरक्ति रूपी गङ्गा तीव्र गति से बढ़ती हुई निश्चित रूप से मोक्षरूपी समुद्र में प्रवेश करे यही आपका शुभाशीर्वाद चाहता हूँ तथा आपके प्रति भी यही मङ्गल कामना करता हूँ कि आप स्वर्गीय सुखों के उपभोग के अनन्तर ही मुक्ति के योग्य द्रव्य क्षेत्र काल तथा भावरूप सामग्री को प्राप्त कर आत्मीय सुख के अधीश्वर बनें।

× × ×

## श्री दिगम्बर जैन समाज लाडनूं

धर्मनेता आचार्य श्री १०८ शिवसागरजी महाराज इस नश्वर देह को तो जरूर छोड़ कर चले गये, पर वे अपनी गुण गरिमा, त्याग तपस्विता से निरन्तर समाज के हृदय पट पर उज्जीवित ही रह रहे हैं। अपने पीछे वे मार्ग दर्शन करके गये हैं। उनका संघ उनकी आदर्श प्रवृत्तियों और आदेशों का परिपालन करता हुआ मार्ग प्रशस्त करता ही रहेगा। आपकी गुण गाथा का एवं चर्या का पिछली पीढी अनुसरण करती हुई आत्म वैभव की ओर संलग्न रहेगी ऐसी शुभाशा के साथ हम अपनी विनम्र श्रद्धांजलियाँ आपमें अर्पित करते हैं। आपके आचार्य पद को इस वक्त श्री धर्मसागरजी महाराज तदनुरूप ही सँभाले हुये हैं। धन्यात्मा हैं आप व आपका श्री संघ।

× × ×

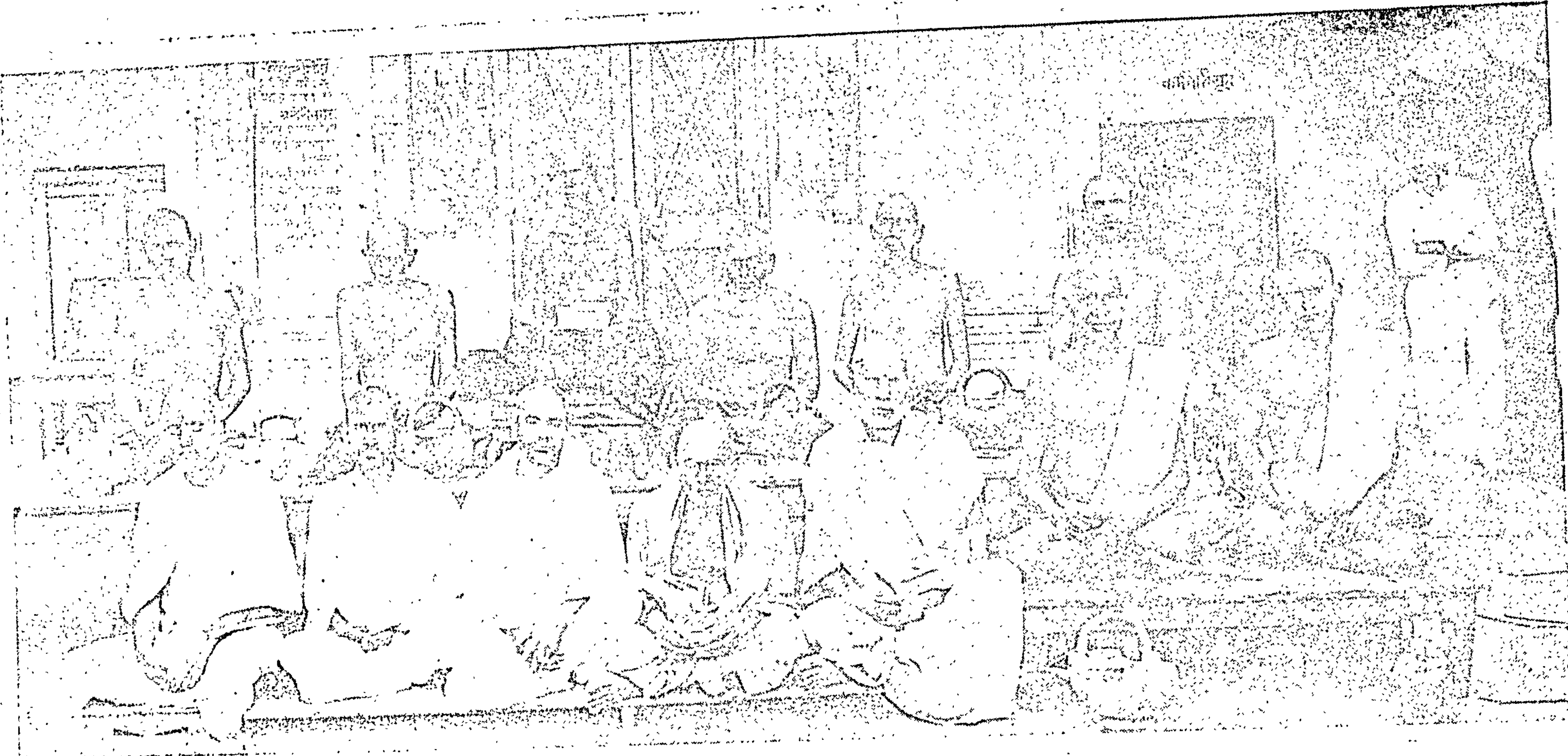
## [ श्री मांगीलालजी पांडया लाडनूं ]

श्री १०८ पूज्य आचार्य शिवसागरजी महाराज ने अपने तपस्वी जीवन में लोकोत्तर प्रतिष्ठा पाई। दो दो तीन तीन कभी पांच पांच उपवास आप चातुर्मास काल में करते हुये दिखाई देते थे। देह हड्डियों का ढांचा मात्र कृशित काय था। फिर भी आतमबल, साहस धैर्य के आप धनी थे। देह से निर्ममत्व व जितेन्द्रिय थे। रस त्याग तपस्विता ज्ञान ध्यान परायणता की गंध से समाज के व्यक्ति प्रभावित होने के साथ साथ लाभान्वित भी हुए। आपको जब कभी देखा स्वाध्याय रत दिखाई देते। ध्यानैक लीनता में रहते या माला जाप में। विकथा वाद की गंध तक नहीं थी। धर्म ध्यान में स्वाध्याय में सारा समय विभाजित रहता था। सम्पूर्ण संघ का सामूहिक स्वाध्याय भी दैनिक रूप से यहाँ आपकी उपस्थिति में चला करता था। संघ में बहुश्रुति विद्वान् सिद्धान्त पटु संस्कृतज्ञ श्री १०८ पूज्य श्रुत सागरजी, श्रीअजितसागरजी आदि सन्त थे, अन्य सन्तों को आपके प्रसाद से ज्ञान लाभ हुआ करता था। श्री ब्र० रतनचन्दजी मुख्त्यार साहब के संपर्क से कार्य में दो चाँद लग जाते थे।

संघ में स्वाध्याय प्रणाली की वह छटा प्रवृत्ति भी बेजोड़ थी, हृदयग्राही थी। इतने गुणों से ओत-प्रोत एक विशिष्ट सन्त को इस कराल काल ने हमारे बीच से उठा लिया जिसका हार्दिक दुःख अवर्णनीय है।

सम्वत् २०२५ की फाल्गुन बदी अमावस्या को दिन को ३। बजे की वेला ने श्री महावीरजी में उन्हें विलीन कर लिया। अतिशय क्षेत्र में नश्वर शरीर को छोड़ने वाली उनकी आत्मा सचमुच 'महावीर' बने इस शुभ कामना के साथ हम श्रद्धाभाव अर्पित करते है। आपके अन्तिम देह संस्कार की जगह श्री शान्तिवीर नगर महावीरजी में छत्री का निर्माण होकर चरण पादुका विराजमान हो जाने से दर्शक लोग निरन्तर समर्पित भावनाओं से अपने को कृतार्थ अनुभव करते रहेंगे। समिति,

× × ×

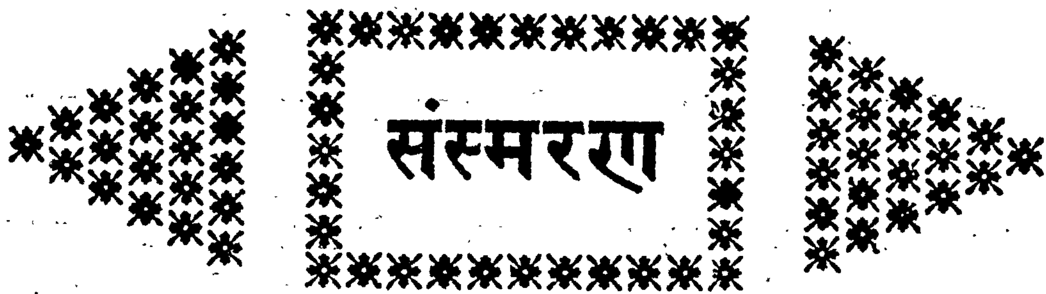


ससंघ स्व० पू० आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज

पू० श्री श्रुतसागरजी महाराज से विचार विमर्श करते हुए आचार्य श्री
[ पपौरा, सन् १९६४ ]

प्रातः स्मरणीय स्वर्गीय १०८ आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज के

सम्बन्ध में



# संस्मरण

## आचार्य शिवसागरजी महाराज का जीवनवृत्त

कुछ संस्मरणों के साथ

[ लेखक–पन्नालाल साहित्याचार्य सागर ]

——०——

अनादिकाल से चतुर्गति के चक्र में संचरण करने वाले जीव को उससे बचने का यदि कोई उपाय है तो वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता ही है। तत्त्वार्थसूत्र के प्रारम्भ में आचार्य उमास्वामी महाराज ने उद्घोष किया है—

'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः'

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही मोक्ष का मार्ग है। इन सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति में प्रमुख कारण होने से आगम में परमार्थ देव, शास्त्र और गुरु की उपासना का वर्णन किया गया है।

जिने भक्ति र्जिने भक्तिर्जिने भक्तिः सदास्तु मे।
सम्यक्त्वमेव संसारवारणं मोक्ष कारणम् ॥

मेरी सदा जिनेन्द्र भगवान् में भक्ति रहे; क्योंकि सम्यग्दर्शन ही संसार का निवारण करने वाला मोक्ष का कारण है।

श्रुते भक्तिः श्रुते भक्तिः श्रुते भक्तिः सदास्तु मे ।
सज्ज्ञानमेव संसार वारणं मोक्ष कारणम् ।।

मेरी सदा जिनागम में भक्ति रहे; क्योंकि सम्यग्ज्ञान ही संसार का निवारण करने वाला मोक्ष का कारण है ।

गुरौ भक्तिर्गुरौ भक्तिर्गुरौ भक्तिः सदास्तु मे ।
चारित्रमेव संसार वारणं मोक्ष कारणम् ।।

मेरी सदा निर्ग्रन्थ गुरु में भक्ति रहे; क्योंकि चारित्र ही संसार का निवारण करने वाला मोक्ष का कारण है ।

उपर्युक्त श्लोकों में देव, शास्त्र, गुरु को सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति का प्रमुख कारण बतलाया है। 'पूज्यानां गुणेष्वनुरागो भक्तिः' पूज्य पुरुषों के गुणों में अनुराग–सातिशय प्रेम होना भक्ति है। यद्यपि भक्ति शुभराग होने से पुण्य बन्ध का कारण कही गई है तथापि छठवें गुणस्थान की भूमिका तक उसे उपादेय कहा गया है। इसके आगे ध्यान की प्रमुखता होने से भक्ति का विकल्प स्वयं छूट जाता है। गृहस्थ और षष्ठ गुणस्थानवर्ती मुनि की भूमिका में पूर्ण वीतरागता की प्राप्ति होना संभव नहीं है। इसलिये अशुभराग से बचने के लिये उसे भक्ति रूप शुभ राग को प्राप्त करने का उपदेश दिया गया है ।

सम्यग्दृष्टि जीव तो अपनी भूमिका के अनुसार इस शुभराग को करता ही है परन्तु मिथ्यादृष्टि जीव भी मिथ्यात्व के मन्द उदय में देवशास्त्र गुरु की भक्ति रूप शुभराग को करता है। इतना होने पर भी दोनों के अभिप्राय में बड़ा अन्तर होता है। मिथ्यादृष्टि जीव की भक्ति का उद्देश्य रहता है भोगोपभोग की प्राप्ति करना और सम्यग्दृष्टि जीव की भक्ति का उद्देश्य रहता है स्वरूप की प्राप्ति द्वारा कर्मों का क्षय करना। संसार के अधिकांश प्राणी 'धम्मं भोगणिमित्तं कुव्वइ ण दु कम्मक्खय णिमित्तं' धर्म को भोग के निमित्त करते हैं कर्मक्षय के निमित्त नहीं। परन्तु यह निश्चित है कि जब तक धर्म के साथ भोग निमित्त का अभिप्राय संलग्न रहता है तब तक आचार्य उसे यथार्थ धर्म नहीं कहते। गुणभद्राचार्य ने आत्मानुशासन में कहा है—

अशुभाच्छुभमायातः शुद्धः स्यादय मागमात् ।
रवेरप्राप्तसन्ध्यस्य तमसो न समुद्गमः ।।१२२।।
विधूततमसो रागस्तपः श्रुतनिबन्धनः ।
सन्ध्याराग इवार्कस्य जन्तोरभ्युदयाय सः ।।१२३।।
विहाय व्याप्तमालोकं पुरस्कृत्य पुनस्तमः ।
रविवद्रागमागच्छन् पातालतल मृच्छति ।।१२४।।

अशुभ से शुभभाव को प्राप्त हुआ यह जीव आगम के अभ्यास से शुद्ध हो जाता है। जिस सूर्य को सांयकालीन संध्या प्राप्त नहीं है उसके अन्धकार की उत्पत्ति नहीं हो सकती। तात्पर्य यह है कि अशुभ भाव तो अन्धकार के समान सर्वथा हेय ही है, परन्तु शुभभाव शुद्धभाव की प्राप्ति में सहायक होने से उपादेय भी है। जिस प्रकार संध्याकालीन संध्या से रहित सूर्य के अन्धकार नहीं होता उसी प्रकार अशुभ भाव से रहित जीव के मिथ्यात्वरूप अन्धकार उत्पन्न नहीं होता।

जिस जीव ने मिथ्यात्वरूपी अन्धकार को नष्ट कर दिया है उसके तप और शास्त्र सम्बन्धी राग उस प्रकार अभ्युदय का कारण है। जिस प्रकार कि रात्रि सम्बन्धी अन्धकार को नष्ट करने वाले सूर्य के प्रातः संध्या सम्बन्धी राग अभ्युदय का कारण होता है। कवि लोग राग का वर्णन लाल किया करते हैं। सूर्य प्रातःकाल और सायंकाल के समय समान रूप से लाल होता है परन्तु दोनों समय की लालिमा का फल पृथक् पृथक् होता है। प्रातःकाल की लालिमा का फल प्रकाश की उत्पत्ति है और सायंकाल की लालिमा का फल अन्धकार की उत्पत्ति है। इसी प्रकार जीव के अशुभभाव रूपी राग संसार का कारण है और शुभभाव रूपी राग परम्परा से मोक्ष का कारण है अर्थात् शुभभाव के बाद शुद्धभाव रूपी साक्षात् मोक्ष मार्ग की प्राप्ति हो सकती है।

जब यह जीव व्याप्त प्रकाश—सम्यक्त्वरूपी विस्तृत प्रकाश को छोड़कर पुनः मिथ्यात्व रूपी अन्धकार को प्राप्त होता है तब पुनः सूर्य के समान लालिमा को प्राप्त होता हुआ पातालतल—नरकादि-गति को प्राप्त होता है अर्थात् जिस प्रकार सूर्य जब दिन के विस्तृत प्रकाश को छोड़ पुनः सायंकालीन लालिमा को प्राप्त होता है तब वह पातालतल को प्राप्त होता है—लौकिकदृष्टि से नीचे चला जाता है, उसी प्रकार जब यह जीव सम्यक्त्वरूपी विस्तृत प्रकाश को छोड़कर पुनः मिथ्यात्वरूपी अन्धकार को प्राप्त होता है तब रागरूप अशुभभाव को प्राप्त होता हुआ अधोगति को प्राप्त होता है। सारांश यह है कि अशुभभाव सर्वथा हेय ही है और शुद्धभाव सर्वथा उपादेय ही है; परन्तु शुभभाव अपेक्षावश हेय और उपादेय दोनों रूप है—अशुभभाव की अपेक्षा उपादेय है और शुद्धभाव की अपेक्षा हेय है।

शुभभाव की इसी भूमिका में वर्तमान दिगम्बराचार्यों में ख्याति प्राप्त दिवंगत श्री १०८ आचार्य शिवसागरजी महाराज के पुण्य जीवन पर कुछ प्रकाश डाला जाता है। आचार्य महाराज अत्यन्त निःस्पृह और मान सन्मान की भावना से अत्यन्त दूर रहते थे। एक बार उनके जीवन चरित को प्रकाशित करने की भावना से उनसे कुछ विशेष घटनाओं के विषय में पूछा गया तब उन्होंने कहा कि हमारा जीवन चरित छपाया तो मैं चर्या के लिये नहीं उठूंगा। फलतः उनके जीवन की विशेष घटनाएँ अन्धकार में हैं। घटनाएँ ही नहीं उनके जन्म की तिथि का भी प्रामाणिक परिज्ञान नहीं है। चर्चा में उन्होंने कहा था कि मैं सम्भवतः १९५८ विक्रम सम्वत् में उत्पन्न हुआ था पर किस माह की किस तिथि में उत्पन्न हुआ था, यह मुझे भी स्मृत नहीं है।

प्राकृतिक सुषमा और दिगम्बर मुनि धर्म की अविच्छिन्न धारा से विभूषित दक्षिण भारत के औरंगाबाद जिले के अन्तर्गत अडगाँव आपकी जन्मभूमि है। राँवका गोत्रीय श्री नेमीचन्द्रजी के घर दगड़ाबाई की कुक्षि से आपका जन्म हुआ था। आपने अपने जन्म से खण्डेलवाल जाति को गौरवान्वित किया था। आपका जन्म नाम हीरालाल था। पिता की आर्थिक स्थिति साधारण थी। आपके दो भाई और दो बहिनें थीं। बुद्धि के तीक्ष्ण थे परन्तु परिस्थिति के अनुसार शिक्षा के उपलब्ध साधनों से आप पूरा लाभ नहीं उठा सके।

औरंगाबाद जिले के ईरगाँव निवासी ब्र० हीरालालजी जो पीछे चलकर आचार्य वीरसागर नाम से प्रसिद्ध हुए, अतिशय क्षेत्र कचनेर में निःशुल्क विद्याध्ययन कराते थे, उन्हीं के पास आपने 'ओं नमः सिद्धेभ्यः' से अध्ययन प्रारम्भ किया। हिन्दी की तीन कक्षाओं और धर्मशास्त्र के साधारण ज्ञान तक ही आपका अध्ययन हो पाया था कि इसी बीच में प्लेग की बीमारी के कारण आपके माता पिता का एक ही दिन स्वर्गवास हो गया और इस तरह आप माता पिता की वात्सल्य पूर्ण छाया से सदा के लिये वञ्चित हो गये। बड़े भाई का विवाह हो चुका था परन्तु विवाह के कुछ समय बाद उनका भी देहान्त हो गया। फल यह हुआ कि १३ वर्ष की अल्प अवस्था में ही आपके शिर पर गृहस्थी के संचालन का भार आ पड़ा जिसे आपने अच्छी तरह सँभाला।

माता पिता तथा बड़े भाई के आकस्मिक वियोग ने आपके हृदय को संसार की स्थिति से सुपरिचित करा दिया इसलिये आपने गृहस्थी के दलदल में पड़ने का विचार भी नहीं किया। विवाह के अवसर आये पर आप उनसे बचते रहे। निकट भव्य जीवों को जो भी निमित्त मिलते हैं उनसे वे लाभ उठाते हैं। संकटापूर्ण गृहस्थी में रहते हुए भी आपका चित्त संसार से सदा विरक्त रहता था। जब आप २८ वर्ष के थे तब आपको दिवंगत आचार्य श्री शान्तिसागरजी महाराज के दर्शन करने का पुण्य अवसर प्राप्त हुआ। उनसे आपने यज्ञोपवीत धारण कर व्रत प्रतिमा ग्रहण की। स्वाध्याय के द्वारा अपने आत्मदर्शन में सदा तत्पर रहते थे।

अब तक इनके विद्यागुरु श्री हीरालालजी दिगम्बर दीक्षा धारण कर आचार्य वीरसागर नाम से प्रसिद्ध हो चुके थे। मुक्तागिरि सिद्ध क्षेत्र पर विक्रम सम्वत् १९९९ में आपने उनसे सप्तम प्रतिमा के व्रत ग्रहण किये। अब आप संघ के साथ ब्रह्मचारी के रूप में रहने लगे। शास्त्र स्वाध्याय तथा जैन ग्रन्थों के अध्ययन की रुचि पहले से ही थी अब वह अवसर पाकर अत्यधिक वृद्धि को प्राप्त हुई। 'ज्ञानं भारः क्रियां विना' क्रिया के बिना ज्ञान भार स्वरूप ही है। इस सिद्धान्त को हृदयंगम कर वे चारित्र के क्षेत्र में अग्रसर होने के लिये सदा उत्सुक रहते थे। उसी के फल स्वरूप उन्होंने सिद्धवरकूट क्षेत्रपर आचार्य वीरसागर से ही क्षुल्लक दीक्षा ले ली। आचार्य वीरसागरजी का इन पर पुत्रवत् धर्मस्नेह था। वे इनकी प्रवृत्ति को अच्छी तरह जानते थे इसलिये क्षुल्लक दीक्षा के समय इनका नाम शिव-

सागर रख दिया। एक हीरालाल आचार्य वीरसागर बने और दूसरे हीरालाल शिवसागर हो गये। गुरु और शिष्य का यह मधुर सम्बन्ध तब तक नहीं छूटा जब तक कि आचार्य वीरसागरजी की समाधि नहीं हो गई।

क्षुल्लक शिवसागरजी की अन्तरात्मा में वैराग्य रस की उज्ज्वल धारा प्रवाहित होती रहती थी अतः आषाढ शुक्ला एकादशी वि० सं० २००६ को नागौर में आपने दिगम्बर दीक्षा धारण कर ली। आचार्य वीरसागरजी महाराज में खास विशेषता यह थी कि वे संघस्थ साधुओं को स्वयं ही पढ़ाते थे और यह कहकर सदा उत्साहित करते रहते थे कि 'यह मानुष पर्याय सुकुल सुनिवौ जिनवानी' यह मनुष्य पर्याय, उत्तम कुल और जिनवाणी के श्रवण करने का अवसर बड़ी कठिनाई से प्राप्त होता है। यदि यह अवसर पुण्योदय से मिला है तो इससे पूर्ण लाभ उठाना चाहिये। आचार्य महाराज से उत्साह प्राप्त कर संघस्थ साधु बड़ी लगन के साथ अध्ययन करते थे। मुनि शिवसागरजी को १४ वर्ष तक उनके सन्निधान में रहने का अवसर प्राप्त हुआ और इस लम्बी अवधि में उन्होंने चारों अनुयोगों का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया। संस्कृत प्राकृत का भी अच्छा ज्ञान उन्हें प्राप्त था। आपको नाटक समयसार कलश, स्वयंभूस्तोत्र तथा प्रतिक्रमण आदि के संस्कृत प्राकृत पाठ कण्ठस्थ थे। यद्यपि मातृ भाषा मराठी थी तो भी हिन्दी में अच्छी तरह भाषण करते थे। प्रतिक्रमण और स्वाध्याय से जब भी आपको समय मिलता तब आप माला लेकर णमोकार मन्त्र का जाप करने लगते थे।

विक्रम संवत् २०१४ में आचार्य वीरसागर महाराज की समाधि हो जाने के बाद आपने आचार्य पद ग्रहण किया। समस्त संघ को साथ लेकर आपने श्री गिरनारजी सिद्धक्षेत्र की यात्रा की। आचार्य पद ग्रहण करने के बाद आपके निम्न स्थानों पर चातुर्मास हुए—

संवत् २०१५ में ब्यावर
" २०१६ में अजमेर
" २०१७ में सुजानगढ़
" २०१८ में सीकर
" २०१९ में लाडनूं
" २०२० में खानियाँ (जयपुर)
" २०२१ में पपौरा
" २०२२ में श्री महावीरजी
" २०२३ में कोटा
" २०२४ में उदयपुर
" २०२५ में प्रतापगढ़

आप यद्यपि शरीर से कृश थे तो भी आत्मबल से परिपूर्ण थे। परम तपस्वी थे। ४-५ दिन के उपवास कर जाना आपके लिये सरल काम था। भोजन में दूध के सिवाय समस्त रसों का आपके त्याग था। भोजन के बाद कभी आपके मुख से भोजन की चर्चा सुनने को प्राप्त नहीं हुई। आप स्वयं एक दिन के अन्तराल से चर्या के लिये निकलते थे पर संघ में सब साधुओं और माताजी का आहार निर्विघ्न हो गया इसकी चिन्ता रखते थे। संघ के सब लोग नियमानुकूल प्रवृत्ति कर रहे हैं या नहीं इस बात की देखभाल रखते थे। जो भी साधु या आर्यिका आपके संघ में आकर आपसे दीक्षित होते थे वे फिर अन्य संघ में जाने या एकाकी विहार करने की बात का विचार भी नहीं करते थे। इसीलिये आपका संघ दिन प्रतिदिन बढ़ता ही जाता था। संघ की विशालता के कारण यद्यपि आपको कुछ आकुलता का अनुभव भी करना पड़ता था तो भी आप किसी साधु या आर्यिका से अन्यत्र जाने की बात नहीं कहते थे। एकबार मैंने उनसे कहा भी कि महाराजजी ! इतने बड़े संघ को लेकर चलने में आपको आकुलता अधिक दिखती है तथा श्रावकों को भी व्यवस्था में कठिनाई का अनुभव होता है इसलिये अच्छा हो कि इसके दो तीन भाग कर दिये जावें। इसके उत्तर में उन्होंने यही कहा कि जो व्यक्ति आत्मकल्याण की श्रद्धा से हमारे संघ में आया है उससे मैं कैसे कह दूं कि आप मेरे साथ न रह कर अन्यत्र जाइये। स्वयं जो चला जावे उसे मैं रोकता नहीं हूं। उनकी इसी भावना के कारण उनका यह संघ समस्त संघों में बड़ा संघ कहलाता था। संघ में यदि भेद हुआ है तो उनकी समाधि के अनन्तर ही हुआ है। आचार्य पद ग्रहण करने के बाद आपसे जिन साधुओं और माताओं ने दीक्षा ग्रहण की है उनका कुछ विवरण यहां दिया जाता है—

श्री गिरनारजी में—चन्द्रमतीजी, पद्मावतीजी ( आर्यिका ) राजुलमतीजी ( क्षुल्लिका )

खानियां जयपुर— ज्ञानसागरजी ( मुनि ) भव्यसागरजी ( ऐलक ) नेमामतीजी ( क्षुल्लिका )

अजमेर— ऋषभसागरजी ( क्षुल्लक ) संभवमतीजी ( क्षु० )

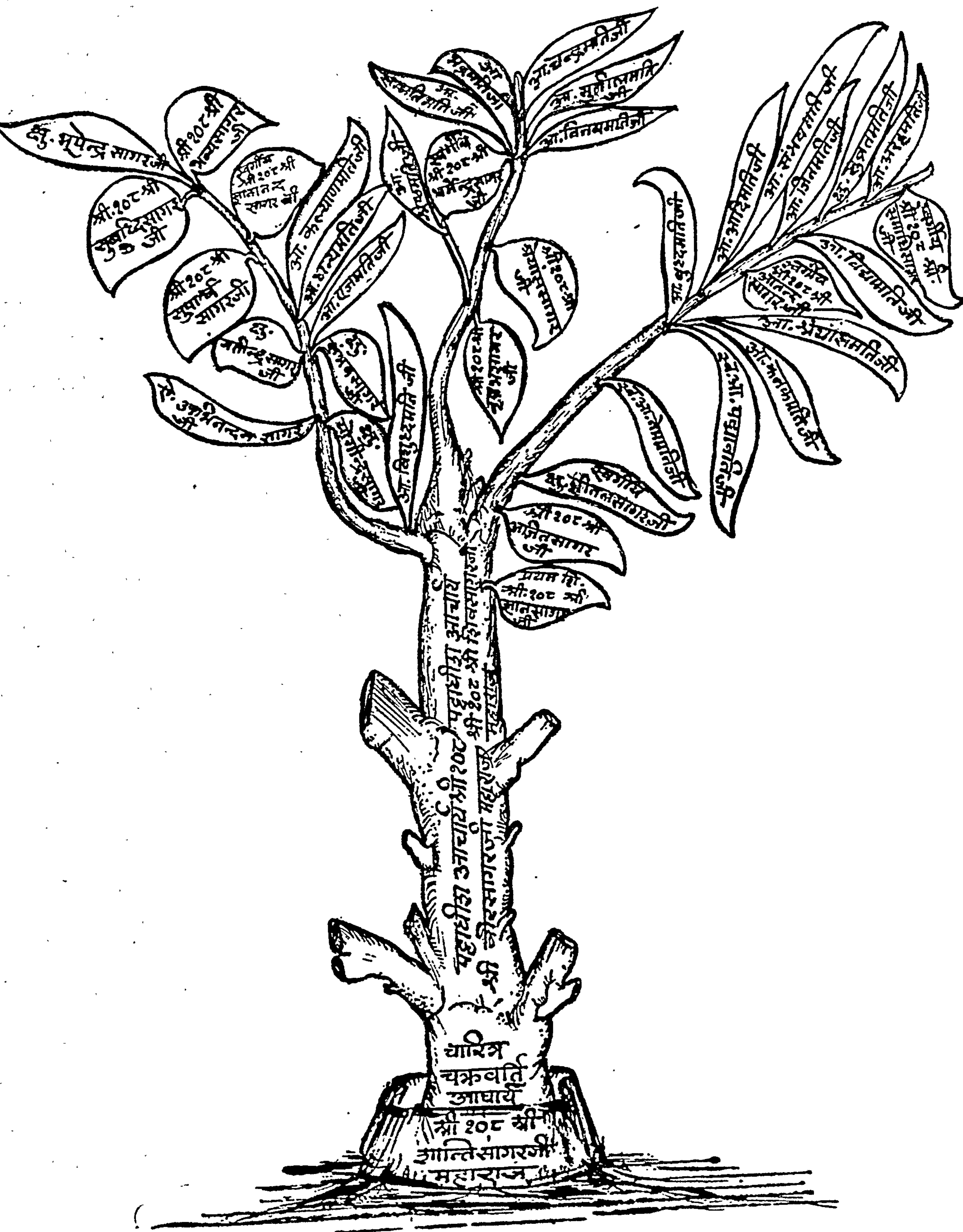
सुजानगढ़— ऋषभसागरजी, भव्यसागरजी ( मुनि ) नेमामतीजी, विद्यामतीजी ( आ० )

सीकर— अजितसागरजी ( मुनि ) सुपार्श्वसागरजी ( क्षुल्लक ) बुद्धिमतीजी, जिनमतीजी, राजुलमतीजी, संभवमतीजी तथा आदिमतीजी ( आ० ) श्रेयांसमतीजी ( क्षु० )

खानियां जयपुर— सुपार्श्वसागरजी ( मुनि )

पपौराजी— निर्मलमतीजी ( आ० ) संभवसागरजी, शीतलसागरजी ( क्षुल्लक ) सुव्रतमतीजी ( क्षु० )

श्री महावीरजी— श्रेयांससागरजी ( मुनि ) अभयमतीजी, श्रेयांसमतीजी, कनकमतीजी ( आ० ) [illegible]मतीजी ( क्षु० ) सुशीलमतीजी, सन्मतिमतीजी, धन्यमतीजी ( क्षु० )


चारित्र
चक्रवर्ति
आचार्य
श्री १०८ श्री
शान्तिसागरजी
महाराज
क्षु. भूपेन्द्र सागरजी
आ. विनयमतिजी
आ. पद्मावतीजी

कोटा— भद्रमतीजी, कल्याणमतीजी, सुशीलमतीजी, सन्मतीजी, धन्यमतीजी, विनयमतीजी ( आ० )

उदयपुर— सुबुद्धिसागरजी, यतीन्द्रसागरजी, धर्मेन्द्रसागरजी, भूपेन्द्रसागरजी, योगीन्द्रसागरजी ( क्षुल्लक )

सलूम्बर— सुबुद्धिसागरजी ( मुनि )

बाँसवाड़ा— अभिनन्दनसागरजी ( ऐलक )

जिस श्रावक और श्राविका को आप दीक्षा देते थे उसके अन्तरात्मा की परख करने की आपमें अद्भुत क्षमता थी। यही कारण रहा कि आपकी शिष्य परम्परा में कोई ऐसा नहीं हुआ कि जिसने आचार परम्परा को दूषित किया हो। पपौराजी में आपने जिन क्षुल्लक शीतलसागरजी को क्षुल्लक की दीक्षा दी थी वे सागर के रहने वाले एक साधारण व्यक्ति थे। ज्ञान भी अधिक नहीं रखते थे। जब मैंने सुना कि वे पपौराजी में क्षुल्लक हो गये हैं तब मुझे आश्चर्य हुआ और मेरे मन में आया कि आचार्य महाराज तो चाहे जिसको दीक्षा दे देते हैं। परन्तु आगे चलकर उन्हीं क्षुल्लक शीतलसागरजी ने मुनि दीक्षा ली तथा टोंक में यम सल्लेखना लेकर समाधि प्राप्त की तब मुझे लगा कि महाराजजी की अन्तरात्मा के परखने की शक्ति बहुत प्रबल थी। जिस व्यक्ति को वे परख लेते थे उसे दीक्षा देने में विलम्ब नहीं करते थे परन्तु जो उनकी दृष्टि में ठीक नहीं उतरता था उसे वे टालते रहते थे और जब तक उसे परिपक्व नहीं कर लेते थे तब तक दीक्षा नहीं देते थे।

विशुद्धमतीजी ( आ० ) सागर की रहने वाली सुमित्रा बाई हैं सागर में उन्होंने अध्ययन अध्यापन किया तथा गार्हस्थिक सम्बन्धों में भी वे मेरे निकट की हैं। जब पपौरा में उनकी दीक्षा का अवसर आया और मुझे इसका पता चला तब मैंने आचार्य महाराज को एक पत्र लिखा कि आप इन्हें कम से कम छह माह तक संघ में रख कर सरदी गरमी सहन करने का अभ्यास करा लीजिये फिर दीक्षा दीजिये। परन्तु मेरे पत्र के विरुद्ध उन्हें दीक्षा देने की घोषणा हो गई। दीक्षा समारोह में बहुत लोग गये परन्तु निकटस्थ होने पर भी मैं नहीं गया। नहीं जाने का कारण मात्र यही एक था कि मेरी दृष्टि में आचार्य महाराज उन्हें शीघ्रता से दीक्षा दे रहे थे। दीक्षा हो चुकी। दो माह बाद जब मैं पपौरा गया तब आपने एक दिन एकान्त में मेरे पत्र की चर्चा करते हुए कहा कि मैंने बिना समझे दीक्षा नहीं दी है। शुभ कार्य में विलम्ब करना अच्छा नहीं होता। मैं समझता हूँ कि इस माताजी में अपना पद निर्वाह करने की योग्यता है और यह इस पद को निभाती हुई अपना तथा दूसरे का भी कल्याण करेगी। मैंने देखा कि महाराज की वाणी सत्य सिद्ध हुई है।

आपको अपना आचार पालन करने में रन्च मात्र भी प्रमाद नहीं था। मेरा सर्वप्रथम परिचय खानियाँ ( जयपुर ) में हुआ था। आपका ससंघ चातुर्मास हो रहा था, पर्यूषण पर्व में शास्त्र प्रवचनार्थ मुझे आमन्त्रित किया गया था। मुनिसंघ में कभी जाने का अवसर नहीं मिला था इसलिये मन में संकोच

था परन्तु सागर में चातुर्मास हो जाने से श्री धर्मसागरजी, सन्मतिसागरजी और पद्मसागरजी महाराज से परिचय हो जाने के कारण उस समय खुरई ( सागर ) में चातुर्मास करते हुए धर्मसागरजी और सन्मतिसागरजी से मैंने पत्र द्वारा पूछा कि खानियाँ से निमन्त्रण आया है, जाऊं या नहीं ? उन्होंने पत्र का उत्तर भिजवाया कि अवश्य जावें, स्वर्ण योग प्राप्त हुआ है। वहाँ जाने से आपको पूर्ण सन्तोष होगा महाराज की सम्मति पाकर मैं खानियाँ चला गया। घर में ज्येष्ठ पुत्र का स्वास्थ्य खराब था और उसे अस्पताल में रखे हुए था पर उस स्थिति में भी मैं खानियाँ चला गया। इस प्रवास में २० दिन के लगभग लग गये। श्री ब्र० लाडमलजी के साथ सागर से ही परिचय था और उन्हीं के परिचय के कारण संभवतः वहाँ मुझे बुलाया गया था। आचार्य महाराज के विचार विमर्श और स्वाध्याय में सब प्रकार का योग देने वाले श्री श्रुतसागरजी महाराज थे। पहले ही दिन मुझे समयसार का

सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परम भाव दरिसीहिं।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे ।।

गाथा देते हुए उन्होंने कहा पण्डितजी इस गाथा का भाव जम नहीं रहा है जमा दीजिये। मैं गाथा का अर्थ करने लगा तो आप बोले कि अब तो संध्याकालीन प्रतिक्रमण का समय निकट है इसलिये प्रातःकाल बताइये। समयसार की पुस्तक देते हुए उन्होंने कहा। मैंने रात्रि में उक्त गाथा को दोनों टीकाओं के आधार पर जमा कर प्रातःकाल जब स्वाध्याय के लिये बैठे तब इसका अर्थ स्पष्ट किया।

समयसार की यह गाथा समयसार में प्रवेश करने वाले वक्ता और श्रोता के लिये साइन बोर्ड का काम देती है। इस बोर्ड को देखे बिना वक्ता और श्रोता दोनों ही भटक सकते हैं। मैंने अपने मन में समझा कि प्रवचन प्रारम्भ होने के पूर्व ही इस गाथा का अर्थ पूछकर महाराज जी ने मुझे गूढ देशना दी है कि देखो, आपको यहाँ प्रवचन करना है इसलिये ऐसा न हो कि आप समाज में एक ओर से प्रवाहित होनेवाली शुद्ध नय की धारा में अथवा दूसरी ओर से प्रवाहित होनेवाली व्यवहार नय की धारा में प्रवाहित हो जावो किन्तु पात्र की योग्यता देखकर उभयनय सम्मत प्रवचन करना लाभप्रद होगा। वस्तुतः स्थिति ऐसी ही है, जिनवाणी का हार्द यही है, आत्मा के अनादिकालीन व्यामोह को वही व्यक्ति दूर कर सकता है जो श्री अमृतचन्द्रसूरि के निम्नाङ्कित वचन पर पूर्ण ध्यान रखता है—

उभयनय विरोधध्वंसिनि स्यात्पदाङ्के
जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहाः।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चैं-
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एव ।।

यदि किसी विद्वान् से इस प्रकार कहा जाय कि आप ऐसा बोलिये, वैसा बोलिये, तो वह अपना अपमान समझता है। क्या मैं बोलना भी नहीं जानता जिससे मुझे बच्चों की तरह बोलने की कला सिखलाई जाती है। पर मेरे सामने जिज्ञासा भाव से समयसार की उपर्युक्त गाथा रखी गई। मैं समझ गया कि यह बुद्धिमत्तापूर्ण रीति से मुझे एक हितावह संकेत दिया गया है। विद्वान् होने के नाते कई स्थानों पर पर्युषण पर्व में प्रवचन के लिये गया हूँ पर उस वर्ष प्रबुद्ध मुनिसंघ के बीच प्रवचन करने में जो अन्तरङ्ग में विशुद्धता और प्रमोद का भाव उत्पन्न हुआ वह अन्यत्र उत्पन्न नहीं हुआ। यह मैंने 'खानियाँ● एक तपोवन' शीर्षक लेख द्वारा उस समय जैन संदेश में प्रकाशित भी किया था।

श्री १०८ आचार्य शिवसागरजी तथा श्रुतसागरजी एक छोटे कमरे में स्वाध्याय के लिये बैठते थे। मैं भी उसमें पहुँचने लगा। एक स्वाध्याय समाप्त होने के बाद ग्रन्थ को यथा स्थान विराजमान करने का प्रसंग था। विराजमान करने का स्थान बिलकुल ही पास था और बैठे बैठे ही ग्रन्थ हाथ में उठाकर उस स्थान पर सरका कर रखा जा सकता था। मेरी मुद्रा से महाराज को कुछ ऐसा आभास मिला कि यह ग्रन्थ को बैठे बैठे ही सरका देना चाहते हैं। उन्होंने तत्काल उठकर पीछी से ग्रन्थ का तथा जहाँ रखा जाना था उस स्थान का मार्जन कर स्वयं ग्रन्थ को विराजमान किया। यद्यपि पास बैठे हुए दूसरे लोगों को इसका कुछ आभास नहीं हुआ पर मुझे अपने प्रमाद भाव पर मन ही मन बहुत पश्चाताप हुआ और यह देखकर कि महाराज आदाननिक्षेपण समिति का पालन कितनी सूक्ष्मता से करते हैं, मन में बड़ा हर्ष हुआ।

उस समय खानियाँ में श्री क्षुल्लक सुपार्श्वसागरजी ३२ दिन का उपवास कर रहे थे। आठ दिन बाद मात्र जल लेते थे। उपवास के दिनों में वे अन्त अन्त तक अपनी दिन चर्या का पालन करने में सावधान रहते थे। शास्त्र प्रवचन में ३ घण्टे तक एक आसन से बैठे रहते थे, सामायिक आदि कार्य भी वे यथा समय करते थे उनकी इस अलौकिक शक्ति पर मुझे मन में बड़ा आश्चर्य होता था। एक दिन आचार्य महाराज पर्यूषण के बाद जंगल में स्थित एक मन्दिर में संघ सहित गये। मुझे भी वहाँ जाने का प्रसंग मिला, महाराज रात्रिभर वहीं रहे दूसरे दिन प्रातः जब आपका भाषण हुआ तब उसका विषय आपने लिया 'भक्ति से शक्ति'।

प्रवचन करते हुए उन्होंने कहा कि मनुष्य अन्न का कीड़ा है एक दो दिन की बात तो कौन कहे एक समय भी उसे भोजन न मिले तो उसका शरीर कुम्हला जाता है परन्तु अन्तरंग में यदि भक्ति का झरना प्रवाहित है तो उससे आत्मा में अनन्त शक्ति प्रकट हो जाती है। आत्मा अनन्तबल का धर्म है यह जिनागम में लिखा है। भगवान् बाहुबली आहार पानी के बिना एक वर्ष तक एक स्थान पर प्रतिमा योग से खड़े रहे उनका भी तो औदारिक शरीर था, पर उन्हें आहार की आवश्यकता नहीं हुई। भगवान् आदिनाथ को दीक्षा लेने के बाद आहार ग्रहण करना पड़ा, पीछे केवलज्ञान प्राप्त हुआ परन्तु बाहुबली और भरत को दीक्षा लेने के बाद आहार लेना ही नहीं पड़ा और सीधा केवलज्ञान प्राप्त हो गया।

● २६ सितम्बर १९६३ अङ्क २४।

केवलज्ञान होने पर तो आहार की चर्चा ही नहीं उठती है। जनेन्द्र देव के माध्यम से आत्मा के अनन्तवल की ओर लक्ष्य देने से ही सच्ची शक्ति प्रकट होती है।

एक दिन पूजा के आठ द्रव्यों का विवेचन करते हुए आपने अक्षत का बड़ा सुन्दर विश्लेषण किया। उन्होंने कहा कि आचार्यों ने गेहूँ आदि अन्न को पूजा की सामग्री में सम्मिलित न कर अक्षत को ही क्यों शामिल किया? अक्षत के द्वारा आचार्य, भक्त को भेद विज्ञान का अभ्यास कराते हैं। जिस प्रकार धान का छिलका और चाँवल अलग है उसी प्रकार शरीर और आत्मा अलग अलग है। जिस प्रकार धान का छिलका दूर किये विना चाँवल के ऊपर का मैल दूर नहीं किया जा सकता उसी प्रकार बाह्य परिग्रह का त्याग किये विना अन्तरंग परिग्रह नहीं छोड़ा जा सकता। जो यह कहते हैं कि अन्तरंग में राग नहीं होना चाहिये वहिरंग में वस्त्रादि परिग्रह रह भी जावे तो इससे मोक्षमार्ग में बाधा नहीं पड़ती। उनका यह कहना आत्म वञ्चना ही है। यदि सचमुच ही अन्तरंग का राग नष्ट हो गया है तो शरीर के ऊपर वस्त्र का आवरण रह नहीं सकता। मनुष्य अन्तरंग की निर्बलता को छिपाने के लिए ही वस्त्र का आवरण स्वीकृत करता है। पूजा करते समय आत्मस्वरूप की ओर भी लक्ष्य दिया जा सके ऐसा प्रयत्न आचार्यों ने किया है।

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्त गुणत्त पज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं॥

अरहन्त को जानने का प्रयोजन आत्मा को जानना है और आत्मा को जानने का प्रयोजन उसके मोह आदि विकारी भावों को दूर करना है। दर्पण में अपना मुख देखकर भी जिसने उसका कालोंस दूर नहीं किया, उसका दर्पण देखना निरर्थक है। न केवल अक्षत की, किन्तु प्रत्येक द्रव्य की संगति वे बड़े अच्छे ढंग से बैठाते थे।

समाज में चल रहे द्वन्द्व से वे अन्तरंग में दुखी रहते थे, वे कहा करते थे कि लोग वीतराग विज्ञान की तो बात करते हैं पर आचरण ऐसा करते हैं जिसमें राग ही राग प्रकट होता है। यदि सचमुच ही वीतराग विज्ञान के प्रति अभिरुचि प्रकट हुई है तो पक्षव्यामोह और लोकैषणा का भाव क्यों बना हुआ है? ज्ञानी जीव को पक्षव्यामोह और लौकिक वाहवाही की इच्छा नहीं होना चाहिये। जिनागम में निश्चय नय का उपदेश है और व्यवहार नय का भी उपदेश है पात्र की योग्यता को देखकर आचार्यों ने दोनों नयों का निरूपण किया है पर आज के विद्वान् अनेकान्त धर्म की जय तो बोलते हैं पर चेष्टा एकान्त धर्म के उपासक की तरह करते हैं। तत्त्व तो निर्भ्रान्त ही है यदि उसके समझने में कहीं भूल हो रही है तो परस्पर की चर्चा के द्वारा उसे मिटाकर विसंवाद दूर करना चाहिये। उस समय शास्त्रिपरिषद् की स्थापना नहीं हुई थी अतः विद्वत्परिषद् के मन्त्री होने के नाते उन्होंने पं० लालमलजी के द्वारा हमारे पास यह खबर भिजवाई कि विद्वत्परिषद् एक ऐसा आयोजन करे जिसमें विद्वान् लोग विवादस्थ विषयों का चर्चा करके निर्णय कर समाज के लिये एक निर्णयात्मक पथ का प्रदर्शन करें।

मैं विद्वत्परिषद् की अन्तरंग स्थिति से परिचित था इसलिये मैंने उत्तर दिया कि विद्वत्परिषद् में नाना विचार धाराओं के विद्वान् हैं अतः चर्चा के समय विसंवाद उत्पन्न होने की आशङ्का है। फिर कुछ विद्वान् ऐसे भी हैं जो विद्वत्परिषद् के आयोजन में सम्मिलित नहीं होना चाहते। इस स्थिति में विद्वत्परिषद् आयोजन करने में असमर्थ है। इस उत्तर के बाद आयोजन की चर्चा मन्द पड़ गई परन्तु खानियाँ में जब मैं १५-२० दिन रहा तब आचार्य महाराज ने इस चर्चा को स्वयं उठाया और मेरी आशङ्का का उत्तर देते हुए उन्होंने कहा कि अपना अभिप्राय यदि निर्मल है तो कोई विसंवाद उत्पन्न नहीं होगा। विद्वत्परिषद् अपनी आधीनता में यह आयोजन नहीं करना चाहती है तो स्वतन्त्र रूप से इसका आयोजन किया जा सकता है। आचार्य महाराज का संकेत पाकर श्री हीरालालजी पाटनी निवाई, आयोजन के समस्त व्ययभार को उठाने के लिये तैयार हो गये फलतः इस ऐतिहासिक आयोजन की व्यवस्था की गई। खानियाँ ( जयपुर ) में ही यह आयोजन किया गया। आचार्य महाराज अपने संघ सहित इस चर्चा में शामिल होते थे। आचार्य महाराज की विशुद्ध भावना का ही फल था कि वह आयोजन निर्विघ्न समाप्त हुआ था। समाज के आलोचक विद्वान् श्री पं० कैलाशचन्द्रजी ने उस चर्चा के सम्बन्ध को लेकर जैन सन्देश ( अङ्क ७ नवम्बर १९६३ संख्या ३१ ) में जो सम्पादकीय लेख प्रकाशित किया था उसका यह अंश देखिये।

'इस चर्चा के मुख्य आयोजक तथा मुनि संघ को हम एक दम तटस्थ कह सकते हैं, उनकी ओर से हमने कोई ऐसा संकेत नहीं पाया कि जिससे हम कह सकें कि उन्हें अमुक पक्ष का पक्ष है। और इस तटस्थ वृत्ति का चर्चा के वातावरण पर अनुकूल प्रभाव रहा है। चर्चा के मुख्य आयोजक सेठ हीरालालजी निवाई तथा ब्र० लाडमलजी का सेवाभाव और सद्व्यवहार सर्वथा आदरणीय और प्रशंसनीय है। सेठ हीरालालजी जैसा सेवाभावी धनिक, जैन समाज में कम से कम हमने तो नहीं देखा। उनको कार्य करते हुए देखकर कोई यह नहीं कह सकता था कि इस चर्चायज्ञ के मुख्य होता यह हैं। ऐसा कोई कार्य नहीं है जिसे वह स्वयं न करते हों। उनका प्रयास और सेवा अभिनन्दनीय है।'

'मुनि संघ में आचार्य श्री से लेकर सभी मुनिगण मुझे बहुत भद्र परिणामी प्रतीत हुए। साथ ही ज्ञान के प्रति उनकी जिज्ञासा वृत्ति और गुणी जनों के प्रति प्रमोदभाव भी मैंने देखा। श्री श्रुतसागरजी महाराज से भी यह ज्ञात हुआ कि संघ पन्थ भेदों की बातों पर ध्यान नहीं देता है और जहाँ जिस पन्थ का चलन है वहाँ उस पन्थ के चलन के प्रति उसे कोई विरोध नहीं है।'

मुनि संघ अपनी परम्परा के अनुसार बीस पन्थ का पोषक है परन्तु मैंने देखा कि खानियाँ के जिस मन्दिर में इनका निवास था वह तेरा पन्थ आम्नाय का था। वहाँ पूजा प्रक्षाल आदि की सभी विधि तेरा पन्थ की आम्नायानुसार होती थी। संघ के लोग अपने साथ में रहने वाली प्रतिमा की पूजा अलग से करते थे। मैं स्वयं तेरा पन्थ आम्नाय वाला हूँ अतः मेरे लिये तेरा पन्थ के आम्नायानुसार तैयार

की हुई पूजा की थाली वेदी पर लगी मिलती थी। कभी किसी प्रकार का विसंवाद देखने में नहीं आया। और न इसकी चर्चा भी सुनने में आई।

वही समय चातुर्मास की समाप्ति का भी था। प्रातः काल के समय चातुर्मासिक प्रतिक्रमण की समाप्ति पर आपका जो संक्षिप्त किन्तु सारपूर्ण भाषण हुआ था वह अन्तरंग को हिला देने वाला था। उन्होंने कहा था कि चर्मचक्षु के द्वारा दूसरे के दोष दिखते हैं और ज्ञानचक्षु के द्वारा अपने दोष। चर्मचक्षु अपने आप में लगे हुए कालोंस को नहीं देख सकता जब कि वह दूसरे की कालोंस को बड़ी खूबी के साथ देखता है। ज्ञानचक्षु का लक्ष्य अपना दोष देखना है। जिसने दूसरे के दोष देखने की अपेक्षा अपना दोष देख लिया वह संसार सागर से पार हो गया। समन्तभद्र के—

ये परस्खलितोन्निद्राः स्वदोषेभनिमीलिनः।
तपस्विनस्ते किं कुर्युरपात्रं त्वन्मतश्रियाः॥

जो दूसरे के दोष देखने में उनींदे हैं—जागरूक हैं, पर अपने हाथी जैसे विशाल दोषों के देखते समय नेत्र बन्द कर लेते हैं वे बेचारे क्या कर सकते हैं? वे तो जिनधर्म के अपात्र ही हैं। जिनधर्म उन्होंने समझा ही नहीं है।

प्रतिक्रमण, मात्र पाठ कर लेने से पूरा नहीं होता किन्तु दोषों को समझ कर उन्हें दूर करने से ही पूरा होता है। दोष दूर तभी किये जा सकते हैं जब उन्हें देखा जाय। विनोदपूर्ण मुद्रा में उन्होंने कहा कि आज के लोग तो भगवान् से भी कहते हैं—

'मेरे अवगुण न चितारो प्रभु अपनो विरद निहारो'

भगवन् आप मेरे अवगुण न देखिए, मैं क्या कर रहा हूँ, यह मत सोचिये, आप तो अपना सुयश देखिये। अर्थात् मैं पाप करने के लिये अपने आपको स्वतन्त्र रखते हूँ। ऐसी स्थिति में कैसे इस जीव का कल्याण होगा। चार माह में जो अपराध हमसे हुए हैं, अपने ज्ञानस्वभाव से च्युत होकर पर पदार्थों में जो हमने अपना उपयोग लगाया है तथा बाह्य में चरणानुयोग की पद्धति से आचार के पालन करने में हमने जो दोष हुए हैं उनके प्रति हमारे हृदय में पश्चाताप है, उन सब दोषों को दूर करने का हमारा भाव है। हे भगवन्! हमारा वह सब अपराध मिथ्या हो। जब तक यह जीव अपराध को अपराध समझ कर करता है तब तक उस जीव के सुधरने की आशा रहती है पर जब यह जीव अपराध को अपराध न मानकर कर्तव्य मानने लगता है तब उसका सुधरना कठिन हो जाता है। प्रतिक्रमण, प्रमाद या अज्ञान वश किये हुए दोषों का होता है बुद्धि पूर्वक-ज्ञानभाव से किये हुए दोषों का क्या प्रतिक्रमण? इस स्थिति में पुनर्दीक्षा ही लेनी पड़ती है।

इसी दिन अपराह्न को श्री क्षुल्लक सुपार्श्वसागरजी की मुनि दीक्षा का समारोह था। मन्दिर के बाहर विशाल प्राङ्गण में दीक्षा समारोह का आयोजन किया गया था। आठ दस हजार जन

समूह के बीच दीक्षा देने का कार्य प्रारम्भ हुआ। तत्वचर्चा के कारण विद्वानों का जमाव अच्छा था। प्रमुख विद्वानों के भाषणों के बाद श्री पूज्य आचार्य शिवसागरजी महाराज का वैराग्यवर्धक प्रवचन हुआ था। आपने कहा था कि जिस प्रकार नदी से पार होने के लिये एक घाट आवश्यक होता है क्योंकि ऊबड़ खाबड़ स्थानों से नदी पार नहीं की जा सकती उसी प्रकार संसार सागर से पार होने के लिये एक घाट होता है और वह घाट है मनुष्य पर्याय। घाट पर पहुंच कर भी कोई नहीं पार करे तो यह उसका दुर्भाग्य समझा जाता है इसी प्रकार मनुष्य पर्याय पाकर भी यदि किसी ने संसार सागर को पार करने का प्रयास नहीं किया तो यह उसका दुर्भाग्य ही समझना चाहिये।

रागद्वेष के दलदल में फँसा प्राणी उसी में अनादिकाल से छटपटा रहा है उससे निकलने का एकमात्र उपाय यही है कि अपनी विषयाशा को वश में रखा जाय। विषयाशा को वश में रखने से आरम्भ और परिग्रह अपने आप छूटने लगता है और जिसका आरम्भ तथा परिग्रह छूट जाता है वह ज्ञान ध्यान और तप के रङ्ग में स्वयं रंग जाता है। सुपार्श्वसागर वही क्षुल्लक थे जिन्होंने भाद्र मास में ३२ उपवास किये थे। आचार्य महाराज के द्वारा ऐसे तपस्वी की दीक्षा का समारोह देख कर प्रत्येक दर्शक की आत्मा आनन्द से विभोर हो रही थी। पं० कैलाशचन्द्रजी वाराणसी ने समारोह के अन्दर 'ते गुरु मेरे उर वसौ' का सुरीले कण्ठ से पाठ करते हुए भावना प्रकट की थी कि मेरी भावना यही रहती है कि इस समय नहीं तो देर सवेर जब भी शक्ति प्राप्त होगी मुनिपद अवश्य धारण करूंगा।

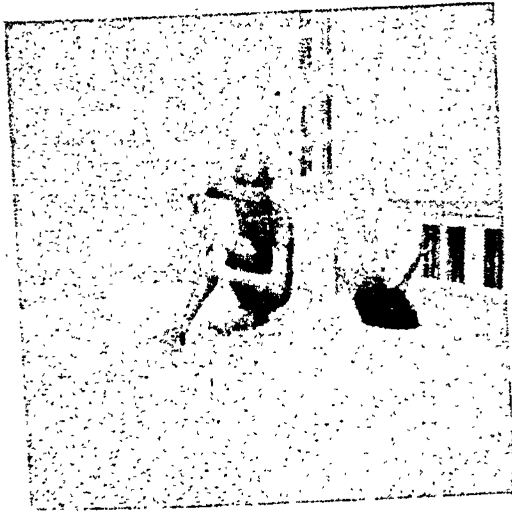
खानिया चातुर्मास के बाद आपने मध्यप्रदेश में पदार्पण किया और देवगढ़, चंदेरी, ललितपुर महरौनी, टीकमगढ़ आदि में धर्मामृत की वर्षा करते हुए पपौरा अतिशय क्षेत्र में आपका चातुर्मास हुआ। मैं चाहता था कि आपका यह चातुर्मास सागर में हो और इसी उद्देश्य से देवगढ़ तथा महरौनी गया था परन्तु चौमासा के निकट काल में श्री पूज्यवर आचार्यकल्प श्रुतसागरजी महाराज का स्वास्थ्य खराब हो गया इसलिये सागर तक पहुँचना असंभव हो गया।

पपौरा भी बड़ा आकर्षक अतिशय क्षेत्र है टीकमगढ़ से मात्र ३ मील की दूरी पर ७५ जिनमंदिरों से विभूषित क्षेत्र अपना प्रमुख स्थान रखता है। टीकमगढ़ की धर्मपरायण जनता ने चातुर्मास की सुन्दर व्यवस्था की। कितने ही लोगों ने स्वयं व्रत ग्रहण किये। यहीं पर सुमित्राबाईजी की आर्यिका दीक्षा का समारोह हुआ था। दीक्षोपरान्त आपका विशुद्धमती नाम रखा गया। आपकी वक्तृत्व कला उत्तम है। आपका क्षयोपशम पहले भी अच्छा था परन्तु अब तपश्चरण का सुयोग मिलने से उसमें और भी वृद्धि हुई है। सिद्धान्त ग्रन्थों का गहन अध्ययन कर आपने अपने ज्ञान को परिपक्व बना लिया है। संघस्थ मुनि श्री १०८ श्रुतसागरजी और श्री १०८ अजितसागरजी निरन्तर स्वाध्याय चर्चा में निमग्न रहते हैं इनके पास आगम ग्रन्थों का अध्ययन कर कितने ही विषयों की संदृष्टियाँ तैयार की हैं। टीकमगढ़ की जनता ने आचार्य महाराज की स्मृति में पपौरा क्षेत्र पर 'शिवसागर प्रवचन हाल' का निर्माण कराया है।

उस समय मैं अष्टपाहुड का संपादन कर रहा था इसी प्रसङ्ग में एक दो बार वहाँ जाने का अवसर मिला। एक बार लगातार चार दिन तक रहा। अनेक विषयों पर चर्चाएं हुईं। पपौरा से श्री सिद्धक्षेत्र, द्रोणगिरि तथा नैनागिरि होते हुए आपका सागर में पदार्पण हुआ। विशाल मुनिसंघ, नगर में पधार रहा है इस कारण जनता में उल्लास अधिक था। कई हजार नर नारी स्वागत के लिये नगर से बाहर एक दो मील तक गये थे। संघ आकर वर्णीभवन में ठहरा।

वर्णीभवन, पूज्यवर्णीजी की साधना भूमि है। वर्णीजी के स्मरणार्थ इसके प्राङ्गण में ७५×७५ फुट के विस्तार में वर्णीस्मृति भवन का निर्माण उस समय हो रहा था। नीचे का खण्ड बन चुका था दूसरे खण्ड के निर्माण के लिये आचार्य महाराज की प्रेरणा पाकर सागर की महिला समाज ने बीस हजार रुपये एकत्रित कर दिये। उद्देश्य यह था कि दूसरे खण्ड पर श्री बाहुबली स्वामी की विशाल मूर्ति स्थापित की जाए। एक महिला से सिर्फ एक सौ एक रुपये लेने की बात रखी गई और दो तीन दिन के भीतर ही २०० महिलाओं ने १०१) १०१) देने के लिये अपने नाम प्रस्तुत कर दिये फलस्वरूप आचार्य महाराज के तत्त्वावधान में ही वेदी का शिलान्यास मुहूर्त हो गया और श्री हीरालाल जी पाटनी निवाई के माध्यम से मूर्ति निर्माण का आर्डर दे दिया गया। लगभग १५ दिन संघ सागर में रहा, अभूतपूर्व आनन्द छाया रहा।

एक दिन आहार दान का अवसर भी मिला। आहार के पश्चात् महाराजजी ने घर के लोगों से व्रत प्रतिमा धारण करने का आग्रह किया। उनकी इच्छा थी पहली प्रतिमा लेने की पर महाराजजी का कहना था कि मैं किसी को दूसरी प्रतिमा से कम देता ही नहीं हूँ। उन्होंने दूसरी प्रतिमा ले ली। अपराह्न में मैंने पूछा—महाराजजी ! पहली प्रतिमा देने में क्या आपत्ति थी ? आपने कहा कि आप लोगों ने आठ मूल गुणों में पाँच उदम्बर फलों के त्याग को शामिल कर अणुव्रतों को दूर कर दिया है। पांच पापों का त्याग किये बिना व्रती कैसा ? पांच पापों का त्याग ही व्रती की भूमिका है। आप लोग पाँचों पापों का त्याग दूसरी प्रतिमा में कराते हैं इसलिये व्रती की भूमिका यहीं से शुरु होती है। यही कारण है कि मैं व्रत प्रतिमा का ही उपदेश देता हूँ। लोग धारण भी करते हैं। उन्हें कोई कठिनाई नहीं होती। पूज्य वर्णीजी के द्वारा स्थापित विद्यालय होने के कारण सागर में विद्वानों की संख्या अधिक है अतः श्री १०८ श्रुतसागरजी महाराज का अधिकांश समय तत्त्व चर्चा में व्यतीत होता था। विशुद्धमती माताजी सागर की ही थीं अतः उन्हें आर्यिका की मुद्रा में देख महिला समाज में भीतर ही भीतर एक विशिष्ट प्रकार के गौरव का अनुभव होता था। सागर से विहार कर संघ बहुत दूर पहुँच गया। बाहुबली स्वामी की मूर्ति देखने के लिये जब मैं समगौरयाजी के साथ जयपुर जा रहा था तब आपका संघ निवाई में था। फलतः निवाई उतर कर आपके दर्शन किये। एक दिन वहां की नसियांजी में केश लोंच का समारोह था। समारोह में बहुत भीड़ थी। विद्वानों के भाषण और पूज्य आचार्य महाराज के प्रवचन से वैराग्य तथा शरीर सम्बन्धी निर्ममता का एक जीता जागता उदाहरण उपस्थित कर दिया था। श्री पं० हीरालालजी पाटनी अत्यन्त मुनि भक्त हैं वे रैन भी चातुर्मास के समय मुनिसंघ में जाकर



शुद्धि करते हुए आचार्य श्री



चर्या के लिये निकलते हुए आचार्य श्री



आहार के वाद मुख-शुद्धि करते हुए आचार्य श्री

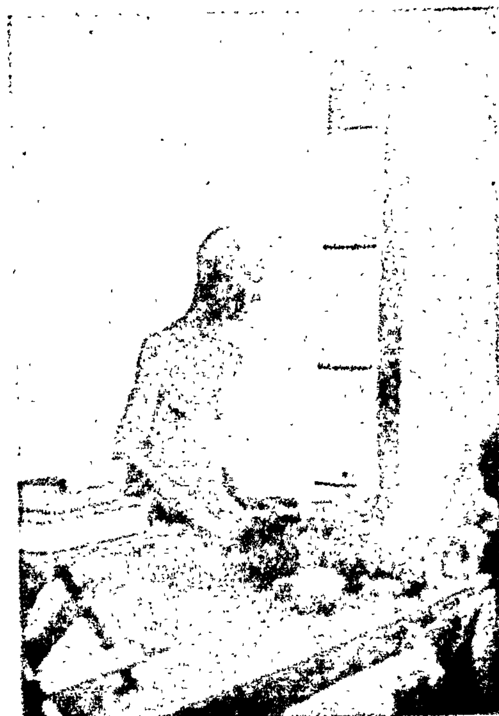


आहार कर लौटते हुए आचार्य श्री



ध्यानरत आचार्य श्री





उनकी वैयावृत्य करते हैं। सागर में भी जब वर्तमान आचार्य श्री धर्मसागरजी का चातुर्मास हुआ था तब एक माह आप रहे थे। बहुत ही भद्र जीव हैं। वे मुनि संघ की वैयावृत्य तथा अन्य आगन्तुकों के सत्कार में लीन रहते थे।

श्री पूज्य आचार्यवर अनुशासन में अत्यन्त उग्र थे वे संघ में किसी भी ब्रह्मचारी या ब्रह्मचारिणी को समाज से किसी वस्तु की याचना नहीं करने देते थे। माताजी को वस्त्रदान भी उनकी आज्ञा के बिना कोई नहीं कर सकता था तथा उनकी आज्ञा के बिना कोई भी माताजी गृहस्थ से कोई प्रकार का वस्त्र नहीं ले सकती थी। श्री विशुद्धमतीजी माताजी की छोटी बहिन, हमारे भतीजे की स्त्री है। वह एक वार एक मलमल की धोती माताजी को अर्पित करने के लिये ले गयी और आचार्य महाराज के सामने उन्हें देने का भाव प्रकट किया परन्तु उस समय माताजी को धोती कुछ समय पूर्व किसी अन्य महाशय की ओर से दी जा चुकी थी। इसलिये आचार्य महाराज ने वह धोती उन्हें देने की आज्ञा नहीं दी। संघ को जिन अन्य माता को आवश्यक थी उन्हें दिलवाई और कहा कि आपको वस्त्र-दान से प्रयोजन होना चाहिये न कि विशुद्धमतीजी को ही देने से। किसी खास व्यक्ति को देने की भावना से दिये हुए वस्त्र या आहार आदि उद्दिष्ट की कोटि में आते हैं।

आ० विशुद्धमतीजी सागर के महिलाश्रम में अध्यापिका थीं। उनके एरियर्स के हजार बारह सौ रुपये पोस्ट आफिस में जमा थे। दीक्षा लेने के पूर्व उन्होंने वह रुपये महिलाश्रम के लिये देने की घोषणा कर दी पर पोस्ट आफिस को लिखित देने का स्मरण नहीं रहा। बिना लिखित दिए वहाँ से रुपया नहीं मिला। दीक्षा लेने के वाद उन्होंने हस्ताक्षर नहीं किये। महिलाश्रम की कमेटी ने मुझे इसी उद्देश्य से उनके पास भेजा कि वे हस्ताक्षर कर दें। उस समय संघ प्रतापगढ़ ( राजस्थान ) में था। मैं गया और अवसर पाकर उनसे हस्ताक्षर करने की बात कही। उन्होंने उत्तर दिया कि यदि आचार्य महाराज जी आज्ञा दे दें तो मैं हस्ताक्षर कर दूंगी। बात उन तक पहुँचाई गई सुनकर वे चुप रह गये।

वे एक दिन के अन्तर से चर्या के लिये उठते थे। जिस दिन उन्हें चर्यापर नहीं जाना था उस दिन १० वजे जब सव साधु और माताजी आदि शुद्धि लेकर चर्या के लिये चले गये तब एकान्त देख उन्होंने मुझे बुलाया। लगभग एक घण्टा तक अनेक महत्त्वपूर्ण वार्तालाप होता रहा। उस दिन उन्होंने अपनी कितनी ही घटनाओं और संघ की स्थिति पर अच्छा प्रकाश डाला। इसी वार्तालाप के प्रसङ्ग में उन्होंने कहा कि जब विशुद्धमतीजी उन रुपयों का स्वामित्व छोड़ चुकी हैं तब इस पद में उनके दान का स्वामित्व कैसे ले सकती है? मेरी समझ में तो यह इनके पद के अनुरूप नहीं है। रही महिलाश्रम को मिलने की बात सो इससे कई गुणित रुपये इन्होंने आश्रम को दिलाये है उन्हीं में सन्तोष करना चाहिये। आचार्य महाराज के मुखारविन्द से यह निर्णय सुन कर मुझे बहुत हर्ष हुआ।

दूसरे दिन भोजनोपरान्त जब मैं आने लगा तब उन्होंने रोक दिया कि अभी नहीं जावेंगे। सामान अन्य साथियों के साथ मोटर स्टैण्ड पर चला गया था फिर भी मैं रुक गया। मध्याह्न की सामायिक के बाद जब मिला तब आपने कहा कि तुम्हें ब्रह्मचर्य प्रतिमा का पालन करना चाहिये। मैंने कहा कि महाराजजी गृहस्थी का संचालन करने के लिये नौकरी करनी पड़ती है इस स्थिति में यह प्रतिमा कैसे पल सकती है? उन्होंने कहा कि गृहस्थी का संचालन आप करते हैं? व्यर्थ का कर्तृत्व क्यों लेते हो? मैंने कहा कि नहीं महाराजजी! गृहस्थी चलती है मैं तो एक निमित्त हूँ। उन्होंने कहा कि बात ऐसी ही है। बात टल गई। पश्चात् आपने आराधना सार ग्रन्थ की टीका कर देने के लिये कहा जिसे मैंने स्वीकृत किया परन्तु कार्य प्रारम्भ नहीं कर सका। आचार्य महाराज के दर्शन का यह मेरा अन्तिम अवसर था। प्रतापगढ़ से लौट कर कुछ समय मन्दसौर रुका, वहाँ श्री १०८ जयसागरजी महाराज के दर्शन कर सागर वापिस आ गया।

सागर में आपके उपदेश से वर्णी स्मृति भवन के ऊपर श्री बाहुबली स्वामी की प्रतिमा स्थापित करने का जो निश्चय हुआ था तदनुसार प्रतिमा सागर आ गई और पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठा का आयोजन किया गया। जब पञ्चकल्याणक होना निश्चित हुआ तब आप सागर से बहुत दूर राजस्थान में थे। आपके पदार्पण की संभावना ही नहीं थी इसलिये मैंने आशीर्वाद के लिये पत्र लिखा। जो आशीर्वादात्मक पत्र आपने भिजवाया था उसके नीचे अलग से लिखा था 'धोबी मत बने रहो'।

पत्र पढ़कर समाज में जब सुनाया तब लोग इस वाक्य की चर्चा करने लगे। क्या तात्पर्य इस वाक्य का है किसी के समझ में नहीं आया। मैंने कहा कि भाई! आचार्य महाराज ने आशीर्वाद तो आप सब के लिये लिखा है और 'धोबी मत बने रहो' यह वाक्य मेरे लिये लिखा है। इसका मतलब है कि जिस प्रकार धोबी दूसरे के कपड़े धोता है पर अपने कपड़े की ओर लक्ष्य नहीं रखता इसी प्रकार आचार्य महाराज मुझसे कह रहे हैं कि तुम धोबी की तरह दूसरे के हितकारक कार्यों में तो संलग्न हो पर आत्महित की ओर तुम्हारा ध्यान नहीं है।

बात ठीक थी, प्रतिष्ठा का कार्य पूरा हो गया पर उक्त वाक्य स्मृतिपटल में अब भी उभरा हुआ है। इसी प्रसङ्ग में—

'आदहिदं कादव्वं जइ सक्कइ परहिदं च कादव्वं।
आदहिद परहिदादो आदहिदं सुट्ठु कादव्वं॥'

कुन्दकुन्द स्वामी का यह वचन भी बारबार स्मृति में आता है। आचार्य महाराज अत्यन्त गुरु भक्त थे, आचार्य शान्तिसागरजी के गुण गान करते करते वे गद्गद् हो उठते थे। दिवंगत आचार्य शान्तिसागरजी और वीर सागरजी के नाम पर महावीरजी में शान्तिवीर नगर की स्थापना हुई है। वहाँ

एक बार पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठा हो चुकी थी दूसरी बार विशाल प्रतिमा और चौबीसी की प्रतिष्ठा के लिये पञ्चकल्याणक महोत्सव का आयोजन था उस आयोजन में सम्मिलित होने के लिये आप संघ सहित महावीरजी पहुँच चुके थे। परन्तु समय की गतिविधि विचित्र है। प्रतिष्ठा महोत्सव के पूर्व ही फाल्गुन कृष्णा ३० संवत् २०२५ को छह सात दिन के साधारण ज्वर के बाद ही आपका समाधि मरण हो गया। जैन समाज ने यह समाचार बड़े दुःख के साथ सुना। समग्र समाज में शोक की लहर व्याप्त हो गई। आयोजित प्रतिष्ठा का कार्य पूरा हुआ पर शोक की धूमिल छाया उस महोत्सव पर छाई रही।

पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि में निग्र न्थाचार्य का वर्णन करते हुए जो 'अवाग्निसर्ग वपुषा मोक्षमार्गं निरूपयन्तं' विशेषण दिया है वह आचार्य महाराज में अच्छी तरह लागू होता था। वचन से कुछ न कहने पर भी उनकी प्रशान्त मुद्रा से मोक्ष मार्ग का साक्षात् रूप सामने आ जाता था। अद्भुत आकर्षण था आपकी वाणी में। प्रायः प्रत्येक चातुर्मास में आपके पास दीक्षा लेकर कितने ही निकट भव्य जीवों ने अपने जीवन को सार्थक किया है। उदयपुर चातुर्मास में श्रीमान् सेठ मोतीलालजी झवेरी संघपति बम्बई ने आपके पास क्षुल्लक दीक्षा और उसके छह माह बाद ही सलुम्बर में मुनि दीक्षा लेकर गृहस्थी के दलदल में फँसे हुए गृहस्थों के सामने एक महान् आदर्श उपस्थित किया था। आप सुबुद्धिसागर के नाम से प्रसिद्ध हैं और आचार्यकल्प श्रुतसागरजी महाराज के साथ रहकर आत्मसाधना में संलग्न हैं। उदयपुर में ही आपके तत्त्वावधान में श्री १०८ मुनि सुपार्श्वसागरजी ने बारह वर्ष का भक्त प्रत्याख्यान नामक संन्यास धारण किया था।

आपके संघ में रहने वाले साधु शीत से बचने के लिये झुग्गी आदि साधनों को कभी स्वीकार नहीं करते हैं। आपकी समाधि के बाद श्री १०८ धर्मसागरजी महाराज ने आचार्य पद ग्रहण कर संघ की संवृद्धि की। यद्यपि अब वह विशाल संघ कई भागों में विभाजित हो गया है तो भी सबका परस्पर में सौमनस्य है तथा सभी साधु आचार्य शान्तिसागर महाराज की आचार परम्परा का पालन करते हैं। अन्त में सद्‌वृद्धि की शुभकामना करता हुआ समाधिप्राप्त आचार्य श्री शिवसागरजी के चरणों में विनम्र श्रद्धांजलि समर्पित करता हूँ।

## मिष्ट–वचन

काहे को बोलत बोल बुरे नर, नाहक क्यों जस धर्म गमावै।
कोमल वैन चवै किन ऐन, लगै कछु है न सवै मन भावै॥
तालु छिदै रसना न भिदै, न घटै कछु अंक दरिद्र न आवै।
जीभ कहै जिय हानि नहीं तुझ, जी सब जीवन को सुख पावै॥

# तपोनिधि और यशोधन

[ श्री लक्ष्मीचन्दजी सरोज, एम० ए०, जावरा ]

आचार्य श्री शिवसागरजी के दर्शन करने का सौभाग्य मुझे उनके प्रतापगढ़ चातुर्मास में हुआ था और उनका यथोचित उल्लेख अपने निबन्ध 'प्रवास और निवास' के प्रतापगढ़ वाले प्रकरण में किया था।

एक दर्शनार्थी ( जो अजैन राजनैतिक अधिक, धार्मिक कम था ) उनके चरण कमलों में श्री फल समर्पित कर आशीर्वाद प्राप्त करना चाहता था परन्तु आचार्य श्री ने कुछ आगा-पीछा सोच समझ कर आशीर्वाद नहीं दिया।

आज के युग में, जब कि संयुक्त परिवार प्रथा भी अन्तिम सांसें गिन रही, तब विभिन्न पदों के विभिन्न व्यक्तियों को संघ में सुचारु रूप से अनुशासन बद्ध रखना और उनके धार्मिक जीवन को अधिक से अधिक उन्नत बनाना, उन जैसे ही अभूतपूर्व साहसी का कार्य था।

उनका शरीर भले ही चाहे जैसा रहा हो, उनका स्वास्थ्य भी भले ही ठीक नहीं रहा हो पर उनका आध्यात्मिक स्वास्थ्य अतीव प्रशस्त था। उनकी भाषण-शैली गांधीजी जैसी थी पर उसमें सांसारिक यौवन का जोश न था बल्कि लोकोत्तर जीवन के अनुरूप गम्भीरता थी। उनके मित वचनों में प्रभावक बल था।

जहां शिव प्रधान होता है, वहां निवृत्ति प्रमुख हो जाती है और वर्तमान को थोड़ी बहुत कीमत में स्वाहा करके भी भविष्य को उज्ज्वल बनाने का प्रयास होता है। विचार के इस विन्दु से वे सुलभ शरीर की नश्वरता के रहस्य को हृदयंगम किये आतमा के अमृतत्व की उपलब्धि के लिये प्रयत्नशील थे। उनकी संज्ञा सार्थक थी।

वे मेरी दृष्टि में सही अर्थों में क्षीणकाय कृशोदर तपोनिधि यशोधन थे। उन्हें वैराग्यमूर्ति और मुक्तिपथ भक्त मर्गी कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। चूं कि उनके यश रूपी शरीर को जन्म-जरा और मरण का भय नहीं है, अतएव उनकी सुखद पवित्र स्मृति में एक संस्कृत कविता की निम्नलिखित पंक्तियां उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहा—

अत्यद्भुतं निरुपमं खलु ते चरित्रम्।
आनन्ददा दुरितहा तव दिव्य दृष्टिः।
कस्त्वां विना शरणमस्ति सुदुःखितानाम्।

इन्हीं शब्दों के साथ आचार्य श्री की स्मृति में सहर्ष सहस्र श्रद्धा सुमन अंजलियां।

★

# महान योगी शिवसागर महाराज

[ ले०—विद्वत्‌रत्न श्री पं० सुमेरुचन्द्रजी दिवाकर शास्त्री,
बी. ए. एल. एल. बी., धर्म दिवाकर, न्यायतीर्थ ]

आज के विषय भोग प्रधान युग में थोड़ा भी संयम पालन बड़ा कठिन लगता है। इस समय लोग आत्मा के उद्धार से विमुख हो जड़ का उद्धार करने में लगे हैं, उसके फलस्वरूप विज्ञान के नाम पर चमत्कारप्रद आविष्कार हुआ करते हैं। पुद्‌गल की चकाचौंध में फँसा मानव आत्मकल्याण की दिशा में पूर्णतया पंगु हो गया है। ऐसी विपरीत परिस्थिति में अहिंसा आदि महाव्रतों का निर्दोष पालन कर मानव जीवन को कृतार्थ करने वाले महापुरुषों का सद्‌भाव आश्चर्य की वस्तु लगता है।

स्व० आचार्य शान्तिसागर महाराज के पावन जीवन से प्रेरणा पा अनेक भाग्यशाली आत्माओं ने दिगम्बर श्रमण की दुर्धर वृत्ति को स्वीकार करके अपने नर जन्म को सफल किया है तथा कर रहे हैं। ऐसी पूज्य तथा पवित्र महान् आत्माओं में आचार्य शिवसागर महाराज का महान् स्थान रहा है।

उनका व्यक्तित्व अपूर्व था। उनका उन्नत भाल, आजानुबाहु आदि देखकर सहज ही उनके महापुरुष होने की कल्पना मन में उत्पन्न हुआ करती थी। उनकी मुद्रा से वीतरागता का निर्झर प्रवाहित होता था। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकारों से वे बहुत दूर थे। वे शान्त, गम्भीर, तथा हित-मित-मधुर भाषी थे। अनेक उपवास करने पर भी उनमें अद्‌भुत तेज विद्यमान था। तपस्या प्रधान जीवन होने से उनका शरीर कृश हो रहा था, किन्तु गुणों में वे क्षीण नहीं थे। "गुणैरेव कृशः कृशः"— गुणों में जो कृश हो वही यथार्थ में कृश माना गया है।

उनके आचार्य पद स्वीकार करने के पश्चात् संघ की वृद्धि होने के साथ गौरव की भी वृद्धि हुई थी। उनके संघ का सौरभ सर्वत्र व्याप्त हो रहा था। वे अपने जीवन का एक क्षण भी व्यर्थ नहीं जाने देते थे। मैंने उन्हें अनेक बार देखा। उनके दर्शन किए उनके सत्संग का लाभ लिया। वे विकथाओं से बहुत दूर रहते थे। सदा ज्ञान, ध्यान और तप में तत्पर रहते थे। समन्तभद्र स्वामी ने कहा है "ज्ञान-ध्यान-तपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते" ज्ञान, ध्यान और तप में अनुरक्त तपस्वी प्रशंसनीय कहा गया है। यह लक्षण आचार्य शिवसागर महाराज में पाया जाता था।

मैंने देखा है, कि कई व्यक्ति महाव्रती बनकर अपने संयमी जीवन के विरुद्ध राजनीतिज्ञ सदृश प्रवृत्ति करते हैं किन्तु सरलता की मूर्ति तथा अत्यन्त गम्भीर प्रकृति शिवसागर महाराज यथार्थ में साधुता परिपूर्ण थे। उनका अन्तरंग बहिरंग जीवन अत्यन्त स्वच्छ था। धन, वैभव की माया से उनकी आत्मा दूर रहती थी। उनकी वाणी से अमृत टपकता था। मुझ पर उनकी बड़ी कृपा थी। अजमेर में

जब संघ बहुत समय तक रहा था, तब उनके समीप मुझे रहने का सुयोग मिला था। मैं भाषण देकर उनके चरणों के समीप बैठा ही था, कि अत्यन्त प्रसन्न होकर उन्होंने कहा "पण्डितजी, तुम्हारे व्याख्यान में बड़ा मजा आता है"। उनकी यह वाणी मुझे सदा याद आती है। उनकी बोली में पाण्डित्य के स्थान में माधुर्य अधिक भरा रहता था। उनका भाषण बड़ा मार्मिक, हृदयस्पर्शी और सारगर्भित होता था।

इस प्रसंग में मुझे आचार्य शान्तिसागरजी के ज्येष्ठ बन्धु चारित्र चूड़ामणि महामुनि वर्धमान सागर महाराज की याद आ जाती है। उनकी अवस्था उस समय ९६ वर्ष की थी। ९७ वें वर्ष में उन्होंने स्वर्गारोहण किया था। एक उत्सव में समाज को यह सूचना दी गई कि वर्धमान सागर महाराज का प्रवचन होगा। उस अवसर पर उन साधुराज के मुख से ये शब्द निकले "बाबा, मला प्रवचन येत नाहीं, मला फक्त णमोकार मन्त्र येत आहे"—भाई मुझे प्रवचन देना नहीं आता है, केवल मुझे णमोकार मन्त्र आता है।" वास्तव में णमोकार मन्त्र की महिमा अपार है। वादीभसिंह सूरि ने उसे 'मुक्तिप्रद' मन्त्र कहा है। उस महामन्त्र की महिमा वर्णनातीत है। तत्वानुशासन ग्रन्थ में नागसेन मुनि ने णमोकार के जप को स्वाध्याय तप में अन्तर्भूत किया है।

स्वाध्याय: परम स्तावज्जप: पंच नमस्कृते: ।
पठनं वा जिनेन्द्रोक्त शास्त्रस्येकाग्र चेत सा ।।८०।।

पंच नमस्कार मन्त्र का जप श्रेष्ठ स्वाध्याय है। एकाग्र मन से जिनेन्द्र भगवान के द्वारा प्रतिपादित आगम का पठन भी परम स्वाध्याय है।

**नागसेन मुनि का यह पद्य भी धार्मिक व्यक्तियों के लिए स्मरण योग्य है**

स्वाध्यायाद्ध्यान मध्यास्तां ध्यानात्स्वाध्यायमामनेद् ।
ध्यान–स्वाध्याय–संपत्या परमात्मा प्रकाशते ।।८१।।

स्वाध्याय के द्वारा ध्यान का अभ्यास होता है तथा ध्यान से स्वाध्याय की वृद्धि होती है। ध्यान और स्वाध्याय की सम्पत्ति द्वारा परमात्मा का प्रकाश प्राप्त होता है।

शिवसागर महाराज का जीवन ध्यान और स्वाध्याय के द्वारा देदीप्यमान होता था। बड़े प्रभावी [illegible] भाषणों द्वारा जहाँ ऊसर भूमि में वर्षा सदृश प्रभाव दिखता है, वहाँ आचार्य श्री [illegible] जीवन को धर्मोन्मुख बनाते थे। उनकी पवित्र जीवनचर्या वाणी के बिना आत्महित का [illegible] थी।

एक बार गाँधीजी से पूछा गया था आपका क्या सन्देश है? What is your message? उन्होंने कहा था: 'My life is my message' मेरा जीवन ही मेरा सन्देश है। जिनका जीवन मलिन वृत्ति का

केन्द्र स्थल बन रहा है, उनके माध्यम से पवित्रता की ज्योति कैसे प्राप्त हो सकती है ? आज हम देखते हैं संयम और सदाचार से विहीन जीवन वाले उच्चकोटि की चर्चा करते फिरते हैं, किन्तु उसका जीवन निर्माण में तनिक भी प्रभाव नहीं दिखाई पड़ता है। गाँधीजी के जीवन को प्रकाश प्रदाता श्रीमद राजचन्द्र भाई ने कहा था, ॐ; वर्तमान दु:षम काल रहता है। मनुष्य का मन भी दु:षम ही देखने में आता है। प्राय: करके परमार्थ से शुष्क अन्त:करण वाले परमार्थ का दिखावा करके स्वेच्छा से आचरण करते हैं।" ( श्रीमद् राजचन्द्र ग्रन्थ पृष्ठ ८०० )। ऐसे उपदेशकों के द्वारा जीवन की उलझनें बढ़ जाया करतीं हैं। मनुष्य स्वच्छन्दता का पथ पकड़ा करता है। यह कथन पूर्ण सत्य है—

विषयी सुख का लंपटी सुन अध्यात्मवाद ।
त्याग धर्म को त्याग कर करै साधु अपवाद ।।

साधु जीवन के द्वारा कुमार्ग रत व्यक्ति को अद्भुत प्रकाश प्राप्त होता है। स्व० आचार्य पाय-सागर महाराज ने मुझसे स्तवनिधि अतिशय क्षेत्र में कहा था, "पन्डित जी ! मैं पाप सागर था। सभी दुर्व्य-सनों से मेरी आत्मा मलिन हो रही थी। आचार्य शांतिसागरजी महाराज की महिमा का क्या वर्णन करूं। उन्होंने पापसागर से मुझे पायसागर ( क्षीरसागर ) बना दिया।"

महापुराण में भगवज्जिनसेन आचार्य ने कहा है कि साधु परमेष्ठी के द्वारा जीव को इस प्रकार लाभ प्राप्त होता है—

मुष्णाति दुरितं दूरात् परं पुष्णाति योग्यताम् ।
भूय: श्रेयोनु वध्नाति प्राय: साधु समागम: ।।९–१६१।।

प्राय: साधु का समागम पापों को दूर करता है, श्रेष्ठ योग्यता को पोषण प्रदान करता है तथा महान् कल्याण को प्राप्त कराता है।

आचार्य शिवसागर महाराज ने स्वयं के जीवन को ज्योतिर्मय बनाने के साथ अनेक भव्यात्माओं को रत्नत्रय निधि प्रदान द्वारा समृद्ध बनाया है।

यह समाज का परम दुर्भाग्य रहा, कि ऐसी पूजनीय प्रभावक महान् आत्मा शीघ्र ही स्वर्गा-रोहण कर गई। उन्होंने अपना जीवन सफल बना लिया। उनके युग्म चरणों को हमारी हार्दिक अभिवंदना है।



# श्रद्धांजलि व पुनीत संस्मरण

[ ले०-मिश्रीलाल शाह जैन शास्त्री, श्री चन्द्रसागर स्मारक लाडनूं ( राज० ) ]

यह जानकर कि श्री १०८ आ० शिवसागर स्मृति ग्रन्थ के प्रकाशन की योजनाएं बन गई हैं, महती प्रसन्नता हुई। इस चीज की प्रचुर आवश्यकता का अनुभव भी काफी समय से हो रहा था; इसलिये कि आचार्य श्री, श्री १०८ आ० स्व० शांतिसागर महाराज की परम्परा के होनहार और विशाल संघ के नेता तपस्वी ( जिसमें ४७ पिच्छीधारी साधुओं की संख्या अनुमानित थी ) हो गये हैं। उनमें संघ संचालन व संघ परिवहन की अद्वितीय क्षमता व कुशलता थी। आपके नेतृत्व में संघस्थ सभी साधु साध्वियां अतीव अनुशासित स्थिति में देखे जाते थे। किसी भी कार्य को करने में आप उसका आद्योपान्त स्थिति का खूब ऊहापोह करके जब अन्तरङ्ग में नियोजनात्मक विचार बाँध लेते थे तब संघस्थ सभी मुनिजन, आर्यिका, नैष्ठिकव्रती, श्रावक आदि सभी से विचार विमर्श करके अपने लक्षित दृष्टिकोण के अनुसार कार्य किया करते थे। उनकी यह सरस शैली सभी जनों के लिये एक आकर्षण का विषय बन जाती थी। एतावता वे संघ की दृष्टि में अधिक प्रभावशाली बने रहे।

लेखक को भी उनके दर्शन स्पर्शन पात्रदानादि से अधिक सन्निकटता में रहने का योग प्राप्त हुआ है। समय समय पर होने वाले समारोहादि में अपने विचार प्रकट करने को जब आपके आदेश को पाकर मैं बोलता था तो आप मेरी ही क्या विद्वानों मात्र की प्रयोजनी भूत बातों का बड़ा समर्थन करके समाज के सामने एक सच्ची दृष्टि रखा करते थे।

मुझे तब के संस्मरण अभी भी याद में आ रहे हैं कि जब आपके गुरुवर स्व० श्री वीरसागरजी महाराज के संघ का चातुर्मास नैनवां में सं० २००४ में हो रहा था तब आप उस संघ में ब्र० या क्षुल्लक पद में रहते हुए विद्याध्ययन रत रहा करते थे उस समय मैं स्वयं नैनवां के श्री आदिनाथ दिगम्बर जैन विद्यालय में प्राध्यापक पद पर था और आप एक सरल साधारण सात्विक वृत्ति में 'परीक्षामुख' का अध्ययन करते थे। मैं आपकी सेवा में रत रहते हुए आलाप संलाप किया करता था। आपका सैद्धान्तिक अध्ययन में एकदम नया नया ही प्रवेश था। उन्हीं दिनों पं० सुन्दरलालजी डबल न्यायतीर्थ का सुसंयोग भी उल्लेखनीय रहा; जो समस्त संघ को विभाजित कार्य क्रमानुसार त्यागियों की योग्यता के स्तर के अनुरूप पढ़ाया करते थे। जिनका सम्पर्क दीर्घ काल तक संघ को मिलता रहा। उनके निमित्त से संघ ने प्रौढ़ विज्ञान व संस्कृत ग्रन्थों में प्रवेश पा लिया था। यहीं से आपके ज्ञान के विकास का शुभ प्रारंभ हुआ था।

तब यह कौन जानता था कि यही एक व्यक्ति आगे चलकर महा मानव बन जायगा और अपने गुरुवर स्व० श्री वीरसागर महाराज के संघ की बागडोर को संभाल लेगा। तथा अपनी विशुद्ध

अनुभवपूर्ण प्रतिभाशालिता से आचार्यपद पर आसीन होकर संघनेता एवं च धर्मनेता बनकर अनेक प्राणियों को धर्मामृत का पान कराते हुए इतना महान् कर्मठ यशस्वी सन्त बनकर जगदुद्धारक पद में रहते हुए जनजन के हृदय का हार बन जायगा।

आपने अपने जीवन काल में अनेक को मुनि दीक्षा, आर्यिका दीक्षा, ऐलक क्षुल्लक व्रती श्रावक बनाकर कल्याण पथ में लगाया।

विक्रम सं० २०१६ में आपके संघ का चातुर्मास अजमेर नगरी में हुआ था। तब स्थानीय श्री चन्द्रसागर स्मारक जिनालय का निर्माण हो चुका था। बड़ी से बड़ी कठिनाइयों को पार करने के बाद भवन निर्माण में सफलता साध्य हुई। स्मारक बनवाने वाले श्रावकों की यह तीव्र अभिलाषा रही कि संघ की उपस्थिति में पंचकल्याणक प्रतिष्ठा हो। तब स्थानीय अग्रवाल समाज व श्रावक समाज ने श्री १०८ पूज्य श्री शिवसागरजी महाराज से निवेदन किया कि प्रभो! हमारी मरुधरा को स्पर्श कर पावन कीजिये। आपकी उपस्थिति में ही स्मारक की प्रतिष्ठा होगी। साथ ही स्वर्गीय श्री आचार्यत्रय (श्री १०८ आचार्य शान्तिसागरजी, तत्पट्टाधीश आ० वीरसागरजी एवं आचार्यकल्प श्री चन्द्रसागरजी) साधु परमेष्ठियों की प्राण प्रतिष्ठा होकर मूर्ति विराजमान होगी। आपने इस भव्य कार्य हेतु स्वीकृति दी। फल स्वरूप यहाँ संघ को लाया गया। प्रसन्नता की बात है कि चतुर्विध संघ की उपस्थिति में वि० सं० २०१६ माघ सुदी १४ को स्थानीय श्री अग्रवालजी द्वारा पंचकल्याणक प्रतिष्ठा संघस्थ ब्र० सूरजमलजी द्वारा सहस्रों नर नारियों के बीच सम्पन्न हुई।

एवमेव आचार्य श्री के उपदेश से प्रभावित होकर श्री केशरीचन्दजी निहालचन्दजी कटक वालों ने लाडनूं नसियाँजी में 'मानस्तम्भ' संगमरमर का बनाया, जिसकी पुनीत पंचकल्याणक प्रतिष्ठा भी आपके संघ की उपस्थिति में विक्रम सं० २०१८ में उक्त कटक वालों ने संघस्थ ब्र० सूरजमलजी द्वारा कराई।

वि० सं० २०१९ में आपके संघ का चातुर्मास यहाँ लाडनूं में हुआ, तब भी मेरा आवास यहीं था। उस समय आपके अधिक सम्पर्क में रहते हुए जो अमृत वाणी का लाभ हुआ था, वह चिरस्मरणीय बना रहेगा।

श्री महावीरजी में जो श्री 'शान्तिवीर' स्मारक बना है वह सब आप ही की प्रेरणा का मधुर फल है। यहीं पर आप इस दूसरी प्रतिष्ठा में पधारे तो सही, पर विधि को यह इष्ट न था। क्रूर यम ने प्रतिष्ठा के ६ रोज पूर्व ही वि० सं० २०२५ फाल्गुन बदी अमावस्या रविवार को इस पुनीत धरातल के तपस्वी को दिन के ३ बजे छीन लिया। सुनते ही सर्वत्र समाज शोक विह्वल हो गया। साधु समाज की एक बड़ी भारी ज्योति विलीन हो गई है, जिसका बड़ा आघात पहुँचा है। मैं स्वर्गीय उस पूतात्मा के प्रति अपनी भावभीनी श्रद्धाँजलि अर्पित करता हूँ और स्वर्गीय आत्मा को आत्मीय सुखोपलब्धि की श्री अर्हत् प्रभु से कामना करता हूँ। शमिति!

★

# कानिचित्संस्मरणानि

[ पूज्य विदुषी १०५ आर्यिका श्री विशुद्धमती माताजी ]

यदा उदयपुरनगरे चातुर्मासोऽभूत् तदा भाद्रपदस्य शुक्लपक्षे द्वितीया तिथौ मम दक्षिणाङ्गे पक्षाघातऽऽशंकाऽभूत्। हस्तपादौ शून्यीऽभवताम्। सन्ध्यासमये पूज्यवर श्री श्रुतसागरेण सहाचार्यप्रवरः श्री शिवसागरमहाराजः समागतः। मया कथितं—स्वामिन्! आत्मनि अनन्तशक्तिर्वर्तते। इयं दुर्बलास्ति, ईदृशीं चिन्तां त्यक्त्वा, रात्रिं दृष्ट्वा, प्रातः निश्चिन्तः सन् समाधिं ददातु। कामपि चिन्तां मा करोतु। गुरुरवदत्—तव आत्मनः शक्तिं प्रारम्भादेव जानामि। ममात्मविश्वासोऽस्ति। यदि प्रातः स्थितिः सुष्ठु न भविष्यति, तर्हि तुभ्यं समाधिं दास्यामि। समाधिः—समः आधिर्मानसिक वृत्तिः यस्मिन् सा समाधिर्भवतु, अथवा समाधानं समाधिः चित्तस्यैकाग्रो भवतु। अतस्तदभ्यासाय रात्रौ साम्यभावेन सिद्धपरमेष्ठि-नरात्मनश्च चिन्तनं कुरु।

शिष्यस्य महताभाग्येन सद्गुरुरवाप्तिः। अनन्य श्रद्धेय गुरुवर्यस्य चरणयुगलाभ्यां नमोऽस्तु मुहुर्मुहुः।

द्वितीयं—यदा बांसवाड़ानगरतः संघस्य विहारः प्रतापगढ़नगरं प्रति अभूत् तदा मम एकान्त-रान्तरायोऽभूत्। ज्येष्ठमासमासीत्, विहारस्तु प्रतिदिनं वर्ततेस्म। निरभ्रप्रदेशे आहारस्य व्यवस्थाऽसीत्। प्रातः स्मरणीय पूज्य श्रद्धेय आचार्य शिवसागरेण सहाहारार्थं जगाम। प्रथमग्रासे एव केशो यातः। त्यक्त्वाशनं, आगता स्वस्थानं। तदनन्तरम् आचार्यमहाराजेन सह विहारः कृतः। अतिदूरं गते सति एको वृक्षो लब्धः, तस्य तले स्थित्वा सामायिकं कृतम्। मरुप्रदेशस्य भयंकरोष्णवायुः, दिवाकरोग्रकिरणाश्च सर्वानपि व्याकुलान् कृतवन्तः। पूज्य महोपकारीगुरुदेवो वृक्षस्कन्धस्यावरणे स्थित्वाऽकरोज्जाप्यं। सहसोत्थाय, मामुक्तवान् विशुद्धमते! अत्र मम स्थाने तिष्ठ, व्याकुलया मया सविनयमुक्तम्—स्वामिन्! निरावरण-भवतः शरीरे उष्णवायुर्भीषणं हानिं करिष्यति। अतः भवानेव वृक्षस्कन्धस्यावरणे तिष्ठतु। मम शरीरे, [illegible]मस्ति। अतः किञ्चिदपि कष्टं न वर्तते। दयालुना गुरुणोक्तं—ईदृशी तव मयि भक्तिः? यत् सम्मुखमेव [illegible] करोषि। शीघ्रमुत्थायात्र तिष्ठ।

माम् स्वस्थानं संस्थाप्य, भवांश्च अपरस्थाने स्थित्वा नानाविधैः मधुरवचनालापैः उत्साहवर्धकं संलापं कृतवान्। तृषया व्याकुलीभवन्तं स्वान्तं, विचित्रदुःखदुःखितान् जनान् पक्षिगणान् दर्शयित्वा [illegible] माम् सम्बोधितवान्। अहो! मातृपितृसदृशं वात्सल्यं गुरूणां शिष्यजने। 'शिष्यानुग्रह कुशलः', इति विशेषणेन विभूषितस्य परमोपकारि गुरुचरणद्वये भूमिं स्पृष्ट्वा नमामि सर्वदा।

तृतीयं—[illegible] आचार्यमहाराजसमीपे श्री दि० जैनमहिलाश्रमसागरस्य [illegible] समागताः। [illegible] श्री [illegible] गृहीतं नियमानि। [illegible]

माम् लगुडगृहीतहस्तं प्रददर्श। सन्ध्यासमये प्रतिक्रमणवेलायामहं गुरुवर्योपान्ते समायाता। सस्मित-मुखेन तेन उक्तं—अहो विशुद्धमते ! किं त्वया पूर्वावस्थायां अजाः गावश्च पालिताः। तच्छ्रुत्वाहं क्षण-मेकं तूष्णीम् स्थित्वा पश्चादुक्तवती—पूज्य, श्रद्धेय, गुरो ! अहं किमकार्षमिति न जानामि। भवानेव जानातु। तदा पत्रिकां दत्वाऽवदत्—पश्य पश्य, वनमध्ये हस्तगृहीत यष्टिः त्वमेव काचिदन्या वा ? अहं मन्दस्मिता स्थिता।

स आचार्यवर्यः रुग्णावस्थायां मन्मनो विनोदार्थं ईदृशमेव संलापं करोतिस्म। महोपकारीगुरु-वर्यस्य उपकाराणाम् कदापि नो विस्मरामि।



# सूर्य अस्त हो गया

[ लेखक–श्री पं महेन्द्रकुमारजी 'महेश' ]

फाल्गुन कृष्णा अमावस्या दि० १६ फरवरी का वह दिन श्री महावीरजी के लिये ही नहीं अपितु समस्त भारत की जैन समाज के लिये एक भीषण अँधेरा लेकर आया। उस दिन समाज पर बिना बादल के बिजली गिरी। यहाँ आचार्य संघ के आगमन से और प्रतिष्ठा महोत्सव के समीप आ जाने से समस्त समाज बड़ा प्रसन्न और धार्मिक उपासना में लगा हुआ था, तथा बहुत से भाई प्रतिष्ठा के कार्यों में लगे हुये थे—अचानक बिजली की तरह यह खबर सर्वत्र फैल गयी कि आचार्य शिवसागर महाराज अब नहीं रहे। जिसने भी यह समाचार सुना स्तब्ध रह गया। सहसा किसी को भी इस समाचार की सत्यता पर विश्वास नहीं हो रहा था। जो भी जहाँ जिस स्थिति में था तुरन्त आचार्य श्री के दर्शनों को दौड़ पड़ा किन्तु वहाँ आचार्यश्री के पार्थिव शरीर को छोड़कर उनकी आत्मा तो स्वर्ग को प्रस्थान कर गई जानकर न मालूम कितने व्यक्तियों को निराशा के गर्त में गोते लगाने पड़े कुछ कहा नहीं जा सकता, फिर क्या था, उसी क्षण अन्तिम दर्शन के लिये मानव समूह उमड़ पड़ा और हजारों दर्शकों की भीड़ से स्थान भर गया।

कुछ दिनों पहले से आचार्यश्री को बुखार आता था, किन्तु किसी को स्वप्न में भी यह आभास नहीं था कि यह अद्वितीय महान् ज्योति इतनी शीघ्रता से प्रतिष्ठा महोत्सव के पूर्व ही बुझ जावेगी। किन्तु काल बड़ा निष्ठुर और क्रूर होता है, उसे किसी पर दया नहीं। जो चीज होने वाली थी, वह होकर ही रही। विधि की बड़ी विचित्रता है—मनुष्य क्या सोचता है और क्या होता है।

आचार्यश्री एवं संघ के साधुओं के दर्शन निमित्त एवं प्रतिष्ठा महोत्सव के लिये यात्रियों का आगमन प्रारम्भ हो गया था। धर्मशालाओं में स्थान भरने लगे थे। सब के मन में प्रतिष्ठा के लिये बड़ा उत्साह

था—कि अचानक बिजली सी गिर गई, चारों तरफ शोक ही शोक छा गया। रेडियो से समाचार प्राप्त होते ही जगह जगह से शोक के तार व फोन आने लगे। अहो! एक क्षण में क्या का क्या हो गया। सबके चेहरे उदास हो गये, अनगिनित नर-नारियों व त्यागियों के नयनों से अश्रु जल बहने लगा, ऐसा ज्ञान होता था कि सबको छोड़कर आचार्यश्री कैसे चले गये ?

सोमदेवसूरि ने कहा है कि:—

> अयं महानेष निरस्तदोष:, कृती कथं ग्रासपथे मम स्यात् ।
>
> इति व्यापेक्षास्ति न जातुदैवैस्तस्मादलं दैन्यपरिग्रहेण ।।यशस्तिलक०।।

अर्थात्—यह काल जब आता है तब यह नहीं देखता कि यह महान् है, यह निर्दोष है, यह पुण्यात्मा है, इसको मैं अपना ग्रास कैसे बनाऊं। ऐसी व्यापेक्षा इस कर्म को भी नहीं होती—अत: कर्म कैसा भी उदय में आए या मृत्यु कभी भी आए, दीनता कभी भी नहीं करनी चाहिये।

पूज्य आचार्य शिवसागरजी महाराज ने कर्मों के आगे दीनता कभी भी स्वीकार नहीं की—कैसा भी कर्मों ने उदय में आकर फल दिया वे अपने पथ से रञ्चभर भी विचलित नहीं हुये। कैसी भी आधि-व्याधि के होने पर ध्यान, अध्ययन, व्रत, उपवास, व मुनिचर्या में किसी तरह की बाधा उपस्थित नहीं होने दी। एक दुबला पतला श्याम वर्ण का शरीर किस तरह गजब की आत्मशक्ति रखता था, देखकर बड़ा विस्मय होता था। अन्तिम समय में भी उपचार नहीं करना, प्रतिदिन उपदेश के समय सभा में आना, दो दिन पहले भारी सभा में अपने हाथों से केशलोंच करना, दर्शकों व भक्तों को बराबर मधुर वचनों से संतुष्ट करते रहना—आत्मा के परिणामों में रञ्चभर भी विकृति नहीं आने देना आदि स्वर्गीय आचार्यश्री की अद्भुत सहनशक्ति के परिचायक हैं। वास्तव में मृत्यु से वे नहीं हारे थे पर मृत्यु ने उनसे हार मान ली थी। अर्थात् मृत्यु उनका कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकी।

दिनांक १६ फरवरी १९६९ के ३ बजे के करीब आचार्य श्री को लघुशंका की शिकायत हुई। लघुशंका के निपटते ही आचार्यश्री जाप्य में मग्न हो गये और उनके प्राण निकल गये। जाप्य जपते हुये, बिना किसी घबराहट के प्राणों का शांति से निकलना, बहुत बड़ी आश्चर्य की बात है। अस्तु।

आचार्य श्री की विशेषताएँ—

स्वर्गीय पूज्य आचार्य शिवसागरजी महाराज की ख्याति खानियां जयपुर में आचार्य पद पर आसीन होने के पश्चात् हुई। आचार्य पद सम्हालने के पश्चात् समस्त संघ को एकरूपता से सम्हालना, कभी भी कोई कमी नहीं होने देना, समस्त साधुओं और समाज की अपार श्रद्धा को प्राप्त करना, और संघ के अनुशासन बनाए रखना आचार्यश्री की सबसे बड़ी विशेषता थी।

त्याग-तप और व्रत उपवास करने की अद्भुत क्षमता उनके उस दुबले पतले शरीर में थी। और भी अनेक आश्चर्यजनक विशेषताएँ आचार्य श्री में थीं।

दो दिन पूर्व ही इन पंक्तियों का लेखक आचार्य श्री के दर्शन को गया था, नमस्कार कर चरण-स्पर्श किये, शरीर ज्वर से कुछ उष्ण था, मैंने कहा "महाराज स्वास्थ्य कैसा है?"

महाराज श्री ने कहा—"पंडितजी आप देख रहे हैं।"

मैंने कहा "महाराज! अभी ज्वर उतरा नहीं है।"

विनोद में आचार्य श्री कहने लगे "देखिये हम दुबले होते जा रहे हैं और आप तगड़े होते जा रहे हैं।" यह सुनकर आसपास में बैठे हुये सबलोगोंको हँसी आगई।

मैंने कहा महाराज, आपके व साधुओं के संसर्ग में आने से मैं भी दुबला हो जाऊंगा—इस पर महाराज को कुछ हँसी आ गई। स्वप्न में उस समय यह आभास नहीं था कि यह त्याग और तप की मूर्ति दो तीन दिन को मेहमान है। किन्तु क्या किया जाय? आज वे हमारे सामने नहीं हैं यह अनुभव करते हुये हृदय घबराता है।

आचार्यश्री का जन साधारण पर, समाज पर, देश के नेताओं पर धनिकों व विद्वानों तथा समस्त साधुओं पर बड़ा भारी प्रभाव था। जो भी उनके दर्शन को आता एक अमिट प्रभाव लेकर जाता था। यह कहना कोई अत्युक्तिपूर्ण नहीं कि स्व० आचार्य १०८ श्री शांतिसागरजी महाराज एवं स्व० आचार्य १०८ श्री वीरसागरजी महाराज की परम्परा को स्व० आचार्य १०८ श्री शिवसागरजी महाराज ने बड़ी शान्ति, गौरव, वीरता और साहस के साथ निभाया ही नहीं किन्तु उसे आगे भी बढ़ाया। अधिक क्या कहें, विरोधी भाव रखने वाला भी सामने आकर नत-मस्तक हो जाता था। उनका तप, ध्यान, सौम्यमूर्ति, मधुरवार्तालाप, शांत स्वभाव, आकर्षक वाणी आदि सब प्रभावकारी थे। वे समाज की एक धार्मिक ज्योति थे, वे धूलि भरे हीरे थे, या साधु संघ के सूर्य थे अथवा शान्ति सुधा के पान कराने वाले एक चन्द्र थे। वे क्या नहीं थे, कोई भी शब्द स्व० आ० शिवसागरजी के सम्बन्ध में लिखना अल्प ही है।

मैं प्रायः बहुत से मुनियों, त्यागियों के संसर्ग में आया हूँ, एवं स्व० आचार्य श्री के संसर्ग में बहुत बार रहा हूँ। मेरे जीवन में भी सबसे अधिक आचार्य श्री का जो प्रभाव पड़ा उसे लेखनी से नहीं लिखा जा सकता। सलूम्बर (राजस्थान) में आचार्य श्री ने ही शान्तिवीरनगर में मुझे कार्य करने के लिये प्रेरित किया—और स्वीकार भी कराया, परिणामतः आज मैं यहाँ (शान्तिवीर नगर में) हूँ। वे एक बहुत बड़े तपस्वी, विद्वान्, धर्मज्ञ, परमयोगी, महान् संत व संघ का कुशलता से संचालन करने

वादि, मधुर वक्ता, और सही रूप में सच्चे आचार्य परमेष्ठि थे। उनके आकस्मिक स्वर्गारोहण ने समस्त समाज को एक ऐसी चोट पहुँचाई है जिसका वर्णन करना दुष्कर है।

अभी हाल के दिनों में आचार्य श्री के संघ सहित श्री महावीरजी आगमन पर एवं प्रतिष्ठा महोत्सव के प्रारम्भ में होने वाले माघ शुक्ला १५ के झण्डारोहण में सबके हृदयों में क्या ही आनन्द भरा उल्लास था। भाग्य को यह उल्लास और आनन्द असह्य हो गया और प्रतिष्ठा के पूर्व ही आचार्य श्री को काल आकर यहाँ से उठा ले गया। यह विधि की कैसी विडम्बना है। इसीलिये तो संसार को आचार्यों ने असार कहा है।

मैं खानियाँ में आचार्य दीक्षा के समय था और उसके पश्चात् कुछ चातुर्मासों में बराबर आचार्य श्री व संघ के मुनिराजों तथा त्यागियों के दर्शन को जाया करता था। वे प्रसन्नचित्त से आशीर्वाद देते थे और मेरे बार बार मना करने पर भी बराबर मेरा भाषण कराया करते थे। मुझ पर ही नहीं बहुत से मनुष्यों पर उनका निस्पृह उपकार था। न मालूम कितने मनुष्य आचार्य श्री के प्रभाव व प्रेरणा से त्यागी, साधु, ब्रह्मचारी, गृहत्यागी व जगउदासीन हुए, उनकी संख्या गिनी नहीं जा सकती है। अधिक क्या लिखें संसार में ऐसी विभूतियाँ कभी कभी ही जन्म लेती हैं। वैसे तो जिसका जन्म हुआ है उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है, किन्तु स्वर्गीय आचार्य जैसी महान् पुण्यात्मा का आकस्मिक चला जाना बहुत खटकता है। सैकड़ों वर्षों तक ही नहीं किन्तु हजारों वर्षों तक उनका नाम व कार्य समाज में सबको प्रेरित करता रहेगा। अतः वे अमर हैं इसमें सन्देह नहीं।

## कुल्हाड़ी के आँसू

पेड़ काटते काटते कुल्हाड़ी उछल कर एक पत्थर पर जा गिरी। एक चिन्गारी निकली। कुल्हाड़ी उसी पत्थर पर सिर रखकर फफक फफक कर रोने लगी। उसके साथ लगे लकड़ी के डंडे से देखा नहीं गया। उसने कारण पूछा कुल्हाड़ी बोली "मुझे प्रतिदिन इन हरे भरे वृक्षों को काटने में बड़ा दुःख होता है।" साथ वाले डंडे ने उत्तर दिया—"अगर हमारे अन्दर जाति द्रोह न हो, एक दूसरे के विनाश की कामना न करें तो तुम्हारी क्या मजाल है जो हमारा बाल भी बाँका कर सको। यह तो हमारी ही आपसी फूट का परिणाम है कि मैं लकड़ी का डंडा ही तुम्हें उठाकर अपनी ही जाति (लकड़ी) के वृक्षों का विनाश करा रहा हूँ।"

# परम पूज्य १०८ आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज परम गुरु भक्त थे

( एक सत्य घटना के आधार पर )

[ ले०—श्री पं० छोटेलालजी बरैया, उज्जैन ]

बात स्वर्गारोहण के १५ दिन पहले की है। संघ अपना चातुर्मास प्रतापगढ़ में पूर्ण कर शान्तिनाथ भगवान की ३२ फुट ऊँची प्रतिमा की पंच कल्याणक प्रतिष्ठा में सम्मिलित होने के लिये महावीरजी पहुँच चुका था। महावीरजी के कटले में संघ ठहरा हुआ था। प्रतिष्ठा की तैयारियाँ जोरों से चल रही थीं। पूज्य ब्र० सूरजमलजी साहब के साथ मुझे भी सहायक प्रतिष्ठाचार्य नियत किया गया था। श्रीमहावीरजी से पूज्य ब्र० लाडमलजी महाराज के पत्रों पर पत्र मुझे बुलाने के बार बार आ रहे थे। मैं आवश्यक कार्य से निबट कर फाल्गुन कृष्णा १० को देहरादून एक्सप्रेस से रवाना होकर रात्रि के ४ बजे श्री महावीर के शान्तिवीर नगर में पहुँचा। यहाँ श्री पूज्य ब्र० लाडमलजी थे, मैंने शान्तिवीर नगर के आफिस में बिस्तरा रख दिया। प्रातः ब्र० सूरजमलजी आये, ब्र० लाडमलजी महाराज एवं ब्र० सूरजमलजी महाराज ने कहा कि यहाँ आपके ठहरने की व्यवस्था नहीं है, आप खुरजावालों की धर्मशाला में चले जावें वहाँ कोई कोठरी की व्यवस्था अभी हो सकेगी। मुझे बड़ा दुःख हुआ और खिन्न मन से अपना सामान उठाकर मैं खुरजावालों की धर्मशाला में आया, पूज्य ब्र० कमला बाई की प्रेरणा से कोठरी तो मिल गई परन्तु हृदय में बड़ी वेदना रही। दिन भर तो उदास चित्त से निकाला और शाम के चार बजे मैंने यह निश्चय किया कि आज ही शाम के ८ बजे जनता एक्सप्रेस से वापस उज्जैन चल देना चाहिये।

मैंने अपने निश्चयानुसार विस्तर वगैरह कम्पलीट कर के रख दिया और वापस उज्जैन जाना तय कर लिया। परन्तु मेरे ये समाचार न मालूम स्वर्गीय श्री पूज्य आचार्य शिवसागरजी महाराज को किस प्रकार मालूम हो गये और उन्होंने मुझे श्री छोटेलालजी नैनवाँ वालों के द्वारा बुलवाया, मैं उनके चरण सान्निध्य में पहुँचा, नमोस्तु कर के बैठ गया।

मेरे बैठने पर आचार्य श्री ने फरमाया कि बरैयाजी मुझे आपके सब समाचार मालूम हो चुके हैं आप शाम को वापस जाने के लिये अपना सामान कम्पलीट करके रख आये हो परन्तु आपको यह मालूम होना चाहिये कि यह कार्य आपका या मेरा नहीं है, यह कार्य स्व० परम पूज्य गुरुवर्य श्री शांति-सागरजी महाराज और स्व० आचार्य गुरुवर्य्य १०८ श्री वीरसागरजी महाराज की पवित्र स्मृति में सम्पन्न होने जा रहा है। हमें चाहे जितने कष्ट एवं संकटों का सामना क्यों न करना पड़े मगर अपने गुरुओं की पवित्र स्मृति के इस स्मारक का कार्य पूरा किये विना यहाँ से नहीं हटना है। तुम को अपने विचार बदलने हैं, मैं तुम को आदेश देता हूँ कि विना पंचकल्याणक प्रतिष्ठा कराये मैं तो चाहे भले ही

चला जाऊं मगर तुमको यहाँ से नहीं जाना होगा। उठो, पीछी के हाथ लगा कर प्रतिज्ञा करो कि मैं विना प्रतिष्ठा कराये नहीं जाऊँगा।

विवश होकर मुझे पीछी के हाथ लगा नमोस्तु करके बैठना पड़ा। मगर आचार्य श्री के उद्गार बराबर अपने गुरुवर द्वय के प्रति बड़ी भक्ति के साथ निकलते ही गये जिन्हें सुन-सुनकर मैं दंग रह गया। वास्तव में स्व० श्री आचार्य शिवसागरजी महाराज अत्यन्त परम गुरु भक्त थे। उनका हृदय गुरुभक्ति से लबालब भरा हुआ था। मुझे लिखते हुये दुःख होता है कि परम पूज्य आचार्य महाराज शांतिवीर नगर की प्रतिष्ठा होने के पूर्व ही चले गये, प्रतिष्ठा के ६ दिन पूर्व ही आपका समाधिमरण हो गया। क्या आपको अपनी समाधि का आभास पहले ही हो गया था ?



## एक आध्यात्मिक पद :

[ कवि श्री भागचन्दजी ]

कब मैं साधु स्वरूप धरूंगा ।।टेक।।

बन्धु वर्ग में मोह त्याग करि, जनकादिक सौं वच उचरूंगा ।।
तुम जनकादिक देह संबन्धी, तुम तैं मैं उपजूं न मरूंगा ।।कब।।१।।

श्री गुरु निकट जाय सुवचन सुनि, उभय लिंग धरि वन विचरूंगा ।।
अंतरमूर्छा त्यागि नग्न ह्वै, बाहिज ताके हेत हरूंगा ।।कब।।२।।

दर्शन ज्ञान चरन तप वीरज, या विधि पंचाचार चरूंगा ।।
तावत् निश्चल होय आप में, परिपरिणामनि सौं उबरूंगा ।।कब।।३।।

चाखि स्वरूपानंद सुधारस, चाह दाह में नहीं जरूंगा ।।
शुक्ल ध्यान बल गुण श्रेणी, परमातम पद सौं न टरूंगा ।।कब।।४।।

ज्ञान दर्शनानंत यथारथ, रहि हौं फिर न विभाव भरूंगा ।।
"भागचन्द" निर्द्वंद निराकुल तातैं नहिं भव भ्रमण करूंगा ।।कब।।५।।

# वात्सल्य मूर्ति

[ ले०—संग्रहकर्ता : श्री ध० अ० पं० हेमचन्दजी जैन शास्त्री M. A. अजमेर ]

अजमेर नगर के महान् पुण्योदय से श्री पूज्य १०८ आचार्य शिवसागरजी महाराज के संघस्थ आचार्यकल्प १०८ श्री श्रुतसागरजी महाराज संसघ वी० नि० सं० २४९८ में चातुर्मास में विराजे। संघस्थ विदुषी आ० १०५ विशुद्धमतीजी ने आचार्यश्री के सम्बन्ध में निम्नलिखित संस्मरण सुनाये।

अनुशासन कठोरता:—

आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज अनुशासन के विषय में अत्यन्त कठोर थे। संघ में आज्ञा थी कि कोई भी त्यागी किसी भी व्यक्ति से किसी प्रकार से अत्यावश्यक वस्तु की भी याचना न करे और यदि धर्मसाधनोपयोगी किसी वस्तु की आवश्यकता पड़े तो उसकी मांग संघ-नायक से की जाय।

उदयपुर चातुर्मास की घटना है कि एक अन्य संघस्थ आर्यिका इस संघ में आई और उन्होंने संघ प्रवेश की आज्ञा मांगी। आचार्यश्री ने आज्ञा प्रदान कर दी, साथ ही यह चेतावनी भी दे दी कि संघ के नियमानुसार रहना पड़ेगा। संयोगवश किसी भक्तिमान श्रावक ने किसी प्रयोजनवश दो रुपये प्रदान किये और श्री माताजीने उन्हें अपनी पुस्तक में रख लिया। किसी प्रत्यक्षदर्शी ने इस बात की चर्चा की। तत्काल ही उन माताजी से पूछा गया। सत्य प्रमाणित होने पर उन्हें संघ से वहिर्गत कर दिया गया।

दूसरी घटना इस प्रकार घटी। प्रतापगढ़ में एक क्षुल्लकजी का पूर्वावस्था का परिवार दर्शनार्थ आया। वह संघ का दर्शन कर महावीरजी जाना चाहता था। एक दिन उनके १२५) कहीं गिर गये या चोरी चले गये। परिवार स्वयं विवश था। संघस्थ उन क्षुल्लकजी ने इनकी विवशता देखकर किसी धर्मात्मा व्यक्ति से रुपये दिलवा दिये। परिवार निराकुल होकर यात्रा के लिये चला गया। यह चर्चा आचार्यजी के कानों में पड़ी और श्री क्षुल्लकजी को उपस्थित होना पड़ा। समय चातुर्मास का था तो भी उन्हें संघ से बाहर कर दिया गया। वे प्रतिदिन आकर क्षमायाचना व प्रायश्चित्त माँगते, परन्तु अनुशासन भंग का प्रायश्चित्त नहीं हुआ। बाद में समाज के गण्य व्यक्तियों के सविनय अनुरोध पर उन्हें प्रायश्चित्त देकर एक सप्ताह बाद संघ में सम्मिलित किया गया। सामूहिक दोष शोधन की कितनी सुन्दर प्रक्रिया है। संघस्थ अन्य व्यक्तियों को भी अत्यन्त मीठी परन्तु कठोर चेतावनी दे दी गई।

वात्सल्य मूर्ति:—

आचार्य महाराज का जहाँ कठोर नियन्त्रण था वहाँ उनके धर्मानुरागी हृदय में वात्सल्यमयी रसमय धारा भी बहा करती थी। उन्हें संघ में वैय्यावृत्य का क्या रूप होना चाहिये इसका पूर्ण ज्ञान था। वे इस विषय में बड़े जागरूक थे।

एक बार की घटना है कि एक त्यागी का स्वास्थ्य ठीक नहीं चल रहा था, वैसे संघ में बिना आज्ञा के उपवासादि करने की प्रथा ही नहीं थी। महाराज आहार से उठने के पूर्व सभी संघस्थ त्यागियों

की पूछताछ करते थे। उस दिन उस रुग्ण त्यागी का ध्यान न रहा। शुद्धि करने के बाद जब ध्यान आया तो वे उसी मुद्रा में पहिले वहाँ गये और उसकी स्थिति जानकर उचित संकेत किया।

मैत्रीभाव:—

आचार्य श्री का स्वभाव परस्पर विचार सामञ्जस्य का था। उन्हें अपने पदस्थ का कोई गर्व नहीं था। वे सभी छोटे बड़े त्यागियों की उपस्थिति में ही कोई निर्णय लिया करते थे विशेषत: चातुर्मास के सम्बन्ध में। अन्य अवसरों पर भी वे संघस्थ व्यक्तियों की राय का आदर करते थे। वे कहा करते थे कि जैसे सन्तान निरन्तर माता पिता के अनुशासन में रहकर उनके अनुकूल प्रवृत्ति करती है फिर भी बच्चे को जब कभी हठ हो जाता है तो वे उसे गोद में लेकर प्रसन्न करते हैं। इसी प्रकार वे प्रत्येक त्यागी को वात्सल्य पूर्वक मार्ग पर चलाते थे और उनकी सुविधा का पूरा ध्यान रखते थे। उन्हें अपने गुरु की बात सदा याद रहती थी कि छोटे की बात को भी ध्यान से सुनो छोटे होने के कारण ही किसी का निरादर नहीं होना चाहिये।

कष्ट सहिष्णु:—

सन् १९६५ के ज्येष्ठ माह में संघ महावीरजी में था, मन्दिर की बायीं ओर पण्डाल बना हुआ था उसीमें आ० महाराज का उपदेश होता था। अचानक आँधी आई और एक बल्ली महाराज के ऊपर गिरी, जिससे उनकी आँख के ऊपर तीन इंच घाव हो गया। रक्त की धार बह चली। भक्तों के अनुरोध पर महाराज घाव को हाथ से दबाये हुए भीतर आये जहाँ अन्य साधु गण स्वाध्याय कर रहे थे। खून से रंजित वे मौन पूर्वक विराज गये, आगत भीड़ने अनेक उपचार करने चाहे परन्तु १०,.१५ मिनट बाद महाराज ने केवल इतना ही कहा कि सूखा चूना भरदो और कुछ न लगाना।

दूसरी घटना सन् १९६६ में कोटा चातुर्मास के समय घटी। महाराज को मलेरिया ज्वर ने दबा लिया। इस ज्वर में कितनी शीत बाधा होती है यह तो भुक्त भोगी ही जानता है। उस बढ़ती हुई असह्य ठण्ड में भी महाराज चौकी पर बैठे हुए माला फेरते रहे। ठण्ड की कम्पन के साथ चौकी भी हिलती थी। देखने वाले यह दृश्य देख भी नहीं सकते थे परन्तु आचार्य श्री पर ठण्ड का कोई प्रभाव नहीं होता था।

जीवन के अन्तिम दिन फाल्गुन वदी १५ दोपहर के समय भी उनका माला जाप्य यथावत् चलता रहा जब कि आपके हाथ पैर शून्य हो चले थे। एक साधु ने कमजोरी के कारण महाराज के हाथ से माला लेनी चाही और कहा कि वे आत्मचिन्तन मन ही मन करें। इस पर महाराज श्री बोले मेरा बहुत कार्य बाकी है इतना कहकर वे आत्म मग्न हो गये। ३ बज कर २० मिनट पर वे स्वयं लघु शंका के लिये उठे। अपने हाथ से ही शुद्धि की, कायोत्सर्ग किया और जिन नामोच्चारण करते हुए ३ बज कर २५ मिनट पर स्वर्गारोहण कर गये।



# आचार्यश्री के जीवन की एक झलक

( लेखक-श्री पं० मनोहरलालजी शाह जैन, दर्शन शास्त्री, रांची )

स्व० पू० १०८ श्री आचार्य शान्तिसागरजी महाराज इस युग के महान् संत थे। वर्तमान में जो भी त्यागी व्रती एवम् मुनिराजों का सद्भाव दिखाई देता है वह सब आप ही की कृपा का सुफल है।

जिस प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र आत्मा का हित करने वाले माने गये हैं उसी प्रकार एक के बाद एक तीन साधु रत्न विक्रम की ८वीं शताब्दी में हुये जिनके नाम हैं श्री वीरसेनाचार्य ( धवला टीकाकार ) इनके शिष्य श्री जिनसेनाचार्य ( आदिपुराण के रचयिता ) एवम् जिनसेनाचार्य के शिष्य श्री गुणभद्राचार्य ( उत्तर पुराण के रचयिता ) ये तीनों ही आचार्य रत्नत्रय के समान संसार का हित करने वाले हुये हैं। इनके द्वारा महान् ग्रन्थराजों की रचना की गई, जिनका स्वाध्याय समस्त जैन संसार आज भी बड़ी श्रद्धा और भक्ति के साथ करता है। समाज को उक्त साधु रत्नत्रय पर गर्व है।

इसी प्रकार इस बीसवीं शताब्दी में भी क्रमशः तीन साधु रत्न स्व० श्री पू० आचार्य शांतिसागर जी महाराज, इनके शिष्य स्व० पू० आचार्य वीरसागरजी महाराज तथा वीरसागरजी महाराज के शिष्य स्व० पू० १०८ श्री आचार्य शिवसागरजी महाराज हुये, जिन्होंने बरसों तक जैन जैनेतर समाज में त्याग एवं तपश्चर्या की अनुपम धारा बहाई, सम्यग्ज्ञान का प्रचार किया एवम् मोक्षमार्ग का प्रतिपादन किया—जिनके महान् संघों में रह कर अनेक मुनिगण, आर्यिकायें, ऐलक, क्षुल्लक, ब्रह्मचारी, श्रावक, श्राविकायें आत्म कल्याण का मार्ग प्रशस्त करते थे एवम् वर्तमान में भी कर रहे हैं। आचार्य शिवसागरजी महाराज के बाद विशाल संघ के नेतृत्व का उत्तरदायित्व श्री पूज्य १०८ आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज के सक्षम स्कंधों पर आ पड़ा है जिसका निर्वाह वे एवं पूज्य श्री १०८ आचार्यकल्प श्रुतसागरजी महाराज बड़ी गम्भीरता कुशलता एवं मृदुता के साथ कर रहे हैं।

श्री पूज्य १०८ स्व० श्री आचार्य शिवसागरजी महाराज दि० जैन खंडेलवाल जाति के अनुपम रत्न थे। आपका जन्म दक्षिण में अड़गाँव में हुआ था। आपके पिता का नाम श्री नेमीचन्दजी तथा माता का नाम सौ० दगड़ा बाई था। राँवका गोत्र को आपने सुशोभित किया था। आत्मकल्याण की इच्छा से आपने आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार कर लिया। इसके कुछ समय बाद ही श्री पू० आचार्य वीरसागरजी महाराज के चरणों में मुक्तागिरि सिद्ध क्षेत्र पर सप्तम प्रतिमा के व्रत धारण कर लिये। सम्वत् २००० में क्षुल्लक बने एवं सम्वत् २००६ में नागौर में श्री पूज्य वीरसागरजी महाराज के चरण सानिध्य में जैनेश्वरी दीक्षा धारण की, तब आपका नाम शिवसागर रक्खा गया।

आप परम तपस्वी, शांत एवं गंभीर थे ! कृश काय होते हुये भी तपश्चर्या में दृढ़ व कठोर थे। संघ का नेतृत्व बड़ी कुशलता के साथ करते थे। उनका उपदेश बड़ा मार्मिक एवम् सरल भाषा में हुआ करता था जो श्रोताओं के अन्तर्मन को सहज ही छू लेता था। कुचामन एवं सुजानगढ के चातुर्मास के समय लेखक को बहुत समय तक उनके चरण सान्निध्य में रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। आचार्य वीरसागरजी के स्वर्गारोहण के बाद उनके शिष्यों में उस समय आप सर्वाधिक योग्य शिष्य माने गये एवम् आपको खानियां जयपुर में हजारों नर-नारियों के बीच चतुर्विध संघ के समक्ष आचार्य-पद प्रदान किया गया। इसके बाद आपने संघ का सफलता के साथ कुछ वर्षों तक नेतृत्व किया। आपकी छत्र छाया में सभी साधु वर्ग एवं श्रावक वर्ग का धर्म ध्यान सफलता के साथ संपन्न होता रहा।

लेकिन हमारे दुर्भाग्य से उनका वरद हस्त हमें अधिक समय तक प्राप्त न हो सका और वे शीघ्र ही श्री महावीरजी अतिशय क्षेत्र पर समाधि पूर्वक स्वर्गवासी हुये। हमारे बीच एक ज्योति आई थी वह चली गई लेकिन संसार के जीवों को प्रकाश दे गई। वे मानव मात्र को यह संकेत कर गये कि 'इक घड़ी मत विसरो करो नित आयु जम मुख बीच में।'

मैं ऐसे योगी श्रेष्ठ चारित्र शिरोमणि स्व० पू० १०८ श्री आचार्य शिवसागरजी महाराज के चरणों में अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।



## गुरु उपकार

कहोसो सराय काय पंथी जीव बस्यो आय, रत्नत्रय निधि जापै मोख जाको घर है।
मिथ्या निशि कारी जहां मोह अंधकार भारी, कामादिक तस्कर समूहन को थर है॥
सोवै जो अचेत सोई खोवै निज सम्पदा कौं, तहां गुरु पाहरू पुकारै दया कर है।
गाफिल न हूजै भ्रात ऐसी है अंधेरी रात, जागरे बटोही इहां चोरन को डर है॥

# आचार्य श्री के बुन्देलखण्ड चातुर्मास का
# ऐतिहासिक संस्मरण

[ लेखक-श्री विमलकुमारजी जैन सोंरया एम० ए०, शास्त्री मड़ावरा झाँसी ]

पंच य महव्वयाइं समदीओ पंच जिणवरुद्दिट्ठा,
पंचे विदियरोहा छप्पि य आवासया लोचो ।

अच्चेल कमण्हाणं खिदिसयण–मदंतघंसणं चेव,
ठिदि मोयणेमत्तं मूलगुणा अट्ठवीसादु ॥

भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य ने अट्ठाईस मूलगुणों से युक्त व्यक्ति को ही यति कहा है। वर्तमान् काल में भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य के बताए वीतराग पथ का जब प्रायः लोप सा हो गया था और लोगों को सहज ही यह विश्वास नहीं होता था कि दिगम्बर गुरु का परिषह पूर्ण जीवन, इन्द्रिय दमन का इतना कठोर मार्ग इस कलिकाल में कोई व्यक्ति अपने आचरण में उतार सकता है ! ऐसे सदोष काल में चारित्रचक्रवर्ती १०८ आचार्य वर्य श्री शान्तिसागरजी महाराज ने पूर्ण निष्ठा, दृढ़ता, निष्पृहता और शान्त परिणामों से इस पथ पर विचरण किया। और वीतरागता व निर्ममत्व का वह पाठ जो जीवन के माध्यम से नहीं पढ़ाया जा सकता था उन्होंने अपने महान्तम मरण के द्वारा पढ़ाया और जिनधर्म की प्रभावना में निर्दोष मुनिपरंपरा का सदोदय किया।

इन्हीं आचार्यश्री की पावन मुनिधर्म की परम्परा को तद्रूप चलाने वाले द्वितीय आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज हुये। इनकी अपने गुरु के प्रति महान् भक्ति और निर्दोष मोक्षमार्ग के प्रति अचल आस्था थी। अपने पद की गम्भीरता का अत्यन्त योग्यता पूर्वक निर्वाह करके अंत समय इन्होंने इस महान पद के लिये परमतपस्वी मुनि श्री शिवसागरजी महाराज को आचार्यत्व से अलंकृत किया। आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज ने अपनी गुरुपरम्परा के अनुरूप मुनिधर्म का जिस विशुद्धता के साथ परिपालन कर दिगम्बर मुनिधर्म का प्रसार किया वह जैन मुनिपरम्परा के इतिहास में सदैव स्मरणीय रहेगा।

आचार विचार की स्थिरता से युक्त सामयिक सूझ-बूझ के धनी व सामयिक कालदोष से पाई जाने वाली सकषाय प्रवृत्तियों व आचार शैथिल्य से शून्य, उनका संघ तत्कालीन जैन मुनि संघों में विशालतम साधु संघ था। ऐसे प्रभावशाली विशाल संघ का बुन्देलखण्ड में आना एक ऐतिहासिक महत्त्वपूर्ण घटना है। आज से कोई ५० वर्ष पूर्व चारित्रचक्रवर्ती आचार्य श्री शान्तिसागरजी के उस विशाल संघ का इस ओर विहार हुआ था। तब से गुरुचरणों का ऐसा मङ्गलमयी सम्पर्क बुन्देलखण्ड

प्रान्त के लोगों को प्राप्त नहीं हुआ था। टीकमगढ़ और समीपवर्ती क्षेत्रों के श्रावकों का वह महान् सौभाग्य था कि पपौराजी की पावन पुण्य भूमि पर ऐसे महान् साधु संघ का वर्षा योग विशिष्ट ऐतिहासिक स्मृतियों को लिये हुए व्यतीत हुआ।

उन पावन स्मृतियों का स्मरण आज भी अन्तस् में चलचित्र की भांति परिलक्षित होता रहता है। बुन्देलखण्ड चातुर्मास की वे पावन स्मृतियाँ जो गुरु प्रसाद से धर्म प्रभावना व जीवन कल्याण की दिशा में स्मरणीय बनीं हैं उन्हें स्मरण कर ऐसी महान् आत्मा को कोटिश: नमन करता हूँ।

## बुन्देलखण्ड के अंचल में—

जयपुर ( खानियाँ ) का वर्षायोग समाप्त कर आचार्यश्री ने संघ सहित बुन्देलखण्ड के पुरातन तीर्थों की वंदना करने का कृतसंकल्प किया और इस ओर विहार का शुभआयोजन प्रारम्भ कर दिया आचार्यश्री का यह संघ विहार करता हुआ २५ जून १९६४ के प्रात: ८ बजे टीकमगढ़ शहर में प्रवेश हुआ। २५ जून का वह दृश्य आज भी स्मरण आते ही मन हर्षोल्लास से भर जाता है। बड़ी बड़ी मांगलिक ध्वजाएं, अनेकों संगीत मण्डलियाँ, सुन्दर सौम्य कलशों, वाद्य नादों, शहनाइयों की मधुर धुनों और बाजों की गूंजों के साथ कोई ५/६ हजार का जनसमूह इनके अभ्यागत में शहर से २ मील दूर पहुँचा हुआ था।

## दैवी उपसर्गों के बीच—

राजस्थान सीमा पार करने के बाद बुन्देलखण्ड में प्रवेश के समय महाकाली नाम की नदी के समीप भयावह जंगल में संघस्थ मुनि श्री वृषभसागरजी महाराज पर जो दैविक उपसर्ग हुआ था वह मुनिजनों के तप: साधना की गम्भीरता का सम्यक् परिचय देता है। लेखक की कृति "परिचय माला" से उक्त घटना ज्ञात करें।

दूसरा उपसर्ग उस पावन तीर्थ पपौरा का है जब आचार्य श्री के मांगलिक चातुर्मास की स्थापना की शुभ कल्पना जन जन के लिये साकार का स्वप्न बन रही थी। पूज्य आचार्य कल्प श्री श्रुतसागरजी महाराज के ऊपर आया वह भयावह उपसर्ग उनकी महान् साधुता का सच्चा स्वरूप प्रस्तुत करता है। लेखक की "चातुर्मास" पुस्तक से इसका परिपूर्ण कारुणिक वृत्त ज्ञात करें।

## चातुर्मास स्थापना एक स्मरण—

१५ जुलाई १९६४ का वह सुहावना समय जब टीकमगढ़ नगर से १ किलो मीटर लम्बी श्रावक-श्राविकाओं की भीड़ नाना प्रकार के ध्वजाओं, सुन्दर सुन्दर वाद्यों एवम् जिनेन्द्र रथ विहार के साथ आचार्य संघ [illegible] पपौरा के लिये चला। पपौरा तीर्थ की ओर प्रस्थान करता हुआ ऐसा शोभाकारी [illegible] में आया हो।

यद्यपि आचार्य श्री के इस ओर विहार के साथ साथ ललितपुर, सागर, मड़ावरा, झाँसी आदि समीपवर्ती प्रमुख क्षेत्रों के सैंकड़ों व्यक्ति आचार्य श्री से अपने अपने नगरों में चातुर्मास किए जाने की प्रार्थनाएं कर रहे थे। परन्तु पपौरा क्षेत्र की उस पावन अतिशयता ने विजय पाई और आचार्य श्री ने अपने मंगलमय चातुर्मास का शुभयोग पपौरा में ही स्थापित करने का कृत संकल्प किया।

दिनाङ्क २३-७-६४ को मध्याह्न संघ के मुनिद्वय आचार्य कल्प श्री मुनि श्रुतसागरजी एवं परम पूज्य श्री मुनि अजितसागरजी का पपौरा के प्राङ्गण में प्रभावक विरागता का प्रतीक केशलोंच का आयोजन हुआ। टीकमगढ़ एवं समीपवर्ती नगरों से आये कोई २ हजार जन समुदाय ने चातुर्मास स्थापना की विनयपूर्ण प्रार्थनाएं की। आचार्य श्री ने जिस कृपापूर्ण रूप से पपौरा में चातुर्मास करने की स्वीकृती दी वह शब्दावली द्वारा अवर्णनीय है। गगन जय जय के नारों से गूंज उठा, भक्तिभाव से चढ़ाये गए श्री फलों के ढेर दिखने लगे और एक आत्मीय प्रसन्नता की स्मित रेखा प्रत्येक व्यक्ति के मुख पर परिलक्षित दिखाई देने लगी। साफ वायुमण्डल चन्द क्षणों में बादलों से घिर गया लगभग आधा घंटे की सुहावनी वर्षा ने संघ चातुर्मास स्थापना का स्वागत कर मुनिचरणों का प्रक्षालन किया।

## तपः साधना में निरत साधु संघ

पंच परमेष्ठी में जिन गुणों से युक्त आचार्य, उपाध्याय और साधुओं की हम नित्य वंदना करते हैं उन गुणों से युक्त हमारे पूज्य आचार्य श्री शिवसागरजी थे जिनकी तपः साधना जिनका "ज्ञान ध्यान तपो युक्तः" पावन जीवन इस युग में धन्य था। उपाध्याय के रूप में आचार्य कल्प श्री श्रुतसागरजी एवं प्रातःस्मरणीय श्री अजितसागरजी जैसे प्रतिभावान ज्ञान के वारिधि मुनि उपाध्याय की संज्ञा के साकार थे। शेष साधु संघ आत्म कल्याण में निरत अपने पद की योग्यता के परिपूर्ण प्रतीक थे। पूरे संघ में "ज्ञानध्यानतपोयुक्तः" पद की साकारता का एक ही लक्ष्य प्रधान था। समयानुसार मोटे तौर पर पूरे संघ का दैनिक कार्यक्रम निम्न प्रकार देखने में पाया जाता रहा।

प्रातः ३½ और ४ के बीच अर्द्ध निद्रा त्याग कर मुनि श्री सामायिक प्रारम्भ करते थे। ५ से ६ तक प्रतिक्रमण फिर शुद्धि व दर्शन वन्दनादि के उपरान्त ८½ से ९½ तक तत्व चर्चाएं व परस्पर धार्मिक विषयों पर शंका समाधान होता था जो बहुत ही मनोमुग्धकारी एवं ज्ञेय ज्ञायक था। १० बजे आहार को निकलते थे और ११ बजे से १ बजे तक आत्मचिंतन एवं सामायिक क्रिया करते थे। १ से ३ तक सैद्धान्तिक ग्रन्थों का पठन पाठन व चिंतन होता था। ३ से ४ तक सामूहिक शास्त्र प्रवचन एवं ४ से ५ तक परस्पर तत्वचर्चा, ५ से ६ तक प्रतिक्रमण, ६ से ८½ तक सामायिक व आत्मचिंतन ९ से ११ तक प्रायः संघस्थ मुनिराज पठनचिंतन आदि क्रियाओं में निरत रहकर १२ बजे तक ध्यान ज्ञान में निरत रहते थे। पश्चात् अर्द्ध निद्रा में शयन—वह ऐसा कि मन जिनेन्द्र प्रभु के स्मरण में तल्लीन, भाव आत्मचिंतन युक्त होते थे। यह थी संघ की दैनिक क्रिया।

## त्यागमय जीवन की साकारता में—

धार्मिक प्रवृत्तियों और विराग की प्रेरणाओं से अभिभूत होकर चातुर्मास स्थापना के बावीसवें दिन १४ अगस्त शुक्रवार १९६४ की शुभ वेला में बुन्देलखण्ड की गौरव नारी रत्न विदुषी ब्र० पं० सुमित्रा बाईजी ने अपने सद्संस्कारों के अनुरूप आर्यिका की दीक्षा लेकर जहाँ त्याग की उत्कृष्ट सीमा का साकार रूप प्रस्तुत किया, तो चातुर्मास के अन्तिम माह तक इस प्रेरणा से प्रेरित अनेकों श्रावकों एवं श्राविकाओं ने अणुव्रत एवं अनेकों भव्यों ने अनेक प्रकार के त्याग मय व्रतों को यथा शक्ति स्वीकार कर जीवन को धन्य किया।

चातुर्मास के अन्तिम माह में १५ नवम्बर सन् १९६४ का वह शुभ दिन नहीं भुलाया जा सकता जब वयोवृद्ध ब्र० श्री नन्हेंलालजी बीरपुरा वाले सागर, ब्र० सुरेन्द्र कुमारजी उदयपुर एवं ब्र० शान्ताबाईजी कन्नड़ निवासी ने संसार की असारता मय स्थिति से भयभीत होकर क्षुल्लक दीक्षाएं लेकर मुक्तिमार्ग का अनुसरण किया।

## धर्म प्रभावना के विकसित पुष्प—

यद्यपि बुन्देलखण्ड धार्मिक परम्पराओं और मान्यताओं में सबसे अग्रणी रहा है परन्तु कालदोष के प्रभाव से इस प्रखण्ड में भी धर्म के प्रति हीनता का भाव यहाँ की नई पीढ़ी में बढ़ने लगा था। आचार्य श्री के इस चातुर्मास से इस दिशा में जो लोकोपयोगी प्रभाव जनमानस पर पड़ा है वह अवश्य बुन्देलखण्ड के उत्थान एवं जनकल्याण की दिशा में महान हितकारी रहा।

चातुर्मास के चार महिनों में जहाँ चातुर्मास स्थापना के समय श्री सिद्धचक्र महामण्डल विधान के विशाल स्तरपर प्रभावना पूर्ण श्री सम्पन्न आयोजन ने एक अभूतपूर्व धर्म प्रभावना का कार्य किया। संघस्थ मुनिराजों में आचार्य श्री द्वारा नियमित ३-४ दिन का पारणा एवं पर्यूषण पर्व को पूर्णोपवास के साथ आराधना, मुनि श्री सुपार्श्वसागरजी का भाद्र मास में मासोपवास करना मुनि श्री कुन्थुसागरजी जैसे मौन साधकों का एवं अन्य समस्त साधु संघ का साप्ताहिक पाक्षिक सोपवास पूर्वक व्रतों का पालना, तथा परमपूज्य मुनि श्री श्रुतसागरजी एवं मुनि श्री अजितसागरजी द्वारा अमृतोपम ज्ञान गरिमा पूर्ण सद्बोध देना ही धर्म प्रभावना के महानतम स्रोत थे। परिणामतः समय समय पर सम्पन्न हुई यह आश्चर्यकारी त्याग मय बोधपूर्ण सद्प्रवृत्तियों से जनमानस पर धार्मिक आस्था का गम्भीर और स्थाई प्रभाव पड़ा।

श्री पं० कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री वाराणसी, श्री पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य सागर, पं० श्री जगन्मोहनलालजी कटनी, पं० श्री वंशीधरजी व्याकरणाचार्य बीना, ब्र० श्रीलालजी काव्यतीर्थ [illegible], आदि अनेकों विद्वानों का शुभ समागम और उनके द्वारा दिए गए तात्विक उपदेशों

एवं श्री भँवरीलालजी वाकलीवाल, श्री बद्रीप्रसादजी सरावगी पटना, श्री पं० सटोलेलालजी भाटिया सागर जैसे प्रभृति श्रीमानों के शुभागमन और उनके द्वारा दिए गए उदारता पूर्ण अर्थ दानों की प्रेरणा पूर्ण प्रवृत्तियों ने इस प्रदेश के जन जन में एक नए प्रभाव की धारा प्रवाहित की।

चातुर्मास के समय श्री सम्पन्न श्री अष्टाह्निका, सोलहकारण, दशलक्षण जैसे महापर्वों का अपने विशाल और प्रभावक ढंग से सम्पन्न होना, आचार्य शान्तिसागरजी, आचार्य वीरसागरजी एवं पूज्य क्षु० गणेशप्रसादजी वर्णी जैसे ऐतिहासिक महापुरुषों के स्मरण दिवसों का मांगलिक आयोजन और भगवान वीरप्रभु की पुण्यतिथि के पावन पर्व का विशिष्टता एवं प्रेरणा पूर्ण ढंग से मनाया जाना इस प्रक्षेत्र के व्यक्तियों के लिये जीवन धन्यता के सौभाग्य का शुभ योग था।

**प्रभावना के प्रकाश में—**

आचार्य श्री के संयोग से इस क्षेत्र में जो धर्म प्रभावना की अभूतपूर्व धारा बही उससे ऐसा प्रतीत होता था मानों वह काल्पनिक युग साकार रूप में प्रवर्त रहा हो जो सहस्रों वर्ष पूर्व भगवान महावीर स्वामी के शासन काल में था।

महत्वपूर्ण सम्पादित धार्मिक आयोजनों की साकारता के लिए इस तीर्थ पर उपयुक्त स्थान का अभाव महसूस कर स्थानीय समाज ने एक विशाल सभा भवन की आवश्यकता महसूस की। परिणामतः १ अक्टूबर १९६४ को श्री बद्रीप्रसादजी सरावगी के करकमलों से श्री शिवसागर प्रवचन हाल का शिलान्यास किया गया। यह विशाल सभा भवन अपनी योजनानुसार चन्द समय में ही मूर्त रूप में तैयार हो गया।

नवनिर्मित श्री बाहुबलि विशाल जिन मन्दिर की पंचकल्याणक प्रतिष्ठा एवं गजरथ महोत्सव का विशाल आयोजन भी आचार्य श्री के शुभाशीष से उन्हीं की पावन छत्र-छाया में विशेष प्रभावना के साथ सम्पन्न हुआ। परिणामतः जैनजैनेतर जनसमाज में जिनधर्म की जो प्रभावना आचार्य श्री के इस पुनीत शुभयोग से हुई संभवतः सैंकड़ों वर्षों के प्रयत्न से इतनी प्रभावना व प्रेरणा सम्भव न हो पाती।

**चातुर्मास का परोक्ष प्रभाव—**

इस चातुर्मास से इस प्रक्षेत्र में एक ओर जहाँ सभी के अन्तस् में त्याग मय आचरण की प्रवृत्ति का शुभोदय हुआ तो दूसरी ओर सैद्धान्तिक ज्ञानार्जन की सम्यक् प्रेरणा जन जन को प्राप्त हुई। कालदोष के कारण फैल रही आचरण हीनता एक सदाचरण के रूपमें परिवर्तित हो गई। बुन्देल खण्ड आचार्य श्री की कृपा से पुनः उस खोई हुई उपलब्धि को पा गया जिसका सदैव यहाँ रूप प्रवर्तता रहा है। ऐसे कल्याणकारी आचार्य श्री की उस महान आत्मा को एवं उस पावन संघ को मेरा कोटि कोटि नमन है।

★

# डेह की भूमि में प्रथम दिगम्बर मुद्रा के दर्शन

( श्री डूंगरमलजी सबलावत, डूंगरेश, डेह )

परम पूज्य श्री १०८ श्री वीरसागरजी महाराज चातुर्मास निमित्त नागौर में ससंघ पधारे। क्षुल्लक शिवसागरजी को अनुभव हुआ कि पूर्ण आत्म साधना के बाधक चादर, लंगोटी हैं अतः इनका त्याग करना ही श्रेष्ठ है जैसा समझ कर गुरुवर के समक्ष वि० सं० २००६ मिति आषाढ़ शुक्ला ११ को अपार जन समुदाय के समक्ष नग्न दिगम्बर मुद्रा धारण की।

इस सुअवसर पर एवं चातुर्मास में डेह को जनता को भी समय समय पर प्रवचन सुन कर पुण्य संचय करने का सौभाग्य प्राप्त होता रहा।

चातुर्मास पूर्ण होने पर डेह की भूमि को पवित्र करने, और खान-पान एवं धार्मिकता से विमुख होने वालों को सही रास्ता बताने के लिये, प्राचीन मन्दिर के दर्शन करने की प्रार्थना को स्वीकार करने का सौभाग्य प्राप्त हो गया। एक दिन गुरुवर श्री १०८ श्री वीरसागरजी महाराज सहित नूतन मुनि श्री शिवसागरजी महाराज प्रथम दिगम्बर मुद्रा धारण कर वि० सं० २००६ मिति माघ कृष्णा २ को २८ त्यागी व्रतियों के विशाल संघ सहित धर्म प्राण पिपासुओं को अमृत-वाणी का पान कराने के लिये डेह में बहुत आनन्द उत्साह व जय ध्वनि सहित पधारे। स्थानीय जैनाजैन जनता ने संघ का अपूर्व स्वागत किया क्योंकि १३ वर्षों के बाद मुनिसंघ का डेह में पदार्पण हुआ था।

आगमोक्त क्रियायें, पूजा की आगमानुकूल विधि एवं श्रावकों के लिये प्रतिदिन आवश्यक समझी जाने वाली क्रियाओं को प्राप्त करने का पुनः सौभाग्य मिला।

आपका सरल, मधुर भाषा में मन्दिरों में, सार्वजनिक स्थानों आदि में भाषण-प्रवचन होता था।

कड़ी धूप में, विशेष ठण्ड में घन्टों एकआसन से ध्यान मग्न होकर तपस्या में तल्लीन होते एवं व्रत, उपवास लगातार कई दिनों तक करते। ऐसे "तपस्या-विजयी" के उपदेशामृत से सिद्धचक्र विधान, शान्ति विधान, नवग्रह आदि विधान, व्रत उद्यापन हुये एवं अनेकों ने शुद्ध खान-पान, अष्टमूल-गुण, पंचाणुव्रत, ब्रह्मचर्य व्रत एवं अनेक व्रत ग्रहण किये। तथा रात्रि भोजन त्याग, मद्य मांस, पानी छान कर पीना आदि अनेक प्रकार के नियम जैनाजैन जनता के सैंकड़ों व्यक्तियों ने लिये।

डेह की धर्म प्राण जनता की गुरु भक्ति को देखकर संघ करीब तीन मास यहां ठहरा, जिससे धर्म की प्रभावना एवं जन जागृति काफी हुई।

गुरुदेव का आशीर्वाद मिला "डेह की समस्त समाज गुरु भक्त, श्रद्धालु है। मुनि, साधुओं, त्यागियों के लिये धर्म साधन का श्रेष्ठ स्थान है।"

आपके दर्शन करने का, प्रवचन सुनने का कई बार अवसर मिला। ऐसे मुनिराजों को बार-बार नमस्कार।

वि० सं० २०२५ मि० फाल्गुण कृष्णा १५ को श्री महावीरजी क्षेत्र पर विशाल संघ को त्याग कर स्वर्गवासी होकर हम लोगों को अनाथ कर गये।

ऐसे परम पूज्य महान् त्यागी गुरुदेव आचार्यश्री के चरणों में पुष्पाञ्जलि क्षेपण करता हुआ अविनाशी पद प्राप्ति की प्रार्थना करता हूँ।



# परमोपकारी श्री गुरु

[ श्री रामचन्द्रजी कोठारी, जयपुर ]

श्री १०८ आचार्य शिवसागर जी महाराज के साथ मेरा २० वर्ष से सम्पर्क रहा था। वास्तव में वे महान् तपस्वी थे। आपने अपने संघ का संचालन परम्परागत सुचारु रूप से किया था आपकी आज्ञा के अनुसार संघ का कार्य होता था। आपका संघ एक विशाल संघ था। ऐसा विशाल संघ शायद पिछले ४००-५०० वर्ष में भी नहीं हुआ होगा।

आपका स्वभाव बहुत ही मृदुल था। आप सरल हृदयी, तथा निष्कपट थे। आपने ४ चातुर्मास जयपुर खानियाँजी में किये। सौभाग्य से मुझे भी इन चातुर्मासों में आपको आहार देने का व सेवा करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। आपको आचार्य वीरसागरजी महाराज के पट्ट पर खानियाँजी में करीब २५-३० हजार व्यक्तियों के समक्ष चतुर्विध संघ ने आचार्य पद से सुशोभित किया।

आपसे मेरा प्रथमबार सम्पर्क फुलेरा में हुई प्रतिष्ठा में हुआ था। आप वहाँ से पदमपुरा दर्शनों के लिए पधार रहे थे, उस वक्त भाँकरोटा में ( जयपुर शहर से ८ मील पहले ) मुझे अशुद्ध जल का त्याग करवाया था। आपकी महान् प्रेरणा से ही मैंने आचार्य श्री शान्ति सागरजी महाराज से कुन्थलगिरि सिद्धक्षेत्र में दूसरी प्रतिमा के व्रत लिये थे। उस समय मेरी इच्छा कुन्थलगिरिजी जाने की नहीं थी, मगर आपने व आचार्य कल्प श्रुतसागरजी महाराज ने मुझे वहाँ जाकर आचार्य श्री शान्तिसागरजी महाराज के दर्शनों के लिए कहा व दूसरी प्रतिमा के व्रत धारण करने को कहा। आपका कहना था कि ऐसा अवसर फिर नहीं आवेगा। मैंने भी इसे उचित समझा और कुन्थलगिरिजी गया, जहाँ मैंने दूसरी प्रतिमा के व्रत धारण किये आपकी मुझ पर असीम कृपा थी। उनकी प्रेरणा से ही मुझे व्रत लेने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मेरा परम सौभाग्य था कि मुझको आखिरी समय में भी श्री महावीरजी में उनके दर्शनों का व आहार का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

मैं जिनेन्द्र देव से बारम्बार प्रार्थना करता हूं कि दिवंगत आत्मा को जल्दी ही मोक्ष की प्राप्ति हो।

# आचार्य महाराज का महान् व्यक्तित्व और वीतरागी शासन

[ लेखक:—श्री पं० मक्खनलालजी शास्त्री न्यायालङ्कार, मोरेना ]

श्रीमत् परम पूज्य श्री १०८ आचार्य शिवसागरजी महाराज का साधुपदस्थ व्यक्तित्व और आचार्य पदस्थ धर्म प्रभाव पूर्ण वीतरागी शासन ये उनके महान् आदर्श थे। मुझे उनके पवित्र दर्शनों का सौभाग्य अनेक बार अनेक नगरों में हुआ था। महाराष्ट्र में औरङ्गाबाद के निकट उनकी जन्म-भूमि थी। खंडेलवाल जाति के वे नर रत्न थे। जब वे साधु पद में थे तब उनकी चर्या ऐसे साधु पद में प्रतीत होती थी जैसे वे आचार्य पद को छोड़कर स्वात्म साधन में ही निमग्न हों। मैंने साधुपद में उन्हें ध्यानमग्न, स्वाध्यायरत, एकान्त प्रिय, प्राय: बहुभाग समय में मौनस्थ देखा। साथ ही वीतरागी शान्त मुद्रा एवं शान्त स्वभावी देखा। शास्त्रीय तत्व चर्चा एवं धर्म चर्चा करने की वे सदैव इच्छा रखते थे। अन्य चर्चा उन्हें स्वीकार नहीं थी। मेरे साथ उन्होंने अनेक शास्त्रीय चर्चायें कीं। चर्चा के समय उनको निष्पक्षता तथा उदासीन भाव रहता था। आगमके दृढ़तम पोषक और अनुगामी थे।

ये ही सब महान् गुण परम पूज्य मुनिराज शिवसागरजी में थे। इसीलिये परम पूज्य श्री १०८ आचार्य वीरसागरजी महाराज के दिवंगत होने के बाद संघ के साधु, समाज, पूज्य आर्यिकागण और धार्मिक श्रावक-श्राविकाओं के समूह की सम्मति से अनेक तपस्वी एवं तत्व वेत्ता साधुओं के बीच में आचार्य पद मुनिराज शिवसागरजी को दिया गया। इस पद के लेने में उन्होंने पूरी अनिच्छा प्रगट की, किन्तु चतुःसंघ का अनुरोध और उसकी प्रार्थना पर आचार्य पद मुनिराज शिवसागरजी को स्वीकार करना पड़ा।

## आचार्य पद में चर्या का रूप

परमपूज्य आचार्य शिवसागरजी महाराज की अनेक बार मैंने चर्या और उनका शासन देखा। उन्हें आहार देने का भी पुण्य लाभ लिया है। उनकी साधु चर्या में विशेष आचार्य पद में मैंने कुछ नहीं समझा। वे उसी वीतरागी साधुवृत्ति में जैसे तत्पर रहते थे। आचार्य पद में भी वैसे रहते थे। स्वहित उन्होंने अपना मुख्य कर्तव्य माना। परहित भी आचार्य पद के नाते उन्होंने अपना कर्तव्य समझा। किन्तु उनका शासन धर्मशासन था। राज्यशासन के समान अंकुश पूर्ण शासन नहीं था। वे साधुओं की चर्या को साधु पद के योग्य ही रखना चाहते थे किन्तु शासन की पद्धति से नहीं, वीतरागी पद्धति से। परिणाम यह था कि सभी साधुगण और आर्यिकाएं, क्षुल्लक क्षुल्लिकाएं, आचार्य महाराज के कुछ भी

कहे बिना अपनी साधु चर्या में सावधान एवं तत्पर रहते थे। यदि प्रमादवश उनसे कोई दोष हो जाता तो स्वयं आचार्य महाराज के पास निष्कपट भाव एवं सरलता से निवेदन करते थे और महाराज उन्हें दोष के अनुरूप यथोचित प्रायश्चित भी सरल वृत्ति से देते थे।

## दो गुणों की प्रधानता

आचार्य शिवसागरजी महाराज में दो गुण प्रधान थे। एक तो वे परम शान्त थे दूसरे वे परम विवेकी थे। इन दोनों गुणों से उनका आचार्य पद गौरवपूर्ण था। प्रत्येक बात में प्रत्येक चर्या में उनका विवेक रहता था। वास्तव में चाहे साधु हो चाहे सद्गृहस्थ हो चाहे विद्वान् हो, कोई भी हो, जिसमें विवेक नहीं है अर्थात् आगे पीछे का विचार कर कार्य करने की शक्ति या क्षमता नहीं है तो वह प्रारब्ध कार्य में सफलता नहीं पा सकता है। निष्कषाय वृत्ति, व्यक्ति को सरल एवं निष्पक्ष बनाती है। आचार्य शिवसागरजी में दोनों गुण थे। ये ही उनके व्यक्तित्व और आचार्य पद के गौरवपूर्ण प्रभावक महान् गुण थे।

उनका अष्ट अङ्ग सहित सम्यक्त्व विशुद्ध था और सम्यक्चारित्र भी निर्मल था। अपने अत्यन्त क्षीण शरीर में आत्मीय तपस्विता के मूर्तिमान् रूप थे। प्रारम्भ में वे विद्वान् नहीं थे। किन्तु पीछे अनेक शास्त्रों का स्वाध्याय और मनन करने से साथ ही निर्मल चारित्र होने से उनका ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम बहुत बढ़ गया और वे विशिष्ट सिद्धान्तवेत्ता बन गये फिर भी वे विद्वानों से कहते थे कि हम तो ज्यादा कुछ जानते नहीं हैं। अमुक विषय का रहस्य बताओ? यह उनकी अत्यन्त सरल वृत्ति का आदर्श था।

आज उनका भौतिक शरीर नहीं रहा है जिसके द्वारा वे धर्म का उद्योत एवं श्रावकों का कल्याण करते थे किन्तु उनका परम पवित्र आत्मीय तेज पूर्ण आदर्श जन जन के हृदय पटल पर स्थायी रूप से अङ्कित है।

मैं मन, वचन, काय से परम पूज्य आचार्य शिवसागरजी महाराज के चरणों में नत मस्तक पूर्वक श्रद्धांजलि समर्पित करता हूँ।



# गुरूणां गुरु

[ लेखकः—ब्रह्मचारी श्री सूरजमलजी, आचार्य संघ ]

**जन्म :**

परम पूज्य प्रातः स्मरणीय १०८ आचार्यवर्य श्री शिवसागरजी महाराज के जीवन की सबसे अमूल्य संस्मरणीय बात यह है कि उनका और उनके गुरु का एक ही नाम था। दोनों बाल ब्रह्मचारी थे एवं उनके आद्यन्त एक ही गुरु रहे। उनके गुरु परम पूज्य स्व० १०८ आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज का जन्म निजामप्रान्त हैदराबाद स्टेट औरंगाबाद ( दक्षिण ) जिले के अन्तर्गत वीरग्राम में खण्डेलवाल जातीय गंगवाल गोत्रीय श्रीमान् श्रेष्ठिवर रामसुखजी की धर्मपत्नी सौ० भाग्यवती की दक्षिण कुक्षि से विक्रम सम्वत् १९३२ आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा के प्रातः शुभ वेला में बाल सूर्य की भाँति हुआ था। यद्यपि आपके अग्रज श्री गुलाबचन्दजी थे, किन्तु आपका जन्म होते ही कुटुम्ब तथा स्थानीय जनता के हृदय में अपार खुशी हुई थी। जब आप गर्भ में थे तब माता सदैव कुछ न कुछ शुभ स्वप्न देखा करती थी और उनकी भावना दान-पूजा, तीर्थ-वन्दनादि कार्यों को करने की रहा करती थी। बच्चे का नाम हीरालाल रखा गया। जैसे प्राचीदिशा बालसूर्य को अपने अङ्क में लेकर प्रमुदित होती हुई रक्त वर्ण को धारण कर लेती है, उसी प्रकार माता भाग्यवती भी उस बाल-सूर्य के सदृश अपने लाड़ले सुपुत्र को अपनी गोद में खिलाती हुई अपार हर्ष के कारण फूली नहीं समाती थी। बालक के शुभग नाम कर्म के उदय के कारण, उसे गोद में उठाकर खिलाने वाला प्रत्येक स्त्री-पुरुष अपार हर्ष का अनुभव करता था।

**अध्ययन :**

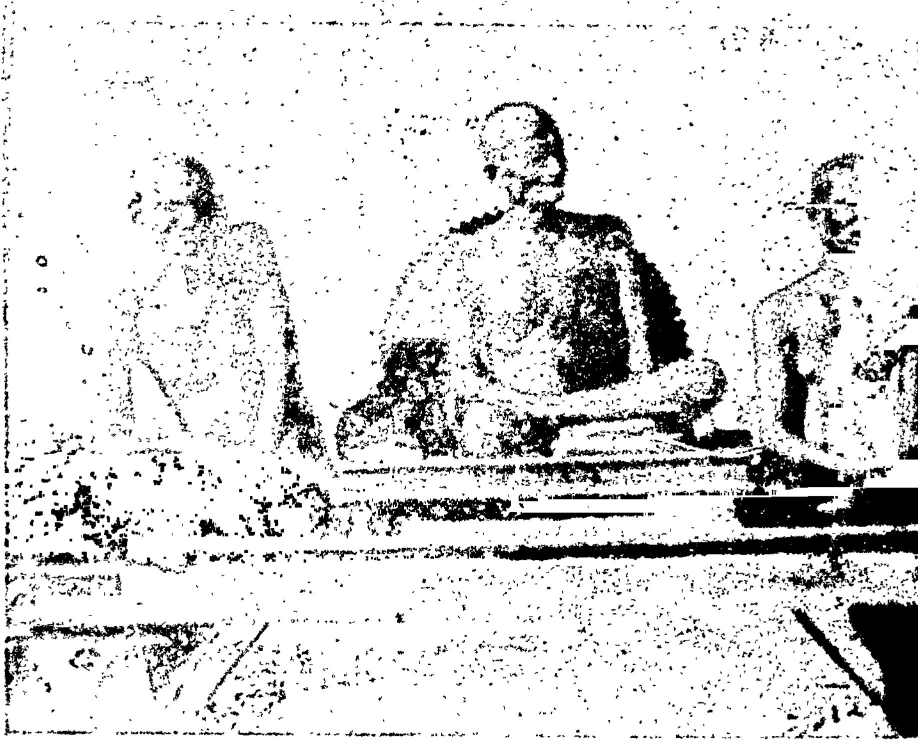
जब आप सवा महिने के हुए तो आपको गाजे बाजे के साथ माता पिता व कुटुम्बीजन जिनालय में ले गए, वहाँ जिनबिम्ब के सम्मुख आपके कान में णमोकारमन्त्र सुनाया गया। मद्य, मांस, मधु, बड़, पीपल, गूलर, पाकर और कठूम्बर का त्याग कराकर अष्ट मूलगुण धारण करवाए गए और इस प्रकार आप पक्के जैन बन गए। आठ वर्ष की उम्र में पिता श्री रामसुखजी ने बालक को शुभ मुहूर्त में पढ़ने हेतु पाठशाला भेजा। आप भी बड़ी रुचि के साथ अक्षरों की जानकारी में जुट गए, थोड़ी सी अवधि में आपने हिन्दी, मराठी तथा उर्दू भाषा का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया। माता पिता के धार्मिक संस्कार होनेसे आप भी भगवान के दर्शन किए बिना भोजनादि नहीं करते थे। इस प्रकार आपका बाल्यकाल बड़े ही आमोद प्रमोद में बीता।

१६ वर्ष की अवस्था में, माता पिता ने आपका पाणिग्रहण संस्कार करना चाहा, सभी के आग्रह के बाद भी आपने विवाह नहीं किया और उदासीन रूपसे व्यापारादि करने लगे, किन्तु अपना अधिकतर समय जिनालय में पूजन, पाठ, स्वाध्यायादि में बिताते थे। शनैः शनैः व्यापारादि कार्य में भी आप निर्लिप्त [illegible] रहने लगे तथा घी, नमक और शक्कर का त्याग कर व्रतोपवास में मग्न रहने लगे।

आचार्य श्री वीरसागरजी
महाराज के साथ
खानिया ( जयपुर )
चातुर्मास में पू० श्री
शिवसागरजी महाराज,
वि० सं० २०१३



केशलौंच करते हुए
आचार्य श्री वीरसागरजी
महाराज के सन्निकट
पू० श्री शिवसागरजी
महाराज एवं केशलौंच
करते हुए श्री
धर्मसागरजी महाराज
खानियां (जयपुर)
वि० सं० २०१४



स्व० पू० आचार्य वीरसागरजी महाराज के साथ स्व० पू० आचार्य शिवसागरजी महाराज एवं पू० श्री आदिसागरजी महाराज

समाधिस्थ परम पूज्य आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज के सन्निकट मुनिवृन्द
खानियां ( जयपुर ) वि० सं० २०१४

सौभाग्यवश, विहार करते हुए ऐलक श्री पन्नालालजी महाराज नाँदगाँव पधारे। उनके दर्शन कर आपने सप्तम प्रतिमा के व्रत धारण किए और कुछ दिन उन्हीं ऐलकजी के साथ रहकर धर्मध्यान साधा।

**अध्यापन :**

तदनन्तर, श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र कचनेर में आपने बच्चों के हृदयों में धार्मिक संस्कार डालने हेतु एक निःशुल्क पाठशाला खोली। पाठशाला सुचारु रूप से चलती रही। आपने अनेक विद्यार्थियों के हृदय में जो धार्मिक संस्कार कूट कूट कर भरे थे, वे आज भी उनमें जागृत हैं। विद्यार्थियों में से प्रथम शिष्य अड़गाँव निवासी आप ही के नाम राशि श्री हीरालालजी राँवका थे ( आचार्य श्री १०८ श्री शिवसागरजी महाराज ) दूसरे शिष्य पीपरी निवाई श्री चन्दूलालजी कासलीवाल ( पूज्य १०८ श्री मुनि सुमतिसागरजी महाराज, स्वर्गवास भाद्रपद शुक्ला पंचमी, वि० सम्वत् २००९ ) थे। आपकी धार्मिक शिक्षा से प्रेरणा प्राप्त कर इसी प्रकार अनेक जीवों ने अपना कल्याण किया।

**ब्रह्मचर्यावस्था :**

चरित्रनायक ब्र० हीरालालजी भारत में गुरुजी के नाम से ख्यात थे। शनैः शनैः पाठशाला से भी आपको अरुचि हो गई और आपने अपना सारा लक्ष्य सच्चे गुरु की खोज में लगा दिया। कुछ ही समय में आपको अपने प्रयत्न में सफलता भी मिली। पता चला कि दक्षिण महाराष्ट्र प्रान्त के अन्तर्गत कोहनूर नामक नगर में परम पूज्य १०८ श्री चारित्रचक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागरजी महाराज विराजमान हैं, वे चारित्रवान होते हुए परम विद्वान भी हैं। यह जानकर ब्र० हीरालालजी तथा नाँदगाँव निवासी सेठ श्री खुशालचन्दजी पहाड़े ( पूज्य १०८ श्री चन्द्रसागरजी महाराज )—जिन्हें सप्तम प्रतिमा के व्रत चरित्रनायक ने ही दिए थे—दोनों कोहनूर पहुँचे। वहाँ आचार्य महाराज के दर्शनों का लाभ ले परम संतुष्ट हुए। दोनों ने वहाँ चार दिन रुक कर आचार्य महाराज की हर तरह से परीक्षा की किन्तु आचार्य श्री के चारित्र में त्रुटियाँ निकालने में दोनों ही असफल रहे।

अनन्तर दोनों ने सोचा कि अपने असीम पुण्योदय एवं परम सौभाग्य से परम तपस्वी चारित्रवान साधु-पुंगव मिले हैं अतः अब इन्हें छोड़कर अन्यत्र नहीं जाना चाहिए। यही सोचकर दोनों ब्रह्मचारी आचार्य श्री के पास गए और उनसे विनय पूर्वक निवेदन किया कि हे गुरुदेव ! हम संसारी प्राणी हैं, अनादिकाल से इस अपार संसार समुद्र में डूब डूब कर गोता लगा रहे हैं, जन्म-मरण जैसे महान् कष्टों को सह रहे हैं। हम अपनी रत्नत्रय निधि को भूले हुए हैं, वह निधि कहाँ है ? किस ताले में बन्द है ? उसका मार्ग तथा चाबी आपके पास ही है, अतः हे गुरुदेव ! शीघ्र ही उस रत्नत्रय निधि को हमें प्राप्त करा दीजिए। आप संसारी प्राणियों को संसार समुद्र से पार करने में नौका के समान हैं, चतुर हैं अतः अविलम्ब आपके समान बना लीजिए।

महाराज बोले भाई ! हम तुम्हें जानते नहीं हैं, जब तक पूरी जानकारी न हो कैसे मुनि बनालूँ। तब दोनों ब्रह्मचारियों ने एक दूसरे का परिचय दिया। परिचय पाकर महाराज बोले कि पहले आप दोनों

अपने घरेलू कार्यों से निवृत्त हो जावें तब दीक्षा देने की सोचेंगे। गुरु की आज्ञा पाकर दोनों ब्रह्मचारी अपने अपने स्थान पर पहुँचे। ब्रह्मचारी हीरालालजी ने पाठशाला का काम किसी और को सँभला दिया और ब्र० खुशालचन्दजी ने भी अपना व्यापार सम्बन्धी काम निपटाया। लौकिक कार्यों से मुक्त होकर दोनों ब्रह्मचारी वि० सं० १९७९ में कुम्भोज पहुँचे जहाँ आचार्यश्री का चातुर्मास हो रहा था। महाराज श्री के दर्शन कर दोनों ने फिर दीक्षा की याचना की। महाराज ने समझाया कि भैया! जैन दैगम्बरी दीक्षा खाण्डे की धार है, इसमें अनेक व्रतोपवास तथा कठिन कठिन परिषहों को सहन करना पड़ता है। आप लोग इस दैगम्बरी दीक्षा के नियमों का पालन नहीं कर सकोगे अतः आपने जो व्रत लिए हैं उन्हीं व्रतों का निरतिचार पालन करें।

यह सुनकर उभय ब्रह्मचारियों ने पुनः निवेदन किया कि महाराज! इन कठिन व्रतों को मनुष्य ही पालन करता है, आप भी मनुष्य हैं, हम भी मनुष्य हैं। आपका जो संहनन है वही हमारा भी है; जो आत्मा की शक्ति आपकी है वही हमारी आत्मा की है; अतः जिन कठिनाइयों का सामना आप करके व्रतों का पालन करते हैं, हम भी उसी प्रकार व्रतों का निरतिचार पालन करेंगे अतः हमें मुनिव्रत दे दीजिए।

## दीक्षा :

आचार्यश्री ने दोनों का दृढ़ संकल्प जानकर वि० सं० १९८० भा० शु० ७ को शुभ मुहूर्त में दोनों को क्षुल्लक दीक्षा दे दी। ब्र० हीरालालजी का नाम वीरसागरजी और ब्र० खुशालचन्दजी का नाम चन्द्रसागरजी रखा गया। उभय क्षुल्लक गुरु महाराज के संघ में ध्यानाध्ययन में संलग्न हो गए।

कुछ ही समय के बाद क्षु० वीरसागरजी महाराज ने आचार्यश्री से प्रार्थना की कि महाराज इस कोपीन परिग्रह को भी छुड़ा दीजिए। आचार्यश्री ने इन्हें योग्य पात्र समझकर ७ माह के बाद ही विक्रम सं० १९८१ आश्विन शुक्ला ११ को शुभ मुहूर्त में समडोली नगर में कर्मोच्छेदिनी दैगम्बरी दीक्षा दे दी। दिगम्बर वेष को धारण कर आप अत्यन्त प्रसन्न हुए तथा मुनिचर्या सम्बन्धित व्रतों का निरतिचार पालन करते हुए अपने मनुष्यजन्म को धन्य समझने लगे।

## चातुर्मास :

आचार्यश्री के साथ ही आपने सब सिद्धक्षेत्रों व अतिशय क्षेत्रों की वन्दना की। १२ चातुर्मास भी आपने आचार्य श्री के साथ ही किये। पूज्य वीरसागरजी महाराज के हृदय में गुरु के प्रति अत्यन्त भक्ति थी। संघ के बड़े हो जाने के कारण संघस्थ सर्व मुनियों को आचार्य श्री ने अलग अलग विहार करने की आज्ञा दे दी। पूज्य वीरसागरजी महाराज के साथ श्री मुनि आदिसागरजी महाराज को रख कर रवाना कर दिया। पृथक् होने के बाद प्रथम वर्षायोग वि० सं० १९९३ में ईडर ( पेथापुर ) और वि० सं० १९९४ का चातुर्मास टोडा टूंका में हुआ।

## चातुर्मास स्थान एवं दीक्षाएँ

| क्र०सं० | वि०संवत | स्थान | दीक्षाएँ |
|---|---|---|---|
| १ | १९९३ | ईडर ( पंथापुर ) | .... .... .... .... |
| २ | १९९४ | टांका टूंका | ब्र. महेन्द्रसिंहजी की क्षुल्लक दीक्षा ( नाम क्षु० सुमति कीर्ति आ० महावीर कीर्तिजी ) |
| ३ | १९९५ | इन्दौर ( दीतवारिया ) | झाबुआ निवासी ब्र० मथुरालालजी/क्षु० सिद्धिसागरजी<br>जयपुर निवासिनी ब्र० चाँदबाई/क्षु० वीरमतीजी<br>" " ब्र० मोरबाई/क्षु० चन्द्रमतीजी<br>" " ब्र० सूरजबाई/क्षु० शान्तिमतीजी<br>दीक्षाएँ सिद्धवर कूट में हुई। |
| ४ | १९९६ | इन्दौर ( मोदीजी की नसियाँ ) | क्षुल्लिका वीरमतीजी की आर्यिका दीक्षा |
| ५ | १९९७ | कचनेर | क्षुल्लिका कुन्थुमतीजी व क्षुल्लिका सुमतिमतीजी की आर्यिका दीक्षा<br>ब्र० गेंदीबाई की क्षुल्लिका दीक्षा |
| ६ | १९९८ | कन्नड़ | .... .... .... .... |
| ७ | १९९९ | कारञ्जा | .... .... .... .... |
| ८ | २००० | खातेगाँव | सिद्धवर कूट में ब्र० हीरालालजी राँवका की क्षुल्लक दीक्षा ( आचार्य शिवसागरजी )<br>ब्र० बंतोदेवी की क्षुल्लिकादीक्षा ( क्षु० सिद्धमतीजी ) |
| ९ | २००१ | उज्जैन ( श्रीगंज ) | पिड़ावा में क्षु० इन्दुमतीजी की आर्यिका दीक्षा |
| १० | २००२ | झालरापाटन | क्षु० पार्श्वमतीजी की आर्यिका दीक्षा |
| ११ | २००३ | रामगंज मंडी | .... .... .... .... |
| १२ | २००४ | नैनवाँ | .... .... .... .... |
| १३ | २००५ | सवाई माधोपुर | .... .... .... .... |
| १४ | २००६ | नागौर | क्षु० शिवसागरजी महाराज की मुनिदीक्षा<br>पीपरी निवासी सेठ चन्दूलालजी की क्षु० दीक्षा ( क्षु० सुमतिसागरजी )<br>कन्नड निवासिनी ब्र० सोनाबाई की क्षु० दीक्षा ( क्षु० अनन्तमतीजी ) |

| क्र०सं० | वि० संवत् | स्थान | दीक्षाएँ |
| --- | --- | --- | --- |
| १५ | २००७ | सुजानगढ़ | ब्र० ज्ञानमतीजी क्षुल्लिकादीक्षा ( क्षु० गुणमतीजी ) |
| १६ | २००८ | फुलेरा | क्षु० धर्मसागरजी व क्षु० सुमतिसागरजी की मुनिदीक्षा<br>टौंक निवासी ब्र० धूलचन्दजी की क्षु० दीक्षा ( क्षु० पद्मसागरजी ) |
| १७ | २००९ | ईसरी | .... |
| १८ | २०१० | निवाई | राजमहल में क्षु० पद्मसागरजी की मुनिदीक्षा |
| १९ | २०११ | टोडारायसिंह | ब्र० मोहनलालजी छावड़ा ( क्षु० सन्मतिसागरजी )<br>बीकानेर निवासी, कलकत्ता प्रवासी, ओसवाल जातीय, श्रावक गोत्रीय,<br>ब्र० फागूलालजी ( गोविन्दलालजी ) ( क्षु० चिदानन्द सागरजी ) |
| २० | २०१२ | जयपुर ( खानियाँ ) | आचार्य पद। ब्र० गुलाबचन्दजी व ब्र० मदनलालजी की क्षुल्लकदीक्षा ब्र० सिद्धाणीजी की आर्यिका दीक्षा<br>माधोराजपुरा में क्षु० वीरमतीजी, क्षु० प्रभावतीजी की आर्यिका दीक्षा ( क्रमशः नाम ज्ञानमतीजी, जिनमतीजी ) |
| २१ | २०१३ | जयपुर ( खानियाँ ) | क्षु० जयसागरजी की मुनि दीक्षा (मुनि जयसागरजी)<br>ब्र० माणकबाई की आर्यिकादीक्षा (आ० चन्द्रमतीजी)<br>ब्र० सोनूबाई " " " (आ० पद्मावतीजी) |
| २२ | २०१४ | जयपुर ( खानियाँ ) | क्षु० सन्मतिसागरजी की मुनि दीक्षा ( मुनि सन्मतिसागरजी )<br>क्षु० चिदानन्दसागरजी की मुनि दीक्षा ( मुनि श्रुतसागरजी )<br>ब्र० भँवरीबाई की आर्यिका दीक्षा ( आ० सुपार्श्वमतिजी ) |

आचार्य पद :

वि० सं० २०१२ में महाराजश्री संघ सहित जयपुर खानियाँ में चातुर्मास कर रहे थे। परम पूज्य चारित्र चक्रवर्ती १०८ आचार्य श्री शान्तिसागरजी महाराज ने श्री दि० जैन सिद्धक्षेत्र कुन्थलगिरि में उनको ( श्री वीरसागर महाराज ) यम सल्लेखना के शुभावसर पर अपने प्रथम शिष्य को ही अपना

आचार्यपद वहाँ उपस्थित विशाल जन समुदाय के बीच प्रदान किया था। आचार्य श्री के दिये हुए पीछी कमण्डलु मैं स्वयं लेकर आया और जयपुर में एक विशाल आयोजन में समवशरण मण्डल विधान की पूजन कराकर आगन्तुक हजारों नर नारियों तथा विशाल चतुर्विध संघ के समक्ष विधिपूर्वक आचार्यश्री के कर कमलों में अर्पित किए।

आचार्य महाराज की छत्र छाया में सं० १९९७ में अतिशय क्षेत्र कचनेर में सं० १९९८ में मांगी-तुंगी में, सं० १९९९ में सिद्धक्षेत्र मुक्तागिरि में, सं० २००१ में पिड़ावा पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठायें तथा सं० २०११ में निवाई में मानस्तम्भ प्रतिष्ठा सानन्द सम्पन्न हुई।

## कतिपय विशिष्ट घटनायें :

वि० सं० १९९९ का वर्षा योग कारंजा में करने के बाद महाराज श्री का विहार मुक्तागिरि की ओर हुआ। वहाँ से खाते गाँव निवासियों के आग्रह पर खाते गाँव की ओर प्रस्थान किया। मुक्तागिरि से खाते गाँव लगभग ३०० मील दूर है और रास्ता भी बड़ा भयानक है।

मार्ग में कहीं भी श्रावकों के घर नहीं थे। भयानक वियावान जंगल में जंगली हिंसक जन्तुओं का भय सदा बना रहता है, चोर, लुटेरे दिन में भी सामान लूट लेते हैं। ऐसे मार्ग में संघस्थ, सभी श्रावक गण भयभीत रहते थे परन्तु महाराज के तप के प्रभाव से सारे मार्ग में कहीं किसी को किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न नहीं हुई।

इसी मार्ग में चोरपाठा नामक एक ग्राम है। वहाँ की शासिका, बी० ए० तक शिक्षा प्राप्त एक मुसलमान विधवा जागीरदारिणी ने जब अपने झरोखे से नग्न मुनियों को आते हुये देखा तो उसने विचार किया कि मुझे धिक्कार है जो मैं अपनी प्रजा की रक्षा भी नहीं कर पाती। देखो इन व्यक्तियों के वस्त्र तक चोर लुटेरों ने छीन लिये हैं। परन्तु मुनियों के हाथ में पीछी कमण्डलु देखकर उसे भान हुआ कि ये तो पहुँचे हुये सन्त महात्मा हैं। वह शीघ्र ही अपने भवन से उतर कर आई और उसने महाराज श्री के चरणों में साष्टांग नमस्कार किया। उसे नमस्कार करता देख स्थानीय जन-समुदाय आश्चर्यचकित रह गया। अपने नेत्रों और जीवन को सफल मानती हुई उसने महाराज से सविनय अनुरोध किया कि महाराज! आज इस कुटिया को अपने चरण कमलों से पवित्र कीजिए और भोजन भी ग्रहण कीजिए। हमने समझाया कि रानीजी! ये महाराज इस प्रकार भोजन नहीं लेते, इनकी चर्या बड़ी कठिन है। यदि आप इनकी चर्या देखना चाहें तो यहाँ से १ मील दूर बगीची में आकर देखें। आहार के वक्त ठीक १० बजे रानीजी उस बगीचे में आई और महाराज के आहार की कठिन चर्या को देखकर दंग रह गई। बोली कि यह मेरा परम सौभाग्य है जो ऐसे पावन साधुओं के दर्शन मिले। इतना कहकर उसने महाराज के चरणों में चाँदी के कलदार रुपयों का ढेर लगा दिया। महाराजश्री रानी को सम्बोधित कर बोले कि रानीजी! हम इनको छोड़ चुके हैं, हमें इनकी आवश्यकता नहीं है। परन्तु रानी बार २ आग्रह

करती रही तब महाराज ने परिग्रह त्याग के बारे में उसे समझाया। रानी भी महाराज के विवेचन से सहमत होती हुई बोली कि महाराज ! आप सत्य कहते हैं, जो सच्चा फकीर हो गया फिर उसे किस बात की चिन्ता है। फिर रानी ने महाराज से आग्रह किया कि इन रुपयों को संघस्थ सज्जनों को दिलवा दीजिए। महाराज बोले कि इन्हें आप अपने ही पास रखें, यदि हमारी आज्ञा मानना हो और पाप पंक से छूटना हो तो माँस खाना छोड़ दें—हमारे लिए आपकी यही तुच्छ भेंट हो जावेगी।

महाराज के इन वचनों को सुनकर रानी अवाक् रह गई। थोड़ी देर बाद बोली कि महाराज यह तो बहुत कठिन हो जावेगा—मेरे घर में तो २४ घण्टे ही माँस की हांडी चढ़ी रहती है। परसों ही यहाँ पास के गाँव में भारी मेला लगेगा जिसमें पीर बाबा के यहाँ बकरे काट कर चढ़ाए जायेंगे। सबसे पहले मुझे ही बकरे पर तलवार चलानी पड़ेगी। महाराज बोले—रानी ! तुम प्रजा की रक्षक हो, रक्षक होकर भक्षक कैसे बन रही हो ? गूंगे पशुओं को मारकर क्यों खाती हो ? तुम्हारे राज्य को धिक्कार है। ज्यादा कहने की मैं जरूरत नहीं समझता। यदि तुम्हें पाप छोड़ना है, आत्मा का कल्याण करना है तो माँस खाना छोड़ दो।

महाराज की वचनवर्गणाओं से प्रभावित होकर रानी ने माँस खाना ही नहीं, रात्रि भोजन करना भी छोड़ दिया और अपने राज्य में सर्वत्र हिंसा की मनाही करवादी। इस प्रकार गुरुदेव के प्रभाव से वहाँ सदा के लिए हिंसा बन्द हो गई। रानी के कहने से अन्य कई मुसलमान भाई बहिनों ने भी माँस भक्षण का त्याग किया। सो ठीक ही है—परम तपस्वी दिगम्बर वीतराग साधुओं के निमित्त से किस जीव का कल्याण नहीं होता ? अर्थात् सबका कल्याण होता ही है।

इसी तरह की एक अद्भुत घटना उस समय माधोराजपुरा में घटी जब दीक्षा समारोह की अपार भीड़ को चीरता हुआ एक सांड मंच तक जा पहुँचा और वहाँ पहुँच कर उसने आचार्यश्री के चरणों में मस्तक नवाकर अपार हर्ष प्रकट किया। महाराज ने उसके मस्तक पर पीछी रखकर उसे आशीर्वाद दिया।

आचार्यश्री मुनिचर्या सम्बन्धी नित्य क्रियाओं में अस्वस्थ होने पर भी प्रमाद नहीं करते थे। सं० १९९९ में कुछ समय तक अपस्मार का रोग रहा तथा सं० २००६ में नागौर में आपकी पीठ पर नारियल के आकार का भयानक फोड़ा हो गया जिसमें शताधिक छिद्र थे, फिर भी महाराज ने अपने अध्ययन अध्यापन व अन्य क्रियाओं में कभी प्रमाद नहीं किया। पूछने पर यही कहते थे कि—मेरे शरीर को कष्ट होता किन्तु मेरी आत्मा में अनन्त सुख है, उसे कोई नहीं छीन सकता। जिस दिन संघस्थ त्यागीगण महाराजश्री के पास पढ़ने नहीं आते तो महाराज बुलाकर पूछते कि क्यों भैया ! आज क्या जरूरी काम आ गया जो पढ़ने नहीं आए। हम लोग यही कहते थे कि महाराज आपकी पीठ में भयङ्कर दर्द है तो महाराज कहते मुझे कोई दर्द नहीं है—तुम पढ़ना न छोड़ो, पढ़ो। इस महावेदनीय कर्म का उपशम ३ माह बाद हुआ। इसी तरह निवाई में चातुर्मास के समय आपको लगभग एक माह तक लगातार १०५

डिग्री ज्वर रहा जिससे आप काफी अशक्त हो गए, किन्तु आपने धर्मध्यान में कभी प्रमाद नहीं आने दिया। अशक्तावस्था में ही विहार कर आप चाकसू आए वहाँ से—पद्मपुरी आए वहाँ आपको कम्पन रोग हुआ किन्तु तपोबल एवं पुण्यप्रभाव से शीघ्र ही दूर हो गया।

**स्वर्गारोहण :**

वि० सं० २०१४ का वर्षायोग जयपुर ( खानियाँ ) में था। आप अस्वस्थ तो नहीं थे किन्तु शारीरिक दुर्बलता बढ़ती जा रही थी। आश्विन कृष्णा चतुर्दशी को सायंकाल पाक्षिक प्रतिक्रमण के बाद संघस्थ त्यागियों को प्रायश्चित देकर आप शयन स्थान पर चले गए। रात्रि में एक बजे उठकर संकेत से समझाया कि अब मेरा आखिरी समय है। सुबह तक इस नाशवान देह को छोड़ जाऊँगा अतः सावधानी से संघ को सँभालना। प्रातः दैवसिक प्रतिक्रमण किया। भगवान के दर्शन कर अभिषेक देखा। अनन्तर संघस्थ त्यागियों से कहा कि आप सब शीघ्र ही आहार करके आ जावें। तब मुनि श्री १०८ श्री महावीरकीर्तिजी बोले कि महाराज ! आपका भी कल का उपवास था, अतः आप उठेंगे तभी हम लोग आहार करेंगे। महाराज दयालु थे बोले कि—मुझे तो आहार करना नहीं है, तुम नहीं मानते हो तो ठीक है। तदनुसार त्यागियों के मन को समझाने के लिए आहार के लिए निकले किन्तु बिना आहार लिए ही तुरन्त लौट आए, आकर मुझसे और पं० खूबचन्दजी से कहा कि तुम दोनों तुरन्त ही भोजन कर आवो। मैंने कहा—महाराज ! आपके पास कोई दूसरा नहीं है अतः नहीं जावेंगे। किन्तु महाराज का अत्याग्रह देखकर हम रवाना हुए। हमारे रवाना होते ही महाराज उठकर, आसन लगाकर बैठ गए। हमने पीछे घूमकर देखा तो महाराज पद्मासन में ध्यानपूर्वक णमोकार मन्त्र जप रहे थे। बस मन्त्र जपते जपते ही विशाल चतुर्विध संघ के समक्ष १० बजकर ५० मिनिट पर, इस लोक और नश्वर देह को छोड़ गए।

महाराज के देवलोक के समाचार बिजली की भाँति तत्काल ही जयपुर शहर में, तथा अन्य नगरों, उपनगरों में तथा सम्पूर्ण देश में रेडियो द्वारा फैल गए। समाचार सुनते ही हजारों नर नारी एकत्र हो गए। चन्दन, नारियल, घृत, कपूर से महाराज की पार्थिव देह का संस्कार हुआ।

आचार्यश्री परम तपस्वी, दयालु, स्वाध्यायशील, चारित्रशिरोमणि, अध्यात्मयोगी, वीतरागी, निस्पृह, साधु पुङ्गव थे। आपके सदुपदेश से बड़ी धर्मप्रभावना हुई तथा हजारों प्राणियों ने त्याग का सच्चा मार्ग ग्रहण कर अपनी आत्मा का कल्याण किया; आज भी कर रहे हैं।

ऐसे परमपावन, चारित्रशिरोमणि, आचार्यप्रवर श्री वीरसागरजी महाराज के चरण सरोज हमारे हृदय में सदाकाल विराजमान रहें और हम सच्चे धर्ममार्ग पर चलते रहें। हम भगवान से यही प्रार्थना करते हैं कि गुरुदेव को शीघ्र ही पञ्चमगति प्राप्त हो।

नोटः—मैं महाराजश्री की सेवा में १६ वर्ष की अवस्था में ही आ गया था—



# दुर्द्धर तपस्वी आचार्यश्री शिवसागरजी

[ लेखक:—समाज भूषण श्री सेठ बद्रीप्रसादजी पटना सिटी ]

परम पूज्य स्वर्गीय आचार्य १०८ श्री शिवसागरजी महाराज एक अद्वितीय प्रतिभावान् महापुरुष थे। हड्डियों का ढांचा मात्र रूप शरीर के धारी होते हुये भी संयम में अत्यन्त दृढ़ एवं कठोर तपस्वी थे।

उनका प्रथम दर्शन मुझे लगभग २० साल पहले सं० २००९ में जब कि परमपूज्य स्वर्गीय आचार्य वीरसागरजी का संघ श्री सम्मेदशिखर की यात्रार्थ जा रहा था। रास्ते में पटना ठहरने पर गुलजार बाग सिद्धक्षेत्र पर हुआ था। उसी समय दर्शन एवं शास्त्रीय चर्चा का लाभ हुआ था। पश्चात् संघ का चातुर्मास भी ईसरी में होने से उनके सानिध्य में बहुत दिनों तक रहना हुआ। मेरा चारित्र के प्रति झुकाव भी उसी समय से प्रारम्भ हुआ। शुद्ध जल के त्याग का नियम लेने से मेरा बाजार के अशुद्ध खान-पान का त्याग स्वतः हो गया। शुद्ध खान-पान का नियम लेकर पात्र दान का पात्र अपने को बनाया और सत्पात्रों को आहार दान देकर जीवन सफल बनाया।

ईसरी चातुर्मास की समाप्ति पर संघ मधुवन शिखरजी यात्रार्थ गया, साधु वर्ग पर्वतराज की दो दो वन्दना एक साथ करते थे। आहार के बाद दोपहर में वन्दना करते हुये पूरी एक वन्दना करके रात को पहाड़ के ऊपर ही रह जाते थे। सुबह उठकर दूसरी वन्दना करते हुए आहार के समय पर नीचे आ जाते थे। मेरे पैर में दर्द होने से शिखरजी की वन्दना डोली पर कर रहा था। रास्ते में जितने साधु मिलते थे मेरे को डोली पर वन्दना करते देखकर टोकते थे।

दूसरे दिन जब साधु साध्वियाँ, ब्रह्मचारी ब्रह्मचारिणीयाँ एवं श्रावक लोग जय जय कार करते हुये दोपहर को पहाड़ की वन्दना को जाने लगे तो मेरे मन में भी एक उमंग उठी और उत्साह एवं हिम्मत बढ़ी, मैं भी पर्वतराज की वन्दना को पैदल ही चल पड़ा। पैर का दर्द न मालूम कहाँ गया सबके साथ साथ पूरी वन्दना करके रात को जल मन्दिर में जहाँ पर सब साधु ठहरे हुये थे मैं भी ठहर गया। बाद में पूज्य आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज की रात में वैयावृत्ति करने लगा तो संकेत से उन्होंने कहा कि तुम्हारे तो पैर में दर्द था इतनी हिम्मत कैसे हो गई कि पैदल वन्दना करके हमारी भी वैयावृत्ति कर रहे हो। मैंने कहा कि महाराज आपके प्रभाव से ही ऐसी शक्ति एवं हिम्मत हो गई।

दूसरे दिन सुबह उठकर फिर एक वन्दना पैदल ही पूरी करके पहाड़ से नीचे आ गया। शिखर जी की वन्दना तो [illegible] बार इसके पहले मैंने की थी लेकिन एक साथ पैदल पैदल दो वन्दना करने का जीवन में यह प्रथम ही अवसर था। श्री गुरुजी के पुण्य प्रताप से ही मेरे में इतनी शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ और [illegible] के साधुओं को आहार दान देने की प्रतीक्षा में खड़ा हो गया। पूज्य आचार्य शिवसागरजी महाराज प्रथम तपस्वी थे दो वन्दना पैदल करके भी अपने गुरु पूज्य आचार्य वीर सागरजी महाराज से उपवास करने की आज्ञा मांगने लगे लेकिन उन्होंने उपवास की आज्ञा नहीं दी

और आज्ञा दी कि जावो आहार करके आवो। संयोग की बात कि उनका प्रतिग्रह मेरे यहाँ पर ही हुआ। गुरु आज्ञा पालनार्थ सिर्फ थोड़ा सा जल मात्र लेकर तुरन्त बैठ गये, आहार में और कुछ भी नहीं लिया। मेरे चित्त पर उनकी तपस्या का बहुत प्रभाव पड़ा।

बाद में प्रायः प्रतिवर्ष ही चातुर्मास में मैं सकुटुम्ब संघ के दर्शनार्थ जाने लगा। पूज्य आचार्य श्री १०८ वीरसागरजी महाराज की समाधि जयपुर खानियाँ में सम्वत् २०१४ के आश्विन कृष्णा ३० को हो जाने पर उनका आचार्य पद चतुर्विधि संघ के समक्ष आपको ही दिया गया। आचार्य पद मिलने पर तो आपकी प्रतिभा और भी ज्यादा विकसित हो गई। दिन पर दिन उनके शिष्य समुदाय में वृद्धि होती गई, संघ बढ़ता ही गया। संघ संचालन की अद्‌भुत क्षमता उनमें थी। इतना बड़ा संघ ४५-५० साधु एवं आर्यिकाओं के संघ में होते हुवे भी बहुत ही कुशलता पूर्वक संघ का संचालन करते थे। शिष्य वर्ग पर कड़ा अनुशासन एवं अनुग्रह आपका था। आपकी सूक्ष्म दृष्टि सब पर रहती थी। साथ ही संघ के प्रति वात्सल्य भाव भी आपका अनुकरणीय था।

आपकी तपस्या दिन पर दिन वृद्धि पर थी एक दिन छोड़कर तो हमेशा आहार लेते ही थे। बीच बीच में २-३-४-५ दिनों का उपवास करके आहार को उठते थे फिर भी पूरी धार्मिक नित्य क्रिया नियम पूर्वक चलती थी। जरा भी अन्तर नहीं आता था, प्रमाद जरा भी उनके पास फटकने नहीं पाता था। रस में सिर्फ एक दूध भर लेते थे बाकी घी, नमक, मीठा, वगैरह का आजन्म त्याग था। दूध भी प्रायः छोड़कर नीरस ही आहार लेते थे फिर भी शारीरिक शक्ति क्षीण नहीं होती थी। तप की शक्ति अत्यधिक थी एवं आत्मबल बहुत बढ़ा-चढ़ा था।

सन् १९६२ में मेरे लड़के की शादी हुई। दो मास बाद ही हम लोग सकुटुम्ब बहू को भी साथ लेकर दो मोटर कार से पटना से सुजानगढ़ महाराज के दर्शनार्थ गये। मेरे लड़के की बहू जो कि वैष्णव कुल की लड़की थी जन्मजात वैष्णव संस्कार पड़े थे, थोड़े दिन वहाँ पर रहने से उसके ऊपर इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि वह कट्टर जैन हो गई। मिथ्यात्व एकदम त्याग दिया और स्वेच्छा से ही बहुत से नियम उसने लिये।

एक विशेषता उनमें यह थी कि वे अपने विरोधियों में समदृष्टि रखते थे जरा भी द्वेष-भाव उनके प्रति नहीं रखते थे। प्रेरणा कर उनको बुलाते थे, सम्मान करते थे, चर्चा करते थे। शास्त्र पढ़ाते थे, और उनको कहते थे कि हमारे में दोष या कमी हो तो बताओ। हम निकालने की कोशिश करेंगे। कोई अगर कहते थे कि महाराज आप तो इनको इतना सम्मान देते हैं, यह लोग तो आपको नमस्कार तक नहीं करते तो उसको डांट देते थे कि हमको नमस्कार कराने की कोई जरूरत नहीं है। क्या हम नमस्कार कराने को साधु हुये हैं। सं० २०२० में जयपुर खानियाँ चातुर्मास में श्रावण माह में आकर एक महीना रहकर वापिस पटना चला गया था लेकिन जब वहाँ पर तत्व चर्चा का आयोजन हुआ। दुबारा मैं खानियाँ आया उस समय सोनगढ़ पक्ष के सज्जनों के साथ भी आचार्य महाराज का

व्यवहार मृदु तथा वात्सल्यपूर्ण रहा। उन्हीं का प्रभाव था कि चर्चा शान्त और सुखद वातावरण में हुई। जो भी सज्जन सोनगढ़ पक्ष के आये थे वे सभी बहुत प्रभावित होकर सद्भावना लेकर गये।

उनके सम्पर्क में रहने से चारित्र मार्ग की प्रेरणा मिलती थी। सं० २०२० के खानियाँ चातुर्मास में मैंनें उनसे अभ्यास रूप से पालने के लिये दूसरी प्रतिमा के व्रत लिये थे। दूसरी साल सं० २०२१ में उनका चातुर्मास पपौराजी क्षेत्र पर हुआ, वहाँ पर भी मैं सकुटुम्ब पटना से कार द्वारा दर्शनार्थ गया। पूरे बुन्देलखंड की तीर्थ यात्रा उसी वर्ष की थी। इसी पुण्य प्रसंग पर सागर महिलाश्रम की प्रधान संचालिका परम विदुषी सुमित्रादेवी ( वर्तमान आर्यिका विशुद्धमती माताजी ) ने वहीं पर आचार्य महाराज से आर्यिका दीक्षा मेरे सामने ली। और भी दीक्षायें हुई थीं। दूसरे साल सं० २०२२ में महाराजका चातुर्मास श्री महावीरजी में हुआ, वहाँ पर भी कार द्वारा जाकर एक महिने से भी ज्यादा रहा। वहाँ पर कई मुनि आर्यिका दीक्षायें हुईं। मैंने भी २ साल तक पूर्ण अभ्यास करके दूसरी प्रतिमा के व्रत नियम रूप से धारण किये। पश्चात् कोटा चातुर्मास में भी कई दीक्षायें मेरे सामने हुईं तथा भारी धर्म प्रभावना हुई।

सं० २०२४ का उदयपुर का चातुर्मास तो अत्यधिक महत्त्वपूर्ण रहा। श्री १०८ मुनि सुपार्श्वसागरजी की सल्लेखना पूर्वक अद्भुत समाधि का दृश्य दर्शनीय था। श्री १०८ पूज्य सुबुद्धिसागरजी महाराज की दीक्षा का दृश्य भी एक अद्भुत घटना थी। प्राचीन काल में जिस तरह राजा महाराजा सम्राट राज्य त्याग कर दीक्षा धारण करते थे उसी का पुनः स्मरण इनकी दीक्षा से हुआ। एक वैभवशाली करोड़पति किस तरह अपना राजसी ठाट बाट त्याग कर मुनि दीक्षा धारण करते हैं ? आश्चर्यकारी दृश्य था। इस तरह आचार्य महाराज से न जाने कितने जीवों का आत्म कल्याण हुआ कितनी मुनि दीक्षा, आर्यिका, क्षुल्लक, क्षुल्लिका दीक्षायें हुईं। कितने ही श्रावकों ने प्रतिमायें एवं व्रत धारण किये।

सं० २०२५ के प्रतापगढ़ चातुर्मास में आचार्य महाराज ने कह दिया था कि इतने वर्षों तक गुरु महाराज के लगाये हुये बाग को मैंने पुष्पित पल्लवित किया, बारह वर्ष हो गये हैं, अब श्री महावीरजी जाकर मैं आचार्य पद छोड़ दूंगा और मेरा आत्म कल्याण करूंगा। वही हुआ, पूरा संघ चातुर्मास के बाद श्री महावीर जी पहुंच गया था शान्तिवीर नगर में पंचकल्याणक प्रतिष्ठा का आयोजन चल रहा था। आचार्य महाराज अस्वस्थ हो गये कोई विशेष बीमारी या कष्ट उनको नहीं हुआ। फाल्गुन वदी १५ को दोपहर में एकाएक सावधानी पूर्वक चतुर्विध संघ के सन्मुख इस नश्वर शरीर को त्यागकर स्वर्गवासी हो गये। हमलोग उस समय वहाँ पर उपस्थित थे। किसी को ऐसी आशा नहीं थी कि पूज्य आचार्य महाराज हम लोगों के बीच में से इतनी जल्दी चले जायेंगे। सब लोग शोकसागर में निमग्न हो गये किन्तु विधि के विधान को कौन टाल सकता है, जो होनहार होना है, होकर रहता है यही समझकर सन्तोष धारण करना पड़ता है। पूज्य आचार्यश्री ने तो अपना कर्तव्य पूरा किया, इस मनुष्य जन्म को

सार्थक एवं सफल बनाया लेकिन हम लोगों को जो लाभ उनसे हमेशा मिलता था वह मिलना बन्द हो गया इससे दु:ख होना स्वाभाविक ही है। ऐसे परम पूज्य तरण तारण आचार्य प्रवर श्री शिवसागरजी महाराज के प्रति मैं अपनी हार्दिक श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ और शत शत वन्दन करता हुआ भावना भाता हूँ कि वे शीघ्र हो शिवनगरी के वासी होकर मोक्ष लक्ष्मी का वरण करें।



# दुर्बल देह मां बलवान आत्मा

[ श्री कपिल कोटडिया, हिम्मतनगर-गुजरात ]

पहली नजरे, पहली मुलाकाते कोई पण नवो आगन्तुक छेतराया वगर रहेतो नथी, एवी हती आचार्य शिवसागरजीनी काया। विशाल संघनु संचालन करवानी अगाध शक्तिना धारक ए दुर्बल देहीने मात्र जोयाथी तेमनी असाधारण आत्मिक शक्तिनाँ माप नीकले तेवां न हतां। पण जे व्यक्ति तेमना सानिध्यमां थोडुंये रहेतो ते तेमनी आत्मानी अनन्त शक्तिनां दर्शन करी शकतो हतो। आवुंज मारा विषयमांपण थयेलुं। उदेपुरना चातुर्मासिनां सौ पहेला पूज्यश्रीनां दर्शन थयां त्यारे आवातो आचार्य होता हशे तेवो भ्रम मने पण थयेलो पण वधु परिचये ते सहज ही ओगलि गयेलो। त्यार पछी तो त्रण चार वार दर्शने गयो। त्यारे "पंडितजी क्यारे अमारा संघ मां आवो छो?" नो प्रश्न मारे सांभलवो पड़तो ने हुं निरुत्तर रहेतो। कारण के काललब्धी पाकी नथी। पण पूज्यश्रीना प्रश्ने मने चिंतनकरेतो करि दीधो छे। ने जिनेश्वरना पुनीत चरणोंनी सेवा काजे जल्दी वैराग्यमार्ग ग्रहण करवानी तालावेलि जागी पण छे। आ छे संतना सम्पर्कनुं सीधुं परिणाम।

सादा, सीधा, कृशदेहधारी छतां अडग, निश्चयी अने अगाध शक्तिवाला ए परम पूज्य आचार्य श्री रत्नकरण्डकारनी व्याख्याने अनुरूप ध्यानी ने तपस्वी हता। मीठी, मधुर, मार्मिक वाणी चोटदार हती, ते सौ ने जागृत करवा समर्थ हती। पण जागी ने उंघनाराने ते शुं करे? संत पारसमणि करतां पण चढ़ियाता छे ते अक्षरस: पूज्य शिवसागरजी नै लागु पडतुं हतुं। कारण के तेमणे घणाने संत बनाव्या। पोतें शीव याने सुखना सागरमाँ डूबी जईने संत सर्जननी क्रिया थंभावी पण ते कदीये थंभवानी नथी।



# पूज्य आचार्यश्री का आशीर्वाद

[ श्री ज्ञानचन्दजी जैन "स्वतन्त्र" भूतपूर्व सम्पादक, जैनमित्र ]

पूज्य आचार्य शिवसागरजी महाराज के ससंघ दर्शन करने का सौभाग्य मुझे जीवन में दो वार ही प्राप्त हुआ था। सर्व प्रथम जयपुर में दर्शन हुये थे दूसरी वार आपके कोटा चातुर्मास के समय दर्शन हुये थे।

प्रथम वार दर्शन करने पर जयपुर में मेरी इच्छा कुछ दिन आपके चरण सान्निध्य में ठहरने की थी पर समयाभाव के कारण मैं न ठहर सका।

कुछ समय वाद मेरा रामगंज मंडी प्रतिष्ठा के अवसर पर जाना हुआ। मुझे ज्ञात तो था ही कि इस वर्ष पूज्य आचार्य श्री का चातुर्मास कोटा हुआ है। रामगंज मण्डी से मैं कोटा आया, इस समय दानवीर श्रीमान् सेठ नथमलजी सरावगी शहडोल सपरिवार मुनिश्री के दर्शनार्थ आहारदानार्थ आये थे।

सरावगीजी को पता लगा कि स्वतन्त्रजी आये हुये हैं तव उन्होंने मुझे अपने पास ही ठहरा लिया था। भाई सरावगीजी से मेरी घनिष्ठ मित्रता है।

जब पूज्य आचार्य श्री के दर्शनार्थ गया तो उन्होंने कहा भाई स्वतन्त्रजी आप जयपुर तो ठहरे नहीं थे। यहाँ कम से कम १ सप्ताह तक ठहरिये। मैंने विनीत भाव से कहा—जैसी आप की आज्ञा ( इस समय पूज्य पं० जगन्मोहनलालजी कटनी भी यहीं थे )।

प्रातःकाल के प्रवचन में आचार्य श्री ने आध घंटा मुझे समय दिया था, और मैं आध घंटे तक प्रतिदिन प्रवचन करता था।

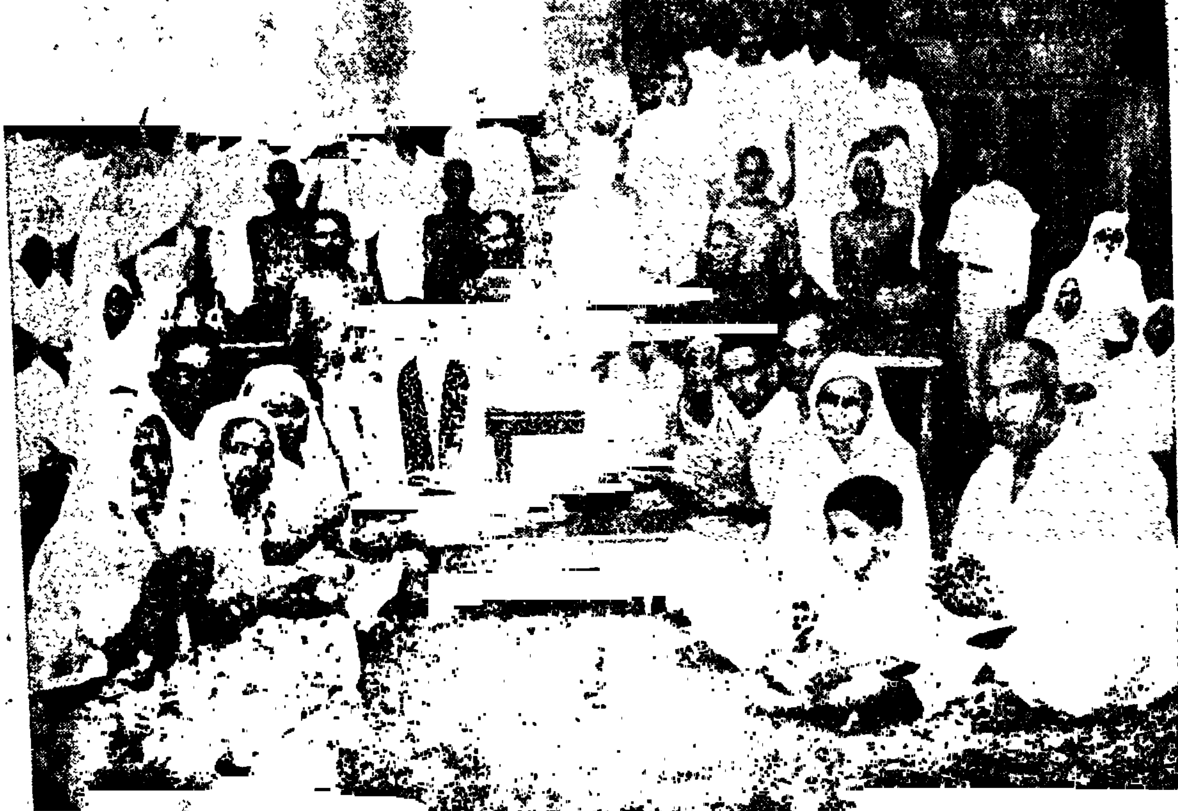
मैंने देखा कि पूज्य आचार्य श्री कड़ी धूप में घन्टों ध्यान और सामायिक करते थे। रसना इन्द्रिय के तो इतने निस्पृही थे कि आप सतत नीरस आहार लेते थे। लगातार ५-५ उपवास करने पर भी प्रतिदिन की तरह ऊंची आवाज से उपदेश देते थे, और आपकी दैनिक चर्या में अणुमात्र भी अन्तर नहीं आता था।

आपकी निस्पृह वृत्ति, इन्द्रिय दमन, शरीर से उपेक्षा बुद्धि, और सतत ज्ञान ध्यान की साधना से मेरे मन पर गहरा प्रभाव पड़ा है।

सूरत रवाना होने से पूर्व आचार्य श्री से आशीर्वाद लेने आया। तब आचार्य श्री ने मेरे सिर पर मयूर पिच्छिका रखते हुये आशीर्वाद दिया कि तुम स्वभाव से भोले, सरल, शान्त हो एवं निश्चयाभास व्यवहाराभास से दूर हो। अतएव हमारा आशीर्वाद है कि तुम अपने जीवन में संतोष एवं शान्तिका अनुभव करोगे, भाग्य तुम्हारे अनुकूल है। पूज्य आचार्य श्री का आशीर्वाद मस्तिष्क पर चढ़ाया और सूरत के लिये रवाना हो गया।

अस्तु! प्रसंग लिखते समय ऐसा अनुभव हो रहा है कि आचार्यश्री के आशीर्वादात्मक शब्द कानों में गूंज रहे हैं। पर विधि का विधान ही है कि पूज्य आचार्य श्री का पार्थिव शरीर हमारे समक्ष नहीं है।





उदयपुर में संघ सहित आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज [ सन् १९६७ ]



आचार्य श्री के निकट समाधि ग्रहण करने वाले मुनि १०८ श्री सुपार्श्वसागरजी महाराज
अंतिम बार जल ग्रहण करते हुए [ उदयपुर वि० सं० २०२४ ]

श्री मोतीलालजी जवेरी बम्बई ( वर्तमान श्री सुबुद्धिसागरजी महाराज ) को क्षुल्लक दीक्षा देते हुए आचार्य श्री [ उदयपुर सन् १९६७ ]

श्री देवीलालजी चित्तौड़ा (वर्तमान श्री यतीन्द्रसागरजी महाराज) को क्षुल्लक दीक्षा देते हुए आचार्य श्री [ उदयपुर सन् १९६७ ]

# उदयपुर का प्रभावक चातुर्मास

[ लेखक—श्री मोतीलालजी मिण्डा, उदयपुर ]

आचार्यवर्य श्री १०८ श्री शिवसागरजी महाराज का संघ सहित चातुर्मास उदयपुर में सन् १९६७ में सम्पन्न हुआ। उदयपुर में यह चातुर्मास अभूतपूर्व था।

आचार्यश्री सौम्य, प्रभावशाली, एवं दृढ़संकल्पी थे। आचार्य श्री का इकहरा दुबला पतला शरीर हड्डियों का ढांचा मात्र होने पर भी संयम, तप और त्याग से ओत प्रोत था। आप संघ का संचालन अत्यन्त कुशलता से करते थे। आचार्य श्री के चार २ पांच २ उपवास होने पर भी प्रवचन आदि में कोई कमी नहीं होती थी एवं उनके चेहरे पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ता था।

चातुर्मास के प्रारम्भ में ही पास के गाँव के एक ब्रह्मचारी अचानक अस्वस्थ हो गये। उनको घर पर भेजने की बात चल रही थी कि आचार्य श्री ने उनको देखते ही कहा कि घर भेजने से इस जीव का कल्याण नहीं होगा। आपने उनका अन्तिम समय जान कर उसी समय उनको मुनिदीक्षा देदी और रातभर उनकी वैयावृत्ति में जुटे रहे। आचार्य श्री के साथ संघस्थ सभी त्यागी गणों ने भी वैयावृत्ति की। इस प्रकार उनका समाधिमरण दूसरे दिन प्रातःकाल १० बजे के लगभग हुआ। आचार्य श्री का यह वात्सल्य एवं प्रभावना अङ्ग का आदर्श नमूना था।

संघ में वयोवृद्ध एवं बारह वर्ष की नियम सल्लेखना व्रत के धारक मुनिराज श्री सुपार्श्वसागर जी थे। मुनि श्री के व्रत के बारह वर्ष समाप्त होने में कुछ ही समय शेष था। जिसमें चातुर्मास प्रारम्भ होते ही मुनि श्री ने यम सल्लेखना को स्वीकार किया तथा एक माह इक्कीस दिन में यह सल्लेखना पूर्ण हुई। यह सल्लेखना काफी महत्त्व पूर्ण एवं निराली थी।

इस सल्लेखना का प्रभावशाली असर बम्बई के प्रसिद्ध जौहरी मोतीलालजी के हृदय पर हुआ। आप दर्शनार्थ बम्बई से आये थे। भारतवर्ष का पूर्ण दिगम्बर जैन समाज आप से परिचित है। उत्तर प्रान्त आपका पूर्ण आभारी है। आपके सद् प्रयत्नों से ही इस प्रान्त में साधुओं का विहार हुआ था। आचार्यवर्य चारित्र चूड़ामणि १०८ श्री शान्तिसागरजी को दक्षिण से संघ सहित शिखरजी की यात्रा कराना एवं उत्तर प्रान्त में लाने का पूर्ण श्रेय आपके परिवार को ही है। श्री मोतीलालजी की वैराग्य भावना दृढ़ थी किन्तु सल्लेखना के दृश्य ने उसको प्रज्वलित कर दी जिसके फलस्वरूप आपने असार-संसार को एवं अपने पूर्ण वैभव को त्याग कर भादवा शुक्ल १५ को क्षुल्लक दीक्षा अंगीकार की। यह दीक्षा भी उदयपुर के इतिहास में अभूतपूर्व थी। एक वैभवशाली श्रावक के इस त्याग ने उदयपुर की इतर समाज पर भी काफी प्रभाव डाला था। इस दीक्षा समारोह के समय लगभग १५ हजार जनता उपस्थित थी।

कार्तिक की अष्टाह्निका में सिद्धचक्र विधान प्रारम्भ हुआ। इसी समय में उदयपुर के चित्तौड़ा समाज के धार्मिक एवं वैभव संपन्न श्रावक श्री देवीलालजी भी वैराग्य भावना से ओत-प्रोत होकर दीक्षा लेने को उद्यत हुये। उनके साथ ही अन्य ३ श्रावकों के भी दीक्षा के भाव उत्पन्न हुये। इस प्रकार ४ क्षुल्लक दीक्षा समारोह कार्तिक शुक्ला ११ को सम्पन्न हुये। दीक्षा समारोह में लगभग ४० हजार जनता ने भाग लिया और वैराग्य की सराहना की। यह समारोह भी अनोखा एवं अभूतपूर्व था।

चातुर्मास समाप्ति पर संघ विहार करता हुआ सलुम्बर गाँव में पहुँचा जो उदयपुर से ४० मील दूर है वहाँ पर श्री मोतीलालजी जिन्होंने क्षुल्लक दीक्षा ली थी उन्होंने मुनि दीक्षा ग्रहण कर ली। अब जिनका नाम सुबुद्धिसागरजी है तथा आचार्यकल्प श्रुतसागरजी महाराज के संघ में विराजमान हैं।



# तुभ्यं नमोस्तु शिवसागर धर्ममूर्ते

[ लेखक-श्री वसन्तकुमारजी जैन, शिवाड़ ]

भौतिकता की चमक दमक, कुशिक्षा का प्रभाव और शिष्टाचार का प्रलोप-यह सब ही कुछ तो आज नजर आ रहा है। जिधर देखते हैं, उधर यही तो दिखाई दे रहा है लेकिन वाह रे नेमीचन्द्र श्रेष्ठी! और वाह री दगड़ा बाई मातेश्वरी! जिसने अपने यहाँ छह रत्न-राशियों के बीच हीरालाल को भी जन्म दिया।

हीरालाल! जी हाँ वही हीरालाल जो हीरालाल (आचार्य वीरसागरजी महाराज) की शिक्षण-व्यवस्था में रहकर बाल ब्रह्मचारी बन गया और जो ४१ वर्ष की आयु सम्वत् १९९९ में मुक्तागिरी सिद्धक्षेत्र में श्री आचार्य वीरसागरजी महाराज से सप्तम प्रतिमा लेकर विक्रम सम्वत् २००० में क्षुल्लक बन गये। और नाम शिवसागर हो गया। वही क्षुल्लक अषाढ़ शुक्ला ११ संवत् २००६ में ( नागौर ) मुनि बन गये तथा वि० सं० २०१४ में आप आचार्य श्री शान्तिसागरजी महाराज की परम्परा में खानियाँ में आचार्य बने।

आचार्य शिवसागरजी महाराज की जय! इस दुन्दुभि जयनाद से भारत का कोना २ गूंज उठा। और भौतिकता की लहर में कम्पन पैदा हो उठी। आध्यात्मिक शक्ति भारत के कण-कण में जा समाई और चारित्र धर्ममूर्ति आचार्य वर्य के दर्शनों को जनता उमड़ पड़ी।

भारत के कोने कोने में आचार्य वर ने अपने विशाल संघ के साथ विहार किया, और अज्ञान तिमिर को हटा कर ज्ञान सूर्य को प्रकट किया। असंख्य जैनाजैन प्राणियों को संयम के मार्ग पर लगाया और दिगम्बरों की संख्या में वृद्धि की।

आज जिनके उपदेशामृत से धार्मिक चेतना सजग हुई है, जिनकी चारित्रात्मक-शक्ति से संयम का मार्ग खुला है, और जिनकी संरक्षणता में विशाल मुनि संघ पनप सका है—जिनने भौतिकता की कठोरतम विचार धाराओं को आध्यात्मिकता की लहरों से झकझोरा है, और प्राणी मात्र के उद्धार का मार्ग प्रशस्त किया है, वे एकमात्र आचार्य शिवसागरजी महाराज ही तो थे।

आचार्य वर का पार्थिव शरीर आज हमारे सामने से अन्तर्ध्यान हो गया है तो हो जाने दो, वह तो आयुष्क परमाणु समाप्त होते ही कभी तो होता ही, लेकिन हमें आज गौरव है कि भारत का बच्चा बच्चा आचार्य शिवसागरजी महाराज की प्रेरणात्मक चारित्र शुद्धि, तप-त्याग की छाप कभी नहीं भूल सकेगा। जो छाप वे प्राणी मात्र के दिलों में संसार की नश्वरता और ज्ञान उपार्जन की क्षमता को छोड़ गये हैं वह अजर अमर रहेगी।

आचार्य वर शिवाड़ में अपने संघ सहित दो बार पधारे जहाँ ३०-३५ वर्षों से कोई जैन मुनि नहीं पधारे थे। और जन जन को सन्मार्ग पर लगा गये। शिवाड़ जैसे कई गांवों में विशाल संघ सहित विहार करके जैनाजैनों का उद्धार किया है।

मुझे आचार्यश्री के चरणों में रहने का, आहार देने का सौभाग्य मिला है, और मैंने अनुभव किया है कि भारत को महान् विभूति कितनी सौम्य, शान्त, निश्छल और त्याग तपस्या की मूर्ति है, जिनके चरणों के निकट बैठता ही रहूं।

विक्रम संवत् २०२२ में जब आचार्य श्री अपने विशाल संघ के साथ शिवाड़ थे, तो एक अमेरिकन युवक भ्रमणार्थ जयपुर आया था हमसे उसकी जयपुर में भेंट हुई और महाराजश्री के बारे में उसे बताया। वह युवक शिवाड़ आया और संघ को निरख कर अवाक् रह गया।

आचार्य श्री ने उसके सिर पर आशीर्वाद का सुमन रखा और वह युवक भक्ति में डूब गया। अपनी अंग्रेजी भाषा में वह "महाराजजी नमोस्तु" कहता। ललाट पर तिलक लगाता और अस्पष्ट भाषा में "उड़कचन्दन" बोलकर अर्घ चढ़ाता। कभी कभी तो कह भी देता" महाराजजी आप हमारे देश क्यों नहीं आते हैं और महाराज उसकी भक्ति से मुस्करा उठते।

आचार्यवर की सदैव यह भावना रही कि विवाद समाप्त हो, समाज संगठन में रहे और जीवन का मूल्याङ्कन करे। अपने समक्ष वे विवादों, सामाजिक उलझनों को स्थान नहीं देते थे। सीधा सा समाधान देते थे कि जो शास्त्र के मर्म को नहीं जानता वही विवादग्रस्त होता है।

आचार्य वर्य महान् थे, गम्भीर थे, त्याग, चारित्र, तपस्या की मूर्ति थे और महान् आध्यात्मिक सन्त थे। सच ही भारत ने एक महान् निधि खो दी है। आज भारत का बच्चा बच्चा उनके चरण चिह्नों पर नतमस्तक है और बार-बार यही कह रहा है—जय शिवसागर।



# फुलेरा में स्वर्गीय श्री १०८ आचार्य शिवसागरजी महाराज का चातुर्मास

[ श्री शान्तिस्वरूपजी जैन गंगवाल, मंत्री श्री दि० जैन पञ्चायत, फुलेरा ]

फुलेरा जैन समाज के महान् पुण्योदय से वैसे तो समाज को अनेक संघों का समागम एवं पदार्पण तथा महोत्सव आदि के सुअवसर समय समय पर मिलते रहे हैं। किन्तु आचार्य शिवसागरजी महाराज का फुलेरा में पदार्पण विशेष महत्वपूर्ण रहा। आपको ही प्रेरणा से फुलेरा में परम पूज्य श्री १०८ आचार्य वीरसागरजी महाराज का संघ सहित पर्दापण हुआ तथा चातुर्मास आदि कई महत्वपूर्ण कार्य हुए, श्रीमान् धर्मपरायण स्वर्गीय सेठ मूलचन्दजी पाटनी को भी आपने ही प्रेरणा दी! जिसके फलस्वरूप सेठ साहब ने लगभग अस्सी हजार रुपया व्यय करके विशाल जिनमन्दिरजी निर्माण कराया तथा काफी द्रव्य लगाकर श्री पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव तथा सं० २००८ में आचार्य वीरसागरजी महाराज का विशाल संघ सहित चातुर्मास कराया। संघ में आपके ( शिवसागर महाराज के ) अलावा लगभग ६०-६५ मुनि आर्यिका क्षुल्लक क्षुल्लिका तथा ब्रह्मचारी व ब्रह्मचारिणी थे।

लगभग ५०-६० चौके लगते थे, चर्या का समय बड़ा ही दर्शनीय रहता था, मानो चतुर्थ-काल ही आ गया हो!

नमोऽस्तु नमोऽस्तु के शब्दों से सारा नगर गुञ्जायमान हो जाता था; चातुर्मास के समय आचार्य महाराज के आदेश से आपके ही ( शिवसागर महाराज ) अधिकतर प्रवचन हुआ करते थे। आपके ही सदुपदेशों से प्रभावित होकर अनेकों ने कितनी ही नियम प्रतिज्ञायें आदि लेकर अपना कल्याण किया। मुझे भी कुछ नियम लेने का सुअवसर प्राप्त हुआ जिसके लिए मैं भी अपने को धन्य समझता हूँ। चातुर्मास और प्रतिष्ठा के समय वर्तमान आचार्य धर्मसागरजी महाराज की मुनिदीक्षा तथा पद्मसागरजी ([illegible]) की मुनि दीक्षा तथा सुमतिसागरजी आदि की मुनि दीक्षा तथा आर्यिका कुन्थुमति माताजी तथा अजितमति माताजी आदि कितनों ही की क्षुल्लिका आर्यिका आदि अनेक दीक्षा हुई। पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव में सर सेठ भागचन्दजी सोनी अजमेर, सेठ गोपीचन्दजी ठोल्या जयपुर, सेठ मोतीलालजी रानी वाले ब्यावर तथा स्वर्गीय पण्डित इन्द्रलालजी शास्त्री जयपुर आदि अनेक श्रीमानों धीमानों और विद्वानों का पूर्ण सहयोग रहा, जिसके फलस्वरूप लगभग ५० हजार से भी अधिक जनता एकत्रित हुई और महोत्सव बड़े ही सफलता पूर्वक सम्पन्न हुए।

फुलेरा समाज को आचार्य शिवसागरजी महाराज द्वारा अनेक धार्मिक प्रेरणायें मिलीं जिसने फुलेरा जैन समाज कभी भी नहीं भुला सकती।

अन्त में मेरी ओर से तथा फुलेरा समाज की ओर से परम पूज्य प्रातः स्मरणीय स्वर्गीय श्री १०८ आचार्य शिवसागरजी महाराज के चरणों में सविनय श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हुआ वीर प्रभु से प्रार्थना करता हूं कि ऐसे शुभ अवसरों का समागम सदैव प्राप्त होता रहे, जिससे हमारा कल्याण हो। •



स्वर्गीय १०८ पू० आचार्य

# श्री शिवसागर स्मृति-ग्रन्थ

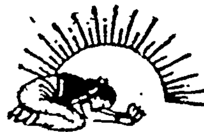


## द्वितीय खण्ड









# उद्बोधन !

[ परम पूज्य आचार्यकल्प १०८ श्री श्रुतसागरजी महाराज की डायरी से उद्धृत ]

जो शिष्य गुरु के आधीन न रहकर स्वतन्त्र रहते हैं और गुरुओं की आज्ञानुसार नहीं चलते, उन शिष्यों को जिनधर्म का विरोधी समझना चाहिए। गुरु भक्ति से रहित शिष्य निंद्य व दुर्गति का पात्र होता है। अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह से रहित शिष्य के भी यदि गुरुओं के प्रति श्रद्धा व भक्ति नहीं है तो उसकी सम्पूर्ण क्रियाएँ निष्फल हैं। जिस प्रकार स्वामी रहित देश, ग्राम, सम्पत्ति, सैन्य आदि व्यर्थ हैं, उसी प्रकार गुरुभक्ति रहित शिष्यों का सम्पूर्ण आचरण व ज्ञान व्यर्थ है। चारित्र में सुदृढ़ साधु एकलविहारी होने से उसी प्रकार भयभीत रहता है जिस प्रकार सदाचारिणी स्त्री स्वतन्त्रता से।

शिक्षा व दीक्षा प्राप्त करने के अधिकारी वे ही हो सकते हैं जो गुरु मान कर चलें, गुरु के गुरु बनने वाले इसके योग्य नहीं हो सकते। शासन करने की अपेक्षा शासन में रहने वाला ही अपना सुधार कर सकता है।

जो तरुण अवस्था में ही विषयों को छोड़कर मोक्षमार्ग में स्थित हुए हैं, वे पुण्यात्मा हैं, महा शक्तिशाली हैं और मुक्ति लक्ष्मी के समीप विचरने वाले हैं, किन्तु यदि तरुण साधु सत्तर वर्ष के वृद्ध और रुग्ण, शक्तिहीन साधु के साथ स्पर्धा करते हैं, तो वे साधु मायाचारी, समीचीन विज्ञान से रहित, चारित्र रहित मूर्ख हैं और अपना इहलोक व परलोक बिगाड़ते हैं।

कम से कम बोलना ही साधुता का द्योतक है क्योंकि ज्यादा बोलने वालों का भाषा पर नियंत्रण नहीं रह सकता है और असंयम की भी उद्भूति होती है। स्वतन्त्र विचरण करने वाले तपस्वी वाक्-पटुता के द्वारा लोक रंजना व धर्म की प्रभावना तो खूब कर सकते हैं, किन्तु आत्म कल्याण नहीं। रागद्वेषरहित वैराग्यभाव को प्राप्त करने वाले साधु को ही शिवपुरी की प्राप्ति होती है, वाक्पटुओं को नहीं। कैंचुली के छोड़ने से विषधर निर्विष नहीं हो जाता। उसी तरह साधु बाह्य परिग्रह के त्यागने से संसाररूपी विष से रहित नहीं होता किन्तु उसके लिए अन्तरंग से विकारी भावों का स्वामित्व व कर्तृत्व रूप विष का त्याग करना पड़ेगा।

हे साधो! मात्सर्य, रागद्वेष और मायाचारी का त्याग करके सामूहिक व संघ में रहकर धर्मसाधन करो, एकाकी नहीं। यही भगवान का आदेश है। क्योंकि साधुओं के चरित्र का स्थान समान होने पर भी परिणामों के भेद से फल में भिन्नता आ जाती है इसलिए हमें अपने परिणामों की सम्हाल रखने के लिए प्रौढ़ साधुओं के साथ ही रहना उचित है। मनोगति बहुत चञ्चल होती है, उस पर लगाम लगाने के लिए हमारे सामने आदर्श उत्कृष्ट होना चाहिए। उनके डर व लज्जा से भी हमारा सुधार हो सकता है।

नौका पानी में तैरती रहती है किन्तु यदि नौका में पानी आ जावे तो वह डूब जाती है। ठीक उसी प्रकार साधु भी संसार में है लेकिन यदि साधु के हृदय में संसार बस गया तो वह डूब जाएगा। साधु होकर विषयों की लालसा रखने वाले और घर कुटुम्बियों का पोषण करने वाले अथवा अपनी ख्याति पूजा लाभ की इच्छा करने वाले मूर्ख जिनेन्द्र भगवान के मंगलमय भेष को कलङ्कित करते हुए मोक्षमार्ग से अति दूर हो जाते हैं। जो आगम में बताए हुए संयम मार्ग पर चलते हैं वे ही साधु एवं मुनि गुरु कहलाने योग्य हैं। असंयमी नहीं। वस्तु स्वरूप में जिसका मन स्थिर नहीं है, ऐसा साधु पापपंक से लिप्त होता है।

हे भगवन् ! हम साधुओं की आत्मा में ऐसी जागृति हो कि हम अपने विवेकरूपी दर्पण में आगमरूपी चक्षु के द्वारा अपने चारित्ररूपी चादर में जो धब्बे लग रहे हैं उन्हें देखकर साफ करने का प्रयत्न करें जिससे कल्याण हो।

जिन संयमियों का मार्गदर्शक, सम्यग्ज्ञान और मित्र, पाप भीरुता ये दोनों उपकारी साथ में हैं उनके अन्तरंग में कभी किसी काल में भी याचक वृत्ति व दीनता प्रवेश नहीं कर सकती। संयम, तप व ध्यानाध्ययन के लिए साधुओं को आहार ग्रहण करना चाहिए, शरीर पुष्टि के लिए नहीं।

हमने जिन कार्य के लिए संयम धारण किया है, उसकी प्राप्ति के लिए हमारा आहार विहार ( गमनागमन ) स्वतन्त्रता ( दीनता व याचना ) से हो, स्वार्थान्धों से रहित गुणीजनों की संगति हो, तभी हम प्रशंसनीय मार्ग के द्वारा निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच सकते हैं। याचक वृत्ति से जीवन यापन करने वाले त्यागी, व्रती या अन्यजन कान्तिहीन दीनता को प्राप्त कर स्व, संघ, जाति एवं धर्मादि को नीचा दिखाता हुआ अपने अयश की ही वृद्धि करता है जैसे—

देहीति वचनं श्रुत्वा, देहस्याः पंचदेवताः।
मुखान्निर्गत्य गच्छन्ति, श्री ह्री, धृति कीर्तयः॥

आचार्यों का कहना है कि हे साधो ! यदि तपश्चरण नहीं कर सकते तो न सही किन्तु अपने आत्मीय गुणों ( उत्तमक्षमादि ) की रक्षा के लिए क्रोधादि कषायों को मन के द्वारा जीतने का प्रयत्न करो। शक्तिशाली सैनिकों की संख्या थोड़ी होते हुए भी उनके द्वारा राजा विजयी हो सकता है उसी प्रकार चित्त भूमि को निर्मल रखते हुए साधु का थोड़ा भी ज्ञान व तपश्चरण आदि कर्मों के नाश करने में समर्थ होते हैं।



# षडावश्यक

[ ले० पूज्य १०८ श्री अजितसागरजी महाराज, संघस्थ आचार्यकल्प १०८ श्री श्रुतसागरजी महाराज ]

मुनि और श्रावक दोनों के लिये आगम में कुछ ऐसे कार्य निश्चित किये गये हैं जिनका करना उन्हें अनिवार्य होता है। ऐसे कार्यों को आवश्यक कहा गया है। इस विवक्षा में आवश्यक शब्द की निरुक्ति 'अवश्यं करणीयं आवश्यकम्' होती है। पण्डित प्रवर आशाधरजी ने *अनगार धर्मामृत में आवश्यक शब्द की निरुक्ति इस प्रकार बतलाई है—'वश्य इन्द्रियायत्तः। न वश्योऽवश्य इन्द्रियानायत्त इत्यर्थः। अवश्यस्य कर्मावश्यकमिति। द्वन्द्वमनोज्ञादेः ३/४/१२३ इति वुञ्। अर्थात् जो इन्द्रियों के आधीन नहीं है वह अवश्य कहलाता है। ऐसे अवश्य—जितेन्द्रिय साधु का जो कार्य है वह आवश्यक कहा जाता है। उन्होंने आवश्यक शब्द का एक अर्थ यह भी किया है कि जो वश्य—स्वाधीन नहीं है अर्थात् जो रोगादिक से पीड़ित है वह अवश्य कहलाता है। अवश्य—रोगादिक से पीड़ित होने पर भी जिनका करना अनिवार्य है वह आवश्यक कहलाता है। कुन्दकुन्द स्वामी ने नियमसार में आवश्यक शब्द की निरुक्ति इस प्रकार दी है—

जो ण हवदि अण्णवसो तस्स दु कम्मं भणंति आवासं।
कम्म विणासण जोगो णिव्वुदिमग्गो त्ति पिज्जुत्तो ॥१४१॥

जो अन्य के वश नहीं है वह अवश है, और उस अवश का जो कार्य है वह आवश्यक है। यह आवश्यक कर्मों का विनाश करने वाला योग तथा निर्वाण का मार्ग है, ऐसा कहा गया है।

मुनि के आवश्यक कार्य इस प्रकार हैं—

सामायिकं चतुर्विंशतिस्तवो वन्दना प्रतिक्रमणम्।
प्रत्याख्यानं कायोत्सर्गश्चावश्यकस्य षड्भेदाः ॥१७॥

सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग ये छह मुनियों के आवश्यक कार्य हैं।

इनका विवेचन आगम में नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन छह के आलम्बन से किया गया है। जैसे सामायिक के विषय में इन छह का आलम्बन लेने से उसके नामसामायिक, स्थापना सामायिक, द्रव्यसामायिक, क्षेत्रसामायिक, कालसामायिक और भावसामायिक यह छह भेद होते हैं।

---

* यद् व्याध्यादिवशेनापि कियतेऽक्षावशेन यत्।
आवश्यकमवश्यस्य कर्माहोरात्रिक मुनेः ॥१६॥ अध्याय ८

## सामायिक—

'समाये भवः सामायिकम्' अर्थात् सम रागद्वेषजनित इष्ट अनिष्ट की कल्पना से रहित जो अय—ज्ञान है वह समाय कहलाता है और उस समाय में जो होता है उसे सामायिक कहते हैं।× यह सामायिक शब्द का निरुक्तार्थ है और समता परिणति का होना वाच्यार्थ है।

शुभ-अशुभ नामों को सुनकर रागद्वेष का छोड़ना नाम सामायिक है। यथोक्त मान-उन्मान आदि गुणों से मनोहर अथवा अमनोहर प्रतिमा आदि के विषय में रागद्वेष का न होना स्थापनासामायिक है। सुवर्ण तथा मिट्टी आदि पदार्थों में समता परिणाम होना द्रव्यसामायिक है। बाग-बगीचे तथा कण्टक वन आदि अच्छे-बुरे क्षेत्रों में समभाव होना क्षेत्र सामायिक है। वसन्त ग्रीष्म आदि ऋतुओं अथवा दिन रात आदि इष्ट अनिष्ट काल के विषय में रागद्वेषरहित होना काल सामायिक है और सब जीवों में मैत्रीभाव का होना तथा अशुभ परिणामों का छोड़ना भावसामायिक है।

+ मूलाचार में सामायिक शब्द की निरुक्ति समय शब्द से की है तथा ÷ अनगार धर्मामृत में भी उसका उल्लेख किया गया है। दर्शन ज्ञान तप यम तथा नियम आदि में जो सम-प्रशस्त अय—गमन है उसे समय कहते हैं और समय का नाम ही सामायिक है क्योंकि समय शब्द से स्वार्थ में ठण् प्रत्यय होने से सामायिक शब्द की सिद्धि होती है।

विधि रूप में प्रति दिन तीनों संध्याओं के समय रागद्वेष छोड़कर सामायिक करना सामायिक नाम का आवश्यक है। सामायिक के प्रारम्भ में 'णमो अरहंताणं' आदि सामायिक दण्डक बोलना चाहिये।

## चतुर्विंशतिस्तव—

वृषभादि चतुर्विंशति तीर्थंकरों का स्तवन करना चतुर्विंशति स्तव कहलाता है। यह स्तव भी नाम स्थापना आदि के भेद से छह प्रकार का होता है। जैसे अष्टोत्तर सहस्र नामों के द्वारा स्तुति करना नाम स्तव है, कृत्रिम अकृत्रिम प्रतिमाओं की स्तुति करना स्थापना स्तव है, एक सौ आठ लक्षण तथा नौ सौ व्यञ्जनों से सहित तीर्थंकरों के शरीर का स्तवन करना द्रव्यस्तव है, गर्भ. जन्म, तप, ज्ञान तथा

---

× रागाद्यसम्बोधः स्यात्समायोऽस्मिन्निरुच्यते ।
भवं सामायिकं साम्यं नामादौ सत्यसत्यपि ॥१६ अध्याय ८

+ सम्मत्तणाण संजम तवेहिं जं तं पसत्थसमगमणं ।
समयं तु तं तु भणिदं तमेव सामाइयं जाणे ॥ मूलाचार

÷ दृग्बोधसंयमतपोनियमादौ प्रशस्तं समगमनम् ।
समयस्तदेव सामायिकं पुनः स्वार्थिकेन ठणा ॥२०॥ अ, ८ अनगार

निर्वाण आदि के क्षेत्रों का स्तवन करना क्षेत्रस्तव है, गर्भादि कल्याणकों के समय का आश्रय लेकर स्तुति करना कालस्तव है और केवलज्ञानादि गुणों का स्तवन करना भावस्तव है।

विधिरूप में "थोस्सामि हं जिणवरे तित्थयरे केवली अणंतजिणे। णर पवरलोयमहिए विहुयरयमले महप्पण्णे" आदि स्तवक दण्डक बोलकर चौबीस तीर्थंकरों का स्तवन किया जाता है।

**वन्दना—**

अरहन्त आदि पञ्च परमेष्ठियों तथा वृषभ आदि चौबीस तीर्थंकरों में से किसी एक की भाव शुद्धि पूर्वक नति नुति, आशीर्वचन तथा जयकार आदि के रूप में विनय क्रिया करना वन्दना कहलाती है। इस वन्दना का आगम में 'कृतिकर्म' शब्द द्वारा भी उल्लेख किया गया है। 'जयति भगवान्' इत्यादि पाठ बोलकर वन्दना की जाती है। गुरू वन्दना भी इसी का अङ्ग है। साधु को चाहिये कि वह प्रतिदिन प्रभातकाल में प्रातःकाल सम्बन्धी क्रियाओं के करने के बाद, मध्याह्न में देवस्तुति के बाद और सायंकाल प्रतिक्रमण के बाद गुरूवन्दना करे।

**प्रतिक्रमण—**

प्रमादवश लगे हुए दोषों को निन्दा, गर्हा और आलोचना पूर्वक दूर करना प्रतिक्रमण कहलाता है। यह दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक, ऐर्यापथिक और उत्तमार्थ के भेद से सात प्रकार का होता है। सूर्यास्त होने के पूर्व दिन सम्बन्धी दोषों का प्रतिक्रमण करना दैवसिक प्रतिक्रमण है। सूर्योदय के समय रात्रि सम्बन्धी दोषों का प्रतिक्रमण करना रात्रिक प्रतिक्रमण है। चतुर्दशी के दिन पक्ष सम्बन्धी दोषों का प्रतिक्रमण करना पाक्षिक प्रतिक्रमण है। कार्तिक, फाल्गुन और आषाढ़ के अन्त में चार चार माह का प्रतिक्रमण करना चातुर्मासिक प्रतिक्रमण है। वर्ष के अन्त में होने वाला प्रतिक्रमण वार्षिक प्रतिक्रमण है। ईर्यापथ—गमन सम्बन्धी दोषों का प्रतिक्रमण ऐर्यापथिक प्रतिक्रमण है और समस्त जीवन के दोषों की आलोचना कर जीवन पर्यन्त के लिये चारों प्रकार के आहार का त्याग करते हुए सल्लेखना धारण करना उत्तमार्थ प्रतिक्रमण है। अपने द्वारा किये हुए दोषों के विषय में आत्मसाक्षी पूर्वक "हा दुट्ठ कयं हा दुट्ठ चिंतियं" इस प्रकार मन में चिन्तन करना निन्दा कहलाती है। गुरु के सामने उक्त प्रकार का मन में चिन्तन करना गर्हा है और गुरु के लिये अपने दोष प्रकट करना आलोचना है। ये निन्दा गर्हा तथा आलोचना प्रतिक्रमण के ही अङ्ग हैं।

मोक्षाभिलाषी जीव, भूत वर्तमान और आगामी कर्मों का क्रम से प्रतिक्रमण, आलोचन और प्रत्याख्यान करके उनके फलों का त्याग करता है। श्री अमृतचन्द्र सूरि ने निम्नांकित कलश काव्यों में इस भाव को बड़ी सुन्दरता से दरशाया है।

मोहाद्यदहमकार्षं समस्तमपि कर्म तत्प्रतिक्रम्य।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते॥

अज्ञानवश जो कर्म मैंने किया था, उस सभी का प्रतिक्रमण कर मैं कर्मरहित चैतन्य स्वरूप आत्मा में निरन्तर लीन होता हूँ।

मोहविलास विजृम्भितमिदमुदयत् कर्म सकलमालोच्य।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ।।

मोह के विलास से वृद्धि को प्राप्त हुआ जो यह कर्म उदय में आ रहा है उस सब की आलोचना कर मैं कर्मरहित चैतन्य स्वरूप आत्मा में निरन्तर लीन होता हूं।

प्रत्याख्याय भविष्यत्कर्म समस्तं निरस्तसंमोहः।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ।।

मैं निर्मोह हुआ, भविष्यत्कालीन समस्त कर्मों का त्याग कर कर्म रहित चैतन्य स्वरूप आत्मा में निरन्तर लीन रहता हूं।

समयसार में प्रतिक्रमणादि को जो विषकुम्भ बताया है वह उपरितन भूमिका में स्थित मुनियों को लक्ष्य कर बताया गया है। अधस्तन भूमिका—षष्ठ गुणस्थान में स्थित मुनियों के लिये उसका करना आवश्यक है। क्योंकि चरणानुयोग की पद्धति में दोषों को दूर करने के लिये जो विधि निश्चित की गई है उसका न करना अपराध माना गया है। हां, ऐसा विचार अवश्य किया जाता है कि मेरी ऐसी निर्दोष अवस्था हो जावे जिसमें प्रतिक्रमणादि का विकल्प न रहे। पं० आशाधरजी ने कहा भी है—

प्रतिक्रमणं प्रतिसरणं परिहरणं धारणा निवृत्तिश्च।
निन्दा गर्हा शुद्धिश्चामृतकुम्भोऽन्यथापि विषकुम्भः ।।६३।। अ० ८

प्रतिक्रमणादि आठों विधियों का करना अधस्तन भूमिका में अमृतकुम्भ है और नहीं करना विषकुम्भ भी है।

**प्रत्याख्यान या स्वाध्याय**

प्रत्याख्यान का अर्थ त्याग है। वह त्याग भी नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के आश्रय से होता है अतः प्रत्याख्यान के नाम प्रत्याख्यान आदि छह भेद हैं। मोक्षाभिलाषी मुनि, जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा तथा गुरु नियोग से उत्साहित होता हुआ सचित्त, अचित्त तथा मिश्र द्रव्यों का त्याग करता है। कर्म निर्जरा का इच्छुक साधु अनागत, अतिक्रान्त, कोटीयुत, अखण्डित, साकार, निराकार, परिमाण, अपरिमाण, वर्तनीयात और सहेतुक के भेद से जो दश प्रकार के उपवास करता है वह भी प्रत्याख्यान ही है। अनागत आदि का स्वरूप अनगार धर्मामृत अध्याय ८ श्लोक ६९ की टीका आदि में द्रष्टव्य है। विस्तार भय से सबका स्वरूप यहां नहीं दिया जा सकता है।

कहीं कहीं प्रत्याख्यान को प्रतिक्रमण में गतार्थ कर उसके स्थान पर स्वाध्याय का समावेश किया गया है। वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश के भेद से स्वाध्याय के पांच भेद हैं।

साधु को अपनी योग्यता के अनुसार प्रतिदिन पाँचों प्रकार का अथवा यथासंभव जितने प्रकार का बन सके स्वाध्याय अवश्य करना चाहिये। यह स्वाध्याय ज्ञानवृद्धि के साथ साथ कर्मनिर्जरा का भी प्रमुख कारण है। स्वाध्याय करते समय व्यञ्जनशुद्धि आदि आठ अङ्गों का ध्यान रखना चाहिये।

**कायोत्सर्ग**

काय का त्याग करना सो कायोत्सर्ग है। यहाँ काय शब्द से काय का ममत्व लिया गया है, उसका त्याग करना कायोत्सर्ग कहलाता है। जैसा कि कहा गया है—

ममत्वमेव कायस्थं तात्स्थ्यात्कायोऽभिधीयते।
तस्योत्सर्गस्तनूत्सर्गो जिनबिम्बाकृतेर्यतेः॥

शरीर में स्थित होने से शरीरस्थ ममत्व ही काय कहलाता है उसका त्याग करना कायोत्सर्ग है। कायोत्सर्ग करने वाला यति जिनप्रतिमा के समान निश्चल होता है।

कायोत्सर्ग करने के हेतुओं का संग्रह इस प्रकार किया गया है—

आगःशुद्धितपोवृद्धिकर्मनिर्जरणादयः।
कायोत्सर्गस्य विज्ञेया हेतवो व्रतवर्तिना॥

व्रती मनुष्य को अपराध शुद्धि, तपोवृद्धि तथा कर्मनिर्जरा आदि को कायोत्सर्ग के हेतु जानना चाहिये।

कायोत्सर्ग की उत्कृष्ट अवधि एक वर्ष की तथा जघन्य अवधि अन्तर्मुहूर्त की है। २७ उच्छ्वास आदि का प्रमाण अन्तर्मुहूर्त में ही गतार्थ हो जाता है। कायोत्सर्ग के काल में किसी भी प्रकार का उपसर्ग आदि आवे तो उसे समताभाव से सहन करना चाहिये। प्रचलित परम्परा में एक कायोत्सर्ग २७ उच्छ्वास तक चलता है। उसमें नौ बार णमोकार मन्त्र के उच्चारण करने की परम्परा चालू है। एक बार णमोकार मन्त्र के उच्चारण में ३ उच्छ्वास लगते हैं। जैसे 'णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं' इतने उच्चारण में एक उच्छ्वास, 'णमो आयरियाणं णमो उवज्झायाणं' इतने उच्चारण में एक उच्छ्वास और 'णमो लोए सव्वसाहूणं' इतने उच्चारण में एक उच्छ्वास होता है। नौ बार णमोकार मन्त्र के उच्चारण में ९×३=२७ उच्छ्वास लगते हैं। २७ उच्छ्वास तक कायोत्सर्ग करने का तात्पर्य यह है कि इतने समय के लिये शरीर के ममत्व का त्याग किया जाता है। उतने समय के भीतर यदि शरीर पर किसी प्रकार का उपसर्ग आदि आता है तो उसे समता भाव से सहन किया जाता है। मुनि की दिन रात सम्बन्धी चर्या में २८ कायोत्सर्ग कहे गये हैं। उनका विवरण इस प्रकार है—

स्वाध्याये द्वादशेष्टा षड्वन्दनेऽष्टौ प्रतिक्रमे।
कायोत्सर्गा योगभक्तौ द्वौ चाहोरात्रगोचराः॥७५॥ अ. ८ अनगार

स्वाध्याय के १२, वन्दना के ६, प्रतिक्रमण के ८ और योगभक्ति के २ सब मिला कर २८ कायोत्सर्ग होते हैं। मुनि को आलस्य छोड़कर यथा समय कायोत्सर्ग करना चाहिये।

कायोत्सर्ग सम्बन्धी दोष तथा वन्दना आदि के आसन और मुद्राओं के विशेष अध्ययन के लिये अनगार धर्मामृत और मूलाचार के तत्तत् प्रकरण द्रष्टव्य हैं। आवश्यकों की उपयोगिता बताते हुये नियमसार में कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है—

आवासएण हीणो पब्भट्ठो होदि चरणदो समणो।
पुव्वुत्तकमेण पुणो तम्हा आवासयं कुज्जा ॥१४८॥

आवश्यक रहित श्रमण, चारित्र से भ्रष्ट है इसलिये पूर्वोक्त विधि से आवश्यक नियम से करना चाहिये।

### श्रावक के षडावश्यक

श्रावक का लक्षण लिखते हुए सागार धर्मामृत में पं० आशाधरजी ने लिखा है—

मूलोत्तरगुणनिष्ठामधितिष्ठन् पञ्चगुरुपदशरण्यः।
दानयजनप्रधानो ज्ञानसुधां श्रावकः पिपासुः स्यात् ॥१५॥अ०१

जो आठ मूलगुण तथा बारह व्रत रूप उत्तर गुणों का पालन करता है, पञ्चपरमेष्ठियों के चरणों की शरण जिसे प्राप्त हुई है जो प्रधानता से दान और पूजन करता है तथा ज्ञान रूपी अमृत के पीने की इच्छा रखता है वह श्रावक कहलाता है।

पद्मनन्दि आचार्य ने पञ्चविंशतिका में श्रावक के निम्नाङ्कित जिन आवश्यक कार्यों का दिग्दर्शन कराया है उनका समावेश श्रावक के उपर्युक्त लक्षण में अच्छी तरह हो जाता है।

देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने ॥

देवपूजा, गुरूपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान ये छह गृहस्थों के प्रतिदिन करने योग्य—आवश्यक कार्य हैं।

'मूलोत्तरगुणनिष्ठामधितिष्ठन्' इस विशेषण से संयम और तप का, 'पञ्चगुरुपदशरण्यः' इस विशेषण से गुरूपासना का, 'दान यजनप्रधानो'—इस विशेषण से देवपूजा और दान का तथा 'ज्ञानसुधां पिपासुः' इस विशेषण से स्वाध्याय का समावेश होता है। गृहस्थ जिन गुणस्थानों की भूमिका में रहता है उनमें शुभोपयोग रूप धर्म ही सिद्ध हो पाता है। देवपूजा आदि कार्य शुभोपयोग रूप होने से यद्यपि पुण्यबन्ध के कारण हैं तथापि आत्मा के वीतराग स्वभाव की ओर लक्ष्य ले जाने में परम सहायक हैं।

**देवपूजा—**

जिनागम में अरहन्त और सिद्धपरमेष्ठी की देव संज्ञा है, इनकी जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और फल इन आठ द्रव्यों के द्वारा पूजा करना देवपूजा है। देव पूजा के नित्य पूजा, आष्टाह्निक पूजा, इन्द्रध्वज पूजा, महामह अथवा सर्वतोभद्र और कल्पद्रुमम‍ह के भेद से पाँच भेद हैं। प्रतिदिन घर से ले जाये गये जल चन्दनादि द्रव्यों के द्वारा जिनेन्द्र भगवान् की जो पूजा की जाती है वह नित्य पूजा है। मन्दिरों के लिये ग्राम तथा गृह आदि का दान देना तथा मुनियों के लिये आहार देना आदि इसी नित्यपूजा में गर्भित है। कार्तिक, फाल्गुन और आषाढ़ के अन्तिम आठ दिनों में विशेष समारोह के साथ जो पूजा की जाती है वह आष्टाह्निक पूजा के नाम से प्रसिद्ध है। इंद्रादिक देवों के द्वारा जो पूजा की जाती है उसे इन्द्रध्वजपूजा कहते हैं। श्रावक, अपने आपमें इन्द्र प्रतीन्द्र आदि का आरोप कर जो पञ्च कल्याणक प्रतिष्ठा आदि के समय विशिष्ट पूजा करता है वह इसी इन्द्रध्वज पूजा में गर्भित है। मुकुटबद्ध राजाओं के द्वारा जो भक्ति पूर्वक पूजा की जाती है उसे महामह, सर्वतोभद्र अथवा चतुर्मुख पूजा कहते हैं और किमिच्छक दान के द्वारा सब जीवों की आशा को पूर्ण कर चक्रवर्ती बड़े उत्साह के साथ जिस पूजा को करते हैं वह कल्पद्रुमम‍ह कहलाती है।

पूजा करते समय किसी लौकिक फल की आकांक्षा न कर अपने ज्ञानानन्द स्वभावी वीतराग-स्वरूप आत्मा की ओर लक्ष्य रखना चाहिये। वीतराग जिनेन्द्र की शरण में पहुँचने पर लौकिक फल तो अपने आप प्राप्त होते हैं उनकी इच्छा करने से क्या प्रयोजन है? देश और काल के भेद से पूजा की पद्धति और द्रव्य आदि में जो भेद हैं, ज्ञानी जीव उसके विकल्प में न पड़ अरहन्तदेव के गुणों के प्रति अपना लक्ष्य स्थिर करता है। उसीसे उसका कल्याण होता है। जिन पूजा का फल बतलाते हुए आशाधरजी ने कहा है—

> यथाकथंचिद् भजतां जिनं निर्व्याजचेतसाम्।
> नश्यन्ति सर्वदुःखानि दिशः कामान् दुहन्ति च ॥४१॥ अ. २ सा. ध.

जिस किसी तरह निश्चलभाव से जिनेन्द्रदेव की भक्ति करने वाले पुरुषों के समस्त दुःख नष्ट होते हैं और दिशाएँ उनके मनोरथों को पूर्ण करती हैं अर्थात् जिनेन्द्र भगवान् के भक्त जहाँ भी जाते हैं वहीं उन्हें सब सुख सुविधाएँ प्राप्त होती हैं।

यह तो रही लौकिक फल की बात परन्तु पारमार्थिक फल की प्राप्ति भी सरल हो जाती है। प्रवचनसार में कुन्दकुन्द स्वामी ने लिखा है—

> जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्त पज्जयत्तेहिं।
> सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥८०॥

—जो द्रव्य गुण और पर्याय की अपेक्षा अरहन्त को जानता है वह आत्मा को जानता है और जो आत्मा को जानता है उसका मोह नियम से विलय को प्राप्त होता है।

**गुरूपास्ति—**

निर्ग्रन्थ गुरु मोक्षमार्ग के साधक हैं अतः उनकी सुख सुविधाओं का ध्यान रखते हुए उनकी उपासना करना श्रावक का कर्त्तव्य है। दिगम्बर मुनिमार्ग खड्ग की धार पर चलने के समान कठिन है उसे धारण करने का साहस विरले ही मनुष्य करते हैं इसलिए आहार दान तथा वैयावृत्य आदि के द्वारा सुविधा पहुँचाते हुए उन्हें उस मार्ग में उत्साहित करते रहना आवश्यक है।

**स्वाध्याय—**

आत्मा के शुद्ध स्वरूप का बोध हो, इस अभिप्राय से विधिपूर्वक स्वाध्याय करना प्रत्येक श्रावक का कर्त्तव्य है। आत्मज्ञान के विना अनेक शास्त्रों का ज्ञान भी निरर्थक है और आत्मज्ञान के साथ अष्ट-प्रवचन मातृका का जघन्य श्रुतज्ञान भी इस जीव को अन्तर्मुहूर्त में सर्वज्ञ बना देता है अतः शास्त्र पढ़ते समय स्वकीय शुद्धस्वरूप की ओर लक्ष्य रखना चाहिये। सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र के बीच में सम्यग्ज्ञान को आचार्यों ने इसी उद्देश्य से रखा है कि वह सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र दोनों को बल पहुँचाता है।

**संयम —**

बढ़ती हुई इच्छाओं को नियन्त्रित करना तथा हिंसादि पाँच पापों से विरक्ति होना संयम है। यह संयम इन्द्रियसंयम और प्राणिसंयम के भेद से दो प्रकार का है पाँच इन्द्रियों और मन की उद्दाम प्रवृत्ति को रोकना इन्द्रियसंयम है और छह काय के जीवों की यथाशक्य रक्षा करना प्राणिसंयम है। जिस प्रकार लगाम के विना घोड़ा स्वच्छन्दचारी हो जाता है उसी प्रकार संयम के विना मनुष्य स्वच्छन्दचारी हो जाता है। स्वच्छन्दचारी होना संसार को बढ़ाना है और संयम को धारण करना मोक्ष का मार्ग है।

**तप—**

शक्ति अनुसार अनशन, ऊनोदर आदि बाह्य तप तथा प्रायश्चित्त विनय आदि अन्तरंग तप धारण करना तप है। श्रावक अपने मन में मुनिव्रत धारण करने का भाव रखता है और मुनिव्रत तपश्चरण प्रधान होता है इसलिये अभ्यास के रूप में तपश्चरण करता हुआ गृहस्थ मुनिव्रत धारण करने का अभ्यास करता है।

**दान—**

आहार, औषध, ज्ञान और अभय के भेद से दान के चार प्रकार हैं। गृहस्थ अपनी शक्ति के अनुसार इन चारों प्रकार के दानों को देता है। गृहस्थ के दान से ही मुनिमार्ग चलता है इसलिये गृहस्थ को लोभ तथा लोभभाव का परित्याग कर दान देने में निरन्तर तत्पर रहना चाहिये। जिसके हृदय में परोपकार का भाव होता है उसी की दान देने में प्रवृत्ति होती है। जो दान, सन्मान के साथ तथा पात्र-अपात्र का विचार कर दिया जाता है, वह दाता और पात्र दोनों के लिये लाभदायक होता है।

✱

# चतुःसंज्ञाज्वरातुराः

[लि०—श्री १०८ पूज्य यतीन्द्रसागरजी महाराज, संघस्थ-आचार्यकल्प १०८ श्री श्रुतसागरजी महाराज]

संसार के प्राणी चार संज्ञा रूपी ज्वर से पीड़ित होकर अनादि काल से दुःख उठा रहे हैं। इन संज्ञा रूपी ज्वरों की उत्पत्ति अनादि कालीन अविद्या—मिथ्याज्ञान रूपी दोषों से होती है अतः सर्व प्रथम मिथ्यात्व मूलक मिथ्याज्ञान को नष्ट कर चार संज्ञाओं को दूर करने का पुरुषार्थ करना चाहिये।

जिनसे संक्लेशित होकर जीव इस लोक तथा पर लोक में दारुण दुःख उठाते हैं उन्हें संज्ञाएं कहते हैं। ये सज्ञाएँ आहार, भय, मैथुन और परिग्रह के भेद से चार प्रकार की होती हैं।

**आहार संज्ञा—**

अन्तरङ्ग में असाता वेदनीय की उदीरणा-तीव्र उदय और बहिरङ्ग में आहार के देखने, उस ओर उपयोग जाने तथा पेट खाली होने से जो आहार की वांछा उत्पन्न होती है उसे आहार संज्ञा कहते हैं।

**भय संज्ञा—**

अन्तरङ्ग में भय नोकषाय की उदीरणा और बहिरङ्ग में अत्यन्त भयङ्कर वस्तु के देखने, उस ओर उपयोग जाने तथा शक्ति की हीनता होने पर जो भय उत्पन्न होता है उसे भय संज्ञा कहते हैं।

**मैथुन संज्ञा—**

अंतरङ्ग में वेद नोकषाय की उदीरणा और बहिरङ्ग में गरिष्ठ रस युक्त भोजन करने, उस ओर उपयोग जाने तथा कुशील मनुष्यों के संसर्ग से जो कामाभिलाषा उत्पन्न होती है उसे मैथुन संज्ञा कहते हैं।

**परिग्रह संज्ञा—**

अन्तरङ्ग में लोभ कषाय की उदीरणा और बहिरङ्ग में विविध उपकरणों के देखने, उस ओर उपयोग जाने तथा ममतारूप मूर्च्छा परिणामों के होने से जो परिग्रह की इच्छा होती है उसे परिग्रह संज्ञा कहते हैं।

आहार संज्ञा छठवें गुणस्थान तक, भय संज्ञा आठवें गुणस्थान तक, मैथुन संज्ञा नवम गुणस्थान तक और परिग्रह संज्ञा दशम गुणस्थान तक रहती है। आगे कोई भी संज्ञा नहीं होती। सप्तमादि गुणस्थानों में जो भय, मैथुन और परिग्रह संज्ञा का सद्भाव बतलाया है वह मात्र उनमें कारणभूत कर्मों का उदय रहने से बतलाया गया है, भावना, रतिक्रीड़ा तथा परिग्रह के संचय रूप क्रियाएं उन गुणस्थानों में नहीं होतीं।

*

# जीव और अजीव का भेदज्ञान

[लि०—श्री १०८ पूज्य सुबुद्धिसागरजी महाराज, संघस्थ-आचार्यकल्प १०८ श्री श्रुतसागरजी महाराज]

संसारी जीव के साथ अनादिकाल से कर्म और नोकर्म रूप पुद्गल-द्रव्य का संबंध चला आ रहा है। मिथ्यात्व दशा में यह जीव शरीर रूप नोकर्म की परिणति को आत्मा की परिणति मान कर उसमें अहंकार करता है—इस रूप ही मैं हूँ ऐसा मानता है अतः सर्व प्रथम शरीर से पृथक्ता सिद्ध की है उसके बाद ज्ञानावरणादिक द्रव्य कर्म और रागादिक भाव कर्मों से इसका पृथक्त्व दिखाया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है कि हे भाई ! ये सब भाव पुद्गल-द्रव्य के परिणमन से निष्पन्न हैं अतः पुद्गल के हैं, तू इन्हें जीव क्यों मान रहा है ? यथा

एए सव्वे भावा पुग्गलदव्व परिणामणिप्पण्णा ।
केवलजिणेहिं भणिया कह ते जीवो त्ति वुच्चंति ॥४४॥

जो स्पष्ट ही अजीव हैं उनके अजीव कहने में तो कोई बात नहीं है। परन्तु जो अजीवाश्रित परिणमन जीव के साथ घुलमिल कर अनित्य तन्मयी भाव से तादात्म्य जैसी अवस्था को प्राप्त हो रहे हैं उन्हें समझना यह ज्ञान की विशेषता है। 'रागादिक भाव अजीव हैं', गुणस्थान, मार्गणा तथा जीव-समास आदि भाव अजीव हैं, यह बात यहां तक सिद्ध की गई है। अजीव हैं—इसका यह तात्पर्य नहीं है कि घट पटादि के समान अजीव हैं। यहां अजीव हैं—इसका इतना तात्पर्य है कि ये जीव की निज परिणति नहीं हैं। यदि जीव की निज परिणति होती तो त्रिकाल में इनका अभाव नहीं होता परन्तु जिस पौद्गलिक कर्म की उदयावस्था में ये भाव होते हैं उसका अभाव होने पर स्वयं विलीन हो जाते हैं। अग्नि के संसर्ग से पानी में उष्णता आती है परन्तु वह उष्णता सदा के लिये नहीं आती। अग्नि का सम्बन्ध दूर होते ही दूर हो जाती है। इसी प्रकार क्रोधादि कर्मों के उदयकाल में होने वाले रागादि भाव यद्यपि आत्मा में अनुभूत होते हैं तथापि संयोगज भाव होने से आत्मा के विभाव भाव हैं, स्वभाव नहीं, इसीलिये उनका अभाव हो जाता है।

ये रागादिक भाव आत्मा को छोड़कर अन्य जड़ पदार्थों में नहीं होते किन्तु आत्मा के उपादान से आत्मा में उत्पन्न होते हैं इसलिये इन्हें आत्मा के कहने के लिये अन्य आचार्यों ने अशुद्ध निश्चयनय की कल्पना की है। ये शुद्ध निश्चय नय से आत्मा के नहीं हैं अशुद्ध निश्चय नय से आत्मा के हैं ऐसा कथन करते हैं परन्तु कुन्दकुन्द स्वामी निश्चय और व्यवहार नय कहना पसन्द करते हैं, वे विभाव को आत्मा के मानने के लिये तैयार नहीं हैं। इन्हें आत्मा के कहना, इसे वे व्यवहार नय का विषय मानते हैं और व्यवहार नय को इसीलिये उन्होंने अभूतार्थ कहा है। व्यवहार को अभूतार्थ कहने का तात्पर्य इतना है कि

वह अन्य द्रव्याश्रित परिणमन को अन्य द्रव्य का परिणमन मानता है। "व्यवहार नय अभूतार्थ है" इसका यह अर्थ ग्राह्य नहीं है कि वह अनुपादेय एवं मिथ्या है। नयों का प्रयोग पात्र की योग्यता के अनुसार होता है अतः अज्ञानी जनों को वस्तु स्वरूप का बोध कराने के लिये व्यवहार नय का भी आलम्बन ग्राह्य होता है।

इसी प्रसङ्ग में जीव का स्वरूप बतलाते हुए कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है—

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ।।४६।।

हे भव्य ! तू आत्मा को ऐसा जान कि वह रस रहित है, रूप रहित है, गन्ध रहित है, अव्यक्त अर्थात् स्पर्श रहित है, शब्द रहित है, अलिङ्गग्रहण है—किसी खास लिंग से उसका ग्रहण नहीं होता तथा जिसका आकार निर्दिष्ट नहीं किया गया है, ऐसा है; किन्तु चेतना गुण वाला है।

यहां स्वरूपोपादान की दृष्टि से उसे चेदणागुणं—चेतनागुण वाला कहा है और पररूपापोहन की दृष्टि से अरूप-अगन्ध आदि कहा है अर्थात् रूप, गन्ध आदि से रहित होने के कारण यह पुद्गल रूप अजीव से भिन्न है।

निर्जराधिकार में कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है—

परमाणुमित्तयं पि हु रायादीणं तु विज्जदे जस्स ।
ण वि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरो वि ।।२०१।।
अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चावि सो अयाणंतो ।
कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणंतो ।।२०२।।

जिसके रागादिक का परमाणुमात्र-लेश मात्र भी विद्यमान है वह समस्त आगम का धारक होकर भी आत्मा को नहीं जानता है, जो आत्मा को नहीं जानता वह अनात्मा को भी नहीं जानता और जो जीव, अजीव-आत्मा, अनात्मा को नहीं जानता वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है ?

सम्यग्दृष्टि बनने के लिये जीव और अजीव का भेद विज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है; क्योंकि सात तत्व अथवा नौ पदार्थों में मूल तत्व तो जीव और अजीव ही हैं शेष इनके संयोग से समुत्पन्न हैं। अमृतचन्द्र स्वामी ने इस भेद विज्ञान की महिमा का उल्लेख करते हुए कहा है—

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन ।
अस्यैवाभावतोवद्धा बद्धा ये किल केचन ।।१३१।।

आजतक जितने सिद्ध हुए हैं वे सब भेद विज्ञान से ही सिद्ध हुए हैं और जितने संसार में बद्ध हैं वे सब इसी भेद विज्ञान के अभाव से बद्ध हैं।

जीव और अजीव के संयोग से उत्पन्न इस संयोगी पर्याय में जीव और अजीव का भेदविज्ञान किस प्रकार हो सकता है ? इसका समाधान करते हुए कुन्दकुन्द स्वामी ने मोक्षाधिकार में कहा है—

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं ।
बंधो छेएदव्वो सुद्धो अप्पा य घेतव्वो ॥२९५॥

जीव और बन्ध अपने अपने लक्षणों से जाने जाते हैं सो जानकर बन्ध तो छेदने के योग्य है और आत्मा ग्रहण करने के योग्य है।

शिष्य कहता है—भगवन् ! वह लक्षण तो बताओ जिसके द्वारा मैं आत्मा को समझ सकूं। उत्तर में कुन्दकुन्द महाराज कहते हैं:—

कह सो घिप्पइ अप्पा पण्णाए सो उ घिप्पए अप्पा ।
जह पण्णाइ विहत्तो तह पण्णा एव घित्तव्वो ॥२९६॥

उस आत्मा का ग्रहण कैसे किया जावे ? प्रज्ञा—भेदज्ञान के द्वारा आत्मा का ग्रहण किया जावे। जिस तरह प्रज्ञा ने उसे विभक्त किया था उसी तरह प्रज्ञा से उसे ग्रहण करना चाहिये।

पण्णाए घित्तव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्ति णायव्वा ॥२९७॥

प्रज्ञा के द्वारा ग्रहण करने योग्य जो चेतयिता है, वही मैं हूं और अवशेष जो भाव हैं वे मुझसे पर हैं।

जिस प्रकार क्रकच—करौंत के पड़ने से लकड़ी के दो खण्ड हो जाते हैं उसी प्रकार प्रज्ञा-क्रकच के पड़ने से बन्ध और आत्मा पृथक् पृथक् हो जाते हैं। आत्मा और बन्ध के भिन्न भिन्न करने में यही प्रज्ञा रूपी छैनी समर्थ है। चतुर विज्ञानी जीव सावधान होकर आत्मा और बन्ध की सूक्ष्म सन्धि पर इसे इस तरह पटकता है कि जिस तरह आत्मा का अंश पर में जाता नहीं और पर का अंश आत्मा में रहता नहीं। प्रज्ञारूपी छैनी के पड़ते ही आत्मा और बन्ध पृथक् पृथक् हो जाते हैं।

आत्मा और बन्ध का सदा के लिये पृथक् हो जाना ही मोक्ष है और उसी मोक्ष प्राप्ति के लिये ज्ञानी जीव का पुरुषार्थ होता है।

✱

# जैन भूगोल

[ परम विदुषीरत्न—आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी ]

यावंति जिनचैत्यानि विद्यंते भुवनत्रये।
तावंति सततं भक्त्या त्रिःपरित्य नमाम्यहं ॥१॥

आकाश के दो भेद हैं—(१) लोकाकाश (२) अलोकाकाश। लोकाकाश के तीन भेद हैं—(१) अधोलोक (२) मध्यलोक (३) ऊर्ध्वलोक। अनन्त अलोकाकाश के बीचों-बीच में वह पुरुषाकार तीन लोक हैं।

## तीनलोक की ऊंचाई का प्रमाण

तीनलोक की ऊंचाई १४ राजू प्रमाण है। एवं मोटाई सर्वत्र ७ राजू है।

तीनलोक के जड़भाग से लोक की ऊंचाई का प्रमाण—अधोलोक की ऊंचाई = ७ राजू। इसमें ७ नरक हैं, प्रथम नरक के ऊपर की पृथ्वी का नाम चित्रा पृथ्वी है।

ऊर्ध्वलोक की ऊंचाई = ७ राजू है। अर्थात् ७ राजू की ऊंचाई में स्वर्ग से लेकर सिद्धशिला पर्यन्त हैं।

नरक के तल भाग में चौड़ाई ७ राजू है। घटते घटते चौड़ाई मध्यलोक में = १ राजू रह गई। मध्यलोक से ऊपर बढ़ते बढ़ते ब्रह्मलोक (५वें स्वर्ग) तक ५ राजू हो गई है।

५वें ब्रह्मलोक नामक स्वर्ग से ऊपर घटते घटते सिद्धशिला तक चौड़ाई } = १ राजू रह गई

तीन लोकों के बीचों बीच में १ राजू चौड़ी तथा १४ राजू लम्बी त्रसनाली है। इस नाली में ही त्रस जीव पाये जाते हैं। नीचे एक राजू में निगोद पाया जाता है अतः त्रसजीव १३ राजू ऊंचाई में ही हैं।

## मध्यलोक का वर्णन

मध्यलोक १ राजू चौड़ा और १ लाख ४० योजन ऊंचा है। यह चूड़ी के आकार का है। इस मध्यलोक में असंख्यात द्वीप और असंख्यात समुद्र हैं।

## जम्बूद्वीप का वर्णन

इस मध्यलोक में १ लाख योजन व्यास वाला अर्थात् ४००००००००० (४० करोड़) मील विस्तार वाला जम्बूद्वीप स्थित है। जम्बूद्वीप को घेरें हुये २ लाख योजन विस्तार (व्यास) वाला लवण समुद्र है। लवण समुद्र को घेरे हुये ४ लाख योजन व्यास वाला धातकी खण्ड द्वीप है। धातकी खण्ड

को घेरे हुये ८ लाख योजन व्यास वाला वलयाकार कालोदधि समुद्र है। उसके पश्चात् १६ लाख योजन व्यास वाला पुष्करवर द्वीप है। इसी तरह आगे आगे के द्वीप तथा समुद्र क्रम से दूने-दूने प्रमाण वाले होते गये हैं। अंत के द्वीप और समुद्र का नाम स्वयंभूरमण द्वीप और स्वयंभूरमण समुद्र है। कालोदधि समुद्र के बाद द्वीप और समुद्रों का नाम सदृश ही है। अर्थात् जो द्वीप का नाम है वही समुद्र का नाम है। पाँचवें समुद्र का नाम क्षीरोदधि समुद्र है। इस समुद्र का जल दूध के समान है। भगवान् के जन्माभिषेक के समय देवगण इसी समुद्र का जल लाकर भगवान् का अभिषेक करते हैं।

आठवाँ नंदीश्वर नामका द्वीप है। इसमें ५२ जिनचैत्यालय हैं। प्रत्येक दिशा में १३-१३ चैत्यालय हैं। देवगण वहाँ भक्ति से पूजन दर्शन आदि करके महान् पुण्य संपादन करते रहते हैं।

जम्बूद्वीप के मध्य में १ लाख योजन ऊंचा तथा १० हजार योजन विस्तार वाला सुमेरुपर्वत है। इस जम्बूद्वीप में ६ कुलाचल (पर्वत) एवं ७ क्षेत्र हैं। ६ कुलाचलों के नाम—(१) हिमवान् (२) महाहिमवान् (३) निषध (४) नील (५) रुक्मि (६) शिखरी। ७ क्षेत्रों के नाम—(१) भरत (२) हैमवत (३) हरि (४) विदेह (५) रम्यक (६) हैरण्यवत् (७) ऐरावत।

## जम्बूद्वीप के भरत आदि क्षेत्रों एवं पर्वतों का प्रमाण

भरत क्षेत्र का विस्तार जंबूद्वीप के विस्तार का १९० वाँ भाग है। अर्थात् $\frac{१०००००}{१९०} = ५२६\frac{६}{१९}$ योजन अर्थात् $२१०५२६३\frac{३}{१९}$ मील है भरत क्षेत्र के आगे हिमवन् पर्वत का विस्तार भरत क्षेत्र से दूना है। इस प्रकार आगे-आगे क्रम से पर्वतों से दूना क्षेत्रों का तथा क्षेत्रों से दूना पर्वतों का विस्तार दूना-दूना होता गया है। यह क्रम विदेह क्षेत्र तक ही जानना। विदेह क्षेत्र के आगे-आगे के पर्वतों और क्षेत्रों का विस्तार क्रम से आधा-आधा होता गया है।
( विशेष रूप से देखिये चार्ट नं० १ )

## विजयार्ध पर्वत का वर्णन

भरत क्षेत्र के मध्य में विजयार्ध पर्वत है। यह विजयार्ध पर्वत ५० योजन ( २००००० मील ) मोटा है, और २५ योजन ( १००००० मील ) ऊंचा है। एवं लम्बाई दोनों तरफ से लवणसमुद्र को स्पर्श कर रही है। पर्वत के ऊपर दक्षिण और उत्तर दोनों तरफ इस धरातल से १० योजन ऊपर तथा १० योजन ही भीतर समतल में विद्याधरों की नगरियां हैं। जो कि दक्षिण में ५० एवं उत्तर में ६० हैं। इसके १० योजन और ऊपर एवं अंदर जाकर समतल में अभियोग्य जाति के देवों के भवन हैं। उसमें ऊपर अवशिष्ट ५ योजन जाकर समतल में ९ कूट हैं इन कूटों में सिद्धायतन नामक १ कूट में जिन चैत्यालय एवं ८ कूटों में व्यंतरों के आवास स्थान हैं।

इस चैत्यालय की लम्बाई = १ कोस, चौड़ाई = ½ कोस, एवं ऊंचाई ¾ कोस की है यह चैत्यालय अकृत्रिम है।

चार्ट नम्बर. १

# जम्बूद्वीप का स्पष्टीकरण

| | क्षेत्र तथा कुलाचलों के नाम | विस्तार | | पर्वतों की ऊंचाई योजनसे | पर्वतों की ऊंचाई मील से | पर्वतों के वर्ण |
|---|---|---|---|---|---|---|
| | | योजन | मील | | | |
| क्षेत्र | भरत क्षेत्र | ५२६$\frac{६}{१९}$ | २१०५२६३$\frac{३}{१९}$ | — | — | — |
| पर्वत | हिमवान | १०५२$\frac{१२}{१९}$ | ४२१०५२६$\frac{६}{१९}$ | १०० | ४००००० | स्वर्ग के सदृश |
| क्षेत्र | हैमवत | २१०५$\frac{५}{१९}$ | ८४२१०५२$\frac{१२}{१९}$ | — | — | — |
| पर्वत | महाहिमवान | ४२१०$\frac{१०}{१९}$ | १६८४२१०५$\frac{५}{१९}$ | २०० | ८००००० | चांदी सदृश |
| क्षेत्र | हरि | ८४२१$\frac{१}{१९}$ | ३३६८४२१०$\frac{१०}{१९}$ | — | — | — |
| पर्वत | निषध | १६८४२$\frac{२}{१९}$ | ६७३६८४२१$\frac{१}{१९}$ | ४०० | १६००००० | तपाया हुआ सोना |
| क्षेत्र | विदेह | ३३६८४$\frac{४}{१९}$ | १३४७३६८४२$\frac{२}{१९}$ | — | — | — |
| पर्वत | नील | १६८४२$\frac{२}{१९}$ | ६७३६८४२१$\frac{१}{१९}$ | ४०० | १६००००० | वैडूर्यमणि सदृश |
| क्षेत्र | रम्यक | ८४२१$\frac{१}{१९}$ | ३३६८४२१०$\frac{१०}{१९}$ | — | — | — |
| पर्वत | रुक्म | ४२१०$\frac{१०}{१९}$ | १६८४२१०५$\frac{५}{१९}$ | २०० | ८००००० | रजत सदृश |
| क्षेत्र | हैरण्यवत | २१०५$\frac{५}{१९}$ | ८४२१०५२$\frac{१२}{१९}$ | — | — | — |
| पर्वत | शिखरी | १०५२$\frac{१२}{१९}$ | ४२१०५२६$\frac{६}{१९}$ | १०० | ४००००० | स्वर्ण सदृश |
| क्षेत्र | ऐरावत | ५२६$\frac{६}{१९}$ | २१०५२६३$\frac{३}{१९}$ | — | — | — |

इस चैत्यालय में १०८ अकृत्रिम जिन प्रतिमायें हैं एवं अष्ट मंगल द्रव्य, तोरण, माला, कलश, ध्वज आदि महान विभूतियों से यह चैत्यालय विभूषित है।

यह विजयार्ध पर्वत रजतमई है। इसी प्रकार का विजयार्ध पर्वत ऐरावत क्षेत्र में भी इसी प्रमाण वाला है।

## विजयार्ध पर्वत

चौड़ाई

—: ५० योजन :—

ऊँचाई —: २५ योजन :—

| | |
|---|---|
| विद्याधरों की नगरी ६० | १० योजन |
| अभियोग्य जाति के देवों के पुर | १० योजन |
| ९ कूट = ८ कूट १ चैत्यालय | —: ५ योजन :— |
| अभियोग्य जाति के देवों के पुर | १० योजन |
| विद्याधरों की नगरी ५० | १० योजन |

## हिमवान पर्वत का वर्णन

हिमवान् नामक पर्वत १०५२ १२/१९ योजन (४२१०५२६ [illegible]) मील विस्तार वाला है। इस पर्वत पर पद्म नामक सरोवर है। यह सरोवर १००० योजन लम्बा तथा ५०० योजन चौड़ा एवं १० योजन

गहरा है। इसके आगे-आगे के पर्वतों पर क्रम से महापद्म, तिगिञ्छ, केशरिन्, पुंडरीक, महापुंडरीक नाम के सरोवर हैं। पद्म सरोवर से दूनी लम्बाई, चौड़ाई एवं गहराई महापद्म सरोवर की है। महापद्म से दूनी तिगिञ्छ की है। इसके आगे के सरोवरों की लम्बाई, चौड़ाई एवं गहराई का प्रमाण क्रम से आधा-आधा होता गया है। इन सरोवरों में क्रमश: १-२ एवं ४ योजन के कमल हैं वे पृथ्वीकायिक हैं। उन कमलों पर श्री, ह्री, धृति, कीर्ति बुद्धि एवं लक्ष्मी ये ६ देवियां अपने परिवार सहित निवास करतीं हैं। ( देखिये चार्ट नम्बर २ )

## गंगा आदि नदियों के निकलने का क्रम

पद्म सरोवर के पूर्व तट से गंगा नदी एवं पश्चिम तट से सिंधु नदी निकलती है। गंगा नदी पूर्व समुद्र में एवं सिंधु नदी पश्चिम समुद्र में प्रवेश करती है ये दोनों नदियां भरत क्षेत्र में बहती हैं। तथा इसी पद्म सरोवर के उत्तर तट से रोहितास्या नदी भी निकलकर हैमवत क्षेत्र में चली जाती है।

महापद्म सरोवर से रोहित्, हरिकांता ये दो नदियां निकली हैं। तिगिञ्छ सरोवर से हरित्, सीतोदा, केशरिन् सरोवर से सीता और नरकांता, महापुंडरीक सरोवर से नारी, रूप्यकूला तथा पुंडरीक नामक अन्तिम सरोवर से रक्ता, रक्तोदा एवं स्वर्णकूला ये तीन नदियां निकली हैं। इस प्रकार ६ पर्वतों पर स्थित ६ सरोवरों से १४ नदियां निकली हैं। प्रत्येक सरोवर से २-२ एवं पद्म तथा महापुंडरीक सरोवर से ३-३ नदियां निकली हैं।

यह गंगा और सिंधु नदी विजयार्ध पर्वत को भेदती हुई आती हैं। अत: भरत क्षेत्र को ६ खण्डों में बांट देती हैं। विजयार्ध पर्वत के उस तरफ उत्तर में अर्थात् हिमवन् और विजयार्ध के बीच तीन खण्ड हैं, वे तीनों म्लेच्छ खण्ड कहलाते हैं। विजयार्ध के इस तरफ के तीन खण्ड हैं, उनमें आजू-बाजू के दो म्लेच्छ खण्ड, जाति से, खान-पान से, आचरण से म्लेच्छ नहीं हैं वे क्षेत्रज म्लेच्छ हैं।

[ चार्ट नम्बर २ अगले पृष्ठ पर देखिये ]

चार्ट नम्बर २

## कुलाचल के सरोवरों का स्पष्टीकरण

| सरोवरों के नाम | सरोवरों की लम्बाई | | चौड़ाई | | गहराई | | देवी |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| | योजन | मील से | योजन से | मील से | योजन से | मील से | |
| पद्म | १००० | ४०००००० | ५०० | २०००००० | १० | ४०००० | श्री देवी |
| महापद्म | २००० | ८०००००० | १००० | ४०००००० | २० | ८०००० | ह्री देवी |
| तिगिञ्छ | ४००० | १६०००००० | २००० | ८०००००० | ४० | १६०००० | धृति देवी |
| केसरिन् | ४००० | १६०००००० | २००० | ८०००००० | ४० | १६०००० | कीर्ति देवी |
| पुंडरीक | २००० | ८०००००० | १००० | ४०००००० | २० | ८०००० | बुद्धि देवी |
| महापुंडरीक | १००० | ४०००००० | ५०० | २०००००० | १० | ४०००० | लक्ष्मी देवी |

## गङ्गा नदी का वर्णन

पद्म सरोवर से गंगानदी निकल कर पांच सौ योजन पूर्व की ओर जाती हुई गंगाकूट के २ कोश इधर से दक्षिण की ओर मुड़कर भरत क्षेत्र में २५ योजन पर्वत से ( उसे छोड़कर ) यहाँ पर सवा छः ( ६¼ ) योजन विस्तीर्ण, आधा योजन मोटी और आधा योजन ही आयत वृषभाकार जिव्हिका (नाली) है। इस नाली में प्रविष्ट होकर वह गंगा नदी उत्तम श्री गृह के ऊपर गिरती हुई गौ सींग के आकार होकर १० योजन विस्तार के साथ नीचे गिरी है।

## गंगा देवी के श्रीगृह का वर्णन

जहां गंगा नदी गिरती है वहां पर ६० योजन विस्तृत एवं १० योजन गहरा १ कुण्ड है। उसमें १० योजन ऊंचा वज्रमय १ पर्वत है। उस पर गंगा देवी का प्रासाद बना हुआ है। उस प्रासाद की छत पर एक अकृत्रिम जिन प्रतिमा केशों के जटाजूट से युक्त शोभायमान है। गंगा नदी अपनी चंचल एवं उन्नत तरङ्गों से संयुक्त होती हुई जलधारा से जिनेन्द्र देव का अभिषेक करते हुए के समान ही गिरती है; पुनः इस कुण्ड से दक्षिण की ओर जाकर आगे भूमि पर कुटिलता को प्राप्त होती हुई विजयार्ध की गुफा में ८ योजन विस्तृत होती हुई प्रवेश करती है। अन्त में १४ हजार नदियों से संयुक्त होकर पूर्व की ओर जाती हुई लवण समुद्र में प्रविष्ट हुई है। ये १४ हजार परिवार नदियां आर्य खण्ड में न बहकर म्लेच्छ खण्डों में ही बहती हैं। इस गंगा नदी के समान ही अन्य १३ नदियों का वर्णन समझना चाहिये। अन्तर केवल इतना ही है कि भरत और ऐरावत में ही विजयार्ध पर्वत के निमित्त से क्षेत्र के ६ खण्ड होते हैं, अन्यत्र नहीं होते हैं।

## लवण समुद्र का वर्णन

एक लाख योजन व्यास वाले इस जम्बूद्वीप को घेरे हुये वलयाकार २ लाख योजन व्यास वाला लवण समुद्र है। उसका पानी अनाज के ढेर के समान शिखाऊ ऊंचा उठा हुआ है बीच में गहराई १००० योजन की है एवं समतल से जल की ऊंचाई अमावस्या के दिन ११००० योजन की रहती है। तथा शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से बढ़ते-बढ़ते ऊंचाई पूर्णिमा के दिन १६००० योजन की हो जाती है। पुनः कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा से घटते-घटते ऊंचाई क्रमशः अमावस्या के दिन ११००० की रह जाती है।

तट से ( किनारे से ) ९५ योजन आगे जाने पर गहराई एक योजन की है। इस प्रकार क्रमशः ९५-९५ योजन बढ़ते जाने पर १-१ योजन की गहराई अधिक-अधिक बढ़ती जाती है। इस प्रकार ९५००० योजन जाने पर गहराई १००० योजन की हो जाती है। यही क्रम उस तट से भी जानना चाहिये। इस प्रकार इस लवण समुद्र के बीचों बीच में १००० योजन तक गहराई १००० योजन की समान है।

## अन्तर्द्वीपों का वर्णन

इस लवण समुद्र के दोनों तटों पर २४ अन्तर्द्वीप हैं। चार दिशाओं के ४ द्वीप, ४ विदिशाओं के ४ द्वीप, दिशा, विदिशा को ८ अन्तरालों के ८ द्वीप, हिमवन् और शिखरी पर्वत के दोनों तटों के ४ और भरत ऐरावत के दोनों विजयार्द्धों के दोनों तटों के ४ इस प्रकार—४+४+८+४+४=२४ हुये। ये २४ अन्तर्द्वीप लवण समुद्र के इस तटवर्ती हैं एवं उस तट के भी २४ तथा कालोदधि समुद्र के उभय तट के ४८ सभी मिलकर ९६ अन्तर्द्वीप कहलाते हैं और इन्हें ही कुभोग भूमि कहते हैं।

## कुभोग भूमिया मनुष्यों का वर्णन

इन द्वीपों में रहने वाले मनुष्य कुभोग भूमियां कहलाते हैं। इनकी आयु असंख्यात वर्षों की होती है।

पूर्व दिशा में रहने वाले मनुष्य एक पैर वाले होते हैं।

पश्चिम दिशा में रहने वाले मनुष्य पूंछ वाले होते हैं।

दक्षिण " " " सींग वाले होते हैं।

उत्तर " " " गूंगे होते हैं।

एवं विदिशा आदि सम्बन्धी सभी कुत्सित रूप वाले ही होते हैं। ये मनुष्य सुभोग भूमिवत् युगल ही जन्म लेते हैं और युगल ही मरते हैं। इनको शरीर सम्बन्धी कोई कष्ट नहीं होता है एवं कोई-कोई वहां की मधुर मिट्टी का भी भक्षण करते हैं। तथा अन्य मनुष्य वहां के वृक्षों के फल फूल आदि का भक्षण करते हैं। उनका कुरूप होना कुपात्र दान का फल है।

## धातकी खण्ड का वर्णन

चारों तरफ से लवण समुद्र को घेरे हुये ४ लाख योजन व्यास वाला धातकी खण्ड है। इसमें पूर्व और पश्चिम में क्षेत्र के बीचों बीच में विजय और अचल नाम के दो मेरु हैं जो कि सुदर्शन मेरु से ऊंचाई में छोटे हैं। मतलब ८४ हजार योजन ऊंचाई वाले हैं तथा इस धातकी खंड में दक्षिण और उत्तर में १-१ इष्वाकार पर्वत बने हुये हैं जिनसे धातकी खण्ड के पूर्व पश्चिम रूप से दो भाग हो जाते हैं। दोनों में ही दक्षिण के क्रम से हिमवन् महाहिमवन् आदि ६ पर्वत हैं एवं भरत हैमवत् आदि ७ क्षेत्र हैं। इस जम्बू द्वीप के समान ही यहां पर भी कर्म भूमि और भोग भूमि की व्यवस्था है।

सरोवर नदियां आदि भी सभी जम्बू द्वीप के समान हैं। विदेह, वक्षार, गजदन्त आदि रचनायें भी हैं। विशेषता इतनी ही है कि धातकी खंड में दो मेरु होने से भरत आदि की सारी रचनायें दूनी दूनी हैं ऐसा समझना चाहिये।

## पुष्करार्ध द्वीप

पुष्करवर द्वीप १६ लाख योजन का है। उसमें बीच में वलयाकार-चूड़ी के ( आकार ) वाला मानुषोत्तर पर्वत है। मानुषोत्तर पर्वत के इस तरफ ही मनुष्यों के रहने के क्षेत्र हैं। इस आधे पुष्करवर द्वीपमें भी धातकी खण्ड के समान दक्षिण और उत्तर दिशामें दो इष्वाकार पर्वत हैं। जो एक ओर से कालोदधि समुद्र को छूते हैं एवं दूसरी ओर मानुषोत्तर पर्वत का स्पर्श करते हैं। और यहां पर भी पूर्व एवं पश्चिम में १-१ मेरु होने से २ मेरु हैं तथा भरत क्षेत्रादि क्षेत्र एवं हिमवन् पर्वत आदि पर्वतों की भी संख्या दूनी २ है। मानुषोत्तर पर्वत के निमित्त से इस द्वीप के दो भाग हो जाने से ही इस आधे एक भाग को पुष्करार्ध कहते हैं।

## मनुष्य क्षेत्र का वर्णन

मानुषोत्तर पर्वत के इधर-उधर ४५ लक्ष योजन तक के क्षेत्र में ही मनुष्य रहते हैं अर्थात्—

| | |
|---|---|
| जम्बू द्वीप का विस्तार | १ लक्ष योजन |
| लवण समुद्र के दोनों ओर का विस्तार | ४ " " |
| धातकी खण्ड के दोनों ओर का विस्तार | ८ " " |
| कालोदधि समुद्र के दोनों ओर का विस्तार | १६ " " |
| पुष्करार्ध द्वीप के दोनों ओर का विस्तार | १६ " " |

जम्बू द्वीप को वेष्टित करके आगे-आगे द्वीप समुद्र होने से दूसरी तरफ से भी लवण समुद्र आदि के प्रमाण को लेने से १+२+४+८+८+८+८+४+२=४५००००० योजन होते हैं।

मानुषोत्तर पर्वत के बाहर मनुष्य नहीं जा सकते हैं। आगे-आगे असंख्यात द्वीप समुद्रों तक अर्थात् अन्तिम स्वयंभूरमण समुद्र पर्यन्त पंचेन्द्रिय तिर्यंच पाये जाते हैं। तथा असंख्यात व्यन्तर देवों के आवास भी बने हुये हैं और सभी देवगण वहां गमनागमन कर सकते हैं।

## जम्बूद्वीपादि के नाम एवं उनमें क्षेत्रादि व्यवस्था

जम्बू द्वीप में सुमेरु पर्वत के उत्तर दिशा में उत्तरकुरु में १ जम्बू ( जामुन ) का वृक्ष है। उसी प्रकार धातकी खण्ड में १ धातकी (आंवला) का वृक्ष है। तथैव पुष्करार्ध में पुष्कर वृक्ष है। ये विशाल पृथ्वी कायिक वृक्ष हैं। इन्हीं वृक्षों के नाम से उपलक्षित नाम वाले ये द्वीप हैं।

जिस प्रकार जम्बू द्वीप में क्षेत्र, पर्वत और नदियां हैं उसी प्रकार से धातकी खण्ड एवं पुष्करार्ध में उन्हीं-उन्हीं नाम के दूने-दूने क्षेत्र, पर्वत, नदियां एवं मेरु आदि हैं।

## विदेह क्षेत्र का विशेष वर्णन

जम्बू द्वीप के बीच में सुमेरु पर्वत है। इसके दक्षिण में निषध पर्वत और उत्तर में नील पर्वत है। यह मेरु विदेह क्षेत्र के ठीक बीच में है। निषध पर्वत से सीतोदा और नील पर्वत से सीता नदी पूर्व समुद्र में प्रवेश करती है। इसलिए इनसे विदेह के चार भाग हो गये हैं। दो भाग मेरु के एक ओर और दो भाग मेरु के दूसरी ओर एक-एक विदेह में ४-४ वक्षार पर्वत और तीन-तीन विभंग नदियाँ होने से १-१ विदेह के आठ-आठ भाग हो गये हैं।

इन चार विदेहों के बत्तीस भाग ( विदेह ) हो गये हैं। ये बत्तीस विदेहक्षेत्र जम्बू द्वीप के १ मेरु सम्बन्धी हैं। इस प्रकार ढाई द्वीप के ५ मेरु सम्बन्धी ३२×५=१६० विदेहक्षेत्र होते हैं।

## १७० कर्म भूमि का वर्णन

इस प्रकार १६० विदेहक्षेत्रों में १-१ विजयार्ध एवं गंगा, सिन्धु तथा रक्ता, रक्तोदा नाम की २-२ नदियों से ६-६ खंड होते हैं। जिसमें मध्य का आर्य खण्ड एवं शेष पांचों म्लेच्छ खण्ड कहलाते हैं।

पांच मेरु संबंधी ५ भरत ५ ऐरावत और ५ महाविदेहों के १६० विदेह:—५+५+१६०=१७० हुये। ये १७० ही कर्म भूमियां हैं।

एक राजू चौड़े इस मध्य लोक में असंख्यात द्वीप समुद्र हैं। उनके अन्तर्गत ढाई द्वीप की १७० कर्म भूमियों में ही मनुष्य तपश्चरणादि के द्वारा कर्मों का नाश करके मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। इसलिए ये क्षेत्र कर्म भूमि कहलाते हैं।

## इन क्षेत्रों में काल परिवर्तन का क्रम

भरत एवं ऐरावत क्षेत्रों में पहले काल से लेकर छठे काल तक क्रम से परिवर्तन होता रहता है। यह दो भेद रूप है, अवसर्पिणी एवं उत्सर्पिणी।

अवसर्पिणी—( १ ) सुषमा-सुषमा ( २ ) सुषमा ( ३ ) सुषमा-दुषमा ( ४ ) दुषमा-सुषमा ( ५ ) दुषमा ( ६ ) अतिदुषमा।

पुनः विपरीत क्रम से ही—६ काल परिवर्तन होता रहता है।

उत्सर्पिणी—( ६ ) अति दुषमा ( ५ ) दुषमा ( ४ ) दुषम-सुषमा ( ३ ) सुषम-दुषमा ( २ ) सुषमा ( १ ) सुषमा-सुषमा।

प्रथम, द्वितीय काल में उत्तम, मध्यम, जघन्य भोग भूमि की व्यवस्था रहती है। तथा चतुर्थ काल में कर्म भूमि शुरू होती है। चतुर्थ काल में तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि शलाका पुरुषों का जन्म एवं

सुख की बहुलता रहती है। पुण्यादि कार्य विशेष होते हैं एवं मनुष्य उत्तम संहनन आदि सामग्री प्राप्त कर कर्मों का नाश करते रहते हैं। पंचमकाल में उत्तम संहनन आदि पूर्ण सामग्री का अभाव एवं केवली, श्रुतकेवली का अभाव होने से पञ्चमकाल में जन्म लेने वाले मनुष्य इसी भव से मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते हैं।

१६० विदेह क्षेत्रों में सदैव चतुर्थ काल के प्रारम्भवत् सब व्यवस्था रहती है।

भरत, ऐरावत क्षेत्रों में जो विजयार्ध पर्वत हैं उनमें जो विद्याधरों की नगरियाँ हैं एवं जो भरत, ऐरावत क्षेत्रों में ५-५ म्लेच्छ खण्ड हैं उनमें, चतुर्थ काल में आदि से अन्त तक जो परिवर्तन होता है। वही परिवर्तन होता रहता है।

## ३० भोग भूमियाँ

सुमेरु पर्वत के ठीक उत्तर में उत्तर कुरु और दक्षिण में देवकुरु है। ये उत्तर कुरु, देवकुरु उत्तम भोग भूमि हैं और हरि क्षेत्र, रम्यक क्षेत्र में मध्यम भोगभूमि की व्यवस्था है तथा हैरण्यवत, हेमवत में जघन्य भोग भूमि है।

इस प्रकार जम्बूद्वीप की १ मेरु सम्बन्धी ६ भोगभूमियाँ हैं। इसी प्रकार धातकीखण्ड की २ मेरु सम्बन्धी १२, तथा पुष्करार्ध की २ मेरु सम्बन्धी १२ इस प्रकार—ढाई द्वीप की पाँचों मेरु सम्बन्धी—६+१२+१२=३० भोगभूमियाँ हैं। जहाँ पर १० प्रकार के कल्पवृक्षों द्वारा उत्तम-उत्तम भोगोपभोग सामग्री प्राप्त होती है उसे भोगभूमि कहते हैं।

## जम्बूद्वीप के अकृत्रिम चैत्यालय

जंबूद्वीप में ७८ अकृत्रिम जिन चैत्यालय हैं। यथा सुमेरु पर्वत सम्बन्धी चैत्यालय १६ हैं। सुमेरु पर्वत की विदिशा में—

४ गज दंत के चैत्यालय ४ हैं।

हिमवदादि षट् कुलाचल के चैत्यालय छह हैं।

विदेह के १६ वक्षार पर्वतों के चैत्यालय १६ हैं।

३२ विदेहस्थ विजयार्ध के चैत्यालय ३२ हैं।

भरत, ऐरावत के २ विजयार्ध के चैत्यालय २ हैं।

देवकुरु, उत्तरकुरु के जंबू शाल्मलि २ वृक्षों के चैत्यालय २ हैं।

इस प्रकार १६+४+६+१६+३२+२+२=७८ जिन चैत्यालय हैं।

## मध्यलोक के सम्पूर्ण अकृत्रिम चैत्यालय

जंबूद्वीप के समान ही धातकीखण्ड, एवं पुष्करार्ध में २-२ मेरु के निमित्त से सारी रचना दूनी-दूनी होने से चैत्यालय भी दूने-दूने हैं। तथा धातकीखण्ड एवं पुष्करार्ध में २-२ इष्वाकार पर्वत पर भी २-२ चैत्यालय हैं। मानुषोत्तर पर्वत पर चारों ही दिशाओं के ४ चैत्यालय हैं। आठवें नन्दीश्वर द्वीप की चारों दिशाओं के ५२ हैं। ग्यारहवें कुण्डलवर द्वीप में स्थित कुण्डलवर पर्वत पर ४ दिशा सम्बन्धी ४ चैत्यालय हैं।

तेरहवें रुचकवर द्वीप में स्थित रुचकवर पर्वत पर चार दिशा सम्बन्धी ४ चैत्यालय हैं। इस प्रकार ४५८ चैत्यालय होते हैं।

यथा—

| | | |
|---|---|---|
| जम्बू द्वीप में | चैत्यालय | ७८ |
| धातकीखण्ड में | " | १५६ |
| पुष्करार्ध में | " | १५६ |
| धातकीखण्ड, पुष्करार्ध में स्थित इष्वाकार पर्वत चैत्यालय | | ४ |
| मानुषोत्तर पर्वत | चैत्यालय | ४ |
| नन्दीश्वर द्वीप | " | ५२ |
| कुण्डलगिरि | " | ४ |
| रुचकवरगिरि | " | ४ |

७८+१५६+१५६+४+४+५२+४+४=४५८ चैत्यालय हैं। इन मध्यलोक सम्बन्धी ४५८ चैत्यालयों को एवं उनमें स्थित सर्व जिन प्रतिमाओं को मैं मन, वचन, काय से नमस्कार करता हूँ।

अति संक्षेप से यह मध्यलोक का वर्णन किया है, जिन्हें विशेष जानने की इच्छा है उन्हें तिलोयपण्णत्ति, जम्बूद्वीप-पण्णत्ति, त्रिलोकसार, राजवार्तिक आदि ग्रन्थों का स्वाध्याय करना चाहिये।



ऐसी वाणी बोलिये, मन का आपा खोय।
औरन को शीतल करे, आपा शीतल होय॥

# कर्म एवं कर्मों की विविध अवस्थायें

[ लेखिका—श्री १०५ आर्यिका आदिमतीजी, आचार्य श्री धर्मसागरजी संघस्था ]

प्रत्येक संसारी प्राणी कर्म शृङ्खला से बद्ध है। जीवों की जितनी भी क्रियायें एवं अवस्थायें हैं उनका कारण कर्म ही है। इन कर्मों का सम्बन्ध जीव के साथ कब से है और क्यों है ? इसका उत्तर यही है—अनादि काल से, जैसे—बीज और वृक्ष के सम्बन्ध में उसकी आदिमान् अवस्था को कोई नहीं बता सकता कि बीज कब हुआ पश्चात् कब उसका वृक्ष उत्पन्न हुआ, इनका सम्बन्ध अनादि है, अथवा जैसे खान से निकले हुये स्वर्णपाषाण में स्वर्ण के साथ किट्ट कालिमा का सम्बन्ध सादि नहीं है, उसी प्रकार जीव के साथ कर्मों का सम्बन्ध सादि नहीं है, अनादि है।

कोई ऐसा मानते हैं कि जीव पहले शुद्ध था पीछे कर्म उसके साथ लगे, इस भ्रान्ति को दूर करने के लिये, सोने में मैल की तरह आत्मा और कर्म का सम्बन्ध बतलाया गया है। उन कर्मों का सम्बन्ध कराने वाले कोई ईश्वरादि विधाता नहीं हैं, जीव अपने कर्मों के अनुरूप स्वयं ही अपनी सृष्टि का निर्माता है। कर्म के, मूल में द्रव्यकर्म भावकर्म रूप से दो भेद तथा ज्ञानावरणादि रूप से ८ भेद हैं उत्तर भेद १४८ या असंख्यात लोक प्रमाण भी हैं। इनमें निर्माण नामा नामकर्म का शरीर की रचना करने में मुख्य हाथ है। किस स्थान में क्या रचना करना, यह सब काम निर्माण कर्म का है। यह निर्माण नामा नामकर्म ही विधाता है, अन्य ईश्वरादि नहीं। हमारे ऊपर किसी भी प्रकार का संकट आता है तो हम भगवान् को कोसने लगते हैं कि भगवान ने हमारा ऐसा बुरा किया परन्तु यह बहुत भारी भूल है। भगवान् किसी का अच्छा अथवा बुरा नहीं करते, उनको किसी के प्रति प्रेम अथवा द्वेष नहीं है। हमारे किये हुये अच्छे या बुरे कर्म ही हमको सुखी या दुःखी बनाते हैं। संसार अवस्था में प्रतिक्षण सभी जीव कर्मों को तथा नोकर्मों को ग्रहण करते हैं। किस प्रकार से ? इसके विषय में कर्मकांड में गाथा नम्बर ३ में बतलाया है।

देहोदयेण सहिओ जीवो आहरदि कम्मणोकम्मं।
पडिसमयं सव्वंगं तत्तायसपिंडओव्व जलम्॥

शरीरनामा नाम कर्म के उदय से जड़ कर्म परमाणु आत्मा के सम्पूर्ण प्रदेशों में एक साथ खिंच कर उसी तरह प्रवेश करते हैं। जिस तरह कि गर्म लोहे का गोला जल में डुबा दिये जाने पर चारों ओर से शीतल जल के परमाणुओं को अपनी ओर खींचता है। इसी प्रकार अनादि काल से परिणामों में कषाय की अधिकता तथा मंदता होनेपर आत्मा के प्रदेश जब अधिक वा कम सकंप होते हैं तब कर्म-परमाणु भी ज्यादा अथवा कम बँधते हैं जैसे—चिकनी दीवाल पर धूलि अधिक लगती है और कम पर कम। आत्मा और जड़ कर्मों का एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध है। उस कर्म के उदय से उसके फल को

जीव प्रतिक्षण अनुभव करता है। मूल में कर्म आठ हैं परन्तु उन सबका सम्राट मोहनीय कर्म है। सब प्राणी इससे बुरी तरह घबड़ाये हैं। यह कर्म किसी को भी सुख से जीवन नहीं बिताने देता। 'यथा नाम तथा गुणः' के धारक इस कर्म ने सभी के ऊपर मोहनीचूर्ण डाल कर सबको मोहित कर दिया है, इस कारण जीव अनेक प्रकार की चेष्टायें करते हैं। जिस प्रकार आत्मा में वैभाविक शक्ति है उसी प्रकार इन पौद्गलिक कर्मों में भी है तभी तो चेतन की शक्ति को दबा दिया है। जैसे—राजा के मरने के बाद उसकी सेना की शक्ति नष्ट हो जाती है और वह इधर उधर भाग जाती है उसी प्रकार यह मोह राजा जब नष्ट होता है तब बाकी कर्मों को नाश होने में देर नहीं लगती। यही कारण है कि योगिराज सर्व प्रथम इस मोह का नाश करने के लिये सामग्री जुटाते हैं और इसको समूल नष्ट करते हैं। जिस प्रकार जली हुई जेवड़ी कुछ भी कार्य नहीं कर सकती उसी प्रकार अन्य कर्म इस जीव का अधिक रूप में बिगाड़ नहीं कर सकते। वे तो धीरे धीरे स्वयं नाश को प्राप्त हो जाते हैं। जब तक कर्मों का तीव्र उदय रहता है मनुष्य का पुरुषार्थ उतने समय कुछ भी कार्यकारी नहीं होता है। ऐसा समझ कर अपने पौरुष को दबाना नहीं चाहिये क्योंकि वही पुरुषार्थ आगे जाकर काम में आता है। ये कर्म शुभ तथा अशुभ रूप से दो प्रकार के हैं। इनको उत्पन्न करने वाला वेदनीय कर्म है जिसका वेदन प्रत्येक संसारी जीव सुखरूप या दुःख रूप से करते हैं ये दोनों ही संसार के कारण हैं। शुभकर्म सोने की बेड़ी के सदृश हैं तथा अशुभ कर्म लोहे की बेड़ी के समान हैं। जैसे सोने अथवा लोहे की बेड़ी मनुष्य को बांधती है उसी प्रकार शुभ अशुभ कर्म जीव को बांधते हैं परन्तु अशुभ की अपेक्षा शुभ कर्म जीव के कल्याण मार्ग में सहायक हैं, शुभ अवस्था से शुद्ध अवस्था की प्राप्ति होती है अशुद्ध से नहीं, शुभ परिणाम ही आत्मा में निर्मलता लाते हैं।

जिस प्रकार मनुष्य भोजन करता है उसके बाद आहार उदर में जाकर सप्त धातु और उप-धातु रूप से परिणत होता है, उसी प्रकार जीव, परिणामों के अनुसार पुद्गलवर्गणाओं को ग्रहण करता है। पश्चात् वे वर्गणाएं आठ कर्म रूप से परिणत हो जाती हैं। उनका विभाजन विधिवत् होता है। यदि आयु बंध गई है तो उसमें से सबसे थोड़ा हिस्सा आयु कर्म को मिलता है, उससे ज्यादा नाम-गोत्र को परन्तु इन दोनों का हिस्सा आपस में समान है, उससे ज्यादा अंतराय, दर्शनावरणी, ज्ञाना-वरणी को मिलता है, इनका भी हिस्सा आपस में समान है। इनसे अधिक मोहनीय कर्म को मिलता है और सबसे अधिक वेदनीय को मिलता है क्योंकि सभी जीव हर समय सुख या दुःख का अनुभव करते हैं इसलिये इसकी निर्जरा अधिक होती है। अतः सबसे ज्यादा द्रव्य वेदनीय को मिलता है।

इन आठ कर्मों के घातिया और अघातिया के भेद से दो विभाग हैं, उनमें घातिया कर्मों में फल देने की शक्ति लता, दारु, हड्डी और पत्थर के समान है, अर्थात् इनमें उत्तरोत्तर जैसी जैसी कठोरता है, वैसे वैसे ही फल कठोर है, इनमें देशघाति और सर्वघाति ऐसे दो भेद हैं, लता से लेकर दारु के अनन्तवें भाग तक के शक्ति रूप स्पर्धक देशघाति के हैं

और शेष वह भाग से लेकर शैल तक के स्पर्धक सर्वघाति के हैं। अघातिया कर्मों में भी प्रशस्त और अप्रशस्त दो भेद हैं प्रशस्त कर्मों का फल गुड़ खाँड मिश्री, अमृत इस प्रकार से है, तथा अप्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग नीम, कांजी, विष हलाहल रूप से है। अर्थात् सांसारिक सुख दुःख के कारण दोनों ही पुण्य पाप कर्मों की शक्तियों को चार चार तरह तरतमरूप से समझना चाहिये। इस प्रकार से अतिसंक्षेप से कर्मों की व्यवस्था बतलाई।

कर्मवाद को स्वीकार कर लेने पर आधुनिक साम्यवाद की व्यवस्था नहीं बन सकती, क्योंकि कर्मवाद ही यह बतलाता है कि प्राणीमात्र स्वकृत कर्म के अनुसार उसके फल का भोक्ता है। जीव को अपने किये कर्म का रस चखना ही पड़ेगा कोई चाहे कि हम सबको समान बनादें, सम्पत्तिशाली कर दें, ऊंच नीच का भेद मिटा दें, कोई भी राजा या रङ्क न रहे परन्तु इस प्रकार की तर्कणा से कोई कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती, यदि ऐसा हो जावे तो सब जीव स्वच्छन्द बनकर मन चाहे पापों में प्रवृत्ति करेंगे उनके मन से सभी प्रकार का संकोच, लज्जा, लोकापवाद पापभीरुता आदि दोष पलायमान हो जायेंगे, क्योंकि उनको अपने कर्म का फल जो सुख दुःख है वह तो भोगना नहीं है परन्तु यह सब प्रकार की धारणा एवं मंतव्य कर्म सिद्धान्त के विरुद्ध हैं, तथा कर्मसिद्धान्त को माने बिना बड़ी भारी गड़बड़ी फैल जायेगी न तो कोई संसार से छूटने का प्रयत्न करेगा न मुक्ति की अभिलाषा करेगा क्योंकि जो अपने को बँधा हुआ अनुभव करेगा वही छूटने का प्रयत्न करेगा।

हमारी यह भावना होना तो आवश्यक है कि संसार के सभी जीव सुखी हों तथा शीघ्र ही संसार के आवर्तों से निकल कर अविनाशी स्थान पर पहुँच जावें। इस प्रकार परोपकार की तथा सभी जीवों के उद्धार की भावना होना आवश्यक है क्योंकि ऐसी भावना जब उत्कट रूप से होती है तभी जीव तीर्थंकर पदवी को प्राप्त करने में समर्थ हो सकते हैं। परन्तु हम यदि चाहें कि संसार अवस्था में सबको एक समान बनादें, कोई भी हीनाधिक न रहे, इस कर्म के फल को मिटाने में तो साक्षात् भगवान् भी समर्थ नहीं हैं। हां! जीवत्व की दृष्टि से तो सभी जीव समान हैं सभी की आत्मा अनन्त गुणों का पुञ्ज स्वरूप है, ऐसा समझ कर किन्हीं भी जीवों के प्रति वैर विरोध एवं हिंसा की भावना उत्पन्न नहीं होनी चाहिये। सभी जीव अपने समान हैं, एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के सभी जीव सुख एवं दुःख का अनुभव करते हैं, ऐसा समझ कर पाप प्रवृत्ति का त्याग करना चाहिये। सब जीवों के प्रति मित्रता का भाव होना चाहिये। सभी जीवों में कर्म काट कर भगवान बनने की शक्ति है उस शक्ति की व्यक्ति जो जीव पुरुषार्थ के द्वारा करले वह साम्यवादी है तथा उसीने साम्यवाद को समझा, ऐसा समझना चाहिये क्योंकि साम्य अवस्था मोक्ष में है, संसार में रहकर सब धन या जन से समान नहीं रह सकते, क्योंकि सब के कार्य पृथक् पृथक् हैं सब की भावना भिन्न भिन्न हैं तदनुरूप उनके कर्म का बंध होता है और उसका फल उनको अवश्य भोगना पड़ता है। सभी

जीव इस बात का अनुभव करते हैं कि एक मां के यदि चार पुत्र हैं तो चारों का भाग्य समान नहीं है कोई सुखी है तो कोई दुःखी है, जब हम अपने घर में समानता नहीं कर सकते तो सारे विश्व के समन्वय की बात करना तो घानी में रेत पेलने के समान निस्सार है।

जो साम्यवाद का नारा लगाते हैं उनको स्वयं को देखना है कि हम कहाँ जा रहे हैं मात्र सब के साथ खान-पान कर लेना या सब के साथ विवाह सम्बन्ध कर लेना ही साम्यवाद नहीं है यह तो सिर्फ अपनी आत्मा को धोखा देकर गर्त में गिराना है। जो दीन दुःखी जीव हैं उनकी सब प्रकार से धनादि एवं मृदु भाषण आदि से सहायता करना परम कर्तव्य है, पापी जीवों को पाप से छुड़ा कर सन्मार्ग में लगाना अपना कर्तव्य है परन्तु उनके पाप के फल को कोई नहीं मिटा सकता। यदि हम भेद भाव मिटाना चाहें तो जो आठ कर्मों की व्यवस्था है वह समाप्त हो जायगी।

**ज्ञानावरणी कर्मः**—यह सूचित करता है कि प्रत्येक जीवों के ज्ञान का आवरण भिन्न-भिन्न है, क्योंकि सभी जीवों का ज्ञान समान नहीं है सभी के ज्ञान में तरतमता देखी जाती है।

**दर्शनावरणी कर्म :**—का कार्य है कि वस्तु को नहीं देखने देना। पहरेदार के समान, इसकी सभी में भिन्नता देखी जाती है, किसी के कम किसी के ज्यादा यह कर्म आत्मा के दर्शन को रोकता है।

**वेदनीय कर्म :**—का काम सुख दुःख का अनुभव कराना है जिसका कि सभी अच्छी तरह से अनुभव कर रहे हैं कोई अधिक सुखी हैं तो कोई अधिक दुःखी हैं अनेक प्रकार से तरतमता देखी जाती है।

**मोहनीय कर्म :**—की विशेषताओं को सब अच्छी तरह से जान रहे हैं अनुभव कर रहे हैं, इस मोह से मोहित होकर संसार के जीव अनेक प्रकार के स्वांग एवं नाटक करते हैं। मोह शब्द की व्युत्पत्ति "मुह्" धातु से निष्पन्न हुई है, व्याकरण के अनुसार "अ" प्रत्यय लगकर पद बनता है। मोह से दृष्टि में विकार उत्पन्न होता है जैसे पांडु रोगी को सभी वर्ण पांडु ही प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार मोह से सहित व्यक्ति को सभी पदार्थ मोह स्वरूप दिखाई देते हैं। मोह पहले आंखों में राग उत्पन्न करता है, पश्चात् हृदय में विकार को जन्म देता है तथा जीव विकार भाव को अपना सहचारी बनाकर स्वच्छन्द रूप से विचरण करता है, अतः मोह और मोक्ष में ३६ का आंकड़ा है।

**आयु कर्म :**—इस जीव को संसार में उसी प्रकार से रोक रखता है जैसे—जेलखाने में जेलर के अन्दर कैदी को रोका जाता है। अवधि पूर्ण होने पर ही छुटकारा मिलता है।

**नाम कर्म :**—चौरासी लाख योनियों में जीवों को अच्छी तरह से घुमाता है। जैसे—अरहट की घड़ी हर समय घूमती रहती है वैसे ही संसार में जीव जब तक नहीं छूटता तब तक घूमता ही रहता है।

**गोत्र कर्म :**—ऊंच नीच के भेद से दो प्रकार का है। ऊंच गोत्र के उदय से जीव लोक पूजित ऊंच कुल में उत्पन्न होते हैं तथा नीच गोत्र से लोक निंदित नीच कुल में उत्पन्न होना पड़ता है। इस कुल का संस्कार जीवों के ऊपर अच्छी तरह से पड़ता है। कितना ही जीव अच्छा या बुरा आचरण करे परन्तु उसके संस्कार समय पाकर अवश्य काम करते हैं। क्योंकि जिस पिंड से शरीर की रचना हुई है उसका प्रभाव आत्मपरिणामों के ऊपर आये विना नहीं रह सकता।

**अन्तराय कर्म :**—विघ्नकारक है। जीवों के अन्तराय कर्म के अनुसार दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य में रुकावट आती ही है। मनुष्य कितना ही दान देना चाहे, वस्तु का उपभोग करना चाहे परन्तु इच्छा के अनुसार नहीं कर सकता, उसके कर्म के अनुसार ही कार्य होगा इस प्रकार इन आठ कर्मों की व्यवस्था है इनको नाश किये विना सुखी तथा समान अवस्था को प्राप्त नहीं हो सकता। इस प्रकार कर्मों की अवस्थाओं को समझा जाय तभी साम्य अवस्था हो सकती है।

## कर्म की दशाएं

यहां विचार यह करना है कि आत्मा के साथ वन्ध को प्राप्त हुए कर्मों की कितनी दशाएं होती हैं ? आगम में कर्मों के दश करण—दश अवस्थाएं बताई गई हैं जैसा कि आचार्य नेमीचन्द्र के निम्न वाक्य से स्पष्ट है :—

बंधुक्कट्टण करणं संकममोकट्टुदीरणा सत्तं।
उदयुवसामणिधत्ती णिकाचणा होदि पडिपयडी ॥४३७॥

अर्थात् वन्ध, उत्कर्षण, संक्रमण, अपकर्षण, उदीरणा, सत्त्व, उदय, उपशम, निधत्ति और निकाचना; ये दश करण प्रत्येक प्रकृति के होते हैं।

इनका स्वरूप इस प्रकार है :—

**वन्ध :**—जीवके मिथ्यात्व आदि परिणामों का निमित्त पाकर कार्मण वर्गणा का ज्ञानावरणादि कर्म रूप होना वन्ध है।

**उत्कर्षण :**—कर्मों की स्थिति तथा अनुभाग का बढ़ना उत्कर्षण है।

**संक्रमण :**—बन्ध रूप प्रकृति का अन्य प्रकृतिरूप परिणाम जाना संक्रमण है।

**अपकर्षण :**—स्थिति तथा अनुभाग का कम हो जाना अपकर्षण है।

**उदीरणा :**— य काल के बाहर स्थित कर्म द्रव्य को अपकर्षण के बल से उदयावली में लाना उदीरणा है।

**सत्त्व :**—पुद्गल का कर्म रूप रहना सत्त्व है।

**उदय :**—कर्म द्रव्य का फल देने का समय प्राप्त होना उदय है।

**उपशान्त :**—जो कर्म उदयावली में प्राप्त न किया जाय अर्थात् उदीरणा अवस्था को प्राप्त न हो सके वह उपशान्त करण है।

**निधत्ति :**—जो कर्म उदयावलि में भी प्राप्त न हो सके और संक्रमण अवस्था को भी प्राप्त न कर सके उसे निधत्ति करण कहते हैं।

**निकाचित :**—जिस कर्म की उदीरणा, संक्रमण, उत्कर्षण और अपकर्षण ये चारों ही अवस्थाएं न हो सके उसे निकाचित करण कहते हैं।

उपर्युक्त करणों में नरकादि चारों आयुकर्मों के संक्रमण करण के विना ९ करण होते हैं अर्थात् आयु कर्म की उत्तर प्रकृतियों में संक्रमण नहीं होता—एक आयु अन्य आयु रूप नहीं होती। शेष सब प्रकृतियों के दश करण होते हैं। गुणस्थानों की अपेक्षा विचार करने पर मिथ्यादृष्टि से लेकर अपूर्वकरण गुणस्थान तक दश करण होते हैं। अपूर्व करण के ऊपर सूक्ष्म साम्पराय नामक दशम गुणस्थान तक आदि के सात ही करण होते हैं। उसके ऊपर सयोग केवली तक संक्रमण के विना छह ही करण होते हैं। उसके ऊपर अयोग केवली के सत्त्व और उदय ये दो ही करण होते हैं। उपशान्त कषाय नामक ग्यारहवें गुणस्थान में कुछ विशेषता है, वह यह कि यहां मिथ्यात्व और सम्यङ्मिथ्यात्व का संक्रमण करण भी होता है, अर्थात् इन दोनों के परमाणु सम्यक्त्व मोहनीय रूप परिणम जाते हैं, शेष प्रकृतियों का संक्रमण नहीं होता अतः छह ही करण होते हैं।

बन्ध करण और उत्कर्षण करण ये दोनों करण अपने-अपने बन्ध स्थान तक ही होते हैं अर्थात् जिस प्रकृति की जहां तक बन्धव्युच्छित्ति होती है वहीं तक होते हैं, तथा संक्रमण, मूल प्रकृतियों में तो होता नहीं है किन्तु उत्तर प्रकृतियों में होता है वह भी अपनी-अपनी जाति की प्रकृतियों में, जैसे ज्ञानावरण कर्म की मति ज्ञानावरणादि पांच प्रकृतियां स्वजाति प्रकृतियां है इन्हीं में उनका संक्रमण होता है। उत्तर प्रकृतियों में भी दर्शन मोह और चारित्र मोह तथा आयु कर्म की उत्तर प्रकृतियों-नरकायु आदिकों में संक्रमण नहीं होता।

अयोग केवली के जिन पचासी प्रकृति की सत्ता है उनका अपकर्षणकरण, सयोग केवली के अन्त समय तक होता है। क्षीण कषाय गुणस्थान में जिनकी सत्त्व व्युच्छित्ति होती है ऐसी १६ प्रकृतियां तथा सूक्ष्मसाम्पराय में जिसकी सत्त्वव्युच्छित्ति होती है ऐसा सूक्ष्म लोभ, इन १७ प्रकृतियों का अपकर्षण करण उनके क्षयदेश पर्यन्त होता है। क्षयदेश का काल यहां एक समय अधिक आवली मात्र जानना चाहिए।

देवायु का अपकर्षणकरण उपशान्त कषाय गुणस्थान तक होता है। मिथ्यात्वादि तीन तथा अनिवृत्ति करण गुणस्थान में क्षय को प्राप्त होनेवाली सोलह प्रकृतियों का अपकर्षण करण क्षयदेश—अन्तकाण्डक के अन्तफालि पर्यन्त होता है। इसी प्रकार क्षपक श्रेणी के अनिवृत्ति करण गुणस्थान में क्षय को प्राप्त होने वाली अष्टकषायादिक २० प्रकृतियों का अपकर्षण करण भी अपने अपने क्षयदेश तक होता है। उपशम श्रेणी में दर्शनमोह की मिथ्यात्वादि तीन और नरक गति-नरकगत्यानुपूर्वी आदि १६ प्रकृतियों का अपकर्षणकरण उपशान्त कषाय—ग्यारहवें गुणस्थान तक होता है तथा आठ कषायादिकों का अपने अपने उपशम के स्थान तक होता है। अनन्तानुबन्धी चतुष्क का असंयतादि चार गुणस्थानों यथासंभव विसंयोजन के स्थान तक ही अपकर्षण करण होता है। नरकायु के असंयत गुणस्थान तक और तिर्यञ्च आयु के देश संयत गुणस्थान तक उदीरणा, सत्व और उदय, ये तीन करण होते हैं। मिथ्यात्व प्रकृति का उदीरणा करण उपशमसम्यक्त्व के सम्मुख जीव के मिथ्यात्व गुणस्थान के अन्त में एक समय अधिक आवलि काल तक होता है। सूक्ष्म लोभ का उदीरणा करण, सूक्ष्म-साम्पराय गुणस्थान तक ही होता है।

उपशान्त करण, निधत्तिकरण और निकाचित करण, ये तीन करण अपूर्वकरण गुणस्थान तक ही होते हैं, आगे नहीं।

उपर्युक्त दश करणों में संक्रमण करण के पांच अवान्तर भेद हैं जिनका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—

१ **उद्वेलन संक्रमण**—अधः प्रवृत्त आदि तीन करणों के बिना ही कर्म प्रकृतियों के परमाणुओं का अन्य प्रकृति रूप परिणमन होना उद्वेलना संक्रमण है। यह आहारक युगल, सम्यक्त्व प्रकृति, सम्यङ्मिथ्यात्व, देवगति-देवगत्यानु पूर्वी, नरकगति-नरकगत्यानुपूर्वी, वैक्रियिकशरीर वैक्रियिक-शरीराङ्गोपाङ्ग, उच्च गोत्र और मनुष्यगति-मनुष्यगत्यानु पूर्वी इन तेरह प्रकृतियों का ही होता है।

२ **विध्यात संक्रमण**—मन्द विशुद्धता वाले जीव की, स्थिति अनुभाग के घटानेरूप, भूतकालीन स्थितिकाण्डक और अनुभाग काण्डक तथा गुण श्रेणी आदि में प्रवृत्ति होना विध्यात संक्रमण है। यह विध्यात संक्रमण, सम्यक्त्व मोहनीय के बिना उद्वेलनाको बारह प्रकृतियाँ, स्त्यानगृद्धित्रिकको आदि लेकर तीस प्रकृतियाँ, असातावेदनीयादिक बीस और वज्रर्षभनाराचसंहनन, औदारिकशरीर औदारिक-शरीराङ्गोपाङ्ग तीर्थंकर प्रकृति तथा मिथ्यात्व....इन ६७ प्रकृतियों का होता है।

३ **अधः प्रवृत्त संक्रमण**—बँधी हुई प्रकृतियों का अपने बन्ध में संभवती प्रकृतियों में परमाणुओं का जो प्रदेश संक्रम होता है उसे अधःप्रवृत्त संक्रमण कहते हैं। यह संक्रमण, मिथ्यात्व प्रकृति के बिना शेष १२१ प्रकृतियों में होता है।

४ **गुण संक्रमण**—जहां प्रतिसमय असंख्यात गुण श्रेणी के क्रम से कर्म परमाणु-प्रदेश अन्य प्रकृतिरूप परिणमन करते हैं उसे गुण संक्रमण कहते हैं। यह गुण संक्रमण, सूक्ष्म सांपराय में बंधने वाली घातिया कर्मों की चौदह प्रकृतियों को आदि लेकर ३९ प्रकृतियां, औदारिकद्विक, तीर्थंकर, वज्र-वृषभ नाराच संहनन, पुरुषवेद, और संज्वलन क्रोधादि तीन, इन ४७ प्रकृतियों को कम करके शेष रही ७५ प्रकृतियों का होता है।

५ **सर्व संक्रमण**—जो अन्त के काण्डक की अन्तिम फाली के सर्व प्रदेशों में से अन्य रूप नहीं हुए हैं उन परमाणुओं का अन्य रूप होना सर्व संक्रमण है। यह संक्रमण, तिर्यञ्च सम्वन्धी ११ प्रकृतियां उद्वेलन की १३ प्रकृतियां, संज्वलनलोभ सम्यक्त्व प्रकृति और सम्यङ्मिथ्यात्व प्रकृति, इन तीन के विना मोह की २५, और स्त्यान गृद्धि आदि तीन प्रकृतियां, इस तरह ५२ प्रकृतियों का होता है।

इस प्रकार कर्मों की दश अवस्थायें होती हैं। संक्षेप से वन्ध, उदय और सत्व ये तीन दशायें मानी गई हैं। वन्ध की, वन्ध, अवन्ध और वन्ध व्युच्छित्ति, इस वन्ध त्रिभंगी से, उदय की, उदय अनुदय और उदय व्युच्छित्ति इस उदय त्रिभंगी से और सत्व की, सत्व, असत्व और सत्व व्युच्छित्ति इस सत्व त्रिभङ्गी से गुणस्थानों और मार्गणाओं में चर्चा की गई है।



## :: जैनी मुनि ::

[ कवि:—भागचन्दजी ]

ऐसे जैनी मुनि महाराज सदा उर मो वसो ॥ टेक ॥
जिन समस्त परद्रव्यनि मांहि अहं बुद्धि तजि दीनी ॥
गुन अनन्त ज्ञानादिकमय पुनि, स्वानुभूति लखि लीनी ॥ऐसे०॥१॥
जो निज बुद्धि पूर्वक रागादिक, सकल विभाव निवारैं ॥
पुनि अबुद्धि पूर्वक नाशन को, अपनी शक्ति सम्हारैं ॥ऐसे०॥२॥
कर्म शुभाशुभ बंध उदय में हर्ष विषाद न राखैं ॥
सम्यग्दर्शन ज्ञान चरन तप, भाव सुधारस चाखैं ॥ऐसे०॥३॥
पर की इच्छा तजि निज बल सजि पूरव कर्म खिपावैं ॥
सकल कर्म तैं भिन्न अवस्था, सुखमय लखि चित चावैं ॥ऐसे०॥४॥
उदासीन शुद्धोपयोग रत, सबके दृष्टा ज्ञाता ॥
बाहिज रूप नगन समताकर, "भागचन्द" सुखदाता ॥ऐसे०॥५॥

# प्रथमं करणं चरणं द्रव्यं नमः

[ लेखिका—पूज्य विदुषी श्री १०५ विशुद्धमती माताजी संघस्था—आ० कल्प १०८ श्री श्रुतसागरजी म० ]

समस्त रागद्वेषादि से रहित, वीतराग सर्वज्ञ और हितोपदेशी जिनेन्द्रों के द्वारा जिसका प्रतिपादन किया गया है, तथा चार ज्ञान एवं अनेक ऋद्धियों के धारक गणधर देवों के द्वारा जिसका गुन्थन हुआ है, ऐसे श्रुतसमुद्र के अनेकानेक भेद प्रभेद होते हुये भी वह मुख्यतः चार अनुयोगों में विभाजित है।

धर्म के चार स्तंभ स्वरूप ये चारों अनुयोग जिनेन्द्र कथित हैं, पूर्वापर विरोध से रहित हैं, नय सापेक्ष हैं, रत्नत्रय एवं स्वात्मसिद्धि में परम सहायक हैं।

जिस प्रकार सांकल के प्रत्येक कड़े भिन्न भिन्न दिखाई देते हुये भी वे एक दूसरे की सापेक्षता लिये हुये रहते हैं उसी प्रकार ये चारों अनुयोग एक दूसरे की सापेक्षता लिये हुये हैं, तथा भिन्न-भिन्न दिखाई देते हुये भी सबका प्रयोजन एक होने के कारण ही मानों एक दूसरे की कड़ी में फँसे हुये हैं। इनका यह **प्रथमं करणं चरणं और द्रव्यं** का क्रम अनादि प्रवाह से प्रवाहित है।

## १. प्रथमानुयोग :—

इस मंगल सूत्र में सर्व प्रथम **प्रथमं** पद है, जिसका अर्थ है प्रथमानुयोग। प्रथमानुयोग में महापुरुषों की चरित्र रूप पुण्य कथाओं के वर्णन के साथ-साथ पुण्य और पाप के फलको दर्शित करने वाली अनेक उपकथाएँ होती हैं। इस अनुयोग से अज्ञानी एवं पापी जीवों को भी समुचित उपदेश, वल और उत्साह प्राप्त होता है **"बोधि समाधि निधानं"** पद के अनुसार समाधिस्थ एवं रोगादिग्रस्त साधुओं का तो यह अनुयोग सम्वल ही है। मूलाराधना ग्रन्थ में क्षपक को सम्बोधन करने के हेतु आचार्य श्री ने उपसर्ग प्राप्त मुनिराजों के चरित्र सुनाने का आदेश दिया है।

कथा भाग को देखकर किन्हीं-किन्हीं जीवों को ऐसा ज्ञात होता है कि मानों जिनागम में इस अनुयोग की कोई उपयोगिता या मूल्य नहीं है। किन्तु यदि यथार्थ दृष्टि से विचार किया जाय तो ज्ञात होगा, यदि परमागम की नींव के सदृश यह विशाल और सबल प्रथम स्तम्भ न होता तो ऋषभदेव को आदि लेकर परम पिता परमेश्वर श्री वर्द्धमान स्वामी को तथा उनके पवित्र तीर्थ को आज हमें कौन बतलाता ? जिनकी परम्परा को प्राप्त कर आज हम अपने आपको धन्य मान रहे हैं, तथा जो आध्यात्मिक ग्रन्थराज समयसार के कर्त्ता हैं, जिन्होंने निःकृष्ट पंचम काल में जन्म लेते हुये भी साक्षात् जिनेन्द्र की देशना प्राप्त की थी ऐसे श्री कुन्दकुन्दाचार्य को तथा अन्य अनेक परमोपकारी आरातीय आचार्यों के नाम गुण एवं उनकी तपश्चर्यादि का ज्ञान कौन कराता ? और जब सर्वज्ञ भगवान् एवं अन्य दिगम्बर आचार्यों का हमें ज्ञान ही नहीं होता तब उनके रचे हुये शास्त्रों की प्रामाणिकता का ज्ञान

भी न होने से हम अन्धकार में ही भटकते। यह प्रथमानुयोग की ही अनुकम्पा है जो आज हमें श्रुतज्ञान रूपी दीपक का प्रकाश प्राप्त हो रहा है। अपने विवेक रूपी चक्षुओं से यदि हम कामलादि ( मोहादि ) रोगों को दूर करके प्रथमानुयोग रूपी समुद्र में गोता लगावें तो जहाँ करणानुयोग रूपी मोती और चरणानुयोग रूपी हीरे मिलते हैं, वहाँ द्रव्यानुयोग रूपी मणियों की छटा भी जगह-जगह दिखाई देती है। अर्थात् प्रथमानुयोग में गौणतः चारों अनुयोग पाये जाते हैं।

प्रथमानुयोग का प्रयोजन भी वही है जो अन्य अनुयोगों का है, अन्तर केवल इतना ही है कि यह अनुयोग अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिये जो औषधि देता है वह मीठे अनुपान के साथ देता है। सिद्धांत की पुष्टि के लिये प्रथमानुयोग उदाहरण स्वरूप है।

## २. करणानुयोग :—

करणानुयोग भी सर्वज्ञ द्वारा प्ररूपित है, एवं गङ्गा के प्रवाह के सदृश—आचार्य परम्परा से अक्षुण्ण प्रवाहित है। केवल ज्ञान गम्य पदार्थों का भी सूक्ष्म निरूपण इस अनुयोग में प्राप्त है। मात्र छद्मस्थों की योग्यतानुसार प्ररूपण करना इस अनुयोग का प्रयोजन नहीं है किन्तु इसमें प्ररूपित अनेक विषय अनुमान एवं आगमाज्ञा के आधार पर भी श्रद्धेय हैं।

यथार्थ में जिनागम का समस्त प्रयोजन भावों के ऊपर आधारित है और करणानुयोग के विषय अति सूक्ष्म एवं कठिन होने से ( आगम में ) उपयोग को स्थिर ( उलझाये ) रखने की इसमें महान् शक्ति है यह वह प्रहरी है जो आत्माको अशुभादि प्रवृत्तियों में जाने से सतर्कता पूर्वक रोकता है, और उपयोग को ऐसे अनुपम स्थलों की सैर कराता है कि जहाँ पहुँचकर मन एक बार इसकी गहनता को देखकर धन्य-धन्य कह उठता है, और उपयोग अपनी अनादि कालीन भ्रामकवृत्ति को त्यागकर सुमार्ग पर लग जाता है।

इस अनुयोग के प्रत्येक उपवन जटिल मार्गी दिखते हुये भी अत्यन्त सरल, कटु दिखते हुये भी मधुर, नीरस दिखते हुये भी सरस तथा श्रीफलवत् कठोर दिखते हुये भी भीतर सार भाग से सहित है।

आज मानव की दृष्टि में एक समय, क्षण लव एवं मुहूर्त की तो क्या कहें वर्ष पर वर्ष निकलते जा रहे हैं तो भी उनका कोई मूल्य नहीं है। देखिये श्री वीरसेनाचार्य एक समय का चित्रित प्रभाव दिखलाते हुये लिखते हैं कि पूर्ण[1] तेतीस सागरोपम आयुवाला देव मनुष्यों में उत्पन्न होकर पूर्व कोटि के वर्ष पृथक्त्व प्रमाण शेष रहने पर नियम से संयम ग्रहण करेगा और यदि देवों में एक समय कम तेतीस सागर की आयु को भोगकर मनुष्यों में आया है तो वह अन्तर्मुहूर्त कम पूर्व कोटि प्रमाण काल तक असंयमी रह कर अन्तर्मुहूर्त के लिये नियमतः संयमी होगा। जीव[2] यदि एक समय अधिक पूर्व

---

१ धवल पु० ४ पृ० ३४८

२ धवल पु० १० पृ० २३८

कोटि का आयु बन्ध करता है तो वह असंख्यातायुष्क होकर भोगभूमि में ही जन्म लेगा कर्मभूमि में नहीं। एक समय में ही जीव का कितना हानि लाभ होता है यह जानकर हमें प्रति समय अपने परिणामों को सम्हाल रखने की चेतावनी इस अनुयोग से मिलती है।

पुद्गल द्रव्य की अचिन्त्य शक्ति को दर्शाकर भी यह अनुयोग आत्मा को सचेत करता है कि जो कर्म स्कन्ध उदय में आ रहे हैं, वे तो फल देते हुये अपना प्रभाव दिखा ही रहे हैं, किन्तु जो फल देकर झड़ चुके हैं तथा जो सत्ता में पड़े हैं वे भी अपना क्या-क्या प्रभाव दिखाते हैं देखिये:—

नपुंसक[1] और स्त्री वेदोदय (भाव वेदी) से श्रेणी चढ़नेवाला जीव नवमें गुणस्थान में अपगत वेदी हो गया किन्तु फिर भी उसे उपरिम गुणस्थानों में मनः पर्ययज्ञान की उत्पत्ति उसी प्रकार नहीं हो सकती जिस प्रकार जली हुई भूमि में बीजोत्पत्ति नहीं होती। कारण, उसका हृदय पहिले स्त्री वेद से संस्कारित हो चुका है। इसी प्रकार चूंकि सातवें छठवें आदि नरकों से निकले हुये जीवों की नरकायु सत्ता में नहीं है तो भी वे संयमासंयमी अथवा संयमी आदि नहीं हो सकते।

जिन मनुष्यों के देवायु को छोड़कर सत्ता में शेष तीन में से कोई भी एक बध्यमान आयु है, वह जीव अणुव्रत महाव्रतादिक ग्रहण नहीं कर सकता। इस प्रकार प्रतिद्वन्दी की बलवती शक्ति को दिखाते हुये यह अनुयोग आत्मा के पुरुषार्थ को जाग्रत करने की प्रबल प्रेरणा देता है। केवल इतना ही नहीं, भयङ्कर दुःखों को दिखाकर आत्मा को पथ प्रदर्शन करने के लिये इस अनुयोग का कितना महान प्रयास है कि श्वास के अठारवें भाग मात्र जिसकी आयु है वह क्षुद्र भव धारी निगोदिया जीव उस आयु का भी कदलीघात करता है।[2]

बादर[3] एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तकों में संख्यात सहस्रवार उत्पन्न होने के मुहूर्तों को यदि जोड़ा जाय तो एक मुहूर्त भी नहीं होता अर्थात् एक मुहूर्त के भीतर जीव संख्यात हजार वार उत्पन्न हो लेता है, फिर भी इसकी यह आयु घात क्षुद्र भव ग्रहण काल से मात्र संख्यात गुणी है।

एक[4] तेतीस सागरोपम आयुवाला नारकी मरण को प्राप्त हो त्रसकायिक और एकेन्द्रियों में अन्तर्मुहूर्त मात्र रह कर महामत्स्य हुआ। अन्तर्मुहूर्त में पर्याप्त हो साढ़े सात राजू प्रमाण मारणान्तिक समुद्घात कर पुनः सातवें नरक पहुँच जाता है। फिर भी इसमें तो तीन चार अन्तर्मुहूर्त लग गये जो वहुत होते हैं। सातवें[5] नरक से निकलकर जघन्य अन्तर्मुहूर्त मात्र ही गर्भोपक्रान्तिक तिर्यञ्चों में रहकर

---

१ धवल पु० २ पृ० ५२६

२ धवल पु० १४ पृ० ३६१ ३६२ सूत्र ३०४ की टीका,

३ धवल पु० ४ पृ० ३६३

४ धवल पु० १२ पृ० ३८२

५ धवल पु० ७ पृ० १८८

वापिस सातवें नरक में ही पहुँच जाता है। इस प्रकार के दुःखों की पराकाष्ठा को प्राप्त प्रकरण जब सामने आते हैं तो कौन ऐसा अविवेकी हृदय होगा जो संसार शरीर और भोगों से मुख मोड़कर कल्याण पथ पर अग्रसर न होगा ?

कुछ ऐसे आश्चर्योत्पादक स्थल भी करणानुयोग में आते हैं जिनके विषय में कुछ कहा ही नहीं जा सकता जैसे:—सर्वार्थ[1] सिद्धि के देव जो द्वादशांग के पाठी हैं विपुल वैभव एवं सुख सम्पन्न हैं, इतने मन्द कषायी होते हैं कि तीर्थंकरों के कल्याणों में भी नहीं आते, वे देव भी वेदना और कषाय समुद्घात करते हैं। क्षायिक[2] सम्यग्दृष्टि और मनःपर्ययज्ञानी[3] भी वेदना कषाय और मारणान्तिक समुद्घात करते हैं। इतना ही नहीं यथाख्यात[4] शुद्धि संयत जीव भी मारणान्तिक समुद्घात करते हैं।

महामत्स्य[5] की पीठ पर जमा हुआ जो मिट्टी का प्रचय है उसमें पत्थर, सर्ज, अर्जुन, नीम, कदम्ब, आम, जामुन, जम्बीर सिंह और हरिण आदिक भी उत्पन्न हो जाते हैं।

जीव की एवं संयम गुण श्रेणी की महान शक्ति का परिचय देते हुये श्री वीरसेन स्वामी लिखते हैं कि दस हजार[6] वर्ष की आयु वाले देवों में संचित हुये द्रव्य से संयम गुणश्रेणी द्वारा एक समयमें निर्जरा को प्राप्त हुआ द्रव्य असंख्यात गुणा पाया जाता है।

इसी प्रकार यह जीव अनेक भवों में बांधे हुये कर्मों को क्षपक श्रेणी के मात्र ३, ४ सेकेण्ड के काल में ही नष्ट कर डालता है इस प्रकार यह अनुयोग आत्मा की प्रचण्ड शक्ति का बोध कराता हुआ समीचीन पुरुषार्थ की जागृति करता है।

योग के अविभागप्रतिच्छेदों ( शक्ति अंशों ) की शक्ति को दर्शाते हुये आचार्य श्री लिखते हैं कि जीव प्रदेशों का जो संकोच-विकोच व परिभ्रमण रूप परिस्पन्दन होता है वह योग कहलाता है। एक[7]-एक जीव प्रदेश में असंख्यात लोक प्रमाण योगाविभाग प्रतिच्छेद होते हैं। ( एक जीव प्रदेश में योग की जो जघन्य वृद्धि है उसे योगाविभाग प्रतिच्छेद कहते हैं। ) और योग[8] के एक अविभाग प्रतिच्छेद में भी अनन्त कर्म प्रदेशों के आकर्षण की शक्ति देखी जाती है।

---

१ धवल पु० ४ पृ० ८१
२ " " ६ " ३६१
३ " " ७ " ३४१
४ " " ७ " ३४४
५ " " १४ " ४६७, ४६८
६ " " १० " २८५, २८६
७ " " " " ४४०
८ " " " " ४३६

कर्म स्कन्ध एवं जीव के परिणामों के निमित्त से बने हुये वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक और षड्गुणी हानि वृद्धि आदि के सूक्ष्म तत्त्व तो हमारे उपयोग को अत्यधिक स्थिर और एकाग्र कर देते हैं इस प्रकार-के केवल एक दो नहीं सहस्रों गहन प्रमेय इन सिद्धान्त ग्रन्थों में भरे हुये हैं, इनका अवलोकन करते समय जब हमें यह ज्ञान होता है कि ये सब हमारे परिणामों की चंचलता एवं विभाव परिणति के ही कार्य हैं, तब संसार भीरु आत्मा रागद्वेष से दूर हटने का प्रयत्न अनायास ही करने लगता है।

यहाँ शंका हो सकती है कि ये सब तो विकल्प जाल हैं, अतः जहाँ विकल्प हैं वहाँ वीतरागता कैसे हो सकती है? इसका उत्तर पं० टोडरमलजी ने बहुत सुन्दर दिया है कि ज्ञान का स्वरूप तो सविकल्प ही है, वह तो किसी न किसी ज्ञेय को जानेगा ही अतः ज्ञेय जानने के विकल्प से वीतरागता का अभाव नहीं होता। वीतरागता का अभाव तो रागद्वेष उत्पन्न करने वाले विकल्पों से होता है। करणानुयोग शास्त्रों के अभ्यास से तो रागद्वेष का अभाव होकर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूपी रत्नत्रय धर्म की प्राप्ति होती है जो जीव के लिये कल्याणकारी ही है।

कोई भव्य जीव ऐसी भी शंका करते हैं कि करणानुयोग में लोक का वर्णन, क्षेत्रादिकों का प्रमाण तथा स्वर्ग नरकादि स्थानों के—आकारादि का वर्णन किया है, और इनसे आत्मा का कल्याण होता नहीं, कारण आत्म कल्याण तो धर्म साधन से होता है सो करणानुयोग में कोई व्यवहार निश्चय धर्म का निरूपण किया नहीं है, अतः मोक्षार्थी जीव को इस अनुयोग की कोई उपयोगिता नहीं है।

इसके उत्तर में भी पं० टोडरमलजी कहते हैं कि मोक्ष के कारण भूत सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र धर्म है सो इस अनुयोग के अध्ययन से जिनेन्द्र द्वारा कथित लोकादि के वर्णन से अन्य वादियों का निरा-करण होकर संशय का नाश और सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती है। शास्त्र अभ्यास करने से मिथ्यात्व, कषाय, हिंसा व प्रमादादि की हानि होती है अतः शास्त्राभ्यास स्वयं सम्यग्ज्ञान स्वरूप है। रागद्वेष की निवृत्ति का नाम चारित्र है सो लोकादि का स्वरूप पढ़ते समय इस पर्याय सम्बन्धी कोई प्रयोजन न होने से रागद्वेष की निवृत्ति ही होती है वृद्धि नहीं, अतः यह अनुयोग आत्म कल्याण में परम सहायक है।

जीव की यह स्वभाविक प्रवृत्ति है कि वह नवीन-नवीन बातों का रसास्वादन करना चाहता है, पुरानी बातों में उत्साह नहीं रहता। समुद्र की तह में भरे हुये रत्नों के सदृश करणानुयोग के गर्भ में अनन्त अपूर्व प्रमेय भरे हुये हैं, जो हमें नई-नई छटा दिखाते हैं। इसके कठिन-कठिन स्थल जब बुद्धिगत होते हैं, तब जो आनन्द, जो तृप्ति और जो आह्लाद प्राप्त होता है, उसे लिखने की शक्ति इस जड़ लेखनी में नहीं है। उसका अनुभव तो वही कर सकता है जो इसका रसास्वादन करता है।

जैसे (पु० १३ पृ० २८१ पर) कहा है कि जिसमें अतिशय रस का प्रसार है और जो अश्रुत पूर्व है, ऐसे श्रुत का यह जीव जैसे-जैसे अवगाहन करता है वैसे ही वैसे अतिशय नवीन धर्म श्रद्धा से संयुक्त होता हुआ परम आनन्द का अनुभव करता है।

इस अनुयोग की एक अनुपम विशेषता यह है कि जो ३६३ मिथ्या मत भगवान आदिनाथ प्रभु के समय से पनप रहे हैं वे सभी और पञ्चम काल की देन स्वरूप जैनाभास, इन सबकी उत्पत्ति अन्य तीनों अनुयोगों का कोई न कोई अंग ग्रहण करके ही हुई है, किन्तु करणानुयोग को स्पर्शित करने की शक्ति किसी में भी नहीं हुई अर्थात् इस अनुयोग से कोई भी मिथ्यामत नहीं निकला।

## ३. चरणानुयोगः—

सम्यग्दर्शन जिसका मूल है, सम्यग्ज्ञान जिसका स्कन्ध है, ऐसे चारित्र रूपी शाखा उपशाखाओं के अग्रभाग पर ही मोक्षरूपी अनुपम फल लगते हैं। इन चारित्ररूपी शाखा उपशाखाओं के प्रतिपादन करने वाले अनुयोग को चरणानुयोग कहते हैं। 'जैसी उपशमत कषाया तैसा तिन त्याग बताया' इस कथन के अनुसार त्याग करने वाले जीवों की देश संयम, सकल संयमादि संज्ञाएँ हैं।

सम्यक्त्वरूपी महामणि और समीचीन ज्ञानरूपी प्रकाश प्राप्त हो जाने से जिसने आत्मतत्व प्रधान सात तत्वों की एवं वस्तु स्थिति की यथार्थता को जान लिया है, शरीर को आदि लेकर समस्त परिग्रह जिसकी श्रद्धा और ज्ञान में भिन्नता को प्राप्त हो चुका है उसे अपनी पर्याय से भिन्न करने के लिये चारित्र ही वह ज्वलन्त अग्नि है जो अपने प्रत्येक ताव में आत्मा की अनादि कालीन किट्टकालिमा को दूर करती हुई अमन्द विमल टङ्कोत्कीर्ण शुद्धता को प्राप्त करा देती है।

यह चारित्ररूपी भवन, भेद विज्ञान का सच्चा परीक्षास्थल है। छोटे मोटे जीवों की तो क्या, तीर्थंकर अर्हन्तों को आदि लेकर जितने अनन्तानन्त सिद्ध परमेष्ठी आज सिद्धालय में विराजमान हैं उन सभी को इस परीक्षालय में आकर परीक्षा देनी ही पड़ी है। इस परीक्षा में जो अनुत्तीर्ण हो जाते हैं वे आगे नहीं बढ़ सकते।

**"आत्मा से शरीर भिन्न है"**—इस वाक्य के उच्चारण में जिह्वा को तालु ओष्ठादि से ताड़ित करने के सिवाय जीव को अन्य किसी कठिनाई का सामना या पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता। किन्तु बुद्धि पूर्वक देवशास्त्र गुरु की साक्षी से जिसने आत्मा से शरीर की भिन्नता का साधन रूप चारित्र को ग्रहण कर लिया है उसके समक्ष जब क्षुधादि परिषह और भयङ्कर उपसर्गादि आते हैं तब उस परिस्थिति में भी आत्मा का उपयोग यदि आत्मा से हट कर शरीर पर नहीं जाता, रागादि भावों के उदयजन्य वेदन को वेदता हुआ भी भेदविज्ञान रूपी कलम और समता रूपी स्याही से "आत्मा से शरीर भिन्न है" इसका समाधान अपने आत्मा रूपी पट पर अंकित करना है, और विषम परिस्थितियों में भी शरीर पर होने वाले वेदन का प्रभाव आत्मा पर नहीं पड़ने देना—यही आत्मा और शरीर की भिन्नता को प्राप्त होना है।

[illegible] की [illegible] है कि [illegible] को भी इच्छानुसार मोड़ा जा सकता है, [illegible] किन्तु [illegible] और चित्त को [illegible] करके हथौड़ों की चोटों से

नहीं पीटता तब तक वह लोह पिण्ड इच्छानुकूल नहीं मुड़ सकता। उसी प्रकार आत्मा भी जब तक चारित्रमय होकर उपसर्ग एवं परिषहादि रूपी हथोड़ों से नहीं पिटता तब तक इष्ट साध्य को प्राप्त नहीं कर पाता।

सम्यग्दर्शन रूपी नींव पर समीचीन विवेक बल से ईंट पत्थर चूनादि के स्थानीय पंच महाव्रत पंच समिति, त्रिगुप्ति और इन्द्रियरोधादि के द्वारा जब दृढ़ दीवारें बनाकर संवर रूपी कपाट और वैराग्य रूपी अर्गल से उसे सुरक्षित करता है तभी अक्षय अनन्त—शुद्धात्मानुभूति रस का आस्वादन लेता हुआ अपने भीतर तिष्ठता है। यह सत्य है कि नींव के अभाव में या कमजोर नींव पर दीवारों का अस्तित्व चिरस्थायी एवं सुखदायी नहीं हो सकता किन्तु इसके साथ-साथ यह भी एक अटल सत्य है कि केवल नींव मात्र से ही प्राणी गर्मी सर्दी की बाधा को दूर करने में समर्थ नहीं हो सकता। अतः सकल-दर्शियों द्वारा शुद्धात्मानुभूति का अनुभव प्राप्त करने के लिये इस अनुयोग का प्रतिपादन किया गया है, जिसका अनुचरण करना अत्यावश्यक है।

यह अनुयोग पुरुषार्थ प्रधान है। पांचवें छटवें आदि गुणस्थानों में तो जीव रागादि भाव एवं इन्द्रियों के विषयों से मन मोड़कर महाव्रतादि रूप शुभ प्रवृत्तियों में उसे पुरुषार्थ पूर्वक ही जोड़ता है। और यदि इन क्रियाओं में अज्ञान प्रमादादि के निमित्त से कुछ कमी करता है तो वह आत्म निन्दा गर्हा पूर्वक गुरु से प्रायश्चित लेकर प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान के द्वारा उस कमी को दूर करता है। किन्तु इन गुणस्थानों के ऊपर जीवात्मा महाव्रतादि की प्रवृत्ति में उपयोग लगाये विना भी उसी प्रकार सफलता पूर्वक आगे बढ़ता है, जिस प्रकार अनुभवी और सफल तैराक बिना हाथ पैर छटपटाये भी कुछ समय तक पानी के ऊपर तैरते रहते हैं।

लोक व्यवहार में कहावत है कि **"सज्जन पुरुष कह कर नहीं, करके दिखाते हैं।"** भगवान् सर्वज्ञ देव ने भी इस अनुयोग का प्रतिपाद्य विषय मात्र देखकर या जानकर ही नहीं, वल्कि सर्वज्ञ वनने के पूर्व चारित्र रूपी बाना धारण कर क्रियात्मक प्रयोग द्वारा स्वयं अनुभव करके पीछे कहा है। फिर भी आज का विषयान्ध और भोगासक्त मानव अनादि अज्ञानता के वशीभूत होता हुआ चारित्र और चारित्रवानों की आसादना करने में संकोचित नहीं होता। कुछ समय पूर्व एक हवा वही थी कि इस समय इस क्षेत्र में जितने चारित्रधारी हैं वे सम्यक्त्व से रहित मिथ्यात्वी और पाखण्डी हैं, अतः वे मोक्षमार्ग से वहिर्भूत हैं। किन्तु जो मात्र आध्यात्मिक शास्त्रों का स्वाध्याय करते हैं, आत्मा की चर्चा करते हैं ऐसे कतिपय जीव ही सम्यग्दृष्टि हैं। अर्थात् वे अपने को सम्यग्दृष्टि और सम्यग्ज्ञानी मानते हैं। कुछ समय वाद शायद उन्हें स्वयं यह बात ध्यान में आई कि मात्र दो रत्नों से तो रत्नत्रय होता नहीं और तीनों की एकता विना मोक्ष मार्ग नहीं, तथा स्वयं शारीरिक या मानसिक दुर्वलता के कारण संयम धारण कर सकते नहीं, अतः अपने आपको रत्नत्रयवान् एवं मोक्षमार्गी वनाये रखने के लिये

हवा का दूसरा झोंका उठा है कि आत्मा चतुर्थ गुणस्थान में भी सम्यग्दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र इन तीनों पर्यायों से परिणत है, अर्थात् रत्नत्रयवान् है। यह निःकृष्ट पञ्चम काल का ही प्रभाव है कि जो जीव अपनी मान प्रतिष्ठादि बनाये रखने के लिये जिनेन्द्र द्वारा कथित और आचार्यों द्वारा लिखित परमोपकारी जिनवाणी का विपर्यास कर पत्थर की नाव का कार्य कर रहे हैं।

सम्यक्त्व उत्पत्ति के लिये तत्वज्ञान के सिवा अन्य कोई पुरुषार्थ जीव के द्वारा शक्य नहीं है। दर्शनमोहनीय के उपशम, क्षय, क्षयोपशम के लिये जीव प्रयत्न साध्य कोई पुरुषार्थ नहीं कर सकता। इस अनुपम रत्न की प्राप्ति तो भाग्यानुकूल सहज साध्य ही है किन्तु चारित्र प्रयत्न साध्य है तथा मन और इन्द्रियों के विषयों को रोककर भोगोपभोग के पदार्थों पर नियन्त्रण लगाकर क्रियात्मक (प्रेक्टिकल) प्रयोग से सिद्ध होने के कारण यह कठिन साध्य भी है।

त्याग के परिणाम अतिदुर्लभ हैं। यही कारण है कि देश प्रत्यक्ष ज्ञानी आचार्यों के कर कमलों से भी पुष्पडाल भवदेवादि जीवों को संयम प्रदान किया गया। केवल इतना ही नहीं, भावलिंगी मुनि-राजों के सदृश ही उनका बारह-बारह वर्षों तक रक्षण शिक्षण भी किया गया। इसके बाद अनुकूलता आने पर उन्हें भी सम्यक्त्व एवं निर्वाण की प्राप्ति हुई।

इस महान निधि के स्वामी पूर्णरूपेण कर्मभूमिज मनुष्य ही हैं। एक देश संयम तिर्यञ्च भी धारण कर सकते हैं। किन्तु देव नारकी और भोगभूमि के जीव इसके पात्र नहीं हैं। आचार्यों का आदेश है कि संयम धारण कर त्याग के संस्कारों से अपनी आत्मा को संस्कारित करो। इसके बिना आत्मसिद्धि के गीत गाना वन्ध्या पुत्र की प्रशंसा के गीत गाने के सदृश हैं। उससे कुछ प्रयोजन सिद्धि सम्भव नहीं।

### ४. द्रव्यानुयोगः—

द्रव्यानुयोग आत्मा-प्रांगण की वह अनुपम पीयूष वापिका है जिसमें से यदि यह आत्मा एक बार भी सर्वोत्तम अमृत का स्वाद ले ले तो उसी क्षण से जगत की समस्त वस्तुओं के स्वाद से उसे अरुचि पैदा हो जाय। इस अनुयोग का प्रतिपाद्य विषय प्रायः अनन्त-धर्मात्मक द्रव्य ही होता है।

जब दो बालक झगड़ते हैं तब माँ अपने निज के बालक को ही ताड़ना देती है कि तू अपने घर से निकल कर पराये दरवाजे पर क्यों गया? इसी प्रकार यह अनुयोग भी आत्मा को ही मुख्य लक्ष्य करके सम्बोधन करता है कि तेरा स्वभाव तो अत्यन्त शुद्ध निर्मल एवं स्वसाध्य है, फिर तू अज्ञान के वशीभूत हो अपने उपयोग को परद्रव्यों में क्यों भ्रमण कराता है? जैसे सैकड़ों स्त्रियों के बीच बालक को मात्र अपनी माँ ही इष्ट है, वैसे ही अनेकानेक विभाव पर्यायों में रमते हुये भी इस अनुयोग को मात्र अपना [illegible] ही इष्ट है, अतः सर्वोत्कृष्ट प्राप्ति का पुरुषार्थ इसमें प्रतिपादित है।

सर्व प्रथम जीव को आत्मतत्व की श्रद्धा, प्रतीति, रुचि एवं संविति (ज्ञान) प्राप्त होती है। जिसके बल से जीव के अनन्त संसार का छेद होकर (उसका परिभ्रमण काल) अधिक से अधिक अर्ध पुद्गल परिवर्तन मात्र रह जाता है। जिस शुद्ध आत्मतत्व की श्रद्धा एवं संवित्ति प्राप्त हो चुकी है उस आत्म वैभव की साक्षात् प्राप्ति के हेतु उसका मन छटपटाने लगता है। उस छटपटाहट के कारण ही वह वर्तमान में पदार्थों का कर्ता एवं भोक्ता होते हुये भी उनमें आसक्त नहीं हो पाता। यह अनुपम श्रद्धा जीव को साता एवं असाता के तीव्र उदय में भी प्राप्त हो जाती है। यद्यपि यह श्रद्धा चतुर्गति में प्राप्य है, किन्तु जीव को इसका साक्षात् रसास्वादन मात्र मनुष्य पर्याय की उस सीढ़ी से प्राप्त होता है जहाँ यह जीव बाह्याभ्यन्तर निग्र न्थता को प्राप्त हो लेता है। जैसे:—देवदत्त ने पन्द्रह फुट का एक निर्दोष पत्थर किसी शिल्पी को दिखा कर कहा कि हमें शान्तिनाथ भगवान की सुन्दर प्रतिमा बना दो। प्रतिमाजी की निछावर ५०००) देंगे। शिल्पकार ने कुछ क्षणों तक अपनी तीक्ष्ण दृष्टि से उस पत्थर को देखा और कहा—ठीक है, बना दूंगा। यहाँ शिल्पी जिस समय तीक्ष्णदृष्टि से पत्थर को देख रहा था उसी क्षण उसके उपयोग में और दृष्टि में पत्थर के भीतर प्रतिमा बन चुकी। यदि शिल्पकार उस समय प्रतिमा न बना सके तो फिर उसमें कोई ऐसी शक्ति नहीं जो उस प्रतिमा का निर्माण करले। शिल्पी की दृष्टि द्वारा पत्थर पर प्रतिमा बन चुकी है यह अकाट्य सत्य है किन्तु यदि वह उसी क्षण देवदत्त से कहे कि मुझे ५०००) दो और यह प्रतिमा मन्दिर में ले जाकर पूजा प्रतिष्ठा करो। तो क्या यह सब सम्भव है ? नहीं। कारण कि शिल्पी की दृष्टि में प्रतिमा निर्माण हो जाने पर भी उसके द्वारा न तो उसकी प्रयोजन सिद्धि हो सकती है न देवदत्त की। अतः शिल्पकार को यथार्थ प्रयोजन की सिद्धि के लिये सर्व प्रथम बड़े बड़े छैनी और हथोड़ों के द्वारा अपनी दृष्टि में अंकित प्रतिमा के चारों ओर जो विकारी (व्यर्थ) पत्थर है, उसे काट कर पृथक् करना पड़ेगा इसके बाद बारीक हथियार उठाकर उस प्रतिमा के सूक्ष्म विकारों को भी बड़ी प्रबल साधना और स्थिर मनोयोग का अवलम्बन लेकर दूर करना होगा तब कहीं उसकी और देवदत्त के प्रयोजन की सिद्धि हो सकती है। इसी प्रकार दृष्टि या श्रद्धा में आत्मस्वरूप की उपलब्धि हो जाने के बाद भी आत्मा की विभाव परिणति (रागद्वेष) को दूर करने के लिये निग्र न्थ लिंग धारण कर मन की चञ्चलता को रोक अपने को अपने में ही एकाग्र करता हुआ जैसे जैसे परमपैनी सुविध छैनी को अन्तरंग में डालकर वर्णादि अरु रागादि को दूर करता है, वैसे वैसे ही अपने द्वारा अपने आपमें अपनी ही प्रतिमा का निर्माण कर यह मनुष्य अपने आप स्वयं ही उसका रसास्वादन करता हुआ अनन्त सुख का भोक्ता होता है। अन्तर केवल इतना है कि देवदत्त का पत्थर अचेतन होने से उसे शिल्पकार के—योग उपयोग का अवलम्बन लेना पड़ा, किन्तु हमारा आत्मा स्वयं उपयोगात्मक है, स्वाधीन है। अतः उसे रत्नत्रय के सिवा किसी अन्य अवलम्बन की आवश्यकता नहीं है।

यह अनुयोग जितना सरल सीधा और स्वच्छ है, प्रमादी एवं अज्ञानी जीवों ने इसका विपर्यास कर इसे उतना ही भ्रामक, कठिन और दुःसाध्य बना दिया है। केवल इतना ही नहीं एकान्त पक्ष को

ग्रहण कर भगवान् कुन्दकुन्द के नाम पर ही जैनाभास की उत्पत्ति इस अनुयोग से हुई है। यथार्थ में मिथ्यात्वरूपी विष की कणिका से व्याप्त अज्ञानी प्राणियों ने न तो भगवान् कुन्दकुन्द को ही समझा और न उनके तत्व को। आज समयसार के प्रेमी अधिकांश लोग, द्रव्यानुयोग के सिवा अन्य अनुयोगों को हेय या मात्र ज्ञेय समझ कर उनकी उपेक्षा करते हैं। कोई कहते हैं कि आत्मा की तो खबर नहीं और कर्म प्रकृतियाँ गिनने बैठते हैं। कोई कहते हैं कि जो चारित्रधारी हैं वे पाखण्डी हैं, इत्यादि...... ! यदि हम तत्व दृष्टि से विचार करके देखें तो आचार्य कुन्दकुन्द स्वयं चारित्रवान् थे। उन्होंने षट्खण्डागम के आदि के तीन खण्डों पर बारह हजार श्लोक प्रमाण परिकर्म नाम की विशद टीका लिखकर करणानुयोग को तथा प्रवचनसार के तीसरे अधिकार में, रयणसार में एवं अष्टप्राभृत के चारित्र प्राभृतादि में चारित्रका प्रतिपादन कर चरणानुयोग को और भावपाहुड़ में अनेक भावलिंगी और द्रव्यलिंगी मुनिराजों का वर्णन कर प्रथमानुयोग को जो गौरव पूर्ण स्थान दिया है वह द्रव्यानुयोग से किंचित भी न्यून नहीं है। उनका चारों अनुयोगों पर पूर्ण अधिकार था। परन्तु आज हम अनेक प्रकार की इष्ट सिद्धियों के हेतु यदि जिनवाणी का विपर्यास करते हैं तो अपने ही संसार की वृद्धि करते हैं। इससे जिनवाणी माता की कोई क्षति नहीं।

**चारों अनुयोगों का मुख्य प्रयोजनः**—चारों अनुयोगों का प्रयोजन एक ही है। केवल मार्ग या कथन शैली भिन्न भिन्न है। जैसे संसार रूपी भयानक अटवी में जो अज्ञानांधकार में गिरते पड़ते अनादि काल से अनिर्वचनीय दुःखों को उठाकर पीछे सुमार्ग पर आये और निर्वाण प्राप्त किया, उनके अनेक दृष्टान्त देकर प्रथमानुयोग हमें आत्मोत्पन्न सुख की प्राप्ति का उपाय बताता है। करणानुयोग की बात ही क्या कहें, इसकी कथा तो ऐसी है जैसे कोई बालक सड़क पर किसी भयोत्पादक दृश्य को देखकर दौड़ता हुआ आकर या तो माँ की गोद में या मकान के कोने में मुख छिपा कर बैठ जाता है। इसी प्रकार ३४३ घन राजू प्रमाण क्षेत्र में अनन्तानन्त जीव राशि इस मोह के गर्त में फँसी हुई नाना योनियों में असहनीय दुःख का वेदन कर रही है। "तुम तो सयाने पर सयान यह कहा कौन। तीन लोक नाथ होके, दीन से फिरत हो" इस कहावत के अनुसार जगत् पूज्य बनने की जिनमें शक्ति है ऐसी इन आत्माओं की भयङ्कर दयनीयता को जब करणानुयोग दर्शित करता है, तब हमारी आत्मा भय से कम्पायमान हो उठती है और अपने आपमें छिप कर बैठने की कोशिश करती है। उत्कर्ष का मार्ग खोजती है और स्वात्मलब्धि की प्राप्ति का समीचीन उपाय करती है। यदि ख्याति, पूजा लाभादि इच्छाओं को तिलाञ्जलि देते हुये वस्तु तत्त्व की समीचीन श्रद्धा एवं रागद्वेष की निवृत्ति पूर्वक संयम लिया जाय तो चरणानुयोग वह अनुपम नाव है जो जीव को संसार समुद्र के पार पहुँचा कर ही विराम लेती। इस अनुयोग का तो कहना है कि जहाँ अंग और पूर्वधारी मोक्ष जाते हैं, वहाँ अष्ट प्रवचन मात्र ज्ञान धारी भी पीछे नहीं रहते, अतः डरो मत, निर्भय होकर चारित्र धारण करो। द्रव्यानुयोग का भी ऐसा साफ उपदेश है कि जिस वस्तु की प्राप्ति पराश्रित हो उसकी प्राप्ति में कठिनाई होती है।

तुम्हारी सिद्धि तो तुम्हारे ही आधीन है। अपने भीतर से इष्टानिष्ट कल्पनाओं को तिलाञ्जलि देकर स्वाश्रित दृष्टि बनाओ। मुक्ति दूर नहीं।

जिस प्रकार चार स्तम्भों पर खड़े हुये एक विशाल भवन के स्वामी से कोई पूछे कि इसमें सबसे महत्व पूर्ण स्तम्भ कौन सा है? उत्तर मिलेगा भवन के लिये चारों स्तम्भ महत्त्व पूर्ण हैं। उसी प्रकार भव्यात्माओं के लिये चारों अनुयोग अनुकरणीय, आचरणीय, प्रयोजनीय और महत्त्वपूर्ण हैं।



# निर्जरा और उसके कारण

[ लेखिका :—पूज्या श्री १०५ आर्यिका कनकमती माताजी ]
संघस्था—आचार्यकल्प १०८ श्री श्रुतसागरजी महाराज

बद्ध कर्मों के एक देश क्षय को निर्जरा और सर्व देश क्षय को मोक्ष कहते हैं। इस निर्जरा के सविपाक और अविपाक के भेद से दो भेद हैं। आबाधा काल पूर्ण होने पर बद्ध कर्म, उदयावली में आकर निषेक रचना के अनुसार खिरने लगते हैं। उनका यह खिरना सविपाक निर्जरा कहलाती है। सिद्धों के अनन्तवें भाग और अभव्य राशि से अनन्त गुणित कर्म परमाणु प्रत्येक समय बन्ध को प्राप्त होते हैं। और उतने ही कर्म परमाणु निर्जीर्ण हो जाते हैं। यह क्रम अनादि काल से चला आ रहा है। सम्यग्दर्शन तथा तपश्चरण आदि का निमित्त मिलने पर उन कर्म परमाणुओं को, जो कि अभी उदयावली में नहीं आये थे, उन्हें (असमय में) उदयावली में लाकर खिरा देना अविपाक निर्जरा है। पं० दौलतरामजी ने एक पद्य में कितना सुन्दर कहा है :—

काल पाय निधि झरना तासों कछु काज न सरना।
तप कर जो कर्म खिपावे सो ही शिवसुख दरसावे ॥

काल पाकर जो कर्मों का झरना है उससे इस जीव का कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता, परन्तु तपश्चरण के द्वारा जो कर्म खिपाये जाते हैं वही मोक्ष सुख को दिखलाते हैं। यहां सविपाक और अविपाक निर्जरा की चर्चा की गई है। सविपाक और अविपाक निर्जरा का भेद हम आम्र आदि फलों के दृष्टान्त से भी अनायास समझ सकते हैं। पेड़ पर लगे हुए आम्र आदि फल अपने ऋतु क्रम से देर से पकते हैं परन्तु उन्हें तोड़कर कृत्रिम गर्मी के द्वारा पहले भी पका लिया जाता है।

अविपाक निर्जरा के दश स्थानों की चर्चा करते हुए सूत्रकार ने लिखा है—

"सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपक-क्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येय गुण निर्जराः" ॥४५॥ अ० ९।

सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत, अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना करने वाला, दर्शन मोह का क्षय करने वाला, उपशम श्रेणी वाला, उपशान्त मोह नामक ग्यारहवें गुणस्थान वाला, क्षपक श्रेणी वाला, क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थान वाला और जिन—ये दश स्थान क्रम से असंख्यात गुणी निर्जरा करने वाले हैं।

इनमें सम्यग्दर्शन का योग कब मिलता है इसकी चर्चा करते हुए अकलंक स्वामी ने राजवार्तिक में कहा है—

जिस प्रकार मदिरा पीने वाले मनुष्य के जब नशा का एक देश नष्ट होता है तब उसमें कुछ-कुछ ज्ञान शक्ति प्रकट होती है, अथवा गहरी नींद में निमग्न जीव के जब एक देश नींद का अभाव होता है तब उसे कुछ-कुछ स्मरण होने लगता है, अथवा विष से मोहित मनुष्य के जब एक देश विष दूर होता है तब उसे कुछ-कुछ चेतना प्रकट होती है अथवा पित्तादि के विकार से उत्पन्न मूर्च्छा वाले मनुष्य के जब मूर्च्छा का एक देश क्षय होता है तब उसे कुछ-कुछ अव्यक्त चेतना प्रकट होती है उसी प्रकार अनन्तकाय आदि एकेन्द्रिय जीवों में उत्पन्न हो होकर परिभ्रमण करते हुए इस जीव की कदाचित् द्वीन्द्रियादि त्रस जीवों में उत्पत्ति होती है सो भी यह जीव त्रस पर्याय में साधिक दो हजार सागर वर्ष से अधिक नहीं रह सकता क्योंकि उसका उत्कृष्ट काल इतना ही है, इतना समय बीतने पर फिर यह उसी एकेन्द्रिय पर्याय में जन्म लेता है। इस प्रकार त्रस पर्याय में जाना और वहां से फिर लौटना यह क्रिया अनन्त बार चलती रहती है। इसी क्रिया में कदाचित् यह जीव पञ्चेन्द्रिय पर्याय को प्राप्त होता है तो उसका लम्बा काल नरकादि गतियों में बीत जाता है। घुणाक्षर न्याय से कदाचित् मनुष्य पर्याय प्राप्त करता भी है तो समीचीन देश तथा कुल आदि का निमित्त नहीं मिलता। कदाचित् उनका भी निमित्त मिलता है और संक्लेश की मन्दता से अपने परिणामों को विशुद्ध भी बनाता है, परन्तु उपदेश के अभाव के कारण [illegible] ज्ञान नहीं कर पाता और कुगुरुओं की मिथ्या देशना पाकर मिथ्यादृष्टि रहता हुआ इसी प्रकार सर्वथा महान् देश का अतिथि बना रहता है। कदाचित् ज्ञानावरण कर्म के विशिष्ट क्षयोपशम से इसे अन्तरंग में विशुद्धता उत्पन्न होती है और जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा प्रतिपादित धर्म का उपदेश सुनता है साथ ही अन्तरंग में सम्यग्दर्शन को घातने वाले मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबन्धी चतुष्क का उपशम होता है तो प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि बनता है तब इस जिनेन्द्र भगवान् के वचन [illegible] [illegible] सम्यक्त्व के संस्कार से कुछ समय के [illegible] [illegible] है।

कदाचित् सम्यक्त्व भावना रूप अमृत के द्वारा इसकी विशुद्धता में वृद्धि होती है और मिथ्यात्व को नष्ट करने वाली शक्ति का आविर्भाव होता है तो यह मिथ्यात्व प्रकृति के मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति रूप तीन खण्ड उस प्रकार करता है जिस प्रकार कि कूटी जाने वाली धान में छिलका, कण और चांवल ये तीन खण्ड होते हैं। इन तीन खण्डों में से एक सम्यक्त्व प्रकृति नामक खण्ड का वेदन करता हुआ यह जीव वेदक सम्यग्दृष्टि होता है। तदनन्तर जो प्रशम संवेग आदि गुणों से युक्त है तथा जिनेन्द्र भक्ति से जिसकी भावनाओं की विशेष वृद्धि हो रही है ऐसा मनुष्य, जहां केवली भगवान् विद्यमान हैं वहां दर्शन मोह की क्षपणा प्रारम्भ करता है और क्रमशः मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबन्धी चतुष्क का क्षय कर क्षायिक सम्यग्दृष्टि बनता है। दर्शनमोह की क्षपणा का प्रारम्भ मनुष्य गति में ही होता है, परन्तु उसका निष्ठापन चारों गतियों में हो सकता है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने वाला जीव, गुण श्रेणी निर्जरा के प्रथम स्थान को प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के सन्मुख सातिशय मिथ्यादृष्टि जीव के जितनी निर्जरा होती है उससे असंख्यात गुणी निर्जरा इस सम्यग्दृष्टि के होती है। अविरत सम्यग्दृष्टि जीव की यह गुण श्रेणी निर्जरा सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति काल में ही होती है, अन्य समय नहीं।

कदाचित् अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ के क्षयोपशम से यह जीव एक देश व्रत धारण कर श्रावक वनता है। श्रावक अवस्था पञ्चम गुणस्थान की है, यहां सम्यग्दृष्टि जीव की अपेक्षा प्रति समय असंख्यात गुणी निर्जरा होती है, उसी श्रावक के जब विशुद्धता की वृद्धि होती है, तब वह प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ के क्षयोपशम से पञ्चपाप का सर्वथा त्याग कर विरत बनता है। निर्ग्रन्थ मुद्रा धारण कर सप्तम गुणस्थान में प्रवेश करता है पश्चात् षष्ठ गुणस्थान में आता है, पुनः सप्तम गुणस्थान में जाता है इस तरह षष्ठ और सप्तम गुणस्थान की भूमिका में रहने वाले इस विरत के श्रावक की अपेक्षा असंख्यात गुणी निर्जरा होती है।

कोई जीव अनन्तानुवन्धी चतुष्क की विसंयोजना कर द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि बनता है और सप्तम गुणस्थान के सातिशय भेद में प्रवेश कर उपशम श्रेणी में चढ़ने को तत्पर होता है। ऐसी उस अनन्त वियोजक के विरत की अपेक्षा असंख्यात गुणी निर्जरा होती है। चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सप्तम गुणस्थान तक कोई जीव दर्शन मोह का क्षय कर क्षायिक सम्यग्दृष्टि बनता है उसके अनन्त वियोजक की अपेक्षा असंख्यात गुणी निर्जरा होती है। इसकी अपेक्षा उपशम श्रेणी में विद्यमान अष्ट नवम तथा दशम गुणस्थानवर्ती जीव के असंख्यात गुणी निर्जरा होती है। इसकी अपेक्षा चारित्र मोह का उपशम कर चुकने वाले उपशान्त मोह नामक ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती जीव के असंख्यात गुणी निर्जरा होती है। इसकी अपेक्षा क्षपक श्रेणी के गुणस्थानों—अष्टम नवम और दशम गुणस्थानों में विद्यमान जीव के असंख्यात गुणी निर्जरा होती है। इस क्षपक की अपेक्षा मोह कर्मका सर्वथा क्षय कर चुकने वाले क्षीण-मोह नामक बारहवें गुणस्थानवर्ती जीव के असंख्यात गुणी निर्जरा होती है। उसकी अपेक्षा घातिचतुष्क

का क्षय कर चुकने वाले सयोगी और अयोगी जिनके असंख्यात गुणी निर्जरा होती है। इस निर्जरा का कारण उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ विशुद्धता का प्रकर्ष ही है। इस निर्जरा के अन्त में अयोगी जिनके उपान्त समय में बहत्तर और अन्त समय में तेरह प्रकृतियों का क्षय होता है और उसके फल स्वरूप वे संसार के चक्र से उत्तीर्ण होकर एक समय में सिद्धालय में जा पहुँचते हैं।

तत्त्वार्थ सूत्रकार ने निर्जरा के कारणों की चर्चा करते हुए **"तपसा निर्जरा च"** यह सूत्र लिखा है तथा इसके द्वारा कहा है कि तप से संवर और निर्जरा ये दो तत्व होते हैं। तप के अनशनादि बारह भेद होते हैं कुन्दकुन्द स्वामी ने रागादि से रहित आत्मा की वीतराग परिणति को निर्जरा का कारण बताया है। उपर्युक्त तप इस वीतराग परिणति के कारण हैं।



# जीव समास

[ ले०:— पूज्य १०५ आर्यिका श्री विनयमती माताजी ]
( संघस्था आचार्यकल्प १०८ श्री श्रुतसागरजी महाराज )

संसार के भीतर रहने वाली अनन्त जीव जातियों के संग्रह करने की उस पद्धति को जीव समास कहते हैं जिसमें कोई जीव जाति छूट न जावे। त्रस-स्थावर, बादर-सूक्ष्म, पर्याप्त-अपर्याप्त और प्रत्येक-साधारण ये चार युगल हैं। इनमें पारस्परिक विरोध से रहित त्रसादि कर्मों से युक्त जाति नाम का उदय होने पर जीवों में ऊर्ध्वता सामान्य या तिर्यक् सामान्य रूप जो धर्म हैं वे 'जीव समास' शब्द से वाच्य हैं। एक पदार्थ की कालक्रम से होने वाली पर्यायों में जो सादृश्य है वह ऊर्ध्वता सामान्य कहलाता है और सजातीय पदार्थों में जो सादृश्य है वह तिर्यक् सामान्य कहलाता है। पारस्परिक विरोध का स्पष्टीकरण यह है कि त्रस कर्म का बादर के साथ अविरोध है और सूक्ष्म के साथ विरोध है अर्थात् जिसके त्रस नाम कर्म का उदय होगा उसके बादर नाम कर्म का ही उदय होगा, सूक्ष्म नाम कर्म का नहीं। इसी प्रकार पर्याप्त नाम कर्म का साधारण नाम कर्म के साथ विरोध है और प्रत्येक नाम कर्म के साथ अविरोध है अर्थात् जिसके पर्याप्त नाम कर्म का उदय होगा उसके साधारण नाम कर्म का उदय नहीं होगा, किन्तु प्रत्येक नाम कर्म का उदय होगा।

आगम में जीव समास के अनेक भेद वर्णित हैं उनमें से १४, ५७ और ९८ भेद बहु प्रचलित हैं अत: प्रारम्भ में उन्हीं भेदों का परिगणन कर पीछे इस विषय की दूसरी चर्चा करेंगे ।

## चौदह जीव समास—

एकेन्द्रिय के दो भेद हैं बादर और सूक्ष्म । इनमें त्रसों के द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय और असंज्ञीपंचेन्द्रिय ये पाँच भेद मिलाने से सात भेद होते हैं। ये सातों भेद पर्याप्तक और अपर्याप्तक की अपेक्षा दो दो प्रकार के होते हैं इसलिये सामान्य रूप सेजीव समास के चौदह भेद होते हैं।

## संतावन जीव समास—

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, नित्य निगोद और इतर निगोद इन छह के बादर और सूक्ष्म की अपेक्षा दो दो भेद होनेसे बारह भेद होते हैं उनमें प्रत्येक वनस्पति के सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक ये दो मिलाने से एकेन्द्रिय के चौदह भेद होते हैं। उनमें त्रसों के द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, संज्ञी पञ्चेन्द्रिय और असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय में पाँच मिलाने से उन्नीस भेद होते हैं। ये उन्नीस भेद पर्याप्तक, निर्वृत्यपर्याप्तक और लब्ध्यपर्याप्तक की अपेक्षा तीन तीन प्रकार के होते हैं, इसलिये सब मिलाकर जीव समास के संतावन भेद हैं।

## अंठानवें जीव समास—

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, नित्यनिगोद, इतर निगोद इन छह के बादर और सूक्ष्म की अपेक्षा दो दो भेद होने से बारह भेद हुए उनमें प्रत्येक वनस्पति के सप्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित ये दो भेद मिलाने से चौदह भेद होते हैं। इन चौदह के पर्याप्तक, निर्वृत्यपर्याप्तक ये तीन तीन भेद होते हैं। अत: एकेन्द्रिय के सब मिलाकर ४२ भेद होते हैं। उनमें द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय इन तीन विकलत्रयों के पर्याप्तक, निर्वृत्यपर्याप्तक तथा लब्ध्यपर्याप्तक की अपेक्षा होने वाले ९ भेद मिलाने से ५१ भेद होते हैं। पञ्चेन्द्रियों के ४७ भेद मिलाने से ९८ जीव समास होते हैं। पञ्चेन्द्रिय के ४७ भेदों में ३४ तिर्यञ्चों के ९ मनुष्यों के, २ देवों के और २ नारकियों के हैं। तिर्यञ्चों के कर्मभूमि और भोगभूमि की अपेक्षा मूलत: दो भेद हैं। उनमें कर्मभूमि के पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च, जलचर, स्थलचर और नभचर के भेद से तीन प्रकार के हैं, ये तीनों भेद संज्ञी और असंज्ञी के भेद से दो प्रकार के हैं। ये छह भेद गर्भज और सम्मूर्च्छनज की अपेक्षा दो दो प्रकार के हैं। गर्भज के छह भेद निर्वृत्यपर्याप्तक और पर्याप्तक की अपेक्षा दो-दो प्रकार के होते हैं और सम्मूर्च्छनज के छह भेद पर्याप्तक, निर्वृत्यपर्याप्तक तथा लब्ध्यपर्याप्तक की अपेक्षा तीन-तीन प्रकार के होते हैं अत: १२ और १८ मिला कर कर्मभूमिज पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चों के तीस भेद होते हैं। भोगभूमिज तिर्यञ्चों में जलचर सम्मूर्च्छन और असंज्ञी भेद नहीं होते, मात्र स्थलचर और नभश्चर ये दो भेद होते हैं, सो इनको पर्याप्तक और निर्वृत्यपर्याप्तक की अपेक्षा दो दो भेद होने से ४ भेद हैं। ३० और ४ मिलाने से पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चों के ३४ भेद होते हैं। मनुष्यों में आर्य खण्ड के

मनुष्यों के पर्याप्तक, निर्वृत्यपर्याप्तक और लब्ध्यपर्याप्तक के भेद से तीन तथा म्लेच्छखण्ड के मनुष्यों के पर्याप्तक और निर्वृत्यपर्याप्तक के भेद से दो तथा भोगभूमिज और कुभोगभूमिज मनुष्यों के पर्याप्तक और निर्वृत्यपर्याप्तक की अपेक्षा दो दो भेद, इस प्रकार ५+२+२ मिलकर मनुष्यों के नौ भेद होते हैं। देवों और नारकियों में पर्याप्तक और निर्वृत्यपर्याप्तक की अपेक्षा दो दो भेद होते हैं। इस प्रकार ५१+३४+९+२+२=९८ अंठानवें जीव समास होते हैं।

श्री नेमिचन्द्राचार्य ने जीवसमासों का वर्णन स्थान, योनि, शरीरावगाहना और कुल इन चारों अवान्तर अधिकारों के द्वारा किया है। अतः इस संदर्भ में संक्षेप से उनकी चर्चा कर लेना भी उचित है।

### स्थानाधिकार—

एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि जाति भेदों को स्थान कहते हैं। सामान्य रूप से जीव का एक स्थान है। त्रस और स्थावर के भेद से दो स्थान हैं, एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और सकलेन्द्रिय के भेद से तीन स्थान हैं, एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, संज्ञी पञ्चेन्द्रिय और असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय के भेद से चार स्थान हैं, एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय की अपेक्षा पांच स्थान हैं, पांच स्थावर और एक त्रस के भेद से छह स्थान हैं, पांच स्थावर और विकल सकल के भेद से ७ स्थान हैं, पांच स्थावर और विकल, संज्ञी पञ्चेन्द्रिय तथा असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय की अपेक्षा आठ स्थान हैं, पांच स्थावर और द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय तथा पञ्चेन्द्रिय की अपेक्षा नौ स्थान हैं पांच स्थावर और द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा संज्ञी पञ्चेन्द्रिय असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय की अपेक्षा दश स्थान हैं।

पांच स्थावरों के बादर सूक्ष्मकी अपेक्षा होने वाले दश भेदों में त्रसका एक भेद मिलाने से ग्यारह, विकल और सकल ये दो भेद मिलाने से बारह, विकल और संज्ञी पञ्चेन्द्रिय तथा असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय ये तीन भेद मिलाने से तेरह, द्वीन्द्रियादि चार भेद मिलने से चौदह, द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय में पांच भेद मिलाने से पन्द्रह स्थान होते हैं।

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, नित्यनिगोद, इतरनिगोद इन छह के बादर सूक्ष्म की अपेक्षा बारह और प्रत्येक वनस्पति इन तेरह में त्रस के विकलेन्द्रिय, संज्ञी तथा असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय इन तरह तीन भेद मिलाने से सोलह द्वीन्द्रियादि चार भेद मिलाने से सत्रह, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, संज्ञी पञ्चेन्द्रिय और असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय ये पांच भेद मिलाने से अठारह स्थान होते हैं। तथा पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, नित्यनिगोद, इतरनिगोद इन छह के बादर सूक्ष्म की अपेक्षा बारह और प्रत्येक वनस्पति के सप्रतिष्ठित तथा अप्रतिष्ठित दो भेद मिलाकर प्राप्त हुए चौदह भेदों में त्रस के द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, संज्ञी पञ्चेन्द्रिय तथा असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय ये पांच भेद और मिलाने से उन्नीस स्थान होते हैं।

इस प्रकार सामान्य की अपेक्षा १९ स्थान, पर्याप्तक और अपर्याप्तक की अपेक्षा ३८ और पर्याप्तक निर्वृत्यपर्याप्तक और लब्ध्यपर्याप्तक की अपेक्षा ५७ स्थान होते हैं।

## योन्यधिकार —

उत्पत्ति के आधार को योनि कहते हैं। इसके आकार योनि और गुण योनि की अपेक्षा दो भेद हैं। आकार योनि का वर्णन खासकर मनुष्य गति की अपेक्षा किया गया है। शङ्खावर्तयोनि, कूर्मोन्नत योनि और वंशपत्रयोनि की अपेक्षा आकारयोनि के तीन भेद हैं। इनमें शङ्खावर्तयोनि में गर्भ धारण नहीं होता है, कूर्मोन्नतयोनि में तीर्थंकर, चक्रवर्ती, अर्धचक्रवर्ती, बलभद्र तथा साधारण मनुष्य भी उत्पन्न होते हैं, और वंशपत्रयोनि में साधारण पुरुष ही जन्म लेते हैं, तीर्थंकर आदि विशिष्ट पुरुष नहीं।

गुणयोनि का वर्णन जन्म से संबन्ध रखता है अत: जन्म के सम्मूर्च्छन, गर्भ और उपपाद से तीन भेद प्रथम ही जानने योग्य हैं। जरायुज, अण्डज और पोत जीवों का गर्भ जन्म होता है, देव-नारकियों का उपपाद जन्म होता है और शेष जीवों का सम्मूर्च्छन जन्म होता है। माता पिता के रज और वीर्य के संमिश्रण से होने वाला जन्म गर्भ जन्म कहलाता है, निश्चित उपपाद शय्या पर होने वाला जन्म उपपाद जन्म कहलाता है और इधर उधर के परमाणुओं के संसर्ग से होने वाला जन्म संमूर्च्छन जन्म कहा जाता है। एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय तक के जीवों का संमूर्च्छन जन्म ही होता है, देव और नारकियों का उपपाद जन्म ही होता है और कर्मभूमिज पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चों तथा मनुष्यों का गर्भ और संमूर्च्छन जन्म होता है। इनमें संमूर्च्छन मनुष्य लब्ध्यपर्याप्तक ही होते हैं। उनकी शरीर रचना नहीं हो पाती। भोगभूमिज तिर्यञ्च और मनुष्य गर्भज ही होते हैं।

गुणयोनि के सचित्त, अचित्त और सचित्ताचित्त, शीत, उष्ण और शीतोष्ण तथा संवृत, विवृत और संवृत विवृत ये नौ भेद हैं। इनका अर्थ शब्द से ही स्पष्ट है। उपपाद जन्म वालों की अचित्त, गर्भ जन्म वालों की सचित्ताचित्त, तथा संमूर्च्छन जन्म वालों में सचित्त, अचित्त और मिश्र-सचित्ताचित्त के भेद से तीनों प्रकार की योनियां होती हैं। उपपाद जन्म वालों में शीत और उष्ण ये दो योनियां तथा शेष जन्म वालों में शीत, उष्ण और मिश्र ये तीनों ही योनियां होती हैं। उपपाद जन्म वालों में तथा एकेन्द्रिय जीवों में संवृत योनि, विकलेन्द्रियों में निवृत, गर्भज जीवों में विवृत तथा पञ्चेन्द्रिय संमूर्च्छन जीवों के विकलत्रय की तरह विवृत योनि ही होती है।

विस्तार से चर्चा करने पर नित्यनिगोद, इतरनिगोद, पृथिवी, जल, अग्नि, वायु इन प्रत्येक की सात-सात लाख, वनस्पति की दश लाख, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय इन प्रत्येक की दो दो लाख पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्च, देव और नारकियों की (प्रत्येक की) चार चार लाख और मनुष्यों की चौदह लाख योनियां होती हैं। सबकी मिलाकर चौरासी लाख योनियां हैं। इन योनियों में यह जीव अनादि काल से जन्म मरण करता चला आ रहा है।

## शरीरावगाहनाधिकार—

जीवों के शरीर की अवगाहना का प्रमाण जघन्य से लेकर उत्कृष्ट अवगाहना तक अनेक भेदों में विभक्त है। सबसे जघन्य अवगाहना सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव के उत्पन्न होने के तीसरे

समय में होती है और उसका प्रमाण घनांगुल के असंख्यातवें भाग है तथा उत्कृष्ट अवगाहना स्वयंभूरमण समुद्र में होने वाले महामत्स्य की होती है, उसका प्रमाण एक हजार योजन लम्बा, पाँच सौ योजन चौड़ा तथा अढ़ाई सौ योजन मोटा है। मध्यम अवगाहना के अनेक विकल्प हैं।

एकेन्द्रियादि जीवों की अपेक्षा चर्चा करने पर एकेन्द्रियों में उत्कृष्ट अवगाहना कमल की कुछ अधिक एक हजार योजन प्रमाण है, द्वीन्द्रियों में शंख की बारह योजन, त्रीन्द्रियों में चींटी की तीन कोश, चतुरिन्द्रियों में भ्रमर की एक योजन और पञ्चेन्द्रियों में महामत्स्य की एक हजार योजन प्रमाण है। ये उत्कृष्ट अवगाहना के धारक जीव स्वयंभूरमण द्वीप में स्वयंप्रभ पर्वत के उत्तरवर्ती क्षेत्र में रहते हैं।

एकेन्द्रिय के जघन्य अवगाहना का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। द्वीन्द्रियों में सबसे जघन्य अवगाहना अनुन्धरी नामक जीव की होती है और उसका प्रमाण घनांगुल के संख्यातवें भाग मात्र है। उससे संख्यात गुणी जघन्यावगाहना त्रीन्द्रियों में कुन्थु की होती है। इससे संख्यात गुणी चतुरिन्द्रियों में काण मक्षिका की और इससे भी संख्यात गुणी पञ्चेन्द्रियों में व सिक्थक मत्स्य की होती है। यह सिक्थक मत्स्य, महामत्स्य के कान में रहता है।

कुलाधिकार—

शरीर की उत्पत्ति में कारणभूत नोकर्मवर्गणा के भेदों को कुल कहते हैं। ये कुल, क्रम से पृथिवीकायिक के बाईस लाख कोटी, जलकायिक के सात लाख कोटी, अग्निकायिक के तीन लाख कोटी और वायुकायिक के सात लाख कोटी हैं। दो इन्द्रियों के सात लाख कोटी, तीन इन्द्रियों के आठ लाख कोटी, चार इन्द्रियों के नौ लाख कोटी और वनस्पतिकायिकों के अठाईस लाख कोटी हैं। पञ्चेन्द्रियों में जलचरों के साढ़े बारह लाख कोटी, पक्षियों के बारह लाख कोटी, पशुओं के दश लाख कोटी छाती के सहारे चलने वाले जीवों के नौ लाख कोटी, देवों के छब्बीस लाख कोटी, नारकियों के पचीस लाख कोटी और मनुष्यों के बारह लाख कोटी हैं। उपर्युक्त समस्त जीवों के कुल कोटियों की संख्या एक कोड़ा कोड़ी सत्तानवें लाख पचास हजार कोटी है जो अंकों में इस प्रकार है—१९७५००००००००००० । कहीं कहीं मनुष्यों की बारह लाख कोटी के बदले चौदह लाख कोटी बताई है, अतः उतना प्रमाण बढ़ जाता है।

गुणस्थानों और मार्गणाओं में जीव समास का विभाग—

मिथ्यात्व गुणस्थान में चौदह, सासादन, असंयतसम्यग्दृष्टि, प्रमत्तविरत और सयोग-केवली गुणस्थानों में संज्ञी पर्याप्त-अपर्याप्तक ये दो और शेष गुणस्थानों में संज्ञी पर्याप्त यह एक ही जीव समास होता है। मार्गणाओं की अपेक्षा विचार करने पर तिर्यञ्च गति में चौदह जीव समास होते हैं और शेष गतियों में संज्ञी पर्याप्त तथा संज्ञी अपर्याप्त ये दो ही जीवसमास होते हैं।

यह जीवसमास की परिणति अशुद्ध जीव—संसारी जीव में ही रहती है अनन्तानन्त सिद्ध परमेष्ठी भगवान् इस परिणति से रहित हो चुके हैं।

※

# पर्याप्ति और प्राण

[ ले०—पूज्या श्री १०५ आर्यिका शुभमती माताजी, शिष्या–प० पू० आचार्य श्री १०८ धर्मसागरजी म० ]

विग्रह गति में एक, दो अथवा तीन समय तक अनाहारक रहने के बाद यह जीव अपने उत्पत्ति स्थान में जाकर जिन आहारवर्गणा के परमाणुओं को ग्रहण करता है उन्हें खल रस भागादि रूप परिणमाने की उसकी शक्ति क्रम से विकसित होती है। शक्ति विकास की पूर्णता को पर्याप्ति कहते हैं। जिन जीवों की यह शक्ति पूर्ण विकसित हो जाती है। वे पर्याप्तक कहलाते हैं और जिनकी पूर्ण विकसित नहीं होती है वे अपर्याप्तक कहलाते हैं। अपर्याप्तक दो प्रकार के होते हैं—एक तो वे, जिनकी शक्ति अभी पूर्ण नहीं हुई है किन्तु अन्तर्मुहूर्त के भीतर नियम से पूर्ण हो जाने वाली है और दूसरे वे जिनकी शक्ति न पूर्ण हुई है और न आगे पूर्ण होगी। पहले जीव निर्वृत्त्य पर्याप्तक कहलाते हैं और दूसरे लब्ध्यपर्याप्तक। वास्तव में लब्ध्यपर्याप्तक जीव ही अपर्याप्तक कहलाते हैं, क्योंकि अपर्याप्तक नाम कर्म का उदय उन्हीं के रहता है। निर्वृत्यपर्याप्तक तो मात्र निर्वृत्ति रचना की अपेक्षा अपर्याप्तक कहलाते हैं। यहां शरीर की पूर्णता के मायने पर्याप्ति नहीं है क्योंकि शरीर की पूर्णता तो क्रम–क्रम से बहुत समय बाद होती है। यहां आत्म प्रदेशों में उस जाति की शक्ति की पूर्णता हो जाने की विवक्षा है। और शक्ति की पूर्णता अन्तर्मुहूर्त के भीतर नियम से हो जाती है। यही कारण है कि जीव की अपर्याप्तक अवस्था अन्तर्मुहूर्त तक ही रहती है।

आहार वर्गणा के परमाणुओं से शरीर, इन्द्रियों और श्वासोच्छ्वास की रचना होती है, भाषा वर्गणा के परमाणुओं से वचन की रचना होती है और मनोवर्गणा के परमाणुओं से मन की रचना होती है। एकेन्द्रिय जीवों के मात्र आहार वर्गणा का संचय होता है, द्वीन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय तक के जीवों के आहार वर्गणा और भाषा वर्गणा का ग्रहण होता है तथा संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवों के मनोवर्गणा को मिलाकर तीनों वर्गणाओं का ग्रहण होता है। आहार वर्गणा से आहार, शरीर, इन्द्रिय और श्वासोच्छ्वास में चार पर्याप्तियां, भाषा वर्गणा से भाषा पर्याप्ति और मनो वर्गणा से मनःपर्याप्ति सम्बन्ध रखती है। एकेन्द्रिय जीव के प्रारम्भ की चार, द्वीन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय तक के पांच और संज्ञी पञ्चेन्द्रिय के छह पर्याप्तियां होती है। इन पर्याप्तियों का संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—

**आहार पर्याप्तिः**—नवीन शरीर को कारणभूत जिस नोकर्म वर्गणा—आहार वर्गणा को जीव ग्रहण करता है उसे खल रस भाग रूप परिणमावने के लिये जीव की शक्ति के पूर्ण होने को आहार पर्याप्ति कहते हैं।

**शरीर पर्याप्तिः**— खल भाग को हड्डी आदि कठोर अवयव रूप तथा रस भाग को रुधिर आदि द्रव्य अवयव रूप परिणमावने की शक्ति की पूर्णता को शरीर पर्याप्ति कहते हैं।

**इन्द्रिय पर्याप्तिः**—उन्हीं आहार वर्गणा के परमाणुओं में से कुछ को अपनी-अपनी इन्द्रिय के स्थान पर उस-उस द्रव्येन्द्रिय के आकार परिणमावने और उनसे विषय ग्रहण करने की शक्ति के पूर्ण हो जाने को इन्द्रिय पर्याप्ति कहते हैं।

**श्वासोच्छ्वास पर्याप्तिः**—उन्हीं आहार वर्गणा के परमाणुओं में से कुछ को श्वासोच्छ्वास रूप परिणमावने की शक्ति के पूर्ण होने को श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति कहते हैं।

**भाषा पर्याप्तिः**—भाषा वर्गणा के परमाणुओं को वचन रूप परिणमावने की शक्ति की पूर्णता को भाषा पर्याप्ति कहते हैं।

**मनःपर्याप्तिः**—मनो वर्गणा के परमाणुओं को द्रव्य मन रूप परिणमावने तथा उससे विचार करने की शक्ति के पूर्ण करने को मनःपर्याप्ति कहते हैं।

इन छह पर्याप्तियों का प्रारम्भ एक साथ होता है परन्तु पूर्णता क्रम-क्रम से होती है, इतना अवश्य है कि सभी पर्याप्तियों के पूर्ण होने में अन्तर्मुहूर्त से अधिक काल नहीं लगता है। जब तक आहार और शरीर पर्याप्ति की पूर्णता नहीं होती तब तक यह जीव अपर्याप्तक कहलाता है उसके पश्चात् पर्याप्तक कहलाने लगता है। लब्ध्यपर्याप्तक अवस्था मात्र मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में होती है और निर्वृत्यपर्याप्तक अवस्था प्रथम, द्वितीय, षष्ठ और तेरहवें गुणस्थान में होती है। षष्ठ गुणस्थान में आहारक शरीर की अपेक्षा और तेरहवें गुणस्थान में लोकपूरणसमुद्घात की अपेक्षा अपर्याप्तक अवस्था होती है। शेष गुणस्थानों में पर्याप्तक अवस्था ही रहती है। इस संदर्भ में इतना और स्मरण रखना चाहिये कि लब्ध्यपर्याप्तक अवस्था मात्र संमूर्च्छन जन्म में होती है गर्भ और उपपाद जन्म में नहीं, जबकि निर्वृत्यपर्याप्त अवस्था तीनों जन्मों में होती है। लब्ध्यपर्याप्तक जीव अन्तर्मुहूर्त के भीतर नियम से मरण को प्राप्त होता है।

**क्षुद्रभवों की गणनाः**—एक अन्तर्मुहूर्त में लब्ध्यपर्याप्तक जीव छियासठ हजार तीन सौ छत्तीस बार जन्म मरण करता है। इन भवों में द्वीन्द्रिय के ८० त्रीन्द्रिय के ६० चतुरिन्द्रिय के ४०, पञ्चेन्द्रिय के २४ तथा एकेन्द्रिय के ६६१३२ क्षुद्रभव होते हैं। एकेन्द्रियों में पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और साधारण वनस्पतिकायिक सूक्ष्म और बादर के भेद से १० तथा प्रत्येक वनस्पति इन ग्यारह स्थानों में प्रत्येक के ६०१२ भव होते हैं।

**विशेषता**—द्वितीयादिक छह नरक, ज्योतिषी, व्यन्तर और भवनवासी देव तथा सब प्रकार की स्त्रियां इनकी अपर्याप्तक अवस्था में चतुर्थ गुणस्थान नहीं है, क्योंकि इनमें सम्यग्दृष्टि जीव की उत्पत्ति नहीं होती। नरकगति की अपर्याप्त अवस्था में सासादन गुणस्थान नहीं होता क्योंकि इस गुणस्थान में मरा हुआ जीव नरकगति में जाता ही नहीं है।

**प्राण:**—जिनके संयोग से जीव जीवितपने का और वियोग से मरणपने का व्यवहार प्राप्त करता है उन्हें प्राण कहते हैं। ये प्राण भाव और द्रव्य के भेद से दो प्रकार के होते हैं। अभ्यन्तर में तद्-तद् इन्द्रियावरण कर्मों के क्षयोपशम से जो ज्ञानादि गुण प्रकट हैं उन्हें भाव प्राण कहते हैं और उनके कार्य रूप जो तद्-तद् इन्द्रियों के आकार आदि हैं उन्हें द्रव्य प्राण कहते हैं। पर्याप्ति कारण है और प्राण उसके कार्य हैं, इस प्रकार दोनों में कारण-कार्य का भेद है।

संक्षेप में प्राणों के चार भेद हैं—इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास। इन्द्रिय के पांच भेद हैं—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण। बल के तीन भेद हैं—काय बल, वचन बल और मनोबल। आयु और श्वासोच्छ्वास का एक-एक ही भेद है। इस प्रकार ५+३+१+१= मिलाकर द्रव्य प्राण के १० भेद होते हैं। इनमें मनोबल प्राण तथा इन्द्रिय प्राण वीर्यांतराय कर्म और मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होते हैं। कायबल प्राण शरीर नामकर्म के उदय से होता है। श्वासोच्छ्वास शरीर नामकर्म तथा श्वासोच्छ्वास कर्म के उदय से होता है, वचन बल, शरीरनामकर्म तथा स्व-नाम कर्म के उदय से होता है और आयु प्राण, आयु कर्म के उदय से होता है।

वचन बल, मनोबल और श्वासोच्छ्वास ये तीन प्राण पर्याप्तक अवस्था में ही होते हैं, अपर्याप्तक अवस्था में नहीं। शेष प्राण पर्याप्तक अपर्याप्तक-दोनों अवस्थाओं में होते हैं। संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवों के पर्याप्तक अवस्था में दश और अपर्याप्तक अवस्था में सात, असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय के पर्याप्तक अवस्था में नौ और अपर्याप्तक अवस्था में सात, चतुरिन्द्रिय के पर्याप्तक अवस्था में आठ और अपर्याप्तक अवस्था में छह, त्रीन्द्रिय के पर्याप्तक अवस्था में सात और अपर्याप्तक अवस्था में पांच, द्वीन्द्रिय के पर्याप्तक अवस्था में छह और अपर्याप्तक अवस्था में चार तथा एकेन्द्रिय जीव के पर्याप्तक अवस्था में चार और अपर्याप्तक अवस्था में तीन प्राण होते हैं।

## गुणस्थानों की अपेक्षा पर्याप्ति और प्राणों का निरूपण—

बारहवें गुणस्थान तक सभी पर्याप्तियां और सभी प्राण होते हैं, तेरहवें गुणस्थान में भावेन्द्रिय नहीं होती; किन्तु द्रव्येन्द्रिय की अपेक्षा छहों पर्याप्तियां और वचन बल, श्वासोच्छ्वास, आयु तथा काय बल ये चार प्राण होते हैं। इसी गुणस्थान के अन्त में वचन बल के नष्ट हो जाने पर तीन और श्वासो-च्छ्वास का अभाव होने पर दो प्राण होते हैं और चौदहवें गुणस्थान में कायबल का अभाव हो जाने से मात्र आयु प्राण रहता है।

सिद्ध भगवान् के द्रव्य प्राणों का सर्वथा अभाव है। भाव प्राणों की अपेक्षा मात्र क्षायिक ज्ञान और क्षायिक वीर्य-बल है।



# गुणस्थान

[ लेखक—श्री ब्र० प्यारेलालजी बड़जात्या, अजमेर ]

मोह और योग के निमित्त से आत्मा के गुणों में जो तारतम्य होता है उसे गुणस्थान कहते हैं। ये गुणस्थान—१ मिथ्यात्व २ सासादन ३ मिश्र ४ अविरत सम्यग्दृष्टि ५ देश विरत ६ प्रमत्त-विरत ७ अप्रमत्त विरत ८ अपूर्व करण ९ अनिवृत्ति करण १० सूक्ष्म सांपराय ११ उपशांत-मोह १२ क्षीण मोह १३ सयोग केवली जिन और १४ अयोग केवली जिन के भेद से चौदह प्रकार के होते हैं। इनमें प्रारम्भ के १२ गुणस्थान मोह के सम्बन्ध से होते हैं और अन्त के दो गुणस्थान योग के सम्बन्ध से होते हैं। ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान में यद्यपि मोह का उदय नहीं रहता है तथापि उसके उपशम और क्षय की अपेक्षा रहती है। इसी प्रकार चौदहवें गुणस्थान में यद्यपि योग का सद्भाव नहीं है तथापि उसके अभाव की अपेक्षा रहती है। इन गुणस्थानों का स्वरूप इस प्रकार है—

## १ मिथ्यात्व —

दर्शन मोह की मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से जहां अतत्त्व श्रद्धान रूप परिणाम रहता है उसे मिथ्यात्व गुणस्थान कहते हैं। अनादि काल से यह जीव इसी गुणस्थान में रहता चला आया है। एकान्त विपरीत, संशय, अज्ञान और वैनयिक मिथ्यात्वरूप परिणामों के कारण यह वर्तमान में दुःखी रहता है और नवीन कर्म बन्धकर आगामी पर्यायों में भी दुःखी रहने के साधन जुटाता रहता है। इस गुण-स्थानवर्ती जीव को सच्चा उपदेश भी अरुचिकर मालूम होता है। जिस प्रकार मलेरिया ज्वर से पीड़ित मनुष्य को मिष्ट दुग्ध भी कड़ुवा लगता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व से ग्रस्त जीव को सद्गुरुओं का उपदेश भी अरुचिकर लगता है।

इस मिथ्यात्व गुणस्थान के स्वस्थान और सातिशय की अपेक्षा २ भेद हैं। जो अपनी मिथ्यात्व की ही अवस्था में रत पत रहा है, वह स्वस्थान मिथ्यादृष्टि कहलाता है और जो सम्यग्दर्शन धारण करने के सम्मुख हो अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणरूप परिणाम कर रहा है, वह साति-शय मिथ्यादृष्टि कहलाता है। यह सातिशय मिथ्यादृष्टि जीव अपनी विशुद्धता के द्वारा नवीन बध्यमान कर्मों की स्थिति को अन्तः कोड़ाकोड़ी सागर से अधिक नहीं बांधता और सत्ता में स्थित कर्मों की स्थिति को उससे संख्यात हजार सागर कम करता है। इसी विशुद्धता के द्वारा मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी चतुष्क इन पांच प्रकृतियों का उपशम कर सम्यग्दृष्टि होता हुआ चतुर्थ गुणस्थान को प्राप्त होता है। जिस सादि मिथ्यादृष्टि के सम्यक्त्व प्रकृति तथा सम्यक् मिथ्यात्व प्रकृति की सत्ता है वह सात प्रकृतियों का उपशम कर उपशम सम्यग्दृष्टि बनता है।

सर्वघाति मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी चतुष्क इन [illegible] सर्वघाति प्रकृतियों का उदयाभावी क्षय और सदवस्थारूप उपशम तथा सम्यक्त्व [illegible] नामक [illegible] घाति का उदय

रहते हुए क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त होता है। यह क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, सादि मिथ्यादृष्टि को ही प्राप्त होता है अनादि मिथ्यादृष्टि को नहीं। कोई निकट भव्य जीव, क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन के बाद सत्ता में स्थित उपर्युक्त सात प्रकृतियों का क्षय कर क्षायिक सम्यग्दृष्टि बनता है।

## २ सासादन सम्यग्दृष्टि —

चतुर्थ गुणस्थान में उपशम सम्यक्त्व का काल जब कम से कम एक समय और अधिक से अधिक छह आवली प्रमाण बाकी रह जाता है, तब अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ में से किसी एक प्रकृति का उदय आने पर यह जीव चतुर्थ गुणस्थान से भ्रष्ट हो जाता है और मिथ्यात्व के सन्मुख गमन करता है। जब तक मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं हुआ है तब तक की अवस्था को सासादन गुणस्थान कहते हैं। यह जीव नियम से मिथ्यात्व गुणस्थान को ही प्राप्त होता है। अनन्तानुबन्धी के उदय से इसका सम्यग्दर्शन आसादन—विराधना को प्राप्त हो जाता है इसे सासादन सम्यग्दृष्टि कहते हैं।

## ३ मिश्र —

चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव के यदि मिश्र प्रकृति का उदय आता है तो वह वहां से गिरकर मिश्र गुणस्थान में आता है। इस गुणस्थान में ऐसे भाव होते हैं जिन्हें न तो सम्यक्त्व रूप कह सकते हैं और न मिथ्यात्व रूप। इस गुणस्थान में किसी की मृत्यु नहीं होती, न मारणान्तिक समुद्घात होता है और न नवीन आयु का बन्ध ही होता है। इस गुणस्थान में रहने वाला जीव पतन करे तो प्रथम गुणस्थान में आता है और ऊपर चढ़े तो चतुर्थ गुणस्थान में जाता है।

## ४ अविरत सम्यग्दृष्टि —

जो अप्रत्याख्यानावरणादि चारित्र मोह की प्रकृतियों का उदय होने से चारित्र धारण नहीं कर सकता मात्र जिनेन्द्र प्रणीत तत्त्वों का श्रद्धान करता है उसे अविरत सम्यग्दृष्टि कहते हैं। यह यद्यपि पांच इन्द्रियों के विषयों तथा त्रस–स्थावर जीवों की हिंसा से विरक्त नहीं है तथापि पञ्चेन्द्रियों के विषयों को अन्याय पूर्वक सेवन नहीं करता। इसके प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य भाव प्रकट होते हैं। यदि किसी सिंहादिक दुष्ट जीव को सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है तो वह समाधिमरण कर आयु पूर्ण करता है।

प्रारम्भ के चार गुणस्थान चारों गतियों में हो सकते हैं, परन्तु सासादन गुणस्थान अपर्याप्त नारकियों के नहीं होता और मिश्र गुणस्थान सभी गतियों की पर्याप्तक अवस्था में ही होता है अपर्याप्तक अवस्था में नहीं होता। चतुर्थ गुणस्थान वाला मनुष्य पतन की अपेक्षा तीसरे, दूसरे और पहले गुण-स्थान में आ सकता है और ऊपर चढ़ने की अपेक्षा पांचवें और सातवें गुणस्थान में जा सकता है। छठवें

गुणस्थान में सातवें से गिरकर ही आ सकता है। इस गुणस्थान में औपशमिक, क्षायोपशमिक तथा क्षायिक तीनों सम्यग्दर्शन हो सकते हैं।

### ५ देश विरत —

अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ का क्षयोपशम होने पर जिस सम्यग्दृष्टि जीव के हिंसादि पांच पापों का एकदेश त्याग हो जाता है उसे देशविरत कहते हैं। प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय की हीनाधिकता के कारण देशविरत भाव के दर्शनादि प्रतिमारूप ११ भेद होते हैं। इसकी त्रस हिंसादि स्थूल पापों से विरति हो जाती है परन्तु स्थावर हिंसा आदि सूक्ष्म पापों से विरति नहीं हो पाती, इसलिये यह एक ही काल में विरता-विरत कहलाता है।

यह गुणस्थान मनुष्य और तिर्यंच गति में ही होता है, देव और नरक गति में नहीं। मनुष्य और तिर्यंच गति में भी कर्मभूमिज मनुष्य और तिर्यंचों के ही होता है। भोग भूमिज मनुष्य-तिर्यंचों के नहीं। यदि कोई मनुष्य उपरितन गुणस्थानों में चढ़ता है तो सातवें गुणस्थान में जाता है, वहां से गिर कर छठवें गुणस्थान में आता है और पतन की अपेक्षा चतुर्थादि गुणस्थानों में आता है।

करणानुयोग की पद्धति से यह देशविरत गुणस्थान उसी मनुष्य या तिर्यंच के होता है जिसके या तो नवीन आयु कर्म का बन्ध नहीं हुआ है और यदि हुआ है तो देवायु का ही बन्ध हुआ है। जिस जीव के देवायु के सिवाय अन्य आयु का बन्ध हुआ है उस जीव के उस पर्याय में देशव्रत धारण करने का भाव नहीं होता है। यही बात महाव्रत धारण करने की भी है। यहां तीनों सम्यग्दर्शन हो सकते हैं।

### ६ प्रमत्त विरत —

जहां प्रत्याख्यानावरण कषाय का क्षयोपशम होने से हिंसादि पांच पापों का सर्वदेश त्याग हो जाता है परन्तु संज्वलन कषाय का अपेक्षाकृत तीव्र उदय रहने से प्रमाद विद्यमान रहता है उसे प्रमत्तविरत कहते हैं। इस गुणस्थान को धारण करने वाला मनुष्य निर्ग्रंथ मुद्रा का धारक होकर अट्ठाईस मूल गुणों का निर्दोष पालन करता है। यह गुणस्थान मात्र मनुष्य गति में होता है। मुनिव्रत धारण करने की इच्छा रखने वाला अविरत सम्यग्दृष्टि या देशविरत श्रावक पहले सप्तम गुणस्थान को प्राप्त होता है पश्चात् अन्तमुंहूर्त के बाद पतन कर छठवें गुणस्थान में आता है, सीधा छठवें गुणस्थान को प्राप्त नहीं होता है।

मुनि दीक्षा धारण करने का जिसका अभिप्राय होता है उसके प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय उत्तरोत्तर मन्द होने लगता है। उसी मन्द उदय के काल में वह आचार्य महाराज से मुनि दीक्षा देने की प्रार्थना करता है, उसकी योग्यता को जान कर आचार्य महाराज उसे आज्ञा देते हैं। उसी मन्द उदय के काल में वह वस्त्रादि बाह्य परिग्रह का परित्याग कर केशलोंच करता है। तदनन्तर विशुद्धता

के बढ़ने से सप्तम गुणस्थान को प्राप्त होता है पश्चात् संज्वलन के उदय में अपेक्षाकृत अधिकता आ जाने से छठवें गुणस्थान में आ जाता है। वस्त्र-सहित अवस्था में सप्तम गुणस्थान नहीं होता। सातवें से छठवें गुणस्थान में आना और छठवें से सातवें गुणस्थान में जाना, यह क्रिया हजारों बार होती रहती है। परिणामों की ऐसी ही विचित्रता होती है। इस गुणस्थान में तीनों सम्यग्दर्शन हो सकते हैं।

## ७ अप्रमत्तविरत —

संज्वलन क्रोध मान माया लोभ का उदय मन्द पड़ जाने पर जब प्रमाद का अभाव हो जाता है तब अप्रमत्त विरत नामक सातवां गुणस्थान प्रकट होता है। इसके स्वस्थान और सातिशय की अपेक्षा दो भेद हैं। जो छठवें और सातवें की भूमिका में ही झूलता रहता है वह स्वस्थान अप्रमत्त विरत है और जो आगे की श्रेणी चढ़ने का उपक्रम कर रहा है वह सातिशय अप्रमत्त विरत कहलाता है। उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी के भेद से श्रेणी के दो भेद हैं। चारित्र मोह का उपशम, जिसके फलस्वरूप होता है उसे उपशम श्रेणी कहते हैं और चारित्र मोह का क्षय, जिसके फलस्वरूप होता है उसे क्षपक श्रेणी कहते हैं। क्षपक श्रेणी की प्राप्ति क्षायिक सम्यग्दृष्टि को ही होती है परन्तु उपशम श्रेणी की प्राप्ति द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि और क्षायिक सम्यग्दृष्टि दोनों को हो सकती है। प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि और क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि का श्रेणी में प्रवेश नहीं होता।

सप्तम गुणस्थान के सातिशय भेद में अधःकरण नामक परिणाम होते हैं इसलिये इस गुणस्थान का दूसरा नाम अधःकरण भी है। यहां विशुद्धि का वेग प्रति समय नवीन-नवीन नहीं होता। अगले समय के परिणाम कुछ नये होते हैं और कुछ पिछले समय के परिणामों से मिलते-जुलते रहते हैं अतएव नाना जीवों की अपेक्षा इस गुणस्थान में सम समयवर्ती और विषम समयवर्ती जीवों के परिणामों में समानता और असमानता दोनों ही रहती हैं। जैसे प्रथम समयवर्ती जीवों के परिणाम एक से लेकर दश तक होते हैं और दूसरे समयवर्ती जीवों के परिणाम पांच से लेकर पन्द्रह तक होते हैं। यहां पांच से लेकर दश तक के परिणामों में समानता और शेष परिणामों में असमानता होती है।

## ८ अपूर्वकरण —

जहां प्रत्येक समय अपूर्व-अपूर्व नये-नये करण-परिणाम होते हैं उसे अपूर्वकरण कहते हैं। इस गुणस्थान में पिछले गुणस्थान की अपेक्षा विशुद्धता का वेग बढ़ता जाता है। जैसे प्रथम समय में यदि एक से लेकर दश तक के परिणाम थे तो दूसरे समय में ग्यारह से लेकर बीस तक के परिणाम होंगे। यहां नाना जीवों की अपेक्षा सम समयवर्ती जीवों के परिणामों में समानता और असमानता दोनों होती हैं परन्तु भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणामों में नियम से असमानता रहती है।

### ९　अनिवृत्तिकरण —

जहां एक काल में एक ही परिणाम होने से सम समयवर्ती जीवों के परिणामों में समानता ही रहती है और भिन्न समयवर्ती जीवोंके परिणामों में असमानता ही रहती है उसे अनिवृत्तिकरण कहते हैं। इन अनिवृत्तिकरणरूप परिणामों के प्रभाव से यह जीव चारित्र मोह की प्रकृतियों की स्थिति और अनुभाग को उत्तरोत्तर क्षीण करता जाता है। दशम गुणस्थान की अपेक्षा इस गुणस्थान में साम्पराय-कषाय बादर-स्थूल रहती है इसका दूसरा नाम बादरसाम्पराय भी है।

### १०　सूक्ष्मसाम्पराय —

जहां संज्वलन कषाय सम्बन्धी लोभ का ही सूक्ष्म उदय शेष रहने से अत्यन्त सूक्ष्म कषाय होती है उसे सूक्ष्मसाम्पराय कहते हैं। यह जीव यदि उपशमश्रेणी वाला है तो चारित्र मोह का उपशम कर चुकता है और यदि क्षपक श्रेणी वाला है तो बिलकुल क्षय कर चुकता है। इन श्रेणियों के गुणस्थानों में शुक्ल ध्यान का प्रथम भेद पृथक्त्ववितर्कविचार होता है, ऐसा उमास्वामी महाराज का कथन है परन्तु वीरसेन स्वामी का दशवें गुणस्थान तक धर्म्यध्यान होता है, ऐसा कथन है।

### ११　उपशान्त मोह —

उपशमश्रेणी वाला जीव चारित्र मोह का उपशम कर उपशान्त मोह नामक ग्यारहवें गुण-स्थान को प्राप्त होता है जिस प्रकार शरद ऋतु के तालाब का पानी ऊपर स्वच्छ हो जाता है उसी प्रकार इस गुणस्थानवर्ती जीव के परिणाम ऊपर स्वच्छ हो जाते हैं परन्तु सत्ता में मोह कर्म के विद्यमान रहने से अन्तर्मुहूर्त बाद नियम से मलिन हो जाते हैं। इस गुणस्थान में जीव के औपशमिक यथाख्यातचारित्र प्रकट होता है। इसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त की ही होती है उसके बाद नियम से गिरकर नीचे आता है।

### १२　क्षीण मोह —

जिसमें मोह कर्म का सर्वथा क्षय हो जाता है उसे क्षीण मोह कहते हैं। क्षपक श्रेणी वाला जीव दशवें गुणस्थान के बाद सीधा क्षीणमोह गुणस्थान को प्राप्त होता है। यहां जीव क्षायिक यथा-ख्यातचारित्र को प्राप्त होता है और दूसरे शुक्ल ध्यान—एकत्ववितर्क के प्रभाव से शेष घातिया कर्मों तथा नाम कर्म की तेरह प्रकृतियों का क्षय करता है। यह जीव अन्तर्मुहूर्त के भीतर नियम से केवल-ज्ञानी बनकर अरहन्त पद को प्राप्त होता है।

### १३　सयोग केवली जिन —

जो योग से सहित केवली जिनेन्द्र हैं उन्हें सयोग केवली जिन कहते हैं। चार घातिया कर्मों का

क्षय हो जाने से यह गुणस्थान प्राप्त होता है। यहां से अरहन्त संज्ञा प्राप्त हो जाती है। तीर्थंकरों की समवसरण की रचना होती है तथा दिव्यध्वनि खिरती है सामान्य केवलियों की गन्ध कुटी की रचना होती है, और दिव्यध्वनि भी खिरती है। उपसर्ग केवलियों और मूक केवलियों की दिव्यध्वनि नहीं खिरती। केवली भगवान् की दिव्यध्वनि तथा विहाररूप क्रिया बिना इच्छा के होती है। इस गुणस्थान के अन्त में सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामका तीसरा शुक्ल ध्यान होता है जिससे बहुत भारी निर्जरा होती है परन्तु क्षय किसी प्रकृति का नहीं होता है। श्री वीरसेनाचार्य के मतानुसार इस तीसरे पाये का फल योग निरोध है। इस गुणस्थान में जीव अन्तर्मुहूर्त से लेकर देशोन कोटी वर्ष पूर्व तक रहता है।

## १४ अयोग केवली जिन —

जिसमें योगों का सर्वथा अभाव हो जाता है उसे अयोग केवली जिन कहते हैं। इस गुणस्थान में शुक्ल ध्यान का चौथा भेद व्युपरतक्रियानिवर्ति प्रकट होता है उसके प्रभाव से उपान्त्य समय में ७२ और अन्त्य समय में १३ प्रकृतियों का क्षय करके यह जीव निर्वाणधाम को प्राप्त होता है। इस गुणस्थान का काल अ, इ, उ, ऋ, लृ इन पांच लघु अक्षरों के उच्चारण काल के बरावर है। मध्य लोक से सिद्धालय तक पहुँचने में एक समय लगता है। लोक के अन्त में तनुवातवलय का उपरितन पांच सौ पचीस धनुष प्रमाण क्षेत्र सिद्धालय कहलाता है, उसी में सब सिद्धों का निवास रहता है। सिद्धों की जघन्यतम अवगाहना साढ़े तीन हाथ की और उत्कृष्टतम अवगाहना पांच सौ पच्चीस धनुष की रहती है। इससे कम या अधिक अवगाहना वाले मनुष्यों को मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती।

ये गुणस्थान संसारी जीवों की अशुद्ध परिणति रूप ही हैं, अतः सिद्ध भगवान् इनसे परे होते हैं।



## जिनवाणी और मिथ्यावाणी

कैसे करि केतकी कनेर एक कहि जाय, आक दूध गाय दूध अन्तर घनेर है।
पीरी होत रीरी पै न रीस करे कंचन की, कहां काग-वानी कहां कोयल की टेर है॥
कहां भान भारौ कहां आगिया विचारौ कहां, पूनौ को उजारौ कहां मावस अंधेर है।
पक्ष छोरि पारखी निहारौ नेक नीके करि, जैन बैन और बैन इतनौ ही फेर है।

# त्रिलोक-परिचय

[ लेखक:—ब्र० श्री प्रद्युम्नकुमारजी M. A. शान्ति निकेतन, ईसरी ]

इस लोक में ऐसा एक भी प्राणी नहीं है जो दुःख निवृत्ति और सुख प्राप्ति का इच्छुक न हो। यही कारण है कि धर्मतीर्थ के प्रवर्तक तीर्थंकर अनादि काल से सुख प्राप्ति के प्रधान साधनभूत मोक्षमार्ग का उपदेश देते आ रहे हैं। जिस प्रकार आत्मस्वरूप परिज्ञान और परमात्म स्वरूप परिज्ञान का होना मोक्षमार्ग के लिये आवश्यक है, उसी प्रकार यथार्थ त्रिलोक-परिज्ञान का होना भी आवश्यक है।

सर्वज्ञ भगवान ने लोकालोक को प्रत्यक्ष देखकर उसके स्वरूप को अपनी दिव्यध्वनि में बताया है अतः ये त्रिलोक-स्वरूप कल्पित या अनुमानित नहीं हैं।

'लोक' शब्द 'लुक्' धातु से बना है जिसका अर्थ है देखना। अतः जितने क्षेत्र में अनन्तानन्त जीव द्रव्य, जीवों से भी अनन्तानन्त गुणे पुद्गल द्रव्य, एक धर्म द्रव्य, एक अधर्म द्रव्य, एक आकाश द्रव्य और असंख्यात कालाणु द्रव्य देखे जाते हैं, उसे लोक कहते हैं। [ "धर्माधर्मादीनि द्रव्याणि यत्र लोक्यन्ते स लोकः।" सर्वार्थ०, पृष्ठ १७६ ] ये सभी द्रव्य अनादि अनन्त स्वतःसिद्ध और अखण्ड होने के साथ-साथ अपनी सहायता से ही प्रति समय परिणमन करते हैं। अतः ये लोक किसी के द्वारा बनाया हुआ नहीं है, अनादि अनन्त है। [ त्रिलोक सार में भी लिखा है—"लोगो अकिट्टिमो खलु अणाइ णिहणो सहावणिव्वत्तो। जीवा जीवेहि फुडो सव्वागासवयवो णिच्चो ॥४॥ अर्थ—लोक अकृत्रिम है, अनादि अनन्त है, स्वभाव से निष्पन्न है, जीव-अजीव द्रव्यों से भरा हुआ है, समस्त आकाश का अंग है और नित्य है। ]

आकाश अनन्त प्रदेशी एक अखण्ड सर्वव्यापी द्रव्य है उसके बहु मध्यभाग में, कमरे में लटकते हुये वस्त्र की भांति शेष पांच प्रकार के द्रव्यों से पूरित असंख्यात प्रदेशों वाला लोक है और चारों तरफ फैले हुये शेष अनन्त प्रदेशी आकाश की अलोक संज्ञा है।

आज की इन्द्रियग्राह्य प्रणाली में २४-२५ हजार मील के विस्तार वाली दुनियां मानी जा रही है। मानो, परन्तु ये अन्वेषक भी मानी हुई दुनियां से अधिक २ स्थल पाये जाने पर और-और मानते चले आये हैं इससे यह नहीं माना जा सकता कि जहां तक हमलोग आ जा सके हैं उतनी ही दुनियां है। जैसे जब अमेरिका देश की स्थिति का पता नहीं था, तब हम 'अमेरिका कोई देश होगा' ऐसा स्वीकार नहीं करते थे, परन्तु आज प्रत्यक्ष को प्रमाण की क्या आवश्यकता? तद्वत् यद्यपि आज स्वर्ग-नरक आदि लोक हमको दृष्टिगत नहीं, तो भी इसका यह अर्थ नहीं कि वे हैं ही नहीं, क्योंकि सर्वज्ञ भगवान को कोई स्वार्थ नहीं था जिससे वे असत्य भाषण करते। हमको उन लोकों का पता नहीं, तो यह हमारे ज्ञान की कमी है। हमें अपने ज्ञान को विशुद्ध बनाना चाहिये तथा भगवान के वचनों पर विश्वास करके उसको प्रत्यक्ष करने का प्रयत्न करना चाहिये।

जैन सिद्धान्त में पैर फैलाये, कमर पर हाथ रखे, खड़े हुये मनुष्य का जैसा आकार होता है, वैसा लोक एक पुरुषाकार है। लोक की ऊँचाई चौदह राजू, मोटाई ( उत्तर और दक्षिण दिशा में ) सर्वत्र सात राजू है। पूर्व और पश्चिम दिशा में चौड़ाई मूल में सात राजू, सात राजू की ऊँचाई पर एक राजू, साड़े दश राजू की ऊँचाई पर पाँच राजू और अन्त में एक राजू है। गणित करने पर लोक का क्षेत्रफल ३४३ घन राजू होता है। राजू एक पैमाना है जो कि असंख्यात मीलों का होता है। यह लोक सब तरफ से तीन वात ( पवन ) वलयों से वेष्टित है अर्थात् लोक, घनोदधि वातवलय से, घनोदधि, घनवातवलय से और घनवातवलय तनुवातवलय से वेष्टित है। तनुवातवलय आकाश के आश्रय है और आकाश अपने ही आश्रय है। उसको दूसरे आश्रय की आवश्यकता नहीं है क्योंकि आकाश सर्वव्यापी है। इस लोक के बिलकुल बीच में १ राजू चौड़ी १ राजू लम्बी और १४ राजू ऊँची त्रस नाड़ी है, जिसमें त्रस और स्थावर जीव रहते हैं और उस त्रसनाड़ी के बाहर शेष ३२९ राजू के स्थान में स्थावर जीव रहते। तथा उपपाद मारणान्तिक समुद्घात और लोक पूर्ण समुद्घात की अपेक्षा त्रस भी पाये जाते हैं।

इस लोकके तीन भाग हैं १-अधोलोक २-मध्यलोक ३-ऊर्ध्वलोक, मूल से सात राजू की ऊँचाई तक अधोलोक है, सुमेरु पर्वत की ऊँचाई (१ लाख ४० योजन) के समान मध्यलोक है, और सुमेरु पर्वत के ऊपर अर्थात् १ लाख ४० योजन कम सात राजू प्रमाण ऊर्ध्वलोक है।

## ( अधो लोक )

नीचे से लगाकर मेरु की जड़पर्यन्त सात राजू ऊँचा अधोलोक है। जिस पृथ्वी पर हम निवास करते हैं उस पृथ्वी का नाम चित्रा पृथ्वी है इसकी मोटाई १ हजार योजन है और यह पृथ्वी मध्य लोक में गिनी जाती है सुमेरु पर्वत की जड़ एक हजार योजन चित्रा पृथ्वी के भीतर है, तथा ९९ वें हजार योजन चित्रा पृथ्वी के ऊपर है और ४० योजन की चूलिका है। सब मिलकर १ लाख ४० योजन ऊँचा मध्य लोक है। मेरु की जड़ के नीचे से अधो लोक का प्रारम्भ है। सबसे प्रथम मेरु पर्वत की आधारभूत रत्नप्रभा नाम की पृथ्वी है इस पृथ्वी का व शेष ६ पृथ्वियों का पूर्व पश्चिम और उत्तर दक्षिण दिशा में लोक के अन्त पर्यन्त विस्तार है। मोटाई का प्रमाण सबका भिन्न-भिन्न है। रत्नप्रभा पृथ्वी की मोटाई १ लाख ८० हजार योजन है इसके, १६ हजार योजन मोटा खर भाग, ८४ हजार योजन मोटा पंक भाग और ८० हजार योजन मोटा अब्बहुल भाग, ये तीन भाग हैं जिनमें खरभाग में असुरकुमार देवों के सिवाय नौ प्रकार के भवनवासी देवों के और राक्षसों के सिवाय सात प्रकार के व्यन्तर देवों के निवास स्थान हैं। पंक भाग में असुरकुमार तथा राक्षसों का निवास है। भवनवासी देवों के भवनों में ७ करोड़ ७२ लाख अकृत्रिम जिन मन्दिर हैं। नीचे के अब्बहुल भाग तथा शेष की छः पृथ्वियों में नारकियों का निवास है। इससे नीचे कुछ कम एक राजू आकाश जाकर शर्करा प्रभा नाम की दूसरी पृथ्वी ३२ हजार योजन मोटी है। इससे नीचे कुछ कम एक राजू आकाश जाकर वालुका प्रभा नाम की तीसरी पृथ्वी २८

हजार योजन मोटी है। इससे नीचे कुछ कम एक राजू आकाश जाकर २४ हजार योजन मोटी पंक प्रभा नाम की ४ थी पृथ्वी है। इसके नीचे कुछ कम १ राजू आकाश जाकर २० हजार योजन मोटी धूम प्रभा नाम की ५ वीं पृथ्वी है। इसके नीचे कुछ कम १ राजू आकाश जाकर १६ हजार योजन मोटी तमः- प्रभा नाम की छठवीं पृथ्वी है। इसके नीचे कुछ कम एक राजू आकाश जाकर ८ हजार योजन मोटी महातमः नाम की सातवीं पृथ्वी है। इसके नीचे भूमि रहित १ राजू प्रमाण जो क्षेत्र है वह निगोदादि पञ्च स्थावरों से भरा हुआ है। घनोदधि, घनवात, और तनुवात नाम के जो तीन वातवलय हैं वे रत्नप्रभादि प्रत्येक पृथ्वी के आधारभूत हैं। इन सातों पृथ्वियों के क्रम से धम्मा, वंशा मेघा, अंजना, अरिष्टा, मघवी और माघवी ये सात रूढ़िगत नाम हैं।

नारकियों के निवासरूप सातों पृथ्वियों में अपनी २ मोटाई में नीचे और ऊपर एक २ हजार योजन छोड़कर भूमि में तलघरों की तरह ४९ पटल हैं। पहली पृथ्वी के अब्बहुल भाग में १३, दूसरी में ११, तीसरी में ९, चौथी में ७, पाँचवीं में ५, छठवीं में ३, और सातवीं पृथ्वी में १ पटल है। अब्बहुल भाग के १३ पटलों में से पहले पटल का नाम सीमन्तक पटल है। इस सीमन्तक पटल में सबके मध्य में मनुष्य लोक के समान ४५ लाख योजन प्रमाण चौड़ा गोल ( कूपवत् ) इन्द्रक बिल ( नरक ) है। चारों दिशाओं में असंख्यात योजन चौड़े ४९-४९ श्रेणीबद्ध बिल हैं और चारों विदिशाओं में ४८-४८ असंख्यात योजन चौड़े श्रेणीबद्ध बिल हैं तथा दिशा विदिशाओं के बीच में प्रकीर्णक ( फुटकर ) बिल हैं जिनमें कोई असंख्यात योजन चौड़े और कोई संख्यात योजन चौड़े हैं। इसी प्रकार पूर्वोक्त जो सातों पृथ्वियों में ४९ पटल हैं उनमें भी बिलों का ऐसा ही क्रम है किन्तु प्रत्येक पटल में आठों दिशाओं के श्रेणीबद्ध बिलों में से एक-एक बिल घटता गया है, अतः सातवीं पृथ्वी में चारों दिशाओं में एक-एक बिल ही रह जाता है। प्रथम पृथ्वी के अब्बहुल भाग में ३० लाख बिल, दूसरी में २५ लाख, तीसरी में १५ लाख, चौथी में १० लाख, पाँचवीं में ३ लाख, छठवीं पृथ्वी में ५ कम १ लाख और सातवीं पृथ्वी में ५ ही नरक बिल हैं। सातों पृथ्वियों के इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक नरकों का जोड़ ८४ लाख है। इन्हीं नरकों में नारकी जीवों का निवास है।

पहली पृथ्वी के पहले पटल में नारकियों के शरीर की ऊंचाई तीन हाथ है और वहां से क्रम से बढ़ती हुई तेरहवें पटल में ७ धनुष ३। हाथ की ऊंचाई है। तदनन्तर दूसरी आदि पृथ्वियों के अन्त के इन्द्रक बिलों में दूनी २ वृद्धि करने से सातवीं पृथ्वी में नारकियों के शरीर की ऊंचाई ५०० धनुष है। ऊपर के नरक में जो उत्कृष्ट ऊंचाई है उससे कुछ अधिक नीचे के नरक में जघन्य ऊंचाई है। पहली पृथ्वी में नारकियों की जघन्य आयु १० हजार वर्ष की है उत्कृष्ट आयु १ सागर है। प्रथमादि पृथ्वियों में जो उत्कृष्ट आयु है उससे एक समय अधिक द्वितीयादि पृथ्वियों में जघन्य आयु है। द्वितीयादिक पृथ्वियों में क्रम से तीन, सात, दस, सत्रह, बाईस और तेतीस सागर की उत्कृष्ट आयु है।

नारकी मरण करके नरक और देवगति में नहीं उपजते किन्तु मनुष्य और तिर्यञ्च गति में ही उपजते हैं। इसी प्रकार मनुष्य और तिर्यञ्च ही मरकर नरकगति में उपजते हैं। देवगति से मरण करके कोई जीव नरक में उत्पन्न नहीं होते। असंज्ञी पञ्चेन्द्री जीव ( मन रहित ) मरकर पहले नरक तक ही जाते हैं आगे नहीं जाते। सरीसृप जाति के जीव दूसरी पृथ्वी तक, पक्षी तीसरे नरक तक, सर्प चौथे नरक तक, सिंह पाँचवें नरक तक, स्त्री छठवें नरक तक और कर्मभूमि के मनुष्य और मत्स्य सातवें नरक तक ही जाते हैं। भोगभूमि के जीव नरक को नहीं जाते, किन्तु देव ही होते हैं। यदि कोई जीव निरन्तर नरक को जाये तो पहले नरक में ८ बार, दूसरे में ७ बार, तीसरे में ६ बार, चौथे में ५ बार, पाँचवें में ४ बार, छठे में ३ बार और सातवें नरक में २ बार तक निरन्तर जा सकता है, अधिक बार नहीं जा सकता। यहाँ नरक से निकल कर प्राप्त होने वाले मनुष्य और तिर्यञ्च पर्याय की विवक्षा को गौण किया गया है क्योंकि नरक से निकल कर कोई नारकी नहीं होता है। किन्तु जो जीव सातवें नरक से आया है उसे किसी नरक में अवश्य जाना पड़ता है ऐसा नियम है। सातवें नरक से निकल कर मनुष्य गति नहीं पाता, किन्तु तिर्यञ्च गति में अव्रती ही उपजता है। छठवें नरक से निकले हुये जीव संयम ( मुनिपद ) धारण नहीं कर सकते। पाँचवें नरक से निकले हुये जीव मोक्ष नहीं जा सकते। चौथी पृथ्वी से निकले हुये तीर्थंकर नहीं होते, किन्तु पहले, दूसरे और तीसरे नरक से निकले हुये तीर्थंकर हो सकते हैं। नरक से निकले हुये जीव बलभद्र, नारायण, प्रतिनारायण और चक्रवर्ती नहीं होते।

जो जीव हिंसक, चुगल, दगाबाज, चोर, डाकू, व्यभिचारी और अधिक-तृष्णा वाले होते हैं वे मरकर पापोदय से नरकगति में जन्म लेते हैं जहाँ कि नाना प्रकार के भयानक तीव्र दुःखों को भोगते हैं। पहली ४ पृथिवियों में तथा पाँचवीं पृथ्वी के २ लाख विलों में उष्णता की तीव्र वेदना है तथा नीचे के नरकों में शीत की तीव्र वेदना है। तीसरी पृथ्वी पर्यन्त असुरकुमार जाति के देव आकर नारकियों को परस्पर लड़ाते हैं, नारकियों का शरीर सदा अनेक रोगों से ग्रसित रहता है और परिणामों में नित्य क्रूरता बनी रहती है। नरकों की पृथ्वी महा दुर्गन्ध और अनेक उपद्रवों सहित होती है। नारकी जीवों में परस्पर जाति-विरोध होता है। परस्पर एक दूसरे को नाना प्रकार का घोर दुःख देते हैं। छेदन, भेदन, ताड़न, मारण आदि नाना प्रकार की घोर वेदनाओं को भोगते हुये निरन्तर दुस्सह घोर दुःख का अनुभव करते रहते हैं। कोई किसी को कोल्हू में पेलता है, कोई गरम लोहे की पुतली से आलिंगन कराता है तथा वज्राग्नि में पकाता है तथा पीव के कुण्ड में पटकता है। बहुत कहने से क्या, नरक के एक समय के दुःख को सहस्र जिह्वा वाला भी वर्णन नहीं कर सकता। जिसकी जितनी आयु है उसको उतने काल-पर्यन्त ये दुःख भोगने ही पड़ते हैं। क्योंकि नरक में अकाल मृत्यु नहीं है। इस नरक की वेदनाओं से बचने वालों को जुआ, चोरी, मद्य, माँस, वेश्या, पर स्त्री तथा शिकार आदिक महापापों को दूर से ही छोड़ देना चाहिये।

## ( मध्य-लोक )

मध्य लोक एक राजू तिर्यग् विस्तार वाला है इसके ठीक बीच में सुदर्शन नामक मेरु पर्वत है। यह जम्बूद्वीप के ठीक बीच में है जिस द्वीप में हम रहते हैं यह वही जम्बूद्वीप है इसका विस्तार एक लाख योजन का है। जम्बूद्वीप को खाई की तरह घेरे हुये गोलाकार लवणसमुद्र है। इस लवणसमुद्र की चौड़ाई सर्वत्र दो लाख योजन है। पुनः लवणसमुद्र को चारों तरफ से घेरे हुये गोलाकार धातकीखण्ड द्वीप है जिसकी चौड़ाई सर्वत्र ४ लाख योजन है। धातकी खण्ड को चारों तरफ से घेरे हुये ८ लाख योजन चौड़ा कालोदधि समुद्र है तथा कालोदधि समुद्र को घेरे हुये १६ लाख योजन चौड़ा पुष्करवर द्वीप है। इसी प्रकार से दूने २ विस्तार को लिये असंख्यात द्वीप समुद्र हैं अन्त में स्वयम्भूरमण समुद्र है चारों कोनों में पृथ्वी है। पुष्करवर द्वीप के बीचों बीच मानुषोत्तर पर्वत है जिससे पुष्कर द्वीप के दो भाग हो गये हैं। जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड और पुष्करार्द्ध इस प्रकार अढ़ाई द्वीप में मनुष्य रहते हैं। अढ़ाई द्वीप के बाहर मनुष्य नहीं हैं तथा तिर्यञ्च समस्त मध्य लोक में निवास करते हैं। स्थावर जीव समस्त लोक में भरे हुये हैं। जलचर जीव लवणोदधि, कालोदधि और स्वयम्भूरमण इन तीन समुद्रों में ही होते हैं, अन्य समुद्रों में नहीं।

जम्बूद्वीपमें पूर्व पश्चिम लम्बे दोनों तरफ पूर्व और पश्चिम समुद्रों को स्पर्श करते हुये दक्षिण दिशा की ओर से हिमवन, महा हिमवन, निषध, नील, रुक्मि और शिखरी नाम के ६ पर्वत हैं। इन पर्वतों के कारण जम्बूद्वीप में सात क्षेत्र हैं। दक्षिण दिशा में किनारे पर प्रथम भरतक्षेत्र है। इसी भरतक्षेत्र के आर्य खंडमें हम रहते हैं। इस आर्य खंड के उत्तर में विजयार्द्ध पर्वत है, दक्षिण में लवणसमुद्र, पूर्व में महागङ्गा और पश्चिम में महा सिन्धु नदी है। भरतक्षेत्र की चौड़ाई ५२६ $\frac{6}{19}$ योजन है जिसके बिलकुल बीच में विजयार्द्ध पर्वत पड़ा हुआ है जिससे भरतक्षेत्र के दो खण्ड हो गये हैं तथा महागङ्गा और महा सिन्धु हिमवन् पर्वत से निकल विजयार्द्ध की गुफाओं में होती हुई पूर्व और पश्चिम समुद्र में जा मिली हैं जिससे भरतक्षेत्र के ६ खण्ड हो गये हैं, जिनमें एक आर्य खण्ड और पाँच म्लेच्छ खण्ड हैं। ये सब अकृत्रिम रचना दो हजार कोश के बराबर १ योजन वाले नाप के प्रमाण से हैं अतः आर्य खण्ड बहुत लम्बा चौड़ा है केवल हिन्दुस्तान को ही आर्य खण्ड नहीं समझना चाहिये परन्तु वर्तमान के एशिया, यूरोप, अफ्रीका, अमेरिका और आस्ट्रेलिया ये पाँचों महाद्वीप इस ही आर्य खण्ड में है। वर्तमान गंगा सिन्धु भी महागङ्गा और महा सिन्धु नहीं हैं। जम्बूद्वीप के [illegible] भाग बराबर इस प्रथम भरतक्षेत्र के बाद दूसरा हैमवतक्षेत्र, और तीसरा हरिक्षेत्र है। इसी प्रकार उत्तर दिशा में किनारे पर ऐरावत क्षेत्र, दूसरा हैरण्यवतक्षेत्र और तीसरा रम्यक क्षेत्र है। मध्यभाग का नाम विदेह क्षेत्र है। भरतक्षेत्र से उत्तर की ओर [illegible] विस्तार में हिमवान पर्वत है, [illegible] विस्तार में हैमवतक्षेत्र है, [illegible] विस्तार में महा हिमवान पर्वत है, [illegible] विस्तार में हरि क्षेत्र है, [illegible] विस्तार में निषध पर्वत है, [illegible] विस्तार में विदेह क्षेत्र है। इसके बाद उत्तर की ओर [illegible] विस्तार में नील पर्वत है, [illegible] विस्तार में रम्यकक्षेत्र है, [illegible] विस्तारमें रुक्मि पर्वत है, [illegible]

विस्तार में हैरण्यव्रत क्षेत्र है, $\frac{२}{१९०}$ विस्तार में शिखरी पर्वत है, $\frac{१}{१९०}$ विस्तार में ऐरावत क्षेत्र है जिसमें भरत क्षेत्र के समान रचना है।

उक्त हिमवतादि पर्वतों के ऊपर क्रम से पद्म, महापद्म, तिगिञ्च्छ, केशरित्, महापुण्डरीक और पुण्डरीक ये अकृत्रिम ६ सरोवर हैं, इन पद्मादिक सब सरोवरों में एक-एक पार्थिव कमल है। उक्त भरतादि सात क्षेत्रों में एक-एक में दो-दो के क्रम से गंगा, सिन्धु, रोहित, रोहितास्या, हरित्, हरिकान्ता, सीतासीतोदा, नारी नरकान्ता, सुवर्णकूला, रूप्यकूला, रक्ता, रक्तोदा ये १४ नदी हैं। इन सात युगलों में से गंगादिक पहली-पहली नदियाँ पूर्व समुद्र में और सिन्धुवादिक पिछली-पिछली नदियाँ पश्चिम समुद्र में जाती हैं। गंगा, सिन्धु, रोहितास्या ये तीन नदी पद्म सरोवर में से निकली हैं, रक्ता, रक्तोदा और सुवर्णकूला पुण्डरीक सरोवर में से निकली हैं शेष चार सरोवर में से आठ नदियाँ निकली हैं। अर्थात् १-१ सरोवर में से १-१ पूर्वगामिनी और १-१ पश्चिम गामिनी इस प्रकार दो-दो नदियाँ निकली हैं। गंगा सिन्धु इन दो महा नदियों का परिवार १४-१४ हजार क्षुल्लक नदियों का है। रोहित, रोहितास्या का प्रत्येक का परिवार २८-२८ हजार नदियों का है इसी प्रकार सीता सीतोदा पर्यन्त दूना-दूना और आगे आधा-आधा परिवार नदियों का प्रमाण है।

विदेहक्षेत्र के बीचों बीच जो सुमेरु पर्वत है वह गोलाकार भूमि पर १० हजार योजन चौड़ा तथा ऊपर १ हजार योजन चौड़ा है। सुमेरु पर्वत के चारों तरफ भूमि पर भद्रशाल वन है। ५०० योजन ऊँचा चलकर चारों तरफ नन्दन वन है फिर नन्दन वन से ६२५०० योजन ऊँचा चलकर सुमेरु के चारों तरफ सौमनस वन है सौमनस से ३६ हजार योजन ऊँचा चलकर चारों तरफ पाण्डुक वन है। पाण्डुक वन में चारों दिशाओं में ४ शिलायें हैं जिन पर उस-उस दिशा के क्षेत्रों में उत्पन्न हुये तीर्थंकरों का अभिषेक होता है। इसका रङ्ग पीला है।

मेरु की चारों विदिशाओं में ४ गजदंत पर्वत हैं। दक्षिण और उत्तर भद्रसाल तथा निषध और नील पर्वत के बीच में देवकुरु और उत्तरकुरु हैं। मेरु की पूर्व दिशा में पूर्व विदेह और पश्चिम दिशा में पश्चिम विदेह है। पूर्व विदेह के बीच में होकर सीता और पश्चिम विदेह में होकर सीतोदा नदी पूर्व और पश्चिम समुद्र को गई है। इस प्रकार दोनों नदियों के दक्षिण और उत्तर तट की अपेक्षा से विदेह के ४ भाग हैं। इन चारों भागों में से प्रत्येक भाग में आठ-आठ देश हैं। इन आठ देशों का विभाग करने वाले वक्षार पर्वत तथा विभंगा नदी हैं। यानि १ पूर्व भद्रसाल वन की वेदी २ वक्षार, ३ विभंगा ४ वक्षार ५ विभंगा ६ वक्षार, ७ विभंगा ८ वक्षार ९ देवारण्य वन की वेदी इस प्रकार नौ सीमाओं के बीच में ८-८ देश हैं। इस प्रकार विदेह क्षेत्र में ३२ देश हैं।

जम्बूद्वीप से दूनी रचना धातकीखण्ड की और धातकीखंड के समान रचना पुष्करार्द्ध में है। धातकीखण्ड और पुष्करार्द्ध इन दोनों द्वीपों की दक्षिण और उत्तर दिशा में दो-दो इष्वाकार पर्वत हैं, जिससे इन दोनों द्वीपों के दो-दो खण्ड हो गये हैं इन दोनों द्वीपों के पूर्व और पश्चिम दिशा में दो-दो मेरु

हैं। अर्थात् दो मेरु धातकी खण्ड में और दो पुष्करार्द्ध में हैं। जिस प्रकार क्षेत्र, पर्वत, सरोवर, कमल और नदी आदि का कथन जम्बूद्वीप में है उतना ही उतना प्रत्येक मेरु का है।

मनुष्य लोक के भीतर १५ कर्मभूमि और ३० भोगभूमि हैं। एक-एक मेरु सम्बन्धी भरत, ऐरावत तथा देवकुरु और उत्तर कुरु को छोड़कर विदेह इस प्रकार तीन-तीन तो कर्मभूमि और हैमवत, हरि, देवकुरु, उत्तरकुरु, रम्यक् और हैरण्यवत् ये ६-६ भोग भूमि हैं। पाँचों मेरु की मिलकर १५ कर्मभूमि और ३० भोगभूमि हैं। जहाँ असि, मसि, कृष्यादि षट्कर्म की प्रवृत्ति हो उसको कर्म भूमि कहते हैं और जहाँ कल्पवृक्षों द्वारा भोगों की प्राप्ति हो उसको भोगभूमि कहते हैं। भोगभूमि के तीन भेद हैं उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य। हैमवत और हैरण्यवत क्षेत्रों में जघन्य भोगभूमि है, हरि, और रम्यक् क्षेत्रों में मध्यम भोगभूमि हैं और देवकुरु तथा उत्तर कुरु में उत्कृष्ट भोगभूमि है। मनुष्य लोक से, बाहर सर्वत्र जघन्य भोगभूमि की सी रचना है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीव भोगभूमि में नहीं होते। अर्थात् १५ कर्मभूमि और उत्तरार्द्ध अन्तिम द्वीप और अन्तिम समुद्र में ही विकलत्रय जीव हैं। तथा समस्त द्वीप समुद्रों में भी भवनवासी और व्यन्तर देव निवास करते हैं।

भरत और ऐरावत क्षेत्रों में उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी सम्बन्धी सुषमा-सुषमा आदि छहों काल चक्र सम्बन्धी परिवर्तन होता है जिसका स्वरूप तिलोयपण्णत्ति, त्रैलोक्यसार आदि ग्रन्थों से जानना। इतना विशेष है कि भरत, ऐरावत के म्लेच्छ खण्डों में और विजयार्द्ध पर्वत में चतुर्थ काल की आदि तथा अन्त के समान काल वर्तता है, अन्य काल नहीं वर्तता। भोगभूमियों में काल परिवर्तन नहीं होता। तथा विदेह क्षेत्र में सदा चौथा काल वर्तता है। समस्त विदेह क्षेत्र से सदा मुक्ति का मार्ग चलता रहता है, अनेक भव्य जीव मुक्त होते रहते हैं। तीर्थंकर भी सदा पाये जाते हैं।

मनुष्य लोक में ३९८ और तिर्यग् लोक—नन्दीश्वर द्वीप में ५२, कुण्डलगिरि पर ४, और रुचिक द्वीप में ४, अकृत्रिम चैत्यालय हैं। इस प्रकार मध्य लोक में सब अकृत्रिम चैत्यालय ४५८ हैं। ज्योतिषी देवों के विमानों में असंख्यात चैत्यालय हैं।

इस ही मध्य लोक में ज्योतिषी देवों का निवास है। चित्रा पृथ्वी से ७९० योजन ऊपर अन्तरिक्ष में जाने पर ज्योतिष लोक है इसमें सूर्य, चन्द्र, सितारे, ग्रह, उपग्रह आदि हैं। पृथ्वी से ७९० योजन ऊपर तारे हैं इनसे १० योजन ऊपर सूर्य, उससे ८० योजन ऊपर चन्द्रमा, ४ योजन ऊपर नक्षत्र, ४ योजन ऊपर बुध, ३ योजन ऊपर शुक्र, ३ योजन ऊपर बृहस्पति, ३ योजन ऊपर मङ्गल, ३ योजन ऊपर शनि और ये सब इस [illegible] बीच में हैं।

राहु और केतु का विमान क्रमशः सूर्य चन्द्रमा के नीचे गमन करता है। सूर्य [illegible] पहले है और चन्द्र [illegible] [illegible]। चन्द्र [illegible] है, और सूर्य [illegible]। एक सूर्य ८८ ग्रह, २८ नक्षत्र और ६६९७५ कोड़ाकोड़ी तारे, [illegible] एक चन्द्रमा का परिवार कहलाता है। जम्बूद्वीप में सूर्य चन्द्रमा दो-

दो, लवणसमुद्र में चार-चार, धातकी द्वीप में बारह-बारह, कालोदधि में ब्यालीस-ब्यालीस और पुष्करार्द्ध में बहत्तर-बहत्तर हैं। ढ़ाई द्वीप व दो समुद्रों में चन्द्र सूर्य घूमते हैं इसीसे यहाँ रात्रि दिन का विभाग होता है। इससे आगे के सूर्य चन्द्र अचल हैं। इस कारण वहाँ रात्रि दिन का विभाग भी नहीं है। ये सब मण्डल पृथ्वियां हैं, इनमें ज्योतिषी देव रहते हैं।

## ( ऊर्ध्व-लोक )

मेरु की चूलिका से ऊपर लोक के अन्त तक ऊर्ध्व लोक कहलाता है सौधर्म-ऐशान, सानत्कुमार-माहेन्द्र, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर, लान्तव-कापिष्ट, शुक्र-महाशुक्र, शतार-सहस्रार, आनत-प्राणत, आरण और अच्युत नामक १६ स्वर्ग हैं। ये कल्प कहलाते हैं क्योंकि इनमें इन्द्रादिकों की कल्पना की जाती है। इसके ऊपर नौ ग्रैवेयक विमान हैं, उसके ऊपर नौ अनुदिश नामक विमानों का एक पटल है उसके ऊपर पाँच विमानों की संख्या वाला पञ्चानुत्तर नामक एक पटल है। इस प्रकार इस ऊर्ध्व लोक में वैमानिक देवों का निवास है, ये कल्पातीत कहलाते हैं, क्योंकि यहाँ इन्द्रादिक की कल्पना नहीं हैं, सब अहमिन्द्र हैं।

मेरु की चूलिका से एक बाल के अन्तर पर ऋजु विमान है। यहीं से सौधर्म स्वर्ग का आरम्भ है। मेरुतल से १॥ राजू की ऊँचाई पर सौधर्म-ऐशान युगल का अन्त है इसके ऊपर १॥ राजू में सानत्कुमार-माहेन्द्र युगल है उससें ऊपर आधे-आधे राजू में ६ युगल हैं इस प्रकार ६ राजू में आठ युगल हैं। सौधर्म स्वर्ग में ३२ लाख विमान हैं, एशान स्वर्ग में २॥ लाख, सानत्कुमार में १२ लाख, माहेन्द्र में ८ लाख, ब्रह्म ब्रह्मोत्तर युगल में ४ लाख, लान्तव कापिष्ट में ५० हजार, शुक्र महाशुक्र युगल में ४० हजार शतार-सहस्रार युगल में ६ हजार आनत प्राणत और आरण अच्युत इन चारों स्वर्गों में सब मिलकर ७०० विमान हैं। तीन अधो ग्रैवेयक में १११, तीन मध्य ग्रैवेयक में १०६ और तीन ऊर्ध्व ग्रैवेयक में ९१ विमान हैं। अनुदिश में ६ और अनुत्तर में ५ विमान हैं। ये सब विमान ६३ पटलों में विभाजित हैं। प्रथम युगल में ३१ पटल दूसरे युगल में ७, तीसरे में ४, चौथे में २, पाँचवें में १, छठे में १, आनतादि चार-कल्पों में ६, नो ग्रैवेयक में ९, नो अनुदिश में १, और पञ्चानुत्तर में १ पटल है। इन पटलों में असंख्यात २ योजनों का अन्तर है। पटल के मध्य विमान को इन्द्रक विमान कहते हैं। अतः ६३ पटलों में ६३ इन्द्रक विमान हैं। चारों दिशाओं में जो श्रेणीवद्ध विमान हैं उनको श्रेणीवद्ध विमान कहते हैं। प्रथम पटल में प्रत्येक श्रेणीबद्ध विमानों की संख्या ६२-६२ है। द्वितीयादिक पटलों के श्रेणीवद्ध विमानों की संख्या में क्रम से १-१ घटकर बासठवें अनुदिश पटल में १-१ श्रेणीवद्ध विमान है। और इसी प्रकार अन्तिम अनुत्तर पटल में भी श्रेणीवद्धों की संख्या १-१ है। श्रेणियों के बीच में जो फुटकर विमान हैं उनको प्रकीर्णक कहते हैं। सौधर्म स्वर्गादि सम्बन्धी ये सब विमान ८४९६०२३ अकृत्रिम सुवर्णमय जिन चैत्यालयों से मण्डित हैं। १६ स्वर्गों में से दो-दो स्वर्गों में संयुक्त राज्य है। इस कारण दो-दो स्वर्गों का एक-एक युगल है। आदि के दो तथा अन्त के दो इस प्रकार चार युगलों में ८ इन्द्र हैं और मध्य के ४ युगलों के ४ ही इन्द्र हैं अतः इन्द्रों की अपेक्षा से स्वर्गों के १२ भेद हैं।

प्रथम युगल के प्रत्येक पटल में उत्तर दिशा के श्रेणीबद्ध तथा वायव्य और ईशान विदिशा के प्रकीर्णक विमानों में उत्तरेन्द्र ईशान की आज्ञा प्रवर्तती है शेष समस्त विमानों में दक्षिणेन्द्र सौधर्म की आज्ञा प्रवर्तती है। इसी प्रकार दूसरे तथा अंत के दो युगलों में जानना। मध्य के ४ युगलों में १-१ की ही आज्ञा प्रवर्तती है। पटलों के ऊर्ध्व अंतराल में तथा विमानों के तिर्यक् अंतराल में आकाश है। नरक की तरह बीच में पृथ्वी नहीं हैं। समस्त इन्द्रक विमान संख्यात योजन चौड़े हैं तथा सब श्रेणीबद्ध विमान असंख्यात योजन चौड़े हैं और प्रकीर्णक संख्यात असंख्यात योजनों के हैं। इन समस्त विमानों के ऊपर अनेक नगर बसते हैं।

सर्वार्थसिद्धि विमान की चोटी से १२ योजन ऊपर सिद्ध शिला है यह मनुष्य लोक के सीध में ऊपर है और ४५ लाख योजन की विस्तार वाली है। इसकी मोटाई ८ योजन है, इसका आकार छत्र की तरह है। इस पर सिद्ध भगवान तो विराजमान नहीं है किन्तु इसके कुछ ऊपर इस सिद्ध शिला के विस्तार प्रमाण क्षेत्र में सिद्ध भगवान तनुवातवलय में विराजमान हैं जो साधु मनुष्य लोक में जिस स्थान से कर्म मुक्त हुये हैं उसकी सीध में ऊपर एक समय में ही आकर लोक के अन्त भाग में स्थित हैं, और अनन्तकाल तक रहेंगे। बस यहीं लोक का अन्त हो जाता है।

उक्त त्रिलोक का स्वरूप संक्षेप से दर्शाया गया। सविस्तार कथन तिलोयपण्णत्ति व त्रैलोक्यसार से ज्ञात करना चाहिये।

लोक के आकार, रचनाओं के बोध रूप विशेष परिज्ञान से उत्कृष्ट वैराग्य होता है कि देखो तो अपने अन्तर्लोक से भ्रष्ट होकर यह जीव मोह भाव वश अनंतवार उत्पन्न हुआ। अपने कर्म संस्कारों के कारण त्रिलोक में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव रूप पंचपरावर्तन करता रहता है परन्तु स्वभावतः अजन्मा एवं अनादिसिद्ध, चैतन्यस्वरूप निज निश्चय लोक को इसने नहीं जाना। इस त्रिलोक से पृथक मेरा ज्ञानालोक मात्र स्वरूपास्तित्व है इस प्रकार का अपने आत्मा के स्वतंत्र रूप का विश्वास होते ही पर पदार्थों से स्वयमेव विरक्ति प्राप्त हो जाती है और जीव उत्कृष्ट धर्म एवं शुक्ल ध्यान का पात्र होकर मोक्षमार्ग पा लेता है।



प्रभुता को सब मरत है, प्रभु को मरै न कोय।
जो कोई प्रभु को मरै, तो प्रभुता चेरी होय॥
बोली बोल अमोल है, विरला जाने बोल।
हिये तराजू तोलकर, तब मुख बाहर खोल॥

# काल चक्र

[ लेखक — श्री ब्र० डालचन्दजी सागर ]

जैन मान्यता के अनुसार बीस कोड़ा कोड़ी सागर का एक कल्पकाल होता है। इसके दो भेद हैं--एक उत्सर्पिणी और दूसरा अवसर्पिणी। जिसमें मनुष्यों के बल, आयु, शरीर का प्रमाण क्रम-क्रम से बढ़ता जावे उसे उत्सर्पिणी कहते हैं और जिसमें वे क्रम-क्रमसे घटते जावें उसे अवसर्पिणी कहते हैं। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी–दोनों का प्रमाण दश–दश कोड़ाकोड़ी सागर है और प्रत्येक के छह-छह भेद हैं। अवसर्पिणी के छह भेद इस प्रकार हैं:–१ सुषमा सुषमा २ सुषमा ३ सुषमा दु:षमा ४ दु:षमा सुषमा ५ दु:षमा और ६ दु:षमा दु:षमा। उत्सर्पिणी काल के भी ६ भेद होते हैं जो कि उपर्युक्त क्रम से विपरीत रूप हैं जैसे— १ दु:षमा दु:षमा २ दु:षमा ३ दु:षमा सुषमा ४ सुषमा दु:षमा ५ सुषमा और ६ सुषमा सुषमा। "समा" काल के विभाग को कहते हैं और सु तथा दुर् उपसर्ग क्रम से अच्छे और बुरे अर्थ के वाचक हैं। व्याकरण के नियमानुसार "स" को "ष" हो जाने से सुषमा और दु:षमा शब्दों की सिद्धि होती है जिनका अर्थ होता है अच्छा समय और बुरा समय।

भरत और ऐरावत क्षेत्र में कालचक्र परिवर्तित होता है, जिस प्रकार एक माह में कृष्ण पक्ष और शुक्ल पक्ष होते हैं उसी प्रकार एक कल्पकाल में अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी इस प्रकार दो काल होते हैं। इस समय भरत क्षेत्र में अवसर्पिणी का युग चल रहा है। इसके सुषमा सुषमा आदि छह भेद हैं। सुषमा सुषमा चार कोड़ाकोड़ी सागर का, सुषमा तीन कोड़ाकोड़ी सागर का, सुषमा दु:षमा दो कोड़ाकोड़ी सागर का, दु:षमा सुषमा ब्यालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागर का और दु:षमा तथा दु:षमा दु:षमा इक्कीस इक्कीस हजार वर्ष के होते हैं। जब यहां सुषमा सुषमा नामक पहला काल चल रहा था तब मनुष्यों की आयु तीन पल्य की और शरीर की ऊंचाई छह हजार धनुष की थी। तीन दिन के अन्तर से बदरी फल बराबर उनका आहार होता था। दश प्रकार के कल्पवृक्षों से सबको मनोवाञ्छित भोगोपभोग की प्राप्ति होती थी। स्त्री पुरुष अनुरक्त रहते थे। जीवन के अन्तिम नौ माहों में उनके संतान उत्पन्न होती थी। एक पुत्र और एक पुत्री का युगल जन्म होता था। जन्म होते ही पुरुष की जमुहाई से और स्त्री की छींक से मृत्यु हो जाती थी। युगल संतान हाथ का अंगूठा चूसते चूसते सात सप्ताह में पूर्ण वयस्क हो जाते थे। वयस्क होने पर दोनों ही स्त्री पुरुष के रूप में परिणत हो जाते थे। इस काल में प्रथम भोगभूमि की रचना होती थी।

क्रम-क्रम से चार कोड़ाकोड़ी सागर का विशाल काल व्यतीत होनेपर दूसरा सुषमा नामका काल प्रकट होता है। इसके प्रारम्भ में मनुष्य के शरीर की ऊंचाई चार हजार धनुष की तथा आयु दो पल्य की होती थी। सभी को भोगोपभोगों की प्राप्ति कल्पवृक्षों से ही होती थी। यह काल तीन कोड़ाकोड़ी सागर का होता है। इस काल में यहां मध्यम भोगभूमि की रचना होती थी। इसके व्यतीत होने पर

सुषमा दुःषमा नाम का तीसरा काल प्रकट होता है। यह दो कोड़ाकोड़ी सागर का होता है। इसके प्रारम्भ में मनुष्यों की ऊंचाई दो हजार धनुष की और आयु एक पल्य की रहती थी। इस समय यहां जघन्य भोग भूमि की रचना होती थी। इस तृतीय काल में जब पल्य का आठवां भाग बाकी रह जाता है तब क्रम-क्रम से प्रतिश्रुति, सन्मति, क्षेमंकर, क्षेमंधर, सीमंकर, सीमंधर, विमलवाहन, चक्षुष्मान, यशस्वान्, अभिचन्द्र, चन्द्राभ, मरुद्देव, प्रसेनजित और नाभिराज ये चौदह कुलकर उत्पन्न हुए थे। धीरे-धीरे कल्पवृक्ष नष्ट होते गये और नाभिराजा के समय पूर्णरूप से कल्पवृक्ष नष्ट हो गये तथा कर्मभूमि का प्रारम्भ हो गया नाभिराजा और उनकी रानी मरुदेवी के प्रथम तीर्थंकर ऋषभ देव का जन्म हुआ। उन्होंने असि, मसि, कृषि, शिल्प, वाणिज्य और विद्या इन छह उपायोंका प्रचार कर लोगोंको आजीविका चलाने का उपदेश दिया। इस काल का प्रारम्भिक भाग भोग भूमि का काल होने से सुषमा कहलाता है परन्तु पीछे का काल कल्पवृक्षों के नष्ट हो जाने से दुःखमय बीतता है इसलिये दुःषमा कहलाता है प्रारम्भ और अन्त की परिस्थिति को लेकर इसका नाम सुषमा दुःषमा कहा गया है। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव. इसी काल में हुए और इसी में मोक्ष गये।

तृतीय काल समाप्त होने के बाद दुःषमा सुषमा नामका चौथा काल प्रकट हुआ। इसका प्रमाण ब्यालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागर का था, इसमें अजितनाथ को आदि लेकर तेईस तीर्थंकर, चक्रवर्ती, नारायण, बलभद्र आदि शलाका पुरुषों की उत्पत्ति हुई। अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी जब मोक्ष गये तब इस काल के तीन वर्ष साढ़े आठ माह बाकी थे। चतुर्थ काल के प्रारम्भ में मनुष्यों का शरीर पांच सौ धनुष ऊंचा होता था और उनकी आयु एक करोड़ वर्ष पूर्व की होती थी। फिर आगे ह्रास होता जाता था।

चतुर्थ काल के अनन्तर दुःषमा नामका पांचवां काल प्रकट हुआ। इसका प्रमाण इक्कीस हजार वर्ष का है प्रारम्भ में केवली, श्रुतकेवली तथा अंग पूर्व के पाठी होते रहे, पीछे उनका अभाव हो गया। दुःखमय जीवन होने से इस काल का नाम दुःषमा रक्खा गया है। उत्तरपुराण[1] में गुण भद्राचार्य ने लिखा है इस पंचम काल में मनुष्यों की उत्कृष्ट आयु सौ वर्ष की होगी, उनका शरीर अधिक से अधिक सात हाथ ऊंचा होगा, उनकी कान्ति रूक्ष हो जावेगी, रूप भद्दा होगा, वे तीनों समय भोजन में लीन रहेंगे और काम सेवन में आसक्त रहेंगे। शास्त्रोक्त लक्षण वाले राजाओं का अभाव हो जायगा, लोग वर्णसंकर हो जावेंगे। दुःषमा काल में एक हजार वर्ष बीतने पर पाटलीपुत्र नगर में राजा शिशुपाल की रानी पृथ्वीसुन्दरी के चतुर्मुख नाम का पापी पुत्र होगा, जो कल्कि कहलावेगा। इसकी आयु ७० वर्ष की होगी तथा ४० वर्ष तक इसका राज्य चलेगा। यह सबसे कर वसूल करेगा यहां तक कि दिगम्बर साधुओं के हाथ में से प्रथम ग्रास को कर रूप में छीन लेगा। शक्तिशाली सम्यग्दृष्टि असुर राजा चतुर्मुख को मारेगा, मरकर यह प्रथम नरक में जायेगा।

---

1 पर्व ७६ श्लोक ३९० से अन्त तक।

राजा चतुर्मुख का पुत्र अजितंजय अपनी पत्नी बालना के साथ उस असुर की शरण लेगा तथा जैन धर्म धारण कर उसकी प्रभावना करेगा। इस प्रकार पंचम काल में एक एक हजार वर्ष के अनन्तर जब बीस कल्कि हो चुकेंगे तब अन्त में जल मन्थन नामका कल्कि होगा। वह अन्तिम राजा होगा। इसके बाद कोई राजा नहीं होगा। उस समय चन्द्राचार्य के शिष्य वीरांगज नामके मुनि सबसे अन्तिम मुनि होंगे, सर्वश्री सबसे अन्तिम आर्यिका होंगी, अग्निल अन्तिम श्रावक और फल्गुसेना अन्तिम श्राविका होगी। ये सब अयोध्या के रहने वाले होंगे। जब पंचम काल में तीन वर्ष साढ़े आठ माह बाकी रह जावेंगे तब कार्तिक बदी अमावस्या के दिन प्रात:काल वीरांगज मुनि, सर्वश्री आर्यिका, अग्निल श्रावक, और फल्गुसेना श्राविका ये चारों ही जीव समता भाव से शरीर का परित्याग कर प्रथम स्वर्ग में उत्पन्न होंगे। मध्याह्न के समय राजा का नाश होगा और सायंकाल के समय अग्नि का नाश होगा। असि मषि आदि षट् कर्मों की प्रवृत्ति तथा राजा प्रजा आदि का सब व्यवहार नष्ट हो जावेगा।

इसके पश्चात् अति दु:षमा अथवा दु:षमा दु:षमा नाम के छठवें काल का प्रारम्भ होगा इस काल का प्रमाण इक्कीस हजार वर्ष होगा। उस समय मनुष्यों की आयु बीस वर्ष की होगी, साढ़े तीन हाथ ऊंचा उनका शरीर होगा, निरन्तर आहार करेंगे अर्थात् खाने पीने का कोई नियम नहीं रहेगा। नरक अथवा तिर्यंच गति से आने वाले जीव ही यहां उत्पन्न होंगे और मर कर इन्हीं दो गतियों में जावेंगे। कपास तथा वस्त्रों का अभाव हो जाने से प्रारम्भ में मनुष्य पत्ते आदि पहिनेंगे फिर नग्न रहने लगेंगे। इस काल के अन्तिम समय में मनुष्यों की आयु १६ वर्षकी होगी और शरीर की ऊंचाई एक हाथ की रह जावेगी। लोगों की विकृत आकृति होगी। पृथिवी अत्यन्त रूक्ष हो जावेगी। षष्ठ काल का अन्त आने पर पानी का अभाव हो जायगा। जब इस काल में ४९ दिन शेष रहेंगे तब प्रलय पड़ेगा। आचार्य नेमिचन्द्र ने त्रिलोकसार में प्रलय का वर्णन इस प्रकार किया है—

छठवें[1] काल के अन्त समय संवर्तक नाम का पवन चलता है, जो पर्वत, वृक्ष तथा पृथिवी आदि को चूर-चूर कर देता है उस पवन के आघात से वहां रहने वाले जीव मूर्च्छित होकर मर जाते हैं। विजयार्ध पर्वत, गंगा सिन्धु नदी, इनकी वेदिका और क्षुद्र बिल आदि में वहां के निकटवर्ती प्राणी घुस जाते हैं तथा कितने ही दयालु विद्याधर और देव मनुष्य युगल को आदि लेकर बहुत से जीवों को निर्बाध स्थान में ले जाते हैं। छठवें काल के अन्त में पवन आदि सात वर्षायें सात-सात दिन तक होती हैं, वे ये हैं— १ पवन २ अत्यन्त शीत ३ क्षार रस ४ विष ५ कठोर अग्नि ६ धूलि और ७ धूम। इन सात रूप परिणत पुद्गलों की वर्षा ४९ दिन तक होती है।

इस प्रलय काल में आर्य खण्ड की समस्त भूमि अस्त व्यस्त हो जायेगी। चित्रा पृथिवी निकल आयेगी अर्थात् इस प्रलय का प्रभाव एक हजार योजन नीचे तक होता है। छठवां काल समाप्त होने पर

---

१ गाथा ८६४ से ८६६ तक

उत्सर्पिणी काल का प्रारम्भ होता है। उसके प्रथम काल का नाम अतिदु:षमा अथवा दु:षमा दु:षमा होता है। वह भी इक्कीस हजार वर्ष का होता है। प्रथम ही क्षीर जाति के मेघ सात दिन तक दूध की वर्षा करते हैं तदनन्तर अमृत जाति के मेघ सात दिन तक अमृत की वर्षा करते हैं तत्पश्चात् सात दिन रसाधिक जाति के देव रस की वर्षा करते हैं। शनैः शनैः पृथिवी रसमय होने लगती है, वृक्ष, लताएं आदि उत्पन्न होती हैं। इसी क्रम से पांचवां, चौथा, तीसरा, दूसरा और पहला काल आता है।

यह कालचक्र का परिवर्तन भरत और ऐरावत क्षेत्र में ही होता है। विदेह क्षेत्र में शाश्वत चौथा काल रहता है। विदेह के अन्तर्गत देवकुरु और उत्तर कुरु में पहला काल रहता है। हैमवत और हैरण्यवत क्षेत्र में तृतीय काल रहता है तथा हरि और रम्यक् क्षेत्र में द्वितीय काल रहता है। भरत और ऐरावत क्षेत्र के पांच म्लेच्छ खण्डों और विजयार्ध पर्वत पर चतुर्थ काल के आदि अन्त जैसी परिणति रहती है।



# मार्गणा

[ लेखक:—श्री पं० दयाचन्द्रजी सिद्धान्त शास्त्री, सागर ]

जिनमें अथवा जिनके द्वारा जीवों की मार्गणा—खोज की जावे उन्हें मार्गणा कहते हैं। ३४३ राजू प्रमाण लोकाकाश में अक्षय अनन्त जीव राशि भरी हुई है उसे खोजने अथवा उस पर विचार करने के साधनों में मार्गणा का स्थान सर्वोपरि है। यह मार्गणाएं चौदह प्रकार की होती हैं:—

१ गति २ इन्द्रिय ३ काय ४ योग ५ वेद ६ कषाय ७ ज्ञान ८ संयम ९ दर्शन १० लेश्या ११ भव्यत्व १२ सम्यक्त्व १३ संज्ञित्व और १४ आहार।

**सान्तरमार्गणा —**

सामान्य रूप से सभी मार्गणाएं सदा विद्यमान रहती हैं परन्तु मार्गणाओं के प्रभेद रूप उत्तर मार्गणाओं की अपेक्षा विचार करने पर १ उपशम सम्यक्त्व, २ सूक्ष्मसांपराय संयम, ३ आहारक-काययोग, ४ आहारक मिश्र काययोग, ५ वैक्रियिक मिश्र काययोग, ६ अपर्याप्तक मनुष्य, ७ सासा-दन सम्यक्त्व और ८ मिश्र-सम्यक् मिथ्यात्व ... इन आठ मार्गणाओं का कदाचित् कुछ समय तक अभाव भी हो जाता है इसलिये इन्हें सान्तर मार्गणाएं कहते हैं। इनमें उपशमसम्यक्त्व का उत्कृष्ट अन्तर सात दिन, सूक्ष्म सांपराय का छह मास, आहारक काययोग का पृथक्त्व वर्ष, आहारक मिश्र

काययोग का पृथक्त्व वर्ष, वैक्रियिक मिश्र काययोग का बारह मुहूर्त, अपर्याप्त मनुष्य का पल्य के असंख्यातवें भाग तथा सासादन और मिश्रका भी उत्कृष्ट अन्तरकाल पल्य के असंख्यातवें भाग है अर्थात् इतने समय के बीतने पर कोई न कोई जीव इन मार्गणाओं का धारक नियम से होता है। उपर्युक्त आठों सान्तर मार्गणाओं का जघन्य अन्तर काल एक समय ही है। इस संदर्भ में इतनी विशेषता और ध्यान में रखना चाहिये कि प्रथमोपशम सम्यक्त्व से सहित पञ्चम गुणस्थान का उत्कृष्ट विरह काल चौदह दिन का तथा छठवें और सातवें गुणस्थान का पन्द्रह दिन है।

मार्गणाओं का संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—

**गतिमार्गणा —**

गति नाम कर्म के उदय से प्राप्त हुई जीव की अवस्था विशेष को गति कहते हैं। इसके नरक-गति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति और देवगति ये चार भेद हैं।

**नरकगति—**

नरकगति नाम कर्म के उदय से जो अवस्था होती है उसे नरकगति कहते हैं। इस गति के जीव निरन्तर दुःखी रहते हैं, रञ्चमात्र के लिये भी इन्हें रत-सुख की प्राप्ति नहीं होती इसलिये इन्हें नरत भी कहते हैं। इन जीवों का निवास रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पङ्कप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और महातमःप्रभा इन सात भूमियों में हैं। इन भूमियों में क्रम से ३० लाख, २५ लाख, १५ लाख, १० लाख, १३ लाख, पांच कम एक लाख और ५ विल हैं। उन्हीं विलों में नारकियों का निवास है।

प्रथम नरक की अपर्याप्तक अवस्था में पहला और चौथा गुणस्थान होता है तथा पर्याप्तक अवस्था में प्रारम्भ के चार गुणस्थान होते हैं। द्वितीय को आदि लेकर नीचे की छह पृथिवियों में अपर्याप्तक अवस्था में मात्र मिथ्यादृष्टि नामक पहला गुणस्थान होता है और पर्याप्तक अवस्था में प्रारम्भ के चार गुणस्थान होते हैं। नरकगति की अपर्याप्तक दशा में सासादन और मिश्र गुणस्थान नहीं होते। क्योंकि सासादन गुणस्थान में मरा हुआ जीव नरकगति में उत्पन्न नहीं होता और मिश्र गुणस्थान में किसी का मरण होता ही नहीं है, इसलिये यह नरकगति ही क्यों सभी गतियों की अपर्याप्तक अवस्था में नहीं होता।

**नरकगति के विविध दुःखों का दिग्दर्शन—**

उपर्युक्त नरकों के स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द अत्यन्त भयावह हैं। वहां की भूमि का स्पर्श होते ही उतना दुःख होता है जितना कि एक हजार बिच्छुओं के एक साथ काटने पर भी नहीं होता। यही दशा वहां के रस आदि की है। नरकों में कृष्ण, नील और कापोत ये तीन अशुभ लेश्याएं होती हैं। पहली और दूसरी भूमि में कापोती लेश्या है, तीसरी भूमि में ऊपर के पटलों में कापोती लेश्या और नीचे के पटलों में नील लेश्या है। चौथी भूमि में नील लेश्या है, पांचवी भूमि में ऊपर के पटलों

में नील लेश्या है, और नीचे के पटलों में कृष्ण लेश्या है। छठवीं पृथिवी में कृष्ण लेश्या है और सातवीं में परम कृष्ण लेश्या है। इन नारकियों का शरीर अत्यन्त विरूप आकृति तथा हुण्डक संस्थान से युक्त होता है। प्रथम भूमि के नारकियों का शरीर सात धनुष, तीन हाथ और छह अंगुल ऊंचा है। द्वितीयादि भूमियों में दूना-दूना होता जाता है।

पहली, दूसरी, तीसरी और चौथी भूमि में उष्ण वेदना है, पांचवीं भूमि में ऊपर के दो लाख बिलों में उष्ण वेदना और नीचे के एक लाख बिलों में तथा छठवीं और सातवीं भूमि में शीत वेदना है। जिन नरकों में उष्ण वेदना है उनमें मेरु पर्वत के बराबर लोहे का गोला यदि पहुँच सके तो वह क्षण मात्र में गलकर पानी हो जावेगा और जिनमें शीत वेदना है उनमें फटकर क्षार क्षार हो जावेगा। वहां की विक्रिया भी अत्यन्त अशुभ होती है। नारकियों के अपृथक् विक्रिया होती है अर्थात् वे अपने शरीर में ही परिणमन कर सकते हैं पृथक् नहीं। वे अच्छी विक्रिया करना चाहते हैं पर अशुभ विक्रिया ही होती है। इन उपर्युक्त दुःखों से ही उनका दुःख शान्त नहीं होता किन्तु तीसरी पृथिवी तक असुर कुमार जाति के देव जाकर उन्हें परस्पर लड़ाते हैं। उन नरकों में क्रम से एक, तीन, सात, दश, सत्तरह, बाईस और तेतीस सागर की उत्कृष्ट आयु होती है।

## कौन जीव नरक में कहां तक जाते हैं ?

असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय पहली पृथिवी तक, सरीसृप दूसरी पृथिवी तक, पक्षी तीसरी पृथिवी तक, सर्प चौथी पृथिवी तक, सिंह पांचवीं पृथिवी तक, स्त्रियां छठवीं पृथिवी तक, पापी मनुष्य तथा महामच्छ सातवीं पृथिवी तक जाते हैं। एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय तक के जीव नरकों में उत्पन्न नहीं होते। नारकी मरकर नारकी नहीं होता तथा देव भी मरकर नरक गति में नहीं जाता।

## नरकों से निकले हुए जीव क्या-क्या होते हैं ?

सातवीं पृथिवी से निकले हुए नारकी मनुष्य नहीं होते, किन्तु तिर्यञ्चों में उत्पन्न होकर फिर से नरक जाते हैं। छठवीं पृथिवी से निकले हुए नारकी मनुष्य तो होते हैं पर संयम धारण नहीं कर सकते। पांचवीं पृथिवी से निकले हुए नारकी मुनिव्रत तो धारण कर लेते हैं परन्तु मोक्ष नहीं जाते। चौथी पृथिवी से निकले हुए नारकी मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं परन्तु तीर्थंकर पद प्राप्त नहीं कर सकते। पहली, दूसरी और तीसरी पृथिवी से निकले हुए नारकी तीर्थंकर भी हो सकते हैं।

## तिर्यञ्चगति—

तिर्यञ्च गति नाम कर्म के उदय से जीव की जो दशा होती है उसे तिर्यञ्च गति कहते हैं। तिर्यञ्च कुटिल भाव से युक्त होते हैं। इनकी आहारादि संज्ञाएं अत्यन्त प्रकट हैं, अत्यन्त अज्ञानी हैं और तीव्र पाप से युक्त हैं। जो जीव पूर्वभव में मायाचार रूप प्रवृत्ति करते हैं उन्हीं के तिर्यञ्च आयु का बन्ध

होकर तिर्यंच गति प्राप्त होती है। इनका गर्भ और संमूर्च्छन जन्म होता है। एकेन्द्रिय से लेकर पांचों इन्द्रियां इनके होती हैं। तीनों लोकों में सर्वत्र व्याप्त हैं। आगम में इनके सामान्य तिर्यंच, पञ्चेन्द्रिय तिर्यंच, पर्याप्तक तिर्यंच, अपर्याप्तक तिर्यंच और योनिमती तिर्यंच के भेद से पांच भेद कहे गये हैं।

संक्षेप से इनके कर्मभूमिज और भोगभूमिज की अपेक्षा दो भेद हैं। जिन जीवों ने पहले तिर्यंच आयु का बन्ध कर लिया, पीछे सम्यग्दर्शन प्राप्त किया, ऐसे जीव भोगभूमिज तिर्यंचों में उत्पन्न हो सकते हैं परन्तु कर्मभूमिज तिर्यंचों में नहीं। तिर्यंच गति के वध बन्धन आदि से होनेवाले दुःख प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, इसलिये निरन्तर ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि जिससे तिर्यंच आयु का बन्ध न हो सके। तिर्यंच गति में चौदह जीव समास होते हैं। विस्तार से विचार किया जावे तो ९८ जीव समासों में ८५ जीव समास तिर्यंच गति में होते हैं और चौरासी लाख योनियों में बासठ लाख योनियां तिर्यंच-गति में होती हैं। इसमें एक से लेकर पांच तक गुणस्थान हो सकते हैं अर्थात् संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक तिर्यंच सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकते हैं और कर्मभूमि में उत्पन्न हुए कोई-कोई पंचेन्द्रिय तिर्यंच एकदेश व्रत भी धारण कर सकते हैं। आगम में बताया है कि स्वयंभूरमण समुद्र के बाद जो पृथिवी के कोण हैं उनमें असंख्यात पंचेन्द्रिय तिर्यंच व्रती होते हैं और मरकर वे वैमानिक देवों में उत्पन्न होते है।

तिर्यंच गति में जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट आयु तीन पल्य की होती है।

## मनुष्यगति —

मनुष्यगति नाम कर्म के उदय से जो अवस्था प्राप्त होती है उसे मनुष्यगति कहते हैं। यतश्च ये तत्व अतत्व-धर्म अधर्म का विचार करते हैं, मन से गुण दोष आदि का विचार करने में निपुण हैं अथवा कर्म भूमिके प्रारम्भ में चौदह मनुओं-कुलकरों से उत्पन्न हुए हैं इसलिये मनुष्य कहलाते हैं। आगम में मनुष्यों के सामान्य, पर्याप्तक, अपर्याप्तक और योनिमती के भेद से चार भेद बताये गये हैं। वैसे तिर्यंचों के समान इनके भी कर्मभूमिज और भोगभूमिज की अपेक्षा दो भेद हैं। तत्वार्थ सूत्रकार ने इनके आर्य और म्लेच्छ इस प्रकार दो भेद कहे हैं।

मानुषोत्तर पर्वत के पूर्व पूर्वतक अर्थात् अढ़ाई द्वीप और दो समुद्रों में इनका निवास है। इनमें संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक और संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्तक ये दो जीव समास होते हैं। भोगभूमिज मनुष्य के प्रारंभ के चार गुणस्थान तक हो सकते हैं और कर्मभूमिज मनुष्य के चौदहों गुणस्थान हो सकते हैं। संसार सन्तति ा छेद कर मोक्ष प्राप्त कराने की योग्यता इसी गति में है इसलिये इसका महत्व सर्वोपरि है। मनुष्य की जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट आयु तीन पल्य की होती है। कर्म भूमिज मनुष्य की उत्कृष्ट स्थिति एक करोड़ वर्ष पूर्व की होती है।

## देवगति —

देवगति नाम कर्म के उदय से जो अवस्था प्राप्त होती है उसे देवगति कहते हैं। 'दीव्यन्ति यथेच्छं क्रीडन्ति द्वीप समुद्रादिषु ये ते देवाः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो इच्छानुसार द्वीप समुद्र आदि में क्रीड़ा

करते हैं वे देव कहलाते हैं यह देव शब्द का निरुक्त अर्थ है। देवों के चार निकाय हैं— १ भवनवासी २ व्यन्तर ३ ज्योतिष्क और ४ वैमानिक। भवन वासियों के असुर कुमार आदि दश, व्यन्तरों के किन्नर आदि आठ, ज्योतिष्कों के सूर्य आदि पांच और वैमानिकों के बारह इन्द्रों की अपेक्षा बारह भेद हैं। भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष्क ये तीन देव भवनत्रिक के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें सम्यग्दृष्टि जीव की उत्पत्ति नहीं होती। वैमानिक देवों के कल्पवासी और कल्पातीत की अपेक्षा दो भेद भी हैं। सोलहवें स्वर्ग तक के देव कल्पवासी और उसके आगे नौ ग्रैवेयक, नौ अनुदिश तथा पांच अनुत्तरवासी देव कल्पातीत कहलाते हैं। जिनमें इन्द्र सामानिक आदि दश भेदों की कल्पना होती है वे कल्पवासी कहलाते हैं और जिनमें यह कल्पना नहीं होती वे कल्पातीत कहे जाते हैं।

देवों में संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक और संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्तक ये दो जीव समास होते हैं। इनके प्रारम्भ के चार गुणस्थान होते हैं। हंस, परम हंस आदि मन्द कषायी अन्य मतावलम्बियों की उत्पत्ति बारहवें स्वर्ग तक होती है। पांच अणुव्रतों को धारण करने वाले गृहस्थ सोलहवें स्वर्ग तक उत्पन्न होते हैं। द्रव्यलिंगी-मिथ्यादृष्टि मुनियों की उत्पत्ति नौवें ग्रैवेयक तक हो सकती है उसके आगे सम्यग्दृष्टि मुनियों की ही उत्पत्ति होती है। अनुदिश तथा अनुत्तरवासी देव अधिक से अधिक मनुष्य के दो भव लेकर मोक्ष चले जाते हैं। अनुदिशों में सर्वार्थसिद्धि के देव, पांचवें स्वर्ग के अन्त में रहने वाले लौकान्तिक देव, सौधर्मेन्द्र, उसकी शची नामक इन्द्राणी और दक्षिण दिशा के लोकपाल ये सब एक भवावतारी होते हैं।

मिथ्यादृष्टि देव स्वर्ग की विभूति पाकर उसमें तन्मय हो जाते हैं, परन्तु सम्यग्दृष्टि देव अन्तरंग से विरक्त रहकर कर्मभूमिज मनुष्य पर्याय की वांच्छा करते हैं और यह भावना रखते हैं कि हम कब मनुष्य होकर तपश्चरण करें तथा अष्ट कर्मों का नाशकर मोक्ष प्राप्त करें। चारों निकाय के देवों की आयु विविध प्रकार की है। संक्षेप में सामान्य रूप से देवगति की जघन्य आयु दश हजार वर्ष की और उत्कृष्ट तेतीस सागर की है।

### इन्द्रिय मार्गणा —

इन्द्र—आत्मा की जिससे पहिचान हो उसे इन्द्रिय कहते हैं। अथवा जो अपने स्पर्शादि विषयों में परम ऐश्वर्य करने के लिये इन्द्र के समान स्वतन्त्र हैं किसी दूसरी इन्द्रिय की अपेक्षा नहीं रखतीं उन्हें इन्द्रिय कहते हैं। इन इन्द्रियों के सामान्य रूप से द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय की अपेक्षा दो भेद हैं। निर्वृत्ति और उपकरण को द्रव्येन्द्रिय तथा लब्धि और उपयोग को भावेन्द्रिय कहते हैं। निर्वृत्ति रचना को कहते हैं। इसके बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से दो भेद हैं। तत् तत् इन्द्रियों के स्थान पर पुद्गल [illegible] की जो इन्द्रियाकार रचना है उसे बाह्य निर्वृत्ति कहते हैं। और आत्म प्रदेशों का तत् तत् इन्द्रियाकार परिणमन होना आभ्यन्तर निर्वृत्ति है। उपकरण के भी बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से

दो भेद हैं। पलक विरूनि आदि बाह्य उपकरण हैं और कृष्ण शुक्ल मंडल आदि आभ्यन्तर उपकरण हैं। तत् तद् इन्द्रियावरण के क्षयोपशम से पदार्थ के ग्रहण करने की जो योग्यता है उसे लब्धि कहते हैं और उस योग्यता के अनुसार कार्य होना उपयोग है। वीरसेन स्वामी के उल्लेखानुसार इन्द्रियावरण कर्मका क्षयोपशम समस्त आत्म प्रदेशों में होता है न केवल इन्द्रियाकार परिणत आत्मप्रदेशों में। विशेष रूप से स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पांच भेद हैं। इन्हीं इन्द्रियों की अपेक्षा जीवों की एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय ये पांच जातियां होती हैं।

आगम में एकेन्द्रिय जीवों की स्पर्शनादि इन्द्रयों का उत्कृष्ट विषय क्षेत्र इस प्रकार बताया गया है—

एकेन्द्रिय जीव की स्पर्शन इन्द्रिय का उत्कृष्ट विषय क्षेत्र चार सौ धनुष है, द्वीन्द्रिय जीव की रसना इन्द्रिय का उत्कृष्ट विषय चौसठ धनुष प्रमाण है, त्रीन्द्रिय जीव की घ्राणेन्द्रिय का उत्कृष्ट विषय सौ धनुष प्रमाण है, चतुरिन्द्रिय जीव की चक्षुरिंद्रिय का उत्कृष्ट विषय दो हजार नौ सौ चौवन योजन है और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव की कर्णेन्द्रिय का उत्कृष्ट विषय आठ हजार धनुष प्रमाण है। द्वीन्द्रियादिक जीवों का यह विषय असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक दूना-दूना होता जाता है। संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव की स्पर्शनादि इन्द्रियों का उत्कृष्ट विषय इस प्रकार है—स्पर्शन, रसना और घ्राण इन तीन में प्रत्येक का उत्कृष्ट विषय क्षेत्र नौ-नौ योजन हैं। श्रोत्रेन्द्रिय का बारह योजन तथा चक्षुरिन्द्रिय का सैंतालीस हजार दो सौ त्रेशठ से कुछ अधिक है। उत्कृष्ट विषय क्षेत्र का तात्पर्य यह है कि ये इन्द्रियां इतने दूरवर्ती विषय को ग्रहण कर सकती हैं।

चक्षुरिन्द्रिय का आकार मसूर के समान, श्रोत्र का आकार जौ की नली के समान, घ्राण का आकार तिल के फूल के समान और रसना का आकार खुरपा के समान है। स्पर्शन का आकार अनेक प्रकार का होता है।

आत्म प्रदेशों की अपेक्षा चक्षुरिन्द्रिय का अवगाहन घनांगुल के असंख्यातवें भाग है, इससे संख्यातगुणा श्रोत्रेन्द्रिय का है, इससे पल्य के असंख्यातवें भाग अधिक घ्राणेन्द्रिय का और उससे पल्य के असंख्यातवें भाग गुणित रसनेन्द्रिय का अवगाहन है। स्पर्शनेन्द्रिय का जघन्य अवगाहन घनांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है जो कि सूक्ष्म निगोदिया जीव के उत्पन्न होने के तृतीय समय में होता है और उत्कृष्ट अवगाहन महामच्छ के होता है जो कि संख्यात घनांगुल रूप होता है।

एकेन्द्रिय से लेकर असैनी पंचेन्द्रिय तक एक-मिथ्यादृष्टि गुणस्थान होता है और संज्ञी पंचेन्द्रिय के चौदह गुणस्थान होते हैं।

यह इन्द्रियों का क्रम संसारी जीवों के ही होता है मुक्त जीव इससे रहित हैं। संसारी जीवों में भी भावेन्द्रियां बारहवें गुणस्थान तक ही क्रियाशील रहती हैं उसके आगे नहीं। तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में द्रव्येन्द्रियों के रहने से ही पंचेन्द्रियपने का व्यवहार होता है।

**काय मार्गणा—**

जाति नाम कर्म से अविनाभावी त्रस और स्थावर नाम कर्म के उदय से जो शरीर प्राप्त होता है उसे काय कहते हैं। एकेन्द्रिय जाति तथा स्थावर नाम कर्म के उदय से जो शरीर मिलता है उसकी स्थावर काय संज्ञा है और वह पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति के भेद से पांच प्रकार का होता है तथा द्वीन्द्रियादि जाति और त्रस नाम कर्म के उदय से जो शरीर प्राप्त होता है उसे त्रसकाय कहते हैं। कायमार्गणा में उनका एक ही भेद लिया जाता है।

पृथिवी, जल, अग्नि और वायु कर्म के उदय से पृथिवी काय आदि की उत्पत्ति होती है इन सभी के बादर और सूक्ष्म के भेद से दो प्रकार के शरीर होते हैं।

वनस्पति नाम कर्म के उदय से वनस्पति काय उत्पन्न होता है। इसके प्रत्येक वनस्पति और साधारण वनस्पति के भेद से दो भेद हैं। प्रत्येक उसे कहते है जिसमें एक शरीर का एक ही जीव स्वामी होता है और साधारण उसे कहते है जहां एक शरीर के अनेक जीव स्वामी होते हैं। प्रत्येक वनस्पति के भी दो भेद हैं, १ सप्रतिष्ठित प्रत्येक और २ अप्रतिष्ठित प्रत्येक। जिनके आश्रय अनेक निगोदिया जीव रहते हैं उन्हें सप्रतिष्ठित और जिनके आश्रय अनेक निगोदिया नहीं रहते उन्हें अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं।

जिनकी सिरा, सन्धि और पर्व अप्रकट हो, जिसका भंग करने पर समान भंग हो, और दोनों भंगों में तन्तु न लगे रहें तथा छेदन करने पर भी जिसकी पुनः वृद्धि हो जावे वह सप्रतिष्ठित कहा जाता है और इससे भिन्न अप्रतिष्ठित प्रत्येक है।

जिनका आहार तथा श्वासोच्छ्वास साधारण–समान होता है अर्थात् एक के आहार से सबका आहार और एक के श्वासोच्छ्वास से सबका श्वासोच्छ्वास हो जाता है, एक के जन्म लेने से सबका जन्म और एक के मरण से सबका मरण हो जाता है वह साधारण कहा जाता है। बादर निगोदिया जीवों के स्कन्ध, अंडर, आवास, पुलवि और देह इस प्रकार पांच भेद होते हैं और ये उत्तरोत्तर असंख्यात लोक गुणित होते जाते हैं। एक निगोदिया जीव के शरीर में द्रव्य प्रमाण की अपेक्षा सिद्ध राशि तथा समस्त अतीत काल के समयों से अनन्त गुणे जीव रहते हैं। साधारण का दूसरा प्रचलित नाम निगोद है। वह नित्यनिगोद और इतरनिगोद की अपेक्षा दो प्रकार का होता है। नित्य निगोद में दो विकल्प हैं एक विकल्प तो यह है कि जिसने त्रसपर्याय आज तक कभी न प्राप्त की है और न कभी प्राप्त करेगा, ऐसे जीवों से अनन्तानन्त भरा रहता है। तथा दूसरा विकल्प यह है कि जिसने आज तक त्रसपर्याय प्राप्त नहीं की है परन्तु आगे पा सकता है। इतरनिगोद वह कहलाता है जो निगोद से निकल कर अन्य पर्याय पा कर पुनरपि निगोद में उत्पन्न होता है।

द्वीन्द्रियादिक जीवों को त्रस कहते हैं। स्थावर काय में एक ही मिथ्यादृष्टि गुणस्थान होता है और त्रसजीवों के चौदहों गुणस्थान होते हैं। त्रसजीवों का निवास त्रसनाड़ी में ही है जब कि स्थावर जीवों का निवास तीन लोक में सर्वत्र है। त्रस नाड़ी के बाहर त्रस जीवों का सद्भाव यदि होता है तो उपपाद, मारणान्तिकसमुद्घात और लोकपूरणसमुद्घात के समय ही होता है अन्य समय नहीं। सूक्ष्म निगोदिया तो लोक में सर्वत्र व्याप्त हैं परन्तु बादरनिगोदिया, पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, केवली का परमौदारिक शरीर, आहारक शरीर, देवों का शरीर तथा नारकियों का शरीर इन आठ स्थानों में नहीं होते हैं।

पृथिवीकायिक का शरीर मसूर के समान, जलकायिक का जल की बूंद के समान, अग्निकायिक का खड़ी सुइयों के समूह के समान और वायु कायिक का ध्वजा के समान होता है। वनस्पतिकायिक तथा त्रसों का शरीर अनेक प्रकार का होता है।

काय के प्रपञ्च का वर्णन करते हुए आचार्यों ने कहा है कि जिस प्रकार बोझा ढोने वाला मनुष्य काँवर के द्वारा बोझा ढोता है उसी प्रकार संसारी जीव काय रूपी कांवर के द्वारा कर्म रूपी बोझे को ढोता है। एक जगह यह भी लिखा है कि जिस प्रकार लोहे की संगति से अग्नि घनों से पिटती है उसी प्रकार शरीर की संगति से यह जीव चतुर्गति के दुःख सहन करता है। तात्पर्य यह है कि जब तक शरीर का सम्बन्ध है तभी तक संसार भ्रमण है।

सिद्ध भगवन्त काय के सम्बन्ध से रहित हैं।

### योग मार्गणा—

पुद्गलविपाकी शरीर नाम कर्म के उदय से, मन वचन काय से युक्त जीव की कर्म–नोकर्म के ग्रहण में कारणभूत जो शक्ति है उसे योग कहते हैं। यह भावयोग का लक्षण है इसके रहते हुए आत्मप्रदेशों का जो परिस्पन्द–हलन चलन होता है उसे द्रव्ययोग कहते हैं।

मनोवर्गणा, वचनवर्गणा और कायवर्गणा के आलम्बन की अपेक्षा योग के तीन भेद होते हैं—मनोयोग, वचनयोग और काययोग। सत्य, असत्य, उभय और अनुभय इन चार पदार्थों को विषय करने की अपेक्षा मनोयोग और वचन योग के सत्य मनोयोग और सत्य वचनयोग आदि चार चार भेद होते हैं। सम्यग्ज्ञान के विषयभूत पदार्थ को सत्य कहते हैं जैसे 'यह जल है'। मिथ्याज्ञान के विषयभूत पदार्थ को असत्य कहते हैं जैसे मृगमरीचिका में 'यह जल है'। दोनों के विषयभूत पदार्थ को उभय कहते हैं जैसे कमण्डलु में यह घट है।' कमण्डलु घट का काम देता है इसलिये सत्य है और घटाकार न होने से असत्य है। जो दोनों ही प्रकार के ज्ञान का विषय न हो उसे अनुभय कहते हैं जैसे सामान्य रूप से प्रतिभास होना कि 'यह कुछ है।' काययोग के सात भेद हैं—१ औदारिक काययोग २ औदारिक मिश्रकाय योग, ३ वैक्रियिक काययोग, ४ वैक्रियिक मिश्र काय योग, ५ आहारक काययोग, ६ आहारक मिश्र काययोग और, ७ कार्मण काययोग।

विग्रहगति में जो योग होता है उसे कार्मण काययोग कहते हैं। यह एक, दो अथवा तीन समय तक रहता है इसमें खास कर कार्मण शरीर निमित्तरूप पड़ता है। विग्रहगति के बाद जो जीव मनुष्य अथवा तिर्यञ्चगति में जाता है उसके प्रथम अन्तर्मुहूर्त में–अपर्याप्तक अवस्था के काल में औदारिक मिश्र-काययोग होता है और अन्तर्मुहूर्त के बाद जीवन पर्यन्त औदारिककाययोग होता है। विग्रहगति के बाद जो जीव देवों अथवा नारकियों में जन्म लेता है उसके प्रथम अन्तर्मुहूर्त में अपर्याप्तक के काल में वैक्रियिकमिश्रकाययोग होता है और अन्तर्मुहूर्त के बाद जीवन पर्यन्त वैक्रियिककाययोग होता है। छठवें गुणस्थान में रहने वाले जिन मुनि के आहारक शरीर की रचना होने वाली है उनके प्रथम अन्तर्मुहूर्त में आहारकमिश्रकाययोग होता है और उसके बाद आहारककाययोग होता है। तैजस-शरीर के निमित्त से आत्मप्रदेशों में परिस्पन्द नहीं होता इसलिये तैजसयोग नहीं माना जाता है। परमार्थ से मनोयोग का सम्बन्ध बारहवें गुणस्थान तक ही होता है परन्तु द्रव्यमन की स्थिरता के लिये मनो वर्गणा के परमाणुओं का आगमन होते रहने से उपचार से मनोयोग तेरहवें गुणस्थान तक होता है। वचनयोग और काययोग का सम्बन्ध सामान्य रूप से तेरहवें गुणस्थान तक है। विशेष रूप से विचार करने पर सत्यवचनयोग और अनुभयवचनयोग तेरहवें तक होते हैं और असत्य तथा उभय वचन बारहवें तक होते हैं। केवलज्ञान होने के पहले अज्ञान दशा रहने से अज्ञान निमित्तक असत्य वचन की सम्भावना बारहवें गुणस्थान तक रहती है इसलिये असत्य और उभय का सद्भाव आगम में बारहवें गुणस्थान तक बताया है। ऐसा ही मनोयोग के विषयमें समझना चाहिये।

कार्मणकाययोग प्रथम, द्वितीय, चतुर्थ और केवलिसमुद्घात की अपेक्षा तेरहवें गुणस्थान ( प्रतर और लोक पूरण भेद ) में होता है अन्य गुणस्थानों में नहीं। औदारिकमिश्रकाययोग प्रथम, द्वितीय, चतुर्थ और कपाट तथा लोकपूरणसमुद्घात के भेद की अपेक्षा तेरहवें गुणस्थान में होता है। औदारिककाययोग प्रारम्भ से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक रहता है। वैक्रियिकमिश्रकाययोग प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ गुणस्थान में रहता है तथा वैक्रियिककाययोग प्रारम्भ के चार गुणस्थानों में होता है। आहारकमिश्र और आहारक काययोग मात्र छठवें गुणस्थानमें होते हैं।

औदारिक शरीर की उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य की, वैक्रियिक शरीर की तेतीस सागर, आहारक-शरीर की अन्तर्मुहूर्त, तैजस शरीर की छयासठ सागर और कार्मण शरीर की सामान्यतया सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर की है। औदारिक शरीर का उत्कृष्ट संचय देव कुरु और उत्तर कुरु में उत्पन्न होने वाले तीन पल्य की स्थिति से युक्त मनुष्य और तिर्यंच के उपान्त्य तथा अन्तिम समय में होता है। वैक्रियिक शरीर का उत्कृष्ट संचय बाईस सागर की आयु वाले आरण-अच्युत स्वर्ग के उपरितन विमान में रहने वाले देवों के होता है। तैजस शरीर का उत्कृष्ट संचय सातवें नरक में दूसरी बार उत्पन्न होने वाले जीव के होता है। कार्मण शरीर का उत्कृष्ट संचय, अनेक बार नरकों में भ्रमण करके पुनः सातवीं पृथिवी में उत्पन्न होने वाले नारकी के होता है और आहारक शरीर का उत्कृष्ट संचय उसका उत्थापन करने वाले प्रमत्त गुणस्थानवर्ती मुनि के होता है।

चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोग केवली भगवान् और सिद्ध भगवान् योगों के सम्बन्ध से सर्वथा रहित हैं।

## वेद मार्गणा—

भाववेद और द्रव्यवेद की अपेक्षा वेद के दो भेद हैं। स्त्री वेद, पुंवेद और नपुंसकवेद नामक नोकषाय के उदय से आत्मा में जो रमण की अभिलाषा उत्पन्न होती है उसे भाव वेद कहते हैं और अङ्गोपाङ्ग नामकर्म के उदय से शरीर के अङ्गों की जो रचना होती है उसे द्रव्य वेद कहते हैं। भाव-वेद और द्रव्य वेद में प्रायः समानता रहती है परन्तु कर्म भूमिज मनुष्य और तिर्यंच के कहीं विषमता भी पाई जाती है अर्थात् द्रव्य वेद कुछ हो और भाव वेद कुछ हो। नारकियों के नपुंसक वेद, देवों और भोगभूमिज मनुष्य तिर्यंचों के स्त्रीवेद तथा पुंवेद होता है और कर्म भूमिज मनुष्य तथा तिर्यंचों के नाना जीवों की अपेक्षा तीनों वेद होते हैं। संमूर्च्छन जन्म वाले जीवों के नपुंसक वेद ही होता है।

जो उत्कृष्ट गुण अथवा उत्कृष्ट भोगों का स्वामी हो उसे पुरुष कहते हैं। जो स्वयं अपने आपको तथा अपने चातुर्य से दूसरों को भी दोषों से आच्छादित करे उसे स्त्री कहते हैं तथा जो न स्त्री है और न पुरुष ही है उसे नपुंसक कहते हैं।

आगम में पुरुष वेद की वेदना तृण की आग के समान, स्त्री वेद की वेदना करीष की आग के समान और नपुंसक वेद की वेदना ईंट पकाने के अवा की आग के समान बतलाई है। भाव वेद की अपेक्षा तीनों वेदों का सद्भाव नौवें गुणस्थान के सवेदभाव तक रहता है। द्रव्य वेद की अपेक्षा स्त्री वेद और नपुंसक वेद का सद्भाव पञ्चम गुणस्थान तक तथा पुंवेद का सद्भाव चौदहवें गुणस्थान तक रहता है। जो जीव वेद की बाधा से रहित हैं वे आत्मीय सुख का अनुभव करते हैं।

## कषाय मार्गणा—

कषाय शब्द की निष्पत्ति प्राकृत में कृष और कष इन दो धातुओं से की गई है। कृष का अर्थ जोतना होता है। जो जीव के उस कर्म रूपी खेत को जोते जिसमें कि सुख दुःख रूपी बहुत प्रकार का अनाज उत्पन्न होता है तथा संसार की जिसकी बड़ी लम्बी सीमा है, उसे कषाय कहते हैं अथवा जो जीव के सम्यक्त्व, एकदेश चारित्र, सकल चारित्र और यथाख्यात चारित्र रूप परिणामों को कषै–घाते, उसे कषाय कहते हैं।

इस कषाय के शक्ति की अपेक्षा चार, सोलह अथवा असंख्यात लोक प्रमाण भेद होते हैं। शिलाभेद, पृथिवीभेद, धूलिभेद और जलराजि के समान क्रोध चार प्रकार का होता है। शैल, अस्थि, काष्ठ और वेत के समान मान चार प्रकार का है। वेणुमूल–बांस की जड़, मेंढा का सींग, गोमूत्र और खुरपी के समान माया के चार भेद हैं। इसी प्रकार कृमिराग, चक्रमल, शरीरमल और हरिद्रारङ्ग के

के समान लोभ भी चार प्रकार का है। यह चारों प्रकार की कषाय इस जीव को नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगति में उत्पन्न कराने वाली है।

अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन चतुष्क की अपेक्षा कषाय के सोलह भेद होते हैं। इनमें अनन्तानुबन्धी चतुष्क जीव के सम्यक्त्व रूप परिणामों को अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क एकदेशचारित्र को, प्रत्याख्यानावरण चतुष्क सकलचारित्र को और संज्वलन चतुष्क यथाख्यात संयम का घात करता है। अनन्तानुबन्धी दूसरे गुणस्थान तक, अप्रत्याख्यानावरण चतुर्थगुणस्थान तक, प्रत्याख्यानावरण पञ्चमगुणस्थान तक और संज्वलन दशम गुणस्थान तक क्रियाशील रहती है। इनके आगे किसी भी कषाय का उदय नहीं रहता है।

नेमिचन्द्राचार्य ने कषायों के स्थानों का वर्णन शक्ति, लेश्या और आयु बन्धाबन्ध की अपेक्षा भी किया है। इनमें शक्ति की अपेक्षा, पाषाण भेद, पाषाण, वेणुमूल और चक्रमल को आदि लेकर क्रोधादि कषायों के चार-चार स्थान कहे हैं। लेश्या की अपेक्षा चौदह स्थान इस प्रकार बतलाये हैं—शिला समान क्रोध में केवल कृष्ण लेश्या, भूमिभेद क्रोध में कृष्ण, कृष्ण नील, कृष्णनीलकापोत, कृष्ण नील कापोत पीत, कृष्णनीलकापोतपीतपद्म, और कृष्णादि छहों लेश्याओंवाला, इस प्रकार छह स्थान, धूलिभेद में छह लेश्यावाला और उसके बाद कृष्ण आदि एक-एक लेश्या को कम करते हुए छह स्थान और जलभेद में एक शुक्ल लेश्या, इस तरह सब मिलाकर १+६+६+१=१४ स्थान होते हैं।

शिलाभेदगत कृष्ण लेश्या में कुछ स्थान ऐसे हैं जिनमें किसी भी आयु का बन्ध नहीं होता तथा कुछ स्थान ऐसे हैं जिनमें नरकायु का बन्ध होता है। पृथ्वी भेद के पहले और दूसरे स्थान में नरकायु का बन्ध होता है। इसके बाद कृष्ण नील कापोत लेश्या वाले तीसरे स्थान में कुछ स्थान ऐसे हैं जिनमें नरकायु का, कुछ स्थानों में नरकायु और तिर्यंच आयु का और कुछ स्थानों में नरक, तिर्यंच और मनुष्यायु का तथा शेष तीन स्थानों में चारों आयु का बन्ध होता है। धूलिभेद सम्बन्धी छह लेश्या वाले प्रथम स्थान में कुछ स्थान ऐसे हैं जिनमें चारों आयु का बन्ध होता है। इसके अनन्तर कुछ स्थानों में नरकायु को छोड़कर शेष तीन आयु का और कुछ स्थानों में नरक तथा तिर्यंच को छोड़कर शेष दो आयु का बन्ध होता है। कृष्ण लेश्या को छोड़कर शेष पांच लेश्या वाले दूसरे स्थान में तथा कृष्ण और नील को छोड़कर शेष चार लेश्या वाले तीसरे स्थान में केवल देवायु का बन्ध होता है। पीत और शुक्ल लेश्या वाले चौथे भेद के कुछ स्थानों में देवायु का बन्ध होता है और कुछ स्थान ऐसे हैं जिनमें किसी भी आयु का बन्ध नहीं होता। पद्म और शुक्ल लेश्या वाले पांचवें स्थान में तथा मात्र शुक्ल लेश्या वाले छठवें स्थान में किसी आयु का बन्ध नहीं होता। जल भेद सम्बन्धी शुक्ल लेश्या वाले एक स्थान में किसी भी आयु का बन्ध नहीं होता। तात्पर्य यह है कि अत्यन्त अशुभ लेश्या और अत्यन्त शुभ लेश्या के समय किसी आयु का बन्ध नहीं होता।

**ज्ञान मार्गणा—**

आत्मा जिसके द्वारा त्रिकाल विषयक नाना द्रव्य, गुण और पर्यायों को प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से जानता है उसे ज्ञान कहते हैं। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल के भेद से ज्ञान के पांच भेद हैं, इनमें प्रारम्भ के चार ज्ञान क्षायोपशमिक हैं तथा अन्त का केवलज्ञान क्षायिक है। मति और श्रुत ये दो ज्ञान परोक्ष हैं तथा शेष तीन ज्ञान प्रत्यक्ष हैं उनमें भी अवधि और मनःपर्यय देश प्रत्यक्ष हैं और केवलज्ञान सकलप्रत्यक्ष है।

स्पर्शनादि पांच इन्द्रियों और मन की सहायता से होने वाला ज्ञान मतिज्ञान कहलाता है। इसके अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के भेद से मूल में चार भेद हैं। ये चार भेद वहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिःसृत, अनुक्त और ध्रुव तथा इनसे विपरीत एक, एकविध, अक्षिप्र, निःसृत, उक्त और ध्रुव इन बारह प्रकार के पदार्थों के होते हैं. अतः बारह में अवग्रहादि चार भेदों का गुणा करने पर ४८ भेद होते हैं। ये ४८ भेद पांच इन्द्रियों और मन की सहायता से होते हैं अतः ४८ में ६ का गुणा करने से २८८ भेद हैं। इनमें व्यञ्जनावग्रह के १२×४=४८ भेद मिलाने से मतिज्ञान के तीन सौ छत्तीस भेद होते हैं। व्यञ्जनावग्रह चक्षु और मन से नहीं होता इसलिये उसके ४८ ही भेद होते हैं।

मतिज्ञान के द्वारा जाने हुए पदार्थ को विशिष्ट रूप से जानना श्रुतज्ञान कहलाता है। इसके पर्याय, पर्यायसमास आदि बीस भेद होते हैं। पर्याय नामका श्रुतज्ञान उस सूक्ष्मनिगोदियालब्ध्यपर्याप्तक जीव के होता है जो कि छहहजार बारह क्षुद्र भवों में भ्रमण कर अन्तिम भव में स्थित है और तीन मोड़ाओं वाली विग्रह गति में गमन करता हुआ प्रथम मोड़ा में स्थित है। इसका यह ज्ञान लब्ध्यक्षर श्रुतज्ञान कहलाता है। इतना ज्ञान निगोदिया जीव के रहता ही है उसका अभाव नहीं होता। पुनः क्रम से वृद्धि को प्राप्त होता हुआ अन्तिम भेद को प्राप्त करता है।

दूसरी पद्धति में श्रुतज्ञान के अङ्ग प्रविष्ट और अङ्ग बाह्य के भेद से दो भेद हैं। अङ्ग प्रविष्ट के आचाराङ्ग आदि बारह भेद हैं और अङ्ग बाह्य के सामायिक आदि चौदह भेद हैं। बारहवें दृष्टिवाद अङ्ग का बहुत विस्तार है।

इन्द्रियों की सहायता के बिना मात्र अवधिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से जो ज्ञान होता है उसे अवधिज्ञान कहते हैं। यह भवप्रत्यय अवधि तथा गुण प्रत्यय अवधि के भेद से दो प्रकार का होता है। भव प्रत्यय अवधिज्ञान, देव नारकियों तथा तीर्थंकरों के होता है और गुणप्रत्यय अवधिज्ञान मनुष्य तथा तिर्यंचों को होता है। गुणप्रत्यय अवधिज्ञान के अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थित के भेद से छह भेद हैं। दूसरी पद्धति से अवधिज्ञान के देशावधि, परमावधि और सर्वावधि ये तीन भेद हैं। इनमें मति, श्रुत एवं देशावधि ज्ञान मिथ्यादृष्टि और सम्यक्दृष्टि दोनों के हो सकते हैं परन्तु परमावधि और सर्वावधि ये दो भेद मात्र सम्यग्दृष्टि के होते हैं और सम्यग्दृष्टि में

भी चरम शरीरी मुनि के ही होते हैं साधारण मुनि के नहीं। देशावधि और परमावधि के जघन्य से लेकर उत्कृष्ट भेद तक अनेक विकल्प हैं परन्तु सर्वावधिज्ञान का एक ही विकल्प होता है।

जघन्य देशावधि ज्ञान, द्रव्य की अपेक्षा मध्यम योग के द्वारा संचित विस्रसोपचयसहित नोकर्म-औदारिक वर्गणा के संचय में लोक का ( ३४३ राजू प्रमाण लोक के जितने प्रदेश हैं उतने का ) भाग देने से जो लब्ध आवे उतने द्रव्य को जानता है। क्षेत्र की अपेक्षा सूक्ष्मनिगोदिया जीव की उत्पन्न होने के तीसरे समय में जितनी अवगाहना होती है उतने क्षेत्र को जानता है। काल की अपेक्षा आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण द्रव्य की व्यंजन पर्याय को ग्रहण करता है और भाव की अपेक्षा उसके असंख्यातवें भाग प्रमाण वर्तमान की पर्यायों को जानता है। आगे के भेदों में द्रव्य सूक्ष्म होता जाता है और क्षेत्र तथा काल आदि का विषय विस्तृत होता जाता है। कार्मण वर्गणा में एकवार ध्रुवहार का भाग देने से जो लब्ध आता है उतना द्रव्य, देशावधि ज्ञान के उत्कृष्टभेद का विषय है। क्षेत्र की अपेक्षा उत्कृष्ट देशावधि-सर्वलोक को जानता है। काल की अपेक्षा एक समय कम एक पल्य की बात जानता है और भाव की अपेक्षा असंख्यात लोकप्रमाण द्रव्य की पर्याय को ग्रहण करता है। परमावधि और सर्वावधि का विषय आगम से जानना चाहिये।

दूसरे के मन में स्थित चिन्तित, अचिन्तित अथवा अर्धचिन्तित अर्थ को जो ग्रहण करता है उसे मनःपर्यय ज्ञान कहते हैं इसके ऋजुमति और विपुलमति के भेद से दो भेद हैं। जो सरल मन वचन काय से चिन्तित परकीय मन में स्थित रूपी पदार्थ को जानता है उसे ऋजुमति कहते हैं तथा जो सरल और कुटिल मन वचन काय से चिन्तित परकीय मनमें स्थित रूपी पदार्थ को जानता है उसे विपुलमति कहते हैं। मनःपर्ययज्ञान मुनियों के ही होता है गृहस्थों के नहीं। इनमें भी विपुलमति मनःपर्ययज्ञान, मात्र तद्भवमोक्षगामी जीवों के होता है सबके नहीं और तद्भव मोक्षगामियों में भी उन्हीं के होता है जो ऊपर के गुणस्थानों से पतित नहीं होते। ऋजुमति के जघन्य द्रव्य का प्रमाण औदारिक शरीर के निर्जीर्ण समयप्रबद्ध बराबर है और उत्कृष्ट द्रव्य का प्रमाण चक्षुरिन्द्रिय के निर्जरा द्रव्य प्रमाण है अर्थात् समस्त औदारिक शरीर में जितने परमाणुओं का प्रचय प्रत्येक समय खिरता है उसे जघन्य ऋजुमति ज्ञान जानता है और चक्षुरिन्द्रिय के जितने परमाणुओं का प्रचय प्रत्येक समय खिरता है उसे उत्कृष्ट ऋजुमति ज्ञान जानता है। ऋजुमति के उत्कृष्ट द्रव्य में मनोद्रव्य वर्गणा के अनन्तवें भाग का भाग देने पर जो द्रव्य लब्ध आता है उसे जघन्य विपुलमति जानता है। विस्रसोपचय रहित आठ कर्मों के समयप्रबद्ध का जो प्रमाण है उसमें एक बार ध्रुवहार का भाग देने पर जो लब्ध आता है उतना विपुलमति के द्वितीय द्रव्य का प्रमाण है। इस द्वितीय द्रव्य के प्रमाण में असंख्यात कल्पों के जितने समय हैं उतनी बार ध्रुवहार का भाग देने से जो लब्ध आता है वह विपुलमति का उत्कृष्ट द्रव्य है। क्षेत्र की अपेक्षा जघन्य ऋजुमति-ज्ञान दो तीन कोस और उत्कृष्ट ऋजुमतिज्ञान सात आठ योजन की बात जानता है। जघन्य विपुलमति मनःपर्ययज्ञान आठ नौ योजन और उत्कृष्ट विपुलमति ज्ञान पैंतालीस लाख योजन विस्तृत

क्षेत्र की बात को जानता है। काल की अपेक्षा जघन्य ऋजुमतिज्ञान दो तीन भव और उत्कृष्ट ऋजुमति ज्ञान सात आठ भव की बात जानता है। जघन्य विपुलमतिज्ञान आठ नौ भव और उत्कृष्ट विपुलमति-ज्ञान पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण काल की बात जानता है। भाव की अपेक्षा यद्यपि ऋजुमति का जघन्य और उत्कृष्ट विषय आवलि के असंख्यातवें भाग प्रमाण है तो भी जघन्य प्रमाण से उत्कृष्ट प्रमाण असंख्यातगुणा है। विपुलमतिका जघन्य प्रमाण ऋजुमति के उत्कृष्ट विषयसे असंख्यातगुणा है, और उत्कृष्ट विषय असंख्यात लोक प्रमाण है।

जो समस्त लोकालोक और तीन काल की बात को स्पष्ट जानता है उसे केवलज्ञान कहते हैं। यह केवलज्ञान, ज्ञानगुण की सर्वोत्कृष्ट पर्याय है। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि ज्ञानमार्गणा के कुमति, कुश्रुत, कुअवधि, सुमति, सुश्रुत, सुअवधि, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान...इस प्रकार आठ-भेद हैं। कुमति, कुश्रुत और कुअवधि मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में होते हैं। सुमति, सुश्रुत और सुअवधि चतुर्थ से लेकर बारहवें गुणस्थान तक होते हैं। मनःपर्यय ज्ञान छठवें से लेकर बारहवें गुणस्थान तक तथा केवलज्ञान तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में होता है।

## संयम मार्गणा—

अहिंसा आदि पांच महाव्रतों का धारण करना, ईर्या आदि पांच समितियों का पालन करना, क्रोधादि कषायों का निग्रह करना, मन वचन काय की प्रवृत्तिरूप दण्डों का त्याग करना और स्पर्शनादि पांच इन्द्रियों का वश करना संयम है। संयम शब्द की निष्पत्ति सम् उपसर्ग पूर्वक 'यम उपरमे' धातु से हुई है जिसका अर्थ होता है अच्छी तरह से रोकना। कषाय से इच्छा होती है और इच्छा से मन वचन काय तथा इन्द्रियों की विषयों में प्रवृत्ति होती है। विषयों की तीव्र लालसा के कारण प्रमाद होता है और उनकी प्राप्ति में बाधक कारण उपस्थित होने पर क्रोधादि कषाय उत्पन्न होते हैं इसलिये सर्वप्रथम कषाय पर विजय प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना चाहिये।

संयम मार्गणा के निम्नलिखित सात भेद हैं—

(१) सामायिक (२) छेदोपस्थापना (३) परिहारविशुद्धि (४) सूक्ष्मसाँपराय, (५) यथाख्यात (६) देशसंयम और (७) असंयम।

करणानुयोग में मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, और प्रत्याख्यानावरण कषाय का अभाव होने पर तथा संज्वलन का उदय रहने पर संयम की प्राप्ति बतलाई गई है। सामान्यरूप से संग्रह नय की अपेक्षा 'मैं समस्त पापकार्यों का त्यागी हूँ' इस प्रकार की प्रतिज्ञा पूर्वक जो समस्त पापों का त्याग किया जाता है उसे सामायिक कहते हैं। यह संयम अनुपम तथा अत्यन्त दुष्कर है। 'छेदेन उपस्थापना छेदोपस्थापना' इस व्युत्पत्ति के अनुसार हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पांच पापों का पृथक् पृथक् विकल्प उठाकर त्याग करना छेदोपस्थापना है अथवा 'छेदे सति उपस्थापना छेदोप-स्थापना' इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रमाद के निमित्त से सामायिकादि से च्युत होकर सावद्य—सपापकार्य के प्रति

जो भाव होता है उसे दूर कर पुनः सामायिकादि में उपस्थित होना छेदोपस्थापना है। सामायिक और छेदोपस्थापना ये दो संयम, छठवें गुणस्थान से लेकर नौवें गुणस्थान तक रहते हैं। पांच समितियों तथा तीन गुप्तियों से युक्त होकर जो सावद्य कार्य का सदा परिहार करना है उसे परिहार विशुद्धि संयम कहते हैं। जो जन्म से तीस वर्ष तक सुखी रहकर दीक्षा धारण करता है और तीर्थंकर के पादमूल में आठवर्ष तक रहकर प्रत्याख्यान पूर्व का अध्ययन करता है उस मुनि के तपस्या के प्रभाव से यह संयम प्रकट होता है इस संयम का धारक मुनि तीनों संध्याकालों को छोड़ कर दो कोस प्रमाण प्रतिदिन गमन करता है। वर्षाकाल में गमन का नियम नहीं है। यह संयम छठवें और सातवें गुणस्थान में ही होता है। उपशमश्रेणी अथवा क्षपकश्रेणी वाले जीव के जब संज्वलन लोभ का सूक्ष्म उदय रह जाता है तब सूक्ष्म साम्पराय संयम प्रकट होता है। यह संयम मात्र दशम गुणस्थान में होता है। चारित्र-मोहनीय कर्म का उपशम अथवा क्षय होने पर जो संयम प्रकट होता है उसे यथाख्यात संयम कहते हैं। आत्मा का जैसा वीतराग स्वभाव कहा गया है वैसा स्वभाव इस संयम में प्रकट होता है इसलिये इसका यथाख्यात नाम सार्थक है। औपशमिक यथाख्यात ग्यारहवें गुणस्थान में और क्षायिक यथा-ख्यात बारहवें आदि गुणस्थानों में प्रकट होता है।

अप्रत्याख्यानावरण कषाय के अनुदय और प्रत्याख्यानावरण कषाय की उदय सम्बन्धी तर-तमता से जो एक देश संयम प्रकट होता है उसे संयमासंयम कहते हैं। इसके दर्शन, व्रती आदि ग्यारह भेद होते हैं। यह संयमासंयम मात्र पञ्चम गुणस्थान में होता है। चारित्रमोह के उदय से जो संयम का अभाव अर्थात् अविरति रूप परिणाम होते हैं उन्हें असंयम कहते हैं। यह असंयम प्रारम्भ के चार गुणस्थानों में होता है।

## दर्शन मार्गणा—

क्षायोपशमिक ज्ञान के पूर्व और क्षायिक ज्ञान के साथ केवलियों में जो पदार्थ का सामान्य ग्रहण होता है उसे दर्शन कहते हैं। दर्शन के चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन ये चार भेद हैं। चक्षु से देखने के पूर्व जो सामान्य ग्रहण होता है उसे चक्षुर्दर्शन कहते हैं। चक्षु के अतिरिक्त अन्य इन्द्रियों से होने वाले ज्ञान के पूर्व जो सामान्य ग्रहण होता है वह अचक्षुर्दर्शन कहलाता है। अवधिज्ञान के पूर्व जो सामान्य ग्रहण होता है उसे अवधिदर्शन कहते हैं और केवलज्ञान के साथ जो सामान्य ग्रहण होता है उसे केवलदर्शन कहते हैं। वीरसेन स्वामी ने सामान्य का अर्थ आत्मा किया है अतः उनके मत से अन्तरङ्गावलोकन को दर्शन कहते हैं और बहिरङ्गावलोकन को ज्ञान कहते हैं। मनःपर्यय ज्ञान ईहामतिज्ञान पूर्वक होता है अतः मनःपर्यय दर्शन की कल्पना नहीं की गई है। मति और श्रुतज्ञान चक्षुर्दर्शन और अचक्षुर्दर्शन पूर्वक होते हैं। चक्षुर्दर्शन और अचक्षुर्दर्शन प्रथम गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक रहते हैं। अवधिदर्शन चतुर्थ गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक होता है। केवलदर्शन, तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान तथा सिद्ध अवस्था में विद्यमान रहता है।

## लेश्या मार्गणा—

जिसके द्वारा जीव अपने आपको पुण्य पाप से लिप्त करे उसे लेश्या कहते हैं यह लेश्या शब्द का निरुक्तार्थ है और कषाय के उदय से अनुरञ्जित योगों की प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं, यह लेश्या शब्द का वाच्यार्थ है। लेश्या के द्रव्य और भाव की अपेक्षा दो भेद हैं। वर्ण नामकर्म के उदय से जो शरीर का रूप रंग होता है वह द्रव्य लेश्या है और क्रोधादि कषायों के निमित्त से परिणामों में जो कलुषितपने की हीनाधिकता है वह भाव लेश्या है। द्रव्य लेश्या के कृष्ण नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल ये छह भेद स्पष्ट ही प्रतीत होते हैं। परन्तु भाव लेश्या के तारतम्य को भी आचार्यों ने इन्हीं कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल नामों के द्वारा व्यवहृत किया है। वैसे आत्मा के भावों में कृष्ण, नील आदि रंग नहीं पाया जाता है। मात्र उनकी तरतमता बतलाने के लिये इन शब्दों का प्रयोग किया गया है। परिणामों की तरतमता इस दृष्टान्त से सरलता पूर्वक समझी जा सकती है।

भूख से पीड़ित छह मनुष्य जंगल में भटककर एक फैले हुए वृक्ष के नीचे पहुँचते हैं। उनमें से एक मनुष्य तो वृक्षको जड़ से काटना चाहता है, दूसरा तने से, तीसरा शाखाओं से, चौथा टहनियों से, और पांचवां फलों से, छठवां मनुष्य वृक्ष के नीचे पड़े हुए फलों से अपनी भूख दूर करना चाहता है नवीन फल तोड़ना नहीं चाहता।

जो अत्यन्त क्रोधी हो, भंडनशील हो, धर्म और दया से रहित हो, दुष्ट प्रकृति का हो, वैरभाव को नहीं छोड़ता हो तथा किसी के वश में नहीं आता हो वह कृष्ण लेश्यावाला है।

जो मन्द हो, निर्बुद्धि हो, विषय लोलुप हो, मानी, मायावी, आलसी, अधिक निद्रालु और धनधान्य में तीव्र आसक्ति रखने वाला हो वह नील लेश्या वाला है।

जो शीघ्र ही रुष्ट हो जाता है, दूसरे की निन्दा करता है, बहुत द्वेष रखता है, शोक और भय अधिक करता है, दूसरे से ईर्ष्या करता है, अपनी प्रशंसा करता है, युद्ध में मरण चाहता है, हानि लाभ को नहीं समझता है तथा कार्य अकार्य का विचार नहीं करता वह कापोत लेश्या का धारक है।

जो कार्य, अकार्य को समझता है, सेव्य और असेव्य का विचार रखता है, दया और दान में तत्पर रहता है तथा स्वभाव का मृदु होता है वह पीत लेश्या वाला है।

जो त्यागी, भद्र, क्षमाशील और साधु तथा गुरुओं की पूजा में रत रहता है वह पद्म लेश्या-वाला है।

जो पक्षपात नहीं करता है, निदान नहीं करता है, सबके साथ समान व्यवहार करता है जिसके राग नहीं है, द्वेष नहीं है और स्नेह भी नहीं है वह शुक्ल लेश्या वाला है।

प्रारम्भ से चतुर्थ गुणस्थान तक छहों लेश्याएं होती हैं, पांचवें से सातवें तक पीत पद्म और शुक्ल ये तीन लेश्याएं होती हैं आगे उसके तेरहवें गुणस्थान तक शुक्ल लेश्या होती है। यद्यपि ग्यारहवें से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक कषाय का अभाव है तो भी भूतपूर्व प्रज्ञापन नय की अपेक्षा वहां लेश्या का व्यवहार होता है। चौदहवें गुणस्थान में योग प्रवृत्ति का भी अभाव हो जाता है अतः वहां कोई लेश्या नहीं होती।

### भव्यत्व मार्गणा—

जो सम्यग्दर्शनादि गुणों से युक्त होगा उसे भव्य कहते हैं और जो उनसे युक्त नहीं होगा उसे अभव्य कहते हैं। भव्य, कभी अभव्य नहीं होता और अभव्य कभी भव्य नहीं होता। अभव्य जीव के एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान ही होता है और भव्य जीव के चौदहों गुणस्थान होते हैं। सिद्ध होने पर भव्यत्व भाव का अभाव हो जाता है।

### सम्यक्त्व मार्गणा—

सात तत्व अथवा नव पदार्थ के यथार्थ श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं। इसके औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक के भेद से तीन भेद हैं। मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति तथा अनन्तानुबन्धी चतुष्क इन सात प्रकृतियों के उपशम से जो होता है उसे औपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। उपर्युक्त सात प्रकृतियों के क्षय से जो होता है उसे क्षायिक कहते हैं और मिथात्व, सम्यङ्-मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी चतुष्क इन छह सर्वघाति प्रकृतियों के उदयाभावी क्षय तथा सदवस्थारूप उपशम तथा सम्यक्त्व प्रकृति नामक देशघाति प्रकृति के उदय से जो होता है वह क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहलाता है। औपशमिक सम्यक्त्व के प्रथमोपशम और द्वितीयोपशम की अपेक्षा दो भेद हैं। प्रथमोपशम का लक्षण ऊपर लिखे अनुसार है। द्वितीयोपशम में अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना अधिक होती है।

उपर्युक्त तीन सम्यक्त्वों के अतिरिक्त सम्यक्त्व मार्गणा के मिश्र, सासादन और मिथ्यात्व इस प्रकार तीन भेद और होते हैं। मिथ्यात्व, प्रथम गुणस्थान में, सासादन, द्वितीय गुणस्थान में, मिश्र, तृतीय गुणस्थान में, प्रथमोपशम सम्यक्त्व और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व चतुर्थ गुणस्थान से सातवें तक द्वितीयोपशम सम्यक्त्व चतुर्थ से ग्यारहवें तक और क्षायिक सम्यक्त्व, चतुर्थ से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक तथा उसके बाद सिद्ध पर्याय में भी अनन्त काल तक विद्यमान रहता है। औपशमिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यक्त्व असंख्यात बार होते हैं और छूटते हैं परन्तु क्षायिक सम्यक्त्व होकर कभी नहीं छूटता है। क्षायिक सम्यक्त्व का धारक जीव उसी भव में, तीसरे भव में अथवा चौथे भव में नियम से मोक्ष प्राप्त करता है।

## संज्ञित्व मार्गणा—

जो मन सहित हो उसे संज्ञी कहते हैं। संज्ञी जीव मन की सहायता से शिक्षा आलाप आदि के ग्रहण करने में समर्थ होता है। जो मन रहित होता है उसे असंज्ञी कहते हैं। असंज्ञी जीव के एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान ही होता है परन्तु संज्ञी जीव के चौदहों गुणस्थान होते हैं।

## आहार मार्गणा—

शरीर रचना के योग्य नोकर्म वर्गणाओं के ग्रहण करने को आहार कहते हैं। जो आहार को ग्रहण करता है उसे आहारक कहते हैं। इसके विपरीत जो आहार को ग्रहण नहीं करता है उसे अनाहारक कहते हैं। विग्रहगति में स्थित जीव, केवली समुद्घात के प्रतर और लोकपूरण भेद में स्थित केवली, अयोग केवली और सिद्ध परमेष्ठी अनाहारक हैं, शेष आहारक हैं। गुणस्थानों की अपेक्षा अनाहारक अवस्था प्रथम, द्वितीय, चतुर्थ, समुद्घातकेवली और अयोगकेवली नामक तेरहवें चौदहवें गुणस्थानों में होती है। इस प्रकार गति आदि चौदह मार्गणाओं में यह जीव अनादि काल से परिभ्रमण कर रहा है।



## आध्यात्मिक पद

[ कवि श्री द्यानतरायजी ]

हम लागे आतमराम सौं ।। हम० ।। टेक ।।
विनाशीक पुद्गल की छाया, कौन रमै धन धाम सौं ।। हम० ।। १ ।।
समता सुख घट मैं परगास्यौं, कौन काज है काम सौं ।।
दुविधा भाव जलांजलि दीनौं, मेल भयौ निज स्वामि सौं ।। हम० ।। २ ।।
भेद ज्ञान करि निज पर देख्यो, कौन विलोकै चाम सौं ।।
उरै परै की बात न भावै, लौ लागी गुण ग्राम सौं ।। हम० ।। ३ ।।
विकलप भाव रंक सब भाजे, झरि चेतन अभिराम सौं ।।
"द्यानत" आतम अनुभौ करि कैं, छूटे भव दुख दाम सौं ।। हम० ।। ४ ।।

# दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग का विश्लेषण

[ लेखक:—श्री पं० वंशीधरजी व्याकरणाचार्य, बीना ]

## विश्व की रचना—

जैन दर्शन में विश्व की रचना जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल के भेद से छह प्रकार के पदार्थों के आधार पर स्वीकृत की गयी है। इनमें से जीवों की संख्या अनन्तानन्त है, पुद्गलों की संख्या भी अनन्तानन्त है, धर्म, अधर्म और आकाश एक-एक हैं तथा काल असंख्यात हैं।

## प्रत्येक पदार्थ का स्वभाव—

धर्म, अधर्म, आकाश और सभी कालों में अपनी-अपनी स्वतःसिद्ध स्वभावभूत भाववती शक्ति विद्यमान है व सभी जीवों और पुद्गलों में अपनी-अपनी स्वतःसिद्ध स्वभावभूत भाववती शक्ति के साथ-साथ अपनी-अपनी स्वतःसिद्ध स्वभावभूत क्रियावती शक्ति भी विद्यमान है। क्रियावती शक्ति की विद्यमानता के कारण ही जीव और पुद्गल दोनों प्रकार के पदार्थ सक्रिय कहलाते हैं और क्रियावती शक्ति की अविद्यमानता के कारण ही धर्म, अधर्म, आकाश और काल नाम के पदार्थ निष्क्रिय कहलाते हैं। ●

## प्रत्येक पदार्थ का कार्य—

प्रत्येक पदार्थ अपनी-अपनी भाववती शक्ति के आधार पर सतत अपना-अपना कार्य कर रहा है। अर्थात् आकाश अपनी भाववती शक्ति के आधार पर स्व और अन्य सभी पदार्थों को सतत अपने पेट में समाये हुए है, सभी काल अपनी-अपनी भाववती शक्ति के आधार पर स्व और अन्य सभी पदार्थों को मात्र एक क्षणवर्ती तथा अनेक क्षणवर्ती पर्यायों के रूप में विभाजित कर रहे हैं। धर्म, अपनी भाववती शक्ति के आधार पर जीवों और पुद्गलों की यथावसर होनेवाली हलन-चलनरूप क्रिया में सतत सहायक होता रहता है और अधर्म, अपनी भाववती शक्ति के आधार पर जीवों और पुद्गलों की उक्त क्रिया के यथावसर होने वाले स्थगन में सतत सहायक होता रहता है। इसी प्रकार प्रत्येक जीव अपनी-अपनी उपयोग रूप में विद्यमान भाववती शक्ति के आधार पर स्व और अन्य सभी पदार्थों का सतत यथायोग्य

---

● "भाववन्तौ क्रियावन्तौ द्वावेतौ जीव पुद्गलौ।
तौ च शेषचतुष्कं च षडेते भावसंस्कृताः ॥२-२५॥
तत्र क्रिया प्रदेशानां परिस्पन्दश्चलात्मकः।
भावस्तत्परिणामोऽस्ति धारावाह्येकवस्तुनि ॥२-२६॥
नासंभवमिदं यस्मादर्थाः परिणामिनोऽनिशम्।
तत्र केचित्कदाचिद्वा प्रदेशचलनात्मकाः ॥२-२७॥" ( पंचाध्यायी )

रूप में सामान्य अवलोकन ( दर्शन ) पूर्वक विशेष अवलोकन ( ज्ञान ) करता रहता है और इसी प्रकार प्रत्येक पुद्गल अपनी-अपनी भाववती शक्ति के आधार पर सतत रस से रसान्तररूप, गन्ध से गन्धान्तररूप, स्पर्श से स्पर्शान्तररूप और वर्ण से वर्णान्तररूप परिणमन किया करता है। इसके अतिरिक्त जीव और पुद्गल अपनी-अपनी क्रियावती शक्ति के आधार पर यथावसर क्षेत्र से क्षेत्रान्तररूप क्रिया सतत करते रहते हैं और अपनी इसी क्रियावती शक्ति के आधार पर संसारी जीव यथावसर पौद्गलिक कर्मों तथा नोकर्मों के साथ व पुद्गल यथावसर संसारी जीवों और अन्य पुद्गलों के साथ सतत मिलते व बिछुड़ते रहते हैं। मुक्त जीवों का जो ऊर्ध्वगमन होता है वह भी उनकी अपनी इसी क्रियावती शक्ति के आधार पर होता है× किन्तु वे जो लोक के अग्रभाग में स्थित होकर रह जाते हैं उसका कारण आगे धर्मास्तिकाय का अभाव है।+

## जीव की भाववती शक्ति में विशेषता—

प्रत्येक जीव की भाववती शक्ति अनादिकाल से ज्ञानावरण, दर्शनावरण और वीर्यान्तिराय नाम के पौद्गलिक कर्मों से प्रभावित होकर रहती आयी है, परन्तु अनादिकाल से ही प्रत्येक जीव में उक्त तीनों कार्यों का नियम से यथायोग्यरूप में क्षयोपशम रहने के कारण वह भाववती शक्ति भी यथायोग्यरूप में विकास को प्राप्त होकर रहती आयी है। प्रत्येक जीव की भाववती शक्ति का यह विकास ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के आधार पर ज्ञानशक्ति के रूप में, दर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम के आधार पर दर्शन शक्ति के रूप में और वीर्यान्तिराय कर्म के क्षयोपशम के आधार पर वीर्य शक्ति के रूप में रहता आया है।

यहाँ इतना विशेष समझ लेना चाहिये कि जिन जीवों में समस्त ज्ञानावरण, समस्त दर्शनावरण और वीर्यान्तिराय कर्मों का पूर्ण क्षय हो चुका है उनमें उनकी उस भाववती शक्ति का ज्ञानशक्ति, दर्शन शक्ति और वीर्यशक्ति के रूप में पूर्ण विकास हो चुका है व जिन जीवों में उक्त समस्त ज्ञानावरण, समस्त दर्शनावरण और वीर्यान्तिराय कर्मों का आगे जब पूर्ण क्षय हो जायगा तब उनमें भी उनकी उस भाववती शक्ति का ज्ञानशक्ति, दर्शन शक्ति और वीर्यशक्ति के रूप में पूर्ण विकास हो जायगा।

यद्यपि जीव की भाववती शक्ति पर दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय और उपभोगान्तराय कर्मों का भी अनादिकाल से प्रभाव पड़ रहा है और अनादिकाल से इन कर्मों का भी

---

× तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात् ॥१०-५॥ तत्त्वार्थ सूत्र।

+ प्रश्न—"आह यदि मुक्त ऊर्ध्वगति स्वभावो लोकान्तादूर्ध्वमपि कस्मान्नोत्पततीत्यलोच्यते ? ( सर्वार्थसिद्धि ), समाधान—धर्मास्तिकायाभावात् ॥१०-८॥ ( तत्त्वार्थसूत्र )। "जीवाण पोग्गलाणं गमणं जाणेहि जाव धम्मत्थी। धम्मात्थिकाय भावे तत्तो परदो ण गच्छन्ति ॥१८३॥" नियमसार

क्षयोपशम रहने के कारण प्रत्येक जीव में उस भाववती शक्ति का दानशक्ति, लाभशक्ति, भोगशक्ति और उपभोगशक्ति के रूप में यथायोग्य विकास भी अनादिकाल से रहता आया है, परन्तु इन दानादि चारों शक्तियों का सम्बन्ध जीव की क्रियावती शक्ति के साथ होने के कारण यहाँ इनको उपेक्षित किया जा रहा है।

## ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग का स्वरूप—

जीव की विकास को प्राप्त ज्ञानशक्ति, दर्शनशक्ति और वीर्यशक्ति—इन तीनों शक्तियों में से ज्ञानशक्ति का कार्य जीव को स्व और अन्य पदार्थों का विशेष अवलोकन अर्थात् ज्ञान कराने का है, दर्शनशक्ति का कार्य जीव को स्व और अन्य पदार्थों का सामान्य अवलोकन अर्थात् दर्शन कराने का है और वीर्यशक्ति का कार्य उक्त ज्ञानशक्ति और दर्शनशक्ति के कार्य में जीव को यथायोग्यरूप में सक्षम बनाने का है। इस तरह जीव की विकसित ज्ञानशक्ति का जो स्व और अन्य पदार्थों का विशेष अवलोकन अर्थात् ज्ञान होने रूप कार्य है उसका नाम ज्ञानोपयोग है और उसकी विकसित दर्शनशक्ति का जो स्व और अन्य पदार्थों का सामान्य अवलोकन अर्थात् दर्शन होने रूप कार्य है उसका नाम दर्शनोपयोग है।

## विशेष अवलोकन और सामान्य अवलोकन का अर्थ—

यहाँ पर ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग के स्वरूप निर्देशन में जो यह बतलाया गया है कि जीव की विकसित ज्ञानशक्ति का स्व और अन्य पदार्थों का विशेष अवलोकन अर्थात् ज्ञान होने रूप कार्य तो ज्ञानोपयोग है व उसकी विकसित दर्शनशक्ति का स्व और अन्य पदार्थों का सामान्य अवलोकन अर्थात् दर्शन होने रूप कार्य दर्शनोपयोग है। इनमें विशेष अवलोकन अर्थात् ज्ञान का अर्थ जीव द्वारा दीपक की तरह स्व और अन्य पदार्थों को प्रतिभासित किया जाता है और सामान्य अवलोकन अर्थात् दर्शन का अर्थ जीव में दर्पण की तरह स्व और अन्य पदार्थों का प्रतिबिम्बित होता है जिसका तात्पर्य यह होता है कि जिस प्रकार दीपक का स्वभाव स्व और अन्य पदार्थों को प्रतिभासित करने का है उसी प्रकार जीव का स्वभाव भी स्व और अन्य पदार्थों को प्रतिभासित करने का है तथा जिस प्रकार दर्पण का स्वभाव स्व और अन्य पदार्थों को अपने अन्दर प्रतिबिम्बित करने का है उसी प्रकार जीव का स्वभाव भी स्व और अन्य पदार्थों को अपने अन्दर प्रतिबिम्बित करने का है।

यहाँ पर प्रतिबिम्बित शब्द का अर्थ स्व की अपेक्षा दर्पण अथवा जीव की तदात्मक स्थिति के रूप में और अन्य पदार्थों की अपेक्षा दर्पण अथवा जीव की उन अन्य पदार्थों के निमित्त से होनेवाली तदनुरूप परिणति के रूप में लिया चाहिये।

जीव के स्वभाव को समझाने के लिये यहाँ पर जो दीपक और दर्पण दोनों को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है उसका प्रयोजन यह है कि यद्यपि दीपक का स्वभाव अन्य पदार्थों को

प्रतिभासित अर्थात् प्रकाशित करने का है, परन्तु उन अन्य पदार्थों को अपने अन्दर प्रतिविम्बित करने का उसका स्वभाव नहीं है। इसी तरह यद्यपि दर्पण का स्वभाव अन्य पदार्थों को अपने अन्दर प्रतिविम्बित करने का है, परन्तु उन अन्य पदार्थों को प्रतिभासित अर्थात् प्रकाशित करने का उसका स्वभाव नहीं है जब कि जीव में दीपक और दर्पण की अपेक्षा यह विशेषता पायी जाती है कि उसका स्वभाव दीपक की तरह अन्य पदार्थों को प्रतिभासित अर्थात् ज्ञान करने का भी है और दर्पण की तरह अन्य पदार्थों को अपने अन्दर प्रतिविम्बित करने का भी है। आगम में भी इसीलिये जीव के स्वभाव को समझने के लिये दीपक और दर्पण दोनों को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है।*

## दीपक और जीव द्वारा अन्य पदार्थों के प्रतिभासित होने का आधार—

देखने में आता है कि दीपक अन्य पदार्थों के साथ जब तक अपना सम्बन्ध स्थापित नहीं कर लेता है तब तक वह उनको प्रतिभासित अर्थात् प्रकाशित करने में असमर्थ ही रहा करता है। इसी प्रकार जीव के सम्बन्ध में भी यह स्वीकार करना आवश्यक है कि वह भी जब तक अन्य पदार्थों के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित नहीं कर लेगा तब तक वह उनको प्रतिभासित अर्थात् ज्ञात करने में असमर्थ ही रहेगा, परन्तु यह निर्विवाद बात है कि जिस प्रकार दीपक अन्य पदार्थों के पास पहुँच कर उनसे अपना सम्बन्ध स्थापित करता है उस प्रकार जीव अन्य पदार्थों के पास पहुँच कर उनसे अपना सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाता है अतः जैनदर्शन में यह स्वीकार किया गया है कि जीव में दर्पण की तरह जब अन्य पदार्थ प्रतिविम्बित होते हैं तभी वह उनको दीपक की तरह प्रतिभासित अर्थात् ज्ञात करता है।

इस विवेचन के आधार पर ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग के सम्बन्ध में मैं यह कहना चाहता हूँ कि जीव में दर्पण की तरह पदार्थ का प्रतिविम्बित हो जाना ही दर्शनोपयोग है और इस प्रकार के दर्शनोपयोग पूर्वक जीव को दीपक की तरह पदार्थ का प्रतिभासित अर्थात् ज्ञात हो जाना ही ज्ञानोपयोग है। दर्शनोपयोग ज्ञानोपयोग में कारण होता है—यह बात आचार्य नेमिचन्द्र ने द्रव्य संग्रह में "दंसण पुव्वं णाणं" पद्यांश द्वारा स्पष्ट कर दी है।

## उपर्युक्त कथन का समर्थन—

उपर्युक्त कथन के समर्थन में यह कहा जा सकता है कि जैनदर्शन में वर्णित दर्शनोपयोग और बौद्धदर्शन में वर्णित प्रत्यक्ष में समानता पायी जाती है। इतना अवश्य है कि बौद्धदर्शन में जहां उसके द्वारा माने गये प्रत्यक्ष को प्रमाण माना गया है वहां जैन दर्शन में उसके द्वारा माने गये दर्शनोपयोग

* जीव के स्वभाव को समझने के लिये परीक्षा मुख में "प्रदीपवत् ॥१-१२॥" सूत्र द्वारा दीपक को व पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में "तज्जयति परं ज्योति" इत्यादि पद्य द्वारा तथा रत्नकरण्डश्रावकाचार में "नमः श्री वर्द्धमानाय" इत्यादि पद्य द्वारा दर्पण को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

को प्रमाणता और अप्रमाणता के दायरे से परे रक्खा गया है। इसका कारण यह है कि जैनदर्शन में स्वपरव्यवसायी को प्रमाण माना गया है और जो स्व व्यवसायी होते हुए भी परव्यवसायी नहीं होता उसे अप्रमाण माना गया है। ये दोनों प्रकार की अवस्थायें ज्ञानोपयोग की ही हुआ करती हैं, अतः ज्ञानोपयोग तो प्रमाण तथा अप्रमाण दोनों रूप होता है, किन्तु दर्शनोपयोग में स्व और पर दोनों प्रकार की व्यवसायात्मकता का सर्वथा अभाव जैनदर्शन में स्वीकार किया गया है, अतः उसे न तो प्रमाण रूप ही कह सकते हैं और न अप्रमाणरूप ही कह सकते हैं। इतना अवश्य है कि ज्ञानोपयोग की उत्पत्ति में अनिवार्य कारणता के आधार पर दर्शनोपयोग की सत्ता और उपयोगिता को अवश्य ही जैन दर्शन में स्वीकृत किया गया है।

दर्शनोपयोग की वह स्थिति, जीव में पदार्थ के प्रतिबिम्बित रूप को दर्शनोपयोग मानने से ही बन सकती है अतः जीव में पदार्थ के प्रतिबिम्बित होने को ही दर्शनोपयोग स्वीकृत करना चाहिये।

तात्पर्य यह है कि जब सामान्य अवलोकन अर्थात् दर्शन या दर्शनोपयोग का अर्थ ज्ञेय पदार्थ का जीव के अन्दर प्रतिबिम्बित होना स्वीकृत किया जाता है तभी उसकी स्थिति जैनदर्शन के अनुसार प्रमाणता और अप्रमाणता से परे सिद्ध हो सकती है व बौद्धदर्शन के अनुसार संशय विपर्यय तथा अनध्यवसाय रूप दोषों से रहित हो सकती है।

इसका कारण यह है कि जैनदर्शन में एक तो स्वपर व्यवसायात्मकता को प्रमाणता का और स्व व्यवसायात्मकता के रहते हुए भी परव्यवसायात्मकता के अभाव को अप्रमाणता का चिन्ह मानकर दर्शनोपयोग में स्वव्यवसायात्मकता और परव्यवसायात्मकता दोनों का अभाव स्वीकार किया गया है, दूसरे जीव में पदार्थ का प्रतिबिम्ब पड़े बिना ज्ञानोपयोग की उत्पत्ति की असंभावना को स्वीकार किया गया है, तीसरे दर्शनोपयोग का ऐसा कोई अर्थ नहीं स्वीकृत किया गया है जो दर्शनोपयोग के उपर्युक्त स्वरूप के विरुद्ध हो और चौथे यह बात भी है कि ज्ञानोपयोग जैसा विद्यमान और अविद्यमान दोनों तरह के पदार्थों के विषय में होता है वैसा दर्शनोपयोग विद्यमान और अविद्यमान दोनों प्रकार के पदार्थों के विषय में न होकर केवल विद्यमान पदार्थों के विषय में ही होता है—इस बात को भी जैन दर्शन में स्वीकार किया गया है। इतना ही नहीं, इसी आधार पर बौद्धदर्शन में प्रत्यक्ष की स्थिति संशय, विपर्यय और अनध्यवसायरूप दोषों से रहित स्वीकृत की गयी है। इस प्रकार यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि जैनदर्शन के दर्शनोपयोग और बौद्धदर्शन के प्रत्यक्ष का अर्थ जीव में पदार्थ का प्रतिबिम्बित होना ही है और इसके आधार पर जीव को जो पदार्थ का प्रतिभास होता है वही ज्ञानोपयोग है।

यहां इतनी बात और समझ लेना चाहिये कि यतः सर्वज्ञ के दर्शनावरण कर्म का सर्वथा क्षय हो जाने से उसमें सम्पूर्ण पदार्थ अपनी त्रिकालवर्ती पर्यायों के साथ प्रतिक्षण स्वभावतः प्रतिबिम्बित होते रहते हैं और इसी ज्ञानावरण कर्म के सर्वथा क्षय हो जाने के आधार पर वे सम्पूर्ण पदार्थ अपनी उन त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायों के साथ प्रतिक्षण स्वभावतः प्रतिभासित होते रहते हैं और यतः अल्पज्ञ में

ज्ञेय पदार्थों का प्रतिविम्बित होना निमित्ताधीन है अर्थात् प्रतिनियत पदार्थ का प्रतिनियत इन्द्रिय द्वारा प्रतिनियत आत्मप्रदेशों में जब प्रतिविम्ब पड़ता है तब उस उस इन्द्रिय द्वारा उस उस पदार्थ का ज्ञान जीव को हुआ करता है। जैन दर्शन में उस उस इन्द्रिय द्वारा आत्मप्रदेशों में पड़ने वाले पदार्थ प्रतिविम्ब को तो उस उस इन्द्रिय के दर्शन नाम से पुकारा गया है और इसके आधार पर होने वाले पदार्थ ज्ञान को उस उस इन्द्रिय के मतिज्ञान नाम से पुकारा गया है। अर्थात् जैन दर्शन में चक्षु से आत्मा में पड़ने वाले पदार्थ प्रतिविम्ब को चक्षुर्दर्शन तथा स्पर्शन, रसना, नासिका, कर्ण और मन से आत्मा में पड़ने वाले पदार्थ प्रतिविम्ब को अचक्षुर्दर्शन कहा गया है तथा उस उस दर्शन के आधार पर उस उस इन्द्रिय से होने वाले मतिज्ञान को देखने, छूने, चखने, सूंघने, सुनने और अनुभव करने के रूप में उस उस इन्द्रिय का मतिज्ञान कहा गया है।

यहाँ इतना विशेष समझना चाहिये कि अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणारूप मतिज्ञान में पदार्थ दर्शन साक्षात् कारण होता है तथा स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमानरूप मतिज्ञान में तथा श्रुतज्ञान में पदार्थ दर्शन परंपरया कारण होता है इसका आधार यह है कि दर्शन और अवग्रह, ईहा, अवाय अथवा धारणारूप मतिज्ञानों के मध्य कोई व्यवधान नहीं है जबकि दर्शन और स्मृति के मध्य धारणा ज्ञान का, दर्शन और प्रत्यभिज्ञान के मध्य स्मृति का, दर्शन और तर्क के मध्य प्रत्यभिज्ञान का, दर्शन और अनुमान के मध्य तर्क का और दर्शन और श्रुतज्ञान के मध्य अनुमान ज्ञान का व्यवधान रहा करता है। यहां श्रुत से शब्दजन्य श्रुत लिया गया है—ऐसा जानना चाहिये।

जिन जीवों को अवधिज्ञान होता है उनके उसकी उत्पत्ति में भी दर्शन कारण होता है जिसे अवधिदर्शन कहते हैं और केवलज्ञान की उत्पत्ति में जो दर्शन कारण होता है उसे केवलदर्शन कहा जाता है। यद्यपि मनःपर्ययज्ञान भी दर्शनपूर्वक ही होता है परन्तु उस दर्शन को कौन सा दर्शन कहा जाय? इसका उल्लेख मुझे आगम में देखने को नहीं मिला है फिर भी मेरा अभिमत है कि मनःपर्ययज्ञान मनः स्थित आत्मप्रदेशों में मनःपर्यय ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम पूर्वक होता है और वह ईहा ज्ञान के पश्चात् होता है अतः हो सकता है कि उस दर्शन को मानस दर्शन के रूप में अचक्षुदर्शन में अन्तर्भूत कर दिया गया हो, विद्वान पाठकों को इस पर विचार करना चाहिये।

## दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग के विविध नाम और उनका आधार :—

(१) यतः दर्शन या दर्शनोपयोग का अर्थ पूर्वोक्त प्रकार से आत्मा में पदार्थों का प्रतिविम्बित होना ही है अतएव उसे सामान्य अवलोकन या सामान्यग्रहण नामों से पुकारा जाता है और ज्ञान या ज्ञानोपयोग का अर्थ पूर्वोक्त प्रकार से आत्मा को पदार्थों का प्रतिभासित होना ही है अतः उसे विशेष अवलोकन या विशेषग्रहण नामों से पुकारा जाता है। यहाँ पर वस्तु के सामान्य अंश का प्रतिभास होना दर्शन और विशेष अंश का प्रतिभास होना ज्ञान है—ऐसा अर्थ सामान्य अवलोकन या सामान्य ग्रहण का और विशेष अवलोकन या विशेष ग्रहण का नहीं करना चाहिये।

तात्पर्य यह है कि उक्त प्रकार के दर्शन या दर्शनोपयोग में पदार्थ का अवलम्बन होने से वह पदार्थविलोकन या पदार्थग्रहणरूप तो है फिर भी वह द्रष्टा को अपना संवेदन कराने में असमर्थ है और जो अपना संवेदन नहीं करा सकता है वह पर का संवेदन कैसे करा सकता है ? अतः दर्शन या दर्शनोपयोग को सामान्य अवलोकन या सामान्य ग्रहण नामों से पुकारा जाता है। चूंकि प्रमाण ज्ञानरूप ज्ञान या ज्ञानोपयोग में स्व पर संवेदकता पायी जाती है और अप्रमाण ज्ञानरूप ज्ञान या ज्ञानोपयोग में परसंवेदकता का अभाव रहते हुए भी स्वसंवेदकता तो नियम से पायी जाती है अतः उन्हें विशेष अवलोकन या विशेष ग्रहण नामों से पुकारा जाता है।

( २ ) दर्शन या दर्शनोपयोग का अर्थ जब आत्मा में पदार्थ का प्रतिबिम्बित होना ही है तभी उसे आगम में निराकार शब्द से पुकारा गया है और ज्ञान या ज्ञानोपयोग का अर्थ जब आत्मा को पदार्थ का प्रतिभासित होना ही है तभी उसे साकार शब्द से पुकारा जाता है।

इसका भी तात्पर्य यह है कि उक्त प्रकार के दर्शन या दर्शनोपयोग में पदार्थ का अवलम्बन होते हुए भी स्वसंवेदकता और परसंवेदकता दोनों ही प्रकार के आकारों का अभाव पाया जाता है अतः उसे निराकार शब्द से पुकारते हैं। चूंकि प्रमाणज्ञान रूप ज्ञान या ज्ञानोपयोग में स्वपरसंवेदकता पायी जाती है और अप्रमाण ज्ञान में परसंवेदकता का अभाव रहते हुए भी स्वसंवेदकता तो नियम से पायी जाती है अतः उन्हें साकार शब्द से पुकारते हैं।

( ३ ) दर्शन या दर्शनोपयोग का अर्थ जब आत्मा में पदार्थ का प्रतिबिम्बित होना ही है तभी उसे आगम में निर्विकल्पक शब्द से पुकारते हैं और ज्ञान या ज्ञानोपयोग का अर्थ जब आत्मा को पदार्थ का प्रतिभासित होना ही है तभी उसे सविकल्पक शब्द से पुकारते हैं।

इसका भी तात्पर्य यह है कि उक्त प्रकार के दर्शन या दर्शनोपयोगमें पदार्थ का अवलम्बन होते हुए भी स्वसंवेदकता और परसंवेदकता दोनों ही प्रकार के विकल्पों का अभाव पाया जाता है अतः उसे निर्विकल्पक शब्द से पुकारते हैं। चूंकि प्रमाण ज्ञानरूप ज्ञान या ज्ञानोपयोग में स्वपरसंवेदकता पायी जाती है और अप्रमाण ज्ञान रूप ज्ञान या ज्ञानोपयोग में परसंवेदकता का अभाव रहते हुए भी स्वसंवेदकता भी नियम से पायी जाती है अतः उन्हें सविकल्पक शब्द से पुकारते हैं। अर्थात् विद्यमान घड़े को विषय करने वाले प्रमाण ज्ञान में "मैं घड़े को जानता हूँ" ऐसा विकल्प और "यह घड़ा है" ऐसा विकल्प आत्मा को होता है तथा अप्रमाण ज्ञान में भी सीप में "यह सीप है या चांदी है" या "यह चांदी है" अथवा "यह कुछ है" ऐसा विकल्प आत्मा को होता है, परन्तु उक्त प्रकार के दर्शन में उक्त प्रकार का उक्त प्रकार का कोई विकल्प संभव नहीं है।

( ४ ) इसीप्रकार दर्शन या दर्शनोपयोग का अर्थ जब आत्मा में पदार्थ का प्रतिबिम्बित होना ही है तभी उसे अव्यवसायात्मक शब्द से पुकारा गया है और ज्ञान या ज्ञानोपयोग का अर्थ जब आत्मा को पदार्थ का प्रतिभासित हो जाना है तभी उसे व्यवसायात्मक शब्द से पुकारा जाता है।

इसका भी तात्पर्य यह है कि उक्त दर्शन या दर्शनोपयोग में पदार्थ का अवलम्बन होते हुए भी स्वसंवेदकता और परसंवेदकता दोनों ही प्रकार की व्यवसायात्मकता का अभाव पाया जाता है अतः उसे अव्यवसायात्मक शब्द से पुकारते हैं। चूंकि प्रमाण ज्ञानरूप ज्ञान ज्ञानोपयोग में स्वपरसंवेदकता पायी जाती है और अप्रमाणज्ञानरूप ज्ञान या ज्ञानोपयोग में परसंवेदकता का अभाव रहते हुए भी स्व-संवेदकता तो नियम से पायी जाती है अतः उन्हें व्यवसायात्मक शब्द से पुकारा जाता है।

यहाँ इतना विशेष समझना चाहिये कि आगम में अप्रमाणज्ञान को जो अव्यवसायी कहा गया है वह इसलिये कहा गया है कि विपर्ययज्ञान में जिस पदार्थ का दर्शन होता है उससे भिन्न पदार्थ का ही सादृश्यवशात् बोध होता है, संशय ज्ञान में जिस पदार्थ का दर्शन होता है उसका तथा उसके साथ ही उससे भिन्न पदार्थ का भी सादृश्यवशात् ढुलमिल बोध होता है और अनध्यवसायज्ञान में तो पदार्थ का दर्शन होते हुए भी अनिर्णीत बोध होना स्पष्ट है।

## दर्शनोपयोग की उपयोगात्मकता :—

आगम में दर्शन या दर्शनोपयोग और ज्ञान या ज्ञानोपयोग दोनों को ही उपयोगात्मक माना गया है। इनमें से ज्ञान या ज्ञानोपयोग को पूर्वोक्त प्रकार विशेष अवलोकन या विशेष ग्रहण रूप होने से तथा साकार, सविकल्पक और व्यवसायात्मक होने से उपयोगात्मक मानना तो निर्विवाद है, परन्तु दर्शन या दर्शनोपयोग को सामान्य अवलोकन या सामान्यग्रहणरूप होने से तथा निराकार, निर्विकल्पक और अव्यवसायात्मक होने से उपयोगात्मक मानना अयुक्त जान पड़ता है। फिर भी उसे इसलिये उप-योगात्मक माना गया है कि एक इन्द्रिय से पदार्थ का प्रतिविम्ब आत्मा में पड़ने के अवसर पर अन्य इन्द्रियों से भी पदार्थ का प्रतिविम्ब आत्मा में पड़ता है और इसी प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय से एक साथ नाना पदार्थों का प्रतिविम्ब भी आत्मा में एक साथ पड़ता है—इस तरह आत्मा नाना इन्द्रियों से नाना-पदार्थों का प्रतिविम्ब एक साथ पड़ने पर भी अथवा एक ही इन्द्रिय से नाना पदार्थों का प्रतिविम्ब एक साथ पड़ने पर भी उस समय उसी इन्द्रिय से और उसी पदार्थ के आत्मा में पड़ने वाले प्रतिविम्ब को दर्शन या दर्शनोपयोग कहना चाहिये जो अपने प्रभाव की अधिकता के कारण उस समय होने वाले पदार्थ ज्ञान में कारण होता है, क्योंकि नाना इन्द्रियों से नाना पदार्थों के तथा एक ही इन्द्रिय से नाना पदार्थों के प्रतिविम्ब आत्मा में एक साथ पड़ने पर भी अल्पज्ञ जीवों को उस अवसर पर एक ही इन्द्रिय से एक ही पदार्थका बोध हुआ करता है। इस प्रकार आगम में पदार्थ प्रतिविम्ब सामान्य को दर्शन या दर्शनोपयोग न मान कर पदार्थ प्रतिविम्बविशेष को ही दर्शन या दर्शनोपयोग स्वीकार किया गया है।

## दर्शनोपयोग ज्ञानोपयोग से पृथक् है :—

यद्यपि दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग दोनों ही उपयोगात्मक हैं फिर दर्शनोपयोग को ज्ञानोपयोग से पृथक् ही जैन दर्शन में स्थान दिया गया है। इसका एक कारण तो यह है कि जहां ज्ञानोपयोग

को विशेष अवलोकन या विशेष ग्रहण रूप तथा साकार, सविकल्पक और व्यवसायात्मक स्वीकार किया गया है वहां दर्शनोपयोग को सामान्य अवलोकन या सामान्य ग्रहण रूप तथा निराकार, निर्विकल्पक और अव्यवसायात्मक स्वीकार किया गया है, दूसरा कारण यह है कि पूर्वोक्त प्रकार दर्शनोपयोग ज्ञानोपयोग की उत्पत्ति में कारण होता है, तीसरा कारण यह है कि दर्शनोपयोग विद्यमान पदार्थ का ही हुआ करता है जब कि ज्ञानोपयोग विद्यमान और सादृश्यवशात् कदाचित् अविद्यमान पदार्थ का भी हुआ करता है, चौथा कारण यह है कि दर्शन पदार्थ प्रतिबिम्बरूप होता है जबकि ज्ञान पदार्थ प्रतिभास रूप होता है और पांचवां कारण यह है कि आगम में जीव की भाववती शक्ति के विकास के रूप में दर्शन और ज्ञान दो पृथक् पृथक् शक्तियां स्वीकार की गयी हैं तथा इनको ढकने वाले दर्शनावरण और ज्ञानावरण दो पृथक् पृथक् कर्म भी वहां स्वीकार किये गये हैं जिनके क्षयोपशम या क्षय से इनका पृथक् पृथक् विकास होता है। इन्हीं विकसित दर्शनशक्ति और ज्ञानशक्ति के पृथक् पृथक् सामान्य अवलोकन और विशेष अवलोकन करनेरूप व्यापारों को ही क्रमशः दर्शनोपयोग व ज्ञानोपयोग समझना चाहिये।

## दोनों उपयोगों के क्रम और यौगपद्य पर विचार :—

यद्यपि आत्मा में पदार्थ के प्रतिबिम्बित होने का नाम दर्शनोपयोग है और वह तब तक विद्यमान रहता है जब तक जीव को पदार्थ ज्ञान होता रहता है, परन्तु दर्शनोपयोग की पूर्वोक्त उपयोगात्मकता को लेकर यदि विचार किया जाय तो यही तत्त्व निष्पन्न होता है कि छद्मस्थ जीवों को दर्शनोपयोग के अनन्तर ही ज्ञानोपयोग होता है व सर्वज्ञ को दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग दोनों साथ-साथ ही हुआ करते हैं जैसा कि द्रव्यसंग्रह की निम्नलिखित गाथा से स्पष्ट है।

"दंसणपुव्वं णाणं छदुमत्थाणं ण दुण्णि उपयोगा।
जुगवं जम्हा केवलिणाहे जुगव तु ते दो वि ॥४४॥"

**अर्थः**—छद्मस्थ ( अल्पज्ञ ) जीवों को दर्शनोपयोग पूर्वक अर्थात् दर्शनोपयोग के अनन्तर पश्चात् ज्ञानोपयोग हुआ करता है क्योंकि उनके ये दोनों उपयोग एक साथ नहीं हुआ करते हैं लेकिन सर्वज्ञ के ये दोनों उपयोग एक ही साथ हुआ करते हैं।

दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग की छद्मस्थ ( अल्पज्ञ ) और सर्वज्ञ की अपेक्षा से क्रम और यौगपद्य रूप उपर्युक्त व्यवस्था को स्वीकृत करने का आधार यह है कि सर्वज्ञ के ज्ञान में संपूर्ण पदार्थ [illegible] के प्रत्येक क्षण से विभाजित अपनी-अपनी समस्त त्रैकालिक पर्यायों के साथ सतत् प्रतिभासित होते रहते हैं अर्थात् काल का ऐसा एक क्षण भी नहीं है जिसमें सम्पूर्ण पदार्थों का अपनी-अपनी उक्त प्रकार की समस्त त्रैकालिक पर्यायों के साथ प्रतिभास न होता हो क्योंकि उसका ( सर्वज्ञ का ) [illegible] दर्शन का [illegible] हुआ करता है अतः उसके दर्शन और [illegible] निश्चित हो जाता है। [illegible] छद्मस्थ का ज्ञान [illegible] पदार्थ की [illegible] पर्याय

को पकड़ने में असमर्थ रहता है क्योंकि वह अन्तर्मुहूर्तवर्ती पर्यायों की स्थूलरूपता को ही सतत एक पर्याय के रूप में ग्रहण करता है अतः उसके ज्ञान में क्षणिक विभाजन नहीं हो पाता है। दूसरी बात यह है कि सर्वज्ञ का ज्ञान समय के भेद से परिवर्तित होने पर भी विषय के भेद से कभी परिवर्तित नहीं होता है, क्योंकि उसका ज्ञान प्रथम क्षण में पदार्थों को जिस रूप में जानता है उसी रूप में द्वितीयादि क्षणों में भी जानता है। परन्तु अल्पज्ञ का ज्ञान विषय भेद के आधार पर सतत परिवर्तित होता रहता है। अर्थात् अल्पज्ञ को कभी किसी इन्द्रिय द्वारा किसी रूप में पदार्थज्ञान होता है और कभी किसी इन्द्रिय द्वारा किसी रूप में पदार्थ ज्ञान होता है। इसी प्रकार एक ही इन्द्रिय से कभी किसी रूप में पदार्थ ज्ञान होता है और कभी किसी रूप में पदार्थज्ञान होता है। पदार्थज्ञान की यह स्थिति अल्पज्ञ के दर्शनोपयोग में परिवर्तन मानने के लिये बाध्य कर देती है। तीसरी बात जैसी कि पूर्व में स्पष्ट की गयी है—यह है कि आत्मा में पड़ने वाले पदार्थ प्रतिबिम्बसामान्य का नाम दर्शनोपयोग नहीं है किन्तु आत्मा में पड़ने वाले पदार्थ प्रतिबिम्बविशेष का नाम ही दर्शनोपयोग है अर्थात् ज्ञानोपयोग की उत्पत्ति के कारणभूत आत्मा में पड़ने वाले पदार्थप्रतिबिम्ब का नाम ही दर्शनोपयोग है। इस प्रकार इन आधारों से अल्पज्ञ के दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग में दोनों की उपयोगात्मकता और कार्यकारणभाव के आधार पर दोनों में क्रम सिद्ध हो जाता है। अर्थात् विशेषग्रहण के अवसर पर सामान्यग्रहण की स्थिति उपयोगात्मकता के आधार पर क्षीण हो जाती है और कार्यकारणभाव के आधार पर जैसे कषाय का पूर्ण रूपेण उपशम अथवा क्षय दशवें गुणस्थान के अन्त समय में मानकर उसके अनन्तर समय में उपशान्तमोह नामक एकादश गुणस्थान की अथवा क्षीणमोह नामक द्वादश गुणस्थान की व्यवस्था को आगम में स्वीकार किया गया है वैसे ही अल्पज्ञ के दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग के क्रम को स्वीकार करना चाहिये तथा जैसे कषाय के उपशम व क्षय के साथ आत्मा की उपशान्तमोहरूप अवस्था का व क्षीण मोहरूप अवस्था का सद्भाव की अपेक्षा क्षण भेद नहीं है वैसा ही क्षणभेद सद्भाव की अपेक्षा अल्पज्ञ के दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग में नहीं है। अर्थात् ज्ञानोपयोग के साथ दर्शनोपयोग का यदि सद्भाव न स्वीकार किया जाय तो ज्ञानोपयोग का आधार समाप्त हो जाने से ज्ञानोपयोग का ही अभाव हो जायगा।

## दर्शनोपयोग का महत्व :—

यद्यपि पूर्व के विवेचन से ज्ञानोपयोग के समान दर्शनोपयोग का महत्व स्पष्ट हो जाता है फिर भी यहाँ अनेक प्रकार से दर्शनोपयोग का महत्व स्पष्ट किया जा रहा है।

ज्ञान या ज्ञानोपयोग के अवस्थाओं के भेद के आधार पर आगम में पूर्वोक्त प्रकार अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल के भेद से बारह भेद बतलाये गये हैं और इन सबको प्रत्यक्ष और परोक्ष के नाम के दो वर्गों में गर्भित कर दिया गया है।

अब यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि एक ज्ञान प्रत्यक्ष और दूसरा परोक्ष क्यों है ? इस प्रश्न के समाधान स्वरूप आगम में जो कुछ प्रतिपादित है उसका सार यह है कि सब जीवों में पदार्थों के जानने की जो शक्ति विद्यमान है उसके आधार पर ही प्रत्येक जीव पदार्थों का बोध किया करता है जिस बोध का फल प्रवृत्ति, निवृत्ति अथवा उपेक्षा के रूप में जीव को प्राप्त होता है। पदार्थों का बोध सामान्यतया मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान के भेद से पांच प्रकार का होता है। मतिज्ञान में स्पर्शन, रसना, नासिका, नेत्र और कर्ण इन पांच इन्द्रियों अथवा मन की सहायता अपेक्षित रहा करती है, श्रुतज्ञान केवल मन की सहायता से ही उत्पन्न हुआ करता है तथा अवधि, मनःपर्यय और केवल ये तीन ज्ञान इन्द्रिय अथवा मन की सहायता की अपेक्षा किये बिना ही उत्पन्न हुआ करते हैं।

ज्ञान के उपर्युक्त बारह भेदों में अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान-इन सब को मतिज्ञान में अन्तर्भूत कर दिया गया है तथा शेष श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ये चार स्वतंत्र ज्ञान हैं। इनमें से अवधि, मनःपर्यय और केवल ये तीन ज्ञान सर्वथा प्रत्यक्ष हैं, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और श्रुत-ये पांच ज्ञान सर्वथा परोक्ष हैं तथा अवग्रह, ईहा अवाय और धारणा ये चार ज्ञान कथंचित् प्रत्यक्ष हैं और कथंचित् परोक्ष हैं।

अब यहाँ ये प्रश्न उपस्थित होते हैं कि मतिज्ञान के भेद स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान तथा श्रुतज्ञान ये सब सर्वथा परोक्ष क्यों हैं ? तथा अवधि, मनःपर्यय और केवल-ये ज्ञान सर्वथा प्रत्यक्ष क्यों हैं ? व इसी प्रकार मतिज्ञान के ही भेद अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा-ये ज्ञान कथंचित् प्रत्यक्ष और कथंचित् परोक्ष क्यों हैं ?

इन प्रश्नों का समाधान यह है कि आगम में प्रत्यक्ष और परोक्ष शब्दों के दो-दो अर्थ स्वीकार किये गये हैं। अर्थात् एक प्रत्यक्ष तो वह ज्ञान है जो इन्द्रिय अथवा मन की सहायता की अपेक्षा किये बिना ही हो जाया करता है और दूसरा प्रत्यक्ष वह ज्ञान है जिसमें पदार्थ का विशद ( साक्षात्कार ) रूप बोध होता है। इसी प्रकार एक परोक्ष तो वह ज्ञान है जो इन्द्रिय अथवा मन की सहायता से होता है और दूसरा परोक्ष वह ज्ञान है जिसमें पदार्थ का अविशद ( असाक्षात्कार ) रूप बोध होता है।

प्रत्यक्ष और परोक्ष के उक्त लक्षणों में से पहला-पहला लक्षण तो करणानुयोग की विशुद्ध आध्यात्मिक पद्धति के आधार पर निश्चित किया गया है और दूसरा-दूसरा लक्षण द्रव्यानुयोग की वस्तुप्रतिपादक पद्धति के आधार पर निश्चित किया गया है। पहला-पहला लक्षण तो ज्ञानों की इन्द्रियों व मन की पराधीनता बतलाता है और दूसरा-दूसरा लक्षण ज्ञानों के तथ्यात्मक स्वरूप का प्रतिपादन करता है।

इस विवेचन के आधार पर मैं यह कहना चाहता हूँ कि स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और श्रुत ये सभी ज्ञान इन्द्रिय अथवा मन की सहायता से उत्पन्न होने के आधार पर पराधीन होने के कारण

करणानुयोग की विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टि से भी परोक्ष हैं व इनमें पदार्थ का अविशद ( असाक्षात्कार ) रूप बोध होने के कारण द्रव्यानुयोग की तथ्यात्मकस्वरूप–प्रतिपादनदृष्टि से भी परोक्ष हैं अतः सर्वथा परोक्ष हैं। इसी तरह अवधि, मनःपर्यय और केवल–ये तीन ज्ञान इन्द्रिय अथवा मन की सहायता के विना ही उत्पन्न होने के आधार पर स्वाधीन होने के कारण करणानुयोग की विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टि से भी प्रत्यक्ष हैं व इनमें पदार्थ का विशद ( साक्षात्कार ) रूप बोध होने के कारण द्रव्यानुयोग की तथ्यात्मक स्वरूप प्रतिपादन दृष्टि से भी प्रत्यक्ष हैं अतः सर्वथा प्रत्यक्ष हैं लेकिन अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा–ये चार ज्ञान इन्द्रिय अथवा मन की सहायता से उत्पन्न होने के आधार पर पराधीन होने के कारण करणानुयोग की विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टि से जहाँ परोक्ष हैं वहाँ इनमें पदार्थका विशद ( साक्षात्कार ) रूप बोध होने के कारण द्रव्यानुयोग की तथ्यात्मकस्वरूप–प्रतिपादनदृष्टि से प्रत्यक्ष हैं अतः कथंचित् परोक्ष और कथंचित् प्रत्यक्ष हैं।

यहाँ पर यदि यह प्रश्न किया जाय कि पदार्थ का विशद (साक्षात्कार) रूप बोध क्या है ? और पदार्थ का अविशद (असाक्षात्कार) रूप बोध क्या है ? तो इसका समाधान यह है कि जिस बोध में पदार्थ दर्शन साक्षात् कारण होता है वह बोध पदार्थ का स्पष्ट बोध होने के आधार पर विशद (साक्षात्कारर्थ) रूप बोध कहलाता है और जिस बोध में पदार्थदर्शन साक्षात् कारण न होकर परंपरया कारण होता है वह बोध पदार्थ का अस्पष्ट बोध होने के आधार पर अविशद ( असाक्षात्कार ) रूप बोध कहलाता है और यह बात पूर्व में बतलायी जा चुकी है कि पदार्थ का विशद ( साक्षात्कार ) रूप बोध ही प्रत्यक्ष है और पदार्थ का अविशद ( असाक्षात्कार ) रूप बोध ही परोक्ष है। यतः अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा रूप मतिज्ञानों में व अवधि, मनःपर्यय और केवलरूप ज्ञानों में पदार्थ दर्शन साक्षात् कारण होता है इसलिये इस दृष्टि से ये सब ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाते हैं और यतः स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क तथा अनुमानरूप मतिज्ञानों में व श्रुतज्ञान में पदार्थ दर्शन साक्षात् कारण नहीं होकर परंपरया कारण होता है क्योंकि दर्शन और इन ज्ञानों के मध्य अन्य ज्ञानोंका व्यवधान रहा करता है जैसा कि पूर्व में बतलाया जा चुका है कि दर्शन और स्मृति के मध्य धारणा ज्ञान का व्यवधान रहा करता है क्योंकि स्मृतिज्ञान धारणा ज्ञानपूर्वक होता है, दर्शन और प्रत्यभिज्ञान के मध्य धारणाज्ञान के अनन्तर पश्चात होने वाले स्मृतिज्ञान का व्यवधान रहा करता है क्योंकि प्रत्यभिज्ञान स्मृतिज्ञान पूर्वक होता है, दर्शन और तर्क ज्ञान के मध्य स्मृतिज्ञान के अनन्तर पश्चात् होने वाले प्रत्यभिज्ञान का व्यवधान रहता है क्योंकि तर्क ज्ञान प्रत्यभिज्ञान पूर्वक होता है, दर्शन और अनुमान ज्ञान के मध्य प्रत्यभिज्ञान के अनन्तर पश्चात् होने वाले तर्क ज्ञान का व्यवधान रहता है क्योंकि अनुमानज्ञान तर्कज्ञान पूर्वक होता है और दर्शन और श्रुतज्ञान के मध्य तर्क ज्ञान के अनन्तर पश्चात् होने वाले अनुमान ज्ञान का व्यवधान रहता है क्योंकि श्रुतज्ञान अनुमान पूर्वक होता है, इसलिये ये स्मृति-आदि ज्ञान इस दृष्टि से परोक्ष कहलाते हैं।

इस विवेचन से यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है कि एक तो पदार्थदर्शन पदार्थ में अनिवार्य कारण होता है और दूसरे पदार्थदर्शन को साक्षात् कारणता पदार्थ ज्ञान की प्रत्यक्षता का और पदार्थ-

दर्शन की असाक्षात् कारणता अर्थात् परंपरया कारणता पदार्थ ज्ञान की परोक्षता का आधार है, इसलिये दर्शनोपयोग का महत्त्व प्रस्थापित हो जाता है और तब इस प्रश्न का भी समाधान हो जाता है कि एक ज्ञान प्रत्यक्ष और दूसरा ज्ञान परोक्ष क्यों है ?

अब यहां पर एक बात और विचारणीय रह जाती है कि जिस प्रकार दर्शन और स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और श्रुतनाम के ज्ञानों के मध्य पूर्वोक्त प्रकार यथासंभव धारणा आदि ज्ञानों का व्यवधान रहता है उसी प्रकार जब ईहाज्ञान अवग्रह पूर्वक होता है, अवायज्ञान ईहाज्ञान पूर्वक होता है और धारणाज्ञान अवायज्ञान पूर्वक होता है, तथा इसी प्रकार मनःपर्यय ज्ञान भी ईहाज्ञान पूर्वक ही होता है तो अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ज्ञानों में तथा मनःपर्यय ज्ञान में भी दर्शन के साथ यथा संभव अन्य ज्ञानों का व्यवधान सिद्ध हो जाने से इन्हें प्रत्यक्ष कैसे कहा जा सकता है ?

इसका उत्तर यह है कि यद्यपि ईहाज्ञान में अवग्रहज्ञान की कारणता, अवाय ज्ञान में ईहाज्ञान की कारणता, धारणाज्ञान में अवायज्ञान की कारणता और मनःपर्ययज्ञान में भी ईहाज्ञान की कारणता विद्यमान है अर्थात् ये सब ज्ञान इनके पश्चात् ही होते हैं फिर भी पूर्वोक्त दर्शन इन ज्ञानों में साक्षात् ही कारण होता है अर्थात् दर्शन और इन ज्ञानों के मध्य वे अवग्रह आदि ज्ञान व्यवधान कारक नहीं होते हैं इसलिये इन ज्ञानों में दर्शन की साक्षात् कारणता की सिद्धि में कोई बाधा नहीं उत्पन्न होती है, इसलिये इन ज्ञानों की प्रत्यक्षता में भी इस दृष्टि से कोई बाधा नहीं उत्पन्न होती है ।

यहां प्रसंगवश मैं इतना और कह देना चाहता हूँ कि कहीं कहीं ( अभ्यस्तदशा में ) अवग्रह ज्ञान अवायात्मक रूप में ही उत्पन्न होता है और कहीं-कहीं ( अनभ्यस्त दशा में ) अवग्रह ज्ञान के पश्चात् संशय उत्पन्न होने पर ईहाज्ञान उत्पन्न होता है और तब वह अवग्रहज्ञान अवायज्ञान का रूप धारण करता है ।

यह संपूर्ण लेख मैंने आगम और विशेषकर अपनी चिन्तन शक्ति के आधार पर लिखा है इसलिये इस संपूर्ण लेख पर ही विद्वानों को विचार करना चाहिये ।



भाई ! अपनी आत्मा को किसी व्यामोह के गिरवी रखकर आगम विरुद्ध अर्थात् प्रवृत्ति मत करो व अपशब्द न निकालो, क्योंकि इस [illegible] कीर्ति के चमत्कार में आनन्द [illegible] ( मालूम ) ज्ञान होगा, [illegible] । जैसे :—[illegible]

# जैन ज्योतिर्लोक

[ लेखक — पं० मोतीचन्दजी जैन सर्राफ, शास्त्री, न्यायतीर्थ, आ० धर्मसागरजी संघस्थ ]

ज्योतिषामथ लोकस्य भूतयेऽद्भुतसंपदः ।
गृहाः स्वयंभुवः संति विमानेषु नमामि तान् ।।१।।

ज्योतिष देवों के विमानमें अद्भुत संपत् युत जिनगेह ।
स्वयंभुवा प्रतिमा भी अगणित उन्हें नमूं निज वैभव हेतु ।।

इस अनन्तानन्त प्रमाण आकाश के बीचों बीच में पुरुषाकार लोकाकाश है। इसके ऊर्ध्व, मध्य और अधोलोक से तीन भेद माने गये हैं। इसमें एक राजू चौड़ा एवं एक लाख चालीस योजन ऊंचा मध्य लोक है। इस मध्य लोक में जम्बूद्वीप को आदि लेकर असंख्यातों द्वीप और समुद्र पाये जाते हैं। एक लाख योजन व्यास वाले जम्बूद्वीप को घेरे हुये २ लाख योजन वाला लवण समुद्र है इसी प्रकार धातकी खण्ड आदि द्वीप, समुद्र एक दूसरे को वेष्ठित किये हुये हैं। यहाँ पर मुख्य रूप से जम्बूद्वीप सम्बन्धी ज्योतिर्वासी देवों का वर्णन किया जा रहा है। देवों के ४ भेद हैं:—भवनवासी, व्यन्तरवासी, ज्योतिर्वासी और कल्पवासी। ज्योतिर्वासी देवों के भेद—"ज्योतिष्काः सूर्याचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्र प्रकीर्णक-तारकाश्च।" ज्योतिष्क देवों के ५ भेद हैं:—(१) सूर्य (२) चन्द्रमा (३) ग्रह (४) नक्षत्र (५) तारा। इनके विमान चमकीले होने से इन्हें ज्योतिष्क देव कहते हैं। ये सभी विमान अर्धगोलक के सदृश हैं। तथा मणिमय तोरणों से अलंकृत होते हुए निरन्तर देव-देवियों से एवं जिन मन्दिरों से सुशोभित रहते हैं। तथा अपने को जो सूर्य चन्द्र तारे आदि दिखायी देते हैं यह उनके विमानों का नीचेवाला गोलाकार भाग दिखायी देता है।

ये सभी ज्योतिर्वासी देव मेरु पर्वत को ११२१ योजन अर्थात् ४४८४००० मील छोड़कर नित्य ही प्रदक्षिणा के क्रम से भ्रमण करते हैं। इनमें चन्द्रमा, सूर्य, ग्रह ५१०$\frac{४८}{६१}$ योजन प्रमाण गमन क्षेत्र में स्थित परिधियों के क्रम से पृथक्-पृथक् गमन करते हैं। परन्तु नक्षत्र और तारे अपनी-अपनी एक परिधि रूप मार्ग में ही गमन करते हैं।

## ज्योतिष्क देवों की पृथ्वीतल से ऊंचाई का क्रम

उपर्युक्त ५ प्रकार के ज्योतिर्वासी देवों के विमान इस चित्रा पृथ्वी से ७९० योजन से प्रारम्भ होकर ९०० योजन की ऊंचाई तक अर्थात् ११० योजन में स्थित हैं।

यथा—इस चित्रा पृथ्वी से ७९० योजन के ऊपर प्रथम ही ताराओं के विमान हैं। अनन्तर १०

योजन जाकर अर्थात् पृथ्वीतल से ८०० योजन जाकर सूर्य के विमान हैं। तथा ८० योजन अर्थात् पृथ्वी-तल से ८८० योजन ( ३५२०००० मील ) पर चन्द्रमा के विमान हैं।

( पूरा विवरण चार्ट में देखिए )

## ज्योतिष्क देवों की पृथ्वीतल से ऊंचाई

| विमानों के नाम | चित्रा पृथ्वी से ऊंचाई योजन में | ऊंचाई मील में |
|---|---|---|
| इस पृथ्वी से तारे | ७९० योजन के ऊपर | ३१६०००० मील पर |
| सूर्य | ८०० | ३२००००० |
| चन्द्र | ८८० | ३५२०००० |
| नक्षत्र | ८८४ | ३५३६००० |
| बुध | ८८८ | ३५५२००० |
| शुक्र | ८९१ | ३५६४००० |
| गुरु | ८९४ | ३५७६००० |
| मंगल | ८९७ | ३५८८००० |
| शनि | ९०० | ३६००००० |

## सूर्य चन्द्र आदि के विमानों का प्रमाण

सूर्य का विमान [illegible] योजन का है, यदि एक योजन में ४००० मील के अनुसार गुणा कीजिए, तो [illegible] मील होता है, एवं चन्द्र का विमान [illegible] योजन अर्थात् ३६७२[illegible] मील का है। शुक्र का विमान १ कोश का है। यह बड़ा कोश लघु कोश से ५०० गुणा है। अतः ५०० × २ मील से गुणा करने पर १००० मील का आता है। इसी प्रकार आगे—ताराओं के विमानों का सबसे जघन्य प्रमाण ¼ कोश अर्थात् २५० मील का है।

इन सभी विमानों की मोटाई (बाहुल्य) अपने-अपने विमानों के विस्तार से आधी-आधी मानी है। राहु के विमान चन्द्र विमान के नीचे एवं केतु के विमान सूर्य विमान के नीचे रहते हैं अर्थात् ४ [illegible] प्रमाण ऊपर चन्द्र, सूर्य के विमान स्थित होकर गमन करते रहते हैं। ये राहु, केतु के विमान [illegible] में पूर्णिमा एवं अमावस्या को क्रम से चन्द्र एवं सूर्य के विमानों [illegible] इसी को ग्रहण कहते हैं।

## ज्योतिष्क देवों के विम्बों का प्रमाण

| विम्बों का प्रमाण | योजन से | मील से | किरणें |
|---|---|---|---|
| सूर्य | $\frac{४८}{६१}$ | ३१४७$\frac{३३}{६१}$ | १२००० |
| चन्द्र | $\frac{५६}{६१}$ | ३६७२$\frac{८}{६१}$ | १२००० |
| शुक्र | १ कोश | १००० | २५०० |
| बुध | कुछ कम आधा कोश | कुछ कम ५०० मील | मन्द किरणें |
| मंगल | ” ” | ” ” | ” |
| शनि | ” ” | ” ” | ” |
| गुरु | ” एक कोश | ” १००० मील | ” |
| राहु | ” एक योजन | ” ४००० मील | ” |
| केतु | ” ” | ” ” | ” |
| तारे | $\frac{१}{४}$ कोश | २५० मील | ” |

## ज्योतिष्क विमानों की किरणों का प्रमाण

सूर्य एवं चन्द्र की किरणें १२०००-१२००० हैं। शुक्र की किरणें २५०० हैं। बाकी सभी ग्रह, नक्षत्र तारकाओं की मन्द किरणें हैं।

## इनके वाहन जाति के देव

इन सूर्य और चन्द्र के विमानों को अभियोग्य जाति के देव पूर्व में सिंह के आकार धरकर ४०००, दक्षिणमें हाथी के आकार ४०००, पश्चिम में बैल के आकार ४००० एवं उत्तर में घोड़े के आकार ४००० इस प्रकार १६००० देव सतत खींचते रहते हैं। इसी प्रकार ग्रहों के ८०००, नक्षत्रों के ४०००, ताराओं के २००० वाहन जाति के देव होते हैं। गमन में चन्द्रमा सबसे मन्द है। सूर्य उसकी अपेक्षा शीघ्रगामी है सूर्य से शीघ्रतर ग्रह, ग्रहों से शीघ्रतर नक्षत्र एवं नक्षत्रों से भी शीघ्रतर गति वाले तारागण हैं।

## शीत एवं उष्ण किरणों का कारण

पृथ्वी के परिणाम स्वरूप चमकीली धातु से सूर्य का विमान बना हुआ है, जो कि अकृत्रिम है। इस सूर्य के विम्ब में स्थित पृथ्वीकायिक जीवों के आतप नामकर्म का उदय होने से उसकी किरणें

चमकती हैं। तथा उनके मूल में उष्णता न होकर सूर्य की किरणों में ही उष्णता होती है। इसलिए सूर्य की किरणें उष्ण हैं। उसी प्रकार चन्द्रमा के बिम्ब में रहने वाले पृथ्वीकायिक जीवों के उद्योत नाम कर्म का उदय है जिसके निमित्त से मूल में तथा किरणों में सर्वत्र ही शीतलता पायी जाती है। इसी प्रकार ग्रह नक्षत्र तारा आदि सभी के बिम्ब में रहने वाले पृथ्वीकायिक जीवों के उद्योत नाम कर्म का उदय पाया जाता है।

## सूर्य चन्द्र के विमानों में स्थित जिन मन्दिरों का वर्णन

सभी ज्योतिर्देवों के विमानों में बीचों बीच में एक-एक जिन मन्दिर हैं। और चारों ओर ज्योतिर्वासी देवों के निवास स्थान बने हैं। विशेष—प्रत्येक विमान की तटवेदी चार गोपुरों से युक्त है। उसके बीच में उत्तम वेदी सहित राजांगण ( मध्य का आंगण ) है। राजांगण के ठीक बीच में रत्नमय दिव्य कूट है। उस कूट पर वेदी एवं चार तोरण द्वारों से युक्त जिन चैत्यालय ( मन्दिर ) हैं। वे जिन-मन्दिर मोती व सुवर्ण की मालाओं से रमणीय और उत्तम वज्रमय किवाड़ों से संयुक्त दिव्य चन्द्रोपकों से सुशोभित हैं। वे जिन भवन देदीप्यमान रत्न दीपकों से सहित अष्ट महामंगल द्रव्यों से परिपूर्ण वंदन-माला, चमर, क्षुद्र घंटिकाओं के समूह से शोभायमान हैं। उन जिन भवनों में स्थान-स्थान पर विचित्र रत्नों से निर्मित नाट्य सभा, अभिषेक सभा एवं विविध प्रकार की क्रीड़ा शालाएं बनी हुई हैं।

वे जिन भवन समुद्र के सदृश गंभीर शब्द करने वाले मर्दल, मृदंग, पटह आदि विविध प्रकार के दिव्य वादित्रों से नित्य शब्दायमान हैं। उन जिन भवनों में तीन छत्र, सिंहासन, भामण्डल और चामरों से युक्त जिन प्रतिमाएं विराजमान हैं।

उन जिनेन्द्र प्रासादों में श्री देवी, श्रुतदेवी, यक्षी एवं सर्वाण्ह व सनत्कुमार यक्षों की मूर्तियां भगवान के आजू-बाजू में शोभायमान होती हैं। सब देव गाढ़ भक्ति से जल, चन्दन, तन्दुल, पुष्प, उत्तम नैवेद्य, दीप, धूप और फलों से परिपूर्ण नित्य ही उनकी पूजा करते हैं।

## चन्द्र के भवनों का वर्णन

उन जिन भवनों के चारों ओर समचतुष्कोण लम्बे और नाना प्रकार के विन्यास से रमणीय चन्द्र के प्रासाद होते हैं इनमें कितने ही प्रासाद मरकत वर्ण के, कितने ही कुन्द, पुष्प, चन्द्र, हार एवं बर्फ जैसे वर्ण वाले, कोई सुवर्ण सदृश वर्ण वाले व कोई मूंगा जैसे वर्ण वाले हैं।

इन भवनों में उपपाद मन्दिर, स्नान गृह, भूषण गृह, मैथुनशाला, क्रीड़ाशाला, मन्त्रशाला, आस्थान शालाएं ( सभा भवन ) स्थित हैं। वे सब प्रासाद उत्तम परकोटों से सहित विचित्र गोपुरों से संयुक्त, मणिमय तोरणों से रमणीय विचित्र चित्रमयी दीवालों से युक्त, विविध-विचित्र उपवन वापि-काओं से शोभायमान, सुवर्णमय विशाल खंभों से सहित और शयनासन आदि से परिपूर्ण हैं। दिव्य [illegible] अनुपम [illegible] शुद्ध [illegible] स्पर्श से विविध प्रकार के

सुखों को देते हैं। तथा इन भवनों में कूटों से विभूषित और प्रकाशमान रत्नकिरणपंक्ति से संयुक्त ७-८ आदि भूमियां ( तले ) शोभायमान होती हैं।

इन चन्द्र भवनों में सिंहासन पर चन्द्रदेव रहते हैं एवं चन्द्रदेव के ४ अग्रमहिषी होती हैं। चन्द्राभा, सुसीमा, प्रभंकरा, अर्चिमालिनी। प्रत्येक देवी के ४-४ हजार परिवार देवियां हैं। अग्र-देवियां ४-४ हजार प्रमाण विक्रिया से रूप बना सकती हैं। एक-एक चन्द्र के परिवार देव प्रतीन्द्र ( सूर्य ) सामाजिक, तनुरक्ष, तीनों परिषद, सात अनीक, प्रकीर्णक, अभियोग्य और किल्विषक इस प्रकार आठ भेद हैं इनमें प्रतीन्द्र १, सामानिक आदि संख्यात प्रमाण देव होते हैं। ये देवगण भगवान के कल्याणकों में आया करते हैं, तथा राजाँगण के बाहर विविध प्रकार के उत्तम रत्नों से रचित और विचित्र विन्यास रूप विभूति से सहित परिवार देवों के प्रासाद होते हैं।

## इन देवों की उत्कृष्ट आयु का प्रमाण

चन्द्रमा की उत्कृष्ट आयु=१ पल्य और १ लाख वर्ष की है। सूर्य की १ पल्य १ हजार वर्ष की, शुक्र की १ पल्य १०० वर्ष की, वृहस्पति की १ पल्य की तथा बुध, मंगल आदि की आधा पल्य की है। ताराओं की उत्कृष्टायु पाव पल्य की है, तथा ज्योतिष्क देवांगनाओं की आयु अपने-अपने पति की आयु से अर्ध प्रमाण होती है।

## सूर्य के विम्ब का वर्णन

सूर्य के विमान ३१४७$\frac{३३}{६१}$ मील के हैं एवं इससे आधे मोटाई लिये हैं। तथा उपर्युक्त प्रकार ही अन्य वर्णन चन्द्र के विमानों के सदृश हैं। सूर्य की देवियों के नाम—द्युतिश्रुति, प्रभंकरा, सूर्यप्रभा, अर्चिमालिनी ये चार अग्रमहिषी हैं। इन एक-एक देवियों के ४-४ हजार परिवार देवियां हैं, एवं एक-एक अग्रमहिषी विक्रिया से ४-४ हजार प्रमाण रूप बना सकती हैं।

## बुध आदि ग्रहों का वर्णन

बुध के विमान स्वर्णमय चमकीले हैं। शीतल एवं मंद किरणों से युक्त हैं। कुछ कम ५०० मील के विस्तार वाले हैं तथा उसके आधे मोटाई वाले हैं। पूर्वोक्त चन्द्र, सूर्य विमानों के सदृश ही इनके विमानों में भी जिन मन्दिर, वेदी, प्रासाद आदि रचनायें हैं। देवी एवं परिवार देव आदि तथा वैभव उनसे कम अर्थात् अपने २ अनुरूप है। २-२ हजार अभियोग्य जाति के देव इन विमानों को ढोते हैं।

शुक्र के विमान उत्तम चांदी से निर्मित २॥ हजार किरणों से युक्त हैं, विमान का विस्तार १००० मील का एवं वाहल्य (मोटाई) ५०० मील का है। अन्य सभी वर्णन पूर्वोक्त प्रकार ही है। वृहस्पति के विमान स्फटिक मणि से निर्मित सुन्दर मंद किरणों से युक्त कुछ कम १००० मील विस्तृत एवं इससे आधे मोटाई वाले हैं। देवी एवं परिवार आदि का वर्णन अपने २ अनुरूप तथा वाकी मंदिर, प्रासाद आदि का वर्णन पूर्वोक्त ही है।

मंगल के विमान पद्मराग मणि से निर्मित लाल वर्ण वाले हैं। मंद किरणों से युक्त ५०० मील विस्तृत, २५० मील बाहल्य युक्त हैं। अन्य वर्णन पूर्ववत् है। शनि के विमान स्वर्णमय ५०० मील विस्तृत, २५० मील मोटे हैं। अन्य वर्णन पूर्ववत् है।

नक्षत्रों के नगर विविध-विविध रत्नों से निर्मित रमणीय मन्द किरणों से युक्त हैं। १००० मील विस्तृत ५०० मील मोटे हैं। ४-४ हजार वाहन जाति के देव इनके विमानों को ढोते हैं। शेष वर्णन पूर्ववत् है।

ताराओं के विमान उत्तम-उत्तम रत्नों से निर्मित मन्द-मन्द किरणों से युक्त १००० मील विस्तृत ५०० मील मोटाई वाले हैं। तथा ताराओं के सबसे छोटे से छोटे विमान २५० मील विस्तृत एवं इससे अर्ध बाहल्य वाले हैं।

## सूर्य का गमन क्षेत्र

पहले यह बताया जा चुका है कि जम्बूद्वीप १ लाख योजन (१०००००×४०००=४०००००००० मील) व्यास वाला, एवं वलयाकार ( गोलाकार ) है। सूर्य का गमन क्षेत्र पृथ्वीतल से ८०० योजन ( ८००×४०००=३२००००० मील ) ऊपर जाकर है। वह इस जम्बूद्वीप के भीतर १८० योजन एवं लवण समुद्र में ३३० ४८/६१ योजन है, अर्थात् समस्त गमन क्षेत्र ५१० ४८/६१ योजन या २०४३१४७ ३३/६१ मील है। इतने प्रमाण गमन क्षेत्र में १८४ गलियां हैं। इन गलियों में सूर्य क्रमशः एक-एक गली में संचार करते हैं। इस प्रकार जम्बूद्वीप में दो सूर्य हैं तथा दो चन्द्रमा हैं।

इस ५१० ४८/६१ योजन के गमन क्षेत्र में सूर्य बिम्ब की एक-एक गली ४८/६१ योजन प्रमाण वाली है, एवं एक गली से दूसरी गली का अन्तराल २-२ योजन का है। अतः १८४ गलियों का प्रमाण ४८/६१×१८४=१४४ ४८/६१ हुआ। इस प्रमाण को ५१० ४८/६१ योजन गमन क्षेत्र में से घटाने पर (५१० ४८/६१—१४४ ४८/६१)=३६६ योजन अवशेष रहा। ३६६ योजन में एक कम गलियों का अर्थात् गलियों के अन्तर १८३ हैं उसका भाग देने से गलियों के अन्तर का प्रमाण ३६६÷१८३=२ योजन ( ८००० मील ) का आता है। इस अन्तर में सूर्य की गली का प्रमाण ४८/६१ योजन को मिलाने से सूर्य के प्रतिदिन के गमन क्षेत्र का प्रमाण २ ४८/६१ योजन ( १११४७ ३३/६१ मील ) का हो जाता है।

इन गलियों में एक-एक गली में दोनों सूर्य आमने-सामने रहते हुये १ दिन रात्रि ( ३० मुहूर्त ) में एक गली के भ्रमण को पूरा करते हैं।

## दोनों सूर्यों का आपस में अन्तराल का प्रमाण

जब दोनों सूर्य अभ्यन्तर गली में रहते हैं तब आमने-सामने रहने से एक सूर्य से दूसरे सूर्य का [illegible] योजन ( [illegible] मील ) का रहता है, एवं प्रथम गली में स्थित सूर्य [illegible] योजन ( [illegible] मील ) का रहता है। अर्थात्—एक लाख योजन [illegible] जम्बूद्वीप में से जम्बूद्वीप सम्बन्धी दोनों तरफ के सूर्य के गमन क्षेत्र को घटाने से

$१००००० - १८० \times २ = ९९६४०$ योजन आता है। तथा इसमें मेरु पर्वत का विस्तार घटाकर शेष को आधा करने से मेरु से प्रथम वीथी में स्थित सूर्य का अन्तर निकलता है। $\frac{९९६४० - १००००}{२} = ४४८२०$ यो० ( १७९२८०००० मील ) का होता है।

## सूर्य के अभ्यन्तर गली की परिधि का प्रमाण

अभ्यन्तर ( प्रथम ) गली की परिधि का प्रमाण ३१५०८९ योजन ( १२६०३५६००० मील ) है इस परिधि का चक्कर ( भ्रमण ) २ सूर्य १ दिन-रात में लगाते हैं। अर्थात्—१ सूर्य भरत क्षेत्र में जब रहता है तब दूसरा ठीक सामने ऐरावत क्षेत्र में रहता है, तथा जब १ सूर्य पूर्व विदेह क्षेत्र में रहता है, तब दूसरा पश्चिम विदेह में रहता है। इस प्रकार उपर्युक्त अन्तर से ( ९९६४० योजन ) गमन करते हुये आधी परिधि को १ सूर्य एवं आधी को दूसरा सूर्य अर्थात् दोनों मिलकर ३० मुहूर्त ( २४ घन्टे ) में १ परिधि को पूर्ण करते हैं।

पहली गली से दूसरी गली की परिधि का प्रमाण $१७\frac{३६}{६१}$ योजन ( $७०४९१\frac{४९}{६१}$ मील ) अधिक है। अर्थात् $३१५०८९ + १७\frac{३६}{६१} = ३१५१०६\frac{३६}{६१}$ योजन होता है। इसी प्रकार आगे-आगे की वीथियों में क्रमशः $१७\frac{३६}{६१}$ योजन अधिक होता गया है। यथा— $३१५१०६\frac{३६}{६१} + १७\frac{३६}{६१}$ योजन $= ३१५१२४\frac{१५}{६१}$ योजन प्रमाण तीसरी गली की परिधि है। इसी प्रकार बढ़ते-बढ़ते मध्य की ९२वीं गली की परिधि का प्रमाण ३१६७०२ योजन ( १२६६८०८००० मील ) है। तथैव आगे वृद्धिगत होते हुये अन्तिम बाह्य गली की परिधि का प्रमाण—३१८३१४ योजन ( १२७३२५६००० मील ) है।

## दिन – रात्रि के विभाग का क्रम

प्रथम गली में सूर्य के रहने पर उस गली की परिधि ३१५०८९ के १० भाग कीजिये। एक-एक गली में २-२ सूर्य भ्रमण करते हैं। अतः एक सूर्य के गमन सम्बन्धी ५ भाग हुये। उस ५ भाग में से २ भागों में अन्धकार (रात्रि) एवं ३ भागों में प्रकाश (दिन) होता है। यथा– $३१५०८९ \div १० = ३१५०८\frac{९}{१०}$ योजन दसवां भाग ( १२६०३५६०० मील ) प्रमाण हुआ। एक सूर्य सम्बन्धी ५ भाग परिधि का आधा $३१५०८९ \div २ = १५७५४४\frac{१}{२}$ योजन है। उसमें दो भाग में अन्धकार एवं ३ भाग में प्रकाश है।

इसी प्रकार से क्रमशः आगे-आगे की वीथियों में प्रकाश घटते-घटते एवम् रात्रि बढ़ते-बढ़ते मध्य की गली में दोनों ही ( दिन-रात्रि ) २॥-२॥ भाग में समान रूप से हो जाते हैं। पुनः आगे-आगे की गलियों में प्रकाश घटते-घटते तथा अन्धकार बढ़ते-बढ़ते अन्तिम बाह्य गली में सूर्य के पहुँचने पर ३ भागों में रात्रि एवं २ भागों में दिन हो जाता है, अर्थात् प्रथम गली में सूर्य के रहने से दिन बड़ा एवं अन्तिम गली में रहने से छोटा होता है। इस प्रकार सूर्य के गमन के अनुसार ही भरत, ऐरावत और पूर्व, पश्चिम विदेह क्षेत्रों में दिन-रात्रि का विभाग होता रहता है।

## छोटे-बड़े दिन होने का विशेष स्पष्टीकरण

श्रावण मास में सूर्य पहली गली में रहता है। उस समय दिन १८ मुहूर्त का ( १४ घन्टे २४

मिनट का ) एवं रात्रि १२ मुहूर्त ( ९ घन्टे ३६ मिनट ) की होती है। पुनः दिन घटने का क्रम—जब सूर्य प्रथम गली का परिभ्रमण पूर्ण करके २ योजन प्रमाण अन्तराल के मार्ग को उलंघन कर दूसरी गली में जाता है। तब दूसरे दिन दूसरी गली में जाने पर परिधि का प्रमाण बढ़ जाने से एवं मेरु से सूर्य का अन्तराल बढ़ जाने से दो मुहूर्त का ६१वां भाग ( १ ३५/६१ मिनट ) दिन घट जाता है एवं रात्रि बढ़ जाती है। इसी तरह प्रतिदिन दो मुहूर्त के ६१वें भाग प्रमाण घटते-घटते मध्यम गली में सूर्य के पहुँचने पर १५ मुहूर्त ( १२ घन्टे ) का दिन एवं १५ मुहूर्त की रात्रि हो जाती है। तथैव प्रतिदिन २ मुहूर्त के ६१वें भाग घटते-घटते अन्तिम गली में पहुँचने पर १२ मुहूर्त ( ९ घन्टे ३६ मिनट ) का दिन एवं १८ मुहूर्त ( १४ घन्टे २४ मिनट ) की रात्रि हो जाती है।

जब सूर्य कर्कट राशि में आता है, तब अभ्यंतर गली में भ्रमण करता है। और जब सूर्य मकर राशि में आता है तब बाह्य गली में भ्रमण करता है। विशेष— श्रावण मास में सूर्य प्रथम गली में रहता है। तब १८ मु० का दिन एवं १२ मु० की रात्रि होती है। वैशाख एवं कार्तिक मास में सूर्य बीचों-बीच की गली में रहता है तब दिन एवं रात्रि १५-१५ मु० ( १२ घंटे ) के होते हैं। तथैव माघ मास में सूर्य जब अन्तिम गली में रहता है। तब १२ मु० का दिन एवं १८ मु० की रात्रि होती है।

## दक्षिणायन एवं उत्तरायण

श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के दिन जब सूर्य अभ्यंतर मार्ग ( गली ) में रहता है, तब दक्षिणायन का प्रारम्भ होता है। एवं जब १८४वीं अन्तिम गली में पहुँचता है तब उत्तरायण का प्रारम्भ होता है। अतएव ६ महिने में दक्षिणायन एवं ६ महिने में उत्तरायण होता है।

## एक मुहूर्त में सूर्य के गमन का प्रमाण

जब सूर्य प्रथम गली में रहता है तब एक मुहूर्त में ५२५१ २९/६० योजन [ २१००५९३३ १/३ मील ] गमन करता है। अर्थात्—प्रथम गली की परिधि का प्रमाण ३१५०८९ योजन है। उसमें ६० मुहूर्त का भाग देने से उपर्युक्त संख्या आती है क्योंकि २ सूर्य के द्वारा ६० मुहूर्त में १ परिधि पूर्ण होती है। अतएव ६० का भाग दिया जाता है।

## एक मिनिट में सूर्य का गमन

एक मिनिट में सूर्य की गति ४३७६२ [illegible] मील प्रमाण है अर्थात्—मुहूर्त की गति में ४८ मिनट का भाग देने से १ मिनिट की गति का प्रमाण आता है। यथा—२१००५९३३ १/३ ÷ ४८ = ४३७६२ [illegible]

## अधिक दिन एवं मास का क्रम

जब सूर्य एक पथ से दूसरे पथ में प्रवेश करता है तब मध्य के अन्तराल २ योजन [८००० मील] [illegible] की वृद्धि हो जाती है। [illegible] इस विधि से १ दिन में १ मुहूर्त की वृद्धि होने से १ मास में [illegible] मुहूर्त [illegible] की वृद्धि होती है। इस प्रकार प्रतिदिन १ मुहूर्त [ ४८ मिनट ] की वृद्धि होने

से १ मास में १ दिन तथा १ वर्ष में १२ दिन की वृद्धि हुई। एवं इसी क्रम से २ वर्ष में २४ दिन तथा ढाई वर्ष में ३० दिन (१ मास) की वृद्धि होती है तथा ५ वर्ष रूप १ युग में २ मास अधिक हो जाते हैं।

## चक्रवर्ती के द्वारा सूर्य के जिनविम्ब का दर्शन

जब सूर्य पहली गली में आता है तब अयोध्या नगरी के भीतर अपने भवन के ऊपर स्थित चक्रवर्ती सूर्य विमान में स्थित जिन विम्ब का दर्शन करते हैं। इस समय सूर्य अभ्यन्तर गली की परिधि ३१५०८९ योजन को ६० मुहूर्त में पूरा करता है। इस गली में सूर्य निषध पर्वत पर उदित होता है वहाँ से उसे अयोध्या नगरी के ऊपर आने में ९ मुहूर्त लगते हैं। अब जब वह ३१५०८९ योजन प्रमाण उस वीथी को ६० मुहूर्त में पूर्ण करता है तब वह ९ मुहूर्त में कितने क्षेत्र को पूरा करेगा ? इस प्रकार त्रैराशिक करने पर $\frac{३१५०८९}{६०} \times ९ = ४७२६३\frac{७}{२०}$ योजन अर्थात् १८९०५४००० मील होता है।

## चन्द्रमा का विमान, गमन क्षेत्र एवं गलियाँ

चन्द्र का विमान $\frac{५६}{६१}$ योजन [$३६७२\frac{८}{६१}$ मील] का है। सूर्य के समान चन्द्रमा का भी गमन क्षेत्र $५१०\frac{४८}{६१}$ योजन है। इस गमन क्षेत्र में चन्द्र की १५ गलियां हैं। इनमें वह प्रतिदिन क्रमशः एक-एक गली में गमन करता है। चन्द्र विम्ब के प्रमाण $\frac{५६}{६१}$ योजन की ही एक-एक गली है, अतः समस्त गमन क्षेत्र में चन्द्र विम्ब प्रमाण १५ गलियों को घटाने से एवं शेष में १ कम गलियों [ १४ ] का भाग देने से चन्द्र गली से दूसरी चन्द्र गली के अन्तर का प्रमाण प्राप्त होता है। यथा— $५१०\frac{४८}{६१} - (\frac{५६}{६१} \times १५ = १३\frac{४७}{६१}) = ४९७\frac{१}{६१}$ इसमें १४ का भाग देने से $४९७\frac{१}{६१} \div १४ = ३५\frac{२१४}{४२७}$ योजन [ $१४२००४\frac{२९२}{४२७}$ मील ] इतना प्रमाण एक चन्द्रगली से दूसरी चन्द्रगली का अन्तराल है। इसी अन्तर में चन्द्र विम्ब के प्रमाण को जोड़ देने से चन्द्र के प्रतिदिन के गमन क्षेत्रका प्रमाण आता है। यथा $३५\frac{२१४}{४२७} + \frac{५६}{६१} = ३६\frac{१७९}{४२७}$ योजन है। अर्थात् $१४५६५३\frac{६९}{४२७}$ मील होता है।

अर्थात्—प्रतिदिन दोनों ही चन्द्रमा एक-एक गलियों में आमने-सामने रहते हुये एक-एक गली का परिभ्रमण करते हैं।

## चन्द्र को १ गली के पूरा करने का काल

अपनी गलियों में से किसी भी एक गली में संचार करते हुये चन्द्र को उस परिधि को पूरा करने में $६२\frac{२३}{२२१}$ मुहूर्त प्रमाण काल लगता है। अर्थात् एक चन्द्र कुछ कम २५ घन्टे में १ गली का भ्रमण करता है। सूर्य को १ गली के भ्रमण में २४ घन्टे एवं चन्द्र को १ गली के भ्रमण में कुछ कम २५ घन्टे लगते हैं।

## चन्द्र का १ मुहूर्त में गमन क्षेत्र

चन्द्रमा की प्रथम वीथी ३१५०८९ योजन की है उसमें एक गली को पूरा करने का काल $६२\frac{२३}{२२१}$ का भाग देने से १ मुहूर्त का गति का प्रमाण आता है। $३१५०८९ \div ६२\frac{२३}{२२१} = ५०७३\frac{७७४४}{१३७२५}$ यो०

आता है, एवं ४००० से गुणा करके इसका मील बनाने पर २०२१४२५६$\frac{४९१}{५८६}$ मील होता है। अर्थात् एक मुहूर्त ( ४८ मिनट ) में चन्द्रमा इतने मील गमन करता है।

## १ मिनट में चन्द्रमा का गमन क्षेत्र

इस मुहूर्त प्रमाण गमन क्षेत्र के मील में ४८ मिनट का भाग देने से १ मिनट की गति का प्रमाण आ जाता है। यथा— २०२१४२५६$\frac{४९१}{५८६}$ ÷ ४८ = ४२२७९७$\frac{३१}{९६४७}$ मील होता है। अर्थात् चन्द्रमा एक मिनट में इतने मील गमन करता है।

## कृष्ण पक्ष – शुक्ल पक्ष का क्रम

जब यहाँ मनुष्य लोक में चन्द्र बिम्ब पूर्ण दिखता है। उस दिवस का नाम पूर्णिमा है। राहु-ग्रह चन्द्र विमान के नीचे गमन करता है और केतुग्रह सूर्य विमान के नीचे गमन करता है। राहु और केतु के विमानों के ध्वजा दण्ड के ऊपर चार प्रमाणांगुल ( २००० उत्सेधांगुल ) प्रमाण ऊपर जाकर चन्द्रमा और सूर्य के विमान हैं। राहु और चन्द्रमा अपनी-अपनी गलियों को लांघकर क्रम से जम्बूद्वीप की आग्नेय और वायव्य दिशा से अगली-अगली गली में प्रवेश करते हैं। अर्थात् पहली से दूसरी, दूसरी से तीसरी आदि गली में प्रवेश करते हैं।

पहली से दूसरी गली में प्रवेश करने पर चन्द्र मण्डल के १६ भागों में से एक भाग राहु के गमन विशेष से आच्छादित ( ढका ) होता हुआ दिखाई देता है। इस प्रकार राहु प्रतिदिन एक-एक मार्ग में चन्द्रबिम्ब की १५ दिन तक एक-एक कलाओं को ढकता रहता है। इस प्रकार राहुबिम्ब के द्वारा चन्द्र की एक-एक कला का आवरण करने पर जिस मार्ग में चन्द्र की एक ही कला दीखती है। वह अमावस्या का दिन होता है।

फिर वह राहु प्रतिपदा के दिन से प्रत्येक गली में एक-एक को छोड़ते हुये पूर्णिमा को पन्द्रहों कलाओं को छोड़ देने से पूर्ण बिम्ब दीखने लगता है। उसे ही पूर्णिमा कहते हैं। इस प्रकार कृष्ण पक्ष एवं शुक्ल पक्ष का विभाग हो जाता है।

## चन्द्र ग्रहण–सूर्य ग्रहण का क्रम

इस प्रकार ६ मास में पूर्णिमा के दिन चन्द्र विमान पूर्ण आच्छादित हो जाता है। उसे ही चन्द्रग्रहण कहते हैं। सर्वथा ६ मास में सूर्य के विमान को अमावस्या के दिन केतु का विमान ढक देता है। उसे ही सूर्य ग्रहण कहते हैं। विशेष—ग्रहण आदि के समय दीक्षा, विवाह आदि शुभ कार्य वर्जित माने हैं, तथा अन्य मतावलम्बियों द्वारा कथित सूतक, पातक, स्नान, दान आदि केवल मिथ्यात्व हैं।

## सूर्य चन्द्रादिकों का तीव्र – मन्द गमन

सबसे मन्द गमन चन्द्रमा का है। उससे शीघ्र गमन सूर्य का है। उससे तेज गमन ग्रहों का, उससे शीघ्र गमन नक्षत्रों का एवं सबसे शीघ्र गमन ताराओं का है।

## एक चन्द्र का परिवार

इन ज्योतिषी देवों में चन्द्रमा इन्द्र है, तथा सूर्य प्रतीन्द्र है। अतः एक चन्द्र (इन्द्र) के १ सूर्य (प्रतीन्द्र), ८८ ग्रह, २८ नक्षत्र, ६६ हजार ९७५ कोड़ा कोड़ी तारे ये सब परिवार देव हैं।

## कोड़ा कोड़ी का प्रमाण

एक करोड़ को एक करोड़ से गुणा करने पर कोड़ाकोड़ी की संख्या होती है। १००००००० × १००००००० = १००००००००००००००

## एक तारे से दूसरे तारे का अन्तर

एक तारे से दूसरे तारे का जघन्य अन्तर $१४२\frac{६}{७}$ मील का है। अर्थात् ( $\frac{१}{७}$ महाकोश है इसका लघुकोश ५०० गुणा होने से $\frac{५००}{७}$ हुआ, उसकी मील करने से $\frac{५००}{७} \times २ = १४२\frac{६}{७}$ हुआ।) मध्यम अन्तर-५० योजन (२०००० मील) का है, एवं उत्कृष्ट अन्तर—१०० योजन (४००००० मील) का है।

## ढाई द्वीप एवं दो समुद्र सम्बन्धी सूर्य चन्द्रादिकों का प्रमाण

जम्बूद्वीप में २ सूर्य, २ चन्द्र, लवण समुद्र में ४ सूर्य ४ चन्द्र, धातकीखण्ड में १२ सूर्य १२ चन्द्रमा, कालोदधि समुद्र में ४२ सूर्य, ४२ चन्द्रमा, पुष्करार्ध द्वीप में ७२ सूर्य ७२ चन्द्रमा हैं। एक-एक चन्द्र का पूर्व परिवार समझना चाहिये। इस ढाई द्वीप के आगे-आगे असंख्यात द्वीप एवं समुद्र पर्यंत दूने-दूने चन्द्रमा एवं दूने-दूने सूर्य होते गये हैं।

मानुषोत्तर पर्वत से इधर-इधर के ही ज्योतिर्वासी देवगण हमेशा ही मेरु की प्रदक्षिणा देते हुये गमन करते रहते हैं और इन्हीं के गमन के क्रम से दिन, रात्रि, पक्ष, मास, संवत्सर आदि का विभाग रूप व्यवहार काल जाना जाता है। मानुषोत्तर पर्वत के आगे के आधे पुष्करद्वीप से लेकर पुष्कर समुद्र आदि सभी द्वीप समुद्रों के सूर्य, चन्द्रमा आदि ज्योतिर्वासी देवों के विमान स्थिर ही रहते हैं उनका गमन नहीं होता है।

## ज्योतिर्वासी देवों में उत्पत्ति के कारण

देवगति में देवों के चार भेद हैं, भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक। सम्यग्दृष्टि जीव वैमानिक देवों में ही उत्पन्न होते हैं, भवनत्रिक में जन्म नहीं लेते हैं। जो जीव जिनधर्म से विपरीत, उन्मार्गचारी, अग्निपात आदि से मरने वाले हैं, अकाम निर्जरा करने वाले हैं, पंचाग्नि कुतप तपने वाले हैं, या सदोष चारित्र पालन करते हैं वे ज्योतिर्वासी देवों में जन्म ले सकते हैं। ये देव भी भगवान के पंचकल्याण आदिकों में आते हैं। और कई कारण इन्हें मिल सकते हैं जिससे ये सम्यग्दृष्टि हो जाते हैं। यदि कदाचित् ये देव सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं कर सके तो मरण के ६ महिने पहले से ही अत्यन्त दुःखी होकर आर्तध्यान से मरकर एकेन्द्रिय पर्याय में

पृथ्वी, जल, वनस्पति पर्याय में भी जन्म ले सकते हैं। तथा सम्यग्दर्शन से सहित देवगण शुभ परिणामों से च्युत होकर मनुष्य भव प्राप्त कर दीक्षा आदि से कर्मों का नाश कर मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं। देवगति में संयम को धारण नहीं कर सकते हैं। एवं संयम के विना कर्मों का नाश नहीं होता है। अतः मनुष्य पर्याय को पाकर संयम को धारण करके कर्मों के नाश करने का प्रयत्न करना चाहिये। इस मनुष्य जीवन का सार संयम ही है ऐसा समझना चाहिये। और अधिक विशेष समझना है तो मेरे द्वारा प्रकाशित "जैन ज्योतिर्लोक" पुस्तक देखना चाहिये, इससे अधिक जानने की जिज्ञासा है तो जम्बूद्वीप पण्णत्ति, तिलोय पण्णत्ति, त्रिलोकसार, लोक विभाग, श्लोकवार्तिक, राजवार्तिक आदि ग्रन्थों का स्वाध्याय करना चाहिये।



# भाग्य एवं पुरुषार्थ का अनेकांत

[ लेखिका—( संघस्था ) कु० त्रिशला 'शास्त्री' ]

दैवादेवार्थसिद्धिश्चेद्दैवं पौरुषतः कथं ।
दैवतश्चेदनिर्मोक्षः पौरुषं निष्फलं भवेत् ॥८८॥

अर्थः—यदि भाग्य से ही संपूर्ण कार्यों की सिद्धि मान ली जावे तब तो प्रश्न यह उठ सकता है कि भाग्य कैसे बना ? क्योंकि आज का पुण्य और पापरूप आचरण ही भविष्य में भाग्य रूप बनता है पुनः वह भाग्य पुण्य पापरूप पुरुषार्थ से कैसे बना ? यदि कोई कहे कि पहले २ के भाग्य से ही आगे-आगे का भाग्य बनता चला जाता है तब तो इस प्रकार से भाग्य की परंपरा चलती रहने से कभी भी किसी को मोक्ष नहीं हो सकेगा। पुनः मोक्ष के लिये किया गया पुरुषार्थ भी निष्फल हो जावेगा। यदि आप कहें कि पुरुषार्थ से दैव का निर्मूल नाश हो जाता है अतः मोक्ष की प्राप्ति के लिये पुरुषार्थ सफल ही है। तब तो आपने जो एकांत से दैव से ही कार्य की सिद्धि मानी है सो एकांत कहां रहा ? यदि आप कहें कि मोक्ष के लिये कारणभूत पुरुषार्थ भी दैवकृत ही है अतः परंपरा से मोक्ष की सिद्धि दैव-भाग्य से ही रही, तो भी प्रतिज्ञा हानि दोष आता ही अर्थात् आपका भाग्यैकांत सिद्ध न होकर पुरुषार्थवाद भी सिद्ध हो जाता है। अतः मुमुक्षु को सर्वथा भाग्य के भरोसे बैठे रहना उचित नहीं है।

चार्वाक ( नास्तिकवादी ) पुरुषार्थ से ही सभी कार्यों की सिद्धि मानते हैं। उस पर भी आचार्य समझाते हैं—

पौरुषादेव सिद्धिश्चेत् पौरुषं दैवतः कथं ।
पौरुषाच्चेदमोघं स्यात् सर्वप्राणिषु पौरुषम् ॥८९॥

**अर्थः**— यदि पुरुषार्थ से ही सभी कार्यों की सिद्धि मान ली जावे, तब तो यह प्रश्न सहज ही हो जाता है कि पुरुषार्थरूप कार्य किससे हुआ है ? यदि उस पुरुषार्थ को भाग्य से कहोगे तब तो आपका पुरुषार्थरूप एकांत कहाँ रहा ? यदि आप कहें पुरुषार्थ से ही सभी बुद्धि, व्यवसाय आदि कार्य सिद्ध होते हैं तब तो भैया ! पुरुषार्थ तो सभी प्राणियों में पाया जाता है पुनः सभी के सभी कार्य सफल होते रहेंगे, असफलता का प्रश्न ही नहीं हो सकेगा।

कोई कोई लोग भाग्य और पुरुषार्थ दोनों को ही कार्य सिद्धि में सहायक मान लेते हैं किन्तु दोनों का समन्वय न करके उन्हें पृथक् २ रूप से मानते हैं एवं कोई बौद्ध बिचारे दोनों को ही कार्य सिद्धि में सहायक न मानकर इन दोनों को अवाच्य-अवक्तव्य कह देते हैं। उस पर भी जैनाचार्य समाधान करते हैं।—

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषां ।
अवाच्यतैकांतेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ।।९०।।

**अर्थ**—स्याद्वाद के विद्वेषी एकांत मतावलंबियों के यहाँ इन दोनों की मान्यता भी श्रेयस्कर नहीं है क्योंकि भाग्य और पुरुषार्थ ये दोनों परस्पर में विरोधी हैं और जो लोग इन दोनों की अवाच्यता का एकांत भी मानते हैं उनके यहाँ भी स्ववचन विरोध दोष आ जाता है। क्योंकि तत्व "अवाच्य" है, ऐसा वाच्य-कथन कर देने पर वह सर्वथा अवाच्य कहाँ रहा ? अब जैनाचार्य अपनी स्याद्वाद नीति का स्पष्टीकरण करते हुये कहते हैं कि—

अबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः ।
बुद्धिपूर्वव्यपेक्षायामिष्टानिष्टं स्वपौरुषात् ।।९१।।

**अर्थः**—विना विचारे अनायास ही सिद्ध हुये अनुकूल अथवा प्रतिकूल कार्य भाग्य कृत हैं, क्योंकि उनमें बुद्धि पूर्वक पुरुषार्थ की अपेक्षा नहीं है। अतः वहां पुरुषार्थ अप्रधान है एवं भाग्य प्रधान है तथैव बुद्धि पूर्वक-प्रयत्न पूर्वक सिद्ध हुये कार्य पुरुषार्थ कृत हैं क्योंकि यहां बुद्धि पूर्वक पुरुषार्थ की अपेक्षा मौजूद है अतः यहां भाग्य गौण है एवं पुरुषार्थ प्रधान है। इन दोनों में से किसी एक के अभाव में कार्य सिद्धि असंभव है। ये भाग्य एवं पुरुषार्थ परस्पर में एक दूसरे की अपेक्षा रखकर ही कार्य सिद्धि में सफल होते हैं, अन्यथा नहीं। यदि भाग्य पुरुषार्थ की अपेक्षा न रखे तो वह वन ही नहीं सकता उसकी उत्पत्ति ही असंभव हो जावेगी, क्योंकि किये गये शुभ अशुभ परिणाम ही कर्मों को ग्रहण करते हैं, वे आये हुये कर्म आतमा से वँधकर भाग्य रूप बन जाते हैं और समय पाकर उदय में आकर सुख दुःख रूप से फल देने में समर्थ हो जाते हैं, इसलिये भाग्य को पुरुषार्थ ने वनाया है। तथैव यदि पुरुषार्थ भाग्य की अपेक्षा न रखे तो वह भी अपने अस्तित्व को खो बैठेगा, क्योंकि अच्छे या बुरे भाग्योदय के

अनुसार अच्छा या बुरा पुरुषार्थ जाग्रत होता है। बेचारे एकेन्द्रिय जीव निगोद राशि में पड़े हुये हैं उनका भाग्योदय प्रबल कलुषता को लिये हुये है। वे पुरुषार्थ क्या करेंगे ? संज्ञी पर्याप्तक पंचेन्द्री जीव के भी जब तक कर्मों का बंध, उदय और सत्व उत्कृष्ट स्थिति रूप में रहता है तब तक मोक्ष के लिये पुरुषार्थ रूप सम्यक्त्व को ग्रहण करने की योग्यता ही नहीं आती। हाँ ! जब कर्मों की स्थिति घटकर अंतः कोटाकोटी सागर में आ जाती है तभी वह जीव सम्यक्त्व को ग्रहण करने के लिये योग्यता प्राप्त करता है। किसी जीव के भी मिथ्यात्वादि तीव्र कर्म के उदय में मोक्ष के लिये उचित पुरुषार्थ नहीं हो सकता। अतः पुरुषार्थ भी सदैव भाग्य की सहायता चाहता रहता है। देखिये ! एक साथ सौ किसानों ने खेत में हल चलाया, बीज बोया, पुरुषार्थ किया किन्तु सबकी फसल समान नहीं है, किसी ने थोड़े से श्रम से भी अधिक फसल प्राप्त कर ली है और किसी ने अत्यधिक श्रम करके भी फसल अच्छी नहीं पाई। एक साथ शास्त्री की परीक्षा में १०० विद्यार्थी बैठे हैं कोई थोड़े से श्रम से ही विशेष योग्यता प्राप्त करके अच्छे अंक प्राप्त करते हैं और कोई अधिक परिश्रम करके भी पास नहीं हो पाते हैं। एक सेठजी घर बैठे करोड़ों रुपया कमा रहे हैं और एक बेचारा मजदूर दिनभर पत्थर फोड़ता है तब कहीं मुश्किल से शाम को २ रुपये मिल पाते हैं। इन सब उदाहरणों से हमें यही समझना चाहिये कि जब हम पुरुषार्थ करके कार्य में सफल होते हैं तब भाग्य गौण है किन्तु पुरुषार्थ प्रधान है, और जब हम अनायास कार्य सिद्धि कर लेते हैं या पुरुषार्थ करते हुये भी असफल रहते हैं तब भाग्य प्रधान है और पुरुषार्थ गौण है। ये गौण मुख्य व्यवस्था ही वास्तविक तत्व को समझने में सहायक है। सप्तभंगी प्रक्रिया के द्वारा हम किसी भी वस्तु को अच्छी तरह समझ सकते हैं। तथाहि—

( १ ) कथंचित् सभी कार्य दैव कृत हैं क्योंकि बुद्धि पूर्वक की अपेक्षा नहीं है।

( २ ) कथंचित् सभी कार्य पुरुषार्थ कृत हैं क्योंकि बुद्धिपूर्वक की अपेक्षा है।

( ३ ) कथंचित् सभी कार्य दैव पुरुषार्थ कृत हैं क्योंकि क्रम से अबुद्धिपूर्वक और बुद्धि पूर्वक विवक्षित है।

( ४ ) कथंचित् सभी कार्य अवक्तव्य हैं क्योंकि एक साथ हम दोनों विवक्षाओं को कह नहीं सकते हैं।

( ५ ) कथंचित् सभी कार्य भाग्यकृत और अवक्तव्य हैं क्योंकि अबुद्धि पूर्वक की और युगपत् न कह सकने की विवक्षा है।

( ६ ) कथंचित् सभी कार्य पुरुषार्थ कृत अवक्तव्य हैं, क्योंकि बुद्धिपूर्वक की और एक साथ न कह सकने की विवक्षा है।

( ७ ) कथंचित् सभी कार्य दैव, पुरुषार्थ कृत अवक्तव्य हैं क्योंकि क्रम से अबुद्धि पूर्वक, बुद्धि पूर्वक और [illegible] दोनों को न कह सकने की अपेक्षा है।

इस प्रकार से जब हम दैव और पुरुषार्थ को परस्पर सापेक्ष समझ लेते हैं तब पुरुषार्थ के बल पर धीरे-धीरे दैव का नाश करते हुये दैव को शक्ति हीन कर देते हैं और समय पाकर शुक्ल ध्यान के बल से घातिया कर्मों का नाश करके सर्वज्ञ बन जाते हैं। संसार के कारणभूत मिथ्यात्वादि कर्मों को उनके प्रतिपक्षी सम्यक्त्व, संयम आदि के बल से नाश किया जा सकता है। मतलब आते हुये कर्मों को रोक देने से संवर हो जाता है एवं पूर्व संचित कर्मों की तपश्चर्या आदि प्रयोगों से निर्जरा होती है। बस ! इन संवर और निर्जरा के द्वारा संसार के कारणरूप आस्रव, बंध का अभाव होकर के मोक्ष अवस्था प्राप्त हो जाती है।

मोक्षमार्ग में सर्वथा पुरुषार्थ करना प्रधान माना गया है। हम पुरुषार्थ की सहायता से असाता-वेदनीय को सातारूप में संक्रमण कराकर उसका फल सुख रूप भोग सकते हैं। पुरुषार्थ के बल से भाग्य का निर्मूल नाश भी कर दिया जाता है। अतएव मोक्षमार्ग में सदैव उद्यम शील बने रहना चाहिये।



## मिथ्यादृष्टि की श्रद्धा

अनादि काल से मिले हुए स्वर्ण पाषाण में से यदि स्वर्ण और पाषाण को भिन्न २ करना है तो उसे अग्नि का तापमान धोंकनी के ( संयोग से ) द्वारा दिया जाने से ही भिन्न भिन्न हो सकते हैं। इसी प्रकार अनादि काल से जीव और पौद्गलिक कर्मों की एक असमान जाति द्रव्य-पर्याय हो रही है। उनको यदि भिन्न भिन्न करना है तो सम्यग्ज्ञान रूपी धोंकनी को क्रम से चारित्र ( तपश्चरण ) रूपी अग्नि के तापमान का सहयोग लेना ही पड़ेगा। इसके विना जो भिन्न भिन्न करना चाहते हैं अथवा जिनकी ऐसी श्रद्धा है वे मिथ्यादृष्टि ही हैं।

# ऐसा योगी क्यों न अभय पद पावै ।

[ कविवर दौलतरामजी ]

ऐसा योगी क्यों न अभय पद पावै ।
फेर न भवमें आवै ! ऐसा योगी क्यों न अभय पद पावै ।।

संसय विभ्रम, मोह विवर्जित, स्व-पर स्वरूप लखावै ।
लख परमातम चेतन को पुनि, कर्म कलंक मिटावै ।।

भव, तन भोग विरक्त होय, तन नगन सु वेष बनावै ।
मोह विकार निवार निजातम अनुभव में चित लावै ।।

त्रस, थावर वध त्याग सदा, परमाद दशा छिटकावै ।
रागादिक वश झूठ न भाखैं, तृणहुँ न अदत गहावै ।।

बाहर नारि त्याग अन्तर चिद् ब्रह्म सुलीन रहावै ।
परमाकिंचन धर्म सार सो, द्विविध प्रसंग बहावै ।।

पंच समिति त्रय गुप्ति पाल, व्यवहार चरन मग धावै ।
निश्चय सकल कषाय रहित हैं, शुद्धातम थिर धावैं ।।

कुमकुम-पंक, दास-रिपु, तृण-मणि, व्याल-माल सम भावै ।
आरत रौद्र कुध्यान विदारैं, धर्म-शुकल नित ध्यावै ।।

जाके सुख-समाज की महिमा, कहत इन्द्र अकुलावै ।
"दौल" तास पद होय दास सो, अविचल ऋद्धि लहावै ।।



परमपूज्य श्री १०८ श्री आचार्यकल्प श्रुतसागरजी महाराज का ससंघ
निवाई चातुर्मास







पू० आचार्यकल्प श्री १०८ श्री श्रुतसागरजी महाराज रा० सा० को आशीर्वाद देते हुए



श्री धन्नालालजी सोगानी एवं श्री रा० सा०
पू० महाराज को आहार के पश्चात् पहुँचाते हुए



श्री पू० वीरमती माताजी के सान्निध्य में
सपत्नीक श्री रा० साहब



परम पूज्य १०८ आचार्य

# श्री शिवसागर स्मृति-ग्रन्थ



## तृतीय खण्ड









# देव गुरु शास्त्र भक्ति

[ लेखक:—परम पूज्य १०८ श्री विद्यानन्दजी महाराज ]

भक्ति, चारित्र और ज्ञान के लिए क्रमशः अरहंतदेव, गुरु और शास्त्र की उपासना करनी चाहिए। देव भक्ति के, गुरु चारित्र के और शास्त्र ज्ञान के मुख्य आधार हैं। इन तीनों की भक्ति से मनुष्य श्रेयोमार्ग को प्राप्त करता है और आत्मा को कर्म मल से विमुक्त कर परमात्मभाव को प्राप्त करता है।

भक्ति का अर्थ है भजन, सेवा, तद्‌गुणग्रहणपरायणता। जो तद्‌गुणग्रहण परायण नहीं है वह वास्तविक भक्तिमान नहीं। तन्मयीभाव भक्ति का मुख्य गुण है। तुलसीदास भगवान श्रीरामचन्द्र के परम भक्त थे। उन्हें सारा संसार सीताराममय दिखाई देता था। अपने रामचरितमानस में, इसी भक्ति को सुव्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा "सियाराममय सब जग जानी। करहुँ प्रणाम जोरि जुग पानी।" मैं सारे संसार का स्वरूप जानकर, हाथ जोड़कर प्रणाम करता हूँ। भक्त सर्वत्र अपने भगवान के दर्शन करता है। अपने इष्टदेव की उपासना कर वह वैसा ही दिव्य होना चाहता है। स्तुति स्तोत्र उस भक्ति के ही मार्ग हैं। देव के गुणों का संकीर्तन करते करते उन्हीं गुणों को आत्मसात करने की भावना आती है। यदि देव वीतराग हैं तो भक्त राग परित्याग करेगा, देव कर्म निर्जरा कर चुके हैं तो भक्त भी तद्‌गुणलब्धि के लिये कर्म निर्जरा करने में प्रवृत्त होगा। आशय यह है कि "जोइ जोइ भावहिं सोइ सोइ करहीं"। आपने सुना होगा। एक भृंग कीड़े को पकड़कर अपने स्थान पर ले जाता है और रात दिन उसके सामने भृंगबोध कराने को भनभनाता रहता है। ऐसा करने से कालान्तर में वह भृंग बन जाता है। मनुष्य के विषय में यह सूक्ति सत्य है कि–"यादृशैः सेव्यते पुम्भिर्यादृशांश्च निषेवते कश्चिदत्र न सन्देहस्तादृग भवति पुरुषः।" पुरुष जैसे व्यक्तियों से सेवित होता है तथा जिस प्रकार के व्यक्तियों की सेवा करता है, इसमें कोई सन्देह नहीं कि, वह वैसा ही हो जाता है। एक सूक्ति और है "हीयते हि मतिस्तात हीनैः सह समागमात्। समैश्च समतामेति विशिष्टैश्च विशिष्टताम्"। मनुष्य की बुद्धि हीन व्यक्तियों के साथ हीन हो जाती है और समान के साथ समान रहती है किन्तु अपने से ऊँचे विशिष्ट पुरुषों के साथ रहने से विशिष्ट होती है। इस नीति से मनुष्य को उच्चतम कल्याणमार्ग पर लगाने में परमात्मपद-प्राप्त भगवान् अर्हन्तदेव ही मित्र हैं, उपासना भक्ति करने योग्य हैं। ऊंट का अभिमान हिमालय को देखकर नष्ट हो जाता है। किन्तु जबतक वह भेड़-बकरियों के यूथ में विचरता है, यह सोचता रहता है कि मेरे जितना ऊंचा और कोई नहीं। इसी प्रकार अरिहंत देव की शरण में आने से पूर्व मनुष्य मान कषायों से फूला रहता है। परंतु मन्दिर के मानस्तम्भ को देखते ही उसका मान उतर जाता है। भक्ति में मान कषाय का लेश भी बाधक है। जैसे पारसमणि और लोह के बीच में पतले कागज का व्यवधान भी लोह के सुवर्ण होने में बाधक है वैसे ही भक्ति साधना में मान, मायाचार, और मिथ्यात्व अन्तराय-पर्वत हैं। भगवान् की वीतराग मुद्रा को गुरु धारण करते हैं। जिस अरिहंतदेव ने घातिया कर्म क्षय

कर परमात्मपद प्राप्त किया, उसी पथ की परम्परा का निर्वाह निर्ग्रन्थ मुनि करते हैं। चारित्र की क्रियाशील पाठशालाएं गुरु ही हैं। भगवान के चारित्र का वर्णन तो ग्रन्थमुख से होता है परन्तु उसका प्रत्यक्ष पाठ गुरु के आचरण द्वारा मिलता है। इस अभिप्राय से गुरु-भक्ति मानो, चारित्र-भक्ति है। गुरु चारित्र मन्दिर हैं, वहां चारित्र के सहस्रों पत्र लिखे हुए हैं जिन्हें भक्तिपूर्वक ग्रहण करने वाला सहज ही-"विनिर्मलं पार्वण चन्द्रकान्तं यस्यास्ति चारित्रमसौ" बन सकता है। चारित्र पालन अपने आपमें महती तपस्या है। अनेक उपसर्ग, परीषह सहते हुए अविचलित रहकर चारित्र पालना त्यागियों के सम्पूर्ण गुणों और महाव्रतों का निचोड़ है। शास्त्रों में जिस अवद्यवर्जित चारित्र का उपदेश है, उसका व्यावहारिक अवतरण गुरु में देखा जा सकता है। एक स्थान पर चारित्र लिपिबद्ध है तो दूसरे स्थान पर वह साक्षात् क्रियाशील है। "चारित्रात् न परं तपः" चारित्र से बढ़कर तप कोई नहीं। अहिंसा को सर्वोत्तम चारित्र मानने वालों ने इसीके महत्व को उपबृंहित करते हुए कहा-'अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम्'-संसार में प्राणिमात्र के लिए अहिंसामय आचरण ही ब्रह्म है। इस प्रकार गुरु-भक्ति से भक्तिमान के हृदय में चारित्र प्रतिष्ठित होता है। चारित्र की प्रतिष्ठा से देवत्व सुलभ है। तीर्थंकर और सिद्ध भगवान चारित्र पालक थे। मनुष्य की सर्वोत्तम चारुता चारित्र में है। गुरु उस महिमाशील चारित्र के पवित्र चरण हैं।

शास्त्रभक्ति का आजकल एक अपूर्व रूप देखने में आरहा है। प्रायः शास्त्रों को केसरिया वेष्टनों में बांधकर सुरक्षित कर देते हैं तथा बारह-छह महिनों से उनकी धूल झाड़ देते हैं। आदर सम्मान में कोई त्रुटि नहीं रहने देते। परन्तु उनमें क्या लिखा है इसे जानने की प्रायः आज भक्तों की इच्छा नहीं होती। यह शास्त्रभक्ति का सम्पूर्ण रूप नहीं है। शास्त्रों को सुरक्षित रखना यद्यपि भक्ति का अंग है क्योंकि नहीं तो वे दीमक होकर नष्ट हो सकते हैं। तथापि सच्चा शास्त्र श्रद्धान तो उन्हें पढ़ना, स्वाध्याय से उतारना है। हिन्दुओं के वेद स्वाध्याय से सहस्रों वर्षों तक सुरक्षित रहे। ब्राह्मणों और ऋषियों ने उन्हें कण्ठस्थ रखा और सहस्रों वर्ष तक वह परम्परा ऐसी निभाई कि बिन्दु विसर्ग का अन्तर तक नहीं आया। जो शास्त्र वेष्टनों में बांधे जाकर धूप-दीप के अधिकारी होजाते हैं उनके अक्षर [illegible] मिटा देता है। परन्तु जिनका पाठ पारायण चलता रहता है उनकी स्याही नवीन होती रहती है। शास्त्रभक्ति में यह बात मुख्य रूपसे ध्यान रखने की है। आचार्यों के सूक्तवचन जब तक पढ़े जाएंगे, तभी तक वे [illegible] रहेंगे। प्रत्येक व्यक्ति शास्त्र स्वाध्याय का नियम ले, यही सच्ची शास्त्र भक्ति होगी।



# तपोधर्म

[ लेखक–पूज्य श्री १०८ सुबुद्धिसागरजी महाराज ]
[ संघस्थ:— आचार्यकल्प १०८ श्री श्रुतसागरजी महाराज ]

उमा स्वामी महाराज ने 'तपसा निर्जरा च' इस सूत्र के द्वारा तप को संवर और निर्जरा का कारण कहा है। मोक्ष के अंगभूत तत्व संवर और निर्जरा ही हैं इसलिये मोक्ष की साधना में तप का महत्वपूर्ण स्थान है।

अनंत दु:खों के समूह से व्याप्त इस संसार में जितने भी जीव भटके हैं, भटक रहे हैं और आगे भटकेंगे वह सब वीतरागता के अभाव का ही फल है। इसके विपरीत जितने प्राणियों ने मुक्ति रमा का वरण किया है, कर रहे हैं और आगे करेंगे वह सब वीतरागता के सद्भाव का फल है, इससे सिद्ध होता है कि संसार सागर से पार होने का प्रधान साधन वीतरागता है। वीतरागता की प्राप्ति राग द्वेष के अभाव में होती है और राग द्वेष का अभाव समीचीन तपोधर्म के द्वारा होता है। अतएव कल्याणेच्छु जीवों को वीतरागता की सिद्धि के लिये नित्य ही तप करना चाहिये।

आचार्यों ने तप का लक्षण निम्न प्रकार लिखा है— "रत्नत्रयाविर्भावार्थमिच्छानिरोधस्तप:" अर्थात्—रत्नत्रय का आविर्भाव करने के लिये इच्छा का निरोध करना तप है। मन, इन्द्रिय और शरीर के इष्ट तथा अनिष्ट विषयों में से इष्ट विषय के ग्रहण करने और अनिष्ट विषय के छोड़ने की अभिलाषा को इच्छा कहते हैं। इस इच्छा को रोकना तप माना गया है। तप शब्द की निरुक्ति भी आचार्यों ने इस प्रकार बतलाई है— "कर्मक्षयार्थं मार्गाविरोधेन तप्यत इति तप:" अर्थात् शुभाशुभ कर्मों का क्षय करने के लिये मोक्षमार्ग का विरोध न करते हुए जो तपा जावे वह तप कहलाता है। इसलिये शिवनगर के मार्ग में (रत्नत्रय में) विहार करने वाले साधु जनों को मिथ्यात्रिक का नाश करने वाली आतम शक्ति को बढ़ाकर बाह्य तपश्चरण रूपी तीक्ष्ण तथा दु:सह शस्त्रों के द्वारा इन्द्रिय और मन रूपी चोरों का प्रसार रोकना चाहिये। यह मनुष्य पर्याय दुर्लभ है इसका सदुपयोग तपश्चरण द्वारा ही करना चाहिये। आतम हित का साधन तप और संयम मनुष्य पर्याय के सिवाय अन्यत्र (देव, तिर्यञ्च और नारक पर्याय में) नहीं हो सकता।

**तप के भेद—**

बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से तप के दो भेद हैं। जिसमें बाह्य द्रव्य की अपेक्षा रहती है उसे बाह्य तप कहते हैं। इसके छह भेद हैं–१ अनशन २ अवमौदर्य ३ वृत्तिपरिसंख्यान ४ रस परित्याग ५ विविक्त-शय्यासन और ६ काय क्लेश। इन्हें बाह्य तप कहने के तीन कारण हैं–एक तो इनके करने में बाह्य द्रव्य की अपेक्षा रहती है जैसे अनशन में भोजन छोड़ने की, अवमौदर्य में अल्प भोजन करने की, वृत्तिपरिसंख्यान में बाह्य दिखने वाली किसी वस्तु के नियम आदि की। दूसरा कारण यह है कि ये कार्य अन्य लोगों को

दिखाई देते हैं और तीसरा कारण यह है कि इनको निर्ग्रन्थ साधु ही नहीं करते किन्तु अन्य लोग भी किया करते हैं। बाह्य तप आभ्यन्तर तप की वृद्धि के लिए किया जाता है जैसा कि समन्तभद्र स्वामी का वचन है—

बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरस्त्व

माध्यात्मिकस्य तपसः परिबृंहणार्थम् ।

अर्थात् हे भगवन् ! आपने अन्तरङ्ग तप की वृद्धि के लिए अत्यन्त कठिन बाह्य तप का आचरण किया था। इसी कारण पहले बाह्य तप का वर्णन करते हैं।

अनशन तप—

चार प्रकार के आहार का त्याग करना अनशन कहलाता है इसे उपवास भी कहते हैं क्योंकि इसको करने वाले साधु की इन्द्रियां अन्य विषयों से हटकर आत्मा के उप-समीप में ही वास करने लगती है। जिसमें कषाय, विषय और आहार इन तीनों का त्याग होता है वास्तविक उपवास वही कहलाता है जैसा कि कहा गया है—

कषायविषयाहारत्यागो यत्र विधीयते ।
उपवासः स विज्ञेयः शेषं लङ्घनकं विदुः ।।

अर्थात् कषाय, विषय और आहार का त्याग जिसमें किया जाता है उसे उपवास जानना चाहिये और शेष को लङ्घन समझना चाहिये। अनशन तप करने से शरीर और इन्द्रियां उद्रिक्त न होकर कृश होती है। कृशिया शरीर तप के योग्य नहीं होता। दूसरा लाभ यह है कि जिस प्रकार अग्नि के द्वारा ईंधन भस्म हो जाता है उसी प्रकार अनशन तप से समस्त अशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं। प्रायश्चित्त आदि अन्तरङ्ग तपों की वृद्धि में भी अनशन तप प्रमुख कारण है। अनशन तप का सम्बन्ध रसना इन्द्रिय के साथ है क्योंकि अन्न, पान, खाद्य और लेह्य ये चार प्रकार के आहार रसना इन्द्रिय के विषय है तथा अनशन तप में दिन रात के लिये इन्हीं का त्याग किया जाता है।

अनशन तप, चतुर्थ, षष्ठ, अष्टम, दशम, द्वादश आदि के भेद से षाण्मासिक तक अनेक प्रकार का होता है। एक दिन में भोजन की दो भुक्तियां होती हैं जिनमें धारणा, पारणा की एक-एक और व्रत के दिन की दो, इस प्रकार चार भुक्तियों का त्याग होता है उसे चतुर्थ तप कहते हैं। अथवा जिसमें चौथी भुक्ति पर भोजन किया जाय उसे चतुर्थ तप कहते हैं। जैसे सप्तमी के दिन मध्याह्न के भोजनोपरान्त उपवास का नियम किया यहां सप्तमी की एक भुक्ति तथा अष्टमी की दो भुक्तियों का त्यागकर नवमी के मध्याह्न में पहुंचने वाली चौथी भुक्ति पर भोजन होता है। तात्पर्य यह है कि एक दिन का उपवास चतुर्थ, दो दिन का उपवास षष्ठ, तीन दिन का अष्टम, चार दिन का दशम और पांच दिन का द्वादश कहलाता है इसी प्रकार बढ़ते-बढ़ते छह माह तक का उपवास करना षाण्मासिक उपवास

कहलाता है। उत्कृष्ट संहनन के धारक जीव इससे भी अधिक समय का उपवास करते हैं जैसे भगवान आदिनाथ ने दीक्षा ग्रहण करते समय षाण्मासिक उपवास का नियम लिया था और बाहुबली महाराज ने एक वर्ष का उपवास ग्रहण किया था। उनकी विचित्र महिमा थी। बाहुबली को एक वर्ष बाद केवलज्ञान हो गया, केवलज्ञान हो जाने पर आहार का प्रसंग नहीं रहता अतः उनका उपवास तो जीवन पर्यन्त के लिये हो गया।

आगम में अनशन तप के रत्नावली, कनकावली, सिंहनिष्क्रीड़ित आदि अनेक भेद बतलाये हैं। इनका स्पष्ट वर्णन हरिवंश पुराण में द्रष्टव्य है। अनशन तप में यद्यपि सभी इन्द्रियों के विषयों का परित्याग होता है तो भी मुख्यता रसनेन्द्रिय के विषय परित्याग की रहती है। पांचों इन्द्रियों में रसना इन्द्रिय को जीतना बड़ा कठिन कार्य है। जैसे आठ कर्मों में मोह कर्म को जीतना कठिन है। उपवास करने से आत्मस्वरूप में लीनता आती है और प्रमाद नष्ट हो जाता है जिससे ध्यान अध्ययन में कोई बाधा नहीं आती।

**अवमौदर्य—**

अवम का अर्थ न्यून है। मनुष्य का जितना स्वाभाविक आहार है उससे कम आहार लेना अवमौदर्य तप कहलाता है। इसे ऊनोदर भी कहते हैं। इस तप के करने से शरीर में वात, पित्त, कफ आदि की व्याधि नहीं होती, शरीर कृश रहता है, निद्रा पर विजय प्राप्त होती है। जिससे छह आवश्यकों का पूर्ण रूप से पालन होता है। इसके आगम में कवलचान्द्रायण आदि अनेक भेद बतलाये हैं अर्थात् चन्द्रमा की कलाओं की हानि वृद्धि के अनुसार एक ग्रास दो ग्रास आदि के रूप में आहार के प्रमाण को शुक्ल पक्ष में एक से लेकर पन्द्रह ग्रास तक बढ़ाना और कृष्ण पक्ष में एक-एक ग्रास घटाते-घटाते एक ग्रास तक आना। यह तप भी अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

**वृत्तिपरिसंख्यान—**

तीसरा बाह्य तप वृत्तिपरिसंख्यान है। वृत्ति का अर्थ भोजन है और परिसंख्यान का अर्थ नियम है। संक्षेप में भोजन सम्बन्धी विविध नियमों का करना वृत्तिपरिसंख्यान तप कहलाता है। चर्या के लिये निकलते समय मन में ऐसा नियम करना कि मैं आज इस सीधी गली में जाऊंगा, इसमें आहार का सुयोग मिलेगा तो आहार ग्रहण करूंगा अन्यथा नहीं, अथवा द्वाराप्रेक्षण करने के लिये एक आदमी या स्त्री पुरुष दो अथवा तीन आदमी खड़े होंगे तो आहार करूंगा अन्यथा नहीं। इस तप के द्वारा इन्द्रियों पर नियन्त्रण होता है तथा शरीर कृश रहता है जिससे ध्यान अध्ययन में प्रमाद नहीं आता। यह तप अपने शरीर का संहनन तथा देश और काल की योग्यता के अनुसार किया जाता है।

**रसपरित्याग—**

चौथा बाह्य तप रसपरित्याग है। जिह्वा इन्द्रिय सम्बन्धी लोलुपता पर विजय प्राप्त करना इस तप का प्रमुख उद्देश्य है। घी, दूध, दही, मीठा, तेल और नमक ये छह रस हैं अथवा खट्टा, मीठा,

कडुवा, कषायला, चरपरा और खारा ये छह रस हैं इनमें एक, दो, तीन, चार, पांच अथवा छहों रसों का त्याग करना रसपरित्याग कहलाता है। रसपरित्याग करने से इन्द्रियां अपने आधीन रहती हैं, तथा इन्द्रियों के अपने आधीन रहने से रागद्वेष की उत्पत्ति नहीं होती। रागद्वेष की उत्पत्ति नहीं होना ही तप का मुख्य प्रयोजन है इसलिये यह रसपरित्याग तप अवश्य ही करने के योग्य है।

**विविक्तशय्यासन—**

बाह्य तप का पांचवां भेद विविक्तशय्यासन है। विविक्तशब्द का अर्थ निर्जन-एकान्त स्थान है। ऐसे एकान्त स्थान में शयन आसन करना विविक्तशय्यासन कहलाता है। जहाँ ध्यान, अध्ययन में कोई प्रकार की बाधा न हो अथवा स्त्री, पुरुष, नपुंसक और बालकों का उत्पात न हो ऐसे स्थान में जैसे गिरिगुहा, श्मशान, शून्यगृह आदि में रहना विविक्तशय्यासन है। इस तप से रागद्वेष की उत्पत्ति के अनेक कारण स्वयं ही दूर हो जाते हैं, चित्त वैराग्य की ओर अग्रसर होता है तथा आत्म चिन्तन की भावना उत्पन्न होती है इसलिये साधु को यह तप अवश्य ही करना चाहिये।

**कायक्लेश—**

आतापनादि योग धारण करने को कायक्लेश तप कहते हैं। अपने शरीर को सुखिया न बनाते हुए, तप संयम उपसर्ग परिषहजय अथवा समाधि के समय आने वाली अन्य बाधाओं से विचलित न होना पड़े अथवा आकुलता न हो जाय, इस उद्देश्य से कायक्लेश तप किया जाता है। इस तप में मुमुक्षु अथवा संयमी अनेक प्रकार के आसन धारण करते हैं तथा शीत, उष्ण और वर्षा ऋतु में शीतयोग, आतापन योग तथा वर्षायोग धारण करते हैं। क्षुधा तृषा आदि की बाधा को बुद्धिपूर्वक सहन करते हैं। इस अभ्यास से उनकी अन्तिम समाधि निराकुलता से सम्पन्न होती है।

इस प्रकार इन अनशनादि छह बाह्य तपों को शरीर की शक्ति के अनुसार करना चाहिये। शरीर की शक्ति रहते हुये भी सुखिया स्वभाव के कारण तपश्चरण नहीं करने से आत्मवञ्चना होती है। इसलिये बाह्य तप के विषय में आचार्यों ने निर्देश किया है—"स्वशक्तिमनिगुह्य" अर्थात् अपनी शक्ति न छिपाकर करना चाहिये।

अब आगे अन्तरंग तपों का वर्णन करते हैं। जिनका प्रमुख रूप से आत्मा के साथ सम्बन्ध होता है तथा अन्य मिथ्यादृष्टि जीव जिसे नहीं कर सकते वह अन्तरंग तप कहलाता है। इसके प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान इस तरह छह भेद होते हैं। इन अन्तरंग तपों की [illegible] रागद्वेष के कम होने पर ही होती है। इसलिये अन्तरंग तप धारण करने के पूर्व रागादि-विकारी भावों को दूर करना आवश्यक है। इस संदर्भ में प्रायश्चित्तादि के स्वरूप का विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है।

**प्रायश्चित्त—**

प्रमाद से लगे दोषों की शुद्धि को प्रायश्चित्त कहते हैं। इसके दस भेद हैं— १ आलोचना २ प्रतिक्रमण

३ तदुभय ४ विवेक ५ व्युत्सर्ग ६ तप ७ छेद ८ मूल ९ परिहार और १० श्रद्धान। तत्त्वार्थ सूत्रकार-भगवान् उमास्वामी ने मूल और श्रद्धान के बदले एक उपस्थापन भेद स्वीकृत किया है, अतः उनके मत से नौ भेद हैं।

(१) **आलोचना**—गुरु के समीप अपने दोषों को छल रहित आकम्पित आदि दश दोष बचाते हुए प्रकट करना अथवा जिनेन्द्र भगवान के सामने उन दोषों के लिये अपनी निन्दा गर्हा करना सो आलोचना प्रायश्चित है। जिस प्रकार वैद्य के सामने रोगी मनुष्य को अपनी सब बीमारी स्पष्ट रूप से बताना आवश्यक है उसी प्रकार शिष्य को गुरु के सम्मुख अपने सब दोष प्रकट करना आवश्यक है।

(२) **प्रतिक्रमण**—संसार से भीरु और विषय भोगों से विरक्त साधु द्वारा अपराध होने पर अपने अन्तरंग में ऐसा विचार करना कि मेरा सम्पूर्ण दोष-दुष्कृत्य मिथ्या हो जावे, मुझसे जो अपराध हुए हैं वे सब शान्त हो जावें, भविष्य में ऐसा अपराध नहीं करूंगा, प्रतिक्रमण कहलाता है। कषाय की उद्रिक्त अवस्था में मनुष्य अपराध करता है और कषाय का वेग शान्त होने पर उस अपराध के प्रति पश्चात्ताप करता है। अपराध के प्रति पश्चात्ताप की भावना उत्पन्न होने से बद्ध कर्म की स्थिति तथा अनुभाग में क्षीणता आती है और एक अवसर ऐसा आता है जब वह अपराध से बिलकुल ही मुक्त हो जाता है।

(३) **तदुभय**—दुःस्वप्न अथवा संक्लेशादिक परिणामों से उत्पन्न दोषों का निराकरण करने के लिये आलोचना और प्रतिक्रमण पूर्वक जो अपराध शुद्धि की जाती है उसे तदुभय नाम का प्रायश्चित्त कहते हैं। कुछ अपराध ऐसे हैं जिनकी आलोचना से शुद्धि होती है, कुछ अपराध ऐसे हैं जिनकी प्रतिक्रमण से शुद्धि होती है और कुछ अपराध ऐसे हैं जिनकी आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों से शुद्धि होती है। शिष्य, आलोचना, तथा तदुभय इन दो के द्वारा अपराध की शुद्धि करता है और गुरु मात्र प्रतिक्रमण के द्वारा अपराध शुद्धि करता है।

(४) **विवेक**—छोड़ा हुआ पदार्थ या कोई अप्रासुक वस्तु ग्रहण में आ जावे तो अपनी शक्ति को न छिपाकर प्रयत्न पूर्वक उसका पुनः त्याग करना विवेक नामका प्रायश्चित्त है, अथवा संसक्त अन्न-पान तथा उपकरण आदि का भेद करना विवेक कहलाता है। तात्पर्य यह है कि अपराधी मुनि को आचार्य महाराज ऐसा दण्ड देते हैं कि जब सब साधु आहार से निवृत्त हो जावें तब तुम चर्या के लिये जाओ, जहाँ किसी साधु का आहार हो रहा हो वहाँ मत जाओ,दूसरे साधु के कमण्डलु से मिलाकर अपना कमण्डलु मत रक्खो,न दूसरे का कमण्डलु अपने उपयोग में लाओ यह सब विवेक नामका प्रायश्चित्त है।

(५) **व्युत्सर्ग**—काय का उत्सर्ग करके ध्यान पूर्वक एक मुहूर्त, एक दिन, एक पक्ष, एक मास आदि काल तक खड़े रहना व्युत्सर्ग तप है। इस अवधि के भीतर शरीर को कोई मारे छेदे अथवा विदारण करे तो भी ध्यान से विचलित नहीं होना पड़ता है। यह प्रायश्चित्त ऐसे अपराध के लिये दिया

जाता है कि जिसके दोष का निर्णय न किया गया हो तथा अपराध बड़ा हो। आचार्य महाराज यह प्रायश्चित्त उसी साधु को देते हैं जो शीत, उष्ण, भूख, प्यास आदि की बाधा सहन करने में समर्थ होता है। जैसे रक्षाबन्धन की कथा में अकम्पनाचार्य ने अपने संघ के एक मुनि से कहा था कि जिस स्थान पर तुमने मन्त्रियों से विवाद किया है उस स्थान पर रात्रिभर कायोत्सर्ग मुद्रा से खड़े रहो।

( ६ ) तप—अपराध होने पर उपवास, आचाम्ल अथवा निर्विकृति आदि करने का दण्ड देना तप नाम का प्रायश्चित्त है। जैसे अपराध होने पर गुरु दण्ड देते हैं कि तुम दो-दो दिन के अन्तर से चार उपवास करो अथवा मात्र चांवल और छांछ का आहार करो, अथवा नीरस भोजन करो। यह तप नामका प्रायश्चित्त है। आचार्य महाराज शिष्य की शक्ति देखकर यह दण्ड देते हैं।

( ७ ) छेद—सातवां छेद नामका प्रायश्चित्त है। इसका अर्थ होता है कि अपराधी शिष्य की माह, दो माह तथा एक वर्ष की दीक्षा पर्याय कम कर देना। मुनियों में पूर्व दीक्षित मुनि को नवीन दीक्षित मुनि वन्दना करते हैं इस स्थिति में किसी पूर्व दीक्षित मुनि से कोई ऐसा बड़ा अपराध बन गया जिसके दण्ड स्वरूप आचार्य ने उनकी माह, दो माह वर्ष आदि की दीक्षा कम कर दी। दीक्षा कम कर देने से उनके बाद जो दीक्षित हुये थे वे पुराने दीक्षित हो गए और वह नव-दीक्षित हो गया। पहले जो मुनि उसे वन्दना करते थे अब इसे उनकी वन्दना करनी पड़ेगी। यह दण्ड अभिमानी या उद्दण्ड प्रकृति के साधु को दिया जाता है।

( ८ ) मूल—भयंकर अपराध होने पर पूर्व दीक्षा को समाप्त कर नवीन दीक्षा देना मूल नामका प्रायश्चित्त है। इस प्रायश्चित्त को प्राप्त हुआ मुनि अपने संघ के उन समस्त मुनियों को वन्दना करता है जो कि पहले इसे वन्दना किया करते थे। यह दण्ड अपरिमित अपराध के करने वाले साधु को दिया जाता है। जो साधु पार्श्वस्थ, संसक्त, अवसन्न, कुशील तथा स्वच्छन्द आदि होकर कुमार्ग में स्थित हैं उन्हें पुनः सुमार्ग पर लाने के लिये आचार्य, यह प्रायश्चित् देते हैं। जो श्रमणों के पास [illegible] रहता है तथा उपकरणों द्वारा अपनी आजीविका करता है उसे पार्श्वस्थ कहते हैं। जो वैद्यक, मन्त्र, तन्त्र तथा ज्योतिष आदि के द्वारा आजीविका करता है अथवा राजा आदि की सेवा करता है—उनसे मिलकर अपना प्रभाव स्थापित करता है उसे संसक्त कहते है। जो स्वेच्छाचारी हो गुरु का परित्याग कर एकाकी विहार करता है उसे स्वच्छन्द अथवा मृगचारी कहते हैं। जिसने चारित्र का भार उतार दिया है और ज्ञान व आचरण में भ्रष्ट होकर इन्द्रियविषयों में लोलुप हो गया है उसे अवसन्न कहते हैं। जिसकी आत्मा कषायों से कलुषित रहती है और महाव्रत आदि अट्ठाईस मूल-गुणों तथा शील के उत्तर भेदों से रहित है उसे कुशील कहते है। ये मुनि यद्यपि नग्न वेष के धारक होते हैं परन्तु कषाय की तीव्रता से अपने चारित्र में दोष लगाते हैं। इन मुनियों को यदि पुनः दीक्षा दी जाती है तो उसे मूल नामका प्रायश्चित्त कहते हैं। इसी को उपस्थापन भी कहते हैं।

( ९ ) परिहार—किसी निश्चित समय तक के लिये अपराधी साधु को संघ से पृथक् कर देना परिहार नामका प्रायश्चित्त कहलाता है। यह परिहार उत्कृष्ट रूप से बारह वर्ष तक का किया

जाता है। इस साधु को कोई वन्दना नहीं करता तथा यह सबको वन्दना करता है। गुरु के सिवाय अन्य साधुओं से मौन रहता है। उपवास, आचाम्ल और निर्विकृति आदि तपों के द्वारा आत्म शुद्धि करता है।

( १० ) **श्रद्धान**—कोई साधु मिथ्यात्व को प्राप्त होकर श्रद्धा से भ्रष्ट हो रहा हो उसे पुनः महाव्रत देकर आप्त आगम और जिनेन्द्र प्रतिपादित पदार्थों का श्रद्धान कराना श्रद्धान नामका प्रायश्चित्त है। इसे अन्य आचार्यों ने उपस्थापन नामक प्रायश्चित्त में ही गर्भित किया है।

## विनय--

अन्तरङ्ग तपों का दूसरा भेद विनय है। रत्नत्रय तथा उसके धारक पुरुषों के प्रति नम्रता का भाव रहना विनय तप कहलाता है। इसके ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय और उपचार विनय इस प्रकार चार भेद माने गये हैं। कोई-कोई आचार्य तपोविनय का पृथक् वर्णन करते हैं उनके मत से पांच भेद होते हैं। ज्ञान के जितने भी साधन हैं उन सबका विनय करना, जैसे—शास्त्र, पुस्तक, गुरु आदि का विनय करना, शब्द का शुद्ध उच्चारण करना, सही अर्थ का अवधारण करना, विद्या-गुरु का नाम नहीं छिपाना, चित्त की एकाग्रता पूर्वक स्वाध्याय करना, निषिद्ध समय में स्वाध्याय नहीं करना तथा बाह्य शुद्धि का ध्यान रखना आदि सब ज्ञान विनय के भेद हैं।

सम्यग्दर्शन तथा उसके धारकों के प्रति विनयमान होना दर्शन विनय है। सम्यग्दर्शन के धारक अर्हन्त, सिद्ध, चैत्य, सुदेव, जिन धर्म तथा समीचीन साधुओं की विनय रखना। जिनेन्द्र प्रतिपादित सात तत्व और नौ पदार्थों का स्वयं विवेचन करना और श्रवण करना दर्शन विनय में गर्भित है।

इन्द्रियों के जिन मनोज्ञ तथा अमनोज्ञ विषयों में राग द्वेष उत्पन्न हुआ करते हैं उन्हें छोड़कर तथा उठते हुए क्रोधादि कषायों का नाशकर महाव्रत, समिति, गुप्ति रूप चारित्र में तथा उसके धारकों में आदर का भाव रखना चारित्र विनय है। इस विनय का धारक साधु सदा ऐसी भावना रखता है कि यह चारित्र, मात्र मनुष्य पर्याय में उपलब्ध होता है इसे प्राप्त करने वाले जीव अपना मनुष्य भव सफल करते हैं। हमारे द्वारा गृहीत चारित्र में कभी कोई दोष न लगे।

अनशन ऊनोदर आदि तपों के प्रति तथा उनके करने वाले साधुओं के प्रति आदर भाव होना तपो विनय है। तपस्वी मुनि को देखकर हृदय में आह्लाद का भाव लाकर ऐसा विचार करना कि अहो इनकी शक्ति अचिन्त्य है, ये तपकर अपना मनुष्य जीवन सफल कर रहे हैं। तप करने वाले साधुओं की वैयावृत्य करना तथा सब प्रकार की सुविधा पहुँचाते हुए उन्हें उस तप में उत्साह युक्त बनाये रखना तपो विनय में गर्भित है।

उपचार विनय के दो भेद हैं प्रत्यक्ष विनय और परोक्ष विनय। इसके कायिक, वाचनिक और मानसिक के भेद से तीन भेद हैं। गुरुजनों की उपस्थिति में उनकी अपने शरीर के द्वारा प्रत्यक्ष विनय करना तथा परोक्ष में हस्ताञ्जलि छोड़ना, मस्तक झुकाना आदि कायिक विनय है। गुरुजनों के साथ

नम्रता पूर्वक हित मित प्रिय और सूत्रानुचिन्तित वचनों का प्रयोग करना वाचनिक विनय है तथा उनके प्रति अशुभ भावों की निवृत्ति कर शुभभावों की प्रवृत्ति करना तथा गुण स्मरण करना मानसिक विनय है।

वैयावृत्य—

साधुओं के उपसर्ग या परिषह के समय अथवा अन्य आधि व्याधि के समय विहार में थकावट आने पर या वृद्धावस्था के समय, आने वाली शिथिलता के समय उनकी टहल करना, उनकी पीड़ा दूर करना तथा सब प्रकार से उन्हें समाधान करना वैयावृत्य तप है व्यावृत्ति अर्थात् दुःख से निवृत्ति करना जिसका उद्देश्य है वह वैयावृत्य है ऐसा वैयावृत्य शब्द का निरुक्तार्थ है।

आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लानि, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ ये मुनियों के दस भेद हैं। इन मुनियों की सेवा करने से वैयावृत्य तप के भी दश भेद होते हैं।

स्वाध्याय—

स्व-आत्मा के लिये हितकारी संवर और निर्जरा के कारणभूत श्रुत के अध्ययन को स्वाध्याय कहते हैं। स्वाध्याय से उपयोग की स्थिरता होती है, ज्ञान की प्राप्ति होती है, हेयोपादेय वस्तुओं का विवेक, भेद विज्ञान तथा आत्म ज्ञान की उपलब्धि होती है। "स्वाध्यायः परमं तपः" स्वाध्याय उत्कृष्ट तप है। कुन्दकुन्द स्वामी ने साधुओं के लिये स्वाध्याय और ध्यान यही दो मुख्य कार्य बतलाये हैं।

स्वाध्याय तप के पांच भेद हैं—१ वाचना २ प्रच्छना ३ अनुप्रेक्षा ४ आम्नाय या परिवर्तना और ५ उपदेश या धर्मकथा। शब्दों का सही उच्चारण और निर्दोष अर्थ की अवधारणा करते हुए शास्त्रों का पढ़ना, तथा पढ़कर दूसरों को श्रवण कराना वाचना नामका स्वाध्याय है। ग्रन्थ के अर्थ के विषय में संशय होने पर उसकी निवृत्ति के लिये अथवा जाने हुए तत्त्व को दृढ़ करने के लिये विशिष्ट ज्ञानी जनों से विनय पूर्वक पूछना प्रच्छना नामका स्वाध्याय है। देखें, वक्ता से उत्तर बनता है या नहीं। इस अभिप्राय से अथवा अपनी विद्वत्ता प्रकट करने की भावना से जो प्रच्छना की जाती है वह प्रच्छना स्वाध्याय नहीं है। वह निर्जरा का कारण न होकर बन्ध का ही कारण है।

ज्ञात अथवा निश्चित विषय का मन में बार-बार विचार करना अनुप्रेक्षा नामका स्वाध्याय है। अनुप्रेक्षा नामक स्वाध्याय से सार्थ वांचे अथवा सुने हुए अर्थ की धारणा होती है। पढ़े हुए ग्रन्थ का शुद्ध घोष पाठ करना आम्नाय या परिवर्तना नामका स्वाध्याय है। इस स्वाध्याय से आगम प्रतिपादित अर्थों का अवधारण बना रहता है तथा उपयोग की स्थिरता होती है।

जिनेन्द्र भगवान के द्वारा उपदिष्ट धर्म का उपदेश देना अथवा आक्षेपिणी, विक्षेपिणी, संवेजिनी और निर्वेदिनी इन चार कथाओं का व्याख्यान करना उपदेश या धर्मकथा स्वाध्याय है। आगम मत का समर्थन करने वाली कथा को आक्षेपिणी कहते हैं। जिससे मत मतान्तरों का खण्डन होता है उसे

विक्षेपिणी कहते हैं। पुण्य और पुण्य का फल बतलाने वाली कथा को संवेजिनी कहते हैं और संसार शरीर तथा भोगों से विरक्ति करने वाली कथा को निर्वेदिनी कहते हैं।

उपर्युक्त पांच प्रकार का स्वाध्याय करने वाले साधु की तर्क वितर्क रूप बुद्धि बढ़ती है, परमागम का ज्ञान होता है, मन और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त होती है, आहारादि संज्ञाओं से निवृत्ति होती है, संशयों का निराकरण होता है तथा मोक्ष और मोक्ष के मार्ग में बुद्धि लगती है।

**व्युत्सर्ग तप—**

व्युत्सर्ग शब्द का अर्थ त्याग है। इसके दो भेद हैं—( १ ) बाह्य त्याग और ( २ ) अभ्यन्तर त्याग। आहार तथा वसतिका आदि बाह्य पदार्थों का त्याग करना बाह्य त्याग है और क्रोधादि कषायों का त्याग करना अभ्यन्तर त्याग है। उपधि का अर्थ परिग्रह होता है, वह बाह्य और अभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार का होता है। मुनि के बाह्य परिग्रह तो होता नहीं है, इसलिये शरीर ही उनका बाह्य परिग्रह कहलाता है। किसी निश्चित अवधि तक शरीर से ममता भाव का परित्याग कर ध्यान में लीन होना बाह्य त्याग है। और क्रोधादि कषायों पर नियन्त्रण कर स्वरूप में स्थिर रहना अभ्यन्तर व्युत्सर्ग है।

**ध्यान—**

अन्तरंग तपों का छठवां भेद ध्यान है। यह ध्यान ही सब तपों का सार है, इसके द्वारा ही कर्मों की निर्जरा होती है और इसी के द्वारा केवलज्ञान की प्राप्ति होती है, संसार परिभ्रमण ध्यान के द्वारा ही छूट सकता है। किसी एक पदार्थ में चित्त की स्थिरता होना ध्यान कहलाता है। यह स्थिरता एक पदार्थ में अन्तर्मुहूर्त तक के लिये ही होती है अधिक के लिये नहीं। ध्यान के मुख्य दो भेद हैं—( १ ) अप्रशस्त और ( २ ) प्रशस्त। अप्रशस्त ध्यान के दो भेद हैं— आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान। आर्त्ति-पीड़ा के समय होने वाले ध्यान को आर्त्तध्यान कहते हैं। आर्त्तध्यान के चार भेद हैं—(१) इष्ट वियोगज ( २ ) अनिष्ट संयोगज ( ३ ) वेदनाजन्य और ( ४ ) निदान। स्त्री पुत्रादि इष्टजनों के वियोग से होने वाली पीड़ा के समय जो आर्त्तध्यान होता है वह इष्ट वियोगज आर्त्तध्यान है। सर्प, सिंह तथा शत्रु आदि अनिष्ट जनों के संयोग से होने वाली पीड़ा के समय जो आर्त्तध्यान होता है उसे अनिष्ट संयोगज आर्त्तध्यान कहते हैं। श्वास, कास आदि बीमारी के समय होने वाली पीड़ा से जो आर्त्तध्यान होता है, उसे वेदनाजन्य आर्त्तध्यान कहते हैं और भोगोपभोग की आकांक्षा से होने वाली पीड़ा के समय जो आर्त्तध्यान होता है वह निदान नामका आर्त्तध्यान है। यह आर्त्तध्यान प्रमुख रूप से तिर्यंच आयु के बन्ध का कारण है तथा तारतम्य लिये हुए अविरत-प्रारम्भ के चार गुणस्थान, देशविरत और प्रमत्त विरत गुणस्थानों में होता है। परन्तु विशेषता इतनी है कि प्रमत्त विरत गुणस्थान में निदान नामका आर्त्तध्यान नहीं होता।

रुद्र-क्रूर परिणाम वाले जीव के ध्यान को रौद्रध्यान कहते हैं। यह रौद्रध्यान भी हिंसानन्दी, मृषानन्दी, चौर्यानन्दी और परिग्रहानन्दी अथवा विषयानन्दी के भेद से चार प्रकार का होता है। हिंसा के कार्य में उपयोग की तन्मयता से जो ध्यान होता है उसे हिंसानन्दी कहते हैं। मृषा-असत्यभाषण में होने वाली उपयोग की तन्मयता से जो ध्यान होता है उसे मृषानन्दी कहते हैं। चोरी करने में उसके विभिन्न उपायों के चिन्तन में होने वाली उपयोग की तन्मयता से जो ध्यान होता है उसे चौर्यानन्दी कहते हैं और परिग्रह के संरक्षण तथा समर्जन में होने वाली उपयोग की तन्मयता से जो ध्यान होता है उसे परिग्रहानन्दी अथवा विषयानन्दी रौद्रध्यान कहते हैं। यह रौद्रध्यान मुख्यरूप से नरकायु के बन्ध का कारण है तथा तारतम्य रूप से पञ्चम गुणस्थान तक होता है।

आर्त और रौद्र—दोनों ध्यान संसार के कारण होने से अप्रशस्त ध्यान कहलाते हैं। प्रशस्त-ध्यान के दो भेद हैं—धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान। ये दोनों ध्यान मोक्ष के कारण होने से प्रशस्तध्यान कहलाते हैं। इनमें शुक्लध्यान तो मोक्ष का साक्षात् कारण है और धर्म्यध्यान परम्परा से मोक्ष का कारण है।

धर्म्यध्यान के चार भेद हैं—( १ ) आज्ञा विचय, ( २ ) अपाय विचय, ( ३ ) विपाक विचय और ( ४ ) संस्थान विचय। अरहंत भगवान की आज्ञा का मुझ से भंग न हो अथवा दूसरे कोई भी उसका भंग न करें, सर्वत्र उसका प्रचार हो ऐसा विचार करना सो आज्ञा विचय धर्म्यध्यान है, अथवा सूक्ष्म परमाणु आदि, आन्तरिक—कालान्तरित राम रावणादि और दूरार्थ—सुमेरु पर्वत तथा नन्दीश्वर द्वीपादि दूरवर्ती पदार्थों का जिनाज्ञा प्रमाण श्रद्धान करना सो आज्ञा विचय धर्म्यध्यान है।

चतुर्गति के दुःखों का विचार करते हुए ऐसा भाव रखना कि ये जीव इन दुःखों से किस प्रकार छूट सकेंगे, अपाय विचय धर्म्यध्यान कहलाता है। इस ध्यान के द्वारा इस जीव को संसार शरीर और भोगों से विरक्तता उत्पन्न होती है।

ज्ञानावरणादि आठ और मतिज्ञानावरणादि एक सौ अड़तालीस कर्म प्रकृतियों में से किस प्रकृति के विपाक-उदय में जीव का कैसा भाव होता है। किस कारण से उन कर्मों का बन्ध होता है तथा किस कारण से बन्ध छूटता है आदि कर्म विषयक चिन्तन करने को विपाक विचय धर्म्यध्यान कहते हैं। इस ध्यान के फल स्वरूप यह जीव अशुभ कर्मों के आस्रव और बन्ध से दूर रहता है।

लोक के आकारादि का विचार करना संस्थान विचय धर्म्यध्यान कहलाता है। इस ध्यान के द्वारा उपयोग की स्थिरता होती है। इसी धर्म्यध्यान के ज्ञानार्णव आदि ग्रन्थों में पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत भेद बतलाये गये हैं। इनका स्वरूप उन ग्रन्थों से जानना चाहिये।

यह धर्म्यध्यान चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक होता है और वीरसेन स्वामी के अभिप्राय के अनुसार दशम सूक्ष्मसाम्पराय तक होता है क्योंकि वहां तक कषायों का सद्भाव पाया जाता है। [illegible] इस जीव को देवायु तथा मनुष्यायु का बन्ध होता है।

प्रशस्त ध्यान का दूसरा भेद शुक्ल ध्यान है। कषाय के अत्यन्त मन्द उदय अथवा वीरसेन स्वामी के मत से कषाय के अभाव में होने वाले ध्यान को शुक्ल ध्यान कहते हैं। यह ध्यान शुद्धोपयोग रूप होता है। इसके— १ पृथक्त्ववितर्कविचार २ एकत्ववितर्क ३ सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और ४ व्युपरतक्रियानिवर्ती के भेद से चार भेद होते हैं। वितर्क शब्द का अर्थ श्रुत है और वीचार का अर्थ व्यञ्जन, अर्थ और योगों की संक्रान्ति—परिवर्तन है। जिस ध्यान में पृथक्त्व–योगों की भिन्नता के साथ शब्द और अर्थ में परिवर्तन होता है उसे पृथक्त्ववितर्कवीचार कहते हैं। जिस ध्यान में एक ही योग के साथ वितर्क तो हो पर वीचार न हो उसे एकत्व वितर्क कहते हैं। इस ध्यान में जीव का उपयोग आगम के जिस पद अथवा अर्थ पर निर्भर होता है उस पर अन्तर्मुहूर्त तक स्थिर रहता है उसमें परिवर्तन नहीं होता। क्योंकि परिवर्तन का कारण जो रागांश था उसका इसमें अभाव हो जाता है।

तीसरा भेद सूक्ष्मक्रियापाति है। जब काययोग की स्थूल परिणति छूट जाती है केवल मन्द स्पन्दता रह जाती है तब यह भेद प्रकट होता है, और योगों की क्रिया का सर्वथा अभाव हो चुकने पर जो ध्यान होता है वह चौथा व्युपरतक्रियानिवर्ति नामका शुक्ल ध्यान कहलाता है।

इन ४ प्रकार के शुक्ल ध्यानों में पहला भेद तीन योग वाले के, दूसरा भेद तीन में से किसी एक योग वाले के तीसरा भेद तेरहवें गुणस्थान के अन्तिम अन्तर्मुहूर्त में और चौथा भेद चौदहवें गुणस्थान में प्रकट होता है। तत्त्वार्थ सूत्रकार के मत से पहला भेद श्रेणी से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक होता है तथा इसके फल स्वरूप मोह कर्म का उपशम अथवा क्षय होता है। दूसरा भेद बारहवें गुणस्थान में प्रकट होता है और उसके फल स्वरूप शेष तीन घातिया कर्मों का क्षय होता है। तीसरा भेद तेरहवें गुणस्थान के अन्तिम अन्तर्मुहूर्त में होता है और इसके फल स्वरूप किसी कर्म का क्षय न होकर सर्वाधिक निर्जरा होती है और चौथा भेद चौदहवें गुणस्थान में होता है तथा उसके फल स्वरूप उपान्त्य समय में ७२ और अन्तिम समय में १३ कर्म प्रकृतियों का क्षय होता है। वीरसेन स्वामीके मत से पहला भेद ग्यारहवें, दूसरा भेद बारहवें, तीसरा भेद तेरहवें और चौथा भेद चौदहवें गुणस्थान में होता है। तीसरा और चौथा भेद केवली के ही होता है इसमें कोई विकल्प नहीं है परन्तु पहला तथा दूसरा भेद पूर्वविदों के होता है इसके दो विकल्प हैं अर्थात् पूर्वविदों का नियम उत्कृष्टता की अपेक्षा है अनिवार्य रूप से नहीं क्योंकि बारहवें गुणस्थान तक जघन्य श्रुतज्ञान, अष्टप्रवचनमातृका तक का बतलाया है इसलिये दूसरा विकल्प यह है कि सामान्य श्रुतज्ञानी मुनि के भी हो सकता है।

इस प्रकार ध्यान उत्कृष्ट तप है, इसके बिना कर्मों का क्षय होना सम्भव नहीं है। तप करना मनुष्य जीवन का प्रमुख कार्य है।

※

# ध्यान चतुष्टय

[ लेखिका :—पूज्य विदुषी आर्यिका श्री १०५ विशुद्धमती माताजी ]
[ संघस्था—प० पू० आचार्यकल्प १०८ श्री श्रुतसागरजी महाराज ]

अन्तर्मुहूर्त अर्थात् जघन्य से एकाध सेकेण्ड और उत्कृष्ट से दो तीन सेकेण्ड पर्यन्त एकाग्र चिन्ता निरोध को ध्यान कहते हैं। ज्ञान का एक ज्ञेय में ठहरना ध्यान है, और इससे भिन्न चित्त की चञ्चलता भावना, अनुप्रेक्षा अथवा अर्थ चिन्ता कहलाती है।

ध्यान के मुख्यतः प्रशस्त और अप्रशस्त दो भेद हैं। प्रशस्त ध्यान शुद्ध और शुभ है। यह पारलौकिक एवं लौकिक सुखों का कारण है, किन्तु अप्रशस्त ध्यान नरकादि गतियों का कारण है।

## अप्रशस्त ध्यान

जिस ध्यान में रागद्वेष की प्रचुरता हो एवं वस्तु स्वरूप का अन्धकार हो वह अप्रशस्त ध्यान कहलाता है। यह ध्यान प्राणियों को बिना उपदेश के स्वयमेव ही उत्पन्न हो जाता है। इसका कारण अनादि काल की लगी हुई मिथ्यावासना है। इस ध्यान के आर्त्त और रौद्र दो मुख्य भेद हैं।

**आर्त्तध्यान:**—आर्त्त नाम पीड़ा का है। इस ध्यान में परिणामों की गति भयङ्कर वन में मार्ग भूले हुये पथिक के समान रहती है। संक्लेशमय परिणामों की संतति बनी रहती है। कर्तव्याकर्तव्य हेयोपादेय का मार्ग नहीं दिखाई देता इसलिये इस ध्यान वाला जीव कभी विश्राम या शान्ति प्राप्त नहीं कर पाता और मरकर तिर्यंच योनि को प्राप्त हो दुःख भोगता है।

**परिकर:**—दुःख, शोक, पश्चात्ताप, आक्रन्दन और मूर्छा आदि इस ध्यान के परिकर हैं।

**बाह्य चिन्ह:**—इस आर्तध्यान से आश्रित जीवों के सर्व प्रथम पद पद पर शंका होती है, फिर शोक, भय तथा प्रमाद होता है। सावधानी नहीं रहती। कलह करते हैं। चित्त विभ्रम हो जाता है, उद्भ्रान्ति हो जाती है। चित्त एक जगह नहीं ठहरता, विषय सेवन में उत्कण्ठा रहती है। निरन्तर निद्रालस्य होता है, अंग शिथिल हो जाते हैं। खेद, मूर्छा, परिग्रह में अत्यन्त आसक्ति, कुशील रूप-प्रवृत्ति कृपणता, कृपणता, उद्वेग, अत्यन्त लोभ, शरीर की क्षीणता एवं निस्तेजस्विता, ब्याज लेकर आजीविका करना, हाथों पर कपोल रखकर पश्चात्ताप करना, रोना, दृष्टि स्थिर होना, देखते हुये भी न देख पाना, सुनते हुये भी न सुन पाना इत्यादि आर्त्तध्यान के बाह्य चिन्ह हैं।

**भेद:**—इस आर्त्त ध्यान के इष्ट वियोगज, अनिष्ट संयोगज पीड़ा चिन्तवन ( वेदना जन्य ) और निदान ये चार भेद हैं।

---

१ ज्ञानार्णव पृष्ठ [illegible]

**इष्ट वियोगजः**—गुरु, शिष्य, स्त्री, पुत्रादि इष्टजनों का वियोग होने पर उनके संयोग के लिये बार-बार चिन्ता करना अथवा ऐसा भय बना रहना कि कहीं मेरी अमुक प्रिय वस्तु का वियोग न हो जाय इस कारण सतत उसके संरक्षण की चिन्ता बनी रहना। चित्त को प्रीति उत्पन्न करने वाले सुन्दर इन्द्रियविषयों का नाश होने पर त्रास, पीड़ा, भय, शोक एवं मोह के कारण निरन्तर खेद रूप होना तथा उसको पुन: प्राप्ति के लिये क्लेश रूप होना और देखे, सुने, अनुभवे एवं मन को रञ्जायमान करने वाले पदार्थों का वियोग होने पर खेद करना यह सब इष्ट वियोगज आर्त्तध्यान है।

**अनिष्ट संयोगज**—अनिष्ट पदार्थों का संयोग होने पर उसे दूर करने के लिये बार-बार विचार करना अथवा ऐसा भय लगा रहना कि अमुक विपत्ति कहीं मेरे ऊपर न आ जाय, यह अनिष्ट संयोग नाम का दूसरा आर्त्तध्यान है। यह ध्यान स्वजन, धन, शरीर आदि के नाश करने वालों के तथा अग्नि, जल, विष, शस्त्र, सर्प, सिंह एवं विलादि में रहने वाले जीवों के तथा दुष्टजन एवं बैरी राजा आदि के संयोग से उत्पन्न होता है।

**वेदना जन्यः**—रोग ग्रसित होने पर निरन्तर उसकी चिन्ता बनी रहना अथवा वेदना के कारणों के प्राप्त होने पर उनको दूर करने की निरन्तर चिन्ता रखना, रोना, चिल्लाना एवं मरण की इच्छा करना वेदना या पीड़ा चिन्तवन नामका तीसरा आर्त्तध्यान है। यह ध्यान वात, पित्त, कफादि के प्रकोप से तथा क्षण-क्षण में उत्पन्न होने वाले काश, श्वास, भगन्दर, जलोदर जरा, कोढ़, अतिसार एवं ज्वरादि रोगों के निमित्त से उत्पन्न होता है।

**निदान बन्धजः**—आगामी काल सम्बन्धी विषयों की प्राप्ति में चित्त को तल्लीन करना अथवा धर्म सेवन करके संसार की विभूतियों की इच्छा करना निदान बंधज नामका चौथा आर्त्तध्यान है। यह संसार का ही कारण है।

**लेश्याः**—उपर्युक्त चारों प्रकार के आर्त्तध्यान तीन अशुभ लेश्याओं के अवलम्बन से होते हैं। किन्तु ५वें ६वें गुणस्थानों में जो-जो आर्त्तध्यान सम्भव हैं, वे शुभ लेश्याओं के अवलम्बन से होते हैं।

**भावः**—यह आर्त्तध्यान क्षायोपशमिक भाव है।

**कालः**—इसका उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त मात्र है।

**स्वामीः**—निदान बंध को छोड़कर शेष ध्यान छठवें गुणस्थान में पाये जाते हैं। पांचवें गुणस्थान में चारों आर्त्तध्यान होते हैं।

**फलः**—मुख्यतः आर्त्तध्यान का फल तिर्यंच गति है।

## रौद्र ध्यान

अप्रशस्त ध्यान का दूसरा भेद रौद्र ध्यान है। इस ध्यान में परिणाम निरन्तर निष्ठुर, क्रूर, कठोर और हिंसामय बने रहते हैं। जिस प्रकार पजावे की अग्नि अहर्निश धधकती रहती है, बुझती नहीं, उसी प्रकार रौद्रध्यानी के परिणाम सदैव कषाय संयुक्त बने रहते हैं।

**बाह्य चिन्हः**—भौंह टेढी होना, मुख विकृत होना, पसीना आने लगना, शरीर में कम्पन आना, नेत्रों का अतिशय लाल हो जाना इत्यादि रौद्र ध्यान के बाह्य चिन्ह हैं।

इस ध्यान के हिंसानन्दी, मृषानन्दी, चौर्यानन्दी और विषयानन्दी ( परिग्रहानन्दी ) ये चार भेद होते हैं।

**हिंसानन्दीः**—हिंसा में आनन्द मानकर उसी के साधन जुटाने में तल्लीन रहना अथवा हिंसा का उपदेश देना, हिंसा के उपायों का चिन्तवन करना, हिंसोपकरण बनाना, पापोपदेश में निपुणता, नास्तिक मत में चतुरता तथा निर्दय पुरुषों की संगति हिंसानन्दी रौद्रध्यान के कारण हैं। जो क्रोध कषाय से प्रज्वलित हो, मद से उद्धत हो, जिसकी बुद्धि पाप रूप हो, कुशीली हो, व्यभिचारी हो वह हिंसानन्दी रौद्रध्यानी है।

**बाह्यचिन्ह**—जो पर का बुरा चाहे, अन्य की आपत्ति या कष्ट देख सन्तुष्ट हो, गुणों से गुरु अथवा अन्य की सम्पदा देखकर द्वेष करे, हृदय में शल्य रखे, हिंसा के उपकरण तलवार आदि धारण किये रहे, हिंसा की ही कथा करे तथा स्वभाव से हिंसक हो, ये सब हिंसानन्दी रौद्रध्यान के बाह्य चिन्ह हैं।

**मृषानन्दीः**—असत्य बोलने में आनन्द मानकर उसी में तल्लीन रहना, अथवा झूठों की प्रशंसा करना, सत्य को छिपाना, असत्य को सत्य बनाने की चेष्टा करना, ठगाई के शास्त्रों को रच कर, असत्य, दया रहित मार्ग को चलाकर जगत को कष्ट तथा आपत्तियों में डालना, निर्दोषों में दोष सिद्ध करना इत्यादि मृषानन्दी रौद्र ध्यान है।

**चौर्यानन्दीः**—चोरी में आनन्द मानकर उसी का चिन्तन करना अथवा चोरों से मेल मिलाप रखना, चोरी के उपायों का चिन्तवन करना, चोरी के माल को छिपाकर हर्षित होना आदि चौर्यानन्दी नामक तीसरा रौद्रध्यान है।

**परिग्रहानन्दी या विषयानन्दीः**—परिग्रह की रक्षा करके हर्षित होना, विषय सेवन में आनन्द मानना, विषय सेवन की विशेष लालसा रखना, विषय सेवन की या परिग्रह संचय की नई-नई योजनाओं का चिन्तवन करना, पूर्व में किये हुये भोगों का स्मरण करना आदि चौथा परिग्रहानन्दी या विषयानन्दी रौद्रध्यान है।

**लेश्याः**—उपर्युक्त चारों प्रकार के रौद्रध्यान तीन अशुभ लेश्याओं के अवलम्बन से होते हैं। किन्तु सम्यग्दृष्टि जीवों के शुभ लेश्या में भी हो जाता है।

**भावः**—यह रौद्रध्यान क्षायोपशमिक भाव है।

**कालः**—इसका उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त मात्र है।

**स्वामी**—यह ध्यान पञ्चमें गुणस्थान तक होता है।

**फलः**—मुख्यतः इसका फल नरक गति है।

ये दोनों आर्त्त और रौद्र ध्यान गृहस्थियों के आरम्भ, परिग्रह एवं कषाय के कारण स्वयमेव अन्तःकरण में उलटते-पलटते रहते हैं।

## प्रशस्त ध्यान

जो ध्यान जीवों को संसार के दुःखों से छुड़ा कर उत्तम सुखों को प्राप्त कराता है उसे प्रशस्त ध्यान कहते हैं। इसके धर्म्य ध्यान और शुक्ल ध्यान के भेद से दो प्रकार ( भेद ) हैं।

## धर्म्य ध्यान

**ध्यान करने योग्य और छोड़ने योग्य स्थान**—मुनिजन सूने गृह, श्मशान भूमि, जीर्ण वन, नदी का किनारा, पर्वत के शिखर, वृक्ष के कोटर एवं गुफा आदि में अथवा जहाँ अति आतप, अति गर्मी, अति सर्दी न हो, तेज वायु, तेज वर्षा न हो रही हो, सूक्ष्म जीवों का उपद्रव न हो, मन्द वायु बह रही हो ऐसे सुविधा जनक स्थान में पर्यङ्कासन बांध कर पृथ्वीतल पर विराजमान होकर शरीर को सम, सरल और निश्चल रख कर ध्यान मुद्रा धारण कर धीर वीर हो मन की स्वच्छन्द गति को रोकते हैं। तथा जो मुनिराज ध्यान विध्वंस के भय से भयभीत हैं वे क्षोभ कारक, मोहक, विकारक, निन्द्य, (जहाँ तृण, कंटक, बांबी, विषम पाषाण, कर्दम, भस्म, उच्छिष्ट, हाड़ और रुधिरादि हों ) तथा जहाँ काक, उलूक, विलाव, गर्दभ और शृगालादि शब्द कर रहे हों उन स्थानों को छोड़ देते हैं।

**ध्यान[1] चार प्रकार का होता है:**— ( १ ) ध्यान ( २ ) ध्यानसंतान ( ३ ) ध्यानचिन्ता ( ४ ) ध्यानान्वय सूचना।

१ **ध्यानः**—किसी एक विशेष भाव में चित्त को रोकना इसे ध्यान कहते हैं।

२ **ध्यान संतानः**—जहाँ अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त ध्यान होता है, फिर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त तत्व चिन्ता होती है। फिर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त ध्यान होता है, पीछे फिर तत्व चिन्ता होती है, इस तरह प्रमत्त अप्रमत्त गुणस्थान की तरह अन्तर्मुहूर्त २ बीतते हुये पलटन हो जावे उसे ध्यान संतान कहते हैं। ( यह धर्मध्यान सम्बन्धी ही जानना )

३ **ध्यानचिन्ताः**—जहाँ ध्यान की संतान की तरह ध्यान की पलटन नहीं है किन्तु ध्यान संबंधी चिन्ता है। इस चिन्ता के बीच में ही किसी भी काल में ध्यान करने लगता है तो भी उसको ध्यान चिन्ता कहते हैं।

४ **ध्यानान्वय सूचनाः**—जहाँ ध्यान की सामग्री रूप बारह भावनाओं का चिन्तवन है, व ध्यान सम्बन्धी संवेग, वैराग्य वचनों का व्याख्यान है, वह ध्यानान्वय सूचना है।

---

१ प्रवचनसार गाथा १९६ पृष्ठ ४७४ टीका जयसेनाचार्य

ध्यान के विषय में मुख्य चार अधिकार हैं:— ( १ ) ध्याता ( २ ) ध्येय ( ३ ) ध्यान और ( ४ ) ध्यानफल।

ध्याता:—जो उत्तम संहनन वाला, स्वभाव से बलशाली, निसर्ग से शूर, चौदह या दश पूर्वो का धारी हो, सम्यग्दृष्टि समस्त बहिरङ्ग अंतरंग परिग्रह का त्यागी हो तथा जिनकी उपदेश, जिनाज्ञा और जिनसूत्र के अनुसार आर्जव, लघुता और वृद्धत्व गुण से युक्त स्वभावगत रुचि हो, तपश्चरण करने में अत्यन्त शूरवीर हों, जो लेश्याओं की विशुद्धता का अवलम्बन कर प्रमाद रहित हों, जो बुद्धि-बल से सहित हों, समस्त परीषहों को जीतने वाले हों वही मुख्य ध्याता हैं।

ध्याता अपनी सहज साध्य आसन से बैठकर या खड़े होकर ध्यान करते हैं। उनके ध्यान करने का कोई नियत काल नहीं होता, क्योंकि सर्वदा शुभ परिणामों का होना सम्भव है जैसे कहा है कि— सर्व देश[1], सर्व काल और सर्व अवस्थाओं में विद्यमान मुनि अनेकविध पापों का क्षय करके उत्तम केवलज्ञान आदि को प्राप्त हुये हैं। ध्याता आलम्बन सहित होता है। आलम्बन के बिना ध्यान रूपी प्रासाद पर आरोहण करना सम्भव नहीं है।

जिस[2] प्रकार कोई पुरुष नसैनी आदि द्रव्य के आलम्बन से विषम भूमि पर भी आरोहण करता है उसी प्रकार ध्याता भी सूत्र आदि के आलम्बन से उत्तम ध्यान को प्राप्त होता है।

वाचना[3], पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा और सामायिक आदि सब आवश्यक कार्य; ध्यान के अवलम्बन हैं।

ध्याता भले प्रकार रत्नत्रय की भावना करने वाला होता है। भावना के बिना ध्यान की प्राप्ति नहीं होती क्योंकि केवल एक बार में ही बुद्धि में स्थिरता नहीं आती।

जिसने[4] पहिले उत्तम प्रकार से अभ्यास किया है, वह पुरुष ही भावनाओं द्वारा ध्यान की योग्यता को प्राप्त होता है, ये भावनाएं ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वैराग्य से उत्पन्न होती हैं।

**ज्ञान की भावनाएं**:—जैन शास्त्रों का पढ़ना, दूसरों से पूछना, पदार्थ के स्वरूप का चिन्तवन करना, श्लोकादि कण्ठाग्र करना तथा समीचीन धर्म का उपदेश देना ये ज्ञान की पांच भावनाएं हैं। जिसने[5] ज्ञान का निरन्तर अभ्यास किया है, वह पुरुष ही मनोनिग्रह और विशुद्धि को प्राप्त होता है, क्योंकि जिसने ज्ञानगुण के बल से सारभूत वस्तु को जान लिया है वही निश्चलमति हो ध्यान करता है।

---

१ भ० पु० १३ पृष्ठ ६६ गाथा नं० १५

२ " १३ " ६७ " २२

३ " १३ " ६८ " २३

४ " १३ " ६८ " २३

५ " १४ " ६८ " २५

**दर्शन भावना:**—संसार से भय होना, शांत परिणाम होना, धीरता रखना, मूढ़ताओं का त्याग करना, गर्व नहीं करना, श्रद्धा रखना और दया करना ये सात सम्यग्दर्शन की भावनाएँ हैं। जो[1] शंका आदि शल्यों से रहित है, प्रशम तथा स्थैर्य आदि गुणगणों से उपचित है, वही दर्शन विशुद्धि के बल से ध्यान में असम्मूढ़ मन वाला होता है।

**चारित्र भावना:**—पाँचों समितियों और तीन गुप्तियों का पालन करना, परिषहों का सहन करना ये चारित्र की भावनाएं हैं। चारित्र[2] भावना के बल से जो ध्यान में लीन है उसके नूतन कर्मों का ग्रहण नहीं होता, पुराने कर्मों की निर्जरा होती है, और शुभ कर्मों का आश्रव होता है।

**वैराग्य की भावनाएँ:**—जो विषयों में आसक्त नहीं है, शरीर के स्वरूप का बार-बार चिन्तवन करता है तथा जिसने[3] जगत के स्वभाव को जान लिया है, जो निःसंग है, निर्भय है, सब प्रकार की आशाओं से रहित है, और वैराग्य की भावना से जिसका मन ओतप्रोत है वही ध्यान में निश्चल होता है।

ध्याता विषयों से दृष्टि को हटाकर ध्येय में चित्त को लगाने वाला होता है क्योंकि जिसकी दृष्टि विषयों में फैलती है उसके स्थिरता नहीं बन सकती, अतः इन्द्रियों[4] को तथा मन को भी विषयों से हटाकर समाधि पूर्वक उस मन को अपनी आत्मा में लगावें।

यथार्थ[5] वस्तु का ज्ञान, संसार से वैराग्य, इन्द्रिय और मन का विजेता, स्थिर चित्त, मुक्ति का इच्छुक, आलस्य रहित, उद्यमी, शान्त परिणामी तथा धैर्यवान् ध्याता मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य इन चार भावनाओं को ( जिनका पुराण पुरुष भी आश्रय लेकर प्रशंसा को प्राप्त हुये हैं ) ध्यान की सिद्धि के लिये अवश्य ही ध्यावे।

**मैत्री भावना का स्वरूप:**—क्षुद्रस्थावर एवं त्रस प्राणी नाना योनियों में भ्रमण करते हुये भयङ्कर दुःख उठा रहे हैं, उनका किसी प्रकार घात न हो, ये सब जीव कष्ट और आपत्तियों से बचें, वैर, पाप और अभिमानादि को छोड़कर सुख को प्राप्त हों इस प्रकार की भावना को मैत्री भावना कहते हैं।

**करुणा भावना:**—जो जीव दीनता, शोक, भय तथा रोगादिक की पीड़ा से दुःखी हों, पीड़ित हों, बध बन्धन द्वारा रोके गये हों, जीवन की वांछा से जो दीन प्रार्थना करने वाले हों, क्षुधा, तृषा, खेद, शीत, उष्णादिक से पीड़ित हों, निर्दयी पुरुषों द्वारा मरण के दुःखों को प्राप्त हो रहे हों। इस

---

१ ध० पु० १३ पृ० ६८ गाथा २५
२ „ १३ ६८ „ २६
३ „ १३ „ ६८ „ २७
४ „ १३ „ ६६ „ २६
५ ज्ञानार्णव श्लोक ३ से पृष्ठ २५८

प्रकार दुःखी जीवों को देखने, सुनने से उनके दुःख दूर करने के उपाय करने की बुद्धि हो उसे करुणा नाम की भावना कहते हैं।

**प्रमोद भावनाः**—जो पुरुष तप शास्त्राध्ययन और यम नियमादिक में उद्यम युक्त चित्त वाले हैं, ज्ञान ही जिनके नेत्र हैं, इन्द्रिय, मन और कषायों को जीतने वाले हैं, स्वतत्व के अभ्यास करने में चतुर हैं, जगत को चमत्कृत करने वाले चारित्र से जिनका आतमा अधिष्ठित है ऐसे पुरुषों के गुणों में प्रमोद का होना सो प्रमोद भावना है।

**माध्यस्थ्य भावनाः**—जो प्राणी क्रोधी हों, निर्दयी व क्रूरकर्मी हों, सप्त व्यसन में आसक्त हों, अत्यन्त पापी हों, देव, शास्त्र और गुरुओं की निन्दा एवं अपनी प्रशंसा करने वाले हों, नास्तिक हों, ऐसे जीवों में रागद्वेष रहित उपेक्षा भाव अर्थात् उदासीनता ( वीतरागता ) का होना ही माध्यस्थ्य भावना है।

ये चारों भावनाएं मुनिजनों के आनन्द रूप अमृत के झरने को चन्द्रमा की चाँदनी समान तथा लोकाग्र पथ को प्रकाश करने के लिये दीपिका के समान हैं। इन भावनाओं में रमता हुआ योगी जगत के वृत्तान्त जानकर अध्यातम का निश्चय करता है, और जगत के प्रवर्तन में तथा इन्द्रियों के विषयों में मोह को प्राप्त नहीं होता, स्वकीय स्वरूप के सन्मुख रहता है।

ध्याता की प्रशंसा करते हुये आचार्यों ने कहा है कि ध्याताः—

१ मुमुक्षु हो—क्योंकि यदि मोक्ष की इच्छा रखने वाला न होगा तो मोक्ष के कारणभूत ध्यान को क्यों करेगा ?

२ जन्म निर्विण्णः—अर्थात् संसार से विरक्त हो क्योंकि विरक्ति बिना ध्यान में चित्त नहीं लग सकता।

३ शान्त चित्त—अर्थात् क्षोभ रहित शान्त चित्त हो, क्योंकि व्याकुल चित्त वाले के ध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती।

४ वशी—अर्थात् जिसका मन अपने वश में हो क्योंकि वश में हुये बिना मन ध्यान में नहीं लगाया जा सकता।

५ स्थिर—अर्थात् शरीर के सांगोपांग आसन में दृढ़ हो क्योंकि काय चलायमान होने पर ध्यान की सिद्धि नहीं होती।

६ जिताक्ष—अर्थात् जितेन्द्रिय हो क्योंकि इन्द्रियों को जीते बिना ध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती।

७ संवृत—अर्थात् संवर सहित हो क्योंकि खान-पान आदि में विकल्प मन होने से ध्यान में चित्त [illegible]

८ धीर—अर्थात् धीर हो, क्योंकि उपसर्गादि के आने पर यदि ध्यान से च्युत न होगा तो ध्यान की

सिद्धि होगी अन्यथा नहीं। उपयुर्क्त अनेकानेक गुणों से युक्त ध्याता के ही ध्यान की सिद्धि हो सकती है अन्य के नहीं।

**शङ्का:**—आगम में अविरत सम्यग्दृष्टि तथा श्रावक ( गृहस्थों ) को भी धर्म ध्यान कहा है। किन्तु उनमें ध्याता के उपयुर्क्त लक्षण नहीं पाये जाते अत: ध्यान की सिद्धि कैसे होगी ?

**समाधान:**—सम्यग्दृष्टि आदि गृहस्थों के भक्ति आदि रूप धर्म्यध्यान होता है। मोक्ष के साक्षात् साधन भूत उत्तम ध्यान का गृहस्थों के अभाव है। कारण कि—

महामोह रूपी अग्नि से जलते हुये इस जगत् में से केवल मुनिगण ही प्रमाद को छोड़कर निकलते हैं, अन्य नहीं। अत: अनेक कष्टों से भरे हुये अतिनिन्दित गृहवास में बड़े–बड़े बुद्धिमान भी प्रमाद को पराजित करने में समर्थ नहीं हैं, इसलिये उनके ध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती। गृहस्थ जन, घर में रहते हुये अपने चंचल मन को वश करने में असमर्थ होते हैं इसलिये सत्पुरुष गृहत्याग कर एकान्त में ध्यान की सिद्धि करते हैं।

सैंकड़ों प्रकार के कलहों से दुखित चित्त और धनादिक के दुराशा रूपी पिशाचों से पीड़ित एवं स्त्रियों के नेत्ररूपी चोरों के उपद्रवों से सहित गृहस्थाश्रम में आत्महित की सिद्धि नहीं होती।

आर्त रौद्र ध्यान रूपी अग्नि की दाह से दुर्गम एवं काम क्रोधादिक कुवासना रूपी अन्धकार से नष्ट हो गई है नेत्रों की दृष्टि जिसमें ऐसे घरों में अनेक चिन्ता रूपी ज्वर से पीड़ित गृहस्थों के अपनी आत्मा की सिद्धि कदापि नहीं हो सकती अर्थात् गृहस्थावास में उत्तम ध्यान नहीं हो सकता।

गृहस्थावस्था की आपदा रूपी महान कीचड़ में जिनकी बुद्धि फँसी हुई है, तथा जो प्रचुरता से बढ़े हुये रागरूपी ज्वर के यन्त्र से पीड़ित हैं, और जो परिग्रह रूपी सर्प के विष की ज्वाला से मूर्छित हुये हैं वे गृहस्थ जन विवेक रूपी मार्ग में चलते हुये स्खलित हो जाते हैं और जैसे रेशम का कीड़ा अपने ही मुख से तारों को निकाल कर अपने को ही उसमें आच्छादित कर लेता है, उसी प्रकार हिताहित में विचार शून्य होकर यह गृहस्थ जन भी अनेक प्रकार के आरम्भों से पापार्जन करके अपनी आत्मा को शीघ्र ही पाप जाल में फँसा लेते हैं।

रागादि शत्रुओं की सेना संयम रूपी शस्त्र के बिना बड़े २ राजाओं से सैंकड़ों जन्म लेकर भी जब जीती नहीं जा सकती तो अन्य की क्या कथा है ? ऐसे गृहस्थावास में उत्तम ध्यान नहीं हो सकता इसीलिये कहा है कि—

खपुष्पमथवाश्रृंगं, खरस्यापि प्रतीयते।
नपुनर्देशकालेऽपि, ध्यान सिद्धि र्गृहाश्रमे ॥[1]

आकाश के पुष्प और गधे के सींग नहीं होते हैं। कदाचित् किसी देश व काल में इनके होने की प्रतीति हो सकती है, परन्तु गृहस्थाश्रम में ध्यान की सिद्धि होनी तो किसी देश व काल में सम्भव नहीं है।

---

१ ज्ञानार्णव पृ० ६७ श्लोक १७

जब अविरत सम्यग्दृष्टि और पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक के उत्तम ध्यान का निषेध किया है तब मिथ्यादृष्टि गृहस्थ को तो स्वप्न में भी उत्तम ध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती।

जो जैनेन्द्री मुद्राधारी हैं किन्तु जिनाज्ञा के प्रतिकूल आचरण करने वाले हैं उन्हें भी ध्यान की सिद्धि नहीं होती। उनकी पहचान निम्न प्रकार है:—

जिस मुनि के मन में कुछ और, वचन में कुछ और एवं काय में कुछ और है ऐसे मायाचारी साधुओं को तथा जो परिग्रह रखते हैं, और उससे ही अपना महत्व मानते हैं, परिग्रह रहित साधुओं को हीन समझते हैं, जिन्होंने समीचीन संयम की धुरा को धारण करके छोड़ दिया है, जिनका धैर्य छूट गया है ऐसे साधुओं का मन कभी ध्यान करने में समर्थ नहीं हो सकता। जो मुनि कीर्ति, प्रतिष्ठा और अभिमान के अर्थ में आसक्त हैं, दुखित हैं अथवा हमारे पास बहुत जन आवें जावें, हमें माने ऐसी वाञ्छा रखते हैं तथा जो कहते हैं कि 'इस पंचम काल में किसी को भी ध्यान की योग्यता नहीं है' उन्हें भी ध्यान की सिद्धि नहीं होती है। जिनके मन में राग रंजित कांदर्पी आदि पाँच भावनाओं ने निवास किया है उनके तथा जिनका चारित्र बिलाव के कहे हुये उपाख्यान के समान लज्जाजनक है, उनके समीचीन ध्यान की सिद्धि स्वप्न में भी नहीं हो सकती।

जिन्होंने इन्द्रियों के विषय भोगों की प्रवृत्ति को नहीं रोका, उग्र परिषहें नहीं जीतीं, मन की चपलता नहीं छोड़ी, विरागता को प्राप्त नहीं हुये तथा मिथ्यात्व रूपी व्याध से वंचित किये गये हैं और जिनका मोक्ष एवं मोक्षमार्ग में अनुराग नहीं है, जिनका मन करुणा से व्याप्त नहीं हुआ, भेद विज्ञान से वासित नहीं हुआ तथा जिनका चित्त आत्मा में रंजित न होकर लोगों को रंजित करने वाले पाप रूप कार्यों में मुग्धता को प्राप्त है, इन्द्रियविषयों की गहनता में लीन है, जिन्होंने मन की शल्य को दूर नहीं किया है, अध्यात्म का निश्चय नहीं किया है, अपने भावों से दुर्लेश्या को दूर नहीं किया है, जो साता-वेदनीय जन्य सुख में तथा रसीले भोजनादि में लम्पट हैं, उन यतियों को कभी समीचीन ध्यान की प्राप्ति नहीं हो सकती।

जो हास्य कौतूहल, कुटिलता एवं हिंसादि पाप प्रवृत्तियों का उपदेश देते हैं। जिनकी आत्मा मिथ्यात्व रूपी रोग से मलिन है। विकार रूप है। तथा मोहरूपी निद्रा से जिनकी चेतना नष्ट प्रायः हो गई है, जिन्हें वस्तु का निर्णय नहीं है, जो भयभीत है, जिन्होंने अपने आत्महित को तृणवत् समझ लिया है, तथा मुक्ति रूपी स्त्री के संगम करने में जो निस्पृह हो गये हैं वे मुनि समीचीन ध्यान के अवलम्बन करने को क्षण मात्र भी समर्थ नहीं हो सकते।

जो मुनि वशीकरण, मारण, उच्चाटन तथा जल, अग्नि और विष का स्तम्भन करते हैं। रसायन के प्रयोग, नगरादि में क्षोभ उत्पन्न करना, इन्द्र जाल का विधान बताना, ज्योतिष ज्ञान, औषधि मन्त्रादि की सिद्धि का अभ्यास करना, खोई हुई वस्तु को देखने के लिये साधना करना, भूत-प्रेत, [illegible] आदि विभिन्न मन्त्र [illegible] के अनुकूल हो दुष्ट चेष्टा करने वाले हैं, तथा जो

कोई—**अपनी माता को वेश्या बनाकर धनोपार्जन** करते हैं, उसी प्रकार जो संसार तारणी मुनि दीक्षा को धारण कर धनोपार्जन करते हैं ऐसे साधुओं को भी समीचीन ध्यान की सिद्धि नहीं होती।

इस प्रकार ध्यान करने वाले की योग्यता और अयोग्यता का वर्णन करने वाला प्रथम ध्याता अधिकार समाप्त हुआ।

## ध्येय

ध्यान करने योग्य वस्तु को ध्येय कहते हैं। ध्येय के मुख्य चार भेद हैं—(१) नाम ध्येय (२) स्थापना ध्येय (३) द्रव्य ध्येय और (४) भाव ध्येय। महावीर यह नाम ध्येय है। तीर्थंकरों की मूर्तियाँ स्थापना ध्येय हैं। पंच परमेष्ठी द्रव्य ध्येय हैं, और उनके गुण भाव ध्येय हैं। वैसे तो साधक को प्रत्येक वस्तु ध्येय हो सकती है, और वह वस्तु चेतन अचेतन के भेद से दो प्रकार की है, चेतन ध्येय वस्तु जीव द्रव्य और अचेतन ध्येय द्रव्य पांच हैं। ये सब उत्पाद व्यय और ध्रौव्य लक्षण से युक्त हैं। चेतन ध्येय, सर्व प्रथम कल्याण के पूरक, सर्वज्ञ, वीतराग अरहन्त परमात्मा हैं। दूसरे सिद्ध भगवान हैं, ये दोनों परमात्मा निम्न लिखित विशेषणों से विशेषित हैं—जो[1] वीतराग हैं, त्रिकाल गोचर अनन्त पर्यायों से उपचित छह द्रव्यों को जानने वाले हैं, नौकेवललब्धि आदि अनन्त गुणों के साथ जो आरम्भ हुए दिव्य देह को धारण करते हैं, जो अजर, अमर, अदग्ध, अछेद्य, अव्यक्त, अनवद्य, निरंजन, निरामय अयोनि सम्भव, क्लेशों रहित एवं तोष गुण से रहित होकर भी सेवक जनों के लिए कल्पवृक्ष समान हैं, रोष रहित होकर भी आत्मधर्म से परान्मुख हुए जीवों के लिए यम के समान हैं, जिन्होंने साध्य की सिद्धि करली है, जो जितजेय हैं, संसार सागर से उत्तीर्ण हैं, नित्य, निरायुध, अक्षय, निष्क्रिय, निष्कंप एवं समस्त लक्षणों से परिपूर्ण हैं, दर्पण में संक्रान्त हुई मनुष्य की छाया के समान होकर भी समस्त मनुष्यों के प्रभाव से परे हैं, विश्व रूप हैं, अविज्ञात हैं। इत्यादि अनन्त गुणों से युक्त परमात्मा का ध्यान करने वाला ध्याता उसी प्रकार परमात्मपने को प्राप्त हो जाता है जिस प्रकार बत्ती दीपक को प्राप्त होकर दीपक हो जाती है। इस प्रकार समस्त पापों का नाश करने वाले जिनेन्द्र देव ध्यान करने योग्य हैं।

अचेतन ध्येय—जिनेन्द्र द्वारा उपविष्ट नौ पदार्थ, बारह[2] अनुप्रेक्षाऐं, उपशम और क्षपक श्रेणी पर आरोहण विधि, तेईस वर्गणाएँ, पांच परिवर्तन, स्थिति, अनुभाग, प्रकृति और प्रदेश आदि हैं। ये सब ध्येय होते हैं।

## ध्यान

धर्म के स्वरूप का चिन्तवन करना धर्म्यध्यान है।

**शंका:**—धर्म किसे कहते है ?

१ ध० पु० १३ पृ० ६९

२ " " " ७०

**समाधानः**—वस्तु के स्वभाव को धर्म कहते हैं। जैसे आत्मा का क्या स्वरूप हैं ? कर्म किसे कहते हैं ? धर्म अधर्म आकाशादि क्या हैं ? इत्यादि का चिन्तवन करना।

**परिकरः**—शान्ति धारण करना, दश धर्म और पञ्चपरमेष्ठी आदि का चिन्तन करना ये सब धर्म ध्यान के परिकर हैं।

**धर्म ध्यान के बाह्य चिन्हः**—देव शास्त्र गुरु के गुणों का कीर्तन करना, उनकी प्रशंसा करना, विनय करना, दान सम्पन्नता, श्रुत, शील और संयम में रत होना। प्रसन्न चित्त रहना, धर्म से प्रेम करना, शुभोपयोग रखना, उत्तम शास्त्रों का अभ्यास करना, चित्त स्थिर रखना, शास्त्रज्ञान एवं स्वकीय ज्ञान से एक प्रकार की विशेष रुचि या श्रद्धा उत्पन्न होना, दृष्टि सौम्य और आसन समीचीन होना, शरीर निरोग और शुभ गन्ध युक्त होना, इन्द्रियों की लम्पटता न होना, मन चंचल न होना, स्वभाव निष्ठुर न होना, मलमूत्र अल्प होना, शारीरिक शक्ति हीन न होना, शोकादिक रूप मलिन भाव न होना ये सब ध्यान करने वाले के प्रारम्भिक या बाह्य चिन्ह हैं।

**अन्तरङ्ग चिन्हः**—अनुप्रेक्षाओं सहित उत्तम २ भावनाओं का चितवन करना अन्तरङ्ग चिन्ह हैं।

**भेदः**—धर्म ध्यान के मुख्यतः चार भेद हैं। ( १ ) आज्ञा विचय ( २ ) उपाय विचय ( ३ ) विपाक विचय और ( ४ ) संस्थान विचय।

**आज्ञा विचय धर्म्यध्यानः**—अत्यन्त[1] सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थों को विषय करने वाला जो आगम है उसे आज्ञा कहते हैं। क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुमान के विषय से रहित मात्र श्रद्धा करने योग्य पदार्थ में एक आगम की ही गति है। कहा भी है कि जो[2] सुनिपुण है, अनादि निधन है, जीवों का हित करने वाली है, जगत के जीवों द्वारा सेवित है, अमूल्य है, अमित है, अजित है, महान अर्थ वाली है, महानुभाव है, महान विषय वाली है, निरवद्य है, अनिपुण जनों के लिये दुर्ज्ञेय है, नय भङ्गों तथा प्रमाण से गहन है ऐसी जग के प्रदीप स्वरूप जिन भगवान् की आज्ञा का ध्यान करना चाहिये।

मति[3] की दुर्बलता होने से, अध्यात्म विद्या के जानकार आचार्यों का विरह होने से, ज्ञेय की गहनता से, ज्ञान को आवरण करने वाले कर्मों की तीव्रता होने से, हेतु तथा उदाहरण सम्भव न होने से सर्वज्ञ प्रतिपादित मत सत्य है, ऐसा चिन्तन करें, क्योंकि राग-द्वेष और मोह पर प्राप्त करली है विजय जिन्होंने ऐसे जिन अन्यथावादी नहीं होते। अतः पञ्चास्तिकाय, छह जीव निकाय, काल, द्रव्य गुण पर्याय, नय, निक्षेपों से निर्णय किये हुए स्थिति, उत्पत्ति और व्यय संयुक्त तथा चेतन और अचेतन है लक्षण जिनका ऐसे सब पदार्थों का चिन्तवन करें।

---

१ उत्तर पुराण पर्व २१ श्लोक १३४

२ धव० पु० १३ पृ० ७१ गाथा ३३, ३४

३ " १३ " ७१ " ३५ से ३८

जो चार अनुयोगों में विभक्त है। द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक आदि अनेक नयों उपनयों के सम्पात से गहन है, एकान्तवादियों के शासन रूपी आशीविष को नष्ट करने वाला है। स्याद्वाद रूपी विशाल ध्वजा से चिन्हित है, संसार रूपी ज्वर का घातक है, मुक्ति का मुख्य मंगल है जिसके द्रव्य श्रुत और भाव श्रुत ये दोनों भेद सर्वज्ञ प्रतिपादित हैं, ऐसे श्रुतज्ञान का चिन्तवन करना आज्ञाविचय नामका धर्म ध्यान है।

**अपायविचय धर्म ध्यान:**—मिथ्यात्व, कषाय, असंयम और योगों के निमित्त से कर्म उत्पन्न होते हैं और कर्मों से उत्पन्न हुये जन्म, जरा, मरण अथवा मानसिक, वाचनिक और कायिक इन तीन प्रकार के संताप से भरे हुये संसार रूपी समुद्र में जो प्राणी पड़े हुये हैं उनके अपाय (दु:खों) का चिन्तवन करना अथवा उन्हें दूर करने का उपाय विचारना, बारह अनुप्रेक्षाओं एवं दश धर्मों का चिन्तवन करना, तथा विचार करना कि श्री महद्वाधिदेव सर्वज्ञ जिनेन्द्र के द्वारा उपदिष्ट सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूपी मार्ग को न पाकर ये रङ्क प्राणी संसार समुद्र में अनादि काल से निरन्तर मज्जन उन्मज्जन करते हुये किस प्रकार दु:ख उठा रहे हैं। यह अपाय विचय धर्म ध्यान है।

पुन: साधु चिन्तन करे कि महान कष्ट रूपी अग्नि से प्रज्वलित इस संसार रूपी वन में भ्रमण करते हुये मैंने बड़ी कठिनाई से इस समय सम्यग्ज्ञान रूपी समुद्र का किनारा प्राप्त किया है, सो यदि अब भी वैराग्य और भेदज्ञान रूपी पर्वत के शिखर से पड़ूं तो संसार रूप अन्धकूप में पुन: सड़ना पड़ेगा। तत्पश्चात् चिन्तन करे कि अनादि अविद्या से उत्पन्न हुये तथा जिसमें मिथ्यात्व व अविरति की बहुलता है ऐसे कर्म मुझसे किस प्रकार निवारण किये जायें। इस संसार में एक ओर तो कर्मों की सेना है और एक ओर मैं अकेला हूँ यदि इस शत्रु समूह के मध्य में सावधानी पूर्वक नहीं रहा तो कर्म-रूपी बैरी बहुत हैं वे मुझे अवश्य बिगाड़ देंगे। पुन: ध्यान करें कि मैं कौन हूं, मेरे कर्मों का आस्रव और बन्ध क्यों होता है? निर्जरा किस कारण से होती है? मुक्ति किमात्मक है? मुक्त होने पर आत्मा का स्वरूप क्या रहता है? संसार का प्रतिपक्षी जो मोक्ष है उसके अविनाशी, अनन्त, अव्याबाध और स्वाभाविक सुख की प्राप्ति का क्या उपाय है।

तत्पश्चात् ध्यान करें कि जिनसूत्र में जो पदार्थ कहे हैं वे वैसे ही अनुभव किये जाते हैं और जैसे कहे हैं वैसे ही दीखते हैं इस कारण इस सूत्र के मार्ग में लगा हूँ, इसी कारण मोक्ष स्थान भी मैं पाया हुआ ही मानता हूँ, क्योंकि जब मार्ग पाया और उस मार्ग में चला तो लक्ष्य स्थान प्राप्त हुआ ही कहा जाता है। इस प्रकार मोक्ष मार्ग से नहीं छूटना है लक्षण जिसका ऐसा तो उपाय निश्चय करना तथा वैसे ही कर्मों का अपाय (नाश) निश्चय करना, इस प्रकार उपाय और अपाय इन दोनों का आत्मा की सिद्धि के लिये चिन्तन करना चाहिये।

जो मुनीन्द्र रूपी वैद्य कर्म रूपी व्याधि की इस प्रकार जांचकर कि इसके लक्षण ऐसे हैं, ऐसी प्रकृति है, यह इसका निदान है, ऐसा प्रकोप है, इस प्रकार इसका प्रारम्भ हुआ है, इसका विकार यह

है, उसके उपशम करने वाले योग्य उपायों से उसे दूर करता है, उनके अपाय विचय नामका धर्म ध्यान होता है।

**विपाक विचय धर्म ध्यान:**—शुभ और अशुभ भेदों में विभक्त हुये कर्मों के उदय से संसार रूपी आवर्त्त की विचित्रता का चिन्तवन करने वाले मुनिराज के जो ध्यान होता है, उसे विपाक विचय कहते हैं।

मूल एवं उत्तर प्रकृतियों के बन्ध तथा सत्ता आदि का आश्रय लेकर द्रव्य क्षेत्र काल भाव के निमित्त से कर्मों का उदय अनेक प्रकार का होता है इनका, और जो प्रकृति, स्थिति अनुभाग और प्रदेश के भेद से चार प्रकार का है, जो शुभ भी होता है और अशुभ भी होता है तथा जो योग और कषाय से उत्पन्न हुआ है ऐसे कर्म के विपाक का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भव रूप से चिन्तन करना। जैसे—

**द्रव्य के सम्बन्ध से विपाक का चिन्तन:**—ये संसारी प्राणी पुण्योदय है कारण जिसमें ऐसी सुन्दर शय्या, आसन, पुष्पमाला, यान, वस्त्र, स्त्री, मित्र, पुत्रादि, अगुरु, कपूर, चन्द्रमा, चन्दन, महल, ध्वजादि तथा गज, घोड़े, पक्षी, चामर, खाने-पीने योग्य अन्नपानादिक तथा छत्रादि द्रव्य समूह को पाकर सुख का अनुभव करते हैं तथा पापोदय है कारण जिसमें ऐसे तलवार, भाला, छुरा आदि शस्त्र और रोग, सर्प, विष, अग्नि, खोटे ग्रहादिक तथा सड़े हुये स्व अङ्ग, लट कीड़े-कांटे, रज, क्षार, अस्थि, कीच, पाषाणादि तथा सांकल, कीला, क्रूर जीव, पूर्व वैरी आदि द्रव्यों का आश्रय कर दुःख का अनुभव करते हैं। इस प्रकार द्रव्यों के सम्बन्ध से होने वाले विपाक का चिन्तन करना।

**क्षेत्र सम्बन्धी विपाक चिन्तन:**—प्राणी सर्व ऋतुओं में सुख देने वाले स्थानों को प्राप्त होकर पुण्योदय होने पर अतिशय सुख का और रौद्र, भय, क्लेश आदिक क्षेत्रों को प्राप्तकर पापोदय से दुःख का अनुभव करते हैं। इस प्रकार क्षेत्रों के सम्बन्ध से होने वाले विपाक का चिन्तन करना।

**काल सम्बन्धी विपाक चिन्तन:**—उत्पात से रहित तथा पवनादि से वर्जित, शीत, उष्णता रहित काल में सुख अनुभव करना एवं वर्षा, आतप, हिम सहित काल में दुःख का अनुभव करते हैं। इस प्रकार काल के सम्बन्ध से होने वाले विपाक का चिन्तवन करना।

**भव के सम्बन्ध से विपाक का चिंतन:**—नरक तिर्यंच कुमानुष्य आदि भवों के निमित्त से अशुभ कर्मों का उदय बना रहता है जिसके कारण जीव सदा दुःखी रहता है। देवादि भव के कारण शुभोदय से सुख का अनुभव करता है।

इस प्रकार चिन्तन करना विपाक विचय नामका धर्म ध्यान है।

## संस्थान विचय धर्म ध्यान

तीनों लोकों के आकार का, प्रमाण का तथा उनमें रहने वाले जीव अजीव द्रव्यों का उनकी [illegible] पर्यायों का बार बार चिन्तन करना संस्थान विचय नाम का धर्म ध्यान है।

जिनेन्द्र[1] देव के द्वारा कहे गये छह द्रव्यों के लक्षण, संस्थान, रहने का स्थान, भेद, प्रमाण तथा उनकी उत्पाद, स्थिति और व्यय आदि रूप पर्यायों का; पञ्चास्तिकायमय, अनादिनिधन, नामादि अनेक भेद रूप और अधोलोकादि भाग रूप से तीन प्रकार के लोक का; तथा पृथ्वी वलय, द्वीप, सागर नगर, विमान, भवन आदि के संस्थान का ध्यान करें। इसके सिवा लोक में रहने वाले जीवों के लक्षण अर्थात् जीव उपयोग लक्षण वाला है, अनादिनिधन है, शरीर से भिन्न है, अरूपी है, तथा अपने स्वभाव का कर्त्ता और भोक्ता है। तथा इस संसार में उपर्युक्त लक्षण वाले उस जीव के कर्म से उत्पन्न हुआ जन्म मरण आदि ही जल है, कषाय यही पाताल है, सैकड़ों व्यसन रूपी छोटे मत्स्य हैं, मोह रूपी आवर्त हैं, और अत्यन्त भयङ्कर हैं। इससे परिरक्षित करने के लिये जीव का सच्चा हितैषी ज्ञान रूपी कर्णधार और उत्कृष्ट चारित्रमय महापोत ही है।

ऐसे इस अशुभ और अनादि अनन्त संसार के स्वरूप का चिन्तवन करें।

**नोट:**—ज्ञानार्णव में श्री शुभचन्द्राचार्य महाराज ने इस ध्यान का वर्णन करते हुये हृदय को कम्पायमान कर देने वाले नारकियों के दुःखों का और ऊर्ध्वलोक का विस्तृत ( पृ० ३३३ से पृ० ३६० तक ) वर्णन किया है, जो अवश्य दृष्टव्य है।

**भेद:**—संस्थान विचय धर्म ध्यान के पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, और रूपातीत ये चार भेद हैं। इनमें प्रारम्भ के तीन ध्यान अवलम्बन सहित हैं, परन्तु चौथा रूपवर्जित ध्यान निरालम्बन है। जो मुनि प्रथम सालम्बन ध्यानों का अभ्यास करते हैं। वही निरालम्बन ध्यान के योग्य होते हैं।

**पिण्डस्थ ध्यान का वर्णन:**—शरीर स्थित आत्मा का चिन्तन करना पिण्डस्थ ध्यान है। इस पिण्डस्थ ध्यान में पार्थिवी, आग्नेयी मारुति, वारुणी और तत्त्वरूपवती ऐसी यथा क्रम से पाँच धारणाएं होतीं हैं।

**धारणा का लक्षण:**—जिसका ध्यान किया जाय उस विषय में निश्चल रूप से मन को लगा देना धारणा है, धारणाओं द्वारा ध्यान का अभ्यास किया जाता है।

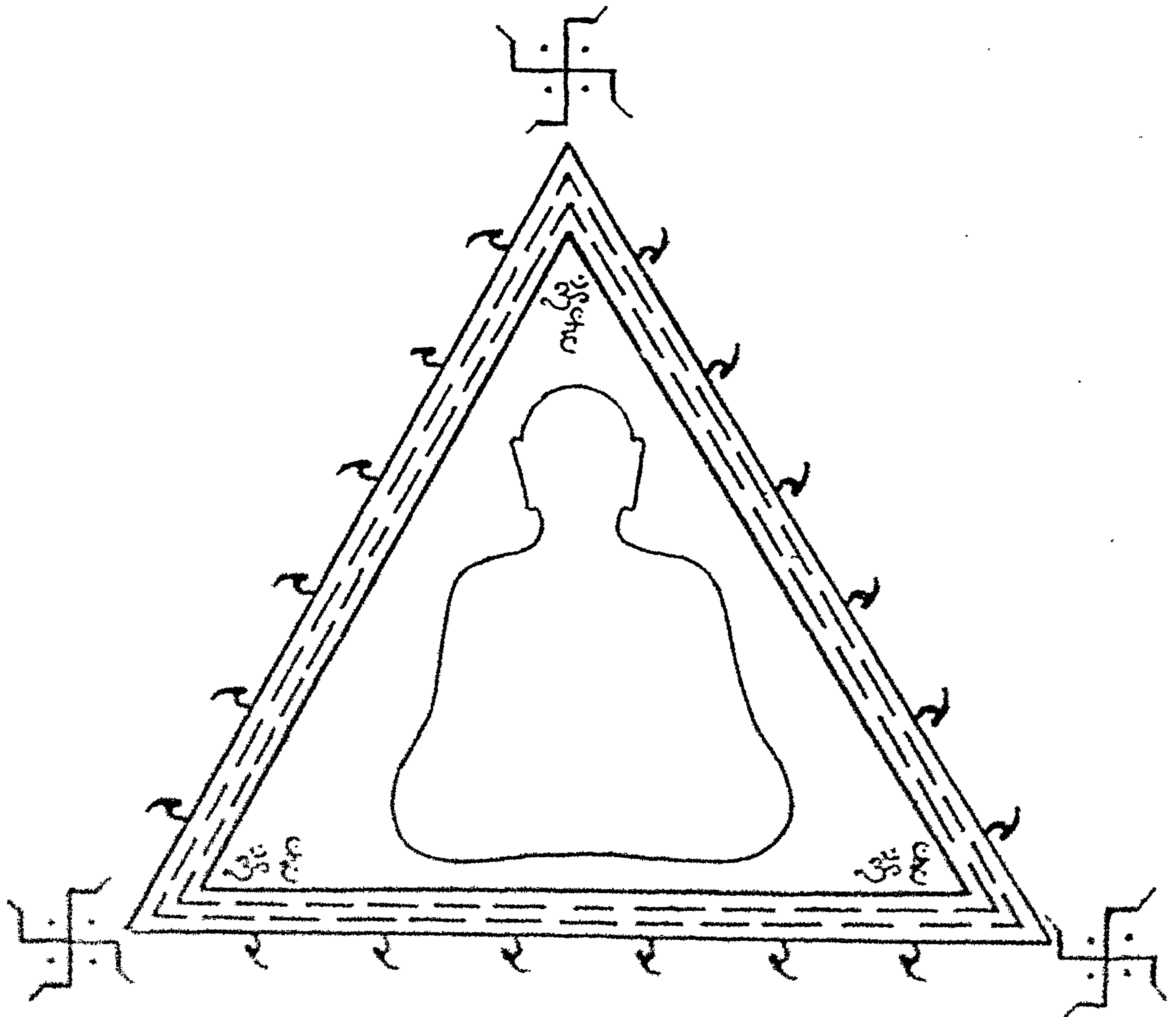
**पार्थिवी धारणा.**—इस धारणा में प्रथम ही योगी—स्वयम्भूरमण समुद्र पर्यन्त जो तिर्यग् ( मध्य ) लोक है उसके समान निःशब्द, कल्लोल रहित, तथा बर्फ के सदृश सफेद क्षीर समुद्र का चिन्तवन करे और उसके मध्य में फैलती हुई दीप्ति से शोभायमान पिघलाये हुये स्वर्ण की सी आभा वाले जम्बूद्वीप के समान एक लाख योजन विस्तार वाले तथा अपनी राग से उत्पन्न हुई केशरों की पंक्ति से शोभायमान तथा चित्त रूपी भ्रमर को रंजायमान करने वाले कमल का चिन्तन करे। इस कमल के मध्य में स्वर्णाचल ( मेरु ) के समान तथा पीत रंग की प्रभावाली कर्णिका का ध्यान करें। उस कर्णिका पर शरदऋतु के चन्द्रमा के समान श्वेत वर्ण का एक ऊंचा सिंहासन तथा उसमें अपनी आत्मा को पद्मासन, सुख रूप, शांत स्वरूप, क्षोभ रहित, राग-द्वेषादि समस्त कलंकों को क्षय करने में समर्थ और संसार में उत्पन्न हुये जो-जो कर्म उनकी संतान को नाश करने में उद्यमी है, ऐसा चिंतन करें।

---

१ ध० पु० १३ पृ० ७२, ७३ गाथा ४३ से ४६ तक

**आग्नेयी धारणा:**—उसी सिंहासन पर स्थित होकर योगी अपने नाभि मण्डल में ऊपर को उठे हुये, कमल के ऊँचे-ऊँचे सोलह पत्रों पर पीत रङ्ग के "अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः" इन १६ अक्षरों का तथा इन्हीं के बीच रेफ ँ से आवृत और कला ँ तथा विन्दु ं से चिन्हित हकार की कान्ति से व्याप्त महामन्त्र हैं का चिन्तन करे। इसी कमल के ऊपर हृदय स्थान में एक औंधे कमल का चिन्तन करे जो ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का अष्टदल ( पत्रों ) सहित विचारे। पश्चात् नाभिकमल के मध्य स्थित महामंत्र हैं की रेफ से मन्द-मन्द निकलती हुई धूम शिखा जो अनुक्रम से प्रवाहित होती हुई, ज्वाला की लपटों में परिवर्तित होती हुई और हृदय स्थित आठों कर्मों के कमल को जलाती हुई अग्नि की लौ मस्तक पर आई हुई विचारे। पश्चात् वह अग्निशिखा आधा

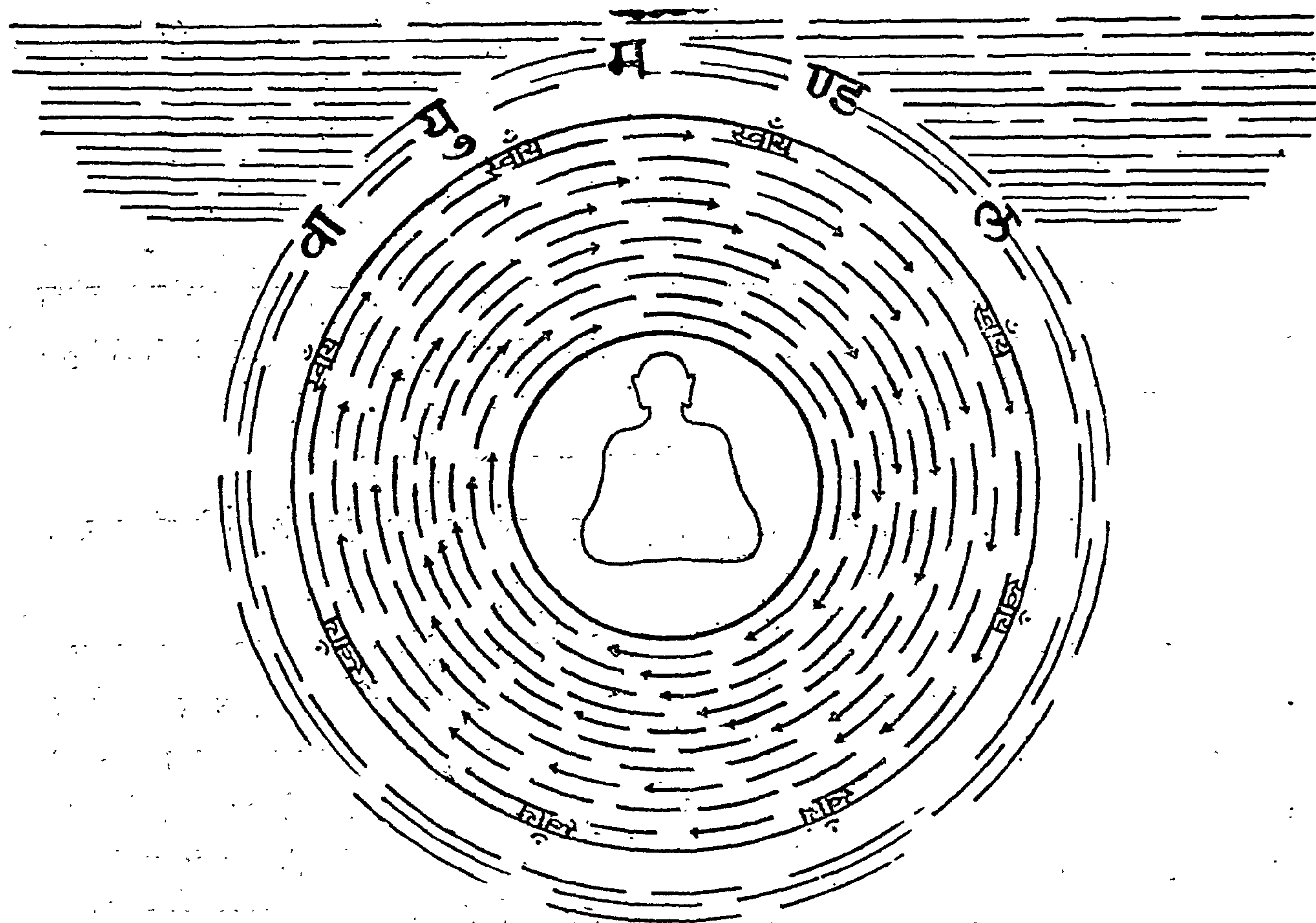
## अग्नि धारणा



भाग शरीर के एक तरफ और शेष आधा भाग शरीर के दूसरी तरफ मिलकर त्रिकोण अग्नि का चितवन करे। इस त्रिकोण की तीनों भुजाओं पर वीजाक्षर र र र र र....... । अग्निमय वेष्ठित हैं तथा इसके तीनों कोनों में बाहर अग्निमय स्वस्तिक हैं, और भीतर तीनों कोनों में अग्निमय ॐ र्हं लिखा हुआ विचारे। पश्चात् सोचे कि भीतरी अग्नि की ज्वाला कर्मों को और बाहरी अग्नि की ज्वाला शरीर को जला रही है। जब कर्म और शरीर दोनों जल कर राख हो गये तब वह ज्वाला जिस रेफ ँ से उठी थी उसी में शान्त होती हुई समा गई यही अग्नि धारणा है। इसका मानचित्र पृष्ठ नं० २७८ पर दिये गये चित्र के अनुसार बनाया जा सकता है:—

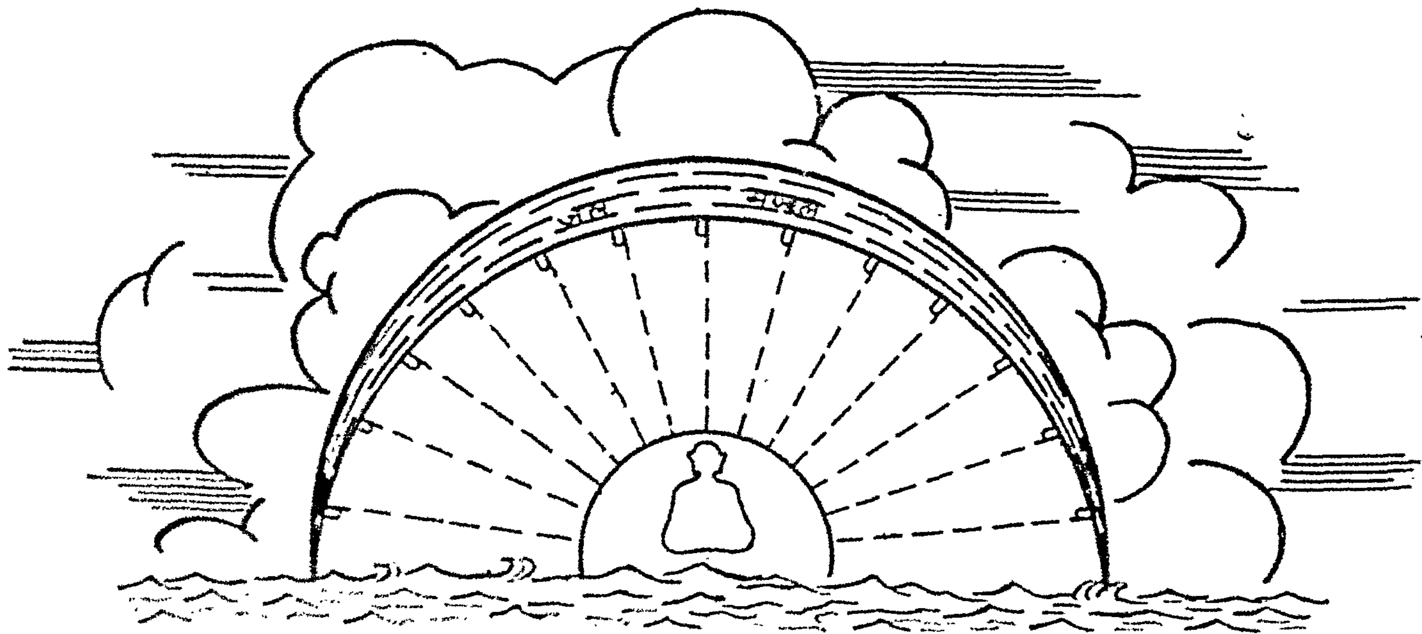
**मारुती या वायु धारणा:**—पश्चात् साधक चिन्तवन करे कि देवों की सेना को चलायमान करता हुआ, मेरु को कम्पायमान करता हुआ, मेघों को बखेरता हुआ, समुद्र को क्षोभ रूप करता हुआ यह प्रचण्ड वायु मण्डल मुझे चारों ओर से घेरे हुये है। इस मण्डल में आठ जगह स्वाँय स्वाँय लिखा हुआ है। तथा कर्म और शरीर की रज को उड़ा रहा है, जिससे आत्मा स्वच्छ और निर्मल होती जा रही है। इसका भी मानचित्र निम्न प्रकार बनाया जा सकता है:—

## वायु धारणा



**जल धारणा का वर्णन:**—पुनः चिन्तन करे कि मेघ छा गये हैं। बादल गरज रहे हैं, बिजली चमक रही है और खूब जोर की वर्षा होने लगी, तथा मेरी आत्मा के ऊपर एक अर्ध चन्द्राकार मण्डल बन गया है जिस पर प प प प प ...... । लिखा हुआ है, उससे गिरने वाला मनोहर अमृतमय जल का प्रवाह अपनी सहस्र धाराओं द्वारा आत्मा के ऊपर लगी हुई कर्म रज को धोकर साफ कर रहा है। मानचित्र निम्न प्रकार है:—

## जल धारणा




**तत्त्व रूपवती धारणा:**—इसके पश्चात् साधक चिन्तन करे कि मैं कर्म एवं शरीर से रहित सिद्ध, बुद्ध, सर्वज्ञ, निर्मल, निरंजन, पुरुषाकार, चैतन्यमयी धातु की बनी हुई मूर्ति के समान हूं। यही तत्त्वरूपवती धारणा है।

इस प्रकार इन पांचों धारणाओं के द्वारा पिण्डस्थ ध्यान किया जाता है।

**शंका:**—ज्ञानानन्द स्वरूप मात्र आत्मा का ही ध्यान करना चाहिये, इन धारणाओं की कल्पना से आत्मा को क्या प्रयोजन है?

**समाधान:**—मात्र निज शुद्धात्मा का स्वरूप ही ध्येय नहीं है, किन्तु ध० पु० १३ के आधार पर [illegible] के कथन से यह बतलाया जा सकता है कि चेतन तथा अचेतन पुद्गल आदि भी ध्येय हैं। दूसरे यह शरीर [illegible] है और सूक्ष्म पुद्गल कर्मों के द्वारा उत्पन्न हुआ है, उसका आत्मा के साथ सम्बन्ध है, इसी संयोग से आत्मा द्रव्य भाव रूप कर्मों से अनादि काल से मलिन हो रहा है, इस [illegible] विकल्प उत्पन्न होते हैं, इन विकल्पों के निमित्त से परिणाम [illegible] नहीं होते। [illegible] के लिये [illegible] विकल्पों से चित्त को [illegible] करना चाहिये।

वह स्वाधीन चिन्तन किसी अवलम्बन से ही होता है। प्रारम्भ अवस्था में अवलम्बन बिना चित्त स्थिर नहीं होता, इसलिये पिंडस्थ ध्यान में पांच प्रकार की धारणाओं की कल्पना स्थापन की गई है।

**अन्य प्रकार से पिंडस्थ ध्यानः**—जो[1] मुनि अखंड और निश्चल पिंडस्थ ध्यान का आचरण करना चाहते हैं उन्हें अपने शरीर के भीतर मध्यान्ह काल के अनेक सूर्यों की दीप्ति के समान दैदीप्यमान जगत का स्वामी आत्मा अमृत समुद्र में उसकी मनोहर तरङ्गों से मन को स्नान कराता है। ऐसा चिंतवन करे।

**अन्य प्रकार से**—जो योगी इस बात का ध्यान करता है कि मेरा शरीर रक्त मज्जा आदि निंदित धातुओं से रहित दिव्य है और आत्मा को अखण्ड केवलज्ञान रूपी प्रकाश से दैदीप्यमान एवं अरहन्तों की समस्त कलाओं से भूषित मानता है, उनके भी पिंडस्थ ध्यान होता है।

**पदस्थ ध्यान का वर्णन**—पवित्र मन्त्रों के अक्षर स्वरूप पदों का अवलम्बन करके चिन्तन करना अथवा जिस पदार्थ का ध्यान किया जाय उसके अङ्कित किसी अक्षर पद या वाक्य को अपने चित्त में स्थिर कर विचार करना पदास्पद–पदस्थ ध्यान कहलाता है।

अनादि सिद्धान्त में प्रसिद्ध जो वर्णमातृका अर्थात् अकारादि स्वर और ककारादि व्यञ्जनों का समूह है उसका चिन्तन करे। पश्चात् अष्ट पत्रों से विभूषित मुखकमल के प्रत्येक पत्र पर भ्रमण करते हुये य, र, ल, व, स, ष, श और ह इन अष्ट वर्णों का ध्यान करे। तत्पश्चात् समस्त मन्त्र पदों का स्वामी, सब तत्वों का नायक, आदि मध्य और अन्त के भेद से स्वर तथा व्यञ्जनों से उत्पन्न, ऊपर और नीचे रेफ ( र् ) से रुका हुआ तथा विन्दु ( ँ ) से चिह्नित सपर कहिये हकार अर्थात् ( ह्रँ ) ऐसा वीजाक्षर तत्व है, जो देव और असुरों से पूज्य, अज्ञान रूपी अंधकार को दूर करने के लिये सूर्य के समान मन्त्रराज का ध्यान करे।

स्वर्णमय कमल के मध्य में कर्णिका पर विराजमान, मल तथा कलंक से रहित शरद ऋतु के पूर्ण चन्द्रमा की किरणों के समान गौरवर्ण के धारक, आकाश में गमन करते हुये तथा दिशाओं में व्याप्त होते हुये ऐसे जिनेन्द्र देव के सदृश इस मन्त्र का ध्यान करे।

यह मन्त्रराज ( ह्रँ अक्षर ) ऐसा है कि मानो सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, शान्तमूर्ति के धारक देवाधिदेव स्वयं जिनेन्द्र भगवान् ही मन्त्रमूर्ति को धारण करके विराजमान हैं।

सर्व प्रथम ध्यानी अर्हं अक्षर का समस्त अवयवों सहित चिन्तन करे, तत्पश्चात् अवयव रहित चिन्तन करे पश्चात्, क्रम से चन्द्रमा समान प्रभावाला, वर्णमात्र ( हकार ) स्वरूप चिन्तन करे फिर अनुस्वार रहित, कला ( ँ ) रहित, दोनों रेफ ( र् ) रहित अक्षर रहित और उच्चारण करने योग्य न हो ऐसा चिन्तन करे।

राग के कारणों को नष्ट करने वाले, रेफ से युक्त, स्फुरायमान और अखण्ड ज्योति की धारक अर्ध चन्द्रकला से शोभित, अहंकार को नष्ट करने वाले अर्हं शब्द का यदि मन के अन्दर ध्यान किया जाय तो उससे सर्वज्ञ पद की सिद्धि होती है।

---

[1] आत्म प्रबोध श्लोक १०४

**पंचपरमेष्ठी के ध्यान का विधान**—जो मोक्ष रूपी नगर को मार्ग के समान है, जिसमें णमो पद के साथ पाँचों परमेष्ठी के वाचक पदों का प्रयोग है, ऐसे अपराजित मन्त्र का ध्यान करने को स्फुरायमान निर्मल चन्द्रमा की कान्ति समान अष्ट पत्र से सुशोभित जो कमल है, उसकी कर्णिका पर स्थित सात अक्षर के 'णमो अरहन्ताणं' मन्त्र का चिन्तन करे और उस कर्णिका से बाहर के आठ पत्रों में से चार दिशाओं के चार दलों पर 'णमो सिद्धाणं' णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं ये चार मन्त्र पद और विदिशाओं के चार पत्रों पर सम्यग्दर्शनाय नमः, सम्यग्ज्ञानाय नमः, सम्यक्चारित्राय नमः, सम्यक्तपसे नमः, इन चार नमस्कार मन्त्रों का चिन्तवन करे। इस प्रकार अष्टदल का कमल और एक कर्णिका में नव मन्त्रों को स्थापन कर चिन्तन करे। मन वचन काय को शुद्ध करके इस मन्त्र को एक सौ आठ बार चिन्तन करे तो वह मुनि आहार करता हुआ भी एक उपवास के पूर्ण फल को प्राप्त होता है।

जो मुनिजन चन्द्रमा की कला के समान कला वाले परमेष्ठी वाचक ओं इस बीजाक्षर को निरन्तर स्मरते हुये अनुपम आनन्दमयी रस से व्याप्त अपने हृदयकमल में वा नाभिकमल और ललाट-कमल में धारण करते हैं उनके भी पिण्डस्थ ध्यान होता है।

अविनाशी, अनन्तचतुष्टय रूपी ऋद्धि के धारक, सबके स्वामी अर्हंत भगवान को साक्षात् बतलाने वाला अकार अक्षर है।

स्वभाव से सिद्ध गति को प्राप्त और जो योगियों को मोक्ष प्रदान करने वाला है, वह परमात्मा सिद्ध है एवं उनका परिचायक अक्षर सि है। अर्थात् अशरीरि का अ अक्षर है।

आचार के धारक अतिशय उत्तम ज्ञान और ऐश्वर्य मण्डित, संघ के स्वामी आचार्यों का परिचायक अक्षर आकार है।

समीचीन उपदेश देने वाले, अतिशय तेजस्वी, बाह्याभ्यन्तर दोनों प्रकार की उपाधियों से रहित उपाध्याय का वाचक उकार अक्षर है।

जीवन मरण, लाभ अलाभ, शत्रु मित्र में समता रखने वाले, स्वपर प्रयोजन की सिद्धि करने वाले, सत्पुरुषों के स्वामी, ऐसे साधुओं का परिचायक म अक्षर है। अर्थात् मुनिश्वरों का मकार है। अ + अ + आ + उ + म् = इन अक्षरों की सन्धि करने से ओंकार की सिद्धि होती है, जिसकी सिद्धि से पाँचों परमेष्ठियों की सिद्धि हो जाती है तथा यह ओंकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र स्वरूप है, इसलिये मोक्ष की प्राप्ति के लिये इसका ध्यान करना चाहिये।

**अन्य प्रकार से ओंकार की सिद्धि**—अधोलोक का आदि अक्षर 'अ', अवनि ( मध्य लोक ) का आदि अक्षर 'अ' और ऊर्ध्व लोक का ऊ इन तीनों की सन्धि कर ओं इतने भाग की सिद्धि हुई। इसके ऊपर सिद्ध शिला का अर्ध चन्द्राकार चिह्न है और इसके ऊपर जो बिन्दु है वह सिद्धों की पंक्ति है अर्थात् अनन्तानन्त सिद्ध यहाँ रहते हैं इसलिये ॐ में सिद्धों का ग्रहण होता है।

यह ओंकार पांच ज्ञान स्वरूप भी है क्योंकि आभिनिबोधिक (मतिज्ञान) का 'अ', आगम (श्रुतज्ञान) का 'आ'; अवधिज्ञान का 'अ', मन:पर्यय अर्थात् अन्त:करण ज्ञान का 'अ' और अतिशय निर्मल केवलज्ञान का "उत्कृष्ट" यह नाम निक्षेपकर उत्कृष्ट का उ ग्रहण कर और आपस में सन्धि कर 'ओ' सिद्ध हुआ तथा अमृतमय मोक्ष का म् ग्रहण कर और सबको एक साथ मिलाकर ओंकार बन जाता है; एवं इसके पांच ज्ञान स्वरूप होने के कारण पांचों ज्ञानों का जो फल होता है वही इससे होता है।

इसी प्रकार अ, सिद्ध, अरहन्त, अरहन्त सिद्ध; ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः अ सि आ उ सा नमः; ॐ अर्हत् सिद्ध सयोगकेवली स्वाहा आदि अनेक अक्षर वाले मन्त्र पदों के अभ्यास के पश्चात् विलय हुये हैं समस्त कर्म जिसमें ऐसे अति निर्मल, स्फुरायमान अपनी आत्मा को अपने शरीर में चिन्तन करे। इन मन्त्र पदों का ध्यान मोक्ष का महान उपाय है।

इस प्रकार पदस्थ ध्यान का वर्णन समाप्त हुआ।

## रूपस्थ ध्यान का वर्णन

रूपवान पदार्थ का ध्यान करना रूपस्थ ध्यान कहलाता है। इस ध्यान में अरहन्त भगवान का ध्यान करना चाहिये।

आठ प्रातिहार्य, ३४ अतिशयों से मण्डित, समवशरण में स्थित, उत्तरगुण रूपी पर्वत के शिखर, सप्त धातु से रहित, अनन्त महिमा के आधार, समस्त जगत के हितकारी, रागादि सन्तान का नाश करने वाले, संसार रूपी अग्नि को बुझाने के लिये मेघ के समान, स्याद्वाद रूपी वज्र से अन्य मत रूपी पर्वतों का खण्डन करने वाले, ज्ञान रूप अमृतमय जल से तीनों लोकों को पवित्र कर देने वाले, गुण रूप रत्नों के महासमुद्र, देवों के देव, इन्द्र, नरेन्द्र और धरणेन्द्र से पूजित ऐसे जिनेन्द्र भगवान का ध्यान करें।

पश्चात्—पवित्र किया है पृथ्वी तल को जिन्होंने ऐसे जो तीन जगत के उद्धार करने वाले, मोक्ष मार्ग के प्रणेता जिनका भामण्डल सूर्य को आच्छादित करने वाला है, जिनका शासन परम पवित्र है, जो करोड़ों चन्द्रमा के समान प्रभा के धारक हैं, जीवों को शरणभूत हैं, जिनके ज्ञान की गति सर्वत्र स्फुरायमान है। जो शान्त हैं, दिव्य वाणी में प्रवीण हैं, इन्द्रिय रूपी सर्पों को गरुड़ हैं, समस्त अभ्युदय के मन्दिर हैं, दु:ख रूपी समुद्र में पड़ते हुये जीवों को हस्तावलम्बन हैं, कल्याण स्वरूप हैं नित्य, अजन्मा एवं ज्योतिर्मय हैं, योगियों के नाथ हैं, इत्यादि अनन्त गुणों से सहित, देवों के नायक अरहन्त प्रभु का ध्यान करना चाहिये।

यद्यपि सर्वज्ञ प्रभु का स्वरूप छद्मस्थ जीवों के अगोचर है तथापि इन्द्रिय और मन को अन्य विषयों से हटाकर संयमी मुनि निरन्तर साक्षात् उन्हीं भगवान के स्वरूप में मन को लगाते हैं, उनमें

ही चित्त को प्रवेश करके उसी भाव से भावित योगी उन्हीं की तन्मयता को प्राप्त होते हैं, और उस तन्मयता के फल स्वरूप अपनी असर्वज्ञ आत्मा को सर्वज्ञ स्वरूप देखते हैं।

जिस प्रकार निर्मल स्फटिक मणि जिस वर्ण से युक्त होती है वैसे ही वर्ण स्वरूप परिणमन कर जाती है, उसी प्रकार यह जीव जिस जिस भाव से जुड़ता है, उसी भाव से तन्मयता को प्राप्त हो जाता है; इसीलिये सर्वज्ञ देव की भावना से उत्पन्न हुये आनन्द रूप अमृत के वेग से आनन्द रूप हुआ मुनि स्वप्नादिक अवस्थाओं में भी ध्यान से च्युत नहीं होता और इसी अभ्यास से तन्मय होकर सर्वज्ञ समान अपनी आत्मा का ध्यान करता हुआ एक दिन साक्षात् सर्वज्ञ हो जाता है।

**रूपातीत ध्यान का वर्णन:**—पिंडस्थ, पदस्थ और रूपस्थ ये तीन प्रकार के ध्यान सशरीर अर्हन्त, आचार्य, उपाध्याय एवं साधु इन चार परमेष्ठियों के वा इनके समान अन्य महात्माओं के अवलम्बन से होते हैं, इसलिये ये ध्यान सावलम्ब हैं, परन्तु रूपातीत ध्यान निरालम्बन स्वरूप है, रूपादिक को अवलम्बन किये बिना ही होता है क्योंकि इसमें सिद्धों का ध्यान किया जाता है और सिद्ध रूप रसादि से रहित, कर्म कालिमा और शरीर से विनिर्मुक्त हैं। अतः अतिशय निर्मल इस रूपातीत ध्यान को निष्कल ध्यान भी कहते हैं। यह अध्यात्म विद्या द्वारा देखा गया सिद्ध परमात्मा न तो किसी दूसरे पदार्थ से उत्पन्न हुआ है, न दूसरे पदार्थों को उत्पन्न करने वाला है, न किसी पदार्थ का कर्त्ता है, न कार्य है। न अन्य पदार्थ का अनुभव करता है और न किसी के द्वारा अनुभव किया जाता है। न पुण्य पाप को बांधने वाला ही है और न पुण्य पाप से बंधता है। अनन्त चतुष्टय का धारक है, अन्त रहित, अनुपम और अनन्त सिद्ध पद से भूषित है। समस्त मल एवं कलङ्कों से विमुक्त है।

जो अनन्तानन्त ज्ञान का धारक परमात्मा कर्म रहित होने के कारण दर्पण में दर्पण के समान अपने अन्तरंग में प्रतिबिम्बित और स्फुरायमान अनन्तानन्त आकाश को "ऐसा है" इस प्रकार जानता है, वह निष्कलंकात्मा परमात्मा अपनी आत्मा में ही निश्चय के योग्य है। वह परमात्मा न भारी है न हलका है, न मध्यम है, न बालक, युवा और न वृद्ध है। न स्त्री, पुरुष एवं नपुंसक है, छिदने भिदने वाला और क्षणभंगुर भी नहीं है। वह परमात्मा स्वभाव से न सरस है न नीरस, न द्रवित है न कठोर, न विपुल है न संकुल, न विरत है न अविरत, न क्रिया है न कर्म, न करण, न शुभ, अशुभ एवं शुभाशुभ ही है। कर्मों की उपाधि से रहित और आठ गुण सहित परम कल्याण के भाजन परमात्मा का स्वरूप अतीन्द्रिय है, इसलिये उसका निरूपण करना अत्यन्त कठिन है; क्योंकि परमात्मा के गुण और स्वरूप निस्सीम एवं अपरिमित होने से साक्षात् भगवती श्रुतदेवी भी उनके अनन्तज्ञानादि गुणों का परिपूर्ण प्रतिपादन करने में असमर्थ है।

पूर्वोक्त प्रकार से जब परमात्मा का निश्चय हो जाता है और दृढ़ अभ्यास से उसका प्रत्यक्ष होने लगता है तब ध्याता परमात्मा का चिन्तवन इस प्रकार करे कि ऐसा परमात्मा मैं ही हूँ, मैं ही सर्वज्ञ हूँ, सर्व व्यापक हूँ, सिद्ध हूँ, मैं ही निरञ्जन एवं समस्त विश्व को देखने वाला हूँ, इत्यादि प्रकार

से ध्यानी रूपातीत ध्यान का अभ्यास करके शक्ति की अपेक्षा आपको भी उनके समान जानकर और आपको उनके समान व्यक्त रूप करने के लिये आप में लीन होता है। इस प्रकार रूपातीत ध्यान का वर्णन समाप्त हुआ।

**लेश्या:**—उपर्युक्त सभी प्रकार का धर्मध्यान यथासंभव पीत, पद्म और शुक्ल इन तीनों शुभ लेश्याओं के अवलम्बन से होता है। क्योंकि कषायों के मन्द, मन्दतर और मन्दतम होने पर ही धर्मध्यान की प्राप्ति सम्भव है।

**भाव:**—यह धर्मध्यान यथा सम्भव क्षायोपशमिक, औपशमिक और क्षायिक भाव है।

**काल:**—इसका उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त मात्र है।

**स्वामी:**—इस[1] धर्मध्यान के अधिकारी मुख्य और उपचार के भेद से प्रमत्तगुणस्थानवर्ती और अप्रमत्तगुणस्थानवर्ती ये दो मुनि ही होते हैं।

अल्पश्रुतज्ञानी[2], अतिशय बुद्धिमान और श्रेणी के पहिले-पहिले धर्मध्यान धारण करनेवाला उत्कृष्ट मुनि भी उत्तम ध्याता ( स्वामी ) है।

धर्मध्यान[3] एक वस्तु ( आत्मा ) में स्तोक काल तक ही रहता है, क्योंकि कषाय सहित परिणाम का गर्भगृह के भीतर स्थित दीपक के समान चिरकाल तक अवस्थान नहीं बन सकता।

**शंका:**—धर्मध्यान कषाय सहित जीवों के ही होता है यह किस प्रमाण से जाना जाता है ?

**समाधान:**—असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत क्षपक और उपशामक, अपूर्वकरणसंयत क्षपक और उपशामक, अनिवृत्तिसंयत क्षपक और उपशामक एवं सूक्ष्मसा० संयत क्षपक और उपशामक जीवों के धर्मध्यान की प्रवृत्ति होती है ऐसा जिनेन्द्रदेव का उपदेश है। इससे जाना जाता है कि धर्मध्यान कषाय सहित जीवों के होता है। ( धवल पु० १३ )

कितने ही आचार्यों[4] ने अविरत सम्यग्दृष्टि से लेकर अप्रमत्त गुणस्थान तक ही स्वामी कहे हैं।

चौथे गुणस्थान से पहिले धर्मध्यान नहीं होता। मन्द कषायी मिथ्यादृष्टि जीवों के जो ध्यान होता है उसे **शुभ भावना** कहते हैं। गृहस्थ के उपचार से धर्मध्यान कहा है, क्योंकि भक्ति ही गृहस्थ का धर्मध्यान है।

**धर्म ध्यान का फल:**—जो भव्य पुरुष समस्त परिग्रह को छोड़कर धर्म ध्यान पूर्वक अपना शरीर छोड़ते हैं, वे पुरुष ग्रैवेयक, नव अनुदिश और सर्वार्थसिद्धि आदिमें उत्तम देव होते हैं। धर्मध्यान

---

१ ज्ञानार्णव पृ० २६७ गाथा २५

२ आदि पुराण पर्व २१ श्लोक १०२ और १५६

३ धवल पु० १३ पृ० ७४

४ ज्ञानार्णव पृ० २६८ गाथा २८

से पर्याय छोड़कर जो जीव सोलह स्वर्गों में उत्पन्न होते हैं वे देव भी अचिन्त्य विभूति के साथ उत्कृष्ट सुख भोगते हैं। स्वर्गों से च्युत होकर भूमण्डल में लोगों से नमस्करणीय उत्तम वंश में अवतार लेते हैं और वहां पर भी उत्तम शरीर और उत्कृष्ट वैभव को पाकर उत्तम मनुष्य भव के अनुपम सुखों को भोगकर, संसार परिभ्रमण से विरक्त हो, रत्नत्रय की शुद्धता को प्राप्तकर दुर्द्धर तप तपते हुये धर्मध्यान और शुक्लध्यान को धारणकर, समस्त कर्मों का नाशकर अविनाशी मोक्ष पद को प्राप्त होते हैं। यह धर्मध्यान का परम्परा फल है।

अक्षपक[2] जीवों को देव पर्याय सम्बन्धी विपुल सुख मिलना और कर्मों की गुण श्रेणी निर्जरा होना फल है। तथा क्षपक जीवों के तो असंख्यातगुणश्रेणी रूप से कर्म प्रदेशों की निर्जरा होना और शुभ कर्मों के उत्कृष्ट अनुभाग का होना धर्मध्यान का फल है।

उत्कृष्ट[3] धर्मध्यान के शुभाश्रव, संवर, निर्जरा और देवों के सुख ये शुभानुबन्धी विपुल फल होते हैं। अथवा जैसे मेघपटल, पवन से ताड़ित होकर क्षणमात्र में विलीन हो जाते हैं, वैसे ही ध्यान रूपी पवन से उपहत होकर कर्मरूपी मेघ भी विलीन हो जाते हैं। यह भी धर्मध्यान का फल है।

धर्मध्यान में कर्मों का क्षय करने वाले क्षपक के चौथे गुणस्थान में करण परिणामों के काल में तथा पांचवें गुणस्थान से अप्रमत्त सातवें गुणस्थान तक असंख्यात २ गुणे कर्मों के समूह की निर्जरा होती है, और कर्मों का उपशम करने वाले उपशामक के क्रम से असंख्यात २ गुण कर्मों का समूह उपशम होता है।

अट्ठाईस[4] प्रकार के मोहनीय की सर्वोपशमना करना धर्मध्यान का फल है, क्योंकि धर्मध्यानी के सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान के अन्तिम समय में मोहनीय कर्म की सर्वोपशमना देखी जाती है। मोहनीय का विनाश करना भी धर्मध्यान का फल है, क्योंकि सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान के अन्तिम समय में उसका विनाश देखा जाता है।

**शंका:**—मोहनीय कर्म का उपशम करना यदि धर्मध्यान का फल है तो इसी से मोहनीय का क्षय नहीं हो सकता, क्योंकि एक कारण से दो कार्यों की उत्पत्ति मानने में विरोध आता है?

**समाधान:**—नहीं, क्योंकि धर्मध्यान अनेक प्रकार का है, इसलिये उससे अनेक प्रकार के कार्यों की उत्पत्ति मानने में कोई विरोध नहीं आता।

धर्मध्यान जीव को अत्यन्त निर्वेद ( संसार शरीर और भोगों से अत्यन्त वैराग्य ) विवेक ( भेद ज्ञान ) और प्रशम ( मन्द कषाय ) इनसे उत्पन्न होने वाले अपने आत्मा के ही अनुभव में आने वाले अतीन्द्रिय सुख को प्राप्त कराता है।

इस प्रकार प्रशस्त ध्यानों में प्रथम धर्मध्यान का वर्णन समाप्त हुआ।

---

१ ज्ञानार्णव पृ० ४१८ गाथा ७८
२ धवल पु० १३ पृष्ठ ७७
३ धवल पु० १३ पृष्ठ ११ गाथा ५६, ५७
४ " " पृष्ठ ८१

## शुक्ल - ध्यान

कषायों के उपशम या क्षय होने का नाम शुचिगुण है। आत्मा के इस शुचिगुण के सम्बन्ध से जो ध्यान होता है उसे शुक्ल ध्यान कहते हैं। यह शुक्ल ध्यान वैडूर्यमणि की शिखा के समान निर्मल और निष्कम्प होता है।

जिस प्रकार बार-बार अग्नि से तपाया हुआ स्वर्ण कीट आदि मैल को छोड़कर अपने वर्ण की यथार्थ चमक-दमक को प्राप्त होता हुआ बिल्कुल शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार बार-बार चिन्तन किया हुआ **धर्मध्यान** जिस समय अधिक शुद्ध हो जाता है, उसी समय शुक्लध्यान बन जाता है।

**स्वामी:**—आत्मा के प्रयोजन का ही आश्रय करना, मोहरूपी वन को छोड़, भेद विज्ञान को अभिन्न मित्र बनाकर संसार शरीर भोगों से वैराग्य का सेवन करना ही हैं चिन्ह जिसके ऐसे धर्मध्यान रूपी अमृत के समुद्र से निकलकर अत्यन्त शुद्धता को प्राप्त हुआ, धीर, वीर, उत्कृष्ट संहनन का धारी, उत्कृष्ट रूप से ग्यारह अङ्ग, चौदह पूर्व का जानने वाला, शुद्ध चारित्र धारी, निष्क्रिय, इन्द्रियातीत तथा "मैं इसका ध्यान करूं" ऐसी इच्छा से रहित, और जो अपने स्वरूप के ही सम्मुख है वही उत्कृष्ट आत्मा शुक्लध्यान का धारी होता है।

**शुक्ल ध्यान की पहिचान:**—अभय, असंमोह, विवेक और विसर्ग ये शुक्लध्यान के लिङ्ग ( चिन्ह ) हैं। इनके द्वारा शुक्लध्यान को प्राप्त हुआ मुनि पहिचाना जाता है। ऐसा धीर वीर मुनि परीषह और उपसर्गों से न तो चलायमान होता है और न डरता है, तथा वह सूक्ष्म भावों में और देवमाया में भी मुग्ध नहीं होता। वह देह एवं और अन्य संयोगों से अपनी आत्मा को भिन्न अनुभव करता है। तथा निःसङ्ग हुआ वह सब प्रकार से देह और उपधिका उत्सर्ग करता है।

ध्यान में चित्त की लीनता रखने से कषायों द्वारा उत्पन्न मानसिक दुःखों से बाधित नहीं होता एवं ध्येय में निश्चल रहने से शीत आतप आदि बहुत प्रकार की शारीरिक बाधाओं द्वारा भी नहीं बाधा जाता।

**भेदः**—कषाय रूपी मल के नष्ट होने से जो "शुक्ल" इस संज्ञा को प्राप्त हुआ है, वह शुक्ल-ध्यान मूल में शुक्ल और परम शुक्ल के भेद से दो प्रकार का है। इनमें से पहिला शुक्ल ध्यान तो छद्मस्थ मुनिराजों के होता है और दूसरा परम शुक्ल ध्यान केवली भगवान के होता है।

पहिले शुक्ल ध्यान के पृथक्त्ववितर्कवीचार और एकत्ववितर्कऽवीचार नाम के दो भेद हैं। ये दोनों शुक्ल ध्यान श्रुतज्ञान के अर्थ के सम्बन्ध से श्रुतज्ञान के आलम्बन पूर्वक अर्थात् इनमें श्रुतज्ञान पूर्वक पदार्थों का अवलम्बन होता है।

**पृथक्त्ववितर्कवीचार शुक्ल ध्यान:**—पृथक्त्व का अर्थ भेद है, वितर्क का अर्थ द्वादशाङ्ग श्रुत है और वीचार का मतलब, अर्थ, व्यञ्जन और योग की संक्रान्ति है। अर्थात् एक अर्थ से दूसरे अर्थ

की प्राप्ति होना अर्थ संक्रान्ति है। एक व्यञ्जन से दूसरे व्यञ्जन में प्राप्त होकर स्थिर होना व्यञ्जन संक्रान्ति है, और एक योग से दूसरे योग में गमन होना योग संक्रान्ति है। पृथक्त्व (भेद रूप से) वितर्क (श्रुत का) वीचार (संक्रान्ति) जिस ध्यान में होता है वह पृथक्त्ववितर्कवीचार नामका ध्यान है।

चौदह, दश और नौ पूर्व धारी, प्रशस्त तीन संहनन वाला, कषाय कलंक से पार को प्राप्त हुआ और तीनों योगों में से किसी एक योग में विद्यमान ऐसा उपशान्तकषायवीतराग छद्मस्थ जीव बहुत नय रूपी वन में लीन हुये ऐसे एक द्रव्य या गुण पर्याय को श्रुतरूपी रवि किरण के प्रकाश के बल से अन्तर्मुहूर्त तक एक उसी पदार्थ को ध्याता है, उसके बाद नियम से अर्थान्तर संक्रमित होता है। अथवा उसी अर्थ के गुण या पर्याय पर संक्रमित होता है, और पूर्व योग से योगान्तर पर संक्रमित होता है। इस तरह एक अर्थ अर्थान्तर, गुण गुणान्तर और पर्याय पर्यायान्तर को नीचे ऊपर स्थापित करके फिर तीन योगों को एक पंक्ति में स्थापित करके पृथक्त्ववितर्कवीचार ध्यान के ४२ भंग उत्पन्न करना चाहिये। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त काल तक शुक्ल लेश्या वाला उपशान्तकषायी जीव छह द्रव्य और नौ पदार्थ विषयक पृथक्त्ववितर्कवीचार ध्यान को अन्तर्मुहूर्त काल तक ध्याता है। अर्थ से अर्थान्तर का संक्रमण होने पर भी ध्यान का विनाश नहीं होता क्योंकि इससे चिन्तान्तर में गमन नहीं होता।

ध्यान करने वाला मुनि श्रुतस्कन्ध रूपी महासमुद्र से कोई एक पदार्थ लेकर उसका ध्यान करता हुआ किसी दूसरे पदार्थ को प्राप्त हो जाता है। एक शब्द से दूसरे शब्द को प्राप्त हो जाता है, और इसी प्रकार एक योग से दूसरे योग को प्राप्त हो जाता है, इसलिये इस ध्यान को सवीचार और सवितर्क कहते हैं। जो शब्द और अर्थ रूपी रत्नों से भरा हुआ है, जिसमें अनेक नय भंग रूपी तरंगें उठ रहीं हैं, जो विस्तृत ध्यान से गम्भीर है, जो पद और वाक्य रूपी अगाध जल से सहित है, उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूपी ज्वार भाटाओं से उद्वेलित है, सप्त भंग ही जिसकी विशाल गर्जना है, जो परमत रूपी जल जन्तुओं से भरा हुआ है, बड़ी-बड़ी सिद्धियों के धारण करने वाले गणधर देव रूपी मुख्य व्यापारियों से चारित्र रूपी पताकाओं से सुशोभित सम्यग्ज्ञान रूपी जहाजों द्वारा जिसमें अवतरण किया है। जो रत्नत्रय रूपी अनेक रत्नों से भरा है, ऐसे श्रुतस्कन्ध रूपी महासागर में अवगाहन कर महामुनि पृथक्त्व-वितर्कवीचार नाम के पहिले शुक्लध्यान का चिन्तन करते हैं।

यह[2] ध्यान ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थान में और उपशमक तथा क्षपक इन दोनों प्रकार की श्रेणियों के लिए आठवें, नौवें और दसवें गुणस्थान में भी हीनाधिक रूप से होता है। किन्तु धवलकार के अनुसार मात्र ११वें व १२वें इन दो गुणस्थानों में ही होता है।

शंका—इसमें शुक्ल ध्यान का एक पदार्थ में स्थित रहने का काल धर्म ध्यान के काल से संख्यात

---

१ आदिपुराण पर्व २१ श्लोक १८२

२ धवल पु० १३ पृष्ठ ७८

गुणा है, क्योंकि वीतराग परिणाम मणि की शिखा के समान बहुत काल के द्वारा भी चलायमान नहीं होता।

**शंका:**—उपशान्त कषाय गुणस्थान में पृथक्त्ववितर्कवीचार ध्यान का अवस्थान अन्तर्मुहूर्त काल ही पाया जाता है?

**समाधान:**—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि वीतरागता का अभाव होने पर उसका विनाश पाया जाता है।

**शंका:**—उपशान्तकषायी के ध्यान का अर्थ से अर्थान्तिर में गमन देखा जाता है?

**समाधान:**—नहीं क्योंकि अर्थान्तिर में गमन होने पर भी एक विचार से दूसरे विचार में गमन नहीं होने से ध्यान का विनाश नहीं होता।

**शंका:**—कषाय सहित तीन गुणस्थानों के काल से चूंकि उपशान्त कषाय का काल संख्यात-गुणा हीन है, इसलिये धर्मध्यान की अपेक्षा इसका काल संख्यात गुणा नहीं बन सकता?

**समाधान:**—एक पदार्थ में कितने काल तक अवस्थान होता है, इस बात को देखते हुये काल संख्यात गुणा कहा है। क्योंकि एक वस्तु में अन्तर्मुहूर्त काल तक चिन्ता का अवस्थान होना छद्मस्थों का ध्यान है और योगनिरोध जिन भगवान का ध्यान है।

**फल:**—धर्मध्यान के द्वारा २८ प्रकार के मोहनीय की सर्वोपशमना होने पर उसमें स्थिर बनाये रखना पृथक्त्ववितर्कवीचार नामक शुक्ल ध्यान का फल है।

**एकत्ववितर्कऽवीचार ध्यान:**—एक[1] का भाव एकत्व है, वितर्क द्वादशाङ्ग को कहते हैं, और अवीचार का अर्थ असंक्रान्ति है। अभेद रूप से वितर्क सम्बन्धी अर्थ, व्यञ्जन और योगों का अवीचार (असंक्रान्ति) जिस ध्यान में होता है वह एकत्ववितर्कऽवीचार ध्यान है। उपशान्त मोह अथवा क्षीण-कषायी जीव एक ही द्रव्य का किसी एक योग के द्वारा ध्यान करता है, इसलिये इस ध्यान को एकत्व कहा है। वितर्क का अर्थ श्रुत है और जिसलिये पूर्वगत अर्थ में कुशल साधु इस ध्यान को ध्याता है इसलिये इस ध्यान को सवितर्क कहा है। अर्थ, व्यञ्जन और योगों के संक्रमण का नाम वीचार है और उस वीचार के अभाव से यह ध्यान होता है इसलिये इसे अवीचार कहते हैं।

जिसके शुक्ल लेश्या है, जो निसर्ग से बलशाली है, स्वाभाविक शूर है, दश या नौ पूर्वधारी है, क्षायिक-सम्यग्दृष्टि है और जिसने समस्त कषाय वर्ग का क्षय कर दिया है ऐसा क्षीण कषायी जीव नौ पदार्थों में से किसी एक पदार्थ का द्रव्य गुण और पर्याय के भेद से ध्यान करता है। इस प्रकार किसी एक योग और एक शब्द के अवलम्बन से वहाँ एक द्रव्य गुण या पर्याय में मेरु पर्वत के समान निश्चल भाव से अवस्थित चित्त वाले; असंख्यात गुणश्रेणी क्रम से कर्म स्कन्धों को गलाने वाले, अनंत

---

1 धवल पु० १३ पृ० ७६

गुण हीन श्रेणी क्रम से कर्मों के अनुभाग को शोषित करने वाले और कर्मों की स्थितियों को एक योग तथा एक शब्द के अवलम्बन से प्राप्त हुये ध्यान के बल से घात करने वाले उन योगियों का अन्तर्मुहूर्त काल जाता है। तदनन्तर शेष रहे क्षीण कषाय के काल प्रमाण स्थितियों को छोड़कर उपरिम सब स्थितियों की उदयावली गुणश्रेणी रूप से रचना करके पुनः स्थिति काण्डक घात के बिना अधःस्थिति गलना द्वारा ही असंख्यात गुणश्रेणी क्रम से कर्म स्कन्धों का घात करता हुआ क्षीण कषाय के अन्तिम समय को प्राप्त होने तक जाता है, और वहाँ क्षीण कषाय के अन्तिम समय में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन कर्मों का युगपत् नाश करता हुआ तदनन्तर समय में केवलज्ञानी, केवलदर्शनी और अनन्तवीर्य का धारी तथा दान, लाभ, भोग और उपभोग के विघ्न से रहित होता है।

क्षमा, मार्दव, आर्जव और सन्तोष ये जिनमत में ध्यान के प्रधान अवलम्बन कहे हैं, इन्हीं अवलम्बनों का सहारा लेकर साधु दोनों प्रकार के शुक्लध्यानों पर आरोहण करते हैं।

**शंका:**—एकत्ववितर्कऽवीचार ध्यान के लिये अप्रतिपाती विशेषण क्यों नहीं दिया गया?

**समाधान:**—नहीं क्योंकि उपशान्त कषाय जीव के भव क्षय और काल क्षय के निमित्त से पुनः कषायों को प्राप्त होने पर एकत्ववितर्कऽवीचार का प्रतिपात देखा जाता है।

उपशान्त कषाय गुणस्थान में केवल पृथक्त्ववितर्कवीचार ध्यान ही होता है, और क्षीण कषाय गुणस्थान के काल में सर्वत्र एकत्ववितर्कऽवीचार ही होता है ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि वहाँ योग परावृत्ति का कथन एक समय प्रमाण अन्यथा बन नहीं सकता, इससे क्षीण कषाय काल के प्रारम्भ में पृथक्त्ववितर्कवीचार ध्यान का अस्तित्व भी सिद्ध होता है।

**फल:**—जिस प्रकार चिरकाल से संचित हुये ईन्धन को वायु से वृद्धि को प्राप्त हुई अग्नि अति शीघ्र जला देती है, उसी प्रकार अपरिमित कर्म रूपी ईन्धन को ध्यान रूपी अग्नि क्षण मात्र में जला देती है।

जिस प्रकार शिरोविरेचन, विरेचन और औषध के विधान से रोगाशय का शमन होता है उसी प्रकार ध्यान और अनशन आदि के निमित्तों से कर्माशय का भी शमन होता है।

जिस प्रकार मोहनीय का विनाश करना धर्मध्यान का फल है, उसी प्रकार तीनों घातिया कर्मों का निर्मूल विनाश करना एकत्ववितर्कऽवीचार ध्यान का फल है। इस शुक्ल ध्यान के फल से जीव केवलज्ञानी, केवलदर्शी और देवों के द्वारा की हुई समवसरणादि लक्ष्मी को प्राप्त कर धर्म प्रवर्तक होते हैं।

**परम शुक्ल ध्यान के भेद:**—घातिया कर्मों के नाश से जो उत्कृष्ट केवलज्ञान को प्राप्त हुये हैं, ऐसे स्नातक परमेष्ठि के ही परम शुक्ल ध्यान होता है। उसके दो भेद हैं—(१) सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाती (२) व्युपरतक्रियानिवृत्ति।

**सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाती शुक्ल ध्यानः**—क्रिया का अर्थ योग है, और वह योग जिसके पतनशील हो वह प्रतिपाती कहलाता है और उसका प्रतिपक्ष अप्रतिपाती कहलाता है। जिसमें क्रिया अर्थात् योग सूक्ष्म होता है वह सूक्ष्मक्रिय कहा जाता है और सूक्ष्मक्रिय होकर जो अप्रतिपाती होता है वह सूक्ष्मक्रिय अप्रतिपाती ध्यान कहलाता है। यहाँ केवलज्ञान के द्वारा श्रुतज्ञान का अभाव हो जाने से यह अवितर्क है, और अर्थान्तर की संक्रान्ति का अभाव हो जाने से अवीचार है अथवा व्यञ्जन और योग की संक्रान्ति का अभाव होने से अविचार है क्योंकि योग और व्यञ्जन के अवलम्बन के बिना ही त्रिकाल-गोचर अशेष पदार्थों का ज्ञान उन्हें युगपत् ही होता है। इस प्रकार तीसरा शुक्लध्यान अवितर्क-अवीचार और सूक्ष्मक्रिया से सम्बन्ध रखने वाला होता है क्योंकि काय योग के सूक्ष्म होने पर सर्वगत-भाव यह ध्यान होता है।

जो केवली जिन सूक्ष्म क्रियायोग में विद्यमान होते हैं उनके तीसरा शुक्लध्यान होता है, और उस सूक्ष्म काययोग का निरोध भी वे इसी ध्यान से करते हैं।

केवलज्ञान और केवलदर्शन हो जाने के कारण जो त्रिकाल विषयक सर्व द्रव्य और उनकी सर्व पर्यायों को जानते देखते हैं। करण, क्रम और व्यवधान से रहित होकर जो अनन्तवीर्य के धारक हैं, ऐसे सयोगी जिन, कुछ कम पूर्वकोटि काल तक विहार कर आयु के अन्तर्मुहूर्त काल शेष रहने पर दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण समुद्घात करते हैं। उसमें जो प्रथम समय में कुछ कम चौदह राजू उत्सेध रूप और अपने विष्कम्भ प्रमाण गोल परिवेद रूप आत्म प्रदेशों कर स्थिति के असंख्यात बहुभाग का और अप्रशस्त अनुभाग के अनन्त बहुभाग का घात कर स्थित रहते हैं, उसका नाम दण्ड समुद्घात है। दूसरे समय में पूर्व और पश्चिम की ओर वातवलय के सिवा पूरे लोकाकाश को अपने देह के विस्तार द्वारा व्याप्त कर शेष स्थिति और अनुभाग का क्रम से असंख्यात और अनन्त बहुभाग का घात कर जो अवस्थान होता है, वह कपाटसमुद्घात है। तीसरे समय में वातवलय के सिवा पूरे लोकाकाश को अपने जीव प्रदेशों द्वारा व्याप्त कर शेष स्थिति और अनुभाग का क्रम से असंख्यात और अनन्त बहुभाग का घात कर जो अवस्थान होता है वह प्रतरसमुद्घात है। चौथे समय में सर्व लोकाकाश को व्याप्त कर शेष स्थिति और अनुभाग का क्रम से असंख्यात और अनन्त बहुभाग का घात कर जो अवस्थान होता है वह लोकपूरणसमुद्घात है। अब यहाँ शेष स्थिति का प्रमाण अन्तर्मुहूर्त है जो कि आयु के प्रमाण से संख्यात गुणा है। यहाँ से लेकर आगे सब स्थिति काण्डक और अनुभाग काण्डकों को अन्तर्मुहूर्त द्वारा घातता है। स्थिति काण्डक का आयाम अन्तर्मुहूर्त है और अनुभाग काण्डक का प्रमाण शेष अनुभाग के अनन्त बहुभाग है। इस क्रम से अन्तर्मुहूर्त जाने पर योग निरोध करता है।

**शंका:**—योग निरोध किसे कहते हैं?

**समाधान:**—योगों के विनाश की योग निरोध संज्ञा है। जैसे:—यहाँ अन्तर्मुहूर्त काल बिताकर बादर काययोग के द्वारा बादर मनोयोग का निरोध करते हैं। फिर अन्तर्मुहूर्त में बादर काययोग द्वारा

बादर वचनयोग का फिर अन्तर्मुहूर्त में बादर काययोग के द्वारा बादर उच्छ्वास निश्वास का निरोध करते हैं। फिर अन्तर्मुहूर्त में बादर काययोग द्वारा बादर काययोग का निरोध करते हैं। फिर अन्तर्मुहूर्त में सूक्ष्म काययोग द्वारा सूक्ष्म मनोयोग का फिर अन्तर्मुहूर्त में सूक्ष्म काययोग द्वारा सूक्ष्म वचनयोग का फिर अन्तर्मुहूर्त में सूक्ष्म काययोग द्वारा सूक्ष्म उच्छ्वास निश्वास का फिर अंतर्मुहूर्त में सूक्ष्मकाययोग द्वारा सूक्ष्म काययोग का निरोध करते हुये इन करणों को करते हैं।

प्रथम समय में पूर्वस्पर्धकों के नीचे अपूर्वस्पर्धक करते हैं। ऐसा करते हुये प्रथम योग वर्गणा के अविभागप्रतिच्छेदों के असंख्यातवें भाग का अपकर्षण करते हैं और जीव प्रदेशों के असंख्यात भाग का अपकर्षण करते हैं, इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त काल तक अपूर्वस्पर्धक करते हैं। ये अपूर्वस्पर्धक प्रतिसमय पहिले समय में जितने किये गये उनसे अगले द्वितीयादि समयों में संख्यातगुणे श्रेणी रूप से जीव प्रदेशों का अपकर्षण कर किये जाते हैं। इस प्रकार किये गये सब अपूर्वस्पर्धक जगत् श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण जगतश्रेणी के प्रथम वर्ग मूल के असंख्यातवें भाग प्रमाण और पूर्वस्पर्धकों के भी असंख्यातवें भाग प्रमाण होते हैं।

इसके बाद अन्तर्मुहूर्त काल तक कृष्टियों को करते हैं, और ऐसा करते हुये अपूर्वस्पर्धकों की प्रथम वर्गणा के अविभागप्रतिच्छेदों के असंख्यातवें भाग का अपकर्षण करते हैं और जीव प्रदेशों के असंख्यातवें भाग का अपकर्षण करते हैं। इस प्रकार यहाँ अन्तर्मुहूर्त काल तक कृष्टियाँ करते हैं। ये कृष्टियाँ प्रति समय पहिले समय में जितनी की गईं उनसे आगे द्वितीयादि समयों में असंख्यात गुणहीन श्रेणी रूप से की जाती हैं, और पहिले समय में जितने जीव प्रदेशों का अपकर्षण कर की गई हैं उनसे अगले समयों में असंख्यात गुणी श्रेणी रूप से जीव प्रदेशों का अपकर्षण कर की जाती हैं। कृष्टिगुणकार पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण है। सब कृष्टियाँ जगतश्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं, और अपूर्वस्पर्धकों के भी असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं।

कृष्टिकरण क्रिया के समाप्त हो जाने पर फिर उसके अनन्तर समय में पूर्वस्पर्धकों का और अपूर्वस्पर्धकों का नाश करते हैं। अन्तर्मुहूर्त काल तक कृष्टिगत योगवाले होते हैं, तथा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यान को ध्याते हैं। अन्तिम समय में कृष्टियों के असंख्यात बहुभाग का नाश करते हैं।

शंका:—इस योग निरोध के काल में केवली जिन सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाति ध्यान को ध्याते हैं, यह कथन नहीं बनता क्योंकि केवली जिन अशेष द्रव्य पर्यायों को विषय करते हैं, अपने सब काल में एक रूप रहते हैं और इन्द्रियज्ञान से रहित हैं; अतएव उनका एक वस्तु में मन का निरोध करना उपलब्ध नहीं होता और मन का निरोध किये बिना ध्यान का होना सम्भव नहीं है?

समाधान:— प्रकृत में एक वस्तु में चिन्ता का निरोध करना ध्यान है, ऐसा ग्रहण नहीं किया है, किन्तु यहाँ उपचार से योग का अर्थ चिन्ता है, उसका एक रूप से निरोध अर्थात् विनाश जिस ध्यान में किया जाता है वह ध्यान यहाँ ग्रहण करना चाहिये।

**फल:**—जिस प्रकार नाली द्वारा जल का क्रमशः अभाव होता है, या तपे हुये लोहे के पात्र में स्थित जल का क्रमशः अभाव होता है, उसी प्रकार ध्यान रूपी अग्नि के द्वारा योग रूपी जल का क्रमशः नाश होता है।

जिस प्रकार मन्त्र के द्वारा सब शरीर में भिदे हुये विष का डङ्क के स्थान में निरोध करते हैं, और प्रधान क्षरण करने वाले मन्त्र के बल से उसे पुनः निकालते हैं, उसी प्रकार ध्यान रूपी मन्त्र के बल से युक्त हुये सयोग केवली जिन रूपी वैद्य बादर शरीर विषयक योग विष को पहिले रोकते हैं, और उसके बाद उसे निकाल फेंकते हैं।

योग निरोध करना ही इस ध्यान का फल है।

**समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाती या व्युपरतिक्रियानिवृत्ति:**—जिसमें क्रिया अर्थात् योग सम्यक् प्रकार से उच्छिन्न हो गया है वह समुच्छिन्नक्रिय कहलाता है और समुच्छिन्न होकर जो कर्म बन्ध से निवृत्त नहीं हुये, अर्थात् जिन्हें मोक्ष नहीं हुआ वह अनिवृत्ति है। वह समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति ध्यान है। यह श्रुतज्ञान से रहित होने के कारण अवितर्क है। जीव प्रदेशों के परिस्पन्द का अभाव होने से अवीचार है; या अर्थ, व्यञ्जन और योग की संक्रान्ति का अभाव होने से अवीचार है।

अन्तिम उत्तम शुक्ल ध्यान वितर्क रहित, वीचार रहित और क्रिया रहित है, अनिवृत्ति ( कर्म बंध से छूटा नहीं ) है। शैलेशी अवस्था को प्राप्त है और योग रहित है, अर्थात् योग निरोध होने पर शेष कर्मों की स्थिति आयुकर्म के समान अंतर्मुहूर्त होती है। तदनन्तर समय में शैलेशी अवस्था को प्राप्त होता है, और समुच्छिन्नक्रियाऽनिवृत्ति शुक्लध्यान को ध्याता है।

**शंका:**—यहाँ ध्यान संज्ञा किस कारण से दी गई है ?

**समाधान:**—एकाग्र रूप से जीव के चिन्ता का निरोध अर्थात् परिस्पन्द का अभाव होना ही ध्यान है, इस दृष्टि से यहाँ ध्यान संज्ञा दी गई है।

शैलेशी अवस्था काल के क्षीण होने पर सब कर्मों से मुक्त ( निवृत्त ) होता हुआ यह जीव एक समय में सिद्धि को प्राप्त होता है।

**फल:**—अघाति चतुष्क का विनाश करना इस ध्यान का फल है।

## ध्यान की उपयोगिता

जीव की परिणति अशुभ, शुभ और शुद्ध के भेद से तीन प्रकार की हुआ करती है। पाप रूप आशय से मोह, मिथ्यात्व, कषाय और तत्वों के अयथार्थ विभ्रम से उत्पन्न ध्यान अशुभ ध्यान है। पुण्य रूप आशय के वश से, शुभ लेश्याओं के अवलम्बन से और वस्तु के यथार्थ स्वरूप चिन्तन से उत्पन्न हुआ ध्यान शुभ ध्यान है। अथवा मिथ्यात्व रूप पाप तो चला गया किन्तु कषाय रूप पाप विद्यमान है, इस मिश्र अवस्था का नाम शुभ है। अतः इस अवस्था में होने वाले ध्यान को भी शुभ ध्यान कहते हैं। तथा रागादिक की संतान के क्षीण होने पर एवं अपने स्वरूप की प्राप्ति होने पर जो ध्यान होता है वह शुद्ध ध्यान है।

अशुभ अर्थात् अप्रशस्त ध्यान का फल दुर्गति है। शुभ अर्थात् प्रशस्त ध्यान का फल स्वर्गादिक की लक्ष्मी एवं परम्परा मोक्ष प्राप्ति है; और शुद्धोपयोगरूप शुद्ध ध्यान का फल मोक्ष है। मोक्ष कर्मों के क्षय से होता है, कर्मों का क्षय ध्यान से होता है, अतः संसार समुद्र से पार होने के लिये ध्यान रूपी जहाज का अवलम्बन लेना अति आवश्यक है।

अनन्त भ्रमरूप, निरन्तर सृष्टि के विस्तार करने में तत्पर ऐसे इन राग-द्वेष मोहादिक भावों को क्षीणकर तथा संवेग निर्वेद और विवेक आदि से मन को वासित कर ध्यान करना चाहिये।



# स्वाध्याय के विविध रूप

[ लेखिका—श्री १०५ परम विदुषी सुपार्श्वमती माताजी, संघस्था-पूज्य इन्दुमती माताजी ]

"स्वाध्यायः परमं तपः" वीतराग सर्वज्ञ हितोपदेशी जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे हुए आगम को पढ़ना स्वाध्याय कहलाता है।

"ज्ञानभावनाऽऽलस्यत्यागः स्वाध्यायः" ज्ञानभावना से आलस्य का त्याग करना स्वाध्याय है। 'स्व' अर्थात् अपने स्वरूप का अध्ययन करना चिन्तन करना स्वाध्याय कहलाता है।

" 'सु' सम्यक् रीत्या आ समन्तात् अधीयते इति स्वाध्यायः"

"सुष्ठु प्रज्ञातिशयार्थं प्रशस्ताध्यवसायार्थं परमसंवेगार्थं तपोवृद्ध्यर्थं अतिचार विशुद्ध्यर्थं अधीयते ह्यात्मतत्त्वं जिनवचनं वा इति स्वाध्यायः"

बुद्धि बढ़ाने के लिए, प्रशस्त अध्यवसाय के लिये, परम संवेग के लिए, तप की वृद्धि के लिए, अतिचार विशुद्धि के लिए आत्मतत्त्व का या जिनवचन का अध्ययन करना स्वाध्याय कहलाता है।

"वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः" वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश के भेद से स्वाध्याय पाँच प्रकार का होता है। (१) निरवद्य ग्रन्थार्थोभयप्रदानं वाचना—निर्दोष ग्रन्थ अर्थ अथवा उभय को पढ़ना, वाचना नामका स्वाध्याय है। (२) संशयोच्छेदाय निश्चित बलाधानाय वा परानुयोगः पृच्छना-संशय का उच्छेद करने के लिए या निश्चित तत्त्व को पुष्ट करने के लिए गुरु आदि से प्रश्न करना पृच्छना नामका स्वाध्याय है। (३) अधिगतार्थस्य मनसाऽभ्यासोऽनुप्रेक्षा-जाने हुए अर्थ का मन में अभ्यास करना अनुप्रेक्षा नामका स्वाध्याय है। (४) घोषशुद्धं परिवर्तनमाम्नायः-उच्चारण की शुद्धि पूर्वक पठित ग्रन्थ को बार-बार दुहराना आम्नाय नामका स्वाध्याय है। (५) धर्मकथाद्यनुष्ठानं धर्मोपदेशः—धर्मकथा आदि का अनुष्ठान करना धर्मोपदेश है।

स्वाध्याय करने योग्य ग्रन्थ भी प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग के भेद से चार प्रकार के हैं। इन जिन कथित शास्त्रों का मनन करने से अनादिकाल से बंधे हुए कर्म नष्ट

हो जाते हैं। कश्चिदासन्नभव्यः पुरुषः वीतरागसर्वज्ञमहाश्रमणमुखोद्भवं शब्दसमयं शृणोति पश्चात् शब्दसमयवाच्यं पञ्चास्तिकाय लक्षणमर्थसमयं जानाति तदन्तर्गते शुद्धजीवास्तिकाय लक्षणार्थे वीतराग निर्विकल्पे समाधिना स्थित्वा चतुर्गति निवारणं करोति। चतुर्गति निवारणादेव निर्वाणं लभते। स्वात्मोत्थमनाकुलत्व लक्षणं निर्वाणफलभूतमनन्तसुखञ्च लभते।

कोई निकट भव्य पुरुष वीतराग सर्वज्ञ प्रणीत शब्दागमको सुनता है। पुनः उससे पञ्चास्तिकाय लक्षण द्वारा अर्थ आगम को जानता है पुन. पदार्थ समूह से गर्भित शुद्ध जीवास्तिकायरूप आत्मस्वरूप में स्थिर होकर चारों गतियों का निवारण करता है वहाँ अपने आत्मोत्थ निराकुलतामय सुख को भोगता है।

"स्वाध्यायस्य फलं द्विविधं प्रत्यक्ष परोक्ष भेदात्। प्रत्यक्षफलं द्विविधं साक्षात्परम्पराभेदेन। साक्षात्प्रत्यक्षं अज्ञानविच्छित्तिः संज्ञानोत्पत्य संख्यात गुणश्रेणि कर्मनिर्जरा। परम्पराप्रत्यक्षं शिष्य प्रतिशिष्य पूजा प्रशंसा निष्पत्त्यादि। परोक्षफलमपि द्विविधं। अभ्युदय निश्रेयस सुखभेदात्। राजाधिराज महाराज अर्धमाण्डलिक माण्डलिक महामाण्डलिक अर्धचक्रवर्ती सकलचक्रवर्ती इन्द्र गणधरदेव तीर्थङ्कर परमदेव कल्याणत्रयपर्यन्तं अभ्युदयसुखं अर्हन्तपदं निश्रेयस सुखं।"

प्रत्यक्ष और परोक्ष फल के भेद से स्वाध्याय का फल दो प्रकार का है। प्रत्यक्ष फल भी दो प्रकार का है। (१) साक्षात् (२) परम्परा भेद से। (१) साक्षात्फल—अज्ञान का नाश होकर सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति होना और असंख्यात गुणश्रेणीरूप कर्मों की निर्जरा होना। (२) परम्परा प्रत्यक्षफल—शिष्य प्रतिशिष्य द्वारा प्रशंसा होना या शिष्यों की प्राप्ति होना। परोक्षफल दो प्रकार का है। (१) सांसारिक सुख ऐश्वर्य की प्राप्ति। (२) मोक्ष सुख। राजा, महाराजा, अर्धमाण्डलिक, माण्डलिक, महामाण्डलिक, अर्धचक्रवर्ती, चक्रवर्ती, इन्द्र, गणधरदेव, तीर्थङ्कर परमदेव पद के तीन कल्याणक पर्यन्त अभ्युदयसुख इन सबको सांसारिक सुख कहते हैं। परम कल्याणमय सुख को मोक्ष सुख कहते हैं।

मानव अहर्निश सुख प्राप्त करने की चेष्टा करता है किन्तु अशान्त वातावरण के कारण उसे एक क्षण भी शान्ति नहीं मिलती है। शान्ति प्राप्तिका मुख्य कारण अपने मन को स्थिर करना है। चित्त की चञ्चलता के कारण ही अशान्ति के कारणभूत अनावश्यक सङ्कल्प विकल्प उठते हैं तथा मोहजन्य विषय वासनाएं मानव के हृदय को मन्थन कर विषयों की ओर प्रेरित करती हैं जिससे अशान्ति का अंकुर पैदा होता है। इसलिए सर्व प्रथम निराकुल आत्मीय शाश्वत सुख के इच्छुक मानव को अपने मन को स्थिर करने का प्रयत्न करना चाहिये। जब तक हमारा मनरूपी निर्मल जल राग द्वेष तथा सङ्कल्प विकल्परूपी वायु के झकोरों से चञ्चल रहेगा तब तक आत्मानुभव नहीं हो सकता है। आत्मानुभव के बिना वास्तविक शान्ति नहीं मिल सकती है। आत्मानुभूति का कारण मन की चञ्चलता को रोकना है। निःसन्देह मन की शुद्धि ही आत्म शुद्धि है। चित्त शुद्धि के बिना शरीर को क्षीण करना व्यर्थ है। मन स्थिर करने का प्रथम कारण शास्त्राभ्यास है। आत्मानुशासन में कहा है—

अनेकान्तात्मार्थप्रसवफलभारातिविनते,
वच: पर्णाकीर्णे विपुलनय शाखाशतयुते ।
समुत्तुङ्गे सम्यक् प्रततमतिमूले प्रतिदिनं,
श्रुतस्कन्धे श्रीमान् रमयतु मनोमर्कटममुम् ।।१।।

अनेकान्तात्मक पदार्थ रूपी फल-फूल के भार से अत्यन्त झुके हुए स्याद्वादरूपी पत्तों से व्याप्त, विपुल नय रूपी सैकड़ों शाखाओं से युक्त, अत्यन्त विस्तृत श्रुतस्कन्धमें अपने मनरूपी वन्दर को रमण कराना चाहिए। मनोमर्कट को वश में करने के लिए इस काल में स्वाध्याय के बरावर कोई दूसरा उपाय नहीं है। आध्यात्मिक उन्नति का साधन एक स्वाध्याय है। महर्षि कुन्दकुन्दाचार्य ने नियमसार में सम्यक्त्व की उत्पत्ति का मुख्य कारण जिनसूत्र कहा है। बिना जिनसूत्र सुने जीवादि तत्त्वों का ज्ञान नहीं हो सकता। तत्त्वों की पहिचान के बिना सम्यग्दर्शन की प्राप्ति कैसे हो सकती है ?

स्वाध्याय वस्तु स्वरूप जानने का साधन है। सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में वेदनानुभव, जाति-स्मरण, जिनविम्ब दर्शन, देवऋद्धि दर्शन आदि कारण हैं। इसी प्रकार स्वाध्याय भी कारण है। "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग:" सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र इन तीनों का समुदाय मोक्ष की प्राप्ति का कारण है। स्वाध्याय से वस्तुस्वरूप की जानकारी अर्थात् सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है और सम्यग्ज्ञान का फल अज्ञान की निवृत्ति हानोपादान ( हेय वस्तु का त्याग और उपादेय का ग्रहण ) उपेक्षा अर्थात् सम्यक्चारित्र का परिपालन इस प्रकार रत्नत्रय की प्राप्ति स्वाध्याय से होती है।

स्वाध्याय कषाय निग्रह का मूल कारण है। धर्मध्यान शुक्लध्यान का हेतु है। भेद विज्ञान के लिए रामबाण है। विषयों में अरुचि कराने का साधन है। इन्द्रियरूपी मीन को बांधने के लिए पाश के समान है। आत्मगुणों का संग्रह करानेवाला है।

शारीरिक व्याधियों की चिकित्सा वैद्य, डाक्टर कर सकते हैं परन्तु सांसारिक जन्म मरणादि व्याधियों की चिकित्सा केवल जिनेन्द्र भगवान् की विशुद्ध वाणी ही कर सकती है। जिनसूत्र के पढ़ने से मानव के हृदय में सम्यग्ज्ञान रूपी सूर्य का उदय होता है जिससे आत्मा का मिथ्यात्वरूपी अन्धकार नष्ट हो जाता है। सत्वर भेद विज्ञानरूप प्रकाश सर्वत्र फैल जाता है। भव्यजनों का चित्तकमल विक-सित हो जाता है। पापरूपी चकोर छिप जाता है। आत्मारूपी चकवे को स्वपरिणतिरूपी चकवी मिल जाती है। सम्यक्त्व दिखने लगता है। प्रमादरूपी निद्रा पलायमान हो जाती है। स्वाध्याय संसार समुद्र से पार करने के लिए निश्छिद्र नौका के समान है। कषायरूपी भयानक अटवी को जलाने के लिए दावानल है। स्याद्वादरूपी समुद्र की वृद्धि के लिये पूर्णिमा का चन्द्रमा है। हितकारिणी शिक्षा जिन-[illegible] [illegible] है। [illegible] श्लोक का स्वाध्याय करने [illegible] मुनि ने केवलज्ञान प्राप्त किया था।

खण्डश्लोकैस्त्रिभि: कुर्वन् स्वाध्यायादि स्वयंकृतै: ।
मुनिनिन्दाप्तभौग्ध्योऽपि यम: सप्तर्द्धिभूरभूत् ।। १ ।।

एक दिन छत पर बैठे हुए यम राजा ने हाथ में फल फूल लेकर वन की ओर जाते हुए श्रावकों को देखकर मन्त्री से पूछा, ये लोग कहाँ जा रहे हैं ? परम दिगम्बर तपस्वी साधु की प्रशंसा करते हुए मन्त्री ने कहा, ये सब लोग परमपूज्य साधु के दर्शन के लिए जा रहे हैं। बहुसंख्या में जाती हुई जनता को देखकर ईर्ष्याभाव से या शास्त्रार्थ करने की भावना से मन्त्री और अपने पांच सौ पुत्रों सहित राजा भी उद्यान में गया। वहाँ परम शान्त दिगम्बर तपस्वियों की शान्तमुद्रा देखकर उनका गर्व दूर हो गया। मुनिराज के अनेकान्तमयी दिव्य ( वाणी ) देशनारूपी सूर्य की सुनहरी किरणों ने राजा के हृदय में प्रवेश कर मोह एवं ईर्ष्यारूपी मिथ्यात्व के निबिड़ अन्धकार को दूर किया जिससे उस नरेश ने संसार शरीर भोगों से विरक्त होकर अपने ज्येष्ठ पुत्र को राज्य देकर पांच सौ पुत्रों सहित संसार नाशक भगवती जैनेश्वरी दीक्षा धारण की। परंतु पूर्वोपार्जित पाप कर्म के अर्थात् मुनि निन्दा के पाप के कारण ज्ञान की प्राप्ति न होने से तीर्थ यात्रा करने की इच्छा गुरु के पास प्रगट की। गुरु आज्ञा प्राप्त होते ही तीर्थ यात्रा के लिए गमन किया। जाते हुए एक दिन वृक्ष के नीचे बैठे हुए थे। उनके सामने कुछ बालक गेंद से खेल रहे थे। उनकी गेंद उछलकर पास के गड्ढे में गिर गई। गेंद को इधर उधर ढूंढते हुए बालक को देखकर यम मुनि ने कहा "रे बाल ! इतस्तत: किं पश्यसि ? तव कोणिका तव समीपे गर्तेऽस्ति।" जिस प्रकार समीप के गड्ढे में पड़ी हुई गेंद उनको नहीं दिखी उसी प्रकार अपने समीप रहने वाला अपना सुख मुझे नहीं दिख रहा है। रे बालक ! ( मूर्ख मन ) इधर उधर क्या देख रहा है तेरी कोणिका ( गेंद या सुख ) तेरे पास के गड्ढे में ही है।

एक दिन यम मुनिराज मध्याह्न काल में तालाब के किनारे पर ध्यान कर रहे थे। तालाब में एक मेंढक कमल पर बैठकर मुनिराज की तरफ भयभीत दृष्टि से देख रहा था। उसके पीछे एक भयानक काला सर्प था। मुनिराज ने उसे देखकर कहा "अह्मादो णत्थि भयं भयं तु पच्छादो" तू मेरे से भय मत कर, मैं तुझे कष्ट देने वाला नहीं हूँ। तेरे पीछे जो कृष्ण सर्प है उससे भय कर। महाराज चिन्तन करने लगे कि हे आत्मन! तू अपने स्वरूप से क्यों भयभीत हो रहा है। अनादि काल से पीछे लगे हुए कृष्ण सर्प के समान यमराज से क्यों नहीं डरता है ?

इस प्रकार विचार करते हुए मुनिराज जा रहे थे। रास्ते में एक मनुष्य गधे को खेत में ले जा रहा था। गधा खेत के हरे भरे धान्य को देखकर मुख फैला रहा था। मालिक धान्य को भक्षण करता हुआ देख कर उसको डण्डे से मारता था। मुनिराज ने उसे देखकर एक श्लोक का चरण बनाया "रे गर्दभ ! खादिष्यसि तर्हि पश्चात्तापो भविष्यति ।" रे गर्दभ ! यदि खायेगा तो पश्चाताप होगा। मुनिराज निरन्तर इन चरणों का चिन्तन करते थे। एक दिन वे भ्रमण करते करते अपने नगर में पहुँच गये। उन्हें देखकर मन्त्री ने विचार किया। ये तपस्वी लोग भोले प्राणियों को अपने वाग्जालों में फँसाकर भोगों से विरक्त करा देते हैं। किसी कारण से इनको नगर से निकलवाना चाहिये।

ऐसा विचार कर मंत्री ने राजा को कुबुद्धि देकर मुनिराज की हत्या करने का विचार किया। आधी रात के समय गर्दभ राजा मन्त्री के साथ हाथ में तलवार लेकर मुनिराज को मारने के लिए निकला, ज्योंही गुफा के समीप पहुंचा उस समय मुनिराज स्वयं तीनों चरणों का पाठ करने लगे। "रे बाल ! इतस्ततः किं पश्यसि ? तव कोणिका तव समीपे गर्तेऽस्ति।"

मुनिराज का यह वाक्य सुनकर गर्दभ ( राजा ) सोचने लगा। ये मेरा राज्य लेने के लिये नहीं आये हैं अपितु मेरी बहिन को बताने के लिए आये हैं। इसलिए ये कह रहे हैं कि रे बालक ! तू इधर उधर क्या देख रहा है ? तेरी बहिन ( कोणिका नामकी ) तेरे पास वाले तलघर में है। फिर उन्होंने दूसरा चरण पढ़ा "रे गर्दभ! यदि खादिष्यसि तर्हि पश्चात्तापो भविष्यति।" यह सुनकर राजा सोचने लगा कि इन्होंने मेरी बात जान ली। इसीलिये ये कहते हैं कि रे गर्दभ ! तू मुझे मारेगा तो पश्चात्ताप होगा। फिर उन्होंने तीसरा चरण पढ़ा "अह्मादो णत्थि भयं, भयं तु पच्छादो" मेरे से भय मत कर, मैं तेरा राज्य लेने वाला नहीं हूं, तेरे पीछे वाले से भय कर। पीछे था कुबुद्धि देने वाला राज मन्त्री। राजा ने तलवार निकाली, मन्त्री घबड़ा कर मुनिराज की शरण में गया और कहने लगा भो गुरुदेव ! क्षमा करो, हम अज्ञानी जन हैं। आप क्षमा के भण्डार हैं।

मुनिराज ने कहा भाई ! तुम कौन हो ? अर्धरात्रि के समय किसलिये आये हो ? मंत्री ने कहा गुरुदेव! हम क्यों आये ? आप जानते हो, अभी आपने सब कुछ बता दिया था। मुनिराज ने कहा, मैं तो स्वाध्याय कर रहा था। मैं नहीं जानता हूं कि तुम क्यों आये हो ? मन्त्री ने कहा, यह कैसा स्वाध्याय है ? मुनिराज ने कहा मन्त्रिवर ! ये संसारी प्राणी सुख की इच्छा से बाह्य पदार्थों में लीन होकर व्यर्थ इधर उधर भटकते फिरते हैं। उनका अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य अपने पास ही है। जैसे हरिण की नाभि में कस्तूरी है, उसको न जानकर व्यर्थ में किसी दूसरे पदार्थ में सुगन्ध समझ कर वह हरिण इधर उधर भटकता रहता है, इसी प्रकार यह मूर्ख प्राणी विषय भोगों में आसक्त होकर सेवन करेगा तो उसे पश्चात्ताप ही करना पड़ेगा। हाथी, मछली, भ्रमर, पतंग और हरिण एक एक इन्द्रिय के वशीभूत होकर प्राण खो देते हैं। जो पांचों इन्द्रियों के वशीभूत हैं उनका तो फिर कहना ही क्या है ? इनमें कोई सार नहीं है। इनके सेवन करने से पश्चात्ताप ही होता है।

अपने आत्मस्वरूप से भय मत करो। अनादि काल से पीछे लगे हुए जन्म जरा मृत्यु रूपी शत्रुओं से डरो. मुनिराज के उपदेश से राजा तथा मन्त्री को वैराग्य हो गया। उन्होंने कहा, अहो !

पिता पुत्रं पुत्रः पितरमभिसंधाय बहुधा,<br>
विमोहादीहेते सुखलवमवाप्तुं नृपपदं।<br>
अहो मुग्धो लोको मृतिजननदंष्ट्रान्तरगतो<br>
न पश्यत्यश्रान्तं तनुमपहरन्तं यममुम्। (आत्मानुशासन)

इस संसार में क्षणिक सुख के लिये पिता पुत्र को तथा पुत्र पिता को मारने के लिये तैयार हो जाता है। यमराज की डाढ़ में आये हुए अपने आपको नहीं देखता है। ऐसा विचार कर राजा ने राज्य का परित्याग कर जिन दीक्षा ग्रहण की।

तीन खण्ड श्लोक का स्वाध्याय करने वाले यम मुनिराज को सप्त ऋद्धियाँ प्राप्त हो गईं।

स्वाध्याय का फल अनुपम है। इस भगवती वाणी के प्रसाद से जगत्प्रख्यात सत् असत् कर्म पुण्य पाप, सदाचार, हीनाचार का ज्ञान होता है। इस देवी जिनवाणी के अनुशीलन से, मनन से अनन्त दुखी भव्य जीव अनादि कालीन विकार भाव को नष्ट करके स्वभावभाव को प्राप्त हो जाते हैं। भगवती शारदा देवी का भण्डार और उसकी महिमा निराली है, वचनातीत है, अमोघ है। अतः सर्व बन्धु और बहिनें स्वाध्याय नित्य प्रति अवश्य किया करें जिससे शीघ्र ही दुःखों का क्षय होकर अन्त में कर्मों का क्षय भी हो जावे। इत्यलम्। शुभं भवतु।



# स्वाध्याय : एक स्वाध्याय

[ लेखक—श्री लक्ष्मीचन्दजी जैन "सरोज" एम.ए. बी.एड., जावरा ]

स्वाध्याय का महत्व पढ़े-लिखे और बिना पढ़े-लिखे सभी व्यक्तियों के लिये समान रूप से है पर फिर भी श्रोता की अपेक्षा वक्ता का और प्रश्न पूछने वाले की अपेक्षा उत्तर देने वाले का महत्व अधिक है। यदि श्रोता न हों तो वक्ता किसके लिये प्रवचन करे और यदि वक्ता न हो तो श्रोता किससे सुनें ? स्वाध्याय के आधार-भूत वक्ता और श्रोता का सम्बन्ध तो रोटी और पानी जैसा है पर कभी एक व्यक्ति वक्ता होने के अतिरिक्त श्रोता भी हो सकता है। यह परम प्रसन्नता की बात है कि जैन ग्रन्थकारों ने वक्ता और श्रोता के गुण भी काफी अच्छे ढंग से बतलाये हैं पर यदि हम कहें कि आज की समाज में न तो अच्छे वक्ता ही हैं और न श्रोता ही, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

हमें एक अच्छे वक्ता और श्रोता बनने के लिये न केवल स्वाध्याय का एक स्वाध्याय ही करना होगा बल्कि स्वाध्याय के विषय और सन्दर्भ को भी बखूबी हृदयंगम करना होगा और पठित विषय का दैनिक जीवन में प्रयोग करके जीवन के धरातल को भी उन्नत और उज्ज्वल बनाना होगा। वक्ता और श्रोता बनने के लिये मात्र वाणी द्वारा अन्तरात्मा की अनुभूतियों के बखेरने से काम नहीं चलेगा बल्कि विषय-विवेचन की प्रणाली में भी समुचित सुधार करना होगा। उसे सयुक्तिक और सारगर्भित बनाना होगा। यदि हम धार्मिक स्वाध्याय के प्रसंग में कुछ लौकिक और अन्य धार्मिक विषयों से भी मेल मिलाप कर सकेंगे तो हमारा स्वाध्याय करना सफल हो जावेगा। स्वाध्याय, उस सत्संग का भी

मूलाधार है, जिसके कारण रत्नाकर से ठग आदि कवि वाल्मीकि बन गये और अंजन से चोर निरंजन सिद्ध हो गये।

## १ ज्ञान और ज्ञानी की जननी—

जिस ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं मिलती और जिसे सभी धर्मों के आचार्यों ने महत्व दिया, उसी ज्ञान के विषय में छहढाला के प्रणेता सुकविवर पं० दौलतराम जी ने भी निम्न पद्य लिख कर गागर में सागर भर दिया है—

ज्ञान समान न आन जगत में सुख को कारण।
इहि परमामृत जन्म जरामृत रोग निवारण॥

चूंकि ज्ञान सदृश संसार में कुछ भी नहीं है, अतएव वह सुख का मूलभूत कारण है। लोक में यदि कुछ परम अमृत है तो वह ज्ञान है, जो जन्म और जरा (बुढ़ापा) तथा मृत्यु को मिटाने में समर्थ है। अक्ल बड़ी या भैंस? इस कहावत को और इसमें निहित वास्तविक आशय को भला कौन नहीं जानता? और मानवीय बुद्धि उनके बल तथा धन से कई गुनी बड़ी है; यह तो अतीत से आजतक सूर्य सदृश ही बना है। अन्धे आदमी के लिये सूरदास सदृश प्रज्ञा चक्षु शब्द का भी प्रयोग आपने किया या सुना होगा और उसकी उपयोगिता पूछने पर किसी विद्वान ने आपको यह भी बताया होगा कि चर्म चक्षु की अपेक्षा प्रज्ञा चक्षु का महत्व उतना अधिक है कि जितना भी इस दिशा में शक्य और सम्भव है।

शरीर में स्थित-बाहर से दिखने वाली आँखें यदि नहीं भी हों तो कोई चिन्ता की बात नहीं है पर यदि अन्तर में स्थित बुद्धिरूपी आँख जाती रहे तो समझो कि हमारे पास अब कुछ भी शेष नहीं रहा। संभव है आपने किसी पिता को क्रोधित होने पर अपने पुत्र से यह भी कहते हुये सुना हो कि क्या तुम्हारे हिये की भी फूट गई है? भगवान न करे कि किसी के बाहर या भीतर की आँखें फूटें पर यदि दैवयोग या अशुभ कर्म की प्रेरणा से कदाचित् ऐसा अवसर आ ही जावे तो बाहर की आँखें भले ही फूट जावें पर भीतर की आँखें नहीं फूटें, अन्यथा अनेक भावी सूरदास, मिल्टन, होमर, विश्व को साहित्य नहीं दे पाते। जो भी बातचीत के दौरान में—कभी अपने लिये कहना नहीं और कहना भी नहीं [illegible] होने का दम भरते हैं और अपने ज्ञान एवं धर्म को एक दम शुद्ध परिमार्जित और परिष्कृत होने का दावा भी करते हैं परन्तु मुझे तो इस दिशा में भूधरदासजी द्वारा लिखित [illegible] सबसे अधिक उपयुक्त जँचता है। भले कोई माने या न माने पर सत्य [illegible]—

धन कन कंचन राज-सुख, सबहि सुलभ कर जान।
दुर्लभ है संसार में, एक जथारथ ज्ञान॥

अर्थात् संसार में सब कुछ सहज सुलभ है पर वास्तविक आत्मिक ज्ञान नहीं, और इसीलिये सुकरात को Know they self अर्थात् अपने को पहचानो कहना पड़ा और वैदिक आचार्यों को भी आत्मानं विद्धि अर्थात् स्वयं को समझो कहने के लिये विवश होना पड़ा। जिन्होंने आत्मिक ज्ञान–अन्तर की आँख अथवा विवेकमयी दृष्टि पा ली, जिन्होंने स्व–पर भेद–विज्ञान या जीव–अजीव रहस्य हृदयंगम कर लिया, वे ही मेरे लेखे सच्चे ज्ञानी हैं, जिनकी भीतर और बाहर की आँखें सतर्क सक्रिय और सजग होकर एक ओर अलोक में सर्वस्व या स्व तत्व देखती हैं और दूसरी ओर इस लोक में नेह अस्ति किंचन ( यहाँ कुछ नहीं ) अथवा पर तत्व लेखती हैं। ऐसे अनेक ईश्वरों और परमात्माओं को जन्म और जीवन देने वाला स्वाध्याय है। संक्षेप में स्वाध्याय, ज्ञान और ज्ञानी, दोनों की जननी है और स्व–पर भेद विज्ञान का बोधक है। अतः काम्य है।

## २. शिक्षा का आदि स्रोत—

यह तो बच्चों से लगाकर बूढ़ों तक सभी समझते हैं कि शिक्षा अपूर्ण मनुष्य को पूर्ण बनाती है और शिक्षा के ध्येय एवं उद्देश्य के सम्बन्ध में शिक्षा–मनोवैज्ञानिक हर्बाट से परामर्श लें तो वे कहेंगे कि Education may summoned up in the concept morality अर्थात् शिक्षा का ध्येय चरित्र निर्माण है और The aim of education is attainment of character अर्थात् शिक्षा का उद्देश्य सदाचार की प्राप्ति है पर यदि हम यही बात स्पेन्सर से पूछें तो वे हर्बाट से भी आगे जाकर कहेंगे To prepare us for complete living in the function which education has discharged अर्थात् शिक्षा का ध्येय सर्वतोमुखी तैयारी है पर यह सब बातें तो आज के युग की हैं। जब हम अतीत की अपेक्षा आज करोड़ों मील दूर आ गये हैं पर जब हम पहले मील के पहले फर्लांग के पहले कदम पर होंगे तब धर्म और दर्शन, साहित्य और राजनीति जैसे विविध विषयों की चर्चा तो दूर रही, भाषा और लिपि–कागज और स्याही जैसी सामान्य चीजों का भी अभाव रहा होगा और तब मानवीय जीवन को एक अविच्छिन्न संघर्ष ( Life is endless Toil and endlauour ) कहने वाली जो भावना रही होगी, वही शिक्षा का आदि स्रोत होगी और वही उस समय के व्यक्ति और समाज के अलिखित अध्ययन और अनुभव तथा स्वाध्याय की मूलभूत प्रेरणा होगी।

संक्षेप में आज के युग में जितने भी विविध विषय हैं वे सब एक से अधिक वर्षों के स्वाध्यायों और परीक्षणों के परिणाम हैं। विचार के इस विन्दु से स्वाध्याय ही परीक्षा का वह आदि स्रोत है, जिसने मानव को आगे बढाया और बार बार सिखाया कि आदमी ! अगर तू आदमी है तो आदमी को आदमी समझ। मेरी आस्था है कि आज के युग में भी आदमी को आदमो समझने से बढ़कर न कोई धर्म है और न दर्शन भी।

## ३. स्वाध्याय का अर्थ और अंग—

स्वाध्याय का अर्थ काफी सीधा साधा है पर वह मूलतः गहन चिन्तन एवं मनन की वस्तु वना है। स्वाध्याय शब्द में दो शब्द जुड़े हैं—( १ ) स्व ( २ ) अध्याय। स्व से अभिप्राय आत्मा का है और

अध्याय से आशय प्रकरण, परिच्छेद, पाठ आदि का है। अतएव समूचे स्वाध्याय शब्द का अर्थ हुआ, आत्मा के अध्याय को पढ़ना। शरीर से आत्मा की ओर, लोक से अलोक की ओर चलना। दूसरे शब्दों में स्वाध्याय का सरल अर्थ है कि धर्म और दर्शन नीति और आचार विषयक ग्रन्थ पढ़ना एवं अपने जीवन के धरातल को अपेक्षाकृत उन्नत करना।

कुछ लोग स्वाध्याय का अर्थ स्वयं अध्ययन करना या असंस्थागत विद्यार्थी बनना भी करते है और इस अर्थ में स्वाध्याय बहुधा स्वयं ही किया जाता है। जिज्ञासा का समाधान करने के लिये स्वाध्याय करना ही चाहिये। मोक्षशास्त्र के रचयिता आचार्य उमा स्वामी के शब्दों में वाचना (शास्त्रों का पढ़ना) पृच्छना (समझ में न आने पर अन्य से विषय का रहस्य पूछना) अनुप्रेक्षा (विषय का बार बार चिन्तवन करना) आम्नाय (पाठ का शुद्धता पूर्वक स्मरण करना) और धर्मोपदेश (जाने हुये धार्मिक विषय का दूसरों के लिये उपदेश देना) भी आवश्यक है। स्वाध्याय के ये पांच अंग बतलाने वाले आचार्य श्री ने ही स्वाध्याय को अभ्यन्तर तप कहा• चूंकि स्वाध्याय का सम्बन्ध बहु भाग में अपने से है, अतः स्वयं ही करें।

एक कारण यह भी है कि अपनी मनोवृत्तियों के विषय में जितना हम जानते हैं उतना दूसरे नहीं जानते, पर फिर भी कभी जिज्ञासा दूर करने, शंका का समाधान करने, अपनी उलझन को सुलझाने और प्रश्न का उत्तर पाने के लिये किसी सुयोग्य मर्मज्ञ विषय के अधिकारी विद्वान से परामर्श लेने में कोई गौरव की हानि नहीं होगी प्रत्युत स्वाध्याय सुरुचिपूर्ण होगा, ज्ञान की गंगा को वह गति मिलेगी, जो एकाकी स्वाध्याय में शायद बरसों बाद मिले। मूल में तो स्वाध्याय स्वतः प्रेरित हो, पर प्रसंग आने पर यह पराश्रित भी हो जावे तो कोई आपत्ति नहीं होगी। आत्मा के अध्याय में ही धर्म और दर्शन का निचोड़ निहित है। यह सर्वमान्य सूर्य सत्य है।

## ४ स्वाध्याय कब-क्यों और कैसे ?

स्वाध्याय करने के लिये सबसे अच्छा समय तो वह है जब आपको सुविधा हो और आप निश्चिन्त हों, फिर भी एकान्त स्थान में, मन्दिर या घर में प्रातःकाल अथवा रात्रि को स्वाध्याय करना सुविधाजनक होगा, क्योंकि इस समय आप अपेक्षाकृत अधिक निश्चिन्त रह सकते हैं और जैन शास्त्रों में वर्णित शब्द और भावों के गूढ़ार्थ को भी स्पष्ट कर सकते हैं तथा पठित विषय को भली भांति हृदयंगम करके अपने आचरण में अनुभव भी कर सकते हैं। यद्यपि जैन आचार्यों ने स्वाध्याय की गणना आभ्यन्तर तप में की है पर इसका बाह्य तपों से कोई सम्बन्ध नहीं हो, ऐसी बात नहीं है। श्रावक के दैनिक जीवन के जो षट् आवश्यक कार्य हैं‡ उनमें भी स्वाध्याय का महत्त्व पूर्ण स्थान है। पठित

• प्रायश्चित्त विनय वैयावृत्त्य स्वाध्याय व्युत्सर्ग ध्यानान्युत्तरम्।

‡ देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने॥

प्रवर दौलतरामजी भी स्वाध्याय के सुपुत्र ज्ञान की और ज्ञानी की महत्ता बतलाते हुये कहते हैं कि—

कोटि जन्म तप तपें ज्ञान बिन कर्म भरें जे।
ज्ञानी के छिन मांहि त्रिगुप्तितें सहज टरें ते ।।

आज भी दिगम्बर जैन समाज में, जो धर्म और साधु को कसौटी पर परखने की क्षमता है, वह उसकी स्वाध्याय-प्रियता का ही परिणाम है।

हमने एक स्वाध्याय शीर्षक मासिक पत्र भी कुछ बरसों पढ़ा था पर कोई केवल उसी पत्र को या इस लेख को पढ़ लेने मात्र से स्वाध्यायी नहीं बन जावेगा। धर्म का प्रत्येक ग्रन्थ, अध्यात्म विषय का प्रत्येक अखबार, नीति की प्रत्येक पुस्तक, आचार की प्रत्येक संहिता हमारे दैनिक जीवन में स्वाध्याय का साधन हो सकती है। जन साधारण की दृष्टि से स्वाध्याय के लिये अनुयोगों के अनुरूप ग्रन्थों का चुनाव करना हो तो पहले प्रथमानुयोग फिर करणानुयोग अथवा चरणानुयोग और अन्त में द्रव्यानुयोग के ग्रन्थ पढ़ना चाहिये, अन्यथा बन्दर के हाथ उस्तरा वाली बात हो सकती है।

स्वाध्याय करने का यह अर्थ कदापि नहीं कि शीघ्रता और भावावेश में अथवा नियम को निर्वाह करने की नीयत से किसी भी ग्रन्थ का कहीं से भी एकाध पृष्ठ पढ़ लिया और इधर-उधर रखकर कर्त्तव्य की इति श्री समझी। इसी दिशा में दैनिक स्वाध्याय करने की जो प्रणाली मन्दिरों में प्रचलित है वह काफी अच्छी है, पर युग-बोध के संदर्भ में अब उसमें पर्याप्त परिष्कार भी अपेक्षित है। स्वाध्याय की प्रणाली, "नहि कृत मुपकारं साधवः विस्मरन्ति" अर्थात् किये हुये उपकार को साधु नहीं भूलते हैं, की प्रतीक है। ॐकारं विन्दु संयुक्तं----आदि पाठ में देवता, आचार्य, ग्रन्थकार और ग्रन्थ के प्रति जहाँ विनय की अभिव्यक्ति है वहाँ श्रोतारः सावधानतया शृण्वन्तु में श्रोताओं को भी सजग, सतर्क, सावधान होकर सुनने के लिये कहा गया है। कारण, स्वाध्याय मंगलमुखी है, यह सुख देती है और दुःख दूर करती है।

स्वाध्याय का सही अर्थ केवल ग्रन्थ को मुख से पढ़ जाना या कानों से किसी प्रकार से सुन जाना भर नहीं है और न ग्रन्थों को कण्ठस्थ करके मस्तिष्क द्वारा मजदूरों सा ज्ञान का बोझा ही ढोना है बल्कि प्राप्त ज्ञान को परम्परा का मानव-समाज में प्रचार और प्रसार करना तथा अपने दैनिक जीवन में उतारना या प्रयोग करना ही स्वाध्याय का मूलभूत लक्ष्य है। इसे यों भी कहा जा सकता है कि स्वाध्याय के दो पक्ष हैं- ( १ ) सैद्धान्तिक ( २ ) प्रायोगिक। प्रथम पक्ष की प्रवलता से पंडित बनेंगे और द्वितीय पक्ष पर बल देने से साधु अधिक बनेंगे। जबकि दोनों पक्षों का समुचित सामंजस्य गृहस्थ और साधु जनों के लिये चाहिये अन्यथा आदर्श और यथार्थ में, कथनी और करनी में आकाश पाताल जैसा अन्तर रहेगा।

एक प्रवाद प्रचलित है कि द्रोणाचार्य ने शिष्यों से पूछा-उन सबने: कितना पढ़ा ? तो युधिष्ठिर को छोड़कर सभी ने बताया कि उन सबने एक से लगाकर दस ग्रन्थ तक पढ़ डाले हैं। द्रोणाचार्य ने जब युधिष्ठिर से पूछा कि उसने कितना पढ़ा ? तो उन्होंने उत्तर दिया-मैंने एक वाक्य पढ़ा। यह सुनकर द्रोणाचार्य को गुस्सा आया। उन्होंने कुछ क्रुद्ध होकर पूछा-अच्छा, वह वाक्य भी याद है या नहीं ? यह पूछने पर युधिष्ठिर ने विनम्रता से उत्तर दिया-जी नहीं। यह सुनते ही द्रोणाचार्य ने युधिष्ठिर को एक थप्पड़ मारा तो धर्मराज बोले-गुरुदेव ! अब पाठ याद हो गया। सो कैसे ? द्रोणाचार्य ने पूछा। मैंने धर्म ग्रन्थ में एक वाक्य पढ़ा था "क्रोध कभी मत करो।" मैं चाहता था कि क्रोध करने का अवसर आवे और मैं क्रोध नहीं करके शान्त भाव से रहूं तो समझूं कि पाठ याद हो गया। आज के पहले ऐसा अवसर ही नहीं आया और अब आया तो मैं क्रोध नहीं कर रहा हूँ, शान्त हूँ अतएव पाठ याद है।

हम और आप भी अगर ऐसा स्वाध्याय करें तो आज जो विश्व शान्ति स्वप्न हो रही है, वह साकार हो जावे। समाज में जो विषमता व्याप्त हो रही है वह समता बन जावे, जो स्वार्थ छा रहा है वह परमार्थ हो जावे।

## ५. स्वाध्याय का महत्व एवं साधन--

स्वाध्याय करने से ज्ञान बढ़ता है। यदि एक पृष्ठ ही रोज पढ़ें तो एक वर्ष में ३६५ पृष्ठ पढ़ लेंगे। यदि हम धर्म-ग्रन्थ या आध्यात्मिक पुस्तकें पढ़ेंगे तो उच्चतम ज्ञान के साथ सम्बन्ध स्थापित कर लेंगे और लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक के शब्दों में 'हम पुस्तकें पढ़कर नरक को भी स्वर्ग बना लेंगे'। सुशिक्षा, विचारशीलता, विनय, समझदारी, सु विस्तृत जानकारी, चिन्तन-मनन, सत्संग और अनुभव द्वारा हममें से प्रत्येक अपने लिये सही अर्थों में सुसंस्कृत बन सकेगा। यों तो लोक में जन्म लेकर सब समान हैं परन्तु अन्तर केवल हमारे विकास का है और यह विकास हमारे स्वाध्याय का ही परिणाम है।

यों तो आज के स्कूलों और कालेजों में, पुस्तकालयों और वाचनालयों में भी स्वाध्याय के [illegible] साधन उपलब्ध होते हैं परन्तु उनमें से बहुत ही कम हमें महात्मा, ज्ञानी भक्त, तपस्वी देवदूत [illegible] बनने की प्रेरणा देते हैं। अतएव हमें स्वाध्याय के ग्रन्थ बड़ी सावधानी और सजगता पूर्वक चुनना चाहिये। [illegible] ज्ञान की, जो स्वाध्याय का मूलभूत आधार है वह आत्म चेतना का [illegible] है। यह ज्ञान एक सूर्य का ज्योति लिये है। सच तो यह है कि [illegible] समझने का उद्योग मात्र है। स्वाध्यायी एक ओर [illegible] शरीर और आत्मा में [illegible], जड़ और चेतन [illegible] है, [illegible] अज्ञानता के कारण [illegible] है।

स्वाध्याय के साधनों की संक्षिप्त सूची यों तैयार की जा सकेगी—

( १ ) विद्वानों के भाषणों और आचार्यों के प्रवचनों को ध्यान पूर्वक सुनना।
( २ ) धर्म-ग्रन्थों व आध्यात्मिक पुस्तकों को तन्मयता पूर्वक पढ़ना।
( ३ ) जो कुछ भी पढ़ना या सुनना, उस पर गम्भीरता से विचार करना।
( ४ ) जो कुछ भी पढ़ना या सुनना, उसके अनुरूप ही जीवन को ढालना।
( ५ ) विद्वानों से विषय समझने के लिये शंका समाधान या चर्चा करना।
( ६ ) उत्तमोत्तम ग्रन्थों को एक से अधिक बार पढ़ना।
( ७ ) अपने जीवन के विकाश के लिये उत्तमोत्तम आदर्श वाक्य चुनना।
( ८ ) पढ़ने-सुनने से प्राप्त नवीन ज्ञान का निस्संकोच होकर आदान प्रदान करना।
( ९ ) जगत-जीवन, मानव-स्वभाव, समाज-संस्कार, देश-काल पर विचार करना।
( १० ) आत्मिक निरीक्षण करना। प्रतिदिन अपनी योग्यता का अंकन करना।
( ११ ) खोजी जीवे वादी मरे जैसी प्रवृत्ति रखना।
( १२ ) समन्वय और सन्तुलन पर सर्वदा दृष्टि रखना।
( १३ ) पर-निन्दा और आत्म-प्रशंसा से बचना।
( १४ ) पठित-ग्रन्थ के संक्षेप में स्मृति के लिये नोट लिखना।

## ( ६ ) रत्नत्रय की प्रेरक—

जैसे बौद्धों में तीन रत्न संघ, धर्म और बुद्ध माने गये हैं वैसे ही जैन जनों में सम्यग्दर्शन ( सही दृष्टि ) सम्यग्ज्ञान (सही दिशा में ज्ञान ) सम्यक्चारित्र ( सही दिशा में प्रवृत्ति ) को रत्नत्रय कहा गया है और रत्नत्रय के बल पर ही मोक्ष की प्राप्ति मानी गयी है जैसा कि आचार्यवर उमास्वामी ने मोक्षशास्त्र के आरम्भ में ही कहा है—"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणिमोक्षमार्गः" पर यदि हम स्वाध्याय करते हुए यह सूत्र ही सम्यक्रीत्या न पढ़े तो वही स्थिति होगी कि सिर का दर्द चन्दन लगाने से दूर होता है पर चन्दन घिसकर लगाना भी तो सिर-दर्द हुआ। अतएव स्वाध्याय सिर का दर्द न बने। अत्यधिक चतुराई से बाल की खाल निकालना ठीक नहीं। तर्क का स्वागत हो पर कुतर्क का नहीं। दृष्टि एक होकर भी अनेक हो।

स्वाध्याय करने से, महा पुरुषों के जीवन-चरित्रों को पढ़ने से और सुनने तथा मनन करने से हमारी बुद्धि धर्म के मार्ग में सुदृढ़ होती है। तत्वों और पदार्थों में आस्था होती है। वर्तमान अवस्था में सन्तोष और अनागत में सुधार के लिये प्रेरणा प्राप्त होती है। मनुष्य-जीवन को सर्वोपरि समझ कर उसमें भी समभाव की साधना सूझती है। प्रथमानुयोग और करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग का अध्ययन और अनुभव हमारे जीवन में सरलता, सहृदयता, सरसता और सहानुभूति ला देता है। स्वाध्याय का प्रभाव हमारे शरीर, मन और आत्मा तीनों पर होता है। स्वाध्याय

सम्यक्त्व की जननी है और मिथ्यात्व का विनाशक। देव-धर्म और गुरु के विषय में श्रद्धा और ज्ञान देने वाला तथा उसके अनुरूप आचरण करने के लिये प्रेरणा देने वाला स्वाध्याय रत्नत्रय का प्रेरक है, अतएव विचार के इस धरातल में स्वाध्याय की महिमा अवर्णनीय और अपरम्पार है। स्वाध्याय के आधारभूत सत् शास्त्रों के सम्बन्ध में पंडित प्रवर द्यानतरायजी ने बहुत बढ़िया बात लिखी है—
रवि-शशि न हरे सो तम हराय। सो शास्त्र नमों बहु प्रीति लाय।

## ७. स्वाध्याय की सर्वांगीणता—

उच्चकोटि के लेखक और उच्चकोटि के वक्ता तथा विश्व धर्म बनाम अहिंसा धर्म के प्रवक्ता मुनि श्री विद्यानन्द जी से स्वाध्याय की सर्वांगीणता समझाने के लिये कहें तो वे निम्नांकित पहलुओं द्वारा बतलावेंगे कि—

( १ ) स्वाध्याय करने से मनुष्य मेधावी होता है। ज्ञान की उपासना का माध्यम स्वाध्याय ही है।

( २ ) जो कुछ लोग आयु में प्रौढ़ होते हैं और विचारों में बालक देखे जाते हैं, यह स्वाध्याय नहीं करने का ही परिणाम है।

( ३ ) निरन्तर भटकने वाला मन भी स्वाध्याय में लगाने से स्थिर होता है और मन की स्थिरता से आत्मोपलब्धि होती है।

( ४ ) स्वाध्याय आभ्यन्तर चक्षुओं के लिये अंजन शलाका है। दिव्य दृष्टि का वरदान स्वाध्याय से ही प्राप्त किया जा सकता है।

( ५ ) शास्त्रों का स्वाध्याय वह अमोघ दीपक है, जो सूर्य-प्रभा से भी बढ़कर है।

( ६ ) पढ़ने वालों ने घर घर लैम्प के अभाव में सड़कों पर लगे बल्बों के नीचे भी ज्ञान की ज्योति को बढ़ाया है। बंगाली विद्वान ईश्वरचन्द्र विद्यासागर और राजस्थानी विद्वान हरिनारायण विद्याभूषण ऐसे ही थे।

( ७ ) जब स्वाध्यायी बोलता है तब वाग्देवी उसके मुख-मंच पर नर्तकी बनकर अवतीर्ण होती है।

( ८ ) स्वाध्याय, एकान्त का सखा है; सभा-स्थलों में सहायक है; विद्वानों की गोष्ठियों में उच्च स्थान दिलाने वाला है।

( ९ ) स्वाध्याय करने वाले की आँखों में समुद्र की गहराई और पर्वत शिखरों की ऊँचाई तथा आकाश की अनन्तता समाई रहती है।

( १० ) बुद्धि का फल आत्म हित है और आत्म हित स्वाध्याय से होता है।

## ८. स्वाध्याय की शक्ति का महत्त्व—

स्वाध्याय की शक्ति का महत्त्व अपार है। स्वाध्याय की शक्ति इतनी सशक्त है कि वह [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है। अतएव [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] करना चाहिये।

कुन्दकुन्दाचार्य के शब्दों में समझना चाहिये कि 'अज्झयणमेवझाणं' अर्थात् अध्ययन ही ध्यान है; सामायिक है।

शतपथ ब्राह्मणकार के शब्दों में सीखना चाहिये कि स्वाध्याय और प्रवचन से मनुष्य का चित्त एकाग्र हो जाता है, वह स्वतन्त्र बन जाता है, उसे नित्य धन प्राप्त होता है, वह सुख से सोता है, वह अपना परम चिकित्सक है, वह इन्द्रिय संयमी है, उसकी प्रज्ञा बढ़ जाती है और उसे यश मिलता है।



# आचार्य कुन्दकुन्द की दृष्टि में श्रमण और श्रमणाभास

[ लेखक:—श्री पं० माणिकचन्द्रजी न्याय-काव्यतीर्थ, जैन दर्शन शास्त्री, सागर ]

"श्राम्यति-मोक्षमार्गे श्रमं विदधातीति श्रमणः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो मोक्षमार्ग में श्रम करता है वह श्रमण कहलाता है। यह श्रमण, दिगम्बर मुनि का पर्यायवाचक है अवश्य, पर उससे निम्नाङ्कित लक्षण वाले दिगम्बर मुनि ही लिये जाते हैं, सर्व सामान्य नहीं।

समसत्तु बंधुवग्गो समसुहदुक्खो, पसंसणिंदसमो।
समलोट्ठुकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो ॥४१॥ प्रवचन० तृ.अ.३

जो शत्रु और बन्धु वर्ग में समता बुद्धि रखते हैं, सुख, दुःख, प्रशंसा और निन्दा में समान हैं, पत्थर के ढेले और सुवर्ण में जिनकी समान बुद्धि है तथा जीवन और मरण में जिनके समताभाव है ऐसे मुनि ही श्रमण कहलाते हैं। ऐसे मुनि ही पांच समितियों तथा तीन गुप्तियों के धारक होते हैं, पांचों इन्द्रियों पर अपना नियन्त्रण रखते हैं, कषायों को जीतते हैं, और दर्शन ज्ञान से परिपूर्ण होते हैं। यथार्थ में वे ही संयत-संयम धन के धारक होते हैं। जो दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनों में एक साथ उद्यत रहता है, तथा आत्मस्वरूप में एकाग्रता को प्राप्त होता है उसी साधु का श्रमणपना पूर्ण कहा जाता है।

इसके विपरीत जो साधु, अन्य द्रव्य को प्राप्तकर मोह करता है, राग करता है, द्वेष करता है वह अज्ञानी है और नाना प्रकार के कर्मों से बन्ध को प्राप्त होता है। जैसा कि कहा है—

मुज्झदि वा रज्जदि वा दुस्सदि वा दव्वमण्णमासेज्ज।
जदि समणो अण्णाणो वज्झदि कम्मेहिं विविहेहिं ॥४३॥ प्र.सा.अ. ३

परन्तु जो बाह्य पदार्थों में न मोह करता है, न राग करता है और न द्वेष करता है वह श्रमण विविध कर्मों का क्षय करता है। जैसा कि कहा है—

अत्थेसु जो ण मुज्झदि ण हि रज्जदि णेव दोसमुपयादि ।
समणो जदि सो णियदं खवेदि कम्माणि विविधाणि ।।४४।। प्र० सा०

उपर्युक्त श्रमण शुद्धोपयोगी और शुभोपयोगी के भेद से दो प्रकार के होते हैं उनमें शुद्धोपयोगी श्रमण, आस्रव से रहित हैं और शुभोपयोगी श्रमण आस्रव से सहित हैं। मुनि अवस्था में जिनके अरहन्त आदिक में भक्ति और परमागम से युक्त महामुनियों में परम स्नेह भाव है वे शुभोपयोगी श्रमण हैं और इस विकल्प से रहित कर जो आत्मस्वरूप में लीन रहते हैं वे शुद्धोपयोगी श्रमण हैं। शुभोपयोगी मुनि देवायु का बन्ध कर स्वर्ग में उत्पन्न होते हैं और शुद्धोपयोगी मुनि कर्मक्षय कर मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

कुन्द कुन्द स्वामी ने मुनियों में संभावित एक एक दोष को ऐसा छाना है कि जिससे मुनियों का आचार अत्यन्त निर्मल हो सकता है। जिस मुनि की निर्दोष प्रवृत्ति नहीं है उसे उन्होंने श्रमणाभास कहा है। देखिये श्रमणाभास का लक्षण कितना स्पष्ट कहा है—

ण हवदि समणोत्ति मदो संजम तव सुत्त संपजुत्तो वि ।
जदि सद्दहदि ण अत्थे आदपधाणे जिणक्खादे ।।६४।। प्र० सा० अ० ३

जो जिनेन्द्र कथित जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान नहीं करता है वह संयम, तप, तथा आगमरूप संपत्ति से युक्त होने पर भी श्रमण नहीं माना गया है। वह श्रमणाभास है।

जो मुनि, जिन शासन में स्थित उत्तम श्रमण को देखकर द्वेष भाव से उसकी बुराई करता है, तथा विनयादि क्रियाओं में अनुमति नहीं करता वह निश्चय से नष्ट चारित्र है-श्रमणाभास है।

इसी प्रकार जो आगम के शब्द तथा अर्थ का निश्चय कर चुका है, जिसने कषायों को शान्त कर लिया है तथा जो तप में अधिक है, फिर भी लौकिक जनों के संसर्ग को नहीं छोड़ता है वह श्रमण नहीं है-श्रमण नहीं है। लौकिक जनों की परिभाषा करते हुए कहा है—

णिग्गंथं पव्वइदो वट्टदि जदि एहिगेहि कम्मेहिं ।
सो लोगिगोत्ति भणिदो संजमतव संपजुत्तोवि ।।६९।। प्र० सा० अ० ३

निर्ग्रन्थ दीक्षा का धारक होकर मुनि, यदि इस लोक सम्बन्धी, ज्योतिष, वैद्यक तथा मन्त्र तन्त्र आदि कार्यों में प्रवर्तता है तो वह संयम और तप से युक्त होकर भी लौकिक कहा गया है।

तात्पर्य यह, कुन्द कुन्द स्वामी की [illegible] है इसी [illegible] उन्होंने भाव रहित-श्रमणाभासों के लिये जो [illegible] है वह उनकी आन्तरिक विशुद्धता को [illegible] करती है। उनकी भावना रही है कि [illegible] आन्तरिक [illegible] न हो जाय। वे लिखते हैं—

भाव विशुद्धिणिमित्तं बाहिरगंथस्स कीरए चाओ ।
बाहिरचाओ विहलो अब्भंतर गंथ जुत्तस्स ।।३।।

भावों की विशुद्धता के लिये बाह्य परिग्रह का त्याग किया जाता है अतः जो अभ्यन्तर परिग्रह से युक्त है उसका बाह्य त्याग निष्फल है। वे स्पष्ट घोषणा करते हैं—

भावरहिओ न सिज्झइ जइ वि तवं चरइ कोडि कोडीओ ।
जम्मंतराइ बहुसो लंबिय हत्थो गलिय वत्थो ।।४।।

भाव रहित साधु यद्यपि कोटि कोटि जन्म तक हाथों को नीचे लटका कर तथा वस्त्र का परित्याग कर तपश्चरण करता है तो भी सिद्धि को प्राप्त नहीं होता।

जाणहि भावं पढमं किं ते लिंगेण भाव रहिएण ।
पंथिय सिवउरिपंथं जिणउवइट्ठं पयत्तेण ।।६।।

भाव को प्रमुख जान, भाव रहित लिंग से तुझे क्या प्रयोजन है ? उससे तेरा कौनसा कार्य सिद्ध होने वाला है ? हे पथिक ! मोक्ष नगर का मार्ग जिनेन्द्र भगवान ने बड़े प्रयत्न से बताया है।

भावलिंगी मुनि कौन है ? इसका समाधान कितना सुन्दर है ?

देहादिसंगरहिओ माणकसाएहिं सयलपरिचत्तो ।
अप्पा अप्पम्मि रओ स भावलिंगी हवे साहू ।।५६।।

जो शरीर आदि परिग्रह से रहित है, मान कषाय से पूर्णतया निर्मुक्त है तथा जिसकी आत्मा आत्म स्वरूप में लीन है वह साधु भावलिंगी होता है।

भावलिंगी श्रमण सदा अपने हृदय में यह चिन्तन किया करता है—

एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदंसण लक्खणो ।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोग लक्खणा ।।५९।।

अविनाशी और ज्ञान दर्शनरूप लक्षण से युक्त एक आत्मा ही मेरा है कर्मों के संयोग से होने वाले अन्य सभी भाव मुझसे बाह्य हैं, मेरे नहीं हैं।

मात्र द्रव्यलिंग के धारक मुनि समाधि और बोधि के पात्र नहीं हैं, जैसा कि कहा है—

जे राय संगजुत्ता जिण भावण दव्व णिग्गंथा ।
न लहंति ते समाहिं बोहिं जिण सासणे विमले ।।७२।।

जो मुनि राग रूप परिग्रह से युक्त हैं तथा जिन भावना से रहित होकर मात्र द्रव्य की अपेक्षा नग्न मुद्रा को धारण करते हैं वे निर्मल जिन शासन में समाधि और बोधि—रत्नत्रयरूप सम्पत्ति को नहीं प्राप्त होते हैं।

भाव श्रमण और द्रव्य श्रमण का फल बतलाते हुए कहा है—

> पावंति भाव सवणा कल्लाण परं पराइ सोक्खाइं ।
>
> दुक्खाइं दव्व सवणा णरतिरिय कुदेव जोणीए ।।६८।।

भाव श्रमण कल्याणों की परम्परा से युक्त सुखों को प्राप्त होते हैं अर्थात् तीर्थंकर होकर गर्भ जन्मादि कल्याणकों से युक्त परम सुख को प्राप्त होते है और द्रव्य श्रमण मनुष्य, तिर्यञ्च तथा कुदेव योनि में दुःख प्राप्त करते हैं।

संसार रूपी वृक्ष को भाव श्रमण ही छेदते हैं—

> जे के वि दव्वसवणा इंदियसुह आउला ण छिंदंति ।
>
> छिंदंति भाव सवणा झाण कुठारेहिं भवरुक्खं ।।१२०।।

जो कोई द्रव्य श्रमण हैं– मात्र शरीर से नग्न हैं और इन्द्रिय सम्बन्धी सुखों से आकुल हैं वे संसार रूपी वृक्ष को नहीं छेदते है किन्तु जो भाव श्रमण हैं वे ध्यान रूपी कुठार के द्वारा संसार रूपी वृक्ष को छेदते हैं।

तात्पर्य यह है कि भावलिङ्ग धारण करके ही सच्चे श्रमण बनना चाहिये क्योंकि मात्र द्रव्य-लिंग श्रमणाभास का कारण है।



## ❁ श्रुत वाणी ❁

दूसरों के गुण कीर्तन में समय मत खोओ, तद्रूप बनने का प्रयत्न करो, क्योंकि दूसरे के गुण कीर्तन में उपयोग को लगाने से शुभोपयोग ही होगा, और वह बन्ध का कारण है, ऐसा उपदेश [illegible] को [illegible] जो देव शास्त्र व गुरु की भक्ति से विमुखित करते हैं, वे [illegible] अशुभोपयोग के गर्त में [illegible] दुर्गति के ही पात्र होंगे। क्योंकि आचार्यों ने ऐसा उपदेश उन श्रमणों को दिया था जो शुद्धोपयोग में ही [illegible], [illegible] के लिये तो शुभोपयोग [illegible] है।

# भावलिङ्ग और द्रव्य लिङ्ग

[ लेखिका:— पूज्य विदुषी श्री १०५ विशुद्धमति माताजी ]
[ संघस्था–आचार्य कल्प श्री १०८ श्री श्रुतसागरजी महाराज ]

जिस प्रकार इष्ट स्थान की प्राप्ति करने का साधन दो चक्रों से युक्त रथ या गाड़ी होती है, उसी प्रकार अनादि संसार में भटकते हुये प्राणियों को मुक्ति नगर में पहुँचने के लिये भाव और द्रव्य इन दोनों लिङ्गों का साधन परमावश्यक है।

**लक्षण**——

सम्यग्दृष्टि जीव के मात्र संज्वलन और नौ नोकषाय के उदय में दस प्रकार के बाह्य परिग्रह के साथ साथ अंतरङ्ग की जो विशुद्ध परिणति बनती है, उसे भाव लिङ्ग कहते हैं। यह एक ही प्रकार का होता है, इसके कोई भेद प्रभेद नहीं होते।

पद के अनुरूप अन्तरङ्ग विशुद्धि के बिना जो दश प्रकार के बाह्य परिग्रह का त्याग किया जाता है, उसे द्रव्यलिङ्ग कहते हैं। इसके निम्न लिखित पांच भेद होते हैं।

( १ ) सम्यग्दर्शन के अभाव में बाह्य परिग्रह का त्याग करना, यह प्रथम गुणस्थान वाला द्रव्यलिङ्ग है।

( २ ) उपशम सम्यक्त्व के साथ छठवें गुणस्थान से गिरकर दूसरे गुणस्थान में दिखाई देने वाले सासादन गुणस्थान स्थित मुनिराज दूसरे प्रकार के द्रव्य लिङ्गी हैं।

( ३ ) संयम से गिरकर मिश्र मोहनीय के उदय से युक्त मुनिराज तीसरे प्रकार के द्रव्यलिङ्गी हैं।

( ४ ) संयमी उपशम, क्षायोपशमिक और क्षायिक सम्यग्दृष्टि के अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय हो जाना, यह चतुर्थ गुणस्थान स्थित चतुर्थ प्रकार के द्रव्य लिङ्गी मुनिराज हैं।

( ५ ) इसी प्रकार तीनों सम्यक्त्वों के साथ प्रत्याख्यानावरण, का उदय हो जाना यह पञ्चम गुणस्थान स्थित पांचवें प्रकार के द्रव्य लिङ्गी मुनिराज हैं।

जिस प्रकार धान्य या वादाम का बाह्य छिलका निकाले बिना भीतरी लालिमा नहीं निकल सकती उसी प्रकार दश प्रकार के बाह्य परिग्रह त्याग के बिना अंतरङ्ग कषायों का त्याग असम्भव है। इसलिये जहाँ भाव लिङ्ग है, वहाँ द्रव्य लिङ्ग अवश्य ही है। किन्तु जहाँ द्रव्य लिङ्ग है वहाँ भावलिङ्ग भजनीय है, अर्थात् हो और न भी हो। द्रव्यलिंग और भावलिंग की उत्पत्ति क्रमिक ही होती है। अर्थात् ( दोनों लिंग एक साथ भी उत्पन्न हो सकते हैं और ) द्रव्यलिंग पहिले और भाव लिंग पीछे होता है। किन्तु भाव लिंग पहिले और द्रव्यलिंग पीछे कभी नहीं हो सकता।

आज तक जितने सिद्ध परमेष्ठी हुये हैं, हो रहे हैं और होंगे वह सब भावलिंग की ही महिमा है, और वह भाव लिंग द्रव्यलिंग पूर्वक होता है। अर्थात् विना द्रव्यलिंग के भावलिंग कदापि नहीं हो सकता, किन्तु भावलिंग के विना द्रव्यलिंग हो जाता है। अतः मोक्षमार्ग में पुरुषार्थ की प्रधानता करते हुये कुन्द कुन्द भगवान ने 'णग्गो हि मोक्ख मग्गो' कह कर द्रव्यलिंग को प्रधानता दी है। किन्तु मात्र द्रव्यलिंग से ही न किसी जीव की सिद्धि हुई है और न होगी, यह भी अकाट्य सत्य है और आगम वचन है।

**प्रश्न**—द्रव्यलिंग दृष्टिगोचर होता है किन्तु उससे मुक्ति नहीं और जिससे मुक्ति अवश्यम्भावी है, वह दृष्टिगोचर नहीं। इस परिस्थिति में जीव स्वतः भावलिंगी बनने के लिये और दूसरों की पहिचान करने के लिये बुद्धि पूर्वक क्या क्या पुरुषार्थ कर सकता है ?

**समाधान**—भावलिंग का मूल स्तम्भ सम्यग्दर्शन एवं १२ कषायों का अभाव है। अतः सर्व प्रथम सम्यग्दर्शन पर ही विचार करना है।

सच्चे देव शास्त्र गुरु की एवं सर्वज्ञ द्वारा कथित सात तत्व नौ पदार्थ और पञ्चास्तिकाय की श्रद्धा करना यह प्रथमानुयोग एवं चरणानुयोग का सम्यग्दर्शन है। दर्शनमोहनीय और अनन्तानुबन्धी चार इन सात प्रकृतियों का उपशम क्षय या क्षयोपशम होना यह करणानुयोग का सम्यग्दर्शन है तथा पर पदार्थों से भिन्न अपने शुद्ध आत्म स्वभाव की श्रद्धा होना यह द्रव्यानुयोग का सम्यग्दर्शन है। इन सभी सम्यग्दर्शनों में से करणानुयोग का सम्यग्दर्शन ही भाव लिंग का मूल स्तम्भ बनने का अधिकार रखता है। क्योंकि यही यथार्थ सम्यक्त्व है, और वह उपशम क्षय और क्षायोपशमिक के भेद से तीन प्रकार का है। अनादि मिथ्यादृष्टि या सम्यक्त्व एवं मिश्र मोहनीय का उद्वेलन करने वाले सादि मिथ्यादृष्टि का सात प्रकृतियों का उपशम करना, उपशम सम्यक्त्व कहलाता है। इसका जघन्य काल एक आवली कम अन्तर्मुहूर्त है, और उत्कृष्ट काल एक अन्तर्मुहूर्त मात्र है। इसके बाद जीव या तो मिथ्यादृष्टि हो जायगा, या क्षायोपशमिक कर लेगा। छह प्रकृतियों के अनुदय एवं सम्यक्त्व प्रकृति के उदय में जीव की जो परिणति बनती है उसे क्षायोपशमिक या वेदक सम्यक्त्व कहते हैं। इसका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल ६६ सागर है। सात प्रकृतियों के क्षय का नाम क्षायिक सम्यक्त्व है, इसका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल कुछ कम दो पूर्व कोटि अधिक तेतीस सागर है।

वर्तमान भरत क्षेत्र के पञ्चम काल में क्षायिक सम्यक्त्व नहीं होता, शेष दो सम्यक्त्व के स्वामी मनुष्य और तिर्यंच हैं। मनुष्यों में भी श्रावक और मुनि दोनों हैं, परन्तु श्रावकों में जिनके सप्त व्यसन का त्याग और अष्ट मूलगुण का पालन होगा उन्हें सम्यक्त्व होना सम्भव है किन्तु जब भी होगा तभी [illegible] के बिना नहीं होगा।

**सम्यक्त्व की पहिचान**—प्रशम, संवेग, आस्तिक्य और अनुकम्पा इन चार चिह्नों के द्वारा आत्मा [illegible] सम्यग्दृष्टि जीव की

परिणति जिनागम में कही है उसके आधार से ही बुद्धि पूर्वक जितना शक्य है उतना आत्म निरीक्षण करके मात्र अनुमान किया जा सकता। अंतरंग में दर्शन मोह का उपशम, क्षय, क्षयोपशम हुआ या नहीं इसे प्रत्यक्ष ज्ञानी के सिवा अन्य कोई नहीं जान सकता। पर वर्तमान इस क्षेत्र में ऐसे प्रत्यक्ष ज्ञानियों का अभाव है। अतः भावलिंगी बनने के लिये जीव तत्व निर्णय पूर्वक आगमाभ्यास के सिवा अन्य कोई पुरुषार्थ नहीं कर सकता। यह कार्य प्रयत्न साध्य नहीं, सहज साध्य स्वाभाविक ही है।

अब प्रश्न रहा कि दूसरों को कैसे पहिचाने? इसका उत्तर यह है कि भावलिंगी के शरीर पर कोई ऐसा चिन्ह उत्पन्न नहीं होता जिससे उसकी पहिचान की जाय? हाँ! मिथ्यात्व और तीन चौकड़ी के अभाव में होने वाली परिणति का जो वर्णन आगम में किया गया है, उससे हम केवल बुद्धि पूर्वक जीव की परिणति का मिलान कर अनुमान कर सकते हैं, परन्तु अनुमान तो अनुमान ही है। अत्यन्त मन्द कषायी नौवें ग्रैवेयक जाने वाले द्रव्यलिंगी की परिणति पुलाकादि भावलिंगी मुनिराजों की अपेक्षा कहीं उत्कृष्ट दिखाई दे सकती है। अतः भावलिंग की यथार्थ पहिचान तो प्रत्यक्ष ज्ञानी ही कर सकते हैं।

**शंका**—भावलिंग की पहिचान हुये बिना उनके साथ दान एवं नमस्कारादि का व्यवहार कैसे किया जा सकता है?

**समाधान**—आगम में भूदेव भवदेव एवं वारिषेण पुष्पडालादि के अनेक आख्यान ऐसे आते हैं, जिससे ज्ञात होता है कि अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान से युक्त आचार्यों ने यह प्रत्यक्ष जानते हुये भी ( कि यह मिथ्यादृष्टि है और मायाचारी से दीक्षा ले रहा है ) अनेक जीवों को दीक्षा दी और बारह २ वर्षों तक उनका रक्षण शिक्षण आदि किया। अन्य मुनिराजों के सदृश ही उनके साथ भी नमोऽस्तु प्रतिनमोऽस्तु आदि का व्यवहार किया करते थे। कारण कि चरणानुयोग की दृष्टि से वे चारित्रवान् थे।

भावलिंग का आधार मात्र करणानुयोग है। जिसकी कसौटी अति सूक्ष्म और जटिल है। इसके माप से व्यवहार धर्म चलाने का उपदेश जिनेन्द्र भगवान ने नहीं दिया। व्यवहार धर्म का पैमाना तो चरणानुयोग है, जो भी जीव चरणानुयोग की आज्ञानुसार प्रवृत्ति कर रहे हैं वे सभी साधु वन्दनीय एवं अर्चनीय हैं। यदि ऐसा न माना जायगा तो संयम मार्ग चल नहीं सकता। कारण कि— चतुर्थ काल में भी सम्यक्त्व तीन ही प्रकार का होता था, और पञ्चम काल में दो प्रकार का होता है। उपशम सम्यक्त्व के काल में या क्षयोपशम के जघन्य या मध्यम काल में किसी भव्य जीव ने अणुव्रत या महाव्रत धारण किये, किन्तु उसके सम्यक्त्व का काल अल्प था अतः वह च्युत होकर प्रथम गुणस्थान में आ गया। अथवा अनन्तानुवन्धी, मिश्रमोहनी, अप्रत्याख्यानावरण या प्रत्याख्यानावरण कषायों में से किसी का उदय आ गया और वह नीचे आ गया, अव वह क्या करे? भेष वनाये रखे या

उसे वस्त्र पहना दिये जांय ? यदि भेष बनाये रखता है तो आज की परिभाषा में वह पाखण्डी एवं न जाने और क्या क्या है, और यदि वस्त्र पहिनाये जाते हैं या वह पहिन लेता है तो जिनेन्द्राज्ञा का लोप करते हुये प्रतिज्ञा भंग का महान पाप करता है। चरणानुयोगानुसार चारित्र पालन करने की यदि जिनेन्द्राज्ञा न होती तो चतुर्थ काल में तो अनेक प्रत्यक्ष ज्ञानियों का सद्भाव था, अतः उनसे पूछ कर जब भी सम्यक्त्व से या अन्य कषायों के उदय से अपने स्थान से च्युत होता होगा, क्या तभी चरणानुयोग के चारित्र का त्याग कर देता होगा ? नहीं। कारण कि इस प्रकार की अव्यवस्था से तो चरणानुयोग का अस्तित्व सर्वथा समाप्त ही हो जायगा, और मात्र उस करणानुयोग का ही एक छत्र राज्य हो जायगा जो बावन तोला पावरत्ती बात कहता है, एवं एक प्रदेश एक समय और एक एक परमाणु की हानि वृद्धि से होने वाले वस्तु के परिणमन की सूक्ष्म से सूक्ष्म क्रिया का अन्वेषण करने में निरन्तर सतर्क रहता है।

व्यवहार ( चरणानुयोग के ) सम्यक्त्व और-अणुव्रत महाव्रतादि धारण करने में तो जीव बुद्धि पूर्वक ही चेष्टा करता है, किन्तु करणानुयोग के सम्यक्त्व एवं अन्य गुणस्थानों के लिये बुद्धि पूर्वक पुरुषार्थ नहीं हो सकता, इसलिये पुरुषार्थ पूर्वक पापों से निवृत्त हो विषय वासनाओं को छोड़ने हेतु मन और इन्द्रियों को वश में करे। समस्त बाह्य परिग्रह का त्याग कर ध्यान और अध्ययन में रत होते हुये, सिद्ध सदृश शुद्ध बुद्ध आत्मा की दृढ़ श्रद्धा के साथ उसे पर्याय से भी शुद्ध करने के लिये निरन्तर पुरुषार्थ करे यही कल्याण का मार्ग है।

सर्वांगीण पुरुषार्थ करने में अपनी शक्ति न छुपाये, प्रमाद न करे। एवं मैं भावलिंगी हूँ या द्रव्यलिंगी इस प्रकार की शंका भी न करे। कारण आगमानुसार अपने पुरुषार्थ में तो कमी रखी नहीं अब इसके अनन्तर भी यदि अप्रत्याख्यान,-प्रत्याख्यान या दर्शन मोहनीय का उदय आ जावे तो इस द्रव्यलिंगी साधु की, विषय वासनाओं में लिप्त प्रमादी जीवों की अपेक्षा अति उत्तम है। कारण कि इसका चारित्र इसे स्वर्ग में ले जायगा जहाँ अनायतनों का अभाव है और जन्म कल्याणकादि में तथा विदेह क्षेत्र जाकर साक्षात भगवान जिनेन्द्र के दर्शन कर, वाणी श्रवण कर सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है और वहाँ से चय, मनुष्य हो, पूर्व संयम के संस्कार के बल से शीघ्र चारित्र धारण कर निर्वाण प्राप्त कर सकता है।

जब भी कुमार्ग भ्रम की धारा टूटे तब इसी मनुष्य पर्याय में ही मिथ्यात्व अवस्था में ग्रहण किया हुआ चारित्र सम्यक्त्व होते ही सम्यक् चारित्र संज्ञा प्राप्त कर सीधे सातवें गुणस्थान में पहुँच कर उसी भव [illegible] मोक्ष भी जा सकता है।

जिस प्रकार धूप में खड़े होकर अपने इष्ट मित्र की राह देखने वाले मनुष्य की अपेक्षा वृक्ष की छाया में बैठकर इष्ट मित्र की राह देखने वाला मनुष्य श्रेष्ठ है, उसी प्रकार सम्यक्त्व की प्राप्ति की राह देखने [illegible] मनुष्य की अपेक्षा [illegible] द्रव्यलिंग की प्राप्ति के लिये [illegible] मनुष्य श्रेष्ठ है।

**शंका**—भरत क्षेत्र के इस पञ्चम काल में भावलिंगी मुनिराज हैं या नहीं ?

**समाधान**—जिनेन्द्राज्ञानुसार पञ्चमकाल के तीन वर्ष साढ़े आठ माह शेष रहने तक रत्नत्रय युक्त भावलिंगी जीवों का सद्भाव पाया जायेगा। अन्त में तीन दिन की सल्लेखना पूर्वक प्रातःकाल मुनिराज इस नश्वर काया को छोड़ स्वर्गारोहण करेंगे। मध्याह्न में राजा और उसी दिन अपराह्न काल में अग्नि का नाश हो जायगा।

इस कथन से यह सिद्ध होता है कि पंचम-काल में धर्म विच्छेद ( भावलिंग मुनिराज के सद्भाव का अभाव ) होते ही अग्नि और राज्य व्यवस्थादि का विच्छेद हो जायगा। और "न धर्मो धार्मिकैर्विना" इस आगम वचनानुसार धर्म धर्मात्माओं के विना रहता नहीं, और वह धर्मात्मा भी रत्नत्रय धारी ही होगा। चारित्र के बिना मात्र सम्यग्दृष्टि और सम्यग्ज्ञानी को उस धर्म का आधार नहीं कह सकते, कारण कि "चारित्तं खलु धम्मो" तथा "सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः" इत्यादि सूत्र वचनों से रत्नत्रय को ही धर्म कहा गया है।

इस कलिकाल में भावलिंगी हैं या नहीं जिनके मन में अभी भी ऐसा सन्देह उठ रहा हो वे अपने अपने गृह की अग्नि स्पर्श करके देखलें क्योंकि अग्नि ही इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है कि वर्तमान में भावलिंगी मुनिराज हैं और इस काल के अन्त तक रहेंगे।

जिन जीवों को यथार्थ में अपना कल्याण करना है उनका कर्तव्य है कि वे व्यर्थ का ऊहापोह न करें एवं विषय वासनाओं को छोड़कर चारित्र धारण करें।



## भोग - निषेध

तू नित चाहत भोग नये नर, पूरब पुण्य विना किम पै है।
कर्म सँजोग मिलै कहिं जोग, गहै तब रोग न भोग सकै है॥
जो दिन चार को ब्यौंत बन्यौं कहुँ, तौ परि दुर्गति मैं पछितै है।
याहि तें यार सलाह यही कि 'गई कर जाहु' निबाह न ह्वै है॥

# दिगम्बर साधु और भौतिकवाद

लेखकः—डा० कन्छेदीलालजी जैन शास्त्री (स्वर्णपदक प्राप्त) एम. ए. (संस्कृत-हिन्दी)
पी. एच. डी. काव्यतीर्थ, साहित्यरत्न, साहित्याचार्य
राजकीय संस्कृत महाविद्यालय, कल्याणपुर शहडोल

इस युग में विज्ञान ने चरम उन्नति की है। विज्ञान की समस्त खोज भौतिक पदार्थों या पुद्गल की खोज है। इसे हम आत्मेतर पदार्थों की खोज भी कह सकते हैं। दिगम्बर साधु की खोज आत्मा के सम्बन्ध में या आत्मा के गुणों के सम्बन्ध में होती है। यह ग्रन्थ ऐसे ही दिगम्बर साधु की स्मृति में प्रकाशित हो रहा है जिनका ध्यान आत्मा की ओर केन्द्रित था। दिगम्बर साधु जैन ही होते हैं इसलिये इस लेख में मैं उनका उल्लेख करूंगा। दिगम्बर साधु भौतिक विज्ञानी नहीं होता परन्तु आत्म विज्ञानी होता है। आत्मज्ञानी होने के साथ दिगम्बर साधु चारित्र के विषय में पूर्ण संयमी होता है।

भौतिकवादी एवं दिगम्बर साधु में अन्तर-भौतिकवादी और संयमी का अन्तर गीता में निम्न प्रकार बताया गया है।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥२।६९

सब प्राणियों के लिए जो आत्मानुभव रात है अर्थात् जिस आत्मानुभव के सम्बन्ध में भौतिक वादी सोते रहते हैं उस आत्म विज्ञान के सम्बन्ध में संयमी सावधान रहते हैं तथा जिन सांसारिक भोगों के प्रति अन्य प्राणी जागरूक रहते हैं उन भोगों की ओर से संयमी उदासीन रहते हैं।

आज के भौतिकवादी-चन्द्र लोक तक पहुँचते हैं। चन्द मिनटों में पृथ्वी के इस ओर से उस ओर तक पहुँच सकते हैं। पक्षी की भाँति आकाश में उड़ते हैं, मछलियों की भाँति पानी में तैरते हैं परन्तु यह भौतिकवादी अपने निकट नहीं पहुँच पाता है, अपनी आत्मा के पास पहुँचने का कोई प्रयत्न भी नहीं करता है। आत्मचमत्कार [illegible] यह मनुष्यता का नहीं [illegible] है क्योंकि पानी में तैरने और आकाश में उड़ने का काम तो मनुष्येतर प्राणी निरंतर स्वभावतः करते हैं। दिगम्बर साधु का ध्यान [illegible] अपनी आत्मा के निकट पहुँचने का रहता है। नट की भाँति मनुष्य अनेक कृत्रिम रूप बनाता है और अपने असली रूप को छिपाकर रखता है, दिगम्बर साधु अपने स्वाभाविक रूप में रहता है, कृत्रिमता उसमें बिल्कुल नहीं है। आज हम भौतिकवादी-लोग रेडियो से दूर दूर देशों के समाचार सुनते हैं, बी० बी० सी० लन्दन द्वारा प्रसारित समीक्षा सुनते हैं परन्तु अपने [illegible] पड़ोसी की कौन [illegible] [illegible] [illegible]

कोई प्रभाव नहीं है। दिगम्बर साधु दूरस्थ देशों का प्रसारण रेडियो से नहीं सुनते हैं परन्तु अन्तर आत्मा की आवाज सुनकर उसके प्रति अपना ध्यान केन्द्रित रखते हैं।

आज के भौतिकवादी रुपये पैसे के लाभ के हिसाब किताब की जानकारी हेतु या तो एकाउन्टेन्ट रखते हैं या स्वयं एकाउन्ट ( हिसाब किताब ) रखते हैं। वस्तुएं खो न जाँय इसके लिये स्टोररूम या स्टोर रजिस्टर रखते हैं परन्तु आत्मा के गुणों के लाभ-हानि की ओर से बेखबर रहते हैं। दिगम्बर साधु रुपये पैसे के हिसाव में नहीं पड़ता परन्तु अपनी आत्मा के गुणों के हिसाब किताब का पूरा ध्यान रखता है। भौतिकवादी एक एक मिनिट का हिसाब रखने के लिये चौबीसों घण्टे घड़ी अपने पास रखता है परन्तु मनुष्य जीवन का कितना समय आत्मकल्याण में बिताया इसका हिसाब उसके पास नहीं है। जबकि दिगम्बर साधु की दिनचर्या अपने आत्मकल्याण के लिए निश्चित है।

आज विज्ञान की कृपा से बाहिरी दुनियां प्रकाश से भर गई है परन्तु आत्मा में अन्धकार छाया हुआ है। दिगम्बर साधु की आत्मा में ज्ञान की ज्योति तथा ध्यान की ज्योति प्रज्वलित रहती है। और बाहिरी दुनियां की चकाचौंध से उन्हें प्रयोजन नहीं है। भौतिकवादी वियतनाम में होने वाले द्वन्द्व युद्ध और संहार की प्रतिक्षण खवर रखता है, उसकी चिन्ता भी रहती है। पूर्वी बंगाल में याहया खां द्वारा कराए गए नरसंहार की चिन्ता थी परन्तु इस चिन्ता के साथ प्रतिक्षण रागद्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि अनेक याहया खां आत्मा को कितनी क्षति पहुंचा रहे हैं यदि इसकी भी चिन्ता भौतिकवादी करते तो उचित होता। आत्मा में राग द्वेष का कितना द्वन्द्व चल रहा है भौतिकवादी इससे बेखबर हैं। एक मत्त की भांति जो दूसरों के हानि लाभ से प्रसन्न और व्यथित होता है परन्तु स्वयं के हानि लाभ से उदासीन है यही भौतिकवादी का चलता रूप है।

दिगम्बर साधु पर पदार्थों की ओर से तटस्थ हैं परन्तु आत्मकल्याण के सम्बन्ध में सावधान हैं। उन्हें अपने हृदय में विद्यमान शत्रुओं की अधिक चिन्ता है। भौतिकवादी की सभ्यता भोग प्रधान है जो संग्रह और छीनाझपटी पर आधारित है जिसमें शान्ति और निराकुलता नहीं है, दिगम्बर साधु की संस्कृति त्याग प्रधान है अतएव उसमें शान्ति और निराकुलता है।

भौतिकवादी प्रतिदिन ऐसे समाचार पत्रों को पढ़ता है और उन समाचारों के सम्बन्ध में ऊहापोह भी करता है जो या तो लड़ाई झगड़े से सम्बन्धित होते हैं या चुनावों की हार जीत से सम्बन्धित होते हैं या राजनीतिज्ञों के उत्थान-पतन से सम्बन्धित होते हैं परन्तु दिगम्बर साधु ऐसे समाचारों को जानकर भी उनसे तटस्थ रहते हैं, वे तो ऐसे ग्रन्थों का स्वाध्याय चिन्तन और मनन करते हैं जो आत्मा के विकास और कल्याण में सहायक होते हैं।

भौतिकवादी अपने को इतना मिलनसार व्यक्त करते हैं कि उन्होंने उस कार्य के लिये अपने घरों में अलग से बैठक रूम बना रखे हैं परन्तु जिन लोगों से भी भेंट होती है वह औपचारिक भेंट होती है। भौतिकवाद प्रदर्शन का युग है। लोग शुभ अवसरों पर दूसरों को तार या रंगीन पत्रों द्वारा वधाई

सन्देश भेजते हैं, दुःख के समय सहानुभूति के सन्देश भेजते हैं। लाखों मुद्रित पत्र जो इस रूप में भेजे जाते हैं वे सब प्रदर्शन के सूचक हैं। दिगम्बर साधु ने सब प्रकार के प्रदर्शनों को त्याग दिया है। इसीलिये वे बिल्कुल नग्न रूप में रहते हैं। उनमें किसी प्रकार की माया, छलकपट तथा दुराव नहीं है। दुःखी प्राणियों के प्रति हार्दिक करुणा है। जो उनके प्रति द्वेष भाव रखते हैं उनके प्रति भी समता का भाव है, दिगम्बर साधु का रक्षाभाव और करुणाभाव जितना मनुष्यों के प्रति है उतना ही रक्षाभाव तथा करुणाभाव कीड़ों मकोड़ों आदि अन्य प्राणियों के प्रति है। दिगम्बर साधु से बढ़कर अहिंसक और असाम्प्रदायिक कौन हो सकता है। जिसके हृदय में किसी प्राणी के प्रति शत्रु मित्र की कल्पना ही नहीं है।

आजकल हम लोगों ने बड़ी प्रसन्नता से इन समाचारों को पढ़ा है कि चम्बल क्षेत्र के तथा छतरपुर क्षेत्र के लगभग ३०० डाकू आत्म समर्पण कर चुके हैं। इन डाकुओं के समर्पण से निःसन्देह समाज को शान्ति मिलेगी। दिगम्बर साधु आत्मा का हनन करने वाले, आत्मा के गुणों को छीन लेने वाले काम, क्रोध, लोभ, माया आदि आदि डाकुओं के समर्पण कराने की ओर विशेष ध्यान देते हैं। यदि मध्यप्रदेश में श्री प्रकाशचन्द्र सेठी के राज्य में बा० जयप्रकाश नारायण के सहयोग से डाकू और गुण्डे आत्म समर्पण कर सकते हैं तो मनुष्य भव पाकर हम भी दिगम्बर साधु की तरह आत्मा के डाकुओं के समर्पण की योजना क्यों न बनाएं ?

## दिगम्बरत्व का महत्व और दिगम्बर साधु की विशेषता

केवल दिगम्बर या वस्त्रहीन हो जाना ही महानता का लक्षण नहीं है यों तो सभी पशु पक्षी जीवन भर वस्त्र हीन रहते हैं तथा बहुत से मनुष्य भी आदिवासी क्षेत्रों में या नागालैन्ड में वस्त्र हीन अवस्था में पाए जाते हैं। जैन परम्परा में केवल श्रावकों की ही ग्यारह श्रेणियां ( प्रतिमा ) होती हैं। इन श्रेणियों में उत्तरोत्तर त्याग की ओर बढ़ता हुआ श्रावक अपनी भौतिक इच्छाओं पर नियंत्रण करता हुआ अपनी आत्मा की ओर उन्मुख होता जाता है। जब अभ्यास द्वारा समस्त प्रकार के विकारों पर विजय प्राप्त कर लेता है तब कहीं वस्त्र छोड़कर दिगम्बर साधु बनता है। दरिद्र व्यक्ति यदि धन के अभाव के फलस्वरूप वस्त्र नहीं पहिनता है तो वह दिगम्बर साधु तो नहीं समझ लिया जा सकता, क्योंकि उसकी आसक्ति तथा आकांक्षा वस्त्र तथा अन्य भोगों के प्रति बनी हुई है। इसी प्रकार जो अन्न के अभाव में भूखा रह जाता है उसे हम उपवासी भी नहीं कह सकते हैं। दिगम्बर साधु तो समस्त अन्तरंग और सांसारिक पदार्थों को स्वेच्छा से त्याग देते हैं और उन पदार्थों के प्रति उनका जरा भी ममत्व नहीं होता है। तन के समान उनका मन भी नंगा होता है।

दिगम्बर साधु के दो प्रकार के गुण बताए गए हैं जिनमें एक मुख्य या मूल गुण है और उत्तर-गुण या सहायक गुण है। प्रत्येक दिगम्बर साधु को निम्न प्रकार के मूल गुणों का पालन करना अनिवार्य होता है।

(१) अहिंसा महाव्रत–मन, वचन तथा शरीर से किसी भी प्राणी को पीड़ा न पहुँचाकर अहिंसा धर्म का पालन करना।

(२) सत्य महाव्रत–पूर्ण रूप से सत्य धर्म का पालन करना।

(३) अस्तेय महाव्रत–बिना दिए कोई भी वस्तु न लेना इसका दूसरा नाम अचौर्य महाव्रत है।

(४) ब्रह्मचर्य महाव्रत–पूर्णरूप से ब्रह्मचर्य का पालन करना।

(५) अपरिग्रह महाव्रत–किसी प्रकार का परिग्रह न रखना।

(६) ईर्या समिति–चार हाथ आगे की जमीन देखकर चलना जिससे किसी जीव की विराधना न हो।

(७) भाषा समिति–परनिन्दा, स्वप्रशंसा, स्त्री कथा, राजकथा आदि की वार्ता छोड़ केवल आत्मकल्याण सम्बन्धी वचन बोलना।

(८) एषणा समिति–विधि मिलने पर, बिना याचना के, बिना निमंत्रण के शरीर की रक्षा के लिए एक बार भोजन करना।

(९) आदान निक्षेपण समिति–पुस्तक, कमण्डलु तथा पीछी को भी सम्हालकर उठाना, रखना ताकि किसी जीव का घात न हो।

(१०) प्रतिष्ठापना समिति–एकान्त तथा निर्जीव दूर स्थान में मलमूत्र क्षेपण करना।

(११) चक्षु निरोधव्रत–सुन्दर असुन्दर दर्शनीय वस्तुओं में रागद्वेषादि तथा आसक्ति का त्याग।

(१२) कर्णेन्द्रिय निरोध व्रत–रागादि भावों को बढ़ाने वाले वाद्य गीत का न सुनना।

(१३) घ्राणेन्द्रिय निरोध व्रत—सुगन्धित दुर्गन्धित पदार्थों में रागद्वेष तथा आसक्ति का अभाव।

(१४) रसनेंद्रिय निरोध व्रत–जीभ के स्वाद का ध्यान किए बिना, दातार के यहाँ प्राप्त भोजन ग्रहण करना।

(१५) स्पर्शनेन्द्रिय निरोधव्रत—कठोर, नरम, ठंडा गरम आदि दुःख सुख रूप स्पर्श में हर्ष, विषाद न करना।

(१६) सामायिक–जीवन मरण, संयोग वियोग, इष्ट अनिष्ट में राग द्वेष छोड़ समभाव रखना।

(१७) स्तवन–शुद्धता पूर्वक तीर्थंकरों की स्तुति करना।

(१८) वन्दना–अरहन्त तथा सत्शास्त्र को नमस्कार करना।

(१९) प्रतिक्रमण–अपने दोष को शोधना तथा प्रगट करना।

(२०) प्रत्याख्यान–नाम स्थापनादि छहों में मन, वचन, काय से आगामी काल के लिए अयोग्य का त्याग करना।

( २१ ) कायोत्सर्ग-एक नियत काल के लिए, निश्चित आसन से ध्यान करना और देह से ममत्व छोड़कर स्थित रहना।

( २२ ) केशलौंच-कुछ काल के उपरान्त उपवास आदि सहित अपने हाथ से मस्तक, दाढ़ी और मूंछ के बाल उखाड़ना।

( २३ ) अचेलक-वस्त्र, टाट, तृण आदि से शरीर को न ढकना।

( २४ ) अस्नान-स्नान, उबटन, अंजन आदि का त्याग रखना।

( २५ ) क्षितिशयन-जीवबाधा रहित स्थान में एक करवट से शयन करना।

( २६ ) अदन्तधावन-दतौन आदि से दांत साफ न करना।

( २७ ) स्थिति भोजन-अपने हाथों को भोजन का पात्र बनाकर, खड़े खड़े दिन में निर्दोष आहार लेना।

( २८ ) एक भक्त-सूर्य के उदय और अस्तकाल की तीन घड़ी छोड़कर केवल एक बार दिन में आहार पानी लेना।

उक्त गुणों से दिगम्बर साधु की तपश्चर्या एवं त्याग वृत्ति का अनुमान कर सकते हैं।

वस्त्र धारण करने में एक तो परिग्रह है। एक वस्तु की ही इच्छा अर्थशास्त्र के सिद्धान्त के अनुसार दूसरी वस्तु की इच्छा को उत्पन्न करती है। फिर इच्छाओं का अन्त नहीं रहता है। इसलिए सभी पदार्थों के ममत्व को त्यागना, वस्त्र के न धारण करने का उद्देश्य है। वस्त्र त्याग का अपरिग्रह के अतिरिक्त दूसरी विशेषता काम विकार और लज्जा को जीतना है। नग्न होने में लोग अश्लीलता का दोषारोपण करते हैं परन्तु अश्लीलता पूर्ण नग्न होने में नहीं, अश्लीलता अर्ध नग्न होने में है जो वासना को उभाड़ती है।

पर पदार्थों की ओर ज्यों ज्यों आकांक्षाएं जावेंगी त्यों त्यों आत्मा का सुख कम होता जायेगा जैसे नदी की धारा को यदि कई उपधाराओं में बांट दिया जाय तो वह नदी सूख जाती है। दिगम्बर साधु की चित्तवृत्तियां अन्तर्मुखी होकर आत्मा की ओर केन्द्रित हो जाती है इसलिए वे बाह्य पदार्थों के अभाव में किसी कमी का अनुभव नहीं करते। परिणाम स्वरूप सहनशील भी हो जाते है, सर्दी के दिनों में भी बिना कपड़ों के रह सकते हैं। हम अपने शरीर में ही देखें मुख को हम वस्त्र से कभी नहीं ढँकते हैं और मुख को सर्दी गर्मी सहने का ऐसा अभ्यास हो गया है कि मुख को सर्दी गर्मी में बिना वस्त्रों के कष्ट का अनुभव नहीं होता। मुख, स्नान के सम्बन्ध में भी यही बात है।

दिगम्बरत्व आत्मा का यथाजात अर्थात् प्राकृतिक रूप है। अच्छी मनस्थिति में तन का नग्न होना तभी सम्भव है जबकि मन भी विकारशून्य या नग्न हो। शिशु जब तक निर्विकार रहता है तब तक उसके [illegible] कोई भाव नहीं होता है। कहने का आशय यह है कि वे वस्त्रादिक [illegible] विकारों को [illegible] के लिए हैं, निर्विकार को किसी आवरण की आवश्यकता नहीं है।

इस संसार में जो सुख देने वाले पदार्थ हैं वे सीमित हैं, उन सीमित पदार्थों के संग्रह के लिए छीना, झपटी तथा द्वन्द्व चल रहे हैं। द्वन्द्व का प्रमुख केन्द्र सोना, चांदी, बर्तन, भांडे, जमीन, जायदाद, कपड़ा आदि वस्तुएं ही तो हैं जिन्हें एक के पास देखकर ही दूसरा दुःखी होता है, ऐसे सभी पदार्थों को केवल ऊपर से नहीं, हृदय से त्याग देने वाला दिगम्बर साधु महानतम अहिंसक है। कहा जाता है और सच है कि कामवासना में १०० हाथियों का बल होता है जो कामी के मन को मथ देता है, उस विकार भावना को हृदय से निकाल देने वाला ही दिगम्बर साधु का रूप धारण करता है।

जून १९७२ के नवनीत में श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी का एक लेख देखा जिसमें उन्होंने उल्लेख किया है कि मेरे मन में बचपन से ही भर्तृहरि की नीति शतक के निम्न श्लोक के अनुसार जीवन ढालने की आकांक्षा रही।

**एकाकी निस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः।**
**कदा शम्भो भविष्यामि कर्मनिर्मूलन क्षमः॥ वैराग्य शतक ५८**

श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी के लिए आदर्श सन्त महात्मा बोधाश्रमजी भी पाणिपात्र दिगम्बर थे। एक बार गंगा पार करते समय बोधाश्रमजी पाणिपात्र दिगम्बर होने से शीघ्र पार कर गए। जबकि ब्रह्मचारीजी वस्त्र तथा पात्र के भार से वैसा न कर पाए और तत्काल ब्रह्मचारीजी ने वस्त्र तथा पात्र छोड़ दिया था। यद्यपि उन्होंने अपनी हार्दिक स्पृहा वस्त्र त्यागने की व्यक्त की है, परन्तु उनके लेख के अनुसार वे टाट का वस्त्र धारण करते हैं। उपर्युक्त घटना से यह समझा जा सकता है कि संसार रूपी गंगा या समुद्र पार करने हेतु यही वस्त्र तथा पात्रों का परिग्रह ही तो बाधक है। जिनने इनको सर्वथा त्याग दिया उनको संसार रूपी गंगा पार करने में बोधाश्रमजी की भाँति विलम्ब न लगेगा।

आरोग्य दिग्दर्शन में महात्मा गांधी ने लिखा है—वास्तव में देखा जाय तो कुदरत ने चर्म के रूप में मनुष्य को योग्य पोशाक पहिनाई है। जैसे जैसे हमारे पास ज्यादा पैसे बढ़ते जाते हैं वैसे वैसे हम सजावट बढ़ाते जाते हैं, अगर हमारी दृष्टि खराब न हुई तो हम देख सकेंगे कि मनुष्य का उत्तम से उत्तम रूप उसकी नग्नावस्था में है और वही उसका आरोग्य है। (पृष्ठ ५७)

यद्यपि गृहस्थों को यह परमोच्च स्थिति प्राप्त कर लेना सुगम नहीं है इसलिए वस्त्र धारण करना उचित है, भारतीय मनीषियों ने दिगम्बरत्व का विधान गृहत्यागी, अरण्यवासी साधुओं के लिए किया है।

हम देखते हैं कि जंगल में खुले बदन विचरण करने वाले भीलों, तथा नग्न विचरण करने वाले पशु पक्षियों का स्वास्थ्य प्राकृतिक रूप से अच्छा रहता है वे बीमार बहुत कम पड़ते हैं। जबकि उन्होंने विकारों को नहीं जीता है तथा उन्हें किसी प्रकार का ज्ञान एवं विवेक नहीं है। इस प्रकार नग्नावस्था शरीर के स्वास्थ्य के लिए भी हितकर है। लन्दन से प्रकाशित दिनांक १८ अप्रैल १९१३ के डेली न्यूज में जे० एफ० विल्किस की नग्नता के सम्बन्ध में प्रकाशित टिप्पणी द्रष्टव्य है।

It is true that weaving of clothes goes with a higher state of the arts and to that extent with civilisation; but it is on the other hand attended by a lower state of health and murality so that no clothes civilisation can expect to attain to a high rank.

स्विट्जर लैंड के नगर लेयसन निवासी डा० रोलियर ने नग्न चिकित्सा द्वारा अनेक रोगियों को आरोग्य प्रदान कर जगत में हलचल मचा दी थी। उनकी चिकित्सा प्रणाली का मुख्य अंग स्वच्छ वायु तथा धूप में नग्न रहना, नग्न टहलना और नग्न दौड़ना था।

इस्लाम के अनुयायी सरमद से जब औरंगजेब ने वस्त्र पहिनने को कहा तो उसने कहा था कि जिस किसी में विकार पाया उसे वस्त्र पहिनाया और जिनमें विकार न पाया उनको नंगेपन का रूप दिया गया है।

पोशानीद लवास हरकरा ऐबे दीद।
बे ऐबा रा लवास ग्रयानी दाद।

( दिगम्बर तथा दिगम्बर मुनि ग्रन्थ से पृष्ठ ४२ )

सरमद फांसी पर चढ़ाया गया पर उसने वस्त्र नहीं पहिने।

स्व० बा० कामताप्रसादजी ने अपनी शोधपूर्ण पुस्तक दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि में ( पृष्ठ २८१-२८३ ) अनेक जैनेतर विद्वानों के उद्धरण दिए हैं जिनमें साहित्याचार्य कन्नोमलजी एम० ए० जज का कथन है कि मैं जैन साधुओं के सम्पर्क के आधार पर उनके विषय में बिना संकोच के यह कह सकता हूं कि इनमें शायद ही कोई ऐसा साधु हो जो अपने पवित्र आदर्श से गिरा हो। मेरे चित्त में यही प्रभाव पड़ा कि ये धर्म, त्याग, अहिंसा और सदुपदेश की मूर्ति हैं। ईसाई मिशनरी की कार्यकर्त्री महिला स्टीवेन्सन ने अपने ग्रन्थ हर्ट आफ जैनिज्म में लिखा है कि वस्त्रों की झंझट से छूटना अन्य हजारों झंझटों से छूटना है। ( Being rid of clothes one is also rid of a lot of other worries )

ईसाई मिशनरी ए० दुबोई सा० ने दिगम्बर मुनियों के सम्बन्ध में बताया था कि सबसे उच्च पद जो कि मनुष्य प्राप्त कर सकता है वह दिगम्बर मुनि का पद है।

दिगम्बरत्व की साधना ब्रह्मचर्य की सबसे ऊंची साधना है।

कुछ महान व्यक्तियों ने गृहस्थ आश्रम करके भी ब्रह्मचर्य की साधना की है। बुद्ध ने भरी जवानी में [illegible] की [illegible] साधना का मार्ग अपनाया था। परमहंस स्वामी रामकृष्ण विवाहित होकर भी ब्रह्मचारी रहे। अफलातून, न्यूटन, [illegible], डा. [illegible] इन्होंने शादी नहीं की थी। मन में विकार [illegible] शरीर का विकार वस्त्रों से छिपा रह सकता है परन्तु दिगम्बर साधु बनने वाला अपने [illegible] के [illegible] विकार [illegible] है।

[illegible] ब्रह्मचर्य की [illegible] साधना की है [illegible] त्याग एवं अपरिग्रह की भी उत्कृष्ट साधना है, [illegible] स्वामी रामकृष्ण के उदाहरण से

समझ सकते हैं। एक बार स्वामी रामकृष्ण को एक भक्त ने कीमती वस्त्र भेंट किया था, जब भी ध्यान करने बैठते थे उनका ध्यान बार बार वस्त्र की ओर पहुंच जाता था, ध्यान में बाधा देख स्वामी जी ने वह वस्त्र उतार कर फेंक दिया था। इसी प्रकार एक लंगोटी की भी चिन्ता पहाड़ बन सकती है इसलिए दिगम्बर अवस्था परिग्रह त्याग की उत्कृष्ट अवस्था है। सब कुछ त्याग देने वाले की इच्छाएँ आत्मा की ओर केन्द्रित हो जाती हैं जिसने इच्छा या चाह को जीत लिया उसने समस्त विभूति प्राप्त करली, और जिसकी इच्छाएं असीम हैं वह सम्पत्तिवान् होकर भी दरिद्र है। एक बार गुजरात के साधु मस्तराम के पास एक धनी एक हजार रुपया भेंट करने आया और बोला कि मैंने मनौती की थी कि यदि मेरे यहाँ लड़का हो जायगा तो स्वामी मस्तराम को एक हजार रुपया भेंट करूंगा। स्वामी मस्तराम बोले, क्या मेरे यहाँ लड़के बनाने का कारखाना है, जो मेरी मनौती से लड़का हुआ मानते हो, यह धन किसी गरीब को दे दो, गृहस्थ बोला, आपसे अधिक गरीब कौन होगा, मस्तराम स्वामी बोले जिसको आकांक्षा नहीं है वह गरीब नहीं है, इतने में भावनगर के राजा स्वामी के दर्शनों को वहाँ आए, तब स्वामी मस्तराम बोले, इन्हें ( राजा को ) ये रुपये दे दो क्योंकि इनकी आकांक्षा अभी और धन बढ़ाने की बना है, अतः ये गरीब हैं। हम समझ सकते हैं कि दिगम्बर साधु परिग्रह रहित होकर भी तृष्णादि से रहित होने के कारण सुखी हैं।

मनोवैज्ञानिक ढंग से चिन्तन करें तो हम देखते हैं कि हमें जैसा वातावरण मिलता है वैसी ही मनःस्थिति हमारी बदलती है। सिनेमा की नायक नायिकाओं के प्रेम केलियों के दृश्य हमारी वासनाओं को उभारते हैं। किसी धनी के वैभव को देखकर, हमारे मन में आकांक्षा या ईर्ष्या होती है कि काश हम भी ऐसा ही वैभव प्राप्त कर अच्छे भोगों को प्राप्त करते। इन भोगों की हम आकांक्षा मात्र कर सकते हैं, प्राप्त नहीं कर सकते हैं क्योंकि भोग्य पदार्थ सीमित हैं और अनन्त लोगों की अनन्त आकांक्षाएँ हैं। इसलिए सभी लोग उन्हें प्राप्त नहीं कर सकते हैं। यदि कुछ लोग प्राप्त भी करेंगे, तो जीवन समाप्ति के साथ उन भोगों से सम्बन्ध छूट जायगा। दूसरी ओर दिगम्बर साधुओं के दर्शन से सन्तोष और धैर्य की प्रेरणा मिलती है, त्याग की प्रेरणा मिलती है, इस सुख को पाना अपने वश की बात है, यह बात दूसरी है कि उसको पाने का मन सबका नहीं होता है। दिगम्बर साधु के दर्शन से धर्म पर श्रद्धा बढ़ती है, उपदेशों से ज्ञान मिलता है और उनकी संयमपूर्ण जीवन चर्या से चारित्र धारण करने की प्रेरणा मिलती है। यहाँ तक कि मूर्तियों से भी सभी लोग ऐसी प्रेरणा नहीं प्राप्त कर पाते हैं क्योंकि मूर्तियां तो हमारी कल्पना पर महान पुरुष का रूप पाती हैं। इसलिए कुछ लोगों ने मूर्ति पूजा को व्यर्थ ठहरा दिया है। कहने का तात्पर्य यह है कि मूर्तियों की अपेक्षा दिगम्बर साधु से हम विशेष प्रेरणा पाते हैं। पुस्तक में दिगम्बर साधु की चर्या पढ़कर हम इसे कल्पना समझते थे परन्तु जब हम प्रत्यक्ष में किसी दिगम्बर साधु की तपस्या, त्याग और ज्ञानमय रूप को देखते हैं तो हमारा हृदय, मस्तिष्क और शरीर क्रमशः श्रद्धा, ज्ञान और संयम की प्रेरणा से भर जाता है। जो मूर्ति पूजक नहीं हैं, इन साधु सन्तों के

प्रति आदर प्रगट कर वे भी प्रेरणा प्राप्त करते हैं। मैं श्रद्धा, ज्ञान और चरित्र की सजीव मूर्ति स्वरूप दिगम्बर साधुओं को प्रणाम करता हूँ।

## जैनेतर साहित्य एवं समाज में दिगम्बरत्व

अथर्ववेद के जाबालोपनिषद् ( सूत्र ६ ) में परमहंस सन्यासी का विशेषण निर्ग्रन्थ दिया है। यह दिगम्बर साधु का ही बोधक है। ( यथाजातरूपधरो निर्ग्रन्थो निष्परिग्रहः ) सन्यासोपनिषद में छह प्रकार के साधुओं में तुरियातीत परिव्राजक को दिगम्बर बताया गया है। ( दिगम्बरः कुणपवच्छरीर वृत्तिकः ) परमहंसोपनिषद् में लिखा है "इदमन्तरं ज्ञात्वा स परमहंस आकाशाम्बरो, न नमस्कारो, न स्वाहाकारो, न निन्दा, न स्तुति यद्दृच्छिको भवेत् स भिक्षुः। नारद परिव्राजकोपनिषत् के चतुर्थोपदेश में भी साधु के नग्न दिगम्बर होने के उल्लेख हैं। यजुर्वेद अ० १९ मंत्र १४ में उल्लेख है कि अतिथि के रूप में महीनों तक पराक्रमशील नग्न रूप की उपासना करो जिससे तीन अज्ञान दूर होते हैं।

आतिथ्य रूपं मासरं महावीरस्य नग्न हुः।
रूपमुपसदामेतस्त्रिस्रो रात्री सुरासुता ॥

( अहिंसा पत्र जयपुर, वर्ष १२ अङ्क १८ से )

लिंग पुराण अध्याय ४७ में "नग्नो जटो निराहारो" इस प्रकार शब्दावली है। स्कन्दपुराण प्रभासखण्ड में १६ वें अध्याय में "याद्दृग्रूपः शिवोद्दिष्टः सूर्यबिम्बे दिगम्बरः" करके शिव को दिगम्बर लिखा है। चीनी यात्री ह्युनसांग ने अपने भारत भ्रमण ग्रन्थ में लिखा है कि महेश्वर भक्त साधु बालों को बांधकर जटा बनाते हैं तथा वस्त्र परित्याग करके दिगम्बर रहते हैं।

तुर्किस्तान में अब्दल नामक दरवेश नग्न रहकर अपनी साधना में लीन रहते थे और ये इस्लाम के अनुयायी थे। ( The higher saints of Islam called Abdals generally went about perfectly naked "Mysticism and magic in turkey" Quoted by C R. Jain in Nudity of the Jain Saints page 10 )

श्री सी० आर० जैन ने अपनी "न्यूडिटी आफ जैन सेन्ट्स् नामक अंग्रेजी पुस्तक में ईसाईयों की पुस्तक ईसायसा [illegible] के उद्धरण दी हिस्ट्री आफ यूरोपियन मारल्स से दिए हैं। उसका आशय यह है कि प्रभु ने [illegible] से कहा कि जा और अपने वस्त्र उतार डाल और अपने पैरों से जूते निकाल डाल, उसने वैसा ही किया और नंगा तथा नंगे पैरों होकर विचरने लगा। उसी पुस्तक में लिखा है कि ईसाइयों के कई नग्न साधु थे।

[illegible] की पुस्तक The Ascension of Isaiah (पृष्ठ [illegible] ) में लिखा है ( They were all [illegible] and they had nothing with them and were naked ) [illegible]

आचाराङ्ग सूत्र श्वे० ग्रन्थ (पृ० १५१) में अचेलक शब्द का उल्लेख है। "जे अचेले परिवुसिए तस्सणं भिक्खुसणो एव भवइ। ठाणाङ्ग सूत्र पृष्ठ ५६१ में वस्त्र रहित साधु और वस्त्र सहित साध्वियों का उल्लेख है।" पंचहि ठाणेहिं समणे निग्गंथे अचेलए सचेलयाहि निग्गंथीहिं सद्धि सेवसयाणे नाइक्कमणि।

जैन सिद्धान्त भास्कर से लेख का उद्धरण देते हुए बा० कामताप्रसादजी ने लिखा है कि एक समय नेपाल के तांत्रिक बौद्धों में नग्न यति रहते थे। यह लेख डा० हागसन द्वारा लिखा गया था।

यूनानी सम्राट् सिकन्दर अपने दूत ऊन्सक्रतस के परामर्श से दि० मुनि कल्याण को अपने देश ले गया था क्योंकि सिकन्दर ऐसे तप त्याग की ज्योति अपने देश में भी जगाना चाहता था। यूनान के तत्कालीन तत्ववेत्ता डायजिनस ने दिगम्बर वेष धारण किया था और यूनानियों ने नग्न मूर्तियां भी बनवाई थीं। ( Journal of the Royal Asiatic Society Vol IX page 232. )

ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दि में एक भारतीय राजा का सम्बन्ध रोम के बादशाह आगस्टस से था। उन्होंने उस बादशाह के लिए भेंट भेजी थी। भेंट को ले जाने वालों के साथ भृगुकच्छ ( भड़ौंच ) से एक श्रमणाचार्य भी साथ थे। उन्होंने अर्थेस नगर में सल्लेखना पूर्वक प्राण विसर्जन किया था और वे नग्न थे। ( Indian Historical Quarterly Vol. II page 293 ) इस प्रकार दिगम्बर साधु के विदेशों में जाकर प्रचार करने के भी प्रमाण मिलते हैं।

शुक्राचार्य यद्यपि जैन साधु न थे परन्तु वे युवावस्था में भी नग्न रूप में रहते थे।

इस प्रकार अनेक उल्लेख जैनेतर साहित्य तथा इतिहास में दिगम्बरत्व तथा दिगम्बर साधुओं के सम्बन्ध में हैं। विशेष जिज्ञासु को स्व० बा० कामताप्रसादजी द्वारा बड़े शोध श्रम से लिखित पुस्तक दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि का अवलोकन करना चाहिये।

इस समय अपने त्याग और तपश्चर्या से स्व-पर कल्याण करने वाले पूज्य आचार्य नेमिसागर, पू० मुनि विद्यानन्दजी, पू० देशभूषणजी, पू० समन्तभद्र, पू० आर्यनन्दि आदि मुनियों के चरणों में अपनी श्रद्धा व्यक्त करता हुआ उन आचार्य श्री आचार्य शिवसागर के चरणों में अपनी श्रद्धांजलि भेंट करता हूँ जिनकी स्मृति में यह ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है।



कंचन तजना सहज है, सहज त्रिया का नेह।
मान बड़ाई ईर्षा, दुर्लभ तजनी एह॥

# आचेलक्य धर्म

[ लेखक:—श्री विद्यावाचस्पति पं० वर्धमानजी पा० शास्त्री, सोलापुर ]

श्रमण परम्परा में सम्मत मुनिधर्म में आचेलक्य धर्म के लिए प्रमुख स्थान है, अथवा आचेलक्य के बिना मुनिधर्म ही नहीं हो सकता है, यह कहा जाय तो अनुचित नहीं हो सकता है। साधुवों के लिए प्रतिपादित अट्ठाईस मूल गुणों में आचेलक्य भी एक मूल गुण है। इसलिए यहाँ पर उस मूल गुण या धर्म के संबंध में विचार किया जाता है।

## आचेलक्य क्या है ?

चेल पद का अर्थ वस्त्र है, यहां पर वस्त्र पद उपलक्षण है, वस्त्र के समान अपने शरीर को ढकने के लिए उपयोग में आने वाले इतर पदार्थ भी वस्त्र पद से लिये जा सकते हैं, वस्त्र का त्याग जिसमें किया जाता है, शरीर सर्व प्रकार से परपरिग्रह रहित एवं आत्मा भी निर्ग्रंथ जिसमें किया जाता है उसे आचेलक्य कहते हैं। आचेलक्य धर्म का अर्थ करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं।

वत्थाजिणवक्केणभ अहवा पत्तादिणा असंवरणं।
णिब्भूसण णिग्गंथं अचेलक्कं जगदि पूज्जम् ॥३०॥

( मूलाचार, मूलगुणाधिकार )

कपास, रेशम, रोम आदि के बने हुए वस्त्र, मृगछाला आदि चर्म, वृक्षादि की छाल से उत्पन्न वस्त्र, टाट आदि, अथवा पत्ता तृण आदि के द्वारा शरीर को न ढांकना, हार, कुण्डल आदि आभूषणों से रहित होना, संयम के घातक बाह्य परिग्रहों से रहित होना, यह तीन लोक में पूज्य आचेलक्य धर्म है, यहां पर निर्ग्रंथ पद है, उससे बाह्य व अन्तरंग ग्रन्थियों से रहित यह पद होने से मोह, ममता, इच्छा आदि विकारों के त्याग करने से ही यह पद होता है यह स्पष्ट समझना चाहिये। इसी अभिप्राय का समर्थन आचारसार में भी वीरनन्दि सिद्धांत देवने भी किया है। यथा:—

चर्मवल्काजिन वस्त्राद्यैरंगा संवरणं वरम्,
आचेलक्य मलंकारानंग संग विवर्जितम् ॥४२॥

( प्रथमाधिकारः )

इससे मूलाचारकार का जो अभिप्राय व्यक्त है, इससे यह भी ध्वनित होता है कि इस आचेलक्य को धारण करने वाले योगी को आवश्यक है कि वह बहिरंग विकारों के समान ही अन्तरंग विकारों का भी त्याग करें, तभी इस धर्म का निर्दोष रूप से पालन हो सकता है।

[illegible] यह लौकिक सम्बन्ध से [illegible] है, [illegible] शरीर का [illegible] की आवश्यकता है,

केशलुंचन वह अपने हाथ से ही करते हुए केशों को उखाड़-उखाड़ कर फेंकता है, केशलुंचन भी एक मूल गुण है। केशलुंचन करते हुए यह भावना व्यक्त होती है कि शरीर से उसकी सर्वथा निर्मोहवृत्ति जागृत हुई है, तभी वह शरीर के प्रति यत्किंचित् ही ध्यान न देकर आनन्द से केशलोंच करता है। केशलोंच करते हुए जो नग्नता को धारण करता है वही सचमुच में दिगम्बर योगी है। सर्व साधारण साधु कहलाने वालों से यह कार्य नहीं हो सकता है। इसलिए अट्ठाईस मूलगुणों में केशलोंच, आचेलक्य, प्रतिलेखन, शरीर पर निर्मोहवृत्ति को, औत्सर्गिक लिंग के नाम से कहा गया है, दिगम्बर साधु की पहिचान के लिए जो प्राकृतिक चिन्ह चाहिये, वह इन बातों से प्रकट होता है, इन चिन्हों के बिना दिगम्बर साधु हो नहीं सकता है। यथा:—

अच्चेलक्कं लोचो वोसट्ठसरीरदा य पडिलिहणं,
एसो हि लिंगकप्पो चदुव्विधो होदिणादव्वो ।।९०८।।

( मूलाचार-समयसाराधिकार )

अर्थात् कपड़े आदि सर्वपरिग्रह का त्याग ( आचेलक्य ) केशलोंच, शरीर संस्कार का त्याग, मयूरपिच्छ, यह चार साधु के लिंग हैं। ये चारों अपरिग्रह भावना, वीतरागता एवं दया पालन के चिन्ह हैं, जिनकी दिगम्बर साधु के लिए परम आवश्यकता है।

इसी विषय को अन्य आचार्यों ने इस प्रकार प्रतिपादन किया है।

औत्सर्गिक सचेलक्यं लोचोव्युत्सृष्ट देहतां ।
प्रतिलेखन मित्येवं लिंगमुक्तं चतुर्विधम् ।।

अभिप्राय स्पष्ट है कि अचेलक्य आदि चार साधु के औत्सर्गिक लिंग हैं, अर्थात् इन औत्सर्गिक लिंगों के अभाव में वह दिगम्बर जैन साधु नहीं कहला सकता है। अतः इस आचेलक्य धर्म की आवश्यकता ही नहीं अनिवार्यता भी है। २८ मूलगुणों में इस मूलगुण को छोड़ दिया जाय तो साधुपद की पूर्ति नहीं हो सकती है। अन्य अनेक मूल गुणों का पालन करें, यदि उसमें आचेलक्य न हो तो वह साधु के रूप में न कहा जा सकता है। न जाना जा सकता है और न वह पद ही उसे प्राप्त हो सकता है, इसलिए दिगम्बर साधु के लिए आचेलक्य धर्म की परम आवश्यकता है।

**आचेलक्य की आवश्यकता—**

निर्ग्रन्थ लिंग को धारण करने वाले योगी महाव्रती होते हैं, अहिंसा महाव्रत को पालन करते हुए वे किसी भी प्राणी की हिंसा किसी भी हालत में नहीं कर सकते हैं, अगर मुनि होकर भी वस्त्र रखने लग जाय तो उस वस्त्र में अनेक प्रकार के जीव जन्तु उत्पन्न होते हैं, जिनकी हिंसा सुतरां सम्भव है, उन वस्त्रादिकों को इतरत्र सुखाने वगैरे के लिए डालें तो भी उन जीवों की हिंसा हो सकती है, इसलिए अहिंसा महाव्रत की रक्षा के लिए वस्त्र त्याग करना आवश्यक है।

दूसरी बात यदि मुनि वस्त्र रखता है तो वस्त्र मात्र परिग्रह पर उसका मोह भाव अभी तक अवशिष्ट है ऐसा स्पष्ट अर्थ होता है, यदि उस परिग्रह पर मोह न हो तो वह वस्त्र क्यों रखता है ? लज्जावश रखता हो तो अभी तक वह लज्जा विकार को जीत नहीं सका, अतएव वस्त्र रखना उसके लिए आवश्यक हो गया।

अतः किसी भी तर्क से वस्त्र रखकर वह अपरिग्रही मुनि नहीं हो सकता है। मुनि को तिलतुष मात्र परिग्रह रखने का भी निषेध है, यदि परिग्रह है तो वह मुनि नहीं हो सकता, अचेलक्य नहीं हो सकता, इतना ही नहीं परिग्रह को रखकर मुनि होता है तो वह नरक निगोदादिका पात्र होता है।

इस सम्बन्ध में कुंद कुंद देव कहते हैं।

> जह जाय रूव सरिसो तिलतुस मेत्तं न गिहदि हत्थेसु।
> जइ लेइ अप्प वहुयं तत्तो पुण जाइ णिग्गोदं ॥
>
> ( सूत्र प्राभृत. १८ )

यथा जात रूपधारी-नग्न साधु तिलतुष मात्र भी परिग्रह अपने हाथों में मन वचन काय से ग्रहण नहीं करते है, यदि थोड़ा भी परिग्रह वे ग्रहण करते हैं तो वे निगोद जाते हैं।

इससे यह स्पष्ट हुआ कि साधु सर्व प्रकार से अंतरंग व बहिरंग परिग्रह को त्याग करते हैं। भाव नैर्ग्रंथ्य की प्राप्ति के लिए ही वे द्रव्यनैर्ग्रंथ्य को धारण करते है। द्रव्यनिर्ग्रंथ होना बहुत कठिन नहीं है, बाजार में घूमने वाले घोड़े, गधे, पशु पक्षी, गाय भैंस आदि सभी नग्न ही रहते हैं, उनके पास वस्त्रादिक कहां है ? परन्तु उन्हें अचेल कहते है क्या ? नहीं, क्योंकि उनके अन्दर अंतरंग नैर्ग्रंथ्य नहीं है, केवल बाह्य नग्नता है। उसका कोई उपयोग नहीं है। यह मोक्ष मार्ग का प्रकरण है। इसलिए यहां पर भाव निर्ग्रंथता से युक्त द्रव्य नैर्ग्रंथ्य ही मोक्ष के लिए कारण है ऐसा समझना चाहिये।

इस सम्बन्ध में ग्रंथकार स्पष्ट करते हैं कि—

> जइया मणु णिग्गंथु जिय तइया तुहुं णिग्गंथु।
> जइया तुहुं णिग्गंथु जिय तो लब्भइ सिवपंथु ॥
>
> ( योगीन्दु देव-योगसार. )

हे जीव ! तुम्हारा मन जब निर्ग्रंथ होगा तभी तुम वास्तव में निर्ग्रंथ हो, इस प्रकार वस्तुतः निर्ग्रंथ होने पर ही तुम मोक्ष मार्ग के पथिक बन सकोगे तो "इससे मोक्ष मार्ग के लिए नैर्ग्रंथ्य की अर्थात् अचेलकत्व की परम आवश्यकता है" यह सिद्ध हुआ।

अचेलकत्व यह व्याख्यान है—

महाव्रत धारी साधुओं के लिए [illegible] व्याख्यान है, क्योंकि वस्त्र रहित होने का अर्थ [illegible] परिग्रह के त्याग से [illegible] नहीं सकता है,

इस आचेलक्य से सर्व परिग्रहों का त्याग ग्रहण करना चाहिये, अतर्बाह्य सर्व परिग्रहों का त्याग इसमें किया जाता है। यथाः—

चेल मात्र परित्यागी शेष संगी न संयतः।
यतो मत मचेलत्वं सर्वं ग्रंथोज्झनं ततः॥

केवल वस्त्र का त्याग करने वाला, बाकी के परिग्रहों का त्याग न करने वाला मुनि नहीं हो सकता है, इसलिए वस्त्र के साथ अन्य परिग्रहों का त्याग भी आवश्यक है, जिन्होंने सर्व परिग्रहों का त्याग नहीं किया, उनसे अनेक हिंसादिक दोष संभव हो सकते हैं, हिंसादिक समस्त पापों का त्याग जैन साधु को आवश्यक है, परिग्रहों की अभिलाषा सर्व पापों की जननी है, परिग्रह के लिए लोग जीव हिंसा करते हैं, असत्य बोलते हैं, चोरी करते हैं, कुशील सेवन करते हैं। ऐसी स्थिति में नग्नता के साथ यदि अन्य परिग्रहों का त्याग वह करें तभी वह नग्नता सार्थक है, यदि केवल नग्नता हो तो उसका कोई उपयोग नहीं है, परिग्रहों के त्याग के बिना भी यदि नग्नता आत्मोन्नति के लिए उपयोगी है तो इस सरल मार्ग को कौन अंगीकार न करेगा, परन्तु बाह्य नग्नता के साथ अन्तरंग से भी नग्न होना ही कार्यकारी है।

**आचेलक्य एक कल्प है:—**

श्री वट्टकेराचार्यकृत मूलाचार, वीरनन्दिकृत आचारसार, शिवकोटिकृत भगवती आराधना आदि ग्रन्थों में जैन साधुवों के निर्दोष आचार का वर्णन है। मुनियों को दस प्रकार के स्थिति कल्पों का पालन आवश्यक बताया गया है, वह दस कल्प इस प्रकार हैं।

आचेलक्य, उद्दिष्ट, शय्याधर, राजपिंड, कृतिकर्म, व्रत, ज्येष्ठ, प्रतिक्रमण, मास व पर्युषण, यह मुनियों का आचार विशेष है, इसलिए कल्प के नाम से कहा गया है, इन्हें श्रमण कल्प भी कहते हैं, इनको स्थिति कल्प भी कहते हैं। इनमें हमें प्रकरणगत विषय आचेलक्य है, अतः अन्य कल्पों के सम्बन्ध में हमें यहाँ पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है।

इन कल्पों में यदि साधु की स्थिति न हो तो वह साधु नहीं है, आचेलक्य के होने पर ही वह साधु निग्रन्थ कहलाता है, निग्रन्थ साधु के समीप किंचित् मात्रा में भी परिग्रहों का अस्तित्व, उसकी स्थिति में बाधक है। इसलिए इस आचेलक्य के कारण वह उत्तम क्षमादि दश धर्मों का पालन बहुत अच्छी तरह कर सकता है, सग्रन्थ होने पर न क्षमा रह सकती है, न शौच धर्म हो सकता है, न संयम, न तप और न आकिंचिन्य। ग्रन्थों के संग्रह में ही उसका सारा समय चला जाता है तब वह साधु आत्म निरीक्षण कब करेगा ?

**आचेलक्य का उपयोगः—**

आचेलक्य को धारण करने वाले योगी को इस लिंग का क्या उपयोग है, इस विषय को ग्रन्थकार निम्न प्रकार से समर्थन करते हैं।

यात्रासाधन गार्हस्थ्य विवेकात्म स्थितिक्रिया:
परमो लोक विश्वासो गुणा लिंगमुपेयुष: ,
परिकर्मभय ग्रन्थ-संसक्ति प्रतिलेखना:
लोभ मोह मद क्रोधा: समस्ता: संतिवर्जिता: ।
अंगाक्षार्थं सुखत्यागो रूपं विश्वास कारणं
परीषह सहिष्णुत्व मर्हदाकृति धारणम्,
स्ववशत्वमदोषत्वं धैर्यवीर्य प्रकाशनम्
नानाकारा भवंत्येव मचेलत्वे महागुणाः ।।

आचेलक्य मोक्ष यात्रा के लिए साधन है, अर्थात् आचेलक्य को धारण करने से वह मोक्षमार्ग का पथिक बन जाता है, रत्नत्रय का अधिकारी होता है, इस आचेलक्य से गृहस्थ व मुनि का विवेक व्यक्त होता है, गृहस्थ व मुनि में क्या भेद होता है इसका ज्ञान उस आचेलक्य से होता है। तीसरी बात आचेलक्य से आत्म स्थिति के प्रति प्रवृत्ति होती है, वह योगी रागद्वेष मद मात्सर्य आदि दोषों को अपने आप दूर करने के लिए प्रयत्न करता है, विचार करता है कि मैंने वस्त्रादिक सर्व परिग्रहों का परित्याग किया है तो मुझे क्रोधी, लोभी, मानी, आदि होना योग्य नहीं है, मेरा आत्मोद्धार कैसे होगा इसी के प्रति उसका सदा प्रयत्न रहता है, अतः वह आत्मा को छोड़कर अन्यत्र प्रवृत्ति करने में उत्सुक नहीं रहता है, इसी प्रकार सर्व परिग्रहों का त्याग जिस नग्नता में होता है उसे देखकर भव्यों के हृदय में यह भावना जागृत होती है कि यही मोक्षमार्ग है, अतः उस योगी पर श्रद्धा उत्पन्न होती है, अचेलक होने से-वस्त्र के फटने पर, जीर्ण होने पर दूसरे की याचना करना, सीना, धोना, सुखाना आदि कार्यों में व्यस्त होने से स्वाध्यायादि नित्य क्रिया में जो बाधा उपस्थित होती है वह भी अपने आप दूर हो जाती, उसे किसी प्रकार की चिन्ता ही नहीं है, परिग्रह रहित होने के कारण उस अचेलक साधु को कोई भय भी नहीं सकता, आचेलक्य होने के कारण कपड़े आदि परिग्रहों पर आसक्ति, उनके साथ [illegible] रखने की चिन्ता आदि नहीं हो सकती है, कपड़ा मैला होने पर धोने की भी चिन्ता हो सकती है, आचेलक्य के कारण लोभ, मोह, मद व क्रोध आदि सभी विकार दूर होते हैं, वस्त्र ही जब नहीं है तो किसका लोभ करें, किसका मद करें ? किस पर मोह करें, किस पर क्रोध करें ? वस्त्र रहित होने से शरीर व इन्द्रिय के सुख की आकांक्षा भी उस योगी को नहीं हो सकती है। [illegible] योगी [illegible] उस साधु को देखने से सर्व साधारण को विश्वास उत्पन्न होता है, अपरिग्रही मुनि होने के कारण उसके पास न अस्त्र रहता है, और न शस्त्र, इसलिए उसके द्वारा किसी का घात नहीं हो सकता है, [illegible] का विश्वास क्यों नहीं होगा ? [illegible] उस योगी में आ जाती है, [illegible] योगी यह समझता है कि

मैं जिनेन्द्र भगवन्त का अनुकरण कर रहा हूँ, जिनेन्द्र भगवन्त ने जिस प्रकार मोक्ष प्राप्ति करली है उसी प्रकार मुझे भी करना चाहिये, इस बात का दृढ़ संकल्प वह करता है। इसी प्रकार तिलतुष मात्र भी परिग्रह न होने से वह योगी स्वाधीन रहता है, वह किसी के भी परतन्त्र नहीं है, किसी बात की अपेक्षा हो तो वह इतरों के आधीन होता है, अन्यथा उसे किस बात की परवाह ? आचेलक्य के कारण उसके अहिंसादिक व्रत निर्दोष होते हैं, इस आचेलक्य के कारण उस योगी के हृदय में धैर्य व वीर्य प्रकट होता है, अथवा जिनके हृदय में धैर्य व वीर्य है वही आचेलक्य को धारण कर सकता है, नग्नता को धारण करने के लिए आत्मा महान् धैर्यवान् और वीर्यवान् हो, तभी इस अवस्था को धारण कर सकता है।

इस आचेलक्य के द्वारा परमोत्कृष्ट आदर्श को वह योगी प्राप्त करता है, उसे उपर्युक्त प्रकार मोक्ष मार्ग में जाने के लिए इस आचेलक्य का नाना प्रकार से उपयोग होता है या आचेलक्य में नाना प्रकार के महागुण होते हैं, जो साधु को आदर्श पद में पहुँचाते हैं।

## क्या परिग्रहधारी भी अचेलक हो सकता है ?

कोई-कोई जैनाभास कहते हैं कि परिग्रहों के साथ होने पर भी अचेलता रह सकती है। उपर्युक्त दस प्रकार के स्थितिकल्प उनके ग्रन्थों में भी प्रतिपादित हैं, उनमें आचेलक्य नामक कल्प है, परन्तु वे वस्त्रादिक परिग्रहों के होने पर भी उस साधु को अचेलक मानते हैं, यह केवल मानना ही हो सकता है वस्तुतः वह साधु नहीं हो सकता है. परन्तु सफेद वस्त्र अथवा पुराने वस्त्रों के होने पर अचेलकत्व में कोई बाधा नहीं है. इस प्रकार अचेलकत्व का विचित्र व आगम युक्ति-असमर्थित विषय का वे प्रतिपादन करते हैं।

कल्प सूत्र ग्रन्थ में इसका विवेचन है, इस कल्प सूत्र की रचना श्रुत केवली भद्रबाहु की है ऐसी उनकी मान्यता है। उक्त कल्प सूत्र में मुनियों के आचेलक्यादि दस स्थितिकल्पों का वर्णन है, प्रकरण को स्पष्ट करते हुए टीकाकार ने शंका उठाई है। नहीं तो आचेलक्य पद से दिगम्बरत्व की सिद्धि होती है। टीकाकार यहां पर लिखते हैं कि—

"ननु वस्त्र परिभोगे सत्यपि कथमचेलकत्वं ? इति चेत् उच्यते—जीर्णं प्रायतुच्छवस्त्रे सत्यपि अवस्त्रत्वं सर्वजन प्रसिद्धमेव, तथा कृत पोतिका नदीमुत्तरंतो वदंति अस्माभिर्नग्नीभूय नदी उत्तीर्णा इति। तथा सत्यपिवस्त्रे तंतुवायरजकादींश्च वदंति शीघ्रमस्माकं वस्त्रं देहि। वयं नग्ना स्मः। एवं साधूनां वस्त्र सद्भावेपि अचेलकत्वम्। ( कल्प सूत्र )

उपर्युक्त शंका समाधान का आशय यह है कि वस्त्र का उपभोग लेते हुए भी साधु को अचेलकत्व कैसे रह सकता है ? इसका उत्तर यह है कि प्रायः जीर्ण-शीर्ण वस्त्र जो तुच्छ हो गया है उसके ग्रहण करने पर अचेलकत्व में कोई बाधा नहीं है, लोक में भी यह प्रसिद्धि है। कोई नदी पार करना चाहे तो सभी वस्त्रों को न भिगोकर कमर में छोटासा वस्त्र वेष्टित कर नदी पार करता है। कहता है कि मैंने नग्न होकर ही नदी पार की। इसी प्रकार लोग कपड़े की आवश्यकता पड़े तो जुलाहा, धोबी वगैरह

में जाकर कहते हैं कि हमें कपड़ा दो, हमें पहनने के लिए कपड़ा नहीं है। (अर्थात् हम नंगे हैं) इस प्रकार वस्त्रों के होते हुए भी ये जिस प्रकार नंगे हैं, इसी प्रकार साधु भी वस्त्र सहित होने पर भी अचेलक रह सकता है।

टीकाकार का यह समर्थन अत्यन्त लँगड़ा है, क्योंकि जो उदाहरण दिये गये हैं वह विषम उदाहरण हैं, वहाँ पर वस्त्र त्याग नहीं किया जाता है। उपचार से अपने को वे नग्न मानते हैं, नग्न न होते हुए भी नग्न मानते हैं, यह असत्य व्यवहार है। परन्तु अचेलकत्व में बुद्धि पूर्वक वस्त्र को परिग्रह समझकर अन्य परिग्रहों के समान उसका त्याग किया जाता है। त्याग की हुई वस्तु का ग्रहण नहीं हो सकता है। यदि त्यक्त पदार्थ का ग्रहण पुनः होता है तो उसमें कोई कारण होना चाहिये। पुनश्च उस पदार्थ पर मोह उत्पन्न हुआ है, अथवा त्याग करने में असमर्थता के कारण अभी तक आसक्ति है, परन्तु त्याग का नाम मात्र होना चाहिये, इत्यादि नाना दोष उसमें उपस्थित होंगे। ऐसी स्थिति में मूलाराधनाकार लिखते हैं कि—

"चेलपरिवेष्टितांग आत्मानं निर्ग्रन्थं योवदेत्तस्य किमपरे पाषण्डिनो न निर्ग्रंथा? वयमेव न ते निर्ग्रन्था इति वाङ्मात्रं नाद्रियते मध्यस्थैः।"

अर्थात् जिनके साथ वस्त्रादिक परिग्रह है उनको यदि निर्ग्रन्थ कहा जायगा तो अन्य पाखण्डियों को भी निर्ग्रन्थ क्यों नहीं कह सकते हैं? नहीं, वे निर्ग्रन्थ नहीं हो सकते हैं, हम वस्त्र सहित होते हुए भी निर्ग्रन्थ हो सकते हैं, तो यह केवल कथन मात्र है, इसे माध्यस्थ बुद्धि वाले कभी स्वीकार नहीं कर सकते हैं।

इसी कारण से कुछ विचारशील श्वेताम्बर ग्रन्थकारों ने साधुओं में जिनकल्पी-स्थविर कल्पी अर्थात् जिनकल्पी साधु निर्वस्त्र, और स्थविरकल्पी साधु सवस्त्र इस प्रकार साधुओं में वस्त्र रहित साधु और वस्त्र सहित साधु इस प्रकार दो भेद की कल्पना करनी पड़ी।

भगवान् महावीर वस्त्र रहित थे, अचेलक थे, इस बात को वे स्वीकार करते हैं, देवेन्द्र ने उनके देवदूष्य नामक वस्त्र प्रदान किया, परन्तु उसके छूटने पर अन्त तक वे अचेलक ही रहे। इसका स्पष्ट अर्थ है कि वस्त्र सहित होते हुए अचेलकत्व नहीं रह सकता है। कल्प सूत्र के टीकाकार ने स्पष्ट उल्लेख किया है कि वस्त्र सहित होने पर भी अचेलकत्व रह सकता है, परिग्रहों के रहने पर भी [illegible], भगवान् महावीर के जीवन में उन्होंने इन बातों को [illegible] कर भगवन्त की कृति के पद में [illegible]। "[illegible] भगवता महावीरेण धर्म प्रवर्तनाय [illegible] एवं [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible] परन्तु [illegible] अचेलकाः [illegible]।"

अर्थात् भगवान् महावीर ने सचेल धर्म की व्यवस्था के लिए एक वर्ष एक महिना व कुछ दिन तक वस्त्र को ग्रहण किया। इसी प्रकार अचेल धर्म की व्यवस्था के लिए प्रथम पारणा [illegible] में भी [illegible] [illegible] उन्होंने पाणिपात्र में ही आहार किया।

कितना हास्यास्पद तर्क है ? वह तो व्याघात भी है, यदि सवस्त्र साधु धर्म की स्थापना उन्हें करनी थी अथवा सपात्र धर्म की स्थापना करनी थी तो कुछ समय के बाद उसे भगवान् ने क्यों छोड़ा ? और जीवन भर अचेलक व पाणिपात्र क्यों रहे ? यह निश्चय हुआ कि साधु सचेलक होते हुए अचेलक नहीं रह सकता है, पात्र रखते हुए अपरिग्रही नहीं बन सकता है, इसीलिए उन्होंने जीवन भर अचेलक और पाणिपात्र भोजी होकर ही मोक्षमार्ग को प्रशस्त किया।

इस प्रकरण को उत्तराध्ययन सूत्रकार ने सम्हाल लिया है, उनको स्पष्ट अनुभव हुआ होगा कि इस प्रकार आगम में असंबद्ध, पूर्वापर विरुद्ध कथन का होना उचित नहीं है। यह जैन सिद्धान्त के विरुद्ध है।

उन्होंने प्रतिपादन किया है कि—

परिचत्तेसु वत्थेसु ण पुणो चेल मादिए।
अचेलपवरे भिक्खू जिणरूवधरे सदा ॥
सचेलगो सुखी होदि असुखी चावि अचेलगो।
अहं सचेलगो होक्खामि इदि भिक्खू ण चिंतये ॥

परित्यक्त वस्त्रों को साधु पुनः ग्रहण कभी नहीं करता है। क्योंकि वस्त्र रहित साधु सदा जिन-रूप को धारण करता है। सचेलक साधु सुखी होता है, अचेलक दुःखी होता है इस प्रकार का विचार साधु अपने मन में कभी नहीं लावे। इसी प्रकार अचेलकत्व को समर्थन करने वाले वचन उत्तराध्ययन सूत्र में अनेक स्थानों में हैं।

भगवान् महावीर के सम्बन्ध में कहा गया है कि—

अचेलको य जो धम्मो जो वायं पुणरुत्तरो।
देसिदो वड्ढमाणेण पासेण अहमप्पणा ॥
एगधम्मे पवत्ताणं दुविहा लिंग कप्पणा।
उभयेसिं पदिट्ठाण—महं संसय मागदा ॥

भगवान् पार्श्वनाथ ने जिस आचेलक्य धर्म का कथन किया उसे ही महावीर ने प्रतिपादन किया, फिर उस आचेलक्य धर्म में वस्त्र सहित और वस्त्र रहित ऐसे दो भेद की कल्पना हुई, इससे मेरे मन में शंका पैदा हो गई। भगवती आराधनाकार कहते हैं कि इससे भगवान् महावीर का धर्म भी अचेलक्य ही था ऐसा सिद्ध होता है।

इसी प्रकार श्वेताम्बर ग्रन्थों में आचेलक्य के समर्थन करने वाले प्रमाण उपलब्ध होते हैं। जिन-कल्पी साधुओं का वर्णन करते हुए ग्रन्थकारों ने "अचेलगो य जो धम्मो" इन पदों से उनको अचेलक होने का प्रतिपादन किया है।

आचारांग सूत्र कहता है:—

"अदुवा तत्थ परक्कमंतं अचेलं तणफासा फुसंति, एगयरे अन्नयरे विरूवरूवे फासे अहियासेति अचेले लाघवियं आगम पमाणे। तवेसे अभिसमन्नागमें भवइ। जहेतं भगवया पवेदियं तमेव अभिसमेच्चा, सव्वओ सव्वत्ताये समत्तमेव समभिजाणिया"

अर्थात् जो मुनि लज्जा जीत सकता हो वह मुनि नग्न ही रहे। नग्न रहकर तृण स्पर्श, सर्दी, गर्मी, डांस, मच्छर आदि प्राप्त परीषहों को सहन करें, ऐसा करने से मुनि को कोई चिन्ता नहीं होती है, और तप की सिद्धि होती है। भगवान् ने ऐसा प्रतिपादन किया है। उसे समझकर पालन करें।

आचारांग सूत्र के छठे अध्याय में एक प्रकरण आता है, जहाँ लिखा है कि:—

"जे अचेले परिवुसिये तस्सणं भिक्खुस्स एवं भवइ:-परिजिन्ने मेवत्थे वत्थे जाइस्सामि, सूइं-जाइस्सामि, संधिस्सामि, सीविस्सामि, उक्कसिस्सामि, वोक्कसिस्सामि, परिहरिस्सामि, पाउणिस्सामि।"

अर्थात् जो मुनि अचेलक होता है उसे यह चिन्ता नहीं होती है कि मेरा कपड़ा फट गया है, दूसरा नया कपड़ा चाहिये। कपड़ा सीने के लिए सूई, धागा चाहिये, कपड़े को मुझे सम्हालना है। फटे हुए को सीना है, जोड़ना है, फाड़ना है, पहनना है, धोना है। वह अचेलक इत्यादि प्रकार की चिन्ता से दूर रहता है। अतः आचेलक्य साधुओं के लिए आवश्यक धर्म है।

इन विवेचनों से, श्वेताम्बर परम्परा में भी आचेलक्य धर्म के लिए ही प्राशस्त्य रहा है। यह सिद्ध होता है, यदि उनमें सचेलता आगई तो शिथिलाचार के कारण बाद में घुस गई है।

## इतर धर्मों में आचेलक्य का समर्थन—

आचेलक्य साधु के लिए जिस प्रकार आवश्यक है उसी प्रकार पावन भी है। अन्य सम्प्रदाय वालों ने भी इस धर्म का आदर किया है।

ऋग्वेद [illegible]

आर्हतस्य च मामर्हं महावीरस्य नग्नतः, इत्यादि अनिविस्वरूप मार्गोपदेशी नग्न महावीर की प्रशंसा करो। भागवत पुराण में वातरशना श्रमणों का उल्लेख आता है, वे अचेलक योगी थे।

प्रभास पुराण में नेमिनाथ का वर्णन करते हुए दिगम्बर पद का उल्लेख किया है।

भर्तृहरि के वैराग्य शतक में कहा गया है कि—

एकाकी निस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः।
कदाहं संभविष्यामि कर्मनिर्मूलन क्षमः॥

इसी ग्रन्थ में नग्न साधुओं के लिए आशाम्बर शब्द का उपयोग किया गया है।

जाबालोपनिषद् में—परमहंस परिव्राजक साधु के लिए यथाजात रूपधर निर्ग्रन्थ पद से सम्बोधित किया गया है। [illegible] लिखते हैं कि—

उत्तंग विद्यार्थी को रास्ते में नग्न क्षपणकों का दर्शन हुआ। कुसुमांजलिग्रन्थ में कहा गया है कि निरावरणा दिगम्बरा: तैत्तरीय आरण्यक के प्रकरण में यथाजातरूपधरा निर्ग्रन्था: इस प्रकार अचेलकों का उल्लेख है।

हिन्दू पद्म पुराण में निर्ग्रन्थ साधुवों का कथन है, कूर्म पुराण व ब्रह्माण्ड पुराण में अचेलकों का वर्णन है। इसी प्रकार लिंग पुराण में कहा गया है कि नग्नजटो, निराहारो, चीरोध्वांत गतो हि स:।

इस प्रकार अनेक हिन्दू सम्प्रदाय के ग्रन्थों में इस आचेलक्य का आदर किया गया है।

यजुर्वेद में वृषभदेव को नग्न ( अचेल ) के रूप में उल्लेख किया है। दत्तात्रेय स्तोत्र में मुनिको दिगम्बर कहा गया है। भागवत पंचम स्कन्ध में नग्न श्रमणों का उल्लेख आता है।

इसके अलावा भागवत में सुकदेव व व्यास मुनि का कथन आता है। व्यास सवस्त्र थे, सुक देव वस्त्र रहित थे, वस्त्र रहित दशा में उनकी निर्विकारिता का वर्णन वहाँ पर सदृष्टान्त किया गया है। इससे भी अचेलकत्व का समादर व्यक्त होता है।

इसी प्रकार मुसलमान, वारकरी, रामदासी पंथ में भी नग्नता का आदर के साथ उल्लेख किया गया है एवं इसे जीवन का सर्वोत्कृष्ट आदर्श माना गया है।

**शकुन शास्त्र की दृष्टि से अचेलकत्व—**

महा भारत का युद्ध चल रहा था, अर्जुन कहीं बैठे-बैठे विश्रान्ति ले रहे थे, श्रीकृष्ण ने झट पट अर्जुन को वुलाया व कहा—

आरोहस्व रथे पार्थ गांडीवंच करे कुरु,<br>
निर्जिता मेदिनी मन्ये निर्ग्रन्था यस्य सन्मुखे।

हे अर्जुन ! जल्दी रथ पर चढ़ जावो, गांडीव धनुष को हाथ में ले लो, निश्चित् ही तुम इस जगत् को जीत लोगे, कारण कि सामने निर्ग्रन्थ ( अचेल ) साधु का आगमन हो रहा है। इससे अचेलक साधुवों का दर्शन शुभशकुन के रूप में माना गया है।

पद्मिनी राजहंसाश्च निर्ग्रन्थाश्च तपोधना:।<br>
यं देशमुपसर्पन्ति दुर्भिक्षं तत्र नो भवेत्॥

पद्मिनी जाति की स्त्रियां, राजहंस, निर्ग्रन्थ ( अचेल ) तपस्वी, जिस देश में जाते हैं वहां पर कोई दुर्भिक्ष, ईति, भीति, मारो, रोग आदि उपद्रव नहीं होते हैं, सर्वत्र सुभिक्ष व शांति होती है।

इससे भी ज्ञात होता है कि निमित्त, शकुन स्वप्न आदि शास्त्रों में भी आचेलक्य का आदर किया है, आचेलक साधुवों के दर्शन से सर्व कार्यों की सिद्धि होती है, यह अभिप्राय व्यक्त किया है।

## आचेलक्य के लिए ऐतिहासिक स्थान--

आचेलक साधुवों की परंपरा यों तो बहुत प्राचीन काल से है। भगवान् वृषभदेव के समय से ही आचेलक्य धर्म चला आ रहा है, भगवान् वृषभदेव का उल्लेख वेदादि प्राचीनतम ग्रंथों में मिलता है, परन्तु ऐतिहासिक विद्वान् वहां तक पहुंच नहीं पाते हैं। तथापि ऐतिहासिक विद्वान जहां तक पहुंच सकते हैं, वहां तक के काल का परिशीलन करने पर भी आचेलक्य की परंपरा बहुत प्राचीन है, यह ज्ञात हुए बिना नहीं रह सकती।

अनेक राजावों के शासन काल में ये अचेलक साधु उन राज्यों में विहार करते थे। उनका बड़ा आदर होता था।

नंद साम्राज्य में, अचेलक साधुवों का परमादर था, चंद्रगुप्त मौर्य ने मुनि भद्रबाहु की सेवा की थी, सिकन्दर बादशाह ने दिगम्बर मुनि कल्याण कीर्तिका समादर किया था।

ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दि में यूनानी तत्ववेत्तावों से दिगम्बर मुनियों का शास्त्रार्थ हुआ था, ग्रीक व यवन प्रांतों में भी ये अचेलक साधु निर्भय होकर विहार करते थे, यह तत्कालीन इतिहास से ज्ञात होता है।

कलिंगाधिपति खारवेल के राज्य काल में तो अचेलक धर्म का बहुत ही उत्कर्ष हुआ था। इसी प्रकार गुप्तसाम्राज्य, चालुक्य, परमार आदि अनेक शासन काल में अचेलक साधुवों का आदर हुआ है।

गुजरात, मालवा आदि के शासक राष्ट्रकूट आदि राजवंशों ने भी अचेलक साधुवों का आदर किया है।

इसी प्रकार चंदेल, चौहान, कलचुरी आदि उत्तर भारत के राजवंशों में, दक्षिण भारतीय, गंग, पल्लव, चोल, राष्ट्रकूट, होयसल आदि अनेक राजवंशों में बहुत से प्रसिद्ध अचेलक साधु हुए एवं उन राजवंशों के द्वारा इन साधुवों का समादर भी हुआ।

इतिहास के पृष्ठों को पलटने पर भारत के सर्व प्रांतों में अचेलक साधुवों का निर्बाध विहार होता रहा, और सर्व प्रांतीय शासक व जनता ने उनका परमादर किया।

अतः सर्व दृष्टि से विचार करने पर अचेलक साधु परमोत्कृष्ट संत सिद्ध होते हैं।

इसलिए मोक्ष मार्ग में चलने वाले साधुवों के लिए शरीर, भोग, आदि से विरक्ति की दृढ़ता के लिए, निराकुल भाव से आत्म चिंतवन के लिए निरवद्य अचेलक मार्ग की प्राप्ति के लिए आचेलक्य को ग्रहण करना अत्यंत आवश्यक है। इसी का नाम निर्ग्रंथता है, निर्ग्रंथता को एक बार जो धारण करता है उसे अवश्य स्वर्ग या मोक्ष प्राप्त होता है यह समझना चाहिये, इसलिए—

पंचविह चेलाचायं खिदिसयणं दुविह संजमं भिक्खू,
भावं भाविय पुव्वं जिणलिंगं णिम्मलं सुद्धं ॥

आचार्य कुन्दकुन्द देव कहते हैं कि जिसमें अंडज, बोडज, रोमज, वल्कज एवं चर्मज वस्त्रों का परित्याग होकर भूशयन, द्विविध संयम की आराधना, आदि भावना की जाती है वही प्रशंसनीय जिनलिंग है। जिसको धारण करना ही आचेलक्य धर्म है।

### आचार्य शिवसागरजी महान् अचेलक थे—

परम पूज्य स्व० आचार्य शिवसागर महाराज उन अचेलकों में थे जिन्होंने सर्व अन्तर्बाह्य परिग्रहों का परित्याग कर आचेलक्य का आदर्श उपस्थित किया था। महान् शांत व सरल परिणामी शिष्यानुग्रह शक्त, तपोमूर्ति, ज्ञान ध्यान रत, सौम्य मूर्ति आचार्य श्री के दर्शन से साक्षात् मोक्ष मार्ग का साक्षात्कार होता था, कठोर से कठोर हृदय भी उस सौजन्य मूर्ति को देखने पर शान्त, प्रशान्त होता था। उनकी शीतल वाणी में वह मधुरता झरती थी कि एक बार अशान्त हृदय आश्वस्त होता था यह सब उनकी निर्विकारवृत्ति, अपरिग्रह व अचेलक प्रवृत्तिका ही फल है।

उनके परोक्ष चरणों में कोटि-कोटि श्रद्धाञ्जलि।



### ऐसा क्यों ?

जिनका भवितव्य दुर्दैव के द्वारा ग्रसित होने वाला है ऐसे जीवों के मुखारविन्द से ही भगवान के प्रति ऐसे अपशब्द निकल सकते हैं कि भगवान के दर्शन करना व वेश्या के दर्शन करना समान है। इस विषय में हम सोचें कि रबड़ी और छर्दी दोनों ही पौद्गलिक पदार्थ हैं, पर एक से हाथ लिप्त होता है तो चाट लेते हैं, और यदि दूसरे से लिप्त हो जाता है तो धोते फिरते हैं। ऐसा क्यों ?

# सल्लेखना

[ लेखकः—परम पूज्य १०८ आचार्यकल्प श्रुतनिधि श्री श्रुतसागरजी महाराज ]

सल्लेखना के विषय में मुख्यतः निम्नाङ्कित पाँच बातों पर विचार किया जाता है-सल्लेखना का क्या स्वरूप है ? उसे कब और क्यों धारण करना चाहिये तथा सल्लेखना का कितना काल है ? और इसके धारण करने से क्या लाभ है ?

## १. सल्लेखना का स्वरूपः—

सम्यक् प्रकार से काय और कषाय को कृश करने का नाम सल्लेखना है । आचार्यों ने सल्लेखना के लक्षण में कषाय के पहिले "काय" पद डाला है; क्योंकि जब तक काय ( शरीर ) के प्रति निर्ममत्वता नहीं आती, तब तक कषायों की कृशता पूर्वक आत्मा की पुष्टि अर्थात् आत्मा का कल्याण नहीं हो सकता । इसी बात को पूज्यपाद स्वामी कहते हैं कि:—

यज्जीवस्योपकाराय, तद्देहस्यापकारकम् ।
यद्देहस्योपकाराय,तज्जीवस्यापकारकम् ॥१९॥ इष्टो० ॥

जिस कार्य से आत्म कल्याण होता है, उससे शरीर को हानि पहुँचती है, और जिन विषय भोगादि के सेवन से शरीर पुष्ट होता है उससे आत्मा का अपकार होता है । अर्थात् आत्मा की दुर्गति होती है । इससे यह सिद्ध होता है कि आत्मार्थी को व्रत, उपवास एवं समीचीन तपश्चरण आदि के द्वारा काय कृश करना चाहिये । क्योंकि कायक्लेश की भावना के बिना जो आत्म साधना की जाती है वह परीषह उपसर्गादि शारीरिक कष्ट आने पर छूट सकती है, इसलिये सुखिया स्वभाव को छोड़ कर कष्ट सहिष्णु होना अति आवश्यक है । इसी को पूज्यपाद स्वामी कहते हैं कि:—

अदुःखभावितं ज्ञानं, क्षीयते दुःखसन्निधौ ।
तस्माद्यथाबलं दुःखैरात्मानं भावयेन्मुनिः ॥१०२॥ समाधि० ॥

शरीर को, सुखियापने से पोषण करते हुये त्यागी, साधु या ज्ञानी बनने वाले किसी भी प्रकार का शारीरिक कष्ट आ जाने पर विचलित हो जाते हैं । अतः शिवार्थी को शरीर का सुखिया स्वभाव छोड़कर और काय कृश करने का निरन्तर अभ्यास करना चाहिये । यह समीचीन प्रकार से की हुई काय और कषाय कृशता ही सल्लेखना में परम सहयोगी है ।

## २. सल्लेखना कब धारण करना चाहियेः—

मन्दाक्षत्वेऽतिवृद्धत्वे, चोपसर्गे व्रतक्षये ।
दुर्भिक्षे तीव्ररोगे चासाध्ये कायबलात्यये ॥



भाद्रपद शुक्ला ३
सं० २०२९ को
अजमेर में
आचार्यकल्प
पूज्य १०८ श्री
श्रुतसागरजी
महाराज को
आहार कराते हुए
सपत्नीक
श्री रा० सा० सेठ
चांदमलजी पांड्या



आहारोपरांत आचार्यकल्प
१०८ श्री श्रुतसागरजी
महाराज एवं १०८
श्री सन्मतिसागरजी
महाराज के चरणों
में श्रद्धावनत सपत्नीक
श्री राय सा० सेठ
चांदमलजी पांड्या





पू० आचार्यकल्प श्री १०८ श्रुतसागरजी महाराज को आहार के पश्चात् गाजे बाजे मे पहुँचाते हुए श्री रा० सा० चांदमलजी पांड्या आदि



श्री दिगम्बर जैन समाज अजमेर की ओर से समर्पित मानपत्र के प्रति आभार प्रगट करते हुए श्री रा० सा० चांदमलजी पांड्या

धर्मध्यान-तनूत्सर्ग, हीयमानादिके सति ।
सन्यास विधिना दक्षै मृ‍र्त्यु: साध्यः शिवाप्तये ॥

इन्द्रियों की शक्ति मन्द हो जाने पर, अतिवृद्धपना एवं उपसर्ग आने पर, व्रतक्षय की सम्भावना होने पर, दुर्भिक्ष पड़ने पर, असाध्य रोग आ जाने पर, शारीरिक बल क्षीण होने पर तथा धर्म ध्यान और कायोत्सर्ग करने की शक्ति हीन हो जाने पर सल्लेखना अङ्गीकार करें। इनमें उपसर्ग आदि कुछ कारण ऐसे हैं कि जिनके उपस्थित होने पर तत्काल सल्लेखना धारण की जाती है, किन्तु इन्द्रियों की क्षीणता एवं अतिवृद्धता आदि कुछ कारण ऐसे हैं कि जिनका आभास होने पर श्रमण ज्योतिष शास्त्र, जातक शास्त्र, निमित्त शास्त्र एवं कला शास्त्र आदि से तथा ग्रहों के उपचय एवं ग्रह बलों की क्षीणतादि निमित्त विशेषों से "मेरी आयु १२ वर्ष पर्यन्त की या उससे कम रह गई है" ऐसा भान हो जाने पर संघस्थ सभी साधु एवं साध्वियों को जिनमें हीन ज्ञान वाले, वृद्ध, बाल, रोगी, निरोगी, ज्ञानी, ध्यानी एवं तपस्वी आदि सभी हैं उन्हें एवं जो संघ संचालन करने में दक्ष हैं, गम्भीर एवं प्रौढ़ हैं, बहुत काल के दीक्षित होने से अनुभवी हैं। तथा गुरु की सानिध्यता से जिन्होंने चारित्र के संरक्षण की कुशलता प्राप्त करली है। जो मद एवं पक्षपात आदि अवगुणों से रहित तथा वात्सल्य आदि गुणों से सहित हैं ऐसे भावी आचार्य को बुलाकर अपने अमृत रस से भरे हुये सुमधुर उपदेश द्वारा सर्व प्रथम परस्पर के मनोमालिन्य को दूर करते हैं। तत्पश्चात् गुरु वियोग से उत्पन्न संक्लेश का शमन कर नवीन आचार्य को समस्त संघ का उत्तरदायित्व सौंप कर अनियत विहार करते हुये उत्तम क्षेत्र में उत्तम गुणों से युक्त निर्यापकाचार्य के समीप जहाँ परिचर्या करने वाले ४८, २४, १६, ८, ४ या कम से कम दो श्रमण अवश्य हों उनके निकट जाकर सल्लेखना धारण करता है।

### ३. सल्लेखना क्यों ली जाती है:—

मोक्षार्थी श्रमण सोचता है कि जिस समय मैंने जैनेश्वरी दीक्षा धारण की थी उस समय यह प्रतिज्ञा की थी कि संयम के साधन भूत इस शरीर को मैं आहार तभी तक दूंगा जब तक यह चर्या के लिये स्वयं बिना किसी सहारे के गमन करेगा, आहार करते समय स्वयं निरालम्ब खड़ा रह सकेगा, अञ्जुलिपुट में आये हुये आहार को स्वयं ग्रहण कर सकेगा, नेत्रों से स्वयं आहारादि का शोधन कर सकेगा, तथा कर्णपुटों से नवधा भक्ति आदि क्रिया सम्बन्धी वचनों का श्रवण कर सकेगा। किन्तु जब इसका जङ्घाबल क्षीण हो जावेगा, अञ्जुलि पुट में आये हुये आहार को स्वयं मुख तक न ले जा सकेगा, अथवा छोटित आदि दोष विशेष ( आहार का बहुभाग नीचे गिरना ) लगने लगेंगे; नेत्रादि इन्द्रियाँ भी अपने शोधनादि कार्यों में असमर्थ हो जावेगी तब मैं इसे आहार नहीं दूंगा। कारण कि लोक में भी किसी मनुष्य को कार्य पर रखते हैं, तो जब वह पूरे एक माह कार्य कर चुकता है, तब वेतन माँगता है, किन्तु यह नोकर्म वर्गणावों का पिण्ड कितना स्वार्थी है कि षड्रस व्यञ्जन एवं चतुर्विध आहार आदि के द्वारा जीवन भर इसकी सेवा की है और अभी भी प्रतिदिन ( यथायोग्य ) कर रहा हूँ फिर भी

यह अपना कार्य पूरा नहीं करता। अतः इस कृतघ्नी की अब मैं भी उपेक्षा करता हूँ। ऐसा दृढ़ संकल्प करने वाला श्रमण इस नश्वर देह से निर्मोही होकर सल्लेखना धारण कर लेता है।

४. सल्लेखना का काल:—

काय सल्लेखना को बाह्य सल्लेखना भी कहते हैं। इसका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त, मध्यम काल अनेक भेद वाला और उत्कृष्ट काल बारह ( १२ ) वर्ष प्रमाण है। इस उत्कृष्ट काल के विषय में—

उक्कस्सएण भत्तपइण्णाकालो जिणेहिं णिद्दिट्ठो।
कालम्मि संपहुत्ते, बारस वरिसाणि पुण्णाणि ॥२५२॥ आश्वास ३।

शिवकोटि आचार्य कहते हैं कि भक्तप्रत्याख्यान का उत्कृष्ट काल १२ वर्ष प्रमाण है। ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है। "जिणेहिं णिद्दिट्ठो" पद इस बात का निर्णायक है कि यह उत्कृष्ट काल का प्रमाण सर्वज्ञ प्रतिपादित है, मात्र छद्मस्थों द्वारा नहीं।

इस बारह वर्ष प्रमाण काल में सल्लेखना का कर्तव्य क्रम कैसा होता है? उसे आचार्य दो गाथाओं द्वारा कहते हैं:—

जोगेहिं विचित्तेहिं दु खवेइ संवच्छराणि चत्तारि।
वियडी णिज्जूहित्ता चत्तारि पुणो वि सोसेदि ॥२५३॥
आयंबिलणिव्वियडीहिं, दोण्णि आयंबिलेण एक्कं च।
अद्धं णादिविगट्ठेहिं अदो अद्धं विगट्ठेहिं ॥२५४॥ आश्वास ३।

क्षपक अनेक प्रकार के काय क्लेशों द्वारा चार वर्ष, दूध दही घी गुड़ आदि रसत्याग द्वारा पुनः चार वर्ष, आचाम्ल और निर्विकृति द्वारा दो वर्ष, मात्र आचाम्ल भोजन द्वारा एक वर्ष, मध्यम तप द्वारा ६ माह और उत्कृष्ट तप द्वारा अन्तिम ६ माह व्यतीत करता हुआ शरीर को कृश करता है।

इस काय सल्लेखना के विषय में वीरनन्दी आचार्य कहते हैं कि—

कर्तव्या विदुषा तपोक्तविधिभिर्बाह्यैस्तपः प्रक्रमै—
राचार्योऽनुमतैः समाधिफलदैरेषाङ्गसल्लेखना ॥६॥ अध्याय १० ॥

शास्त्रों में लिखी हुई विधि के अनुसार ध्यान रूपी उत्तम फल को देने वाले और आचार्यों की अनुमति [illegible] बाह्य तपश्चरणों को धारण कर उन विद्वान मुनियों को सल्लेखना धारण करना चाहिये।

कषाय सल्लेखना:—अनादि काल से जीव इन कषायों के चक्र में फँसा हुआ है। इन्हें नष्ट करना [illegible] क्योंकि [illegible] इन्हें नष्ट करने के लिये [illegible] क्रोध, बैर, मोह और परिग्रह को छोड़कर शुद्धमना होता हुआ क्षमादि गुणों का [illegible]। इस प्रकार कषाय सल्लेखना की अग्नि इस जीव को तभी हो सकती है जब यह आत्म

रौद्र ध्यानों का बुद्धि पूर्वक त्याग कर धर्म ध्यान में संलग्न होते हुये आत्म स्थिरता को बढ़ावे, जिससे कषायें मन्द होती जावें। इस विषय में वीरनन्दी आचार्य आचारसार में कहते हैं कि—"सद्ध्यानप्रकरैः कषायविषया सल्लेखना श्रेयसी" कषायों का कृश करना है लक्षण जिसका ऐसी यह उत्तम कषाय सल्लेखना उत्तम ध्यान के समूह से होती है। कषायों की कृशता परिणामों की निर्मलता में कारण है। इतना ही नहीं किन्तु सम्पूर्ण कषायों की कृशता मोक्ष प्रदान करने वाली है। अतः वीरनन्दी आचार्य पुनः कहते हैं कि:—

दीक्षामादाय शिक्षामथ गणधरतां रक्षणार्थं गणस्य,
संस्कारं स्वस्य भावैः शमदम विभवैर्योऽत्र सल्लेखनां च।
क्रोधादीनां विधाय प्रथित पृथुयशाः साधयेदुत्तमार्थं,
सः स्यात्सद्भव्यसस्योत्पलनिकरमुदे मेघचन्द्रो मुनीन्द्रः ॥६२॥ अ. १०।

## ५. सल्लेखना से लाभः—

उत्कृष्ट आराधना धारक महाश्रमण तो ( कम्मरयविप्पमुक्का तेणेव भवेण सिज्झन्ति ) उसी भव से मुक्ति प्राप्त करते हैं। मध्यम सल्लेखना धारी महामनाः तीन भवों में और जघन्य आराधक "सत्तमजम्मेण सिज्झन्ति"—अर्थात् सप्तम भव में मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। इन मध्यम एवं जघन्य संयमियों के लिये सल्लेखना उसी प्रकार कार्यकारी है जिस प्रकार विदेश गमन करने वाले पथिक को कटोरदान ( टिफिन केरियर ) अर्थात् यह सल्लेखना मोक्ष के पहिले लोक के सम्पूर्ण सारपद अर्थात् देवेन्द्रादि के सर्व अभ्युदय सुखों को प्रदान करने वाली है। जैसा कि भगवती आराधना में कहा है कि—

किं जंपियेण बहुणा, जो सारो केवलस्य लोगस्य।
तं अचिरेण लहन्ते, फासित्ताराहणं णिखिलं ॥

भगवती आराधना में गाथा नं० १९९७ से २००५ अर्थात् ९ गाथाओं द्वारा सल्लेखना के कर्त्ता, कारयिता, अनुमोदक और दर्शकों की भी भूरि भूरि प्रशंसा की गई है, किन्तु खेद है कि आज कितने ही प्राणी अपने प्रचार व प्रख्याति के लिये इस मोक्ष प्रदायिनी सल्लेखना की आत्म घात से तुलना कर अपनी संसार सन्तति की वृद्धि करते हैं। जिसमें कषाय का तीव्र आवेश है, मिथ्यात्व जिसका जनक है, अज्ञानता रूपी तम से जो आच्छादित है, शस्त्र प्रयोग, विष भक्षण, अग्नि एवं जल प्रवेश आदि जिसके साधन हैं, तथा नरक निगोदादि जिसके फल हैं ऐसे आत्मघात से जो सल्लेखना की तुलना करते हैं वे त्रैलोक्य पूज्य सल्लेखना के अवर्णवाद द्वारा मानों सर्वज्ञ और सर्वज्ञ की वाणी का ही अवर्णवाद करते हैं।

※

# सल्लेखना आत्म घात नहीं अपितु वीर मरण है

[ लेखक:—श्री १०८ वर्धमानसागरजी महाराज, संघस्थ-आचार्य धर्मसागरजी महाराज ]

अनादि काल से इस चतुर्गत्यात्मक भव समुद्र में परिभ्रमण करता हुआ यह जीव जन्म मरण और जरारूप संतापत्रय से संतापित होता हुआ अनंत असह्य दुःखों का अनुभव करके मृगमरीचिका-जलवत् प्रतिभासमान पंचेन्द्रिय के विषयों में अनुरक्त होता हुआ तृष्णातुर मृग के समान इतस्ततः दौड़ता हुआ ( परिभ्रमण करता हुआ ) मरण को प्राप्त हो जाता है। संसार चक्र में परिभ्रमण करते हुए इस जीव को समुद्र में खोये हुये रत्न के समान मानव जन्म की प्राप्ति दुर्लभ है, यदि मानव जन्म प्राप्त हो भी जावे तो उसमें भी रत्नत्रयाराधना करने योग्य उच्च कुल की प्राप्ति होना और भी अधिक दुर्लभ है। उच्च कुल की प्राप्ति यदि पूर्व जन्म में उपार्जित पुण्य कर्म के उदय से हो भी जाय तो रत्नत्रयरूप चारित्र की ओर झुकाव होना अत्यन्त दुर्लभ है। इस प्रकार की विषम परिस्थिति में मोहान्ध कूप में पतित कतिपय जीवों के ही हिताहित का विवेक प्रादुर्भूत होता है और उस विवेक से ही इस दुःखमय संसार में शाश्वत शांति-सुख के मार्ग को खोजते हुये सत्समागम प्राप्त होने पर सद्गुरु के उपदेश से सर्वज्ञ द्वारा प्रणीत रत्नत्रयाराधनारूप सद्धर्म में श्रद्धावान होते हैं।

निश्चय से विषय भोगों के त्याग से ही भव्यात्मा निरुपाधिक निरवधिक अनन्त सुख को प्राप्त होता है। भोगासक्ति के नाश के बिना आत्मा के गुणों का विकास नहीं होता अतः आत्मिक गुणों के विकास के लिए भोगों से विपरीतता रखने वाले संयम धर्म का पालन करना अत्यावश्यक है। क्योंकि संयम पालन करने से ही मन की शुद्धि और एकाग्रता होती है और मन की एकाग्रता से ही इच्छित फल [ कर्म निर्जरा पूर्वक मोक्ष सुख ] की प्राप्ति होती है। इसलिये सकलचारित्र अथवा देशचारित्र धारण करके उसका निरतिचार परिपालन करना चाहिये।

जैनशास्त्र में अनुष्ठित व्रतों की पूर्णता-सफलता समाधि मरण से ही होती है। आचार्यों ने व्रत का फल सल्लेखना-समाधि मरण ही कहा है अतः अंत में सल्लेखना धारण करना ही श्रेयस्कर है।

व्याकरण-शास्त्रों में लेखना शब्द का अर्थ कृश करना है। "सम्यक् प्रकारेण लेखना-कृशीकरणं सल्लेखना" सम्यक् प्रकार से शरीर और कषायों को कृश करना सल्लेखना कहलाती है। सल्लेखना बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार की है। बाह्य सल्लेखना में शरीर कृश किया जाता है तथा आभ्यन्तर सल्लेखना में कषायों को कृश किया जाता है। कहा भी है—

सल्लेहणाय दुविहा, अब्भन्तरिया य बाहिरा चेव।
अब्भन्तरा कसाएसु बाहिरा होइहु सरीरे ॥

**समाधिमरण–सल्लेखना कब धारण करना चाहिये—**

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे ।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः ।।

उपसर्ग आ जाने पर, दुर्भिक्ष पड़ने पर, बुढ़ापा आ जाने पर और जिसका प्रतिकार न हो सके ऐसे रोग के हो जाने पर धर्म के लिए शरीर का त्याग करना सल्लेखना है। अर्थात् इन कारणों के उपस्थित हो जाने पर सल्लेखना धारण की जाती है।

अन्यत्र भी कहा है—

प्रतिदिवसं विजहद्बलमुज्झद् भुक्तिं त्यजत्प्रतिकारम् ।
वपुरेव नृणां निगदति चरम चरित्रोदयं समयम् ।।

"जिसका वल प्रतिदिन क्षीण हो रहा है, भोजन उत्तरोत्तर घट रहा हो, और रोगादिक के प्रतिकार करने की शक्ति नष्ट हो गई हो, वह शरीर विवेकवान व्यक्तियों को समाधिमरण धारण करने की ओर संकेत करता है।"

**सल्लेखना के भेद—**

भत्तपइण्णाइंगिणिपाउग्गविधीहिं चत्तमिदि तिविहं ।
भत्तपइण्णा तिविहा जहण्णमज्झिमवरा य तहा ।।
भत्तपइण्णाइविहि जहण्णमंतोमुहुत्तयं होदि ।
बारसवरिसा जेट्ठा तम्मज्झे होदिमज्झिमया ।।

भक्तप्रतिज्ञा, इंगिनी और प्रायोपगमन के भेद से सल्लेखना तीन प्रकार की है। भक्त प्रत्याख्यान के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट ऐसे तीन भेद हैं।

जघन्य भक्तप्रत्याख्यान का काल अंतर्मुहूर्त, उत्कृष्ट भक्तप्रत्याख्यान का काल १२ वर्ष एवं मध्यम भक्त प्रत्याख्यान का काल उत्कृष्ट और जघन्य काल के मध्य का समय है।

भक्त प्रत्याख्यान संन्यास विधि में स्व और पर दोनों से वैयावृत्त्य की अपेक्षा रहती है। इंगिनीमरण में मात्र स्वयं के द्वारा ही वैयावृत्त्य ( टहल ) की जाती है पर की अपेक्षा नहीं रहती तथा प्रायोपगमनसन्यासविधि में अत्यन्त असह्य पीड़ा होने पर भी वैयावृत्यादिक में स्वपर दोनों की अपेक्षा नहीं होती है। इस कलिकाल में संहनन हीन होने से केवल भक्तप्रत्याख्यान संन्यास विधि ही होती है अवशिष्ट दो विधि नहीं होती हैं।

भक्तप्रत्याख्यान सन्यास विधि के उत्कृष्ट काल ( १२ वर्ष ) में सल्लेखना के अभ्यास की विधि—

विचित्रैः सल्लिखत्यंगं योगवर्षचतुष्टयं ।
समस्तरसमोक्षेण परवर्षचतुष्टयं ।।
आचाम्लरसहानिभ्यां वर्षे द्वे नयते यतिः ।
आचाम्लेन विशुद्धेन वर्षमेक महामनाः ।।
षण्णमासीमपकृष्टेन प्रकृतेन समाधये ।
षण्मासीं नयते धीरः कायक्लेशेन शुद्धधीः ।।

अनेक प्रकार के कायक्लेशों द्वारा संन्यास विधि करने वाला क्षपक मुनि प्रथम चार वर्ष व्यतीत करता है। अर्थात् प्रथम चार वर्षों में विविध प्रकार से कायक्लेशादि करता है। अनन्तर अगले चार वर्षों में षट्‌रस का त्याग करके पुनः शरीर को कृश करता है। आगे के दो वर्षों को आचाम्ल ( कांजी का ) भोजन एवं भोजन में स्वाद देने वाले साग चटनी आदि विकृत पदार्थों से रहित भोजन करके व्यतीत करता है। तदनन्तर मात्र आचाम्ल भोजन करके एक वर्ष व्यतीत करता है। अंतिम १ वर्ष में ६ माह तक मध्यम तप के द्वारा शरीर को क्षीण करता है और अंत के ६ माह में उत्कृष्ट तप के द्वारा शरीर को कृश करता हुआ वह क्षपक मुनि अपनी आयु के अंतिम १२ वर्षों में सल्लेखना करता है।

इस प्रकार उपर्युक्त विधि से तो मात्र बाह्य ( शरीर की ) सल्लेखना होती है। बाह्य सल्लेखना के साथ अविनाभाव संबन्ध रखने वाली आभ्यन्तर ( कषायों की ) सल्लेखना की विधि भी कही जाती है क्योंकि शरीर के साथ कषायों को कृश करने से सल्लेखना होती है मात्र शरीर कृश करने से नहीं।

कहा भी है—

भावशुद्धया विनोत्कृष्टमपि ये कुर्वते तपः ।
बहिर्लेश्या न सा तेषां शुद्धिर्भवति केवला ।।

"जिनके परिणामों की निर्मलता नहीं है, वे साधु यद्यपि उत्कृष्ट तप को करते हैं किन्तु ख्याति, लाभ, पूजा की इच्छा से ही वे तप करते हैं ऐसा समझना चाहिये इसीलिये उनके परिणामों की शुद्धि नहीं होती है। जब ख्याति लाभ पूजा की इच्छा से रहित होकर मुनि उत्कृष्ट तप करते हैं तभी उनके परिणामों में निर्मलता वृद्धिगत होती है।

कषायाकुलचित्तस्य भावशुद्धिः कुतस्तनी ।
ततस्तासो विधातव्या कषायाणां तनूकृतिः ।।
जेतव्यः क्षमया क्रोधो मानो मार्दवसंपदा ।
आर्जवेन सदा माया लोभः संतोषयोगतः ।।

कषायों से [illegible] ( [illegible] ) जिसका चित्त आकुलित हुआ है वह परिणामों की विशुद्धि से दूर है और जिसके परिणामों में [illegible] है वह कषाय सल्लेखना [illegible] सकता है

इसलिये परिणाम विशुद्धि को आचार्यों ने सल्लेखना कहा है इन दोनों में अविनाभाव संबन्ध है। जहां परिणामों की विशुद्धि है वहां कषाय सल्लेखना है और जहां कषाय सल्लेखना है वहां परिणामों की विशुद्धि है।

क्षपक मुनि को क्षमा रूपी परिणामों से क्रोध को, मार्दव गुण से मान कषाय को, आर्जव गुण से माया को और सतोष गुण के द्वारा लोभ कषाय को जीतना चाहिये।

इस प्रकार सल्लेखना को पूर्ण सिद्धि के लिए उपर्युक्त क्रम से उपवासादि के द्वारा शरीर को कृश करने के साथ-साथ कषायों को भी कृश करना चाहिये तभी पूर्ण रूप से समाधिमरण की सार्थकता है।

## "समाधिमरण आत्मघात नहीं है"

आगम ज्ञान से अनभिज्ञ कुछ भोले प्राणी समाधिमरण को आत्मघात कहते हैं किन्तु समाधिमरण आत्मघात नहीं अपितु वीरमरण है।

जिस प्रकार शत्रु सेना के सामने सेना में गये हुए वीर सैनिक के दो ही विकल्प होते हैं एक तो शत्रु के सामने सोना तानकर खड़े हो जाना और दूसरा पोठ दिखाकर प्राण बचाने के लिए युद्ध क्षेत्र छोड़कर भाग जाना। किन्तु जो सच्चे देश भक्त वीर सैनिक होते हैं वे मात्र प्रथम विकल्प सीना तानकर खड़े हो जाने रूप विकल्प को ही स्वीकार करते हैं और युद्ध में लड़ते लड़ते वीरगति को प्राप्त होते हैं। उनके भी यश:प्राप्ति के उद्देश्य से होने वाली कषाय का उदय रहता है। ठीक उसी प्रकार व्रती गृहस्थ अथवा संयमी मुनिराज को उपसर्ग, जरा, जंघाबल आदि का अभाव, आंखों की दृष्टि क्षीण होना आदि संयम के बाधक कारण अथवा संयम धर्म के शत्रुकारण उपस्थित होने पर उन मुनिराज अथवा गृहस्थ के सामने भी व्रत संयमादि की रक्षा करने रूप अथवा इस नश्वर शरीर की रक्षा करने रूप ये दो ही विकल्प होते हैं। किन्तु आगमभक्त महापुरुषों को शरीर नष्ट करते हुए भी व्रतसंयमादि की रक्षा करना ही इष्ट रहता है और वे समाधिमरण-वीरमरण पूर्वक विशुद्ध परिणामों से इस नश्वर शरीर को तपश्चरण रूपी अग्नि में जलाकर वीरगति को प्राप्त होते हैं किन्तु यहां ख्याति लाभ पूजा आदर आदि की प्राप्ति का उद्देश्य नहीं रहता है अत: परिणामों की विशुद्धिपूर्वक-कषायों की हीनता पूर्वक होने वाले इस वीरमरण-समाधिमरण को आत्मघात कदापि नहीं कहा जा सकता है। कहा भी है—

न चात्मघातोऽस्ति वृष-क्षतौ वपुरुपेक्षित: ।
कषायावेशत: प्राणान् विषाद्यै हिंसत: स हि ।।

इस श्लोक में स्पष्ट रूप से कहा है कि कषायावेश से, शस्त्रघात, कूपपात, विषभक्षण, अग्नि प्रवेशादि के द्वारा जो प्राणों का घात किया जाता है वही आत्मघात है किन्तु समाधिमरण में ऐसा नहीं होता इसलिये समाधिमरण को आत्मघात नहीं कहा जा सकता है।

अन्यत्र पुरुषार्थ सिद्धयुपाय में भी कहा है—

यो हि कषायाविष्टः कुम्भकजलधूमकेतुविषशस्त्रैः ।
व्यपरोपयति प्राणान् तस्य स्यात्सत्यमात्मवधः ॥
मरणेऽवश्यं भाविनि कषायसल्लेखनातनूकरणमात्रे ।
रागादिमन्तरेण व्याप्रियमाणस्य नात्मघातोऽस्ति ॥

इस प्रकार कषाय एवं शरीरसल्लेखना पूर्वक विधिवत् समाधिमरण करनेवाला आत्मघात का दोषी नहीं होता और वह शीघ्र अभ्युदयपूर्वक मोक्ष सुखको प्राप्त होता है। आचार्यों ने तो यहां तक कहा है कि एक बार सम्यक्प्रकारेण समाधिमरण करने वाला जीव नियम से ७ भव के भीतर मोक्ष को प्राप्त करता है। आचार्यों के इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि समाधिमरण करने वाले जीव के लिए मोक्ष की रजिस्ट्री हो जाती है। कहा भी है—

निःश्रेयसमभ्युदयं निस्तीरं दुस्तरं सुखाम्बुनिधिम् ।
निःपिबति पीतधर्मा सर्वैर्दुःखैरनालीढः ॥

अर्थात् सल्लेखना व्रतधारी धर्मरूपी अमृत का पान करके सब दुःखों से रहित होकर अनंत सुख सागर स्वरूप मोक्ष को भी प्राप्त करता है। अतः प्रत्येक मुमुक्षु जीव को समाधिमरण अवश्य ही धारण करना चाहिये क्योंकि—

अंत क्रियाधिकरणं तपःफलं सकलदर्शिनः स्तुवते ।
तस्माद्यावद्विभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यम् ॥

अंत में समाधिमरण ही तप का फल है, इस प्रकार सर्वज्ञ भगवान ने कहा है। यद्यपि तप का फल स्वर्गादिक है फिर भी समाधिमरण के बिना तपश्चरण व्यर्थ है। जिस प्रकार स्वर्ण कलश के बिना मंदिर की शोभा नहीं होती उसी प्रकार दीर्घकाल में अनुष्ठित व्रतों की पूर्णता समाधिमरण से ही होती है अतः समाधिमरण की साधना के लिये अवश्य प्रयत्न करना चाहिये।



[illegible]

# प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना

[ लेखकः—श्री प्रकाशचन्द्रजी जैन, सागर ]

जिस प्रकार उज्ज्वल वस्त्र पहिनने वाला मनुष्य सदा इस बात का ध्यान रखता है कि यह मलिन न हो जावे और कदाचित् मलिन हो भी जाता है तो शीघ्र ही धोकर निर्मल बनाने का प्रयास करता है इसी प्रकार चारित्र को धारण करने वाला श्रमण सदा इस बात का ध्यान रखता है कि यह मलिन न हो जावे—सदोष आचरण से दूषित न हो जावे और कदाचित् मलिन होता भी है—प्रमाद या अज्ञानवश दोष लगने से दूषित होता भी है तो उसे शीघ्र ही दूर कर निर्दोष बनाने का ध्यान रखता है तात्पर्य यह है कि गृहीत चारित्र में आने वाले दोषों के निराकरण करने की जो प्रक्रिया है उसे प्रतिक्रमण कहते हैं।

प्रतिक्रमण की वास्तविकता, वचन रचना को छोड़कर शुद्ध आत्म स्वरूप के चिन्तन से प्राप्त होती है। नियमसार में श्री कुन्दकुन्द देव ने कहा है—

> मोत्तूणवयणरयणं रागादीभाववारणं किच्चा।
> अप्पाणं जो झायदि तस्स दु होदित्ति पडिकमणं ॥८३॥

जो वचन रचना को छोड़कर तथा रागादि भावों का निवारण कर आत्मा का ध्यान करता है उसके प्रतिक्रमण होता है।

जो आत्मा के वीतराग ज्ञायक स्वभाव की ओर निरन्तर दृष्टि रखता है वही रागादि भावों को दूर करने का प्रयास तत्परता से करता है और जिसको यह भान ही नहीं कि आत्मा का वास्तविक स्वरूप क्या है, मात्र वर्तमान में विद्यमान विभाव परिणति रूप ही आत्मा को जो मानता है वह उस परिणति को दूर करने का प्रयास क्यों करेगा ?

जो साधु विराधना को छोड़कर विशेष रूप से आराधना में प्रवर्तता है तथा जो अनाचार को छोड़ कर आचार में स्थिर भाव करता है वह प्रतिक्रमण कहा जाता है क्योंकि वह स्वयं प्रतिक्रमण से तन्मय होता है। इसी प्रकार जो उन्मार्ग को छोड़ कर सुमार्ग में स्थिर होता है, शल्य को छोड़ कर निःशल्य भाव रूप परिणमन करता है, अगुप्ति को छोड़ त्रिगुप्तियों से गुप्त होता है, आर्त्त रौद्र नामक कुत्सित ध्यानों का परित्याग कर धर्म और शुक्लध्यान को स्वीकृत करता है, मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र का त्याग कर सम्पूर्ण रूप से सम्यक्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की भावना करता है, तथा सदा ऐसी भावना रखता है कि अहो ! इस जीव ने सुदीर्घ काल से मिथ्यात्व आदि भावों की ही भावना की है सम्यक्त्व आदि भावों की कभी भावना नहीं की, वही साधु प्रतिक्रमण करने का अधिकारी है। परमार्थ से ध्यान में लीन हुआ साधु ही समस्त दोषों का परित्याग करता है इसलिये ध्यान ही समस्त दोषों का प्रतिक्रमण है।

इस तरह प्रतिक्रमण के हार्द का स्मरण रखता हुआ जो साधु चरणानुयोग में प्रतिपादित व्यवहार प्रतिक्रमण का आश्रय लेता है उसीका प्रतिक्रमण करना सार्थक होता है मात्र 'मिथ्या मे दुष्कृतं भवतु' पाठ पढ़ देने से प्रतिक्रमण की सार्थकता नहीं दिखती।

**प्रत्याख्यान—**

प्रत्याख्यान का अर्थ त्याग है। आत्मा से अतिरिक्त अन्य पदार्थों का तथा अन्य पदार्थों के निमित्त से होने वाले रागादिक विकारी भावों का जो त्याग करता है उसी के परमार्थ प्रत्याख्यान होता है। जो साधु समस्त वाग्जाल को छोड़कर तथा आगे आने वाले शुभ अशुभ भावों का निवारण कर आत्मा का ध्यान करता है वही प्रत्याख्यान करता है। जो केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्त सुख और अनन्त बलरूप अरहन्त हैं उसी रूप मैं हूं। जो निज भाव को कभी छोड़ता नहीं है, पर भाव को कभी ग्रहण करता नहीं है तथा सबको जानता देखता है वही आत्म द्रव्य मैं हूं। मैं ममता भाव को छोड़ता हूं, निर्ममता भाव को प्राप्त होता हूं। मेरे लिये तो एक आत्मा का ही आलम्बन है, शेष अन्य पदार्थों का मैं त्याग करता हूं। ज्ञान दर्शन लक्षण वाला एक आत्मा ही मेरा है और कर्म-नोकर्म के संयोग से होने वाले अन्य सब भाव मुझसे बाह्य हैं। मेरा समस्त प्राणियों से साम्य भाव है, मेरा किसी के साथ वैर भाव नहीं है, मैं आशा का परित्याग कर समाधि को प्राप्त होता हूं। .......इत्यादि विचारों की सन्तति, इस जीव को परमार्थ प्रत्याख्यान का अधिकारी बनाती है।

प्रत्याख्यान किसके होता है ? इसकी विस्तार से चर्चा करने के बाद कुन्दकुन्दाचार्य एक अनुष्टुप् द्वारा बहुत महत्त्व पूर्ण बात कहते हैं—

णिक्कसायस्स दंतस्स सूरस्स ववसायिणो ।
संसारभयभीदस्स पच्चक्खाणं सुहं हवे ॥१०५॥

जो कषाय रहित है, जितेन्द्रिय है, शूरवीर है, उद्यम सहित है और संसार से भयभीत है उसी साधु का प्रत्याख्यान सुख रूप होता है।

व्यवहार की दृष्टि से निश्चित समय के लिये अथवा यम सल्लेखना की अपेक्षा जीवन पर्यन्त के लिये आहार आदि का त्याग करना प्रत्याख्यान कहलाता है। अथवा अपराध होने पर साधु उसकी निन्दा, गर्हा और [illegible] प्रतिक्रमण करता है तथा आगामी काल के लिये उसका त्याग करता है [illegible] प्रत्याख्यान नाम से प्रसिद्ध है। [illegible] परमार्थ और व्यवहार- [illegible] प्रत्याख्यान के [illegible] चारित्र की [illegible] करता है।

## आलोचना—

[1]कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है कि जो कर्म और नोकर्म से रहित तथा विभाव गुण पर्यायों से भिन्न आत्मा का ध्यान करता है उसी श्रमण के आलोचना होती है। उन्हीं कुन्दकुन्द देव ने नियमसार ( गा० १०८ ) में आलोचना के चार रूप निर्धारित किये हैं।

> आलोयण मालुञ्छण वियडीकरणं च भावसुद्धी य।
> चउविहमिह परिकहियं आलोयणलक्खणं समये।।

आलोचन, आलुञ्छन, अविकृतिकरण और भावशुद्धि–ये चार प्रकार के आलोचना के लक्षण आगम में कहे हैं। परिणाम को समभावमें स्थित कर जो अपने आत्मा को देखता है उसको ज्ञायक स्वभाव का अनुभव करता है उसकी इस क्रिया को आलोचना कहते हैं। कर्मरूपी वृक्ष की जड़ काटने में समर्थ आत्मा का जो स्वाधीन समभाव रूप परिणाम है उसे आलुञ्छन कहते हैं। जो कर्म से भिन्न, निर्मल गुणों के स्थान स्वरूप आत्मा की मध्यस्थ भाव से भावना करता है उसकी उस क्रिया को अविकृति करण जानना चाहिये। तथा मद मान माया और लोभ से रहित आत्मा का जो भाव है उसे भाव शुद्धि कहते हैं।

तात्पर्य यह है कि ऐसा विचार करना चाहिये कि मैं कर्म–नोकर्म से रहित ज्ञानदर्शन लक्षण वाला शुद्धात्मद्रव्य हूं। ऐसा विचार करने से आत्मा निज स्वभाव को ग्रहण करता है। यतश्च पर के संपर्क से रागादि भावों की उत्पत्ति होती है। अतः पर का परित्याग कर आत्मभाव का अस्तित्व सदा ध्यान में रखना चाहिये। यह परमार्थ आलोचना का स्वरूप है।

इस शुद्धनयात्मक आलोचना की प्रशंसा करते हुए पद्मप्रभमलधारीदेव ने नियमसार में कहा है—

> आलोचना सततशुद्धनयात्मिका या
> निर्मुक्तमार्गफलदा यमिनामजस्रम्।
> शुद्धात्मतत्वनियता चरणानुरूपा
> स्यात्संयतस्य मम सा किल कामधेनुः।।१७२।।

संयमियों को सदा मोक्षमार्ग का फल देने वाली तथा शुद्ध आत्मतत्व में नियत आचरण के अनुरूप जो निरन्तर शुद्धनयात्मक आलोचना है वह मुझ संयमी के लिये वास्तव में कामधेनु-रूप हो।

---

१ णोकम्म कम्मरहियं विहावगुणपज्जएहिं वदिरित्तं।
अप्पाणं जो झायदि समणस्सा लोयणं होदि ॥ १०७ ॥ नि० सा०

व्यवहार नय के अनुसार आलोचना का स्वरूप यह है । अपराध हो जाने पर निश्छल भाव से उसे गुरु के सामने प्रकट करना और उनके द्वारा दिये हुए प्रायश्चित्त को धारण करना सो आलोचना है । जिस प्रकार आरोग्य लाभ की इच्छा रखने वाला रोगी पुरुष अपने रोग का विवरण स्पष्ट रूप से वैद्य के सामने प्रस्तुत करता है और वैद्य के द्वारा बतायी हुई औषधि का सेवन करता है उसी प्रकार अपराधी साधु निर्विकार शुद्ध परिणतिरूप सम्यक्चारित्र की इच्छा रखता हुआ आचार्य के सामने अपने अपराधों का विवरण प्रकट करता है और उनके द्वारा दिये हुए दण्ड को सहर्ष स्वीकृत करता है । जो साधु अपराध को सदा छिपाये रखता है उसके हृदय में सदा शल्य विद्यमान रहती है जिससे उसे सदा दुष्कर्मों का आस्रव होता रहता है ।

शिवकोटि आचार्य ने मूलाराधना में आलोचना के निम्नाङ्कित दश दोष बताये हैं उनका परिहार करके ही आलोचना करना चाहिये ।

> आकंपिय अणुमाणिय जं दिट्ठं बादरं च सुहुमं च ।
> छण्णं सद्दा उलयं बहुजणमव्वत्त तस्सेवो ॥

आकम्पित, अनुमानित, दृष्ट, बादर, सूक्ष्म, छन्न, शब्दाकुलित, बहुजन, अव्यक्त और तत्सेवी ये आलोचना के दश दोष हैं । इनका विवरण इस प्रकार है—

( १ ) गुरु के संमुख दोष प्रकट करने के पूर्व इस बात का भय उत्पन्न होना कि कहीं आचार्य अधिक दण्ड न दे देवें । अथवा ऐसी मुद्रा बनाकर दोष कहना कि जिससे शिष्य की दयनीय अवस्था देखकर आचार्य कड़ा दण्ड न दे सकें ।

( २ ) दूसरे के द्वारा अनुमानित—संभावना में आये हुए पाप का निवेदन करना ।

( ३ ) जो दोष किसी ने देख लिया हो उसीकी आलोचना करना, बिना देखे दोष की आलोचना नहीं करना ।

( ४ ) स्थूल दोष की आलोचना करना सूक्ष्म दोष की नहीं । साथ ही यह भावना रखना कि जब यह स्थूल-बड़े दोष नहीं छिपाता तब सूक्ष्म दोष क्या छिपायेगा ?

( ५ ) सूक्ष्म दोष की आलोचना करना स्थूल की नहीं और साथ ही यह भावना रखना कि जब यह सूक्ष्म दोषों को नहीं छिपाता तब स्थूल दोषों को क्या छिपायेगा ?

( ६ ) आचार्य के आगे अपराध को स्वयं प्रकट नहीं करना ।

( ७ ) [illegible] आदि के द्वारा [illegible] हुए [illegible] के समय अपने दोष प्रकट करना ।

( ८ ) जिस समय पाक्षिक अथवा चातुर्मासिक आदि प्रतिक्रमणों के समय संघ के समस्त साधु [illegible] अपने [illegible] कर रहे हों [illegible] कोलाहल में अपने दोष प्रकट करना ।

( ९ ) [illegible]

कहना कि हे भगवन् ! यदि किसी से अमुक अपराध हो जाय तो उसका क्या प्रायश्चित होगा; इस तरह अव्यक्तरूप से अपराध प्रकट कर प्रायश्चित लेना।

( १० ) जिस अपराध को गुरु के सम्मुख प्रकट कर प्रायश्चित लिया है उस अपराध को पुनः-पुनः करना, अथवा उसी अपराध को करने वाले आचार्य से प्रायश्चित लेना और साथ ही यह अभिप्राय रखना कि जब आचार्य स्वयं यह अपराध करते हैं तब दूसरे को दण्ड क्या देवेंगे ?

विवेकी साधु सदा निर्दोष चारित्र पालन करता है। यदि कदाचित् शारीरिक शिथिलता, अज्ञान या प्रमाद के कारण कोई दोष लगता है तो उसकी आलोचना कर उसे तत्काल दूर करता हैं। आत्म कल्याण का इच्छुक साधु सदा गुरु के साथ ही विहार करता है एकाकी विहार नहीं करता, क्योंकि एकाकी विहार करने पर आचरण में स्वच्छन्दता आ जाती है। एकाकी विहार करने की आज्ञा उसी साधु को है जो अपने आचार विचार में अत्यन्त दृढ़ हो तथा जिसके लिये आचार्य ने किसी खास परिस्थिति को देखते हुए आज्ञा दे दी है। आज की स्थिति यह है कि शिष्य दीक्षा लेने के बाद स्वतन्त्र हो जाता है और गुरु का संघ छोड़ तीर्थयात्रा आदि का प्रसङ्ग उपस्थित कर एकाकी विहार करने लगता है। साथ में यदि कोई दूसरा साधु होता है तो उसकी चक्षु लज्जा का भी भय रहता है एकाकी रहने पर किसका भय ? साधु वेष, जिस आत्म कल्याण की भावना से प्रेरित होकर धारण किया हैं उसी आत्म कल्याण की भावना से उसका निर्वाह करना चाहिये।



## सच्चा सम्यक्त्वी

भाई ! सर्वज्ञ वीतरागी हितोपदेशी प्रभु द्वारा प्रणीत और गणधरादि आराती-आचार्यों द्वारा रचित आगम के द्वारा जो अपनी आत्म परणति का शोधन करते हैं वे ही सम्यक्त्व को प्राप्त करके कल्याण के मार्ग में लग सकते हैं किन्तु अपनी आत्म परिणति के द्वारा आगम का शोधन करने वाले नहीं।

# विनय तप

[ लेखक:—ब्र० हीरालालजी पाटनी, निवाई ]

विनय को आचार्यों ने अन्तरङ्ग तप में सम्मिलित किया है। यह विनय कर्म निर्जरा का प्रमुख कारण है। पं० आशाधरजी ने इसकी निरुक्ति करते हुए लिखा है कि जो[1] इस जीव को असत् कर्म से दूर करे उसे विनय कहते हैं। विनय ही शिक्षा का फल है। जिस शिक्षा के द्वारा विनय की प्राप्ति नहीं होती वह शिक्षा, शिक्षा नहीं है। इस विनय के फल स्वरूप समस्त कल्याणों की प्राप्ति होती है। उत्तम[2] मनुष्य पर्याय में दिगम्बर मुद्रा धारण करना सार है, दिगम्बर मुद्रा में जिनवाणी की शिक्षा प्राप्त होना सार है और शिक्षा में विनय का होना सार है क्योंकि विनय में ही शिष्टजन सम्मत विशिष्ट गुण प्रकट होते हैं।

मान कषाय का अभाव होने पर ही विनय गुण प्रकट होता है। अज्ञानीजन, ज्ञान पूजा कुल जाति बल ऋद्धि तप और शरीर इन आठ वस्तुओं का मान किया करता है परन्तु ज्ञानी जन विचार करता है कि परावलम्बन से होने वाली वस्तुओं का मान कैसा? पर का आलम्बन दूर होते ही समस्त ज्ञान पूजा कुल आदि नष्ट हो जाते हैं अतः स्वाश्रित ज्ञान या बल आदि जब तक प्रकट नहीं हो जाते तब तक अहंकार करना व्यर्थ है। परमार्थ यह है कि जब तक पराश्रित ज्ञान आदि रहते हैं तभी तक अहंकार का मूल कारण मान कषाय विद्यमान रहता है और जब स्वाश्रित ज्ञान या बल आदि प्रकट होता है तब मान कषाय नष्ट हो जाता है।

आचार्यों ने विनय के दर्शन, ज्ञान, चारित्र और उपचार के भेद से चार भेद स्वीकृत किये हैं। किन्हीं किन्हीं आचार्यों ने तपोविनय का भी पृथक् वर्णन किया है अतः उनके मत से पांच भेद होते हैं।[3] शङ्का, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टि प्रशंसा तथा अनायतन सेवा आदि दोषों को दूर करना, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना रूप प्रवृत्ति करना, तथा अरहन्त सिद्ध आदि की भक्ति, पूजा, प्रशंसा, नमस्कार और अनासादना-अवज्ञानिवृत्ति आदि दर्शन विनय है। सम्यग्दर्शन ही मोक्ष मार्ग का मूल है अतः उसे धारण करने की हृदय में सदा अभिरुचि रखना दर्शन विनय का स्वरूप है।

---

१ यद्विनयत्यपनयति च कर्मासत्तं निराहुरिह विनयम्।
शिक्षायाः फलमखिलक्षेमफलश्चेत्ययं कृत्यः॥ ६१॥ अनगार धर्मामृत अ० ७

२ सारं सुमानुषत्वेऽर्हद्रूपं सम्पदिहार्हती।
शिक्षास्यां विनयः सम्यगस्मिन् काम्याः सतां गुणाः॥ ६२॥ अ० ध० अ० ७

३ दर्शनज्ञानचारित्रगोचरश्चौपचारिकः।
चतुर्धा विनयोऽम्नायि पञ्चमोऽपि तपोगतः॥ ६३॥ अ० ध० अ० ७

शब्दशुद्धि, अर्थशुद्धि, उभयशुद्धि, गुरु आदि के नाम का अनिह्नव, कालशुद्धि, उपधान, विनय और बहुमान, इन आठ अंगों की रक्षा रखते हुए जिनवाणी के पठन पाठन की अभिरुचि रखना ज्ञान विनय है। विनय के द्वारा ज्ञान की प्राप्ति अनायास हो जाती है। जिस प्रकार बछड़े को देखकर गाय स्वयं दूध छोड़ने के लिये उत्कण्ठित हो जाती है उसी प्रकार विनयवान् शिष्य को देखकर गुरु का हृदय स्वयं ही उसे ज्ञान देने के लिए उत्कण्ठित हो जाता है। शिक्षा की प्राप्ति विनय के बिना नहीं हो सकती और शिक्षा के बिना मुनिपद की शोभा नहीं। कहा है—

'शिक्षाहीनस्य नटवल्लिङ्गमातमविडम्बनम्।
अविनीतस्य शिक्षापि खलमैत्रीव निष्फला ।।

शिक्षाहीन मनुष्य का मुनिलिङ्ग धारण करना नट के समान अपने आपको विडम्बित करने वाला है और अविनयी मनुष्य की शिक्षा भी खल की मित्रता के समान खोटे फलवाली होती है।

इन्द्रियों के इष्ट अनिष्ट विषयों में रागद्वेष छोड़ने से, उभड़ती हुई क्रोधादि कषायों को नष्ट करने से, बार बार समितियों में उद्योग करने से गुप्तियों के पालन में आस्था होने से, सामान्य भावनाओं तथा प्रत्येक व्रत की विशिष्ट भावनाओं के चिन्तन करने से जो अहिंसा आदि व्रतों का निर्दोष पालन करता है ऐसा कोई धन्यभाग मनुष्य चारित्र विनय को धारण करता है। यह चारित्र विनय स्वर्ग और मोक्षरूपी लक्ष्मी को प्राप्त कराने वाला है।

चारित्र विनय के पालन करने से ही चारित्र का निर्दोष पालन होता है। जिस मनुष्य का हृदय संसार परिभ्रमण से भयभीत रहता है वही पाप को शत्रु और धर्म को मित्र मानता है। ऐसा पुरुष ही चारित्र का निर्दोष पालन कर सकता है। चारित्र ही परम धर्म है इसके बिना यह जीव सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का धारक होता हुआ भी सागरों पर्यन्त इसी संसार में पड़ा रहता है और सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान के साथ चारित्र को धारण करने वाला जीव अन्तर्मुहूर्त में भी संसार से पार हो सकता है अतः मुमुक्षु मनुष्य को सदा निर्दोष चारित्र धारण करने की अभिरुचि रखना चाहिये।

उपचार विनय के वाचनिक, मानसिक और कायिक के भेद से तीन भेद होते हैं। जो पूज्य पुरुषों के साथ बात करता हुआ हित, मित, कारण सहित, और आगम के अनुसार वचन बोलता है वह वाचनिक विनय को धारण करता है।[2]

अशुभ भाव को रोकता हुआ जो आचार्य आदि के प्रिय एवं हितकारी कार्यों में अपनी बुद्धि लगाता है वह मानसिक विनय को धारण करने वाला है। इस विनय का धारक मुनि अपने मन में

---

१ अनगार धर्मामृत अ० ७ श्लोक ६३

२ हितं मितं परिमितं वचः सूत्रानुवीचि च।
ब्रुवन् पूज्यांश्चतुर्भेदं वाचिकं विनयं भजेत् ॥ ७२ ॥ अ० ध० अ० ७

कभी किसी का अहित चिन्तन नहीं करता है और न अपने मन में पाप रूप परिणामों को आश्रय ही देता है।

शरीर से गुरुजनों के लिए हाथ जोड़ना, नमस्कार करना तथा अभ्युत्थान और अनुगमन करना कायिक विनय है। इस विनय का धारी मुनि, गुरुजनों के आने पर उठकर खड़ा होता है आगे बढ़कर उनका स्वागत करता है, उन्हें आसन देता है, उनकी कुशल-क्षेम पूछकर वैयावृत्य करता है, उनके संस्तर आदि को बिछाता है, यदि उनके साथ जाने का अवसर आता है तो उनके पीछे चलता है, किसी स्थिति में यदि बराबरी में चलने का अवसर आता है तो उन्हें दाहिनी ओर रखता है और स्वयं बायीं ओर रहता है, संकट का समय देख स्वयं आगे चलता है और उन्हें पीछे रखता है। यदि गुरुजन स्वेच्छा से अन्यत्र जाते हैं तो कायिक विनय का धारक मुनि उन्हें कुछ दूर तक पीछे चलकर भेजता है। मधुर वचनों से उनके प्रति कृतज्ञता का भाव प्रकट करता है। जो मुनि अपने से दीक्षा में अधिक हैं, विशिष्ट श्रुत और चारित्र के धारक तथा दीर्घ तपस्वी हैं वे सब पूज्य कहलाते हैं। इन सब के प्रति आदर का व्यवहार होना कायिक विनय में आता है।

चरणानुयोग में कहे हुए समता, वन्दना, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय और कायोत्सर्ग इन आवश्यक कार्यों को जो श्रद्धा के साथ करता है, क्षुधा तृषा आदि परीषहों को समता भाव से जीतता है, उत्तर गुणों अथवा आतापन आदि के धारण करने में जो उत्साहित होता है, दीर्घ तपस्वी मुनियों की वैयावृत्य करता है, स्वयं भी तपश्चरण करने में उद्युक्त रहता है और लघु तपस्वी मुनियों की जो कभी अवज्ञा नहीं करता है वह तपो विनय का धारक कहलाता है।

ज्ञान, ध्यान और तप ये तीनों, मुनि पद के प्रमुख कार्य हैं अतः इनमें सदा अनुरक्त रहना चाहिये। विनय भावना का प्रयोजन बतलाते हुए पण्डित प्रवर आशाधरजी ने अनगार धर्मामृत में कहा है—

ज्ञानलाभार्थ माचार विशुद्धयर्थं शिवार्थिभिः।
आराधनादि संसिद्धयर्थं कार्यं विनयभावनम् ॥७६॥ अ. ७

मोक्षाभिलाषी जीवों को ज्ञान प्राप्ति के लिये, आचार की विशुद्धता के लिए और आराधनाओं की सम्यक् प्रकार सिद्धि के लिये विनय भावना करना चाहिये।

विनय का माहात्म्य इसीसे जाना जाता है कि यह यदि सम्यग्दर्शन की विशुद्धता के साथ हो तो इसके [illegible] तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध का कारण होता है। षोडशकारण भावनाओं में इसका समावेश किया गया है। यही नहीं, आत्म विशुद्धि के साधनभूत उत्तम क्षमा आदि दश धर्म हैं उनमें भी मार्दव धर्म के रूप में इसे समाविष्ट किया गया है।

[illegible], [illegible], तप और [illegible] उपलक्ष्य देते हुए आचार्यों ने मोक्ष के चार भेद किये हैं। ये चार [illegible] के [illegible], [illegible], [illegible] और [illegible] के [illegible] के कारण हैं अर्थात् इन मार्गों के सम्यक्

यदि जीव के आयुवन्ध होता है तो नरकादि आयु का बन्ध होता है। मान को जीतने के लिए सरलतम उपाय यह है कि अपने से अधिक गुणवान की ओर देखा जावे। ऐसा करने से मान स्वयमेव समाप्त हो जाता है। जैसे एक दो शास्त्रों को जानने वाला मनुष्य यदि बहुश्रुत मनुष्य की ओर अपनी दृष्टि रखता है तो उसे मान उत्पन्न नहीं होता है। इसके विपरीत वह यदि अपने से हीन गुणवान् की ओर दृष्टि देता है तो मान उत्पन्न होने की पूर्ण संभावना है।

स्वस्थादूर्ध्वप्रदानेन दृष्टेरल्प तरोऽखिलः।
मेरु दर्शनतो विन्ध्यपर्वतः कीटकायते ।।

अर्थात् अपने से ऊपर की ओर दृष्टि देने से सब अल्प अल्पतर दिखाई देते हैं जैसे मेरु पर्वत के देखने से विन्ध्याचल स्वयमेव ही कीड़े के समान जान पड़ने लगता है। एक लक्षाधीश यदि कोट्याधीश को देखता है तो उसे मान उत्पन्न नहीं होता है और अपने से हीन सहस्रपति की ओर देखता है तो मान अवश्य ही उत्पन्न होता है।

मान और आत्म गौरव दो वस्तुएं हैं, मान में दूसरे को हीन और अपने आपको महान् मानने का भाव आता है तथा आत्म गौरव में अपने पद मर्यादा की रक्षा का भाव आता है। निर्ग्रन्थ मुनि आहार लेते समय नवधा भक्ति की अपेक्षा रखते हैं इसमें उनका मान या अहंकार का भाव नहीं है किन्तु निग्रन्थ मुद्रा की लोक में लघुता या अवज्ञा न होने लगे, यह भाव रहता है। आत्म गौरव की रक्षा करना मुनि का कर्तव्य है परन्तु मान करना कर्तव्य नहीं है।

यह मनुष्य ज्यों ज्यों अधिक गुणवानों के संपर्क में आता जाता है त्यों त्यों इसका अहंकार या मान समाप्त होता जाता है। भर्तृहरि ने अपने नीति शतक में बहुत ही सुन्दर कहा है—

यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवं
तदा सर्वज्ञोऽस्मी त्यभवदव लिप्तं मम मनः।
यदा किञ्चित् किञ्चिद् बुधजन सकाशा दव गतं
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः ।।

अर्थात् जब मैं अल्पज्ञ था तव हाथी के समान मदान्ध था। मैं सर्वज्ञ हूं, ऐसा मानकर मेरा मन अहंकार से लिप्त हो रहा था परन्तु जब मैंने विद्वानों से कुछ कुछ जाना तब मुझे लगने लगा कि मैं तो मूर्ख हूं मेरा वह सर्वज्ञ होने का अहंकार ऐसा उतर गया जैसे ज्वर उतर ही गया हो।

भर्तृहरि का यह वाक्य अत्यन्त मर्मस्पर्शी है। अहंकार से यदि बचना है तो अपने से अधिक गुणवानों का संपर्क करना चाहिये।

*

# अतिचारों का विश्लेषण

[ लेखक:— श्री पं० नाथूलालजी जैन शास्त्री, इन्दौर ]

सम्यक्चारित्र में व्रतों का निर्दोष पालन करना आवश्यक है। इसी से पूर्ण फल की प्राप्ति होती है। व्रताचरण में अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार के भेद से चार प्रकार के दोष उत्तरोत्तर अधिकता को लिए हुए ही बताए गये हैं।

मन की शुद्धता में हानि अतिक्रम, विषयों की अभिलाषा, व्यतिक्रम, व्रताचरण में शिथिलता अतिचार और व्रत का सर्वथा भंग होना अनाचार है। इन चारों को एक उदाहरण से क्रमशः समझा जा सकता है। खेत के बाहर एक बैल बैठा था, उसने सोचा कि पास के खेत को चरना चाहिये। यह अतिक्रम हुआ। वह बैल खेत को देखकर चलने लगा। यह व्यतिक्रम हुआ। बैल ने खेत की बारी तोड़ दी। यह अतिचार है। और वह खेत में घुसकर चरने लगा यह अनाचार है। आचार्य अमितगति ने बताया है कि मन की शुद्धि में क्षति होना अतिक्रम, शील व्रतों की मर्यादा का उल्लंघन व्यतिक्रम, विषयों में वर्तन करना अतिचार और विषयों में अत्यन्त आसक्ति अनाचार है।

उक्त चार प्रकार के दोषों में पीछे के दो ही मुख्य हैं। अतिचार के पूर्व जो भाव होते हैं उनका अतिक्रम और व्यतिक्रम से निर्देश किया गया है। अंतिम अनाचार व्रत का सर्वथा भंग ही है, उसमें व्रत नष्ट हो जाता है। तीसरे अतिचार के सम्बन्ध में यहाँ विशेष जानकारी देना है।

अतिचार का लक्षण सागार धर्मामृत में इस प्रकार है:—

"सापेक्षस्य व्रते हि स्यादतिचारोऽंश भञ्जनम्"

अर्थात् व्रत में अपेक्षा रखने वाले पुरुष का अंतरंग या बहिरंग वृत्तियों में से किसी एक वृत्ति का भंग होना अतिचार है।

प्रत्येक व्रत की भावनाओं पूर्वक तथा प्रमाद के त्याग पूर्वक उसे पालन करने में सावधानी रखना चाहिए जिससे ग्रहण किया हुआ व्रत मलिन न होने पावे। एक देश व्रत के भंग होने में अतिचार [illegible] है [illegible] व्रत की रक्षा करते हुए व्रतभंग की कोई गल्ती निकाली जाती है।

सम्यग्दर्शन के [illegible], [illegible] और अनाचार दोषों में मद के २५ भेद बताये हैं। आठ अंगों से विपरीत शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्य दृष्टि प्रशंसा, संस्तव इन पांचों में सभी शामिल हो जाते हैं। वेदक सम्यग्दृष्टि के [illegible] प्रकृति के उदय से उक्त दोष उत्पन्न होते हैं। ये सब अतिचार [illegible] हैं। [illegible] में समझाया गया है कि सम्यग्दृष्टि [illegible] जिनेन्द्र देव की आराधना करता है। [illegible] परन्तु [illegible] देव के [illegible] [illegible] आदि की पूजा

गृहस्थों द्वारा किये जाते हैं, उनकी भी मर्यादा है। संकट के समय होने वाले संक्लेश परिणामों से बचकर शुभ परिणाम बनाये रखने के लिए पूजा-पाठ जप आदि कर अपने इष्ट देव को ही विपत्ति निवारक मानना और अन्य मन्त्र आदि से प्रभावित न होना कोई साधारण बात नहीं है। पुत्र आदि की बीमारी या विपत्ति के समय अनेक प्रकार के प्रलोभन दिये जाते हैं, पर धर्मात्मा श्रावक उनकी परवाह नहीं करता। यहाँ व्रत या प्रतिज्ञा में श्रद्धा बनी रहती है। इस दृष्टि से व्रत की रक्षा भी है और कांक्षा या सकाम आराधना के भाव होने से एक देश भंग भी है, इस प्रकार यह सम्यग्दर्शन का दोष या अतिचार है। चौबीस तीर्थंकरों में समान अनन्त शक्ति होने पर भी और यह जानते हुए भी नवग्रह विधान या भिन्न भिन्न मंत्रों के आराधन में पार्श्वनाथजी, शांतिनाथजी और महावीरजी आदि को अलग अलग ग्रहों के अरिष्ट निवारक रूप से मानना चल दोष है। धर्मायतनों में यह मेरा और यह दूसरे का इत्यादि मान्यता अगाढ़ दोष है। क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि के सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से ऐसे भाव विवश होकर प्रमाद या अज्ञान वश हो जाते हैं।

नैष्ठिक श्रावक के अहिंसाणुव्रत आदि में भी इसी प्रकार हिंसा का त्याग करने वाले गृहस्थ को पशुओं के बंध-वध, छेदादि करने पर हिंसा न होने से बहिरंग व्रत का पालन होता है परन्तु कषायावेश से बंधादि में निर्दयता के भाव आ जाने के कारण अन्तरंग व्रत का भंग होता है अतः यह अतिचार माना जाता है। मंत्र-तंत्र आदि द्वारा किसी शत्रु को बांधना, ताड़ना, बुद्धि भ्रष्ट करना आदि भी रस्सी चाबुक आदि से किये गये बंधन, ताड़न के समान होने से अहिंसाणुव्रत में दोष है। व्रत को अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकार से निर्दोष पालन करना श्रावक का कर्तव्य है। लिखा है कि—

> व्रतानि पुण्याय भवन्ति जंतोर्न सातिचाराणि निषेवितानि ।
> सस्यानि किं क्वापि फलंति लोके, मलोपलीढानि कदाचनापि ।।

जीवों को व्रत करने से पुण्य होता है इसलिए उन व्रतों को सातिचार पालन नहीं करना चाहिए। निर्दोष पालन करना चाहिए। संसार में मलिन धान्य बोने से क्या कभी फूल लगते हुए देखे हैं। अर्थात् कभी नहीं।

अहिंसा का पक्ष रखते हुए त्रस हिंसा का त्यागी पाक्षिक-श्रावक कहलाता है उसे सप्त व्यसन का त्याग और अष्ट मूलगुण भी होते हैं जो सातिचार पालन हो पाते हैं। अतिचार जान बूझकर नहीं लगाये जाते, जिस श्रेणी का श्रावक होता है उसमें उसकी कमजोरी के कारण मजबूरी से अतिचार लगा करते हैं। पाक्षिक-श्रावक चतुर्थ गुणस्थानवर्ती माना जाता है यह सातिचार पंचाणुव्रतों को भी पालन करता है क्योंकि अप्रत्याख्यानावरणादि के उदय से वह संयम में दृढ़ नहीं हो पाया है। यही जब प्रतिमाधारी नैष्ठिक होता है तब दर्शनिक कहलाता है और उसके सप्तव्यसन त्याग तथा अष्टमूलगुणों में जो अतिचार लगते थे उनका भी त्याग हो जाता है।

मद्यत्याग में पाक्षिक दशा में शराब नामक वस्तु का वह त्यागी था, परन्तु दर्शनिक दशा में

गांजा, भांग, अफीम, तम्बाकू, अमर्यादित अचार, मुरब्बा, आसव अरिष्ट, चलितरस का उपयोग भी नहीं करेगा। मदिरा पीने वाले के हाथ का भोजन व उसके वर्तन भी काम में नहीं लेगा।

मांस त्याग में चरस से निकाला हुआ जल, चमड़े में रखे तेल, हींग, आटा, चर्म के सूपड़े, चालनी से स्पर्शित आटा नमक नहीं खाएगा। मधु त्याग में आँखों में अंजन के लिए या इंजेक्शन में मधु का स्पर्श नहीं कराएगा। पंच उदुम्बर फल का त्यागी वेर, खारक, आदि को बिना फोड़े, बिना देखे नहीं खाएगा तथा अजान फल नहीं खाएगा। रात्रि को भोजन त्याग में रात्रि का पिसा आटा, रात्रि में तैयार किया हुआ भोजन, दिन में भी अंधकार पूर्ण स्थान में भोजन नहीं करेगा। सूर्यास्त से दो घड़ी पहले से लेकर सूर्योदय से दो घड़ी बाद तक रोग दूर करने के लिए भी केला, घी, दूध व इक्षुरस तक भी नहीं खाएगा अन्य भोज्य पदार्थ तो उसे छूटे हुए ही हैं। यहाँ सूर्यास्त और सूर्योदय के २ घड़ी आगे और पीछे के समय में प्रमाद वश जो खान-पान हो जाता है उसमें दिन समझकर होता है। रात्रि भोजन त्याग तो उसके है ही उसमें अश्रद्धा या व्रतभंग के भाव उसके नहीं होते अतः वह अनाचार नहीं होकर एक देश भंग के कारण अतिचार कहलाता है। पाक्षिक अवस्था में वह अतिचार लगा करता था, परन्तु इस दार्शनिक अवस्था में वह अतिचार नहीं लगता।

जलगालन में ३६ अंगुल लम्बा और २४ अंगुल चौड़ा दोहरा वस्त्र जल छानने के योग्य माना गया है तथा जीवाणी ( बिलछानी ) जल स्थान में-जहाँ का जल हो वहीं सावधानी से डाली जावे तथा दो घड़ी बाद छना पानी अनछना हो जाता है उसके सम्बन्ध में प्रमाद करना अतिचार है उसे भी दार्शनिक श्रावक छोड़ता है। पाक्षिक अवस्था में छोटे व पुराने छन्ने से जल छानकर जीवानी पर ध्यान नहीं किया जाता था, जो अतिचार था, परन्तु इस अवस्था में पूरा ध्यान रक्खा जाता है।

पहले द्यूत त्याग में शर्त लगाकर शतरंज ताश आदि का त्याग था परन्तु इस अवस्था में बिना शर्त लगाए शतरंज आदि भी नहीं खेल सकता। लाटरी आदि तो पाक्षिक अवस्था में ही छूट जाती है। पाक्षिक अवस्था में बिना शर्त ताश, शतरंज आदि अतिचार माने जाते हैं, क्योंकि वह मानता है कि मैं जुआ नहीं खेल रहा हूँ केवल मनोरंजन कर रहा हूँ, इस दृष्टि से व्रत में उसकी श्रद्धा है परन्तु मनोरंजन के अतिरेक होने से कषाय व विकार का वातावरण बन ही जाता है जो एक देश व्रत भंग का कारण है।

वेश्या त्याग में वेश्या सेवन का त्याग पाक्षिक दशा में था, परन्तु इस दार्शनिक अवस्था में वेश्या नृत्य गान, वेश्यागामी व्यक्तियों की संगति तथा सिनेमा, नाटक का भी त्याग हो जाता है। जो पाक्षिक के लिए अतिचार रूप थे। शिकार त्याग में पहले पशु-पक्षी के शिकार का त्याग था परन्तु अब काष्ठ, पाषाण मिट्टी आदि की मूर्ति या चित्र का मोड़ना तोड़ना या फाड़ना भी नहीं कर सकता। [illegible] आदि भी इसके नहीं रख सकता, जो पहले अतिचार रूप में थे। चोरी त्याग में [illegible] नहीं [illegible] सकता, न [illegible] में [illegible] सकता है। परस्त्री त्याग [illegible] विवाह आदि [illegible] त्यागी होता है।

नैष्ठिक श्रावक के अहिंसाणुव्रत के सम्बन्ध में पहले लिखा जा चुका है विशेष यह है कि वह पशुओं को रखकर आजीविका न करे। पशु रखे भी तो बन्धन रहित अथवा ढीले बन्धन में रखे। इस अतिचार को उसे छोड़ना चाहिये।

सत्याणुव्रत में द्वितीय प्रतिमा ( व्रतिक ) के पूर्व केवल पाँच प्रकार के असत्य का त्याग था। असत्य भाषण में चोर को मारो, घोड़े पर बोझा लादो आदि वचन, दूसरे के हस्ताक्षर बनाना-लिखना मोहर बनाना आदि को सम्मिलित नहीं करता था वह समझता था यह असत्य नहीं है, परन्तु ये असत्य के अन्तर्गत होने से एक देश भंग रूप अतिचार हैं। अब उसे इन सबका त्याग आवश्यक है तभी वह निरतिचार अणुव्रत पालक व्रतिक कहलाता है। सत्याणुव्रत में मिथ्योपदेश, स्त्री पुरुषों की गुप्त क्रियाओं का प्रकाश, न्यासापहार, मंत्रभेद, कूटलेखक्रिया ये पंचातिचार त्याज्य हैं। इन अतिचारों में अन्तरंग में श्रद्धा रखते हुए बाह्य भंग होता है या बाह्य पालन होकर अन्तरंग में दोष लगता है। उदाहरणार्थ न्यासापहार में किसी ने व्रती के पास दो हजार रुपये जमा कराये। कुछ दिन बाद वह अपने रुपये लेने आया, परन्तु वह रुपयों की संख्या भूल गया और उससे एक हजार रुपये मांगे। मालूम होते हुए भी व्रती व्यक्ति ने उसे एक हजार ही दिये और मन में समाधान कर लिया कि मैंने असत्य नहीं कहा है उसने जितने मांगे उतने दे दिये। इस प्रकार व्रत में अपेक्षा रखते हुए दोष होने से अतिचार कहलाया। कूटलेख क्रिया में झूठे स्टाम्प, मोहर बनाना, एवं झूठे हस्ताक्षर आदि करना शामिल हैं। इसमें व्रती यह मानता है कि मैंने असत्य वचन का त्याग किया है, न कि असत्य लिखने का। इसी प्रकार अन्य भी जानना चाहिये।

अचौर्याणुव्रत में चौर प्रयोग, चौराहृतादान, अधिकहीन मान तुला प्रतिरूपक व्यवहार, विरुद्ध राज्यातिक्रम ये पाँच अतिचार हैं। चौर-प्रयोग में चोरी के साधन दूसरे को देना, बेचना, चोरी की प्रेरणा देना इसमें व्रती यह सोचता है कि मैंने व्यापार हेतु पदार्थ मंगाये हैं इसलिए बाह्य में चोरी नहीं दिखती, पर अन्तरंग व्रत का भंग होने से यह अतिचार है। इसी प्रकार चोरी का माल क्रय करने में वह चोरी नहीं मानता, पर व्रतभंग अवश्य है अत: यह अतिचार है।

ब्रह्मचर्याणुव्रत के परविवाहकरण, परिगृहीता इत्वरिका गमन, अपरिगृहीता इत्वरिका गमन, अनंग क्रीड़ा, कामतीव्राभिनिवेश ये पाँच अतिचार हैं। इनमें अपनी संतान के सिवाय अन्य पुत्र पुत्रियों का विवाह कराने में मैथुन कराने का दोष आता है अत: व्रत भंग होता है, परन्तु व्रती यह मानता है कि मैं केवल विवाह कराता हूँ, मैथुन नहीं कराता इस तरह भंगाभंग रूप अतिचार है। स्वस्त्री के रहते भी उससे असंतुष्ट होकर दूसरा विवाह करना भी अतिचार है। कामोद्दीपक औषधि सेवन करना एवं स्वप्न दोष भी अतिचार है। द्वितीय अतिचार में पति की अनेक स्त्रियों में जिस दिन सौत के यहाँ पति के जाने की बारी हो उस दिन उसे रोक लेना पर पुरुष गमन के समान होने से बाह्य में व्रत का अभंग और अन्तरंग में भंग है। इसी प्रकार व्रत में अपेक्षा रखकर बड़ा दोष भी हो जाता है। वह अतिचार होकर भी व्रती के लिए महान दूषण ही है।

इसी प्रकार परिग्रह परिमाण, दिग्व्रतादि में भी अतिचार व्रत में बाधक ही हैं। इनमें कई विशेषताएं हैं जो विस्तार भय से नहीं लिखी जा रही हैं। द्वितीय प्रतिमा में सामायिक है वह सातिचार अर्थात् त्रिकाल न करे तो चल सकता था, पर तृतीय प्रतिमा में त्रिकाल सामायिक अनिवार्य रूप से करनी ही पड़ती है अन्यथा व्रत हानि होती है। इसी प्रकार प्रोषधोपवास आदि में भी जानना चाहिये।

व्रती को निर्दोष व्रत पालन करने में ही अपना कल्याण मानना चाहिये।



# अतिचार समीक्षा

[ लेखकः— श्री पं० दामोदरदासजी, सागर ]

उमा स्वामी ने सम्यग्दर्शन, पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत और सल्लेखना इन सोलह के पांच-पांच अतिचार बतलाकर सत्तर अतिचारों की चर्चा की है परन्तु समन्तभद्र स्वामी ने सम्यग्दर्शन के अतिचारों का उल्लेख न कर पैंसठ अतिचारों की ही चर्चा की है।

"अतिचारोंऽशभञ्जनम्" इस लक्षण के अनुसार अतिचार का अर्थ व्रत का एक देश भङ्ग होना है। समन्तभद्र स्वामी ने अहिंसाणुव्रत का लक्षण लिखते हुए मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना इन नौ कोटियों का उल्लेख किया है अर्थात् नौ कोटियों से व्रत की पूर्णता बतलाई है। इन नौ कोटियों में से कुछ कोटियों के द्वारा व्रत को दूषित करना अतिचार कहलाता है और सभी कोटियों से व्रत को भङ्ग कर देना अनाचार कहलाता है। इस प्रकार भङ्गाभङ्ग की अपेक्षा अर्थात् किसी अपेक्षा से व्रत का भङ्ग होना और किसी अपेक्षा से व्रत का भङ्ग न होना अतिचार का रूप है।

अमितगति[1] आचार्य ने अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार की चर्चा करते हुए उनके लक्षण इस प्रकार लिखे हैं—'मानसिक शुद्धि का नष्ट होना अतिक्रम है, शीलरूप बाड़ का लङ्घन करना व्यतिक्रम है, विषयों में कदाचित् प्रवृत्ति करना अतिचार है, और विषयों में अत्यन्त आसक्त हो जाना अनाचार है।' परन्तु अतिचार की उक्त व्याख्या उमास्वामी तथा समन्तभद्र को इष्ट नहीं मालूम होती। अतिचार के सम्बन्ध में इतना ध्यान रखना आवश्यक है कि वह प्रमाद या अज्ञान दशा में जब कभी लगता है और व्रत का धारक मनुष्य उस अतिचार के लगने पर पश्चात्ताप का अनुभव करता है परन्तु जब वही अतिचार बुद्धि पूर्वक बार-बार लगाया जाता है तथा उसके लगने पर व्रती मनुष्य को कोई पश्चात्ताप नहीं होता तब वही अतिचार अनाचार का रूप ले लेता है।

1 क्षतिं मनःशुद्धिविधेरतिक्रमं व्यतिक्रमं शीलवृतेर्विलङ्घनम्।
प्रभोऽतिचारं विषयेषु वर्तनं वदन्त्यनाचारमिहातिसक्तताम् ॥ सामायिक पाठ

चरणानुयोग में चारित्र की उत्पत्ति, वृद्धि तथा रक्षा के अङ्गों का वर्णन रहता है, अतः अतिचारों का प्रकरण व्रत की रक्षा के अङ्गों का उल्लेख करने के लिए ही उपस्थित किया गया है। अर्थात् इन अतिचारों का निराकरण करने से ही व्रत की रक्षा हो सकती है। उमा स्वामी महाराज ने व्रत की रक्षा करने के लिये प्रत्येक व्रत की पांच-पांच भावनाओं की भी चर्चा की है।

## सम्यग्दर्शन के पाँच अतिचार—

[1]शङ्का, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्य दृष्टि प्रशंसा और अन्यदृष्टिसंस्तव ये पांच सम्यग्दर्शन के अतिचार हैं। स्थूल तत्त्व में श्रद्धान की दृढ़ता होने पर भी सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थों में श्रद्धान की चञ्चलता होना शङ्का है। अथवा यह लोक भय, परलोक भय, वेदना, मरण, आकस्मिक, अगुप्ति और अत्राण इन सप्त भयों में प्रवृत्ति होना शङ्का है। सम्यग्दर्शन धारण कर उसके फल स्वरूप लौकिक फलों की इच्छा रखना कांक्षा है। मुनियों के शरीर सम्बन्धी मलिनता में ग्लानिभाव रखना विचिकित्सा है। मन से मिथ्यादृष्टि जीवों के ज्ञानादि गुण को अच्छा समझना अन्य दृष्टि प्रशंसा है और वचन से उसकी श्लाघा करना अन्यदृष्टिसंस्तव है। सम्यग्दृष्टि जीव में जब तत्त्व अतत्त्व के निर्णय की क्षमता होती है तभी वह अन्य दृष्टियों के सम्पर्क में आता है। क्षमता के अभाव में उनके सम्पर्क से दूर रहता है अन्यथा ज्ञान की कमी के कारण कुचक्र में फँस सकता है।

## अहिंसाणुव्रत के पांच अतिचार—

'बन्धवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः' तत्वार्थ सूत्रकार के इस उल्लेख के अनुसार बन्ध, वध, छेद, अतिभारारोपण और अन्नपाननिरोध ये पांच अहिंसाणव्रत के अतिचार हैं। [2]समन्त-भद्र के उल्लेखानुसार भी यही अतिचार हैं। उन्होंने मात्र वध के स्थान पर पीडन शब्द का प्रयोग किया है। इस संदर्भ में पण्डित आशाधरजी ने [3]सागार धर्मामृत में 'दुर्भावात्'-खोटी भावना से, यह शब्द जोड़ कर बन्ध, वध आदि के भाव को स्पष्ट कर दिया है। खोटे अभिप्राय से किसी को रस्सी आदि से बांधना बन्ध है। बेंत तथा चाबुक आदि से पीटना वध है। अङ्गोपाङ्ग का छेदना छेद है। शक्ति से अधिक भार लादना अतिभारादिरोपण है और समय पर पूरा अन्न पान नहीं देना अन्न पान निरोध है। यहां यदि दुर्भाव-खोटी भावना इस शब्द की योजना नहीं की जावे तो लड़की के नाक कान छिदाना, दूषित अङ्गोपाङ्गों का काटना, रोग को दूर करने के लिए आहारादि का रोकना तथा घर के पालतू पशुओं को बांधना भी अतिचारों में सम्मिलित हो जायगा।

---

१ 'शङ्का कांक्षा विचिकित्सान्य दृष्टि प्रशंसा संस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतिचाराः' त०सू०

२ छेदनबन्धन पीडनमतिभारारोपणं व्यतीचाराः।
आहारवारणापि च स्थूलवधाद् व्युपरतेः पञ्च ॥८॥ तृ० अ० रत्नकरण्डक०

३ मुञ्चन् बन्धं वधच्छेदावतिभारादिरोपणम्।
भुक्तिरोधं च दुर्भावाद् भावनाभिस्तदा विशेत् ॥१५॥ अ० ४

'वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्या समिति, आदाननिक्षेपण समिति और आलोकित पान भोजन ये पांच अहिंसा व्रत की भावनाएं हैं। इनके होने पर ही अहिंसा व्रत की रक्षा हो सकती है। वचन को वश में रखने से वाचनिक हिंसा से रक्षा होती है। मन को नियन्त्रित रखने अर्थात् मन से दूसरे के विषय में खोटा चिन्तन न करने से मानसिक हिंसा से रक्षा होती है। ईर्या समिति, आदान निक्षेपण समिति और आलोकित पान भोजन करने से कायिक हिंसा से रक्षा होती है। वास्तव में उक्त पांच कार्यों से ही मनुष्य हिंसा करता है। यहां इन पांचों कार्यों पर नियन्त्रण लगा कर, अहिंसाव्रत की रक्षा किस प्रकार हो सकती है, इसका सुगम समाधान दिया है।

### सत्याणुव्रत के पांच अतिचार—

तत्त्वार्थसूत्रकार के 'मिथ्योपदेश रहोभ्याख्यान कूट लेख क्रिया न्यासापहार साकार मन्त्र भेदाः' इस उल्लेखानुसार मिथ्योपदेश, रहोभ्याख्यान, कूटलेख क्रिया, न्यासापहार और साकार मन्त्रभेद ये पांच सत्याणुव्रत के अतिचार हैं। अज्ञान या प्रमाद के वशीभूत होकर स्वर्ग-मोक्ष प्राप्त कराने वाली क्रियाओं का अन्यथा उपदेश देना मिथ्योपदेश है। स्त्रीपुरुषों की एकान्त चेष्टाओं को उनकी हँसी उड़ाने के अभिप्राय से प्रकट करना रहोऽभ्याख्यान है। किसी के वैसा न कहने पर भी अपने वचनों की प्रभुता बतलाने के लिये अमुक आचार्य या विद्वान् ने ऐसा कहा है...कहना कूटलेख क्रिया है। धरोहर के हड़प करने वाले वचन कहना न्यासापहार है। और किसी संकेत आदि से किसी के अभिप्राय को जानकर प्रकट करना—रहस्य खोल देना साकार मन्त्रभेद है।

पं० आशाधर जी ने भी इन्हीं पांच अतिचारों का उल्लेख किया है। मात्र न्यासापहार शब्द के स्थान पर 'न्यस्तांश विस्मर्त्रनुज्ञा' शब्द रखकर उसके भाव को स्पष्ट किया है। क्योंकि इस स्पष्टीकरण के बिना 'न्यासापहार' का अर्थ धरोहर को हड़प करना होता है जो कि चोरी का रूपान्तर है। हां, समन्तभद्रस्वामी ने—

परिवादरहोभ्याख्या पैशुन्यं कूटलेख करणं च।
न्यासापहारितापि च व्यतिक्रमाः पञ्च सत्यस्य ॥१०॥ अ० ३

इस श्लोक द्वारा परिवाद, रहोभ्याख्या, पैशुन्य, कूटलेखकरण और न्यासापहारिता इन पांच को सत्याणुव्रत के अतिचार कहा है। यहां रहोभ्याख्या, कूटलेखकरण और न्यासापहारिता तो तत्त्वार्थ सूत्रकार के अनुसार ही हैं किन्तु परिवाद और पैशुन्य ये दो शब्द अतिरिक्त हैं। यद्यपि रत्नकरण्डक के संस्कृत टीकाकार ने तत्त्वार्थ सूत्र से मेल बैठाने के लिये परिवाद का अर्थ मिथ्योपदेश और पैशुन्य का

---

१ वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च। त० सू० अ० ॥७॥

२ मिथ्यादिशं रहोऽभ्याख्यां कूटलेखक्रियां त्यजेत्।
न्यस्तांश विस्मर्त्रनुज्ञां मन्त्रभेदं च सत्यव्रतः ॥४५॥ अ० ४

अर्थ साकार मन्त्र भेद किया है परन्तु वह जमता नहीं है। क्योंकि लोक में परिवाद का अर्थ निन्दा और पैशुन्य का अर्थ चुगली करना प्रसिद्ध है। समन्तभद्र स्वामी परम विचारक थे अतः उन्होंने मिथ्योपदेश में अनाचार की स्पष्टता देख उसके स्थान पर परिवाद शब्द की योजना की है। सत्याणुव्रत का धारक पुरुष निन्दा के अभिप्राय से किसी की सत्य बात को भी नहीं कहता है किन्तु मौन धारण कर लेता है। इसीप्रकार साकार मन्त्रभेद में असत्य की पुट न दिखने से उन्होंने उसके स्थान पर 'पैशुन्य' शब्द का उपयोग किया है। सत्याणुव्रती मनुष्य चुगली के रूप में सत्य बात कहकर भी विसंवाद उत्पन्न नहीं कराता।

सत्यव्रत की रक्षा के लिये 'तत्त्वार्थसूत्रकार ने क्रोधप्रत्याख्यान, लोभप्रत्याख्यान, भीरुत्व प्रत्याख्यान, हास्य प्रत्याख्यान और अनुवीचि भाषण इन पांच भावनाओं का वर्णन किया है। इनके होने पर ही सत्य व्रत की रक्षा हो सकती है अन्यथा नहीं। असत्य बोलने के दो प्रमुख कारण हैं—एक कषाय और दूसरा अज्ञान। कषाय निमित्तक असत्य से बचने के लिये क्रोध, लोभ, भय और हास्य का प्रत्याख्यान —त्याग कराया है और अज्ञान मूलक असत्य से बचने के लिये अनुवीचिभाषण—आचार्य परम्परा से प्राप्त आगमानुकूल वचन बोलने की भावना कराई है। इस भावना के लिये आगम का अभ्यास करना पड़ता है। आगम के अभ्यास से अज्ञानमूलक असत्य दूर होता है।

## अचौर्याणुव्रत के पांच अतिचार—

तत्त्वार्थ सूत्रकार के उल्लेखानुसार 'स्तेन प्रयोग तदाहृता दान विरुद्ध राज्यातिक्रम हीनाधिक मानोन्मान प्रतिरूपक व्यवहाराः'—स्तेनप्रयोग, तदाहृतादान, विरुद्धराज्यातिक्रम, हीनाधिक मानोन्मान, और प्रतिरूपक व्यवहार ये पांच अचौर्याणुव्रत के अतिचार हैं। स्वयं चोरी न कर चोर के लिये चोरी की प्रेरणा करना स्तेन प्रयोग है। यहां कृत की अपेक्षा व्रत की रक्षा होते हुए भी कारित की अपेक्षा भंग हो जाता है अतः भङ्गाभङ्ग की अपेक्षा यह अतिचार होता है। चोर के द्वारा चुराकर लायी हुई वस्तु को कीमत से खरीदना तदाहृतादान है। यहां कीमत से खरीदता है अतः व्रत की रक्षा होती है परन्तु चोर के लिये प्रोत्साहन मिलता है इसलिये कारित या अनुमोदना की अपेक्षा भंग हो जाता है। जिस राज्य में अपने राज्य की वस्तुओं का आना जाना राज्य की ओर से निषिद्ध है उसे विरुद्ध राज्य कहते हैं। विरुद्ध राज्य में मँहगी वस्तुएँ स्वल्प मूल्य में बिकती हैं ऐसा जानकर वहां स्वल्प मूल्य में वस्तुओं को खरीदना और तस्कर व्यापार के द्वारा अपने राज्य में लाकर अधिक मूल्य में बेचना विरुद्धराज्याति-क्रम है। अथवा छत्रभंग होने की स्थिति में –राजा का राज्य छिनने पर राज्य की जो स्थिति होती है उसे विरुद्ध राज्य कहते हैं। ऐसे अवसर पर जीवन निर्वाह के लिये उपयोगी वस्तुओं का यातायात रुक जाने से बड़ी अव्यवस्था होती है उस अव्यवस्था में अधिक कमाई की इच्छा से अनुचित लाभ उठाना विरुद्ध

---

१ 'क्रोधलोभभीरुत्व हास्य प्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पञ्च' त० सू० अ० ७

राज्यातिक्रम है। नापने तौलने के बाटों को कम बढ़ रखना हीनाधिक मानोन्मान है और सदृश वस्तु में उससे मिलती जुलती अल्प मूल्य वाली वस्तु मिलाकर असली भाव से बेचना प्रतिरूपक व्यवहार है।

[1]सागार धर्मामृत में पं० आशाधरजी ने भी इन्हीं पाँच अतिचारों का वर्णन किया है।

समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्डक में 'विरुद्धराज्यातिक्रम' के स्थान पर 'विलोप' शब्द का प्रयोग कर शेष सब अतिचार स्वीकृत किये हैं। संस्कृत टीकाकार ने विलोप शब्द का 'विरुद्धराज्यातिक्रम' ही अर्थ स्वीकृत किया है। शब्दार्थ की दृष्टि से विलोप शब्द का अर्थ, लोप करना अर्थात् राजाज्ञा का उल्लंघन करना होता है। राजाज्ञा का उल्लंघन कर तस्कर व्यापार करना विलोप शब्द का पारिभाषिक अर्थ है।

[2]उमास्वामी ने इस व्रत की रक्षा के लिये नीचे लिखी हुई पांच भावनाओं का वर्णन किया है—

१ शून्यागारावास—पर्वत की गुफाओं तथा वृक्ष की कोटरों आदि प्राकृतिक शून्य स्थानों में निवास करना, २ विमोचितावास—राजा आदि के द्वारा छुड़वाये हुए—उजड़े गृहों में निवास करना, ३ परोपरोधाकरण—अपने स्थान पर दूसरे के ठहर जाने पर रुकावट नहीं करना, ४ भैक्ष्यशुद्धि—चरणानुयोग की पद्धति से मधुकरी, गोचरी, अक्षम्रक्षण, गर्तपूरण, उदराग्नि प्रशमन आदि वृत्तियों का पालन करते हुए भिक्षा की शुद्धि रखना और ५ सधर्माविसंवाद सहधर्मी जनों के साथ उपकरण आदि के प्रसंग को लेकर 'यह मेरा यह तुम्हारा' इस प्रकार का विसंवाद नहीं करना। इन पांच कार्यों से अचौर्यव्रत की रक्षा होती है। मुनि इन भावनाओं का साक्षात्—प्रवृत्तिरूप और गृहस्थ भावना रूप से पालन करते हैं।

**ब्रह्मचर्याणुव्रत के पांच अतिचार—**

तत्त्वार्थसूत्रकार के उल्लेखानुसार 'परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीता गमनानंगक्रीड़ा कामतीव्राभिनिवेशाः'—परविवाहकरण, परिगृहीतेत्वरिकागमन, अपरिगृहीतेत्वरिकागमन, अनंगक्रीड़ा और कामतीव्राभिनिवेश ये पांच ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार हैं। अपने या अपने आश्रित भाई आदि की सन्तान को छोड़कर दूसरे की सन्तान का विवाह कराना परविवाहकरण है। दूसरे के द्वारा गृहीत—पति सहित व्यभिचारिणी स्त्री से सम्पर्क रखना परिगृहीतेत्वरिकागमन है। दूसरे के द्वारा अगृहीत—पति रहित वेश्या आदि व्यभिचारिणी स्त्रियों से सम्पर्क रखना अपरिगृहीतेत्वरिकागमन है। काम सेवन के लिये निश्चित अंगों से अतिरिक्त अन्य अंगों द्वारा वासना की तृप्ति करना अनंगक्रीड़ा है और काम सेवन में अत्यन्त आसक्त रहना कामतीव्राभिनिवेश है।

---

१ चौरप्रयोगचौराहृतग्रहावधिकहीनमानतुलम्।
प्रतिरूपकव्यवहृतिं विरुद्धराज्येऽप्यतिक्रमं जह्यात् ॥५०॥ अ० ४

२ 'शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिसधर्माविसंवादाः पञ्च' त०सू०अ० ७

[1]समन्तभद्र स्वामी ने अन्य विवाहाकरण, अनंगक्रीड़ा, विटत्व, विपुलतृषा और इत्वरिका गमन ये पाँच अतिचार माने हैं। यहाँ उन्होंने परिगृहीतेत्वरिकागमन और अपरिगृहीतेत्वरिका गमन इन दो अतिचारों को एक 'इत्वरिका गमन' शब्द से उल्लिखित कर 'विटत्व' नामक अतिचार को बढ़ाया है। विटत्व का अर्थ शरीर और वचन की अश्लील प्रवृत्ति करना है अर्थात् भद्दे वचन बोलना तथा शरीर की चेष्टा और वेषभूषा कुलीन जनों की चेष्टा और वेषभूषा से विरुद्ध रखना है। विपुलतृष् और काम तीव्राभिनिवेश पर्याय वाचक शब्द हैं। परविवाहकरण शब्द के बदले 'अन्यविवाहाकरण' शब्द का प्रयोग किया है जिसका संस्कृत टीकाकार ने 'अन्यविवाहस्य आ.समन्तात् करणं अन्यविवाहाकरणम्' इस व्युत्पत्ति के द्वारा प्रमुख बनकर दूसरों का विवाह सम्बन्ध जुटाना, अर्थ सूचित किया है। तात्पर्य यह है कि कुछ लोग इस प्रकृति के होते हैं कि वे विवाह सम्बन्ध जुटाने का कार्य पेशे के रूप में बड़ी तल्लीनता के साथ करते हैं उनका यह कार्य ही 'अन्यविवाहाकरण' कहलाता है। सहधर्मी भाई के नाते उनके पुत्र पुत्रियों के विवाह में सम्मिलित होना ब्रह्मचर्याणुव्रती के लिये निषिद्ध नहीं है अनंगक्रीड़ा अतिचार का उल्लेख दोनों आचार्यों ने एक ही शब्द से किया है। अनंगक्रीड़ा के विषय में यह बात ध्यान रखने के योग्य है कि यह अतिचार स्वस्त्री के साथ ही होता है परस्त्री के साथ नहीं। जैसे पर्व के दिन में स्वस्त्री के यौन सम्पर्क से दूर रहकर भी अन्य अंगों से वासना की तृप्ति करना।

पं० आशाधरजी ने भी ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार समन्तभद्र के मतानुसार ही स्वीकृत किये हैं। जैसे—

> इत्वरिकागमनं परविवाह करणं विटत्व मतिचाराः।
> स्मरतीव्राभिनिवेशोऽनंगक्रीड़ा च पञ्च तुर्यंयमे ।।५८।। अ. ४

इत्वरिकागमन, परविवाहकरण, विटत्व, काम तीव्राभिनिवेश और अनंगक्रीड़ा ये पाँच चतुर्थ अणुव्रत के अतिचार हैं।

यहाँ 'इत्वरिकागमन' शब्द में गमन का अर्थ अन्य आचार्य, उससे सम्पर्क बढ़ाना करते हैं परन्तु आशाधरजी ने अपनी स्वोपज्ञ टीका में गमन का अर्थ सेवन लिखा है और उसमें युक्ति दी है कि पुंश्चली स्त्री अथवा वेश्या को, पैसा देने के कारण, वह निश्चित समय तक अपनी स्त्री मानता है परन्तु वास्तव में वह अपनी स्त्री नहीं है, इस तरह भंगाभंग की अपेक्षा यह अतिचार बनता है। उनका यह कथन यशस्तिलक चम्पू में प्रदत्त सोमदेव के इस कथन से प्रभावित जान पड़ता है—

> वधूवित्तस्त्रियौ मुक्त्वा सर्वत्रान्यत्र तज्जने।
> माता स्वसा तनूजेति मतिर्ब्रह्म गृहाश्रमे ।।

---

१ अन्य विवाहाकरणानङ्गक्रीडा विटत्व विपुलतृषाः।
इत्वरिका गमनं चास्मरस्य पञ्च व्यतीचाराः ॥ १४ ॥ अ. ३

अपनी स्त्री और वित्तस्त्री ( वेश्या ) को छोड़कर सब प्रकार की स्त्रियों में माता, बहिन और पुत्री की बुद्धि रखना गृहस्थाश्रम का ब्रह्मचर्य व्रत माना है।

पं० आशाधरजी ने स्वदार सन्तोष व्रत का लक्षण लिखते हुए कहा है—

सोऽस्ति स्वदार संतोषी योऽन्यस्त्री प्रकटस्त्रियौ।
न गच्छत्यंहसो भीत्या नान्यैर्गमयति त्रिधा ॥५२॥

जो गृहस्थ पाप के भय से परस्त्री और वेश्या को मन, वचन, काय तथा कृत कारित अनुमोदना से न तो स्वयं सेवन करता है और न पर पुरुषों से सेवन कराता है वह गृहस्थ स्वदार संतोषी अर्थात् स्वदार सन्तोष नामक अणुव्रत को पालन करने वाला है।

यहां परस्त्री और वेश्या का जो नौ कोटियों से त्याग कर चुकता है वह ब्रह्मचर्याणुव्रती वेश्या-सेवन करेगा, यह आशाधरजी के मत से सिद्ध नहीं होता। इतना ही नहीं, वेश्याव्यसन त्याग के अतिचारों का वर्णन करते हुए आशाधरजी जब वेश्याव्यसन के त्यागी मनुष्य को, गायन वादन और नृत्य विषयक आसक्ति तथा वेश्याओं के घर जाने आदि का भी त्याग कराते हैं जैसा कि निम्न श्लोक में स्पष्ट है—

त्यजेत् तौर्यत्रिकासक्तिं वृथाट्यां षिड्गसंगतिम्।
नित्यं पण्याङ्गनासङ्गत्यागी तद्गेह गमनादि च ॥२०॥

वेश्याव्यसन का त्याग करने वाला श्रावक, गीत नृत्य और वाद्य आसक्ति को, वृथा घूमने को, व्यभिचारी पुरुषों की संगति को तथा वेश्या के घर जाने आदि को सदैव ही छोड़े।

तब वह दूसरी प्रतिमा में उसके सेवन की छूट कैसे दे सकते हैं? यह पूर्वापर संगति के विरुद्ध है।

'स्वदार संतोष व्रत वाला वेश्या का सेवन नहीं करता किन्तु परदार निवृत्ति व्रत वाला कर सकता है' यह स्पष्टीकरण समीचीन नहीं है। क्योंकि ब्रह्मचर्याणुव्रत के [1]लक्षण में समन्तभद्र स्वामी ने ऐसे कोई दो विभाग नहीं किये हैं किन्तु एक ही व्रत के दो नाम सूचित किए हैं जैसा कि संस्कृत टीकाकार ने स्पष्ट किया है—

'न केवलं सा परदारनिवृत्तिरुच्यते किन्तु 'स्वदारसंतोषनामापि' स्वदारेषु संतोषः स्वदारसंतोषस्तन्नाम यस्याः'।

वह परदारनिवृत्ति न केवल परदारनिवृत्ति कहलाता है किन्तु स्वदार संतोष नाम वाला भी कहलाता है।

[1] न तु परदारान् गच्छति न परान् गमयति च पापभीतेर्यत्।
सा परदारनिवृत्तिः स्वदारसंतोषनामापि ॥५९॥ र० क० श्रा०

तात्पर्य यह है कि यशस्तिलक चम्पू के 'वधूवित्त स्त्रियौ मुक्त्वा इस श्लोक ने ही ब्रह्मचर्याणुव्रती को वेश्या सेवन की छूट दी है और उसीसे प्रभावित होकर आशाधरजी ने अपने पूर्वापर कथन का विचार किये बिना इत्वरिका गमन में गमन शब्द का अर्थ सेवन निरूपित किया है। यदि अन्य आचार्यों की तरह उसका अर्थ, सम्पर्क बढ़ाना ही लिया जाता तो कहीं कोई असंगति नहीं रहती। इस एक असंगति से ही सागार धर्मामृत, विद्वानों की दृष्टि से उतर गया है परन्तु इसके समान गृहस्थ धर्म का साङ्गोपाङ्ग–अथ से लेकर इति तक वर्णन करने वाला दूसरा श्रावकाचार नहीं है, यह भी ध्यान में रखने के योग्य है।

तत्त्वार्थसूत्रकार ने इस व्रत की रक्षा के लिये निम्नांकित पाँच भावनाओं का वर्णन किया है—

**'स्त्रीरागकथाश्रवण तन्मनोहरांग निरीक्षण पूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरस स्वशरीर संस्कार त्यागाः पंच'।**

स्त्रियों में राग बढ़ाने वाली कथाओं के सुनने का त्याग करना, उनके मनोहर अंगों के देखने का त्याग करना, पहले भोगे हुए भोगों के स्मरण का त्याग करना, गरिष्ठ तथा कामोत्तेजक पदार्थों के सेवन का त्याग करना और अपने शरीर की सजावट का त्याग करना, इन भावनाओं से ब्रह्मचर्यव्रत सुरक्षित रहता है।

### परिग्रहपरिमाणाणुव्रत के पांच अतिचार—

तत्त्वार्थसूत्रकार ने परिग्रह परिमाणाणुव्रत के अतिचारों का निरूपण करते हुए कहा है—'क्षेत्र वास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः' अर्थात् १ क्षेत्रवास्तुप्रमाणातिक्रम, २ हिरण्यसुवर्णप्रमाणातिक्रम, ३ धनधान्यप्रमाणातिक्रम, ४ दासीदास प्रमाणातिक्रम, और कुप्यप्रमाणातिक्रम। इनके प्रमाण का अतिक्रम उल्लंघन किस प्रकार होता है? इसका स्पष्टीकरण सागार धर्मामृत में पं० आशाधरजी ने किया है—

> वास्तुक्षेत्रे योगाद्धनधान्ये बन्धनात्कनकरूप्ये।
> दानात्कुप्ये भावान्न गवादौ गर्भतोमितिमतीयात् ।।६४।।अ० ३

वास्तु—रहने का मकान और क्षेत्र—खेत में योग से, धन धान्य के विषय में बंधी से, सुवर्ण चाँदी के विषय में दान से, कुप्य में रूपान्तर करने से और गाय तथा दासीदास आदि के विषय में गर्भ से प्रमाण का उल्लंघन नहीं करना चाहिये। अन्यथा अतिचार लगते हैं। तात्पर्य यह है कि जैसे किसी ने नियम लिया कि मैं एक खेत और एक मकान रखूंगा। बाद में पास के खेत और मकान को खरीद कर बीच की सीमा तोड़ दी तथा दोनों को एक कर लिया। यहाँ संख्या तो मकान और खेत की एक करली परन्तु उसकी सीमा बढ़ा ली इस स्थिति में भंगाभंग की अपेक्षा क्षेत्रवास्तु प्रमाणातिक्रम अतिचार बनता है। इसी प्रकार सोना चाँदी के विषय में किसी ने नियम लिया कि मैं इतना सोना और चांदी रखूंगा।

पीछे कहीं से अधिक मिलने पर अपने पास के सोना और चांदी को स्त्री पुत्रादि इष्टजनों को देकर प्रतिज्ञा का कथंचित् निर्वाह किया। यहां अपने सोना चाँदी का प्रमाण ठीक रहा इसलिये व्रत का भंग नहीं हुआ परन्तु अपने पास का इष्टजनों को देकर कथंचित् उनका स्वामित्व सुरक्षित रक्खा इसलिये व्रत का भंग हो गया। अथवा इनके प्रमाण का उल्लंघन इस प्रकार भी होता है कि जैसे किसी ने नियम लिया कि मैं गले का एक और पांव का एक आभूषण रखूंगा। नियम लेते समय उन आभूषणों का वजन कम था पीछे उनमें कुछ सोना और चांदी अधिक मिलवा कर दूसरे आभूषण बनवा लिये। यहां आभूषणों की संख्या तो नियमानुकूल रही परन्तु वजन बढ़ा लेने से व्रत का भंग हो गया यह हिरण्य सुवर्ण प्रमाणातिक्रम अतिचार है।

गणिम—गिनकर बेचने योग्य, धरिम—तोल कर देने योग्य, मेय—नाप कर देने योग्य और परीक्ष्य—परीक्षा कर देने योग्य, के भेद से धन चार प्रकार का होता है और गेहूँ चना आदि को धान्य कहते हैं। इनके प्रमाण का उल्लंघन, बन्धन—बंधी से होता है। जैसे किसी ने नियम किया कि मैं पांच सौ जायफल, दस तोला कपूर, और एक *मानी गेहूँ रक्खूंगा बाद में उसे दिखा कि इन चीजों का भाव आगे बढ़ जावेगा इसलिये सौदा करते समय ऐसी बंधी करता है कि हमारा सौदा पक्का हुआ परन्तु माल इतने समय बाद उठावेंगे। जब तक माल उठाने का समय आता है तब तक अपने पास का माल निकाल दिया इस स्थिति में लोभ की मात्रा बढ़ने से धनधान्य प्रमाणातिक्रम नामका अतिचार बनता है। दासीदास तथा गाय भैंस आदि के विषय में किसी ने नियम लिया कि मैं इतने समय तक ५ दासीदास और १५ गाय भैंस आदि रखूंगा। पीछे उसे ध्यान आया कि अवधि के भीतर यदि इन्होंने गर्भ धारण कर बच्चे उत्पन्न किये तो उससे हमारे नियम में बाधा पड़ेगी अतः उनके गर्भ धारण के अवसर को टालना, पीछे गर्भ धारण कर जब तक बच्चे उत्पन्न होने का अवसर आवेगा तब तक अपने नियम का काल पूर्ण हो जावेगा यह दासीदास तथा गवादि प्रमाणातिक्रम नामका अतिचार है इस अतिचार का एक रूप ऐसा भी होता है जैसे प्रतिज्ञा लेते समय दासीदास अथवा गाय भैंस आदि की जो संख्या नियत की थी उसका पालन करते हुए उनकी कीमत आदि को बढ़ा लेना। तात्पर्य यह है कि प्रतिज्ञा लेते समय उसकी एक भैंस पांच सेर दूध देती थी उसका मोल सौ रुपये उसकी कीमत थी पीछे उसने उस भैंस को बदल कर अधिक दूध देने वाली अधिक कीमत की भैंस रखली। यहां संख्या की अपेक्षा व्रत की रक्षा हुई परन्तु लोभ की मात्रा बढ़ जाने से व्रत की रक्षा नहीं हुई, इस स्थिति में यह अतिचार बनता है। इसी प्रकार दासीदास के विषय में समझना चाहिये। पहले गाय भैंस आदि के समान दासीदास रक्खे जाते थे, उनसे काम लिया जाता था, बदले में भोजन और वस्त्र दिये जाते थे। आवश्यकता पड़ने पर इन्हें गाय भैंस आदि की तरह बेच दिया जाता था। आजकल यह प्रथा बन्द सी हो गई है। वस्त्र और बर्तन को कुप्य कहते हैं। इनके प्रमाण का [illegible] कुप्यप्रमाणातिक्रम है। वस्त्र के प्रमाण का उल्लंघन, कम कीमत वाले वस्त्र

* पांच मन की एक मानी होती है।

को बदल कर अधिक कीमत वाले वस्त्र लेने से, अथवा कम तौल वाले तांबा पीतल आदि के बर्तनों को बदल कर अधिक तौल वाले बर्तन रखने से, होता है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि आशाधरजी ने तत्त्वार्थ सूत्र के अनुसार ही परिग्रह परिमाणाणुव्रत के अतिचारों का वर्णन किया है मात्र उनकी विधि को स्पष्ट किया है। परन्तु समन्तभद्र स्वामी ने इनका चिन्तन दूसरी विधि से किया है। उन्होंने लिखा है—

अतिवाहनातिसंग्रहविस्मयलोभातिभार वहनानि।
परमितपरिग्रहस्य च विक्षेपाः पञ्च लक्ष्यन्ते ।।१६।। अ० ३

अतिवाहन, अतिसंग्रह, अतिविस्मय, अतिलोभ और अति भारवहन, ये पांच परिग्रह परिमाण व्रत के विक्षेप—अतिचार हैं। इनका स्वरूप इसप्रकार है—

१ **अतिवाहन**—लोभ की तीव्रता को कम करने के लिये परिग्रह का परिमाण कर लेने पर भी कोई लोभ के आवेश से अधिक वाहन करता है अर्थात् बैल आदि पशु जितने मार्ग को सुख से पार कर सकते हैं उससे अधिक मार्ग पर उन्हें चलाना है तो उसकी यह क्रिया अतिवाहन कहलाती है। इस व्रत के धारी किसी मनुष्य ने बैल आदि की संख्या तो कम कर ली परन्तु उनकी संख्या के अनुपात से खेती तथा मार्ग का यातायात कम नहीं किया, इसलिये उन कम किये हुए बैल आदि को ही अधिक चलाकर अपना काम पूरा करता है। ऐसी स्थिति में अतिवाहन नामका अतिचार होता है। आजकल की पद्धति में नौकर चाकरों से भी निश्चित समय से अधिक काम लेना इसी अतिवाहन नामक अतिचार में गर्भित होता है।

२ **अतिसंग्रह**—'यह धान्यादिक आगे चलकर अधिक लाभ देगा' इस लोभ के वश से कोई उसका अधिक काल तक संग्रह करता है उसका यह कार्य अतिसंग्रह नाम का अतिचार है।

३ **अतिविस्मय**—किसी को धान्यादिक के रखने या वेचने से अधिक लाभ हुआ देख खेद मिश्रित आश्चर्य करना तथा ऐसा विचार करना कि यदि हम भी इसका संग्रह करते तो क्या हमें लाभ नहीं होता? अतिविस्मय नामका अतिचार है।

४ **अतिलोभ**—विशिष्ट लाभ मिलने पर भी अधिक लाभ की इच्छा से माल को अधिक रोकना अतिलोभ नामका अतिचार है।

५ **अतिभारारोपण**—लोभ के आवेश से अधिक भार लादना अतिभारारोपण नामका अतिचार है। एक अतिभारारोपण अतिचार अहिंसाणुव्रत का भी है परन्तु वहाँ कष्ट देने का भाव रहता है और यहाँ अधिक लाभ प्राप्त करने का। अथवा अतिभारारोपण का एक अर्थ यह भी हो सकता है कि अपने कारोबार को इतना अधिक फैला लेना, जिसकी वह स्वयं सँभाल नहीं कर पाता और उसके कारण उसे सदा व्यग्र रहना पड़ता है।

समन्तभद्र स्वामी के द्वारा निरूपित ये अतिचार मात्र व्यापार से सम्बन्ध रखने वाले हैं परन्तु उमास्वामी और आशाधरजी के द्वारा निरूपित अतिचार सामान्य हैं—व्यापारी और अव्यापारी—दोनों में लागू होते हैं अतः अधिक ग्राह्य जान पड़ते हैं।

परिग्रहपरिमाण अथवा अपरिग्रह व्रत की रक्षा के लिये उमास्वामी ने, [1]स्पर्शनादि पाँच इन्द्रियों के मनोज्ञ और अमनोज्ञ विषयों में रागद्वेष छोड़ने रूप पाँच भावनाओं का वर्णन किया है। वास्तव में जितना भी परिग्रह है वह सब स्पर्शनादि पाँच इन्द्रियों के विषयों में ही गर्भित है। मनुष्य इष्ट विषयों का संग्रह करना चाहता है और अनिष्ट विषयों का परित्याग। रागद्वेष छूट जाने पर संग्रह और परित्याग का विकल्प समाप्त हो जाता है।

जो मनुष्य उपर्युक्त विधि से अतिचारों का निराकरण करता हुआ पाँच अणुव्रतों का पालन करता है वह मरकर सोलहवें स्वर्ग तक उत्पन्न होता है उसके ऊपर उत्पन्न होने के लिये महाव्रतों का धारण करना आवश्यक है।

अब तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों के अतिचारों का निरूपण किया जाता है। जिस प्रकार खेत की रक्षा के लिये बाड़ का होना आवश्यक है उसी प्रकार अणुव्रतों की रक्षा के लिये गुणव्रत और शिक्षाव्रतों का होना आवश्यक है। गुणव्रत और शिक्षाव्रतों की आगम में शील संज्ञा है उमास्वामी ने १ दिग्व्रत २ देशव्रत और ३ अनर्थदण्डव्रत इन तीन को गुणव्रत माना है परन्तु समन्तभद्र स्वामी और पं० आशाधरजी ने दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोग परिमाणव्रत इन तीन को गुणव्रत कहा है। यहाँ अतिचारों का वर्णन तत्त्वार्थसूत्र के क्रम से किया जाता है।

### दिग्व्रत के पाँच अतिचार—

[2]तत्त्वार्थसूत्रकार ने इस व्रत के ऊर्ध्वव्यतिक्रम, अधोव्यतिक्रम, तिर्यग्व्यतिक्रम, क्षेत्रवृद्धि और स्मृत्यन्तराधान ये पाँच अतिचार निरूपित किये हैं। [3]समन्तभद्र स्वामी ने स्मृत्यन्तराधान के स्थान पर अवधि विस्मरण नामका अतिचार कहा है। दोनों का अर्थ प्रायः एक सा है। पं० [4]आशाधरजी ने भी समन्तभद्र निर्दिष्ट अतिचारों का ही वर्णन किया है मात्र 'अज्ञानाद्वा, प्रमादाद्वा' शब्द देकर अतिचार लगने का कारण स्पष्ट किया है। अतिचारों का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

---

१ 'मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रिय विषय रागद्वेष वर्जनानि पञ्च' ८ त० सू० अ० ७

२ ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रम क्षेत्रवृद्धि स्मृत्यन्तराधानानि ।३०। त० सू० अ० ७

३ ऊर्ध्वाधस्तात्तिर्यग्व्यतिपाताः क्षेत्र वृद्धिरवधीनाम् ।
विस्मरणं दिग्विरतेरत्याशाः पञ्च मन्यन्ते ॥७३॥ अ० ३ र० श्रा०

४ सीमविस्मृतिरूर्ध्वाधस्तिर्यग्भागव्यतिक्रमाः ।
अज्ञानतः प्रमादाद्वा क्षेत्रवृद्धिश्च तन्मलाः ॥४॥ सा० ध० अ० ५

**१ ऊर्ध्वव्यतिक्रम**—ऊपर की सीमा का उल्लंघन करना ऊर्ध्वव्यतिक्रम है जैसे किसी ने नियम किया कि मैं दश हजार फुट तक ऊपर जाऊँगा, परन्तु किसी पर्वत पर चढ़ते समय या वायुयान से यात्रा करते समय इस नियम का ध्यान नहीं रक्खा और अज्ञान अथवा प्रमाद से अधिक ऊपर तक चला गया, यह ऊर्ध्व व्यतिक्रम नामका अतिचार है।

**२ अधोव्यतिक्रम**—नीचे की सीमा का उल्लंघन करना अधोव्यतिक्रम है जैसे किसी ने नियम किया मैं इतने फुट तक नीचे जाऊँगा परन्तु कुआ या खान आदि में उतरते समय उस नियम का ध्यान नहीं रक्खा और अज्ञान अथवा प्रमाद से अधिक नीचे उतर गया, यह अधोव्यतिक्रम नामका अतिचार है।

**३ तिर्यग्व्यतिक्रम**—समान धरातल पर की हुई सीमा का अज्ञान या प्रमाद वश उल्लंघन करना तिर्यग्व्यतिक्रम है।

**४ क्षेत्रवृद्धि**—मर्यादा का क्षेत्र बढ़ा लेना क्षेत्रवृद्धि है जैसे किसी ने नियम किया कि मैं चारों दिशाओं में पचास पचास कोश तक जाऊँगा, परन्तु नियम करने के पश्चात् पूर्व दिशा में ६० कोश की दूरी पर अच्छा कारखाना खुल गया, वहाँ से माल लाने में अधिक लाभ होने लगा और पश्चिम दिशा में ऐसा कोई कारखाना नहीं, अतः नियम लेने वाला पूर्वदिशा की सीमा ६० कोश तक बढ़ा लेता है और पश्चिम की सीमा घटा कर ४० कोश तक कर लेता है। यहाँ क्षेत्रफल की अपेक्षा तो प्रतिज्ञा का पालन हुआ परन्तु प्रतिज्ञा करने का मूल उद्देश्य जो आरम्भ और लोभ को कम करने का था उसका भंग हो गया अतः भंगाभंग की अपेक्षा अतिचार माना गया है।

**५ स्मृत्यन्तराधान**—की हुई सीमा के बदले दूसरी सीमा का स्मरण होना स्मृत्यन्तराधान है, जैसे किसी ने नियम लिया कि मैं अमुक दिशा में ४० कोश तक जाऊँगा, पीछे वह नियम भूलकर कहने लगा कि मैंने ३० कोश तक का नियम लिया था या ४० कोश तक का। ऐसी द्विविधा की स्थिति में ३० कोश से आगे जाने में यह अतिचार होता है। अवधिविस्मरण शब्द का भी यही अर्थ है।

## देशव्रत के पाँच अतिचार—

[1]तत्त्वार्थसूत्रकार ने देशव्रत के निम्नांकित ५ अतिचार कहे हैं—१ आनयन २ प्रेष्य प्रयोग ३ शब्दानुपात ४ रूपानुपात और ५ पुद्गलक्षेप [2]समन्तभद्र स्वामी ने भी देशावकाशिक व्रत के ये ही पाँच

---

१ आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपात पुद्गलक्षेपाः ॥३१॥ अ० ७ त० सू०

२ प्रेषणशब्दानयनं रूपाभिव्यक्ति पुद्गलक्षेपौ।
देशावकाशिकस्य व्यपदिश्यन्तेऽत्ययाः पञ्च ॥६॥ र० क० अ० ४

अतिचार माने हैं। इसी प्रकार [1]पं० आशाधरजी ने भी यही अतिचार स्वीकृत किये हैं। इनका स्वरूप इस प्रकार है—

**१ आनयन**—स्वयं मर्यादा के भीतर रहकर बाहर के क्षेत्र से किसी वस्तु को बुलवाना आनयन नामका अतिचार है।

**२ प्रेष्यप्रयोग**—मर्यादा के बाहर किसी को भेजना प्रेष्यप्रयोग कहलाता है। जैसे किसी ने नियम लिया कि मैं इतने समय तक इस स्थान से आगे नहीं जाऊँगा। नियम के अनुसार वह अपने मर्यादित क्षेत्र में स्थित है परन्तु राग की उत्कटता से दूसरे लोगों को मर्यादा के बाहर भेजकर अपना प्रयोजन सिद्ध करता है। यहाँ कृत की अपेक्षा व्रत की रक्षा होती है और कारित की अपेक्षा उसका भंग हो जाता है इस प्रकार भंगाभंग की अपेक्षा यह प्रेष्यप्रयोग नामका अतिचार बनता है।

**३ शब्दानुपात**—स्वयं मर्यादा के भीतर स्थित रहकर मर्यादा के बाहर काम करने वालों को खाँस कर या खँखार कर सावधान करना शब्दानुपात नामका अतिचार है। फोन आदि करना भी इसी के अन्तर्गत है।

**४ रूपानुपात**—स्वयं मर्यादा के भीतर स्थित रहकर मर्यादा के बाहर के लोगों को अपना रूप दिखाना, ऐसे स्थान पर बैठना जिससे कि मर्यादा के बाहर काम करने वाले लोग अपना रूप देखकर सावधानी से काम करते रहें यह रूपाभिव्यक्ति नामका अतिचार है। इसीको स्वांग दर्शन कहते हैं। टेलीविजन के द्वारा अपना चित्र प्रसारित करना भी इसी अतिचार के अन्तर्गत है।

**५ पुद्गलक्षेप**—स्वयं मर्यादा के भीतर रहकर मर्यादा के बाहर काम करने वालों को कंकड़ पत्थर आदि फेंककर सावधान करना पुद्गलक्षेप नामका अतिचार है। मर्यादा के बाहर पत्र भेजना भी इसीमें गर्भित है।

**अनर्थदण्डव्रत के पाँच अतिचार—**

तत्त्वार्थसूत्रकार ने अनर्थदण्डव्रत के अतिचार निम्न प्रकार निरूपित किये हैं—

'कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोगपरिभोगानर्थक्यानि' १ कन्दर्प २ कौत्कुच्य ३ मौखर्य ४ असमीक्ष्याधिकरण और ५ उपभोगपरिभोगानर्थक्य ये पाँच अनर्थदण्डव्रत के अतिचार हैं।

1 पुद्गलक्षेपणं शब्दं श्रावणं स्वाङ्गदर्शनम्।
देश [illegible] सागारधर्मामृत [illegible] अ० ५

[1]समन्तभद्र स्वामी ने भी यही अतिचार स्वीकृत किये हैं मात्र उपभोग, परिभोगानर्थक्य के स्थान पर 'अतिप्रसाधन' शब्द का प्रयोग किया है। तात्पर्य दोनों का एक है। [2]पण्डित आशाधरजी ने भी ये ही अतिचार माने हैं मात्र उपभोगपरिभोगानर्थक्य के स्थान पर 'सेव्यार्थाधिकता' शब्द का प्रयोग किया है। इनका स्वरूप इस प्रकार है—

**१ कन्दर्प**—कामोत्तेजक भद्दे वचन बोलना कन्दर्प है।

**२ कौत्कुच्य**—भद्दे वचन बोलते हुए, हाथ आदि अंगों से शरीर की कुचेष्टा करना कौत्कुच्य कहलाता है।

**३ मौखर्य**—आवश्यकता से अधिक निष्प्रयोजन बहुत बोलना मौखर्य है।

**४ असमीक्ष्याधिकरण**—प्रयोजन का विचार किये बिना अधिक आरम्भ करना असमीक्ष्याधिकरण है।

**५ उपभोगपरिभोगार्थक्य**—जितने पदार्थों से अपने उपभोग और परिभोग की पूर्ति होती है उससे अधिक संग्रह करना उपभोग परिभोगानर्थक्य कहलाता है।

## सामायिक शिक्षाव्रत के पांच अतिचार—

[3]तत्त्वार्थसूत्र, [4]रत्नकरण्डक श्रावकाचार और [5]सागारधर्मामृत—तीनों ग्रन्थों में सामायिक शिक्षाव्रत के अतिचार निम्न प्रकार बतलाये हैं:—

**१ काययोगदुष्प्रणिधान**—शरीर को हिलाना डुलाना, इधर उधर देखना, डांस-मच्छर को भगाना, तथा बीच में आसन बदलना काययोग दुष्प्रणिधान है।

**२ वाग्योग दुष्प्रणिधान**—मन्त्र या सामायिक पाठ आदि का अशुद्ध उच्चारण करना वाग्योग दुष्प्रणिधान है।

---

१ कन्दर्पं कौत्कुच्यं मौखर्यमति प्रसाधनं पञ्च।
असमीक्ष्य चाधिकरणं व्यतीतयोनर्थदण्ड कृद्विरतेः ॥३५॥ अ० ३ र० क०

२ मुञ्चेत्कंदर्पकौत्कुच्य मौखर्याणि तदत्ययान्।
असमीक्ष्याधिकरणं सेव्यार्थाधिकतामपि ॥१२॥ सा० ध० अ० ५

३ योगदुष्प्रणिधानान्यनादर स्मृत्यनुपस्थानानि ॥३३॥ अ० ७ त० सू०

४ वाक्काय मानसानां दुःप्रणिधानान्यनादरास्मरणे।
सामयिकस्यातिगमा व्यज्यन्ते पञ्च भावेन ॥१५॥ र० क० श्रा० ४

५ पञ्चात्रापि मलानुज्झेदनुपस्थापनं स्मृतेः।
कायवाङ मनसां दुष्प्रणिधानान्यनादरम् ॥३३॥ सा० ध० अ० ५

३ मनोयोगदुष्प्रणिधान—मन को तत्त्व चिन्तन से हटाकर इधर उधर के अन्य विषयों में लगाना मनोयोग दुष्प्रणिधान है।

४ अनादर—बेगार समझ कर अनुत्साह से सामायिक करना अनादर है। चार आदमियों की गपशप गोष्ठी चल रही है, इतने में सामायिक का समय हो गया, इस स्थिति में गोष्ठी छोड़कर अनादर से सामायिक करने पर अनादर नामका अतिचार होता है।

५ स्मृत्यनुपस्थान—चित्त की एकाग्रता न होने से मन्त्र या सामायिक पाठ आदि को भूल जाना स्मृत्यनुपस्थान कहलाता है।

उपर्युक्त अतिचारों में यद्यपि मनोदुष्प्रणिधान नामक अतिचार को बचाना कठिन काम है तथापि अभ्यास पूर्वक वह बचाया जा सकता है। उसके विषय में कहा गया है कि मनोदुष्प्रणिधान, योगमूलक और कषायमूलकके भेदसे दो प्रकार का है। मन की जो साधारण चञ्चलता है वह योगमूलक दुष्प्रणिधान है और बुद्धिपूर्वक किसी के इष्ट अनिष्ट का चिन्तन करने से जो चञ्चलता होती है वह कषायमूलक दुष्प्रणिधान है। सर्व प्रथम कषाय मूलक दुष्प्रणिधान को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये अर्थात् सामायिक में बैठकर किसी के इष्ट अनिष्ट का चिन्तन नहीं करना चाहिये। तदनन्तर योगमूलक दुष्प्रणिधान को दूर करने का प्रयास करना चाहिये। सामायिक में जो मन्त्र या पाठ बोला जाता है उसके अर्थ की ओर लक्ष्य करने से वह योगमूलदुष्प्रणिधान भी दूर किया जा सकता है। धर्म्यध्यान के जो आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय, संस्थानविचय अथवा पिण्डस्थ पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत के भेद से अनेक प्रकार बताये हैं उनका चिन्तन करने से भी मन की एकाग्रता हो जाती है। तात्पर्य यह है कि सामायिक के समय ध्यान का भी अभ्यास करना चाहिये।

## प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत के पांच अतिचार—

प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत के अतिचार भी [1]तत्त्वार्थसूत्र, [2]रत्नकरण्डक श्रावकाचार और [3]सागारधर्मामृत में एक सदृश बताये हैं। मात्र सागारधर्मामृत में स्मृत्यनुपस्थान के बदले अनैकाग्र्य शब्द का प्रयोग किया है परन्तु वह स्मृत्यनुपस्थान का ही पर्यायान्तर जान पड़ता है। पूर्वोक्त अतिचार इस प्रकार हैं—

---

१ "अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थानानि" ॥३४॥ अ० ७ त० सू०

२ ग्रहणविसर्गास्तरणान्यदृष्टमृष्टान्यनादरास्मरणे।
यत्प्रोषधोपवासव्यतिलङ्घनपञ्चकं तदिदम् ॥२०॥ अ० ५ र० क०

३ ग्रहणास्तरणोत्सर्गाननवेक्ष्याप्रमार्जनात् [illegible]।
अनादरमनैकाग्र्यमपि जह्यादिह व्रते ॥४०॥ सा० ध० अ० ५

**१ अप्रत्यवेक्षिता प्रमार्जितोत्सर्ग**—भूख से विह्वल हो बिना देखे बिना शोधे स्थान में मलमूत्रादि करना।

**२ अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान**—भूख से विह्वल हो बिना देखे बिना शोधे किसी वस्तु को उठाना।

**३ अप्रत्यवेक्षिता प्रमार्जित संस्तरोपक्रमरण**—भूख से विह्वल हो बिना देखे बिना शोधे संस्तर पर पड़ना।

**४ अनादर**—अनादर के साथ प्रोषधोपवास करना।

**५ स्मृत्यनुपस्थान**—उपवास का समय तथा उस दिन करने योग्य विधि आदि का भूल जाना।

यद्यपि अनादर और स्मृत्यनुपस्थान नामक अतिचार सामायिक में भी आये हैं परन्तु वहाँ उनका सम्बन्ध सामायिक से है और यहाँ प्रोषधोपवास से है।

## भोगोपभोग परिमाण व्रत के पांच अतिचार—

भोगोपभोग की वस्तुएँ अनेक हैं अतः सबके पृथक् पृथक् अतिचारों का उल्लेख करना अशक्य जान तत्वार्थसूत्रकार और सागारधर्मामृतकार ने मात्र भोजन सम्बन्धी अतिचारों की निम्न प्रकार चर्चा की है—

'सचित्तसम्बन्धसंमिश्राभिषवदुःपक्वाहाराः' ॥३५॥ त० सू० अ० ७

सचित्ताहार, सचित्तसम्बन्धाहार, सचित्तसंमिश्राहार, अभिषवाहार और दुष्पक्वाहार ये पाँच भोगोपभोग परिमाणव्रत के अतिचार हैं।

सचित्तं तेन सम्बद्धं संमिश्रं तेन भोजनम्।
दुष्पक्वमप्यभिषवं भुञ्जानोऽत्येति तद्व्रतम् ॥२०॥ सा० ध० अ० ५

सचित्तादि पदार्थों का सेवन करने वाला पुरुष भोगोपभोग परिमाण व्रत का उल्लंघन करता है।

समस्त अतिचारों का स्वरूप इस प्रकार है—

**१ सचित्ताहार**—'आज मैं सचित्त वस्तुओं का सेवन नहीं करूँगा' इस प्रकार का नियम होने पर भी अज्ञान अथवा प्रमाद से सचित्त वस्तु का सेवन करना। अथवा [1]भूख प्यास से आतुर होने के कारण शीघ्रता करते हुए व्रती की कदाचित् सचित्तादि वस्तुओं के खाने, पीने, लेप लगाने अथवा पहिनने में प्रवृत्ति होना सचित्ताहार है।

---

१ कथं पुनरस्य सचित्तादिषु वृत्तिः ? प्रमादसंमोहाभ्यां सचित्तादिषु वृत्तिः। क्षुत्पिपासातुरत्वात् त्वरमाणस्य सचित्तादिषु अशनाय पानायानुलेपनाय परिधानाय वा वृत्तिर्भवति। राजवार्तिक सू० ३५ अ० ७।

२ सचित्तसम्बन्धाहार—हरे पत्ते आदि सचित्त पदार्थों से सम्बन्ध रखने वाले अचित्त पदार्थों का सेवन करना सचित्त सम्बन्धाहार है।

३ सचित्त संमिश्राहार—हरे चना अथवा हरी मटर आदि सचित्त पदार्थों से मिश्रित अचित्त पदार्थों का सेवन करना सचित्त संमिश्राहार है।

४ अभिषवाहार—कामोत्तेजक गरिष्ठ आहार तथा पेय आदि का सेवन करना अभिषवाहार है।

५ दुष्पक्वाहार—आधा पका अथवा अधिक पका भोजन दुष्पक्व कहलाता है उसका सेवन करना दुष्पक्वाहार है।

समन्तभद्र स्वामी, सामान्य रूप से समस्त भोगोपभोगों में संलग्न होने वाले अतिचारों का वर्णन करते हैं—

विषयविषतोऽनुपेक्षानुस्मृतिरतिलौल्यमतितृषानुभवौ।
भोगोपभोगपरिमाव्यतिक्रमाः पञ्च कथ्यन्ते ॥४४॥अ० ३ र० क०

विषयरूपी विष से उपेक्षा नहीं होना आदरपूर्वक उनका सेवन करना, अनुस्मृति—भोगे हुए भोगों का बार बार स्मरण करना, अतिलौल्य—विषयों के सेवन में अधिक लम्पटता होना, अतितृषा—विषयों के सेवन में अधिक तृष्णा होना और अनुभव—नियत काल में भी अत्यासक्ति का होना, ये पांच भोगोपभोग परिमाणव्रत के अतिचार हैं।

अतिथिसंविभाग व्रत के पांच अतिचार—

अतिथिसंविभाग व्रत के अतिचार बताते हुए तत्त्वार्थसूत्रकार और सागारधर्मामृतकार ने कहा है—

'सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्य कालातिक्रमाः' ॥३६॥त० सू० अ० ७॥ सचित्तनिक्षेप, सचित्तपिधान, परव्यपदेश, मात्सर्य और कालातिक्रम ये पांच अतिथिसंविभागव्रत के अतिचार हैं।

त्याज्याः सचित्तनिक्षेपोऽतिथिदाने तदावृतिः।
सकालातिक्रमपरव्यपदेशश्च मत्सरः ॥५४॥अ० ५ सा०ध०

अतिथि संविभागव्रत में सचित्त निक्षेपादि पांच अतिचार छोड़ने के योग्य हैं। इन अतिचारों का स्वरूप इस प्रकार है—

१ सचित्तनिक्षेप—सचित्त पदार्थ—हरे पत्र आदि पर रखी हुई वस्तु देना।

२ सचित्त पिधान—सचित्त पत्र आदि सचित्त पत्र से ढकी हुई वस्तु देना।

३ परव्यपदेश—अन्य दाता के देय को देना, अथवा अपने [illegible] [illegible] को भी [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] आहार न देकर पर के मुनीम आदि से दिलाना परव्यपदेश है।

**४ मात्सर्य**—मैं बहुत देर से प्रतीक्षा किये खड़ा हूँ फिर भी महाराज हमारे यहाँ नहीं आते ऐसा भाव होना, अथवा अपने यहाँ नहीं आये, दूसरे के यहाँ गये इस स्थिति में अन्य दाता से ईर्ष्या का भाव होना मात्सर्य नामका अतिचार है।

**५ कालातिक्रम**—आहार के योग्य समय का उल्लङ्घन करना कालातिक्रम नामका अतिचार है।

[1]समन्तभद्र स्वामीने परव्यपदेश और कालातिक्रम के बदले अनादर और अस्मरण ये दो अतिचार नवीन रक्खे हैं शेष तीन पहले के ही समान हैं। मुनि को आहार तो दिया परन्तु बेगार समझकर अनादरभावसे दिया इस स्थिति में **अनादर नामका** अतिचार होता है। और आहार की विधि अथवा किसी देय वस्तु को देना भूल जाना **अस्मरण नामका** अतिचार है।

## सल्लेखना के पांच अतिचार—

सल्लेखना के पाँच अतिचारों का वर्णन करते हुए तत्वार्थ सूत्रकारने लिखा है—

जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानानि ।।३७।।अ० ७ ।। जीविताशंसा, मरणाशंसा, मित्रानुराग, सुखानुबन्ध और निदान ये सल्लेखना के पाँच अतिचार हैं।

समन्तभद्र स्वामी ने निरूपण किया है—

जीवितमरणाशंसेभय मित्र स्मृति निदाननामानः ।
सल्लेखनातिचाराः पञ्च जिनेन्द्रैः समादिष्टाः ।।८।।र०क०अ० ५

यहाँ सुखानुबन्ध के बदले 'भय' का निरूपण किया है। सागार धर्मामृत में तत्त्वार्थसूत्र के समान ही पाँच अतिचारों को स्वीकृत करते हुए उनका निम्नाङ्कित पाँच श्लोकों में पृथक् पृथक् वर्णन किया है—

प्रतिपत्तौ सजन्नस्यां मा शंस स्थास्नु जीवितम् ।
भ्रान्त्या रम्यं बहिर्वस्तु हास्यः को नायुराशिषा ।।५८।।
परिषहभयादाशु मरणे मा मतिं कृथाः ।
दुःखं सोढा निहन्त्यंहो ब्रह्म हन्ति मुमूर्षकः ।।५९।।
सह पांसु क्रीडितेन स्वं सख्या मानुरञ्जय ।
ईदृशैर्बहुशो भुक्तैर्मोह दुर्ललितैरलम् ।।६०।।

---

१ हरितपिधान निधाने ह्यनादरास्मरण मत्सरत्वानि ।
वैयावृत्यस्यैते व्यतिक्रमाः पञ्च कथ्यन्ते ।।३१।। र० क० ४ अ०

मा समन्वाहर प्रीति विशिष्टे कुत्रचित्स्मृतिम् ।
वासितोऽक्षसुखैरेव वम्भ्रमीति भवेभवी ।।६१।।
मा कांक्षीर्भाविभोगादीन् रोगादीनिव दुःखदान् ।
वृणीते कालकूटं हि कः प्रसाद्येष्टदेवताम् ।।६२।।अ० ८ सा०ध०

श्लोकों का भाव स्पष्ट है। जीविताशंसा आदि का स्वरूप इस प्रकार है—

१ जीविताशंसा—सल्लेखना धारण कर अधिक समय तक जीवित रहने की इच्छा करना जीविताशंसा है।

२ मरणाशंसा— कष्ट देख जल्दी मरने की भावना रखना मरणाशंसा है।

३ मित्रानुराग—सल्लेखना काल में मित्रों से अनुराग रखना मित्रानुराग है।

४ सुखानुबन्ध—सल्लेखना के पूर्व भोगे हुए भोगों का स्मरण करना सुखानुबन्ध है।

५ निदान—सल्लेखना के फल स्वरूप भोगों की आकांक्षा करना निदान है।

इस प्रकार ७० अतिचारों का वर्णन ( स्पष्टीकरण ) देखकर व्रती मनुष्यों को उनसे दूर रहने का पुरुषार्थ करना चाहिये। जिस प्रकार कोई मनुष्य अपने वस्त्र को मलिन नहीं करना चाहता उसी प्रकार व्रती मनुष्य अपने गृहीत व्रत को मलिन नहीं करना चाहता। यदि किसी तरह गृहस्थ का वस्त्र मलिन हो जाता है तो वह उसे धोकर उज्ज्वल बनाता है इसी प्रकार कदाचित् व्रत में यदि कोई अतिचार लग गया है तो व्रती मनुष्य प्रायश्चित्त द्वारा उसे दूर कर अपने व्रत को उज्ज्वल-निर्दोष बनाता है। 'यह तो अतिचार है व्रतभंग नहीं है' ऐसा समझ कर जो बुद्धिपूर्वक अतिचार लगाता है उसका वह अतिचार न होकर अनाचार ही कहलाता है, क्योंकि अतिचार तो कदाचित् अज्ञान या प्रमाद वश लगता है। बुद्धिपूर्वक जो लगाया जाता है वह अतिचार नहीं है।

✲

# श्रावक-मूलगुण समीक्षा

[ लेखिका-पूज्या श्री १०५ आर्यिका वीरमति माताजी ]

मूलगुण मुख्य गुणों को कहते हैं। जिस प्रकार मूल-जड़ के विना वृक्ष नहीं ठहरते, उसी प्रकार मूलगुणों के विना मुनि और श्रावक के व्रत नहीं ठहरते। इस तरह मूलगुण का वाच्यार्थ अनिवार्य आवश्यक गुण हैं। मुनियों के २८ मूलगुण होते हैं और श्रावकों के ८। श्रावकों के आठ मूलगुणों का उल्लेख कई प्रकार का मिलता है। उपलब्ध श्रावकाचारों में समन्तभद्र का रत्नकरण्डकश्रावकाचार सवसे प्राचीन ग्रन्थ है। उसमें उन्होंने श्रावकों के मूलगुणों का उल्लेख इस प्रकार किया है—

मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपञ्चकम्।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः॥

मुनियों में उत्तम—गणधरादिकदेव, मद्यत्याग, मांसत्याग और मधुत्याग के साथ पाँच अणुव्रतों को गृहस्थों के मूलगुण कहते हैं।

यहाँ उनका ऐसा अभिप्राय जान पड़ता है कि मुनियों के २८ मूलगुणों में पाँच महाव्रत सम्मिलित हैं अतः गृहस्थों के आठ मूलगुणों में पाँच अणुव्रतों का सम्मिलित होना आवश्यक है। मूलगुण चारित्र गुण की भूमिका हैं हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँच पाप की प्रणालियों से सम्यग्ज्ञानी जीव का विरत होना सम्यक्चारित्र है। अतः सम्यक्चारित्र की भूमिका में पाँच पापों का एक देश त्याग होना अत्यन्त आवश्यक है। मद्यत्याग आदि, यद्यपि अहिंसाणुव्रत के अन्तर्गत हो जाते हैं तथापि विशेषता वतलाने के लिये उनका पृथक् से उल्लेख किया है।

आगे चल कर जिनसेन स्वामी ने मधुत्याग को मांस त्याग में गर्भित कर उसके स्थान में द्यूत त्याग का उल्लेख किया है।

हिंसासत्यस्तेयादब्रह्मपरिग्रहाच्च बादरभेदात्।
द्यूतान्मांसान्मद्या द्विरतिर्गृहिणोऽष्ट सन्त्यमी मूलगुणाः॥

स्थूल हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह तथा जुआ, मांस और मदिरा से विरत होना, ये गृहस्थ के आठ मूलगुण हैं।

आदि पुराण की उपलब्ध प्रतियों में यद्यपि यह श्लोक नहीं पाया जाता है तथापि पण्डित प्रवर आशाधरजी ने सागारधर्मामृत की अपनी स्वोपज्ञ टीका के टिप्पण में जिनसेन के नाम से इसे उद्धृत किया है इससे जान पड़ता है कि आशाधरजी के लिये प्राप्त आदि पुराण की प्रति में यह श्लोक रहा होगा।

जिनसेनाचार्य के परवर्ती आचार्यों ने और भी सरलता करते हुए पाँच अणुव्रतों के स्थान पर पाँच उदुम्वर फलों के त्याग का समावेश किया है। जैसा कि सोमदेव के यशस्तिलक चम्पू सम्वन्धी उल्लेख से स्पष्ट है—

मद्यमांसमधुत्यागः सहोदुम्बरपञ्चकैः ।
अष्टावेते गृहस्थानामुक्ता मूलगुणाः श्रुते ॥

मद्य-मांस-मधु के त्याग के साथ पाँच उदुम्बर फलों का त्याग करना ये गृहस्थों के आठ मूलगुण आगम में कहे गये हैं।

इसी मत का समर्थन करते हुए अमृतचन्द्राचार्य ने पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय में कहा है—

मद्यं मांसं क्षौद्रं पञ्चोदुम्बरफलानि यत्नेन ।
हिंसा व्युपरतिकामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव ॥६१॥

हिंसा त्याग की इच्छा करने वाले पुरुषों को सर्व प्रथम यत्नपूर्वक मद्य, मांस, मधु और पाँच उदुम्बर फलों को छोड़ना चाहिये।

अमृतचन्द्र स्वामी ने मूलगुणों की उपयोगिता बतलाते हुए पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है—

अष्टावनिष्टदुस्तर दुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य ।
जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः ॥७४॥

अनिष्ट और दुस्तर पाप के स्थानभूत इन आठ का परित्याग कर शुद्धबुद्धि के धारक पुरुष जिनधर्म की देशना के पात्र होते हैं। तात्पर्य यह है कि जब तक गृहस्थ इन आठ पापस्थानों का त्याग नहीं करता है तब तक वह जिनधर्म का उपदेश सुनने का भी पात्र नहीं है।

सागारधर्मामृत में पण्डित आशाधरजी ने कहा है—

तत्रादौ श्रद्दधज्जैनीमाज्ञां हिंसामपासितुम् ।
मद्यमांसमधून्युज्झेत्पञ्च क्षीरिफलानि च ॥२॥

इसमें सर्व प्रथम, जिनेन्द्र भगवान् की आज्ञा का श्रद्धान करता हुआ गृहस्थ हिंसा का परित्याग करने के लिए मद्य मांस मधु और पांच क्षीरिफल—उदुम्बरफल का त्याग करे।

आठ मूलगुणों का नाम परिगणन करते हुए उन्हीं आशाधरजी ने कहा है—

अष्टैतान् गृहिणां मूलगुणान् स्थूलवधादि वा ।
फलस्थाने स्मरेद् द्यूतं मधुस्थान इहैव वा ॥३॥

इन आठ को गृहस्थों के मूलगुण कहा है। कहीं फलों के स्थान में स्थूल हिंसा त्याग आदि—अहिंसाणुव्रतादि को और मधु के स्थान में द्यूत का समावेश किया है।

इस मत के अतिरिक्त आशाधरजी ने एक अन्य मत का समुल्लेख और भी किया है—

मद्यपलमधुनिशाशन पञ्चफलीविरति पञ्चकाप्तनुती ।
जीवदया जलगालनमिति च क्वचिदष्टमूलगुणाः ॥

मद्य त्याग, मांस त्याग, मधु त्याग, रात्रि भोजन त्याग, पञ्चफली त्याग, देवआप्तनुति—देव दर्शन, जीवदया और जलगालन-पानी छानना ये भी कहीं आठ मूलगुण माने गये हैं।

रत्नमाला में शिवकोटि महाराज ने कहा है—

मद्यमांसमधुत्याग संयुक्ताणुव्रतानि नुः।
अष्टौ मूलगुणाः पञ्चोदुम्बरैश्चार्यकेष्वपि ।।

मद्य-मांस-मधु त्याग के साथ पाँच अणुव्रत धारण करना आठ मूलगुण हैं और कहीं बालकों में भी मूलगुणों की स्थापना के लिये अणुव्रतों के स्थान पर पाँच उदुम्बर फलों के त्याग का भी समावेश किया गया है।

पञ्चाध्यायी के उत्तरार्ध में पं० राजमल्ल ने भी कहा है—

तत्र मूलगुणाश्चाष्टौ गृहिणां व्रतधारिणाम्।
क्वचिदव्रतिनां यस्मात् सर्वसाधारणा इमे ।।७२३।।
निसर्गाद्वा कुलाम्नायादायातास्ते गुणाः स्फुटम्।
तद्विना न व्रतं यावत्सम्यक्त्वं च तथाङ्गिनाम् ।।७२४।।
एतावता बिनाप्येष श्रावको नास्ति नामतः।
किं पुनः पाक्षिको गूढो नैष्ठिका साधकोऽथवा ।।७२५।।
मद्यमांसमधुत्यागी त्यक्तोदुम्बरपञ्चकः।
नामतः श्रावकः ख्यातो नान्यथापि तथा गृही ।।७२६।।

व्रती गृहस्थों के आठ मूलगुण होते हैं और कहीं अव्रती गृहस्थों के भी होते हैं क्योंकि मूलगुण व्रती और अव्रती दोनों के साधारण—समान हैं। ये मूलगुण स्वभाव से अथवा कुलाम्नाय से चले आते हैं क्योंकि इनके बिना जीवों के न व्रत होता है और न सम्यक्त्व ही होता है। इनके बिना मनुष्य नाम से भी श्रावक नहीं होता फिर पाक्षिक, गूढ़, नैष्ठिक अथवा साधक तो हो ही कैसे सकता है? जो मद्य मांस और मधु का त्यागी है तथा पाँच उदुम्वर फलों का जिसने त्याग किया है ऐसा गृहस्थ ही नाम से श्रावक होता है अन्य प्रकार से नहीं।

इस संदर्भ में यह बात ध्यान में रखने के योग्य है कि गृहस्थों के मूलगुणों में जो मतभेद पाया जाता है वह क्षेत्र और काल के अनुसार ही उत्पन्न हुआ है। हिंसादि पापों का परित्याग कर मनुष्य सच्चा श्रावक वने यह सब मतों का स्वरस है।

यहाँ मद्यत्याग आदि पर भी संक्षेप से विचार कर लेना प्रासंगिक है—

**मद्यत्याग—**

अनेक वस्तुओं को सड़ा कर मदिरा बनाई जाती है जिससे उसमें अनेक जीवों की उत्पत्ति हो जाती है साथ ही उसको पीने से मनुष्य मतवाला होकर धर्म कर्म सब भूल जाता है। पागलों के समान

पैदा करता है इसलिये इसका त्याग करना श्रेयस्कर है। भांग, चरस, अफीम आदि नशैली वस्तुओं का सेवन भी इसी मद्य में गतार्थ है अतः मद्यत्यागी को इन सब वस्तुओं का सेवन भी त्याग करने के योग्य है।

**मांसत्याग—**

त्रस जीवों के घात से मांस की उत्पत्ति होती है। इसमें कच्ची और पक्की दोनों ही अवस्थाओं में उसी वर्ण के अनेक संमूर्च्छन जीव उत्पन्न होते रहते हैं। खाना तो दूर रहा स्पर्श मात्र से उन जीवों का विघात होता है अतएव अहिंसा धर्म की रक्षा के लिये मांसभक्षण का त्याग करना चाहिये। मांसभक्षण करने वाले मनुष्य का हृदय अत्यन्त क्रूर होता है। दयालुता, सहृदयता और परोपकारिता आदि गुण मांसभक्षी जीव में निवास नहीं करते हैं। मांस भक्षण अनेक दुर्गुणों को उत्पन्न करता है*। मांसभक्षी जीव, सम्यक्त्व का भी पात्र नहीं है। यद्यपि अविरत सम्यग्दृष्टि जीव के त्रस और स्थावर हिंसा का त्याग नहीं है तो भी मांसभक्षण जैसे कार्य में उसकी प्रवृत्ति नहीं होती। जिसके अनन्तानुबन्धी सम्बन्धी लोभ का अभाव हो गया है तथा प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य गुण प्रकट हुए हैं वह मांसभक्षण में कभी प्रवृत्त नहीं हो सकता। कितने ही लोग सिंहादिक दुष्ट जीवों की बात उठाकर यह समर्थन करते हैं कि उनका मांस ही भोजन है अतः सम्यक्त्व होने पर भी वे मांसभक्षण करते रहते हैं परन्तु आगम में, सम्यक्त्व तो दूर रहा साधारण सुधार भी जिनके जीवन में हुआ है ऐसे भरत चक्रवर्ती तथा भगवान् महावीर स्वामी के जीव जब सिंह पर्याय में थे तब उन्होंने शेष दिनों का सन्यास ही धारण किया है— ऐसी चर्चा आई है। कोरी बहुत धर्म-कर्म की चर्चा कर लेना जुदी बात है और सम्यक्त्व का प्रकट हो जाना एवं उसरूप परिणति बना लेना जुदी बात है। कोई मांसभक्षी मनुष्य कुछ धर्म-कर्म की बात करने लगे और जिनधर्म के प्रति अपनी आस्था प्रकट करने लगे इतने मात्र से उसे सम्यग्दृष्टि नहीं समझ लेना चाहिये।

**मधुत्याग—**

मधु मक्खियों के मुख से निकली हुई लार ही मधु रूप में परिणत होती है। इसमें अनेक जीवों का निवास है। शास्त्रकारों ने तो यह लिखा है कि मधु की एक बूंद के खाने से उतना पाप होता है जितना कि सात गांवों के जलाने से होता है। इसका तात्पर्य यह है कि सात गांवों में जितने स्थूल जीव रहते हैं उतने सूक्ष्म जीव मधु की एक बूंद में रहते हैं। मधु मक्खियों के छत्तों में अनेक जीव प्रत्यक्ष

---

* [illegible]

  [illegible]

  [illegible]

  [illegible]

दिखाई देते हैं मधु बनाने वाले लोग उन सब जीवों का संहार करके ही मधु को बनाते हैं। इसके सिवाय मधु में प्रत्येक समय सम्मूर्च्छन जीव उत्पन्न होते रहते हैं अत: विवेकी मनुष्य को इसका त्याग करना चाहिये। सम्यग्दृष्टि तो दूर रहा, साधारण गृहस्थ भी इसका सेवन नहीं कर सकता। जिह्वा इन्द्रिय के लंपट मनुष्य ही नाना कुयुक्तियाँ प्रदर्शित कर इसके सेवन का समर्थन करते हैं जितेन्द्रिय मनुष्य नहीं, वे तो औषध आदि में भी इसका उपयोग नहीं करते।

### द्यूतत्याग—

हार जीत की शर्त लगाकर पाशा आदि से खेलना द्यूत–जुआ कहलाता है। इसके द्वारा अनेक घर वरबाद हो जाते हैं। शास्त्रों में युधिष्ठिर तथा राजा नल आदि की कथाएँ तो प्रसिद्ध हैं ही पर प्रत्यक्ष में भी हम देखते हैं कि जुवारी लोग कभी सुखी नहीं होते। लाटरी आदि लगाना भी जुआ का ही एक रूप है। किन्हीं दश पाँच आदमियों को लाटरी से होने वाले भारी लाभ को देख, जनता उसके प्रलोभन में आ जाती है पर यह नहीं देखती कि इस लाटरी से लाखों लोग अपने आवश्यक खर्चों से भी वञ्चित रह जाते हैं। जिन लोगों को लाटरी का प्रलोभन लग जाता है वे अपने आवश्यक खर्चों से भी रुपये काटकर लाटरी के टिकिटों में लगाते हैं। खेद की बात है कि हमारी सरकार भी इसका प्रचार करती है और किसी को थोड़ा सा देकर जनता से वहुत अधिक रुपया वसूल करती है। ज्ञानी—विवेकी जीव, अपनी लोभकषाय पर नियन्त्रण रखता है और न्यायोचित साधनों से आजीविका का उपार्जन करता है। जुआ और लाटरी आदि कार्य तीव्र लोभ के ही परिणाम हैं।

### अहिंसाणुव्रत—

संकल्प पूर्वक त्रस जीवों के घात का त्याग करना तथा स्थावर जीवों की भी निरर्थक हिंसा से दूर रहना अहिंसाणुव्रत है। आरम्भी, विरोधी और उद्यमी हिंसा का त्याग, अहिंसागुव्रत में गर्भित नहीं है।

### सत्याणुव्रत—

लोक में जो असत्य के नाम से प्रसिद्ध है ऐसे स्थूल असत्य भाषण का त्याग करना सत्याणुव्रत है। पशुओं में भाषण की कला नहीं है। यह कला मनुष्य को प्राप्त हुई है तो इसके द्वारा स्वपर कल्याण ही करना चाहिये। असत्य भाषण के द्वारा उस कला का दुरुपयोग नहीं करना चाहिये।

### अचौर्याणुव्रत—

किसी की गिरी, पड़ी, या भूली हुई वस्तु को भी न स्वयं उठाना, न उठाकर किसी को देना अचौर्याणुव्रत है। मिट्टी, पानी आदि सर्वोपयोगी वस्तुएँ सर्व साधारण के लिये खुले हुए स्थान से यह जीव ग्रहण कर सकता है पर वर्जित स्थान से उन्हें भी ग्रहण नहीं करता। लोभकषाय की तीव्रता में यह जीव इस वात का विचार भूल जाता है कि जिस प्रकार यह धन धान्यादिक वस्तुएँ मेरे लिये इष्ट हैं,

इनके बिना मैं दुखी हो जाता हूँ उसी प्रकार दूसरे के लिये भी इष्ट हैं इनके बिना वे भी दुखी होते हैं। इस विचार के बिना ही वह चोरी में प्रवृत्त होता है। चोरी करना जहाँ अधार्मिक परिणति है वहाँ अनैतिक परिणति भी है। विवेकी मानव इससे दूर रहता है।

**ब्रह्मचर्याणुव्रत—**

विवाहित और अविवाहित सभी प्रकार की परस्त्रियों का परित्याग करना ब्रह्मचर्याणुव्रत है। सद् गृहस्थ के लिये शीलव्रत की रक्षा करना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि इसके बिना सज्जातित्व नामक परम स्थान की सुरक्षा नहीं हो सकती। ब्रह्मचर्याणुव्रत की रक्षा के लिये वेषभूषा और भोजन का सात्त्विक रखना आवश्यक है। अधिकांश लोग कुसंगति में पड़कर शीलव्रत से भ्रष्ट होते हैं अतः निरन्तर कुसंगति से बचना चाहिये।

**परिग्रहपरिमाणव्रत—**

अपनी आवश्यकता के अनुसार धनधान्य आदि परिग्रह का परिमाण करना परिग्रहपरिमाणाणुव्रत है। इसीका दूसरा नाम इच्छा परिमाण व्रत भी है। परिग्रह से सबका निर्वाह होता है। एक स्थान पर आवश्यकता से अधिक परिग्रह के रुक जाने से अन्यत्र उसकी कमी हो जाती है और कमी के कारण अन्य लोग दुखी हो जाते हैं इसलिये अनावश्यक संग्रह से बचना ही इस व्रत का लक्ष्य है।

**पञ्चोदुम्बर फल त्याग—**

जो फल, वृक्ष के बिना काठ फोड़कर उत्पन्न होते हैं वे उदुम्बर फल कहलाते हैं। बड़, पीपल, पाकर, कठूमर और अंजीर इन पांच फलों का इनमें समावेश किया है। बड़ पीपल पाकर आदि फलों में प्रत्यक्ष त्रस जीव दिखते हैं। कहावत भी प्रसिद्ध है—'न ऊमर फोड़ो न परवा उड़ाओ'। इन फलों के खाने से त्रस जीवों का विघात नियम से होता है अतः अहिंसा व्रत की रक्षा के लिये इनका त्याग करना आवश्यक है।

**रात्रिभोजन त्याग—**

रात्रि में अन्न पान खाद्य लेह्य इन चारों प्रकार के भोजन का त्याग करना रात्रिभोजन त्याग है। पं० आशाधरजी के उल्लेखानुसार मूलगुण का धारी मनुष्य रात्रि में पान सुपारी तथा पानी का सेवन कर सकता है परन्तु प्रतिमाधारी नैष्ठिक श्रावक इनका सेवन नहीं कर सकता।

**आप्तनुति—**

जो प्रतिदिन जिनेन्द्र भगवान् के दर्शन करना, पूजन करना आदि आप्तनुति कहलाती है। देवदर्शन से अपने वीतराग आत्मस्वभाव का स्मरण होता है इसलिये समस्त कार्य छोड़कर इसे अवश्य करना चाहिये। [illegible] देवदर्शन को सम्यक्त्व की [illegible] का कारण कहा है।

**जीवदया—**

आहार-विहार आदि प्रवृत्ति करते हुए जीवदया का भाव रखना जीवदया है। इस गुण का धारी जीव सदा देख भाल कर चलता है तथा अपनी प्रवृत्ति से जीवों का घात नहीं होने देता। मनुष्य को अपनी शक्ति का प्रयोग जीव रक्षा में करना चाहिये न कि जीवघात में।

**जलगालन—**

पानी की एक बूंद में करोड़ों जीव हैं यह बात आज यन्त्रों से देखकर अच्छी तरह सिद्ध की जा चुकी है अतः अगालित जल का त्याग करना गृहस्थ का कर्तव्य है।

इस तरह संक्षेप से मूलगुणों में आई हुई बातों पर विचार किया गया है। उपर्युक्त मूलगुणों का धारण करना व्रती और अव्रती दोनों के लिये आवश्यक है। चरणानुयोग का सब चारित्र करणानुयोग के अनुसार है इसका निर्णय सब नहीं कर सकते। अन्तरङ्ग में प्रतिपक्षी कषायों का अभाव हुआ है या नहीं, इसका निर्णय करना प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय है। चरणानुयोग के अनुसार तो गृहस्थ, गृहस्थ के योग्य और मुनि, मुनि के योग्य आचार का पालन करता है और श्रद्धा के साथ करता है किसी के आतंक या ख्याति लाभ आदि की आकांक्षा से नहीं करता है तो वह चारित्र का धारक कहलाता है। चरणानुयोग ऐसे चारित्र के धारक की भक्ति विनय आदि करने की आज्ञा देता है।

अब तक जैन गृहस्थ का आचार, अन्य लोगों की अपेक्षा जो सुधरा हुआ पाया जाता है वह आचार को प्रधानता देने से ही सुधरा हुआ पाया जाता है। मूलगुणों के बिना भी सम्यक्त्व हो सकता है, सद्गृहस्थ रहा जा सकता है तथा जिनधर्म की देशना प्राप्त की जा सकती है आदि उपदेश और व्याख्यान करने वाले जैन, गृहस्थों को कहाँ ले जाकर पटकेंगे, कहा नहीं जा सकता। करणानुयोग के द्वारा प्रतिपादित रत्नत्रय स्वयं प्राप्त होता है और चरणानुयोग के द्वारा प्रतिपादित रत्नत्रय बुद्धिपूर्वक ग्रहण किया जाता है।



कहै एक सखी स्यानी सुन री सुबुद्धि रानी, तेरौ पति दुःखी लागै उर आर है।
महा अपराधी एक पुद्गल है छहौं माहिं, सोई दुःख देत दीसै नाना परकार है ॥
कहत सुबुद्धि आली कहा दोष पुद्गलकौं, अपनी ही भूल लाल होत आप ख्वार है।
'खोटौ दाम आपनो सराफै कहा लगै वीर' काहूकौ न दोष मेरौ भौंदू भरतार है ॥

# श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ

(नि. 'प्रशान्त' जैन, एम.ए.बी.एड काव्यतीर्थ, प्रा० राजकीय संस्कृत महाविद्यालय कल्याणपुर शहडोल)

मनुष्य स्वभावतः प्रगतिशील प्राणी है। वह जन्म लेते ही, धरती का स्पर्श करते ही खामोशी से नहीं रहता, अपितु चीखना, चिल्लाना एवं हाथ पैरों के हलन चलन के द्वारा अपने शारीरिक विकास को करता हुआ मन, वचन की क्रियाओं के विकास में भी अग्रसर होता है। बालक से जवान होने पर संसार की प्रत्येक चीज से अवगत होने का प्रयास करता है। उसका यह प्रयास तब तक चलता रहता है, जब तक उसे सफलता नहीं मिलती। सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक क्षेत्रों की तरह धार्मिक क्षेत्र में भी उसके कदम उत्तरोत्तर विकास की ओर ही बढ़ते रहते हैं। सांसारिक-सुख भोगों एवं झंझटों में फँसकर जब वह अपने को अधिक थका हुआ अनुभव करता है, तब वह शान्ति की शुद्ध श्वास लेने के लिए छटपटाने लगता है और भौतिक परिग्रह का भारी भरकम पलान अपने ऊपर से उतार फेंकने के लिए अकुलाने लगता है। संसार और देह के स्वभाव का अनुभव कर वह वास्तविक स्थिति को अपनाने का प्रयत्न करने लगता है और वैराग्य के ऊबड़-खाबड़ पथ से गुजरता हुआ निजानन्द के पावन-मन-भावन-वसन्तोद्यान में प्रवेश पाने का उपक्रम करने लगता है।

इस आत्मिक विकास के पथ पर बढ़ने वाले साधकों के दो रास्ते स्पष्ट नजर आते हैं। पहला गृहस्थ, श्रावक के नाम से पुकारा जाता है और दूसरा निर्ग्रन्थ या श्रमण। पहले प्रकार के पथिक को [illegible] चरित्र का पथ धारण करने में निरन्तर प्रयत्नशील रहना पड़ता है। साथ ही अपनी प्रत्येक क्रिया के निर्दोष पालन में सजग प्रहरी की भाँति सावधान रहना पड़ता है और क्रमशः ग्यारह श्रेणियाँ पार करने के बाद वह निर्ग्रन्थ पद की ओर उन्मुख होता है।

श्रावक को ऊपर चढ़ने के लिए ग्यारह प्रतिमाओं की कल्पना क्यों की गई है, इस विषय में सूक्ष्मता से विचार करने पर हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि प्रतिमाओं का आधार [illegible] है और [illegible] के उद्देश्य के समान ही प्रतिमाओं का उद्देश्य भी मुनि पद की प्राप्ति है; जैसा कि रत्नकरण्ड श्रावकाचार के श्लोक [illegible] से स्पष्ट है कि [illegible] "[illegible], गृही तथा याति यति भावम्" [illegible]।

श्रावक की इन ग्यारह श्रेणियों या प्रतिमाओं का विवेचन यहाँ किया जा रहा है:—

१ दर्शन प्रतिमा:— [illegible]

सम्यक्त्वरूप मूल को और उस पर रखी अष्ट मूलगुणरूप भूमिका को सम्हालता है। श्रावक की इस निरतिचार या निर्दोष सम्हाल को दर्शन प्रतिमा कहते हैं।

**२ व्रत प्रतिमा**—इस प्रतिमा का धारी पूर्व स्वीकृत अणुव्रतादि की निरतिचार सम्हाल करता हुआ उनकी रक्षा के लिए बाड़ रूप से स्वीकृत तीन गुणव्रतों का निरतिचार पालन करने को पूर्णतया उत्तरदायी है। इतना अवश्य है कि वह शेष चारों शिक्षाव्रतों का यथाशक्ति अभ्यास करते हुए भी उनको निरतिचार पालने के लिए उत्तरदायी नहीं है।

**३ सामायिक प्रतिमा**—इस प्रतिमा में सामायिक शिक्षाव्रत की परिपूर्णता त्रैकालिक साधना और निरतिचार परिपालन आवश्यक है। दूसरी प्रतिमा में सामायिक शिक्षाव्रत अभ्यास अवस्था में था अतः वहाँ पर सामायिक के लिए समय का कोई बन्धन नहीं था किन्तु सामायिक प्रतिमा में तीनों संध्याओं में सामायिक करना आवश्यक है। वह भी एक बार में कम से कम दो घड़ी ( ४८ मिनट ) तक करना अनिवार्य है। सामायिक का उत्कृष्ट काल छह घड़ी का है। इस प्रतिमाधारी को सामायिक सम्बन्धी दोषों का निराकरण भी आवश्यक माना गया है।

**४ प्रोषध प्रतिमा**—में प्रोषध के साथ उपवास करना आवश्यक माना गया है। पहिले यह अभ्यास दशा में था अतः वहाँ पर १६ पहर, १२ पहर या आठ पहर के उपवास करने का कोई बन्धन नहीं था, परन्तु इस प्रतिमा में निरतिचारता और समय की पाबन्दी आवश्यक मानी गई है।

सप्तमी और त्रयोदशी के दिन अतिथि जन के भोजन के अन्त में स्वयं भोज्य वस्तु का भोजन कर वहीं मुख शुद्धि एवं पाद प्रक्षालन के अनन्तर वहाँ पर ही उपवास सम्बन्धी नियम करके जिनेन्द्र भवन जाकर जिनभगवान को नमस्कार कर गुरु की साक्षी से विधिपूर्वक चारों प्रकार के आहार के त्याग रूप उपवास को ग्रहण करना चाहिए। तथा शास्त्र श्रवण पठन पाठन अनुप्रेक्षा चिन्तन आदि के द्वारा दिन व्यतीत करना चाहिए। अपराह्णिक बन्दना के बाद रात्रि के समय यथाशक्ति कायोत्सर्ग स्थित होकर, शुद्ध जमीन देखकर रात्रि में अपने घर अथवा जिनालय में कुछ समय सो कर प्रातः उठकर वन्दना विधि से जिन भगवान को नमस्कार कर, देव शास्त्र गुरु की द्रव्य अथवा भाव पूजन करके पूर्वोक्त रीति से सारा दिन एवं रात्रि तदनुसार बिता कर पारणा के दिन नवमी या पूर्णमासी को पुनः पूर्व के समान पूजन करके अपने घर जाकर वहाँ अतिथि को आहार दान देकर भोजन करना चाहिए, यह प्रोषधोपवास की उत्तम विधि है।

मध्यम प्रोषध विधान में जल को छोड़कर शेष तीनों प्रकार के आहार का त्याग करना आवश्यक है। आवश्यक कार्य भी सावद्य रहित होकर कर सकता है किन्तु शेष विधान पूर्व के समान ही करना चाहिये।

अष्टमी चतुर्दशी आदि पर्व के दिन आचाम्ल—निर्विकृति, एक स्थान अथवा एक वक्त करना जघन्य प्रोषधोपवास है।

प्रोषधोपवास के दिन स्नान करना, उबटन लगाना सुगन्धित द्रव्य का उपयोग करना, माला पहिनना, बाल सजाना, देह का संस्कार करना तथा रागवर्धक अन्य कार्य भी हेय हैं।

**५ सचित्तत्याग प्रतिमा**—धारी हरित त्वक ( छाल ) पत्र प्रवाल, कन्दफल, बीज और अप्रासुक जल का उपयोग नहीं करता। भोज्य अर्थात् एक बार सेवन में आने वाले पदार्थों में प्रधान भोज्य पदार्थ है। भोज्य पदार्थ दो प्रकार का है—सचित्त और अचित्त। सन्यास या साधुत्व की ओर अग्रसर होने वाला श्रावक जीवरक्षा के लिए और रागभाव के परित्याग के लिए सबसे पहले सचित्त पदार्थों के खाने का यावज्जीवन के लिए त्याग करता है और इस प्रकार वह सचित्त त्याग पाँचवीं प्रतिमाधारी कहलाने लगता है।

**६ रात्रिभुक्ति त्याग**—प्रतिमाधारी मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना इन नौ प्रकारों से दिन में मैथुन का परित्याग करता है। उपभोग पदार्थों में सबसे प्रधान वस्तु स्त्री है—अतएव वह दिन में मन, वचन, काय से दिवा-मैथुन का त्यागी होता है। यद्यपि वह इससे पूर्व भी दिन में स्त्री सेवन नहीं करता था पर उससे हँसी मजाक के रूप में मनोविनोद कर लेता था किन्तु इस प्रतिमा में आकर वह उसका भी परित्याग कर देता है। इस दिवा मैथुन त्याग के साथ ही दिन में अचित्त या प्रासुक पदार्थों के खाने का व्रती होते हुए भी रात्रि में कृत-कारित एवं अनुमोदना से भी रात्रिभुक्ति का बिल्कुल परित्याग कर देता है। इस प्रतिमाधारी के लिए, दिवा मैथुन त्याग और रात्रिभुक्ति त्याग में दोनों त्याग करना आवश्यक है।

**७ ब्रह्मचर्य प्रतिमा**—सातवीं ब्रह्मचर्य प्रतिमा है। छठी प्रतिमा में वह दिवा मैथुन का त्याग करता था किन्तु वह अब स्त्री के शरीर को मलबीज, मलयोनि गलन्मल, पूतगन्ध, एवं वीभत्स मानकर मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना से रात्रि में भी मैथुन का त्याग कर पूर्ण ब्रह्मचारी बन जाता है। इतना ही नहीं वह स्त्री सम्बन्धी रागवर्धक ( स्त्री सम्बन्धी ) सब प्रकार की चर्चायें करना भी बन्द कर देता है।

**८ आरम्भ त्याग प्रतिमा**—अब तक के विवेचन के अनुसार पांचवीं छठवीं और सातवीं प्रतिमा के धारण से भोग और उपभोग के प्रधान साधन सचित्त भोजन एवं स्त्री का सर्वथा परित्याग कर दिया है पर अभी वह भोग और उपभोग की अन्य वस्तुएँ, महल, मकान बाग बगीचे और सवारी आदि का उपयोग करता ही है। इससे विरक्त होने के लिए वह सोचता है कि मेरे पास इतना धन वैभव है और मैं [illegible] का परिग्रह कर रखा है। अब मुझे नवीन धन के उपार्जन की क्या आवश्यकता है बस इस प्रकार की भावना के कारण वह असि-मसि-कृषि वाणिज्य आदि सर्व प्रकार के आरम्भों का परित्याग कर [illegible] आरम्भ त्याग प्रतिमाधारी बन जाता है। इसका आशय है कि इस प्रतिमा का धारी [illegible] किन्तु [illegible] का त्यागी नहीं [illegible] कृत, कारित, अनुमोदना से आरम्भ का [illegible]।

**९ परिग्रह त्याग**—श्रावक ज्यों ज्यों ऊपर चढ़ता जाता है त्यों त्यों अपने बाह्य परिग्रहों को भी घटाता जाता है। आठवीं आरम्भ त्याग प्रतिमा में उसने नवीन धन उपार्जन का त्याग कर दिया है। अब वह एक सीढ़ी चढ़कर संचित धन, धान्यादि बाह्य दश प्रकार के परिग्रह से भी ममत्वभाव घटाकर उनका परित्याग करता है। शरीर से किञ्चित् मोह होने के कारण उसकी रक्षा के लिए केवल वस्त्रादि अत्यन्त आवश्यक पदार्थों को वह रखता है और इस प्रकार वह नवमी परिग्रह त्याग प्रतिमा का धारी बन जाता है। अब इसका सन्तोष ही धन होता है। निर्ममत्व एवं परिग्रह से विरक्त रहता है। गुण० श्राव० पृ० ८१ में इसकी पुष्टि इस श्लोक द्वारा की गई है—

> निर्मूर्च्छं वस्त्रमात्रेय, स्वीकृत्य निखिलं त्यजेत् ।
> बाह्यं परिग्रहं स स्यात् विरक्तस्तु परिग्रहात् ॥

जो वस्त्र मात्र परिग्रह को रखकर शेष सब परिग्रह को छोड़ देता है और स्वीकृत वस्त्र मात्र परिग्रह में भी मूर्च्छा नहीं करता है उसे परिग्रह त्याग प्रतिमाधारी कहते हैं।

**१० अनुमतित्याग प्रतिमा**—स्वजनों से अथवा अपने गृह सम्बन्धी कार्य में अनुमोदन नहीं करता है उसे अनुमति त्याग प्रतिमाधारी कहते हैं। इस प्रतिमा में आकर व्यापारादि आरम्भ के विषय में, धनधान्यादि परिग्रह के विषय में और इहलोक सम्बन्धी विवाहादि किसी भी लौकिक कार्य में अनुमति नहीं देता है। वह घर में रहते हुये भी, इष्ट अनिष्ट संयोग में रागद्वेष नहीं करता और जल में कमल के समान सम्पूर्ण गृह कार्यों से अलिप्त रहता है। एक वस्त्र मात्र के अतिरिक्त और कोई वस्तु अपने पास नहीं रखता। अतिथि की तरह घर में उदासीन रहता है। घर वालों के द्वारा भोजन के लिए बुलाने पर भोजन के लिए चला जाता है।

इस प्रतिमा का धारी भोग सामग्री में से केवल भोजन को जो भले ही वह इसके निमित्त बनाया गया हो, स्वयं अनुमोदना न करके ग्रहण करता है और परिमित वस्त्र धारण करने तथा उदासीन रूप से एक कमरे में रहने के अतिरिक्त और सर्व उपभोग सामग्री का भी परित्यागी हो जाता है। इस प्रकार वह घर में रहते हुए भी भोगोपभोग विरति की चरमसीमा पर पहुँच जाता है। हाँ इस प्रतिमा का धारी उद्दिष्ट अर्थात् अपने निमित्त बने हुये भोजन और वस्त्र के अतिरिक्त समस्त भोग और उपभोग की सामग्री का परित्यागी होता है।

**११ उद्दिष्टत्याग प्रतिमा**—इस प्रतिमा को अंगीकार करने वाला उत्कृष्ट श्रावक कहलाता है। इस प्रतिमाधारी को घर में रहना भी निर्विकल्पकता और निराकुलता में बाधक प्रतीत होता है अतः वह पूर्ण निजत्व और सहजानन्द की प्राप्ति के लिए एकान्त वन का सहारा ले लेता है और वहाँ वह निर्ग्रन्थ गुरु के समीप व्रतों को ग्रहण कर भिक्षावृत्ति से भोजन ग्रहण करता हुआ अपने सम्पूर्ण समय को स्वाध्याय एवं आत्म चिन्तन में व्यतीत करने लगता है। इस दशा में वह अपने निमित्त बने हुए आहार एवं

वस्त्रादि को भी ग्रहण नहीं करता। अतः उद्दिष्ट भोग विरत एवं उद्दिष्ट उपभोग विरत की चरम सीमा में पहुँच जाने के कारण उद्दिष्ट त्याग नामक दशमी प्रतिमा का धारक कहलाने लगता है।

इस प्रतिमा का धारी प्रथम श्रावक ( क्षुल्लक ) अपने बालों का उस्तरा या कैंची से कर्त्तन कराता है। सजग एवं सावधान होकर पीछी आदि उपकरणों से स्थान आदि का संशोधन करता है। थाली आदि में एक बार बैठकर भोजन करता है किन्तु चारों पर्वों में चतुर्विध आहार को त्याग कर उपवास नियम से करता है। क्षुल्लक-पात्र शुद्धि पूर्वक चर्या के लिए श्रावक के घर में प्रवेश करता है किन्तु भिक्षा लाभ के अभाव में प्रसन्न चित्त हो दूसरे घर भोजन के लिए प्रस्थान करता है। नियमानुसार भोजन ग्रहण करता है किन्तु आहार लाभ के अभाव में उपवास का नियम लेकर स्वाध्याय पूर्वक समय को व्यतीत करता हुआ प्रसन्न रहता है।

प्रथम उत्कृष्ट श्रावक के समान ही द्वितीय उत्कृष्ट श्रावक होता है केवल विशेषता यह है कि उसे नियम से केशों का लोंच करना चाहिए, पीछी रखना चाहिए और पाणिपात्र में खाना चाहिए।

ग्यारहवीं प्रतिमाधारी के दो भेद कब से हुये और उन्हें क्षुल्लक ऐलक कब से कहा जाने लगा प्रश्नों का ऐतिहासिक उत्तर अन्वेषणीय है। आचार्य कुन्दकुन्द ने सूत्र पाहुड में एक गाथा दी है ( २१ ) जिसमें ग्यारहवीं प्रतिमाधारी को उत्कृष्ट श्रावक ही कहा गया है अन्य किसी नाम की उपलब्धि नहीं होती। "भिक्खं भमेइ पत्तो" पद से भिक्षुक' नाम की ध्वनि अवश्य निकलती है।

स्वामी कार्तिकेय और समन्तभद्र ने भी ग्यारहवीं प्रतिमाधारी को दो भेद नहीं किये हैं। इस विषय पर स्वतन्त्र लेख आवश्यक है, जो इस प्रकरण से बाहर है।

अन्त में हम इतना ही कहेंगे कि साधक उत्तरोत्तर विकास की ग्यारह श्रेणियां पार करता हुआ मुनिपद की ओर अग्रसर होता है और आत्मस्वरूप को प्राप्त करता है।



## अनुभव प्रशंसा

जीवन अलप आयु बुद्धि बलहीन तामैं, आगम अगाध सिंधु कैसैं ताहि डाक है।
द्वादशांग मूल एक अनुभौ अपूर्व कला, भवदाघहारी घनसार की सलाक है॥
यहै एक सीख लीजै याहीकौ अभ्यास कीजै, याकौ रस पीजै ऐसौ वीर जिन वाक है।
इतनौ ही सार येही आतमकौ हितकार, यहीं लौं मदार और आगैं दूकडाक है॥

# कल्याण पथ

[ लेखक—वि० व्या० श्री पं० छोटेलालजी वरैया धर्मालंकार, उज्जैन ]

आज हम देखते हैं कि भारतवासियों के हृदय में धर्म तत्त्व के प्रति अधिक आदरभाव विद्यमान है तो हृदय फूला नहीं समाता है। सामान्यतया धर्मों पर दृष्टिपात करें, तो उनमें कहीं-कहीं इतनी विविधता और विचित्रता का दर्शन होता है कि वैज्ञानिकदृष्टि-विशिष्ट व्यक्ति के अन्त:करण में धर्म के प्रति अनास्था का भाव जागृत हो जाता है। कोई-कोई सिद्धान्त अपने को ही सत्य की साक्षात् मूर्ति मानकर यह कहते हैं कि तुम हमारे मार्ग पर विश्वास करो तुम्हारा बेड़ा पार हो जायगा। कार्य तुम्हारा कुछ भी हो, केवल विश्वास के कारण परमात्मा तुम्हारे अपराध क्षमा करेगा और अपनी विशेष कृपा द्वारा तुम्हें कृतार्थ करेगा। इस सम्वन्ध में कोई तर्क वितर्क नहीं करना चाहिए। ऐसी धार्मिक पद्धति को विचारक व्यक्ति अन्तिम नमस्कार करता है और हृदय में सोचता है कि यदि धर्म में सत्य की सत्ता पाई जाती है तो उसे उसकी परीक्षा से भय क्यों ?

कितने ही सज्जन यहाँ तक कह बैठते हैं कि धर्म तो अत्यन्त टेड़ी खीर है। जिस व्यक्ति के पास विवेक विद्यमान है वह टेड़ी खीर की वात स्वीकार नहीं कर सकता। वह तो अनुभव करता है कि धर्म कठिन या कठोर या वक्र नहीं है। जीवन की कुटिलता को दूर कर सरलता को हृदय में धारण करा देना धर्म का प्रथम कर्त्तव्य है। इस युग का जीवन इतना कुटिल हो गया है कि उसके प्रभाव से लोक व्यवहार धर्माचरण आदि सवमें बनावट का अधिवास हो गया है। अनुभव और विवेक की दृष्टि से यथार्थ धर्म की खोज की जाय तो विदित होगा कि आत्मा की असलियत-स्वभाव-प्रकृति आदि की अवस्था को ही धर्म कहते हैं। या यों कहना चाहिए कि आपस में लड़ना झगड़ना पशुओं का स्वभाव है, मनुष्यों का धर्म नहीं है। इससे स्पष्ट होता है कि धर्म स्वभाव का द्योतक है। विकृति या कृत्रिमता अधर्म है।

जिस कार्य प्रणाली में आत्मा के स्वाभाविक गुणों को छुपाने वाला विकार का परदा दूर होता है और आत्मा के प्राकृतिक या निज गुण प्रगट होने लगते हैं उसे भी धर्म कहते हैं। मोह रूपी भिन्न २ रंग वाले काँचों से धर्म का दर्शन विविध रूप में होता है। मोह का अवलम्बन छोड़कर स्वाभाविक दृष्टि से देखो तो यथार्थ धर्म एक रूप में ही प्रतिभासित होता है। रागद्वेष मोहादि के कारण आत्मा अस्वाभाविक फंदे में फँसी हुई है। इसके चक्कर के कारण ही पराधीन हुई संसार में परिभ्रमण किया करती है। इन विकृतियों के अभाव हुये बिना यथार्थ धर्म की जागृति होना असम्भव है।

विकारों के अभाव होने पर आत्मा अपूर्व गुणों से विकसित हो जाती है। अत: विकारों पर प्रारम्भिक विजय प्राप्त करने का उपाय यह है कि आत्मा अपने को ओजहीन आदि न समझे। इसमें—

यह अखण्ड विश्वास उत्पन्न होना चाहिए कि मेरी यह आत्मा ज्ञान और दर्शन के आनन्द की सिन्धु है। मेरी आत्मा अविनाशी और अनन्त शक्तियुक्त है। जड़ पदार्थों के सम्बन्ध से आत्मा जड़ सी प्रतीत होती है किन्तु वास्तव में यदि देखा जाय तो वह चैतन्य का पुञ्ज है। अज्ञान-असंयम तथा अविवेक के कारण यह जीव हत बुद्धि हो अनेक उल्टे कार्य कर स्वयं अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारता है। बड़ी कठिनता से सत्य समागम द्वारा अथवा अनुभव के द्वारा यह सुदृष्टि को प्राप्त होता है तब यह जीव अपने आपका स्वयं निर्माता हो जाता है। यह हीन एवं पाप प्रवृत्ति में रत होकर किसी की विशेष कृपा से उच्च नहीं बन जाता है।

जीवन में उच्चता को प्राप्त करने के लिए मुमुक्षु जनों को उचित है कि वह संयम और सदाचार के प्रति अपनी अधिक रुचि रखें। असंयम पूर्ण जीवन में आत्मा अपनी शक्ति का संचय नहीं कर पाती। विषयों से विमुख बनने से आत्मा में अपूर्व शक्ति का संचार होता है। और विषयोन्मुख बनने से आत्मा में हीनता का भाव पैदा होता है और इससे शक्ति का क्षय होता है। संयम और आत्मावलम्बन के द्वारा यह आत्मा विकास को प्राप्त होता है इससे आत्मा में अपूर्व शक्तियाँ जाग्रत होती हैं। अपने मन और इन्द्रियों के वश में करने के कारण अपूर्व शक्ति का स्वामी बन जाता है। इतना ही नहीं बल्कि इन उच्चतम प्रवृत्तियों के द्वारा परम पद की भी प्राप्ति कर लेता है। जिस प्रकार सूर्य की किरणें विशिष्ट कांच का योग प्राप्त होने पर अग्नि प्रज्वलित कर देती हैं उसी प्रकार सदाचरण एवं संयम के द्वारा चित्तवृत्ति एकाग्र होकर ऐसी अपूर्व शक्ति उत्पन्न होती है। जन्म जन्मान्तर का विकार सब भस्म होकर यह आत्मा स्फटिक मणि के समान निर्मल हो जाता है।

आज भौतिकवाद का बड़ा प्रभाव बढ़ रहा है इसने आत्मा को अन्धे के समान बना दिया है। इस शरीर और इन्द्रियों की आवाज तो हमें बड़ी मीठी सुनाई देती है किन्तु अन्तर आत्मा की आवाज की ओर हमारा ध्यान नहीं जाता। आत्मा अपने कर्तव्य को भूलकर विपरीत प्रवृत्ति करने लग गया है इसीसे यह [illegible] बना हुआ है। जड़वाद की नींव पर खड़ा होकर वैज्ञानिक विकास की [illegible] में हमें सफलता बतला दी है। इसमें कोई शक नहीं है कि विज्ञान ने [illegible] किया है किन्तु इसके साथ ही ऐसी घातक सामग्री भी है जिसे देख मानव को सोचना पड़ता है कि [illegible] लाभ हुआ है उसकी अपेक्षा हानि अधिक है। किसी बच्चे को मिष्ठान्न भोजन [illegible] आज के विज्ञान की है। यदि इस विज्ञान को [illegible] अविनाशी सामग्री निर्माण न होगी। वैज्ञानिकों का [illegible] बन जाता है तो उसी प्रकार यह [illegible] विज्ञान यदि [illegible] मानव [illegible]

इसी में है कि आत्मा परपदार्थों के प्रपञ्चों में न फँसे, अपने अमूल्य समय का सदुपयोग होने दे साथ ही अपनी शक्ति के अनुसार प्रयत्न भी करे जिससे यह आत्मा विभावों का क्रम-क्रम से परित्याग कर स्वभाव के समीप आवे। जिस जन्म जरा मृत्यु की मुसीबतों में यह संसार ग्रसित है, उससे बचकर अपर जीवन और अत्यन्त सुख की उपलब्धि करना सबसे बड़ा चमत्कार है। बस यही महाविज्ञान है।

भौतिक विज्ञान खारे पानी के समान है, उसे जितना-जितना पियोगे उतनी-उतनी अधिक प्यास लगेगी। इस प्रकार विषय भोगों की जितनी जितनी आराधना और योग होगा उतनी उतनी लालसा और अशान्ति तथा तृष्णा बढ़ेगी। आकुलता और मुसीबत पूर्ण जीवन को देखकर संसार के प्राणी कभी-कभी सोचते हैं कि यह आफत कहाँ से आ गई? अज्ञानवश यह जीव अन्य को दोष देता है किन्तु विवेकी प्राणी शान्ति भाव से विचारने पर इसका उत्तरदायी अपने आपको मानता है और निश्चय करता है कि अपनी भूल के कारण ही विपत्ति के सागर में डूबा हूँ। यथार्थ में कल्याण का मार्ग है समता और विषमता का त्याग। मोह ममता ने विषमता का जाल संसार भर में फैला रखा है। समता के लिए इस जीव को उनका आश्रय ग्रहण करना होगा जिनके जीवन से रागद्वेष मोहादि की विषमता निकल चुकी है। तभी हमारा कल्याण होगा।



# वैयावृत्ति

[ लेखक—परम पूज्य श्रुतनिधि आ० क० १०८ श्री श्रुतसागरजी महाराज ]

दुःख से निवृत्ति करना है लक्षण जिसका ऐसी वैयावृत्ति विनय, श्रद्धा एवं भक्ति पूर्वक ही होती है। वैयावृत्ति अन्तरङ्ग तप का तीसरा भेद है। वैसे तो इस अन्तरङ्ग तप का प्रादुर्भाव निर्ग्रन्थ मुनिराजों की आत्मा में ही होता है, किन्तु गौण रूप से इसका प्रतिपालन श्रावक भी करते हैं। श्रावकों के द्वारा की हुई वैयावृत्ति चार प्रकार के दानों में निहित है। अन्तरङ्ग श्रद्धा एवं भक्ति से दिये हुये आहार, औषधि, ज्ञान और अभयदान वैयावृत्ति के ही पोषक तत्त्व हैं। बड़े बड़े राजा महाराजाओं ने एवं सती शिरोमणि राज्ञियों ने भी चार दान रूपी वैयावृत्ति के द्वारा अपने मोक्षमार्ग को निष्कण्टक बनाया है। यथा—

भोगभूमि की परिसमाप्ति के समय धर्म प्रवर्तक आदि ब्रह्मा श्री आदिनाथ भगवान ने जन्म लिया और ८३ लाख पूर्व तक राज्य सम्पदा का उपभोग कर अन्त में जैनेश्वरी दीक्षा धारण की। उनके साथ अन्य ४००० राजाओं ने भी दिगम्बर भेष धारण किया किन्तु मोक्षमार्ग के आचरण की अनभिज्ञता के कारण वे सब भ्रष्ट हो गये। जन्म समय जिनके दश अतिशय प्रगट हो चुके थे, जो अतिशय बलशाली थे ऐसे श्री ऋषभदेव छह माह तक प्रतिमा योग से स्थित रहे। छह माह बाद मात्र

मोक्षमार्ग पर चलने वाले हीन बल एवं हीन संहनन धारी मुनिराजों का स्थितिकरण करने की दृष्टि से ऋषभनाथ महा मुनिराज चर्या को निकले और केवल एक दो माह नहीं अपितु छह माह तक भ्रमण किया। उस काल में श्रावक मुनियों के आहारदान की विधि से अनभिज्ञ थे, अतः रत्न घोड़े, हाथी और कन्या रत्न आदि लाकर समर्पण करने लगे। भोगोपभोग सम्बन्धी समस्त पदार्थों से अत्यन्त निष्पृह रहने वाले मुनिराज भ्रमण करते करते हस्तिनापुर पहुँचे। राजा श्रेयान्स को आपके दर्शन मात्र से ही जातिस्मरण हो गया। जिसके द्वारा आहारदान की विधि ज्ञात कर विधिवत् पड़गाहन किया और नवधा भक्ति पूर्वक इक्षुरस का आहार देकर जगत को यह बतला दिया कि संयम के साधनभूत औदारिक शरीर की रक्षा करने के लिये भ्रामरी वृत्ति से विचरण करने वाले साधुओं को विनय पूर्वक आहारदान देना ही संयम व संयमियों की यथार्थ वैयावृत्ति है।

मैना सुन्दरी जब गुरु के पास से पढ़कर आई तब तकदीर और तदबीर को लेकर पिता पुत्री में कुछ विसम्वाद हो गया। पिता ने कुपित हो नगर के बाहर स्थित स्वदेश से निर्वासित ७०० कुष्ट रोगियों से युक्त कुष्ट रोगी श्रीपाल के साथ अति सुकुमार कोमलाङ्गी राजकुमारी मैना सुन्दरी का विवाह कर दिया।

अष्टाह्निका पर्व में शीलगुण से विभूषित मैनासुन्दरी ने पति एवं अन्य सात सौ वीर भटों के रोग निवारणार्थ सिद्धचक्र मण्डल विधान किया, और वह प्रतिदिन अभिषेक पूजन करती हुई, अपूर्व भक्ति से प्रेरित हो जिनेन्द्रदेव से यही प्रार्थना करती कि प्रभो ! इस महान संकट में मुझे मात्र "त्वमेव-शरणं" "अन्यथा शरणं नास्ति"। अष्टाह्निका पर्व के अन्तिम दिन भक्ति में ओतप्रोत मैना सुन्दरी जिनेन्द्र भगवान का अभिषेक कर जब पति के साथ अन्य समस्त कुष्ट रोगियों को वह पवित्र गन्धोदक लगाती है तब सभी के शरीर स्वर्णमयी आभा से चमकने लगते हैं।

मैनासुन्दरी का जिनेन्द्र भक्ति स्वरूप यह औषधदान मात्र प्रशंसनीय ही नहीं अपितु अनुकरणीय भी है। द्रव्य आदि के द्वारा औषधदान देना उतना कठिन नहीं है जितना कि मन वचन काय की एकाग्रता पूर्वक भक्ति में लीन हुये अभिषेक द्वारा रोग निवारण कर देना है।

मैनासुन्दरी के भक्ति स्वरूप औषधदान ने कुष्टरोग तो मात्र सात सौ जीवों का ही दूर किया किन्तु सहज ( सिद्ध ) भक्ति स्वरूप सम्यग्दर्शियों की मिथ्यात्व रूपी भयङ्कर कुष्ट रोग से निवृत्त कर दी [illegible] यथार्थ औषधदान अर्थात् वैयावृत्ति है।

[illegible] के पुत्र थे। माता पिता ने इनका विवाह संस्कार [illegible] के साथ कर दिया था। इन्द्र सदृश सुखों का उपभोग करते हुये [illegible] फलतः उनके अन्तरङ्ग में वैराग्य [illegible]

दीक्षा धारण करली। विशिष्ट ज्ञानाधार आचार्यश्री एवं वारिषेण मुनिराज अपने ज्ञान चक्षुओं से यह बात भलीभाँति जानते थे कि एकाक्षी स्त्री में आसक्त पुष्पडाल मुनिराज मात्र बाह्य से नग्न हैं, अन्तरङ्ग से नहीं, फिर भी वे उनका रक्षण शिक्षण तथा नमोऽस्तु प्रतिनमोऽस्तु आदि सभी व्यवहार अन्य भावलिंगी साधुओं के सदृश ही करते रहे, उन्हें इस बात का भय नहीं हुआ कि यह द्रव्यलिङ्गी है और इसका नमस्कार आदि करने से हमारे सम्यक्त्व का घात हो जावेगा। जैसी कि वर्तमान युग में कुछ जीवों की व्याख्या है।

संघ विहार करता हुआ बारह वर्ष बाद पुनः राजगृह नगर आया और पुष्पडाल मुनिराज अपनी एकाक्षी स्त्री के देखने को आतुर हो उठे। मुनिराज वारिषेण ने उनकी मनःस्थिति समझ ली और असमय में ही पुष्पडाल को साथ लेकर राज भवन जा पहुँचे। पुष्पडाल सहित वारिषेण मुनिराज को राज भवन में प्रवेश करते देख रानी चेलना का हृदय कम्पायमान हो गया और उसने पुत्र की परीक्षा हेतु काष्ठ एवं स्वर्ण के दो सिंहासन रखकर यथायोग्य विनय पूर्वक उन दोनों से बैठने का आग्रह किया। वारिषेण मुनिराज ने काष्ठ के सिंहासन पर बैठते हुये रानी चेलना से कहा कि अपनी बत्तीसों पुत्र वधुओं को सोलह श्रृङ्गारों से युक्त करके बुलाइये। देवाङ्गनाओं के सदृश रूप लावण्य को धारण करने वालीं बत्तीसों रानियाँ जब समक्ष आकर खड़ी हो गईं तब वारिषेण मुनिराज पुष्पडाल से बोले कि मूढ़ ! तूने कुरूपा एकाक्षी के पीछे अपने बारह वर्ष व्यर्थ ही खो दिये। यदि तुझे भोग ही भोगना है तो इन देवाङ्गना सदृश स्त्रियों को भोग। अद्वितीय रूप लावण्य से युक्त उन रानियों को देखकर एवं वारिषेण के वचनों से पुष्पडाल मुनिराज का मोहान्धकार दूर हो गया और उन्हें तत्काल सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति हो गई।

वारिषेण मुनिराज के इस समीचीन ज्ञानदान ने पुष्पडाल की पतित आत्मा को रत्नत्रय में स्थापन कर उनकी यथार्थ वैयावृत्ति की।

इस वर्तमान युग ( समय ) में भी धर्मात्मा के आधार से रहने वाले धर्म, संयम एवं चारित्र के उत्थान की वाञ्छा करने वाले विद्वानों को इसी मार्ग का अनुसरण करना पड़ेगा। लेख मालाओं की खेंचातानी तो मात्र अपनी परिणति का ही थर्मामीटर बनेगा, उत्थान का नहीं।

अनेक शास्त्रों में पारङ्गत रानी चेलना ने जब पति के मुख से यह सुना कि "मैं तीन दिन पहिले एक दिगम्बर जैन साधु के गले में मरा हुआ सर्प डालकर आया हूँ" तब वह विह्वल हो उठी। शरीर शिथिल पड़ गया और आँखों से आँसू बहने लगे। उसकी इस प्रकार की दयनीय दशा देखकर राजा श्रेणिक बोले कि—प्रिय ! तुम इतनी चिन्ता क्यों करती हो, वह साधु तो उसी समय सर्प फेंक कर कहीं भाग गया होगा। चेलना ने कहा—नाथ ! यदि आपने दिगम्बर साधु के गले में सर्प डाला है तो वे उसी स्थिति में स्थित होंगे, कहीं जा नहीं सकते। आपने घोर अन्याय किया है। आप शीघ्र चलकर घोर परीषह जय का अपूर्व दृश्य देखिये। इतना कह कर रानी चेलना ने उपसर्ग निवारण हेतु कुछ आवश्यक

सामग्री ली और पति के साथ जंगल में गई। वहाँ जाकर देखा कि महाराज श्री उसी अवस्था में विराजमान हैं, और चींटियों ने उनका शरीर छिद्र युक्त कर दिया है। रानी चेलना ने सर्व प्रथम अनेक उपायों द्वारा उन चींटियों को अलग किया, पश्चात् मुनिराज के गले से सर्प निकाल कर उन्हें उपसर्ग मुक्त किया।

रानी चेलना ने उन ध्यानस्थ मुनिराज की यह अनुपम वैयावृत्ति करके उन्हें अकाल मृत्यु के मुख में जाने से बचाया। उसने केवल धर्मात्मा की ही रक्षा नहीं की अपितु धर्म एवं चारित्र की भी रक्षा की, क्योंकि "न धर्मो धार्मिकैर्विना"।

रानी कैकेयी के वरदान स्वरूप "भरत निष्कण्टक राज्य करें" इस अभिलाषा से युक्त राम, लक्ष्मण और सीता अयोध्या से निकल कर अनेक नगर, ग्राम, खेट, कर्वट, नदी, पर्वत और वनादिक में भ्रमण करते हुये जब वंशस्थद्युति नामक नगर में पहुँचे, तब उन्हें समस्त नागरिक नगर से निकल कर अन्यत्र जाते हुये दिखाई दिये। राम ने किसी भद्र से इसका कारण पूछा। उन्हें उत्तर मिला कि इस नगर के समीप ही बाँसों के समूह से व्याप्त वंशधर नामका पर्वत है, जिस पर तीन दिन से रात्रि के समय महा भयङ्कर आवाज होती है जो समस्त दिशाओं में एक योजन से भी अधिक क्षेत्र के जीवों को त्रास एवं भय उत्पन्न करती है। इन्हीं शब्दों के भय से हम लोग रात्रि में नगर से एक-डेढ़ योजन दूर चले जाते हैं और प्रातः वापिस आ जाते हैं। यह सब वार्ता सुनकर प्राण भय के विनाश की शंका से युक्त जनता को अभयदान देने की वाञ्छा से युक्त राम, लक्ष्मण और सीता उसी समय पर्वत पर पहुँचे। वहाँ जाकर उन्होंने धीर, वीर, गम्भीर, नूतन तारुण्य से युक्त और उत्तम ध्यान में आरूढ़ किन्तु अत्यन्त भयानक एवं मोटे मोटे सर्प बिच्छुओं से घिरे हुये कुलभूषण, देशभूषण नाम के दो मुनिराजों को देखा। राम, लक्ष्मण ने धीरे धीरे पास जाकर जो दूर हटाने पर भी बार बार वहीं लौटकर आते थे ऐसे सर्प और बिच्छुओं को धनुष के अग्रभाग से दूर किया, और भक्ति से भरी हुई[1] सीता ने निर्झर के जल से बहुत देर तक उन मुनिराजों का पाद प्रक्षालन कर उन्हें मनोहर गन्ध से लिप्त किये। तथा जो वन को सुगन्धित कर रहे थे ऐसे लक्ष्मण के द्वारा तोड़कर दिये गये थे, ऐसे निकटवर्ती लताओं के फूलों से भक्ति भाव पूर्वक उनकी पूजा की। पश्चात् राम लक्ष्मण ने वीणा बजा कर सुन्दर गान किया और सीता ने अनुपम नृत्य किया।

कुछ समय उपरान्त सूर्य अस्त हो गया। तथा रात्रि के घोर अन्धकार से दसों दिशाओं में क्षोभ उत्पन्न करने वाले शब्दों के साथ उन मुनिराजों पर भयंकर उपसर्ग हुआ। चूंकि जगत के सम्पूर्ण [illegible] को [illegible] करने वाले युगल मुनिराज भय से रहित अपनी आत्मा में लीन थे, फिर भी

1. [illegible] शाली, [illegible] ।
[illegible] ॥४४॥
[illegible] ।
[illegible] । पद्म पुराण, पर्व ३९ ( सानुवाद )

राम लक्ष्मण दोनों भाइयों ने सीता को महाराजों के चरण सानिध्य में बैठा कर देवों को भी पराजित कर देने वाले अपने बल और पराक्रम से क्षण मात्र में उपसर्ग निवारण कर अभयदान पूर्वक स्वपर एवं धर्म और धर्मात्माओं की परमोत्कृष्ट वैयावृत्ति का अपूर्व आदर्श प्रगट किया।

सती सीता के द्वारा ( जिनको अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान होने वाला है ऐसे ) युगल मुनि श्री देशभूषण कुलभूषण के पाद प्रक्षालन, चन्दन विलेपन, पुष्पों द्वारा पूजन एवं नृत्यादि का कार्य युक्त ही होगा, इसीलिये मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्रजी ने उन कार्यों का निषेध नहीं किया और वे कार्य उन मुनिराजों के केवलज्ञान की उत्पत्ति में भी बाधक नहीं हुये।

जिस प्रकार पुत्र अपने पिता की परीक्षा करने का अधिकार नहीं रखता, माँ के वचनों पर विश्वास कर पिता की सम्पत्ति का अधिकारी होता है, उसी प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञानियों से रहित इस वर्तमान युग में भी हम केवल आराती आचार्यों के वचनों पर विश्वास करके ही अपना कल्याण कर सकते हैं। अपनी अल्पबुद्धि द्वारा आचार्यों की परीक्षा करके उन्हें तथा उनके वचनों को अप्रमाणीक ठहराने से तो हमारे संसार की वृद्धि ही होगी, कल्याण नहीं।



# आह्वान

[ लेखिका—श्रीमती रूपवती 'किरण' जबलपुर ]

पात्रः—श्रेष्ठी धन्यकुमार—नगर श्रेष्ठी
श्रेष्ठी शालिभद्र —श्रेष्ठी धन्यकुमार के साले
सुभद्रा —श्रेष्ठी धन्यकुमार की पत्नी
यशोधरा —श्रेष्ठी शालिभद्र की पत्नी
पद्मा —सेविका

## दृश्य प्रथम

समय मध्याह्न काल

स्थान—श्रेष्ठी धन्यकुमार का प्रासाद

( प्रासाद विशाल है। उसके अन्तर्कक्ष में श्रेष्ठी धन्यकुमार की पत्नी सुभद्रा बैठी हैं। अन्तर्कक्ष की साज सज्जा से अतुल वैभव का अनुमान सहज ही हो जाता है। सुभद्रा धरती पर बिछे गलीचे पर बैठी हैं। निकट ही चन्द आसंदियाँ रखी हैं। )

सुभद्रा—( स्वगत ) बन्धु शालिभद्र के पूरे एक सप्ताह से कोई समाचार प्राप्त नहीं हुये।

पद्मा—( झारी लेकर प्रवेश ) स्वामिनी ! जल पियें।

सुभद्रा—( पात्र से जल पीती हैं ) पद्मा ! देख तेरे स्वामी हाट से आ गये क्या ?

पद्मा—जी स्वामिनी ! ( जाने लगती है फिर रुक कर ) यदि आ गये हों तो कोई सन्देश है ?

सुभद्रा—उनसे कहना कि आज मैं पीहर जाना चाहती हूँ। क्या उन्हें अवकाश है चलने का ? जा, शीघ्र आना।

पद्मा—अभी आती हूँ। ( प्रस्थान )

सुभद्रा—( स्वगत ) अपना अपना भाग्य है। आर्य पुत्र कभी सुख चैन से नहीं रह सके। लक्ष्मी सदैव इनके चरणों में लोटी है, फिर भी विश्राम कोसों दूर रहा है। बन्धु शालिभद्र को देखो, वे अपनी सुकुमारता के लिए ही दूर-दूर तक विश्रुत हो गये। श्रम तो क्या, चिन्ता किस चिड़िया का नाम है उन्हें यह भी ज्ञात नहीं। बालक की भाँति सरल, निश्छल और निश्चिन्त। लगता है जैसे कोई स्वर्ग के सुर को मर्त्यलोक ही भा गया है।

( पद्मा जल्दी जल्दी आती है। )

पद्मा—स्वामिनी ! स्वामी तो नहीं आये। पर श्रेष्ठी शालिभद्र पधार रहे हैं।

सुभद्रा—( आश्चर्यान्वित हो ) बन्धु शालिभद्र !

पद्मा—हाँ स्वामिनी !

सुभद्रा—( हँसकर ) नहीं री, तुझे भ्रम हो गया है। रत्नों के मधुर प्रकाश में रहने वाले बन्धु शालि सूर्य के प्रखर प्रकाश में कैसे बाहर निकलेंगे ? जा, पुनः भली-भांति देखकर आ, कौन है ?

पद्मा—तो क्या मैं पहचानती नहीं हूँ। आपके साथ कितनी बार मैं आपके पीहर गई हूँ। संध्या होने को आ रही है। ढलते सूर्य में ओज क्या शेष रहा ?

सुभद्रा—फिर भी क्या हुआ। सूर्य सूर्य ही है। उष्णता कहाँ चली जायगी ? वे नहीं, कोई और होगा। उनके आगमन की कोई पूर्व सूचना भी तो नहीं है !

पद्मा—क्या ! भगिनी के गृह आने में क्या कोई सूचना की आवश्यकता है ? विश्वास करें स्वामिनी ! वे ही हैं। रथ से उतरते मैंने उन्हें देखा है। तभी तो भागती हुई आ रही हूँ आपके पास।

सुभद्रा—( हर्षित हो ) सच ! तब दौड़ पद्मा ! उन्हें मार्गदर्शन दे। ( विचारने की मुद्रा में ) शालिभद्र कैसे आये हैं, कुछ समझ में नहीं आ रहा।

( पद्मा जा नहीं पाती कि एक सेवक के साथ श्रेष्ठी शालिभद्र प्रवेश करते हैं। सेवक चला जाता है। )

सुभद्रा—प्यारे बन्धु ! आज लगता कि स्वप्न भी कभी कभी साकार हो जाते हैं। कल्पना भी नहीं कर पाती थी कि कभी तुम्हें यहाँ देख सकूँगी। अपने गृह में बन्धु को देखकर भगिनी को कितनी प्रसन्नता होती है भाई !

शालिभद्र—( प्रसन्नचित्त पर सजल नयनों से ) और भ्राता को और भी अधिक। मेरी प्रसन्नता का तुम अनुमान भी नहीं लगा सकोगी जीजी !

( झुककर चरण स्पर्श करते हैं। )

सुभद्रा—अरे अरे यह क्या बन्धु ! ( आसंदी की ओर संकेत कर ) विराजो।

शालिभद्र—भगिनी से आशीर्वाद लेने आया हूँ जीजी !

( आसंदी पर बैठ जाते हैं। )

सुभद्रा—मेरा आशीर्वाद तो सदैव तुम्हारे साथ है शालि ! पर यह तो बताओ किस शुभ संवाद के उपलक्ष्य में मेरे आशीर्वाद की आवश्यकता आ पड़ी है। ( शालिभद्र को आँसू पोंछते देखकर ) अरे ! तुम्हारे नेत्र सजल क्यों हैं ? सब कुशल तो है ?

शालिभद्र—( हँसते हुये ) बिलकुल, तुम घबरा क्यों गई ?

सुभद्रा—तुम्हारी आँखों में आँसू ! और मैं न घबराऊँ ?

शालिभद्र—तुम भूल गई जीजी ! प्रभात का प्रकाश भी तो मुझे असह्य है।

सुभद्रा—बातों ही बातों में मुझे ध्यान ही नहीं रहा। इतना आवश्यक कार्य था तो मुझे बुला भेजा होता। तुमने क्यों कष्ट किया ?

शालिभद्र—बस आज तुम्हारा प्रासाद अवलोकनार्थ चला आया और फिर आशीर्वाद भी तो लेना था।

सुभद्रा—बन्धु ! मुझे स्मरण है जब महाराज श्रेणिक अपना कौतुहल शमन न कर सके तब वे तुमसे मिलने आये थे। आज जीवन में प्रथम बार बाहर निकले हो। नेत्रों में विशेष कष्ट हो गया तो ? रत्नों के मधुर आलोक में रहने के अभ्यस्त नेत्र इतना आतप सहसा सहन नहीं कर सकेंगे।

शालिभद्र—किन्तु अब मैं इसी का अभ्यास करूँगा ! आज से शुभारम्भ है। इतनी सुकुमारता भी पौरुष पर कलङ्क है भगिनी !

सुभद्रा—यह आशंका तुम्हें कैसे हो गई शालि ! तुम असाधारण पुरुष हो।

शालिभद्र—असाधारण पुरुष अपने पुरुषार्थ से अनभिज्ञ रहे ? यह भी तो नहीं हो सकता। सुनो जीजी ! कल मैं भगवान महावीर के समवशरण में गया था।

सुभद्रा—( आश्चर्य से ) सच समवशरण में हो आये। वहाँ की महिमा का क्या कहना ? भगवान की वाणी श्रवणार्थ अमरावती के इन्द्र भी ललचाते हैं।

शालिभद्र—यथार्थतः यही बात है। अभी तक तो मैं बाह्य विश्व के वैचित्र्य से पूर्णतः अपरिचित था। प्रथम तो मार्ग में ही मुझे ऐसे वीभत्स दारुण दृश्य दिखे जिनकी मैं कल्पना भी नहीं कर सकता। मेरे रोम रोम में काँटे उठ आये।

सुभद्रा—ऐसा क्या देखने में आया शालि !

शालिभद्र—जीजी ! एक वृद्ध को देखा जो लाठी टेकता हुआ चल रहा था, अङ्ग अङ्ग जर्जर रोगग्रस्त था। जिज्ञासा शान्त की सारथी ने। उसने कहा—कुमार सबके शरीर की अन्तिम अवस्था

यही है, और फिर देखा एक शव। तब जाना कि समस्त प्राणी जगत पर, मृत्यु की काली छाया निरन्तर डोल रही है।

सुभद्रा—बन्धु ! मुझे घोर आश्चर्य है कि जिस माँ ने तुम्हें संसार के कष्टों का आभास नहीं होने दिया, मृदुल फूलों की भाँति पाला है, उन माँ श्री ने बाहर जाने की आज्ञा कैसे दे दी ?

शालिभद्र—आज्ञा मिलना कठिन ही नहीं असम्भव भी था। समवशरण की भनक कानों में पड़ चुकी थी। हृदय व्याकुल हो रहा था जाने के लिये। भगिनी ! आज्ञा उल्लंघन के दोष का भागी न बन सकूं अस्तु बिना आज्ञा लिये ही चुपचाप चला आया।

सुभद्रा—बड़ा दुस्साहस किया शालि ! देखो श्रम से तुम्हारी मुखाकृति आकर्ण आरक्त है।

शालिभद्र—तन का तो यह स्वभाव है भगिनी ! हम ही अपने स्वभाव से विमुख परतंत्रता का कष्ट भोग रहे हैं।

सुभद्रा—प्रासाद की परिधि लांघते ही तुम इतने बदल गये शालि ! माँ श्री को ज्ञात होगा तो उनकी क्या दशा होगी ? प्रिय बन्धु शालि ! माँ ने तुम्हारे लिये क्या नहीं किया ? सुख साधन तो जुटाये ही। प्रासाद में ही सरोवर, सरिता, गिरि कन्दराओं की ऐसी रचना निर्मित की कि प्राकृतिक सौन्दर्य भी मात खा गया। तुमने माँ की ममता की अवहेलना की है। काश ! तुम माँ के हृदय को पढ़ पाते शालि !

शालिभद्र—नतमस्तक अपना दोष स्वीकार करता हूं। किन्तु तुम्हीं बताओ क्या यही चरमोत्कर्ष है ? प्राणी का क्या इसमें कल्याण हो सकेगा ?

सुभद्रा—नहीं होगा, किन्तु हाथों पर चुगाया गया कबूतर क्या खेतों में चारा नहीं खायगा ?

शालिभद्र—जंगली हाथी पोस जाने पर क्या वन की पुकार भी भूल जाता है जीजी !

सुभद्रा—( मचलती हुये ) वैभव से परिपूर्ण, सुख सुविधाओं से संयुक्त जीवन को ठुकरा कर क्या तुम साधु को निमन्त्रण नहीं दे रहे ?

शालिभद्र—इस भुलावे में मेरा आना असम्भव है जीजी ! और अपने आपको जब तक नहीं देख पाती, तब तक यह सम्भव कोई प्रतिबिम्ब न देख सके। भगवान वीर के विशाल दर्पण में मैंने अपना बिम्ब देखा है। मैं अपनी अन्तर्हित योग्यता का परिचय पा चुका हूं।

सुभद्रा—फिर भी साधु जीवन में साधु पद के उपयुक्त सर्वांग का होना भी अनिवार्य है बन्धु ! तुम्हारी अवस्था अब और असाधारण सुकुमारता ! श्रमण जीवन के नियम कितने कठोर, मन उतना ही कोमल। [illegible] कठिन ही नहीं असम्भव भी है।

शालिभद्र—यह भ्रम है, [illegible] उसने परम पुरुषार्थ को अंगीकार नहीं किया [illegible]। [illegible] मेरे हृदय के [illegible] हो गये हैं। मेरी कृत्रिम [illegible] हो गई है। भौतिकता की पराधीनता से जब तक मुक्त नहीं होगा, तब तक सुख [illegible] कल्पना [illegible] है।

सुभद्रा—यद्यपि सत्य से अस्वीकृति नहीं है, तथापि वैराग्य का क्षणिक आवेग स्थिर नहीं होता। तुम गृहस्थ धर्म से अनजान श्रमण धर्म की साधना में मत फँसो। स्मरण रखो शालि ! अँधेरे में लगाई गई छलांग अभीष्ट की सिद्धि नहीं करती।

शालिभद्र—भगिनी ! भेड़ियों की माँद में पला सिंह शावक भी जब अपनी शक्ति पहिचान लेता है, तब वह बिना एक क्षण खोए अविलम्ब उस समूह से मोह छोड़ माँद का परित्याग कर देता है।

सुभद्रा—उचित कह रहे हो। परन्तु मोह-साम्राज्य से हम इतने ग्रसित हैं कि पग पग पर कुसंस्कार जाग कर हमें पथभ्रष्ट करने से नहीं चूकते।

शालिभद्र—संकल्प पूर्वक उठाया गया चरण अपने लक्ष्य पर ही पड़ता है। आत्मा की अचिंत्य शक्ति के सम्मुख विश्व की कोई भी शक्ति तुच्छ है, निर्बल है।

सुभद्रा—पुरुषार्थी हो शालि ! पर स्मरण रखना कि गार्हस्थ धर्म यदि छल, लोभ को प्रश्रय देता है तो श्रमण जीवन में विशिष्ट सम्मान की भूख जागती है और वह उत्तरोत्तर अग्नि की भाँति अतृप्त हो हहराती रहती है। एक ओर कूप तो दूसरी ओर खाई।

शालिभद्र—भलीभाँति स्मरण रखूँगा भगिनी ! यूँ तो साधक अवस्था में श्लाघा एवं आकांक्षा का पथ बहुत पहिले छूट जाता है, फिर भी सम्हल कर चलूँगा। लक्ष्यवान को पथ के क्षुद्र कंटक भ्रष्ट नहीं कर पाए हैं।

सुभद्रा—( नेत्र सजल और कंठ भर आता है ) तुम कृतकार्य होओ शालि !

शालिभद्र—जीजी ! तुम्हारी आँखों में आँसू।

सुभद्रा—यही तो मानव मन की कमजोरी है बन्धु !

शालिभद्र—वही कमजोरी तो दूर करना है।

सुभद्रा—यत्न करूँगी।

शालिभद्र—अभी घर से अनुमति लेना शेष है।

सुभद्रा—कहीं अनुमति नहीं मिली तो विचार स्थगित कर दोगे ?

शालिभद्र—( सरलता से ) नहीं जीजी ! देर-सबेर मिलेगी ही। उनकी अभिलाषा भी पूर्ण हो जायगी। पर तुम निराश सी कैसी हो गई ?

सुभद्रा—( गम्भीरता पूर्वक ) शालि ! श्रमणों का आचरण असिधारावत् किंवा लौह-खण्ड चबाने के सदृश है ? कहीं तुमने भीत हो बहाना तो नहीं खोज लिया ?

शालिभद्र—( दृढ़ता पूर्वक ) नहीं नहीं भगिनी ! शालि भीरु नहीं है। ......पर तुम्हें तो प्रसन्नता होनी चाहिये थी ?

सुभद्रा—नहीं बन्धु ! यह प्रसन्नता का विषय नहीं, दुःख का होगा। कोई उठते २ पुनः पतन के गर्त्त में गिरने लगे तो क्या देखने वाले हर्षित हो सकते हैं ? शालि ! वह अन्तरात्मा की आवाज नहीं, स्वार्थ भरे मोह के बोल थे।

शालिभद्र—तो जीजी ! कल्याणेच्छुक भी उनकी अवहेलना करना जानता है। तुम निश्चिन्त रहो। गजदन्त बाहर निकल कर पुनः मुख में प्रवेश नहीं करते। अब आज्ञा दो मैं जाऊं।

सुभद्रा—( व्यथित हो ) जाओ शालि ! रुकने को भी कैसे कहूँ ? तुम्हारे योग्य भोज्य पदार्थ भी तो नहीं है। कमल पत्र के भीगे तंदुल कहाँ से लाऊँ। आज प्रथम बार तो तुम मेरे घर आए हो।

शालिभद्र—( हँसते हुए ) व्यथित क्यों होती हो जीजी ! श्रमणों का आहार संतुलित होता है। साधु अवस्था में निर्विकल्प हो आहार दान देना। ( जाने लगते हैं )।

सुभद्रा—रुको, शालि ! तुम्हारा आगमन प्रथम तथा अन्तिम है। तिलक तो कर दूँ। ( बुलाती है ) पद्मा !

पद्मा—( प्रवेश कर ) जी स्वामिनी !

सुभद्रा—तिलक की सामग्री ले आ।

( पद्मा तुरन्त एक थाल में मंगल आरती, श्रीफल, रोली लेकर आती है। वह थाल हाथ में लिए रहती है। सुभद्रा शालिभद्र का तिलक कर हाथ में श्रीफल देती है। तत्पश्चात् आरती उतारती है। )

शालिभद्र—अब और कोई रस्म तो शेष नहीं ? जाने की अनुमति है न ? जीजाजी से भेंट नहीं हो पाई। उन्हें भेजना जीजी !

सुभद्रा—वे स्वयं ही आयेंगे शालि ! मेरी अनेक अनेक शुभकामनायें तुम्हारे साथ हैं।

शालिभद्र—( प्रसन्नचित्त मुस्कुराते हुए ) इन दिनों में अनगिनत शुभकामनाएँ मिलेंगी जीजी ! अच्छा आज्ञा दो।

( चरण छूते हैं। तत्पश्चात् प्रस्थान )

सुभद्रा—( खिन्न मन हो ) शालि कितना सुकुमार ! आह ! गद्दे पर जाने वाले कोमल गद्दों पर भी जिसे कमलों का दाना चुभ जाता था, वह कठोर भूमि पर कैसे शयन करेगा ?

( तभी धन्यकुमार का प्रवेश। सुभद्रा स्वागतार्थ उठती है। परन्तु उदास खिन्न मन है। )

धन्यकुमार—प्रिये ! आज [illegible] मुख म्लान क्यों ? क्या अस्वस्थता है ?

सुभद्रा—नहीं नहीं, आर्य [illegible]। किन्तु शालिभद्र आये थे।

धन्यकुमार—( अत्यन्त आश्चर्य युक्त हो ) शालिभद्र ! आश्चर्य ! घोर आश्चर्य !

सुभद्रा—[illegible] आश्चर्य है, किन्तु वे अब आहार [illegible] का अभ्यास कर रहे हैं।

धन्यकुमार—[illegible] अभ्यास की [illegible] आवश्यकता आ पड़ी ?

सुभद्रा—[illegible]

धन्यकुमार—[illegible] शालिभद्र [illegible]

सुभद्रा –अभाव ! सर्वत्र अभाव ही अभाव तो है। भौतिक सामग्री का सद्भाव ही चरम सुख नहीं है देव !

धन्यकुमार—कौन से रंग में रंग गई हो सुभद्रे ! दोनों भ्राता भगिनी एक ही भाषा बोल रहे हैं। अर्थ अपनी बुद्धि के परे है।

सुभद्रा—आपको तो सदा ही परिहास सूझा करता है।

धन्यकुमार—ओह प्रिये ! हम वही तो जानना चाहते हैं कि तुम्हारे ऊपर कौन सा पहाड़ टूट पड़ा।

सुभद्रा—कृपया मुझे न छेड़ें, मेरा मन अत्यन्त दुखी है।

धन्यकुमार—और यदि कोई प्रयास कर अपनी आँखों की पट्टी खोल आगे बढ़ने का उपक्रम करे तो हम उसे बलपूर्वक घसीटने में भी सिद्धहस्त हैं।

सुभद्रा—नहीं नहीं, मैं यह नहीं चाहती कि शालिभद्र पीछे हटे। पर क्या करूँ, मन वार-बार भर आता है। वह असाधारण पुरुष जो है।

धन्यकुमार—शुभे ! ऐसे ही असाधारण पुरुष तपस्वियों में भी अग्रणी हो जाते हैं। शालिभद्र शीघ्र ही परिहार विशुद्धि चारित्र के धारी हो जाएँगे।

सुभद्रा—सो कैसे ? यह तो विरले साधकों को ही होता है।

धन्यकुमार—हाँ, जिसका गार्हस्थिक जीवन अत्यन्त सुख शान्ति से व्यतीत हुआ हो, ऐसा निश्छल व्यक्ति केवली के सन्निकट रहकर आतम साधना करे तो निश्चित ही परिहार संयम का धारक हो जाता है।

सुभद्रा—इस संयम की कौन सी विशेषतायें हैं आर्य !

धन्यकुमार—गार्हस्थिक जीवन से ही उत्तरोत्तर वृद्धि एवं आंतरिक विशुद्धि का सुफल यह है कि साधक की शारीरिक प्रक्रियाओं से अनन्त सूक्ष्म प्राणी जगत का विध्वंस नहीं होता।

सुभद्रा—( आश्चर्य से ) क्या कहा ? विध्वंस नहीं होता। जब हमारे श्वासोच्छ्वास, गमनागमन से ही क्षुद्रतम प्राणी नष्ट हो जाते हैं तो क्या साधक की ये शरीरजन्य स्वाभाविक क्रियायें भी समाप्त हो जाती हैं ?

धन्यकुमार—( समझाते हुये ) नहीं नहीं, यह विशेषता है देवि ! शरीर इतना भारहीन निर्मल हो जाता है कि उससे अन्य प्राणियों को कष्ट नहीं होने पाता।

सुभद्रा—( आत्मविभोर हो ) धन्य है, ऐसे तपस्वियों को मेरा वार-वार नमस्कार है।

धन्यकुमार—अब तो प्रसन्न हो।

सुभद्रा—( गहरी साँस ले ) मेरी प्रसन्नता से क्या प्रयोजन ? आह ! सुकुमार सलोने के लिये माँ श्री ने क्या नहीं किया। कभी जो कल्पना भयावह थी, आज वह साकार हो रही है। वे अपने लाड़ले के अभाव में कैसे दिन यापन करेंगी ?

धन्यकुमार—शुभे ! तुम विदुषी होकर भी कैसी अज्ञानियों सी बातें कर रही हो !

सुभद्रा—( सजल आँखें आँचल से पोंछते हुये ) शालि के अभाव में मुझे उस महान भव्य प्रासाद की कल्पना भी असह्य कष्टकारक हो रही है। भाभी तो रो रो कर प्राण दे देंगी।

धन्यकुमार—वे अपने प्राण दें या न भी दें। पर तुम अपने प्राण अवश्य दे रही हो। अरे जिसका जो होना होगा, वही होगा। पराई चिन्ता में तुम क्यों सूख रही हो ?

सुभद्रा—( तड़प कर ) क्या पीहर पराया होता है। सहोदर ही पराये हो जायें तो अपना किसे कहेंगे ?

धन्यकुमार—( शान्ति से ) किसी को नहीं देवि ! कौन है अपना ? रहने की झोंपड़ी, अपना ये तन तो अपना नहीं। फिर हम किसको अपना कहने का दंभ भरें ?

सुभद्रा—( व्यंग से ) बातें करना जितना सरल है आर्य ! आचरण में उतारना उतना ही दुष्कर है।

धन्यकुमार—तभी तक जब तक हम ममता की चादर ओढ़े हुये हैं। अन्तरंग से नग्न हुये तो वस्त्र उतरते देर नहीं लगती।

सुभद्रा—इतनी बड़ी बात चुटकियों में उड़ा रहे हैं। सन्यास न हुआ, खेल हो गया।

धन्यकुमार—( निश्छल हास्य बिखेरते हुये ) खेल ही तो है।

सुभद्रा—( तीखे स्वर में ) तो आप क्यों नहीं खेलते ?

धन्यकुमार—कौन सी बड़ी बात है ! हम भी खेल लेंगे। अनेकों जीवन मनो-विनोद में खोये हैं। एक बार आत्मविनोद के अर्थ ही दाँव लगा लेंगे। पासा सीधा पड़ा तो लाभ ही लाभ है।

( उठकर जाने लगते हैं )

सुभद्रा—कहाँ चल दिये ?

धन्यकुमार—तुम्हारे अनुज श्री शालिभद्र के साथ खेलने।

सुभद्रा—क्या कह रहे हैं आप ? तनिक विचार किया आपने ?

धन्यकुमार—जिसने विचार किया, वही डूबा है देवि ! कल्याण करने में सोच विचार कैसा ? बहुत दिनों का भटका व्यक्ति यदि अपने घर का मार्ग पा ले तो उसे आगे बढ़ने के लिये प्रोत्साहन देना ही [illegible] है।

( धन्यकुमार का शीघ्रगति से प्रस्थान )

सुभद्रा—सुनो तो... ( अति व्याकुल ) चले गये।

[illegible]—ठकुराइन जी आप इतनी विकल क्यों हैं ?

सुभद्रा—( [illegible] सजल नेत्रों से ) क्या ! मेरे स्वामी अनुज शालिभद्र के घर गये हैं......।

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

पद्मा—( पहेली सी बुझाती हुई ) स्वामी श्रेष्ठी शालिभद्र के यहाँ गये हैं। ( ओठों पर उँगली रख कर सोचती है ) उन्हें वापिस लौटा लाना है। जीवन मरण का प्रश्न !... समझी स्वामी को मैं बुला लाऊँ ?

सुभद्रा—पल भर का भी विलम्ब न कर पद्मा। जा रथ तैयार करा। मैं अभी शालिभद्र के यहाँ जाऊँगी। जा शीघ्रता कर।

पद्मा—जैसी आज्ञा स्वामिनी ! ( प्रस्थान )

सुभद्रा—( स्वगत ) एक नई आशंका ने और घेर लिया। कहीं श्रेष्ठि पुत्र भी....नहीं नहीं, मैं उन्हें नहीं जाने दूंगी। अब तक की जीवन यात्रा कष्ट और संघर्षों में ही चली है। सुख के दिन तो अब आये हैं।

पद्मा—रथ प्रस्तुत है स्वामिनी ?

सुभद्रा—चल, मैं आई ( प्रस्थान )

[ पटाक्षेप ]

## दृश्य द्वितीय

समय—अपराह्न काल

स्थान—श्रेष्ठि शालिभद्र का प्रासाद

[ श्रेष्ठी शालिभद्र का अन्तर्कक्ष बहुमूल्य सामग्री से सुसज्जित है। वे पर्यंक पर बैठे हैं। निकट ही पीठिकायें भी रखी हैं। पर्यंक पर ही उनकी पत्नी यशोधरा बैठी हैं। वार्तालाप चल रहा है। ]

यशोधरा—प्रियतम ! आपने अचानक ये कैसा क्रूर निर्णय कर लिया ?

शालिभद्र—प्रिये ! शुभ कार्य को क्रूर की संज्ञा दे रही हो। क्या विवेक को भी तिलांजलि देदी ?

यशोधरा—अभी विवाह हुये एक युग भी तो पूर्ण नहीं हुआ। यह तरुणाई, अद्वितीय सुकुमारता क्या कठोर तपश्चर्या के अर्थ है ?

शालिभद्र—हाँ, तरुणाई का उचित उपयोग तपस्वी बनने में है प्रिये ! वृद्धावस्था इसके उपयुक्त नहीं।

यशोधरा—किन्तु आपका शरीर सुख सुविधाओं का अभ्यस्त है श्रेष्ठि पुत्र ! ये देवोपम सामग्री अन्यत्र दुर्लभ है। चार दिन में ही तपस्या छोड़ बैठेंगे।

शालिभद्र—देवि ! भौतिक सामग्री में आकर्षण तो है, पर सुख नहीं, सुख इससे सम्बन्ध विच्छेद कर ही पाया जा सकता है, क्योंकि ये चिरस्थायी नहीं।

यशोधरा—आर्य श्रेष्ठ ! आपने अतुल वैभव का प्रभाव प्रत्यक्ष देखा है। प्रतापशाली महाराज श्रेणिक अपना अहोभाग्य समझ कर आपसे स्वयं मिलने चले आते हैं।

शालिभद्र—( उदासीनता से )—यह कोई महिमा की बात नहीं। और फिर यह सब तुम्हारे कारण हुआ है। न तुमने बहुमूल्य रत्नकंबल की जूतियाँ बनवाई होतीं, न चील मुँह में लेकर उड़ती, न राज महल में गिरती।

यशोधरा—कारण आप और दोष मुझ पर। माँ श्री ने आपके लिए ही न कंबल क्रय किया था। किन्तु आपको चुभने के कारण जूतियाँ बनवा कर उसका उपयोग कर लिया गया।

शालिभद्र—अहा! महाराज अपना कौतूहल ही शमन करने आये थे।

यशोधरा—यह क्या कम है कि राजकोष जिस कंबल का मूल्य न चुका सका हो, राज्य का नागरिक क्रय कर उसी की जूतियाँ बनवा ले।

शालिभद्र—इसमें नवीनता कौन सी हुई शुभे!

यशोधरा—यह तो महाराज से ही पूछते देव! जो वे एक एक कार्य देखकर स्वर्ग की कल्पना में खो गये थे। वे अत्यन्त विस्मय से भर गये, जब माँ श्री ने कर्पूर प्रज्वलित कर महाराज की नीराजना की और आपके नेत्रों से निर्झरिणी बह उठी थी।

शालिभद्र—स्वाभाविक था। नेत्रों की अनभ्यस्तता ही बाधक थी। पर इन व्यर्थ की बातों से हमें क्या प्रयोजन यशोधरे!

यशोधरा—आपको न हो, मुझे तो है। और यह ज्ञात कर कि आप केवल कमल पत्र में भीगे तन्दुलों का ही भोजन करते हैं, महाराज के आश्चर्य की सीमा नहीं रही।

शालिभद्र—( ऊब कर ) देवि! सारहीन बातों में समय गँवाने से क्या लाभ?

यशोधरा—मेरा प्रयोजन तो यही है कि आपका यह कोमल तन कठोर तपस्या के उपयुक्त नहीं है। आप [illegible] त्याग दें। सोच समझ कर भँवर में पैर डालने चाहिए। अन्यथा मँझधार में सदा डूबने की संभावना रहती है।

शालिभद्र—अपना अपना दृष्टिकोण है भद्रे! जिसे तुम भँवर समझ रही हो, वह भँवर नहीं, अपितु भँवर से निकाल कर निराकुल स्थान में ले जाने वाली नाव है। मेरे प्रण को तुम डिगा नहीं सकती।

यशोधरा—[illegible] पूर्ण नहीं होंगे।

शालिभद्र—[illegible] भूल हुई। आत्मा की अनन्त शक्ति ज्ञात करने का प्रयत्न भी नहीं किया। [illegible] यह हमारी अज्ञानता की चरम सीमा है कि [illegible]

यशोधरा—[illegible]

शालिभद्र—( समझाते हुये ) यह मोह का माहात्म्य है देवी ! माँ श्री जब प्रकृतिस्थ हो विचार करेंगी, तब मेरा कार्य उन्हें अनुचित प्रतीत नहीं होगा।

यशोधरा—( रूठ कर ) ओह ! मैं स्वप्न में भी कल्पना नहीं कर सकती थी कि आपके कोमल तन में वज्र सा कठोर मन होगा। आप निर्दय हैं।

शालिभद्र—तुम्हें भ्रम है देवी ! मेरा मन तो करुणा से भींगा हुआ है। एक बार यदि तुम भगवान वीर के समवशरण में उनकी वाणी सुन लोगी तो तुम्हारे अज्ञानता के पट खुल जायेंगे।

यशोधरा—अच्छा एक बात कहूँ ?

शालिभद्र—कहो।

यशोधरा—यदि कोई बीच का मार्ग निकल आए तो आप स्वीकार करेंगे ?

शालिभद्र—कोई मार्ग नहीं है।

यशोधरा—है, यदि मैं सुझाऊँ तो ?

शालिभद्र—है नहीं, फिर भी कहो। मान लूँगा।

यशोधरा—आप मानने का वचन दें।

शालिभद्र—हमारे कार्य में बाधा को छोड़, अन्य वचन देने में आपत्ति नहीं होगी।

यशोधरा—जब आप ठान ही चुके हैं, तब रोक लगाना असम्भव है। पर आपसे विनय है कि आप गृह त्याग की अवधि में मात्र तीस दिन की वृद्धि और कर लें।

शालिभद्र—इसस क्या अन्तर पड़ेगा ? मंगल कार्य में विलम्ब अनावश्यक है।

यशोधरा—वचन देकर भंग न करें। मुझे अपने से अधिक दुःख माँ श्री के लिये हो रहा है। उनकी अवस्था नहीं देखी जाती। सहसा वे इतना बड़ा आघात सहन नहीं कर पा रही हैं। इन तीस दिनों में मैं भी अपना मन दृढ़ कर लूँगी एवं माँ श्री भी प्रकृतिस्थ हो जायेंगी। हो सकता है वे हँसते-हँसते आपको विदाई दे दें।

शालिभद्र—तुम्हारा कथन उचित है शुभे, पर आयु के दिन पंख लगा कर उड़ते चले जा रहे हैं।

यशोधरा—नहीं नहीं, अब मैं कुछ नहीं सुनूँगी। आप हर्ष पूर्वक जायें पर एक माह के पश्चात्। फिर मैं एक क्षण भी नहीं रोकूँगी। ( शालिभद्र विचार मग्न हैं ) स्वीकार कर लें न ! ( आग्रह-पूर्वक ) क्या आप मेरी तनिक सी बात नहीं रखेंगे ?

शालिभद्र—( अन्य मनस्क हो ) स्वीकृत है।

यशोधरा—अहो भाग्य देव ! मैं माँ श्री को यह शुभ सूचना दे दूँ। जब से उन्होंने सुना है, तब से वे रो-रो कर पागल हो रही हैं।

शालिभद्र—तुम्हें भी तो आनन्द हो रहा होगा ?

यशोधरा—क्यों नहीं, दरिद्र को बहुमूल्य मणि मिल जाये तो मन आह्लाद से भर जाता है।

शालिभद्र—( स्वगत ) एक माह और गृहवास करना होगा। ( दीर्घ सांस लेते हैं। )

( श्रेष्ठी धन्यकुमार का प्रवेश )

धन्यकुमार—अरे! तुम तो बड़े आराम से बैठे हो शालिभद्र!

शालिभद्र—स्वागत है जीजाजी! विराजें।

धन्यकुमार—चल नहीं रहे?

शालिभद्र—कहाँ?

धन्यकुमार—तो क्या सुभद्रा परिहास कर रही थी?

शालिभद्र—आपका कुछ अभिप्राय ही समझ में नहीं आ रहा? ( हँस कर ) मुझसे संभाषण करते-करते क्या जीजी की सुधि हो आई?

धन्यकुमार—( गम्भीर स्वर में ) नहीं नहीं शालि! मैं आश्चर्य चकित हूँ। कानों ने जो सुना है, आँखें उसे झुठला रही हैं।

शालिभद्र—स्पष्ट करें, आप कहना क्या चाह रहे हैं?

धन्यकुमार—देवी सुभद्रा कभी असत्य नहीं बोलतीं। आज.......

शालिभद्र—आज क्या नवीनता हुई? नगर श्रेष्ठि आप खोये खोये से क्यों लग रहे हैं?

धन्यकुमार—हो सकता है, उन्होंने परिहास किया होगा।

शालिभद्र—( हँसते हुए ) जीजाजी! स्पष्ट कहें। बुद्धि इतनी तीक्ष्ण नहीं कि आपके अन्तरंग की बात समझ सकूँ। स्पष्ट प्रकाश में तो लावें।

धन्यकुमार—सुना था तुम गृहत्याग कर रहे हो।

शालिभद्र—( सहज भाव से ) हाँ, किन्तु.......

धन्यकुमार—किन्तु क्या? मन डगमगा रहा है?

शालिभद्र—नहीं, गतिमन्द हो गया हूँ।

धन्यकुमार—क्या अर्थ?

शालिभद्र—माताजी ने मुझसे एक माह रुकने का वचन ले लिया है। इसके पश्चात् ही मैं अपने विचारों को मूर्त रूप दे सकूँगा।

धन्यकुमार—धन्य माता! अभी मोह नहीं छूटा शालि! ( अत्यन्त गम्भीर स्वर में ) ज्ञात होता है शालिभद्र! [illegible] पर भी तुम्हारा निश्चय शिथिल हो गया है।

शालिभद्र—[illegible] हो गया है जीजाजी!

धन्यकुमार—[illegible] समझ में आता था कि [illegible] है। [illegible] है। [illegible] मनोरंजक है। [illegible] है शालिभद्र!

शालिभद्र—उपहास न करें जीजाजी। मैं जानता हूँ उधार ली हुई साँसों का कोई विश्वास नहीं। पर क्या करूँ, प्रतिश्रुत होकर भूल जो कर बैठा हूँ।

धन्यकुमार—( जोर से अट्टहास करते हुये ) पागल! सब समझ कर भी यथार्थ से मुख मोड़ रहा है? तेरी वचनवद्धता को देख क्या काल करुणा कर रुक जायगा? ये सब उलझन भरी बातें हैं। अभी तक हमने यहाँ खोया ही खोया है, पाने की चर्चा करते ही विघ्न आने लगता है।

शालिभद्र—आपका कथन सत्य है। पर यशोधरा और माँ श्री क्या कहेंगी?

धन्यकुमार—कृत्रिम उत्तरदायित्व तुम कब तक उठाओगे शालि! व्यक्ति के जन्म के पूर्व भी सृष्टि चल रही थी और उसके जाने के पश्चात् भी इस सनातन गति का क्रम ऐसा ही अक्षुण्ण चलता रहेगा।

यशोधरा—( प्रवेश कर ) अरे! ननदोई जी कब आ गये? ( शालिभद्र से )—आर्यश्रेष्ठ! शुभ संवाद पाकर माँ श्री अति प्रसन्न हैं।

शालिभद्र—परन्तु मैं अब वचनों का निर्वाह न कर सकूंगा शुभे!

यशोधरा—लो अभी अभी क्या हो गया देव! श्रेष्ठ पुरुष अपने वचनों का स्वभावतया पालन करते हैं। क्या आप वचनभंग करने का गुरुतर अपराध करेंगे?

शालिभद्र—काश! वचन पूर्ण करने की अवधि में मृत्यु का निमंत्रण आ पहुँचे तो क्या वह टाला जा सकेगा? अब साधना के क्षण खोना अज्ञानता को प्रश्रय देना है। क्षमा करो यशोधरा हम जायेंगे।

( सुभद्रा का प्रवेश )

सुभद्रा—जा रहे हो शालि! ये कैसा निर्णय कर डाला बन्धु?

शालिभद्र—हाँ जीजी! यथार्थ की धरा का स्पर्श कर चुका हूँ।

यशोधरा—बिना परिजनों की अनुमति के गृह त्याग अपराध है।

शालिभद्र—( सहज स्वर से ) देवी! आत्म कल्याण करने में सब स्वतन्त्र हैं। पक्षी पिंजरे को छोड़ उन्मुक्त गगन में विचरण करे तो यह अपराध नहीं, उसका अधिकार है। स्वभाव से विमुख नहीं हुआ जा सकता।

धन्यकुमार—साधुवाद शालिभद्र! मेघ-गर्जना सुनकर गजराज को अपने जंगल की सुधि हो आई है। वह अकुला रहा है वहाँ पहुँचने के लिए। हमारे द्वारा जिन्हें कष्ट पहुँचा हो, उनसे हम क्षमा चाहते हैं।

सुभद्रा—यह आप क्या कर रहे हैं देव!

धन्यकुमार—सुभद्रे! प्राची में बाल रवि का प्रवेश होते ही प्रतीची जाग उठती है।

शालिभद्र—( विस्मित हो ) तो क्या जीजाजी आप भी .......

धन्यकुमार (बीच ही में बात काटकर) साधुपद स्वीकार कर रहे हैं। हम तुम एक ही पथ के पथिक हैं शालिभद्र !

शालिभद्र—सुन्दर अति सुन्दर !

सुभद्रा—मैं अपने शब्द वापिस लेती हूँ। (विह्वल हो) आप कह दें कि यह सब मिथ्या है, परिहास मात्र है।

धन्यकुमार—देवी ! दर्शन शास्त्र के रहस्य को जानकर भी तुम उसे झुठलाना चाहती हो—मोह का आवरण उठा तनिक झांको तो उस ओर, कैसा झर-झर आनन्द बरस रहा है ! एक बार उसे चख कर तो देखो भूल जाओगी यहाँ के क्षणिक आकर्षण के सुखों को।

सुभद्रा—(प्रकृतिस्थ हो) धन्य है देव आपको ! यथा नाम तथा गुण। धन्यकुमार नाम आपने सार्थक कर दिया। मैं भी आपके मार्ग का अनुसरण करूँगी।

शालिभद्र—अरे ! ये कैसा चमत्कार है ? जीजी। तुम भी ......

सुभद्रा—हाँ बन्धु ! लिंग भेद तो पौद्गलिक आवरण है। आत्मायें सब सदृश शक्तिवाली हैं। भगवान वीर के समवशरण में सबको कल्याण करने के समान अवसर हैं।

धन्यकुमार—हमें प्रसन्नता है देवी ! हम आह्वान करते हैं। जो मुमुक्षु हों चलें। मंगलमयी साधना में निरत हो आत्मकल्याण का पथ प्रशस्त करें।

(तीनों व्यक्ति जाने लगते हैं। यशोधरा क्षणिक अस्थिर सी देखती रहती है। पर तत्क्षण सावधान हो जाती है।)

यशोधरा—आह्वान करके भी मुझे पीछे छोड़ रहे हैं।

मैं आ रही हूँ।

सुभद्रा—(मुस्कुरा कर) अनुकूल ही प्रतिक्रिया हुई है।

आओ यशोधरा ! आओ !

(सबका प्रस्थान) पटाक्षेप।



# प्रथमोपशम-सम्यक्त्व

( परम विदुषी १०५ श्री आर्यिका विशुद्धमती माताजी )
[ संघस्था:—प० पू० श्रुतनिधि आ० कल्प १०८ श्री श्रुतसागरजी महाराज ]

इस जीव का अनादिकालीन स्वस्थान नित्य निगोद ही रहा है। उस नित्य निगोद में अनन्त जीव एक साथ जन्म लेते और एक साथ ही मरण करते हैं। वहाँ की जघन्यायु स्वाँस के अठारहवें भाग अर्थात् एक सेकेण्ड के चौवीसवें भाग प्रमाण एवं उत्कृष्टायु अन्तर्मुहूर्त अर्थात् कुछ सेकेण्डों की है। निरन्तर जन्म मरण के दुःखों से पीड़ित उन जीवों की मात्र एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है। शरीर की अवगाहना भी अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण ही है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मों का तीव्र उदय होने से उनमें ज्ञान व शक्ति अति अल्प होती है एवं मोहनीय कर्म का भी ( पर्यायानुकूल ) तीव्र उदय होने से कषायों की तीव्रता रहती है।

इस प्रकार कषायों की तीव्रता, अज्ञानता एवं शक्ति हीनता आदि के भयंकर दुःखों से ग्रसित उन जीवों का उस निगोद रूपी गर्त से निकलना अति दुष्कर है। भाग्यवशात् आयु बन्ध के समय यदि मोहनीय कर्म का कुछ मन्द उदय हुआ तो पृथिवीकाय आदि की पर्यायों को प्राप्त करते हैं। छह माह आठ समय में नियम से ६०८ जीव नित्य निगोद से निकलते हैं, किन्तु फिर भी अभी वहाँ अनन्तानन्त जीव ऐसे हैं जिन्होंने आज तक उस निगोद वास को नहीं छोड़ा है। अर्थात् आज तक वहाँ से निकले नहीं हैं। जो जीव नित्यनिगोद से निकल कर पृथ्वीकायिक आदि हो भी गये हैं, उन्हें लट आदि त्रस पर्याय का प्राप्त होना उतना ही कठिन है जितना कि समुद्र में गिरे हुये चिन्तामणि रत्न का प्राप्त होना दुर्लभ है। यदि पुण्यवशात् विकलत्रय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय आदि जीवों में भी उत्पन्न हो गये तो मन के बिना शिक्षा आलाप आदि ग्रहण न कर सकने के कारण अपना कल्याण नहीं कर सकते।

अत्यन्त कठिनता से प्राप्त होनेवाली संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याय को प्राप्त कर भी यदि अपर्याप्त हो गये तो भी कल्याण करने का अवसर प्राप्त नहीं हो सका।

संज्ञी, पंचेन्द्रिय, पर्याप्त होकर भी इन्द्रियों की पूर्णता दीर्घायु, निरोगता, ज्ञान का क्षयोपशम और कषायों की मन्दता का होना उत्तरोत्तर अति दुर्लभ हैं। इन सब योग्यताओं को प्राप्त करने वाले जीव ही अपने आत्मकल्याण के विषय में विचार कर सकते हैं। तथा इन्हें ही क्षयोपशम आदि पाँच लब्धियों का होना सम्भव है, और इनके होने पर ही प्रथमोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति हो सकती है।

**पाँच लब्धियों के नाम:—**

क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धिलब्धि, देशनालब्धि, प्रायोग्यलब्धि और करणलब्धि।

## पाँच लब्धियों का स्वरूप

**१ क्षयोपशम लब्धि:**—जिस समय कषायों की मन्दता अर्थात् विशुद्धि के कारण पूर्व सञ्चित अप्रशस्त कर्म पटलों का अनुभाग प्रति समय अनन्त गुण हीन, हीन उदय और उदीरणा को प्राप्त किया जाता है, उस समय क्षयोपशम लब्धि होती है। अर्थात् उसे ही क्षयोपशम-लब्धि कहते हैं।

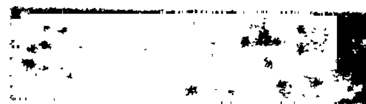
**२ विशुद्धि लब्धिः**—प्रति समय अनन्त गुणित हीन क्रम से उदीरित अनुभाग स्पर्धकों से उत्पन्न हुआ, साता आदि शुभ कर्मों के बन्ध का कारणभूत और असाता आदि अशुभ कर्म के बन्ध का विरोधी जो जीव का परिणाम है उसे विशुद्धि कहते हैं, और उसकी प्राप्ति का नाम विशुद्धि लब्धि है।

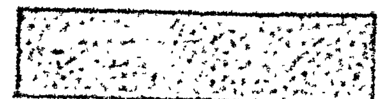
**३ देशना लब्धिः**—छह द्रव्यों और नौ पदार्थों के उपदेश का नाम देशना है। उस देशना से परिणत आचार्य आदि की उपलब्धि को और उपदिष्ट अर्थ को ग्रहण करने, धारण करने, तथा उस पर विचार करने की शक्ति की उद्भूति को देशना लब्धि कहते हैं।

**४ प्रायोग्य लब्धिः**—जो जीव अति दुस्तर मिथ्यात्व रूपी गर्त से उद्धार प्राप्त करने एवं अलब्ध-पूर्व सम्यक्त्व रूपी रत्न को प्राप्त करने की तीव्र इच्छा वाला है, जो प्रति समय क्षयोपशम आदि लब्धियों के बल से वृद्धिगत सामर्थ्य वाला है, और जिसके संवेग निर्वेग के द्वारा उत्तरोत्तर हर्ष में वृद्धि हो रही है, उसके उत्तरोत्तर अनन्तगुणी विशुद्धि द्वारा प्रायोग्य लब्धि प्राप्त होती है। इस प्रायोग्य लब्धि द्वारा सर्व कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति को तथा अप्रशस्त कर्मों के उत्कृष्ट अनुभाग को घात कर क्रमशः अन्तः कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण स्थिति के भीतर और द्विस्थानीय ( लता और दारु ) अनुभाग में स्थापित कर देता है। जैसे:— [ चित्र ४१३ वें पेज पर देखिए ]

अनुभागघातः—

घातिया कर्मों की अनुभाग शक्ति लता, दारु अस्थि और शैल के सदृश चार प्रकार की होती है। अघातिया कर्मों के पुण्य प्रकृति और पाप प्रकृति ऐसे दो भेद हैं। पुण्य रूप अघातिया कर्मों की अनुभाग शक्ति गुड़, खांड, शक्कर और अमृत के सदृश तथा पाप रूप अघातिया कर्मों की अनुभाग शक्ति नीम, काञ्जीर, विष और हलाहल के सदृश हीनाधिकता को लिये हुये होती है। प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अभिमुख जीव प्रायोग्य लब्धि के द्वारा घातिया कर्मों के अनुभाग को घटा कर लता और दारु तथा अघातिया कर्मों की पाप प्रकृतियों के अनुभाग को घटा कर नीम और काञ्जीर इन दो स्थानों में स्थापित करता है। जैसे:—

अप्रशस्त कर्मों का उत्कृष्ट अनुभाग—  इस प्रकार था उसका

प्रायोग्य लब्धि द्वारा घात होने पर द्विस्थानीय (लता और दारु) रूप अनुभाग 

—इस प्रकार का हो जाता है।

दर्शन मोहनीय कर्म — ७० कोड़ाकोड़ी सागरोपम

चारित्र मोहनीय कर्म — ४० कोड़ाकोड़ी सागरोपम

ज्ञानावरण कर्म — ३० कोड़ाकोड़ी सागरोपम

दर्शनावरण कर्म — ,, ,,

वेदनीय कर्म — ,, ,,

अन्तराय कर्म — ,, ,,

नाम कर्म — २० कोड़ाकोड़ी सागरोपम

गोत्र कर्म — ,, ,,

अन्तः कोड़ाकोड़ी सागरोपम स्थिति होवेगी ।

बन्धापसरण:—

प्रायोग्य लब्धि में चारों गति सम्बन्धी कोई भी प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अभिमुख मिथ्यादृष्टि जीव एक कोड़ाकोड़ी सागरोपम के भीतर अर्थात् अन्तः कोड़ाकोड़ी सागरोपम से अधिक की कर्म स्थिति को नहीं बांधता। इस अन्तः कोड़ाकोड़ी सागरोपम स्थिति बन्ध से पल्य के संख्यातवें भाग हीन स्थिति को एक अन्तर्मुहूर्त तक बाँधता है। फिर उससे पल्य के असंख्यातवें भाग से हीन स्थिति को अन्तर्मुहूर्त तक बाँधता है। इस प्रकार पल्य के संख्यातवें भाग हानि के क्रम से एक पल्य हीन अन्तः कोड़ाकोड़ी सागरोपम स्थिति को अन्तर्मुहूर्त तक बाँधता है। इसी क्रम से दो पल्य से हीन, तीन पल्य से हीन इत्यादि स्थिति को अन्तर्मुहूर्त तक बाँधता है। पुनः इसी क्रम से आगे आगे स्थिति बन्ध का ह्रास करता हुआ एक सागर से हीन, दो सागर से हीन, तीन सागर से हीन इत्यादि क्रम से सात आठ सौ सागरोपमों से हीन अन्तः कोड़ाकोड़ी प्रमाण स्थिति को जिस समय बाँधने लगता है, उस समय एक नारकायु बन्ध से व्युच्छिन्न होती है। इसके पश्चात् तिर्यगायु की बन्ध व्युच्छित्ति तक उपर्युक्त क्रम से ही स्थिति बन्ध का ह्रास होता है, और जब वह ह्रास सागरोपमशतपृथक्त्व प्रमित हो जाता है तब तिर्यगायु की बन्ध व्युच्छित्ति होती है। यही क्रम आगे भी जानना चाहिये। इस प्रकार से स्थिति के ह्रास होने को स्थितिबन्धापसरण कहते हैं।

प्रथमोपशम सम्यक्त्व को ग्रहण करने के अभिमुख मिथ्यादृष्टि संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च अथवा मनुष्य जिसकी बन्ध योग्य प्रकृतियाँ ११७ हैं वह प्रायोग्य लब्धि में अन्तः कोड़ाकोड़ी सागरोपम स्थिति हो जाने के पश्चात् निम्नांकित ३४ बन्धापसरण करता है। जैसे:—

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| १ | इससे आगे प्रकृतियों की स्थिति | सागरोपमशत पृ० | अपसरण कर | [1]नारकायु का बन्ध | व्यु० करता है |
| २ | इससे | ,, | ,, | [2]तिर्यगायु | ,, |
| ३ | ,, | ,, | ,, | [3]मनुष्यायु | ,, |
| ४ | ,, | ,, | ,, | [4]देवायु | ,, |
| ५ | ,, | ,, | ,, | [5]नरकगति, [6]नरकगत्या० | ,, |
| ६ | ,, | ,, | ,, | [7]सूक्ष्म-[8]अपर्याप्त-[9]साधारण | ,, |
| ७ | ,, | ,, | ,, | सूक्ष्म ,, प्रत्येक | ,, |
| ८ | ,, | ,, | ,, | बादर ,, साधारण | ,, |
| ९ | ,, | ,, | ,, | बादर ,, प्रत्येक | ,, |
| १० | ,, | ,, | ,, | [10]द्वीन्द्रिय-अपर्याप्त | ,, |
| ११ | ,, | ,, | ,, | [11]त्रीन्द्रिय-अपर्याप्त | ,, |
| १२ | ,, | ,, | ,, | [12]चतुरिन्द्रिय-अपर्याप्त | ,, |
| १३ | ,, | ,, | ,, | असंज्ञी पंचेन्द्रिय ,, | ,, |

१४ इससे " " संज्ञी पंचेन्द्रिय " "
१५ " " " सूक्ष्म-पर्याप्त-साधारण "
१६ " " " सूक्ष्म " प्रत्येक "
१७ " " " बादर " साधारण "
१८ इससे आगे बादर-पर्याप्त-प्रत्येक-[13]एकेन्द्रिय-[14]आतप-[15]स्थावर का बन्ध व्युच्छेद करता है
१९ ,, द्वीन्द्रिय पर्याप्त ,, ,, ,, ,, ,,
२० ,, त्रेन्द्रिय ,, ,,
२१ ,, चतुरिन्द्रिय पर्याप्त ,,
२२ ,, असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त ,,
२३ ,, [16]तिर्यंग्गति, [17]तिर्यंग्गत्यानु०, [18]उद्योत ,,
२४ ,, [19]नीच गोत्र ,,
२५ ,, [20]अप्रशस्तविहायो, [21]दुर्भग, [22]दुस्वर, [23]अनादेय ,,
२६ ,, [24]हुण्डकसंस्थान, [25]असम्प्राप्तसृपाटिका संहनन ,,
२७ ,, [26]नपुंसकवेद ,,
२८ ,, [27]वामनसंस्थान, [28]कीलित संहनन ,,
२९ ,, [29]कुब्जक ,, [30]अर्धनाराच ,, ,,
३० ,, [31]स्त्रीवेद ,,
३१ ,, [32]स्वातिसंस्थान, [33]नाराच संहनन ,,
३२ ,, [34]न्यग्रोध०, [35]वज्रनाराच " ,,
३३ ,, [36]मनुष्यगति, [37]मनु०गत्या०, [38]औदारिक शरीर, [39]औ० आङ्गों० ,,
[40]वज्रवृ० नाराच संहनन
३४ [41]असातावेद०, [42]अरति, [43]शोक, [44]अस्थिर, [45]अशुभ. [46]अयश० ,,

## देव और नारकियों द्वारा किये जाने वाले बंधापसरणों का विवरण:—

प्रथमादि छह नरकों में तथा तीसरे स्वर्ग से सोलहवें स्वर्ग पर्यन्त के जीव १०० प्रकृतियों के बंधक हैं। पर्याय विशेष के कारण उनमें नारकायु, देवायु, नरकगतिद्विक, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण स्थावर, एकेन्द्रिय विकलत्रय ( असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय ) आतप, देवगति द्विक और वैक्रियक द्विक इन १७ प्रकृतियों का बंध नहीं होता। अत: उनमें मात्र २ रे, ३ रे, २३ से ३२ वें तक ( १० ) और ३४ वें नम्बर के कुल १३ ही बंधापसरण होते हैं।

**भवनत्रिक एवं प्रथम युगल में होने वाले बंधापसरणः—**

भवनत्रिक एवं प्रथम युगल के देव १०३ प्रकृतियों के बंधक हैं, गति विशेष के कारण उनमें नरकायु, देवायु, नरकगतिद्विक, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, विकलत्रय, ( असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय ) देवगति द्विक, और वैक्रियकद्विक इन १४ प्रकृतियों का बंध नहीं होता। बादर, पर्याप्त प्रत्येक एकेन्द्रिय स्थावर और आतप का बंध इनमें सम्भव है। अतः उनमें मात्र २ रे, ३ रे, १८ वें २३ से ३२ वें तक और ३४ वें नम्बर के कुल १४ ही बंधापसरण होते हैं।

**नवग्रैवेयकों में होने वाले बंधापसरणः—**

नवग्रैवेयकों के देवों में मात्र ९६ प्रकृतियां बन्ध योग्य हैं। जिनमें से वे २ रे, २४ से ३२ वें तक और ३४ वें नम्बर के इन ११ बंधापसरणों द्वारा २४ प्रकृतियों की बंध व्युच्छित्ति करते हैं।

**सप्तम नरक में होने वाले बंधापसरणः—**

सप्तम नरक के नारकी जीव ९७ प्रकृतियों के बंधक हैं। वहाँ के मिथ्यादृष्टि जीव तिर्यग्गतिद्विक और नीच गोत्र का निरन्तर बंध करते है अतः उनके नं० २३ और २४ का बंधापसरण नहीं होता। वहाँ के सभी जीव गति विशेष के कारण वैक्रियक अष्टक, मनुष्यायु, मनुष्यगतिद्विक, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, एकेन्द्रिय विकलत्रय, ( असंज्ञी पंचेन्द्रिय ), आतप और स्थावर इन २० प्रकृतियों का बंध न होने से पहले और ३ रे से २२ वें तक अर्थात् २१ बंधापसरणों को तथा मनुष्यगतिद्विक का बंध न होने से और औदारिक द्विक तथा वज्रवृषभनाराच संहनन का निरन्तर बंध होने से ३३ नम्बर के बंधापसरण को भी कहने की आवश्यकता नहीं है। अतः सातवें नरक में मात्र २ रे, २५ वें से ३२ वें तक तथा ३४ वें नम्बर के कुल १० बंधापसरण ही होते हैं।

बंधापसरणों द्वारा बन्ध से व्युच्छिन्न प्रकृतियों के अतिरिक्त मिथ्यात्व आदि अवशिष्ट प्रकृतियों को सम्यक्त्व के अभिमुख मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यात्व गुणस्थान के अन्तिम समय तक बांधता है।

[illegible] का अवस्थान अशुभ, अशुभतर और अशुभतम के भेद से माना गया है। उसी अपेक्षा से यह प्रकृतियों के बन्ध व्युच्छेद का क्रम है। यह प्रकृतियों के बन्ध व्युच्छेद का क्रम विशुद्धि को प्राप्त होने वाले भव्य और अभव्य मिथ्यादृष्टि जीवों के समान ( सदृश ) ही होता है ( जय धवल पुस्तक १२ पृष्ठ [illegible] के मतानुसार अभव्य जीवों के एक भी प्रकृति की व्युच्छित्ति नहीं होगी )। तथा वे प्रारम्भ की [illegible] लब्धियाँ भव्य और अभव्य मिथ्यादृष्टि जीवों के समान ही होती हैं। जैसे कहा भी है कि:—

[1]क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य ये चार लब्धियाँ सामान्य हैं अर्थात् भव्य और अभव्य जीवों के होती हैं। किन्तु पांचवीं करणलब्धि सम्यक्त्व उत्पन्न होने के समय मात्र भव्य जीव के ही होती है।

---

१ खयउवसमिय विसोही, देसण पाउग्ग करणलद्धी य।
चत्तारि वि सामण्णा, करणं पुण होइ सम्मत्ते ॥ [illegible]

इस प्रकार अभव्य जीवों के योग्य परिणाम के होने पर स्थिति और अनुभागों के काण्डक घात को बहुत बार करके गुरु के उपदेश के बल से अथवा उसके बिना भी, अभव्य जीवों के योग्य विशुद्धियों को समाप्त ( व्यतीत ) करके प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अभिमुख होने वाला मिथ्यादृष्टि जीव पाँचवीं करण लब्धि करता है। इसके तीन भेद हैं:—

१ अध:प्रवृत्तकरण, २ अपूर्वकरण, ३ अनिवृत्तिकरण। इन तीनों प्रकार की विशुद्धियों में से सर्व प्रथम अध:प्रवृत्तकरण संज्ञा वाली विशुद्धि होती है।

अध:प्रवृत्त का लक्षण:—उपरितन समयवर्ती परिणाम अध: अर्थात् अधस्तन समयवर्ती परिणामों में सदृशता को प्राप्त होते हैं, इसलिये इसे अध: प्रवृत्तकरण कहते हैं। इसका स्पष्ट विवरण निम्न प्रकार है:—

अन्तर्मुहूर्त प्रमाण समयों की पंक्ति को ऊर्ध्व आकार से स्थापित करके उन समयों के प्रायोग्य परिणामों का निरूपण इस प्रकार है—

अध:प्रवृत्तकरण में प्रथम समयवर्ती जीवों के योग्य परिणाम असंख्यात लोक प्रमाण हैं। द्वितीय समयवर्ती जीवों के योग्य परिणाम भी असंख्यात लोक प्रमाण हैं। इस प्रकार समय समय के प्रति—अध:प्रवृत्तकरण सम्बन्धी परिणामों के प्रमाण को अध:प्रवृत्तकरण काल के अन्तिम समय तक करना चाहिये। अध:प्रवृत्तकरण के प्रथम समय सम्बन्धी परिणामों से द्वितीय समय के योग्य परिणाम विशेष अधिक होते हैं। द्वितीय समय सम्बन्धी परिणामों से तृतीय समय के परिणाम विशेष अधिक हैं। इस प्रकार यह क्रम अध:प्रवृत्तकरण काल के अन्तिम समय तक करना चाहिये। विशेष अधिक का प्रमाण असंख्यात लोक प्रमाण ही है। तथा अध:प्रवृत्तकरण के समस्त परिणाम भी असंख्यात लोक प्रमाण ही हैं। इस अध:प्रवृत्तकरण काल के संख्यातवें भाग मात्र निर्वर्गणाकाण्डक होते हैं।

**निर्वर्गणाकाण्डक का लक्षण:—**

वर्गणा नाम समयों की समानता का है। उस समानता से रहित उपरितन समयवर्ती परिणामों के खण्डों के काण्डक या पर्व को निर्वर्गणा काण्डक कहते हैं।

निर्वर्गणा काण्डक में जितने जितने समय होते हैं, उतने मात्र खण्ड सर्व समयवर्ती परिणामों की पंक्ति के करना चाहिये। उन सर्व समय-सम्बन्धी परिणामों की पंक्तियों में प्रथम खण्ड सबसे स्तोक है। द्वितीय खण्ड के परिणामों की संख्या विशेष अधिक है। इस प्रकार यह क्रम अन्तिम खण्ड तक ले जाना चाहिये। एक एक खण्ड के परिणामों का आयाम असंख्यात लोक प्रमाण है। उन खण्डों का विशेष अधिक भी असंख्यात लोक प्रमाण है। निर्वर्गणाकाण्डक की अंकसंदृष्टि निम्न प्रकार है:—इस अंकसंदृष्टि में अध:प्रवृत्तकरण के कुल परिणामों की संख्या ३०७२ मानी गई है। अध:प्रवृत्तकरण के काल का प्रमाण १६ माना गया है। तथा निर्वर्गणाकाण्डकों का प्रमाण ४ ( चार ), प्रत्येक समयवर्ती परिणामों के खण्ड ४ और प्रत्येक समय में परिणामों की वृद्धि का प्रमाण भी चार माना गया है।

## निर्वर्गणा काण्डक रचना

| समय | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| १६ | ५४ | ५५ | ५६ | ५७ | = २२२ |
| १५ | ५३ | ५४ | ५५ | ५६ | = २१८ |
| १४ | ५२ | ५३ | ५४ | ५५ | = २१४ |
| १३ | ५१ | ५२ | ५३ | ५४ | = २१० |
| १२ | ५० | ५१ | ५२ | ५३ | = २०६ तृतीय नि॰ का॰ समाप्त। |
| ११ | ४९ | ५० | ५१ | ५२ | = २०२ |
| १० | ४८ | ४९ | ५० | ५१ | = १९८ |
| ९ | ४७ | ४८ | ४९ | ५० | = १९४ |
| ८ | ४६ | ४७ | ४८ | ४९ | = १९० द्वि॰ नि॰ का॰ समाप्त। |
| ७ | ४५ | ४६ | ४७ | ४८ | = १८६ |
| ६ | ४४ | ४५ | ४६ | ४७ | = १८२ |
| ५ | ४३ | ४४ | ४५ | ४६ | = १७८ |
| ४ | ४२ | ४३ | ४४ | ४५ | = १७४ प्रथम निर्वर्गणा काण्डक समाप्त। |
| ३ | ४१ | ४२ | ४३ | ४४ | = १७० |
| २ | ४० | ४१ | ४२ | ४३ | = १६६ |
| समय १ | ३९ | ४० | ४१ | ४२ | = १६२ |

चतुर्थ निर्वर्गणा काण्डक समाप्त

३०७२ अधः प्रवृत्तकरण के कुल परिणामों की संख्या।

**अधःप्रवृत्तकरण परिणामों की विशुद्धता में तीव्र–मन्दता का अल्प बहुत्वः—**

अधःकरण परिणामों का दिग्दर्शन उपर्युक्त निर्वर्गणाकाण्डक की अंक संदृष्टि रचना के द्वारा हो जाता है। प्रत्येक समय के परिणामों के उतने खण्ड होते हैं जितने कि एक निर्वर्गणाकाण्डक के समय होते हैं। उपर्युक्त अंक संदृष्टि में एक निर्वर्गणाकाण्डक चार समय वाला है, अतः प्रत्येक समय के परिणामों के चार चार खण्ड यथाक्रम रचित होते हैं। इस प्रकार १६ समयों के ( १६×४ )=६४ खण्ड हो जाते हैं। इन खण्डों में से प्रथम खण्ड ( ३९ ) और अन्तिम खण्ड ( ५७ ) किसी अन्य खण्ड के सदृश नहीं हैं। शेष सभी खण्ड [illegible] उपरिम या अधस्तन समय खण्डों के सदृश हैं।

प्रथम समय के प्रथम खण्ड ( ३९ ) की जो जघन्य विशुद्धि ( १ ) है वह सबसे स्तोक है। इससे [illegible] खण्ड की उत्कृष्ट विशुद्धि ( ३९ ) अनन्तगुणी है। इससे प्रथम समय के द्वितीय खण्ड ( ४० ) अथवा द्वितीय समय के प्रथम खण्ड ( ४० ) की जघन्य विशुद्धि ( ३९+१ ) अनन्तगुणी है। इससे उसी की

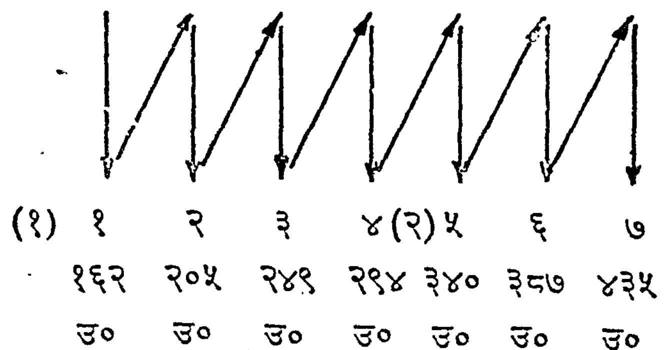
उत्कृष्ट विशुद्धि ( ४० + ३९ = ७९ ) अनन्तगुणी है। उससे प्रथम समय के तीसरे खण्ड ( ४१ ) अथवा तीसरे समय के प्रथम खण्ड ( ४१ ) की जघन्य विशुद्धि ( ७९ + १ ) अनन्तगुणी है। इससे उसी की उत्कृष्ट विशुद्धि ( ८० + ४० = १२० ) अनन्तगुणी है। उससे प्रथम समय के अन्तिम खण्ड ( ४२ ) अथवा प्रथम निर्वर्गणाकाण्डक के अन्तिम समय के प्रथम खण्ड ( ४२ ) की जघन्य विशुद्धि ( १२० + १ ) अनन्तगुणी है। इससे उसी की उत्कृष्ट विशुद्धि ( १२१ + ४१ = १६२ ) अनन्तगुणी है। अर्थात् प्रथम निर्वर्गणाकाण्डक के चरम समय की जघन्य विशुद्धि ( १२१ ) से प्रथम समय की उत्कृष्ट विशुद्धि (१६२) अनन्तगुणी है। इससे द्वितीय निर्वर्गणाकाण्डक के प्रथम समय के प्रथम खण्ड ( ४३ ) अथवा प्रथम निर्वर्गणाकाण्डक के द्वितीय समय के अन्तिम खण्ड ( ४३ ) की जघन्य विशुद्धि ( १६१ + १ ) अनन्तगुणी है। इससे उसी की उत्कृष्ट विशुद्धि ( १६३ + ४२ = २०५ ) अनन्तगुणी है। अर्थात् द्वितीय खण्ड के प्रथम समय की जघन्य विशुद्धि ( १६३ ) से प्रथम निर्वर्गणाकाण्डक के द्वितीय समय की उत्कृष्ट विशुद्धि ( २०५ ) अनन्तगुणी है। इसी प्रकार द्वितीय निर्वर्गणाकाण्डक के द्वितीय समय की जघन्य विशुद्धि ( २०५ + १ ) से प्रथम निर्वर्गणाकाण्डक के तृतीय समय की उत्कृष्ट विशुद्धि ( २०६ + ४३ = २४९ ) अनन्तगुणी है। इसी प्रकार द्वितीय निर्वर्गणाकाण्डक के तृतीय समय की जघन्य विशुद्धि २४९ + १ ) से प्रथम निर्वर्गणाकाण्डक के अन्तिम समय की उत्कृष्ट विशुद्धि ( २५० + ४४ = २९४ ) अनन्तगुणी है। द्वितीय निर्वर्गणाकाण्डक के अन्तिम समय की जघन्य विशुद्धि ( २९४ + १ ) से द्वितीय निर्वर्गणाकाण्डक के प्रथम समय की उत्कृष्ट विशुद्धि ( २९५ + ४५ = ३४० ) अनन्तगुणी है। इसी प्रकार तृतीय निर्वर्गणाकाण्डक की जघन्य विशुद्धि ( ३४० + १ ) से द्वितीय निर्वर्गणाकाण्डक के द्वितीय समय की उत्कृष्ट विशुद्धि ( ३४१ + ४६ = ३८७ ) अनन्तगुणी है। इसी प्रकार आगे के समयों में भी अल्पबहुत्व सिद्ध कर लेना चाहिये। इतनी विशेषता है कि प्रथम समय की जघन्य विशुद्धि ( १ ) सर्व जघन्य है, और अन्तिम समय की उत्कृष्ट विशुद्धि ( ९१२ ) सर्वोत्कृष्ट है।

**इस अल्पबहुत्व को निम्न प्रकार चित्रण किया जा सकता है:—**

ज० ज० ज० ज० ज० ज० ज० ज० ज० ज०

१ ४० ८० १२१ १६३ २०६ २५० २९५ ३४१ ३८८

(१) १ २ ३ ४ (२) ५ ६ ७ ८ (३) ९ १०



ज० ज० ज० ज० ज० ज०

४३६ ४८५ ५३५ ५८६ ६३८ ६९१

११ १२(४)१३ १४ १५ १६



७ ८(३)९ १० ११ १२(४)१३ १४ १५ १६

४८८ ५३४ ५८५ ६३७ ६९० ७४० ७९९ ८५५ ९१२

उ० उ० उ० उ० उ० उ० उ० उ० उ०

अधःप्रवृत्तकरण के कार्य:—अधःप्रवृत्तकरण में स्थितिकाण्डक घात, अनुभाग काण्डक घात, गुणश्रेणी और गुणसंक्रमण ये चार कार्य नहीं होते, क्योंकि यहाँ के परिणामों में ये चार कार्य करने की शक्ति का अभाव है। किन्तु यहाँ निम्नलिखित चार कार्य होते हैं—

१ अधःप्रवृत्तकरण में स्थित जीव अनन्तगुणी विशुद्धि के द्वारा प्रतिसमय विशुद्धि को प्राप्त होता है।

२ प्रशस्त कर्मों के गुड़, खांड, शक्कर और अमृत रूप चतुःस्थानीय अनुभाग को प्रतिसमय अनन्तगुणित बांधता है।

३ अप्रशस्त कर्मों के द्विस्थानीय ( नीम और कांजी ) अनुभाग को प्रतिसमय अनन्तगुणित हीन हीन बांधता है।

४ अधःप्रवृत्तकरण काल में, स्थिति बन्ध का काल अन्तर्मुहूर्त मात्र है। एक एक स्थिति बन्ध काल के पूर्ण होने पर पल्योपम के संख्यातवें भाग हीन अन्य स्थिति को बांधता है। ( देखिये पृ० नं० ५.६ ) इस प्रकार—अधःप्रवृत्तकरण के काल में संख्यात हजार स्थितिबन्धापसरण करता है।

## अपूर्वकरण लब्धि

अपूर्वकरण लब्धि का कथन:—करण नाम परिणामों का है। जिसमें अपूर्व अपूर्व, करण अर्थात् परिणाम होते हैं, उसे अपूर्वकरण कहते हैं। इसका अर्थ असमान परिणाम है अर्थात् जिसमें [illegible] समयों के परिणाम [illegible] आदि समयों के परिणामों से नहीं मिलते उसे अपूर्वकरण कहते हैं।

अपूर्वकरण लब्धि में होने वाले कार्य:—अपूर्वकरण में अधःप्रवृत्तकरण के पूर्वोक्त चार कार्य तो होते ही हैं, किन्तु इसके अतिरिक्त निम्नलिखित चार कार्य और भी होते हैं।

१ स्थितिकाण्डकघात:—[illegible] के निषेकों का [illegible] प्रतिसमय [illegible] [illegible]

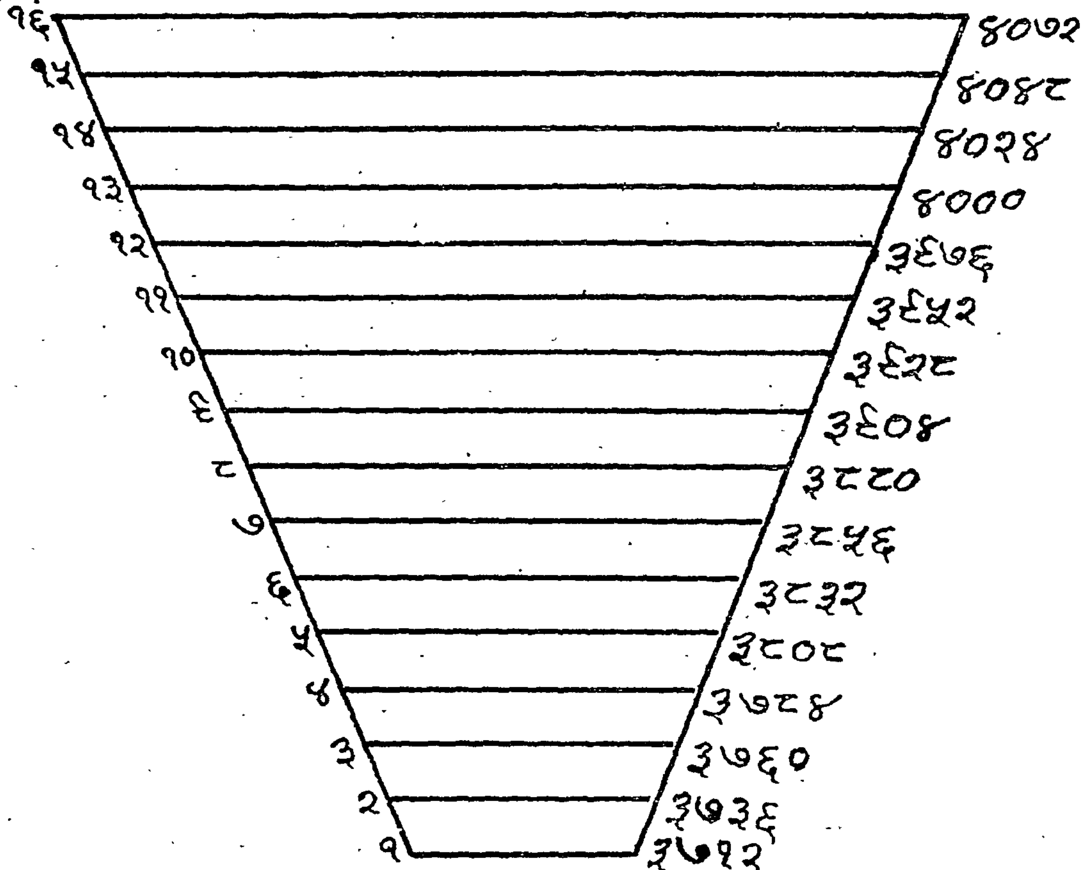
२ अनुभागकाण्डकघात:—उपरितन अनुभाग वाले स्पर्धकों के अनुभाग को एक अन्तर्मुहूर्त काल में क्षीण कर देना।

३ गुणश्रेणी निर्जरा:—प्रतिसमय पूर्व पूर्व से असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे द्रव्य की निर्जरा होना।

४ गुणसंक्रमण:—प्रतिसमय मिथ्यात्व के असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे द्रव्य को सम्यङ्मिथ्यात्व व सम्यक्त्व रूप संक्रमण करना।

अपूर्वकरण का काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होता है। इसलिये पहिले अन्तर्मुहूर्त प्रमाण समयों की रचना करना चाहिये। उसमें प्रथम समय के योग्य विशुद्धियों का प्रमाण असंख्यात लोक है। दूसरे समय के योग्य विशुद्धियों का प्रमाण भी असंख्यात लोक प्रमाण है। इस प्रकार यह क्रम अपूर्वकरण के अन्तिम समय तक ले जाना चाहिये। प्रथम समय की विशुद्धियों के प्रमाण से दूसरे समय की विशुद्धियों का प्रमाण और दूसरे समय से तीसरे समय की विशुद्धियों का प्रमाण विशेष अधिक, विशेष अधिक होता है। इस प्रकार यह क्रम भी अपूर्वकरण के अन्तिम समय तक ले जाना चाहिये।

अपूर्वकरण के विशुद्ध परिणामों की तारतम्यता की अंक संदृष्टि निम्नलिखित है। इस अंक संदृष्टि में अन्तर्मुहूर्त के समयों का प्रमाण १६ माना गया है। तथा प्रथम समय के योग्य असंख्यात लोक प्रमाण विशुद्ध परिणामों का मान ३७१२ है। द्वितीय समय के असंख्यात लोक का मान ३७३६ है। तीसरे समय के असंख्यात लोक प्रमाण विशुद्ध परिणामों का मान ३७६० है इस प्रकार अपूर्वकरण के अन्तिम समय तक विशेष अधिक विशेष अधिक जानना चाहिये। अपूर्वकरण के समस्त विशुद्धि स्थानों का प्रमाण यद्यपि असंख्यात लोक है, किन्तु अंक संदृष्टि में वह ६२२७२ माना गया है।



## अपूर्वकरण काल के विभिन्न समयवर्ती परिणामों की तीव्र मन्दता का अल्पबहुत्वः—

अपूर्वकरण की प्रथम समय सम्बन्धी जघन्य विशुद्धि सबसे स्तोक है। वहाँ पर ही उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुणित है। प्रथम समय की उत्कृष्ट विशुद्धि से द्वितीय समय की जघन्य विशुद्धि अनन्तगुणित है। वहाँ पर ही उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुणित है। द्वितीय समय की उत्कृष्ट विशुद्धि से तृतीय समय की जघन्य विशुद्धि अनन्तगुणित है। वहाँ पर ही उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुणित है। इस प्रकार यह क्रम अपूर्वकरण काल के अन्तिम समय तक ले जाना चाहिये।

अपूर्वकरण लब्धि के परिणामों में विशुद्धता की मन्दता और तीव्रता का चित्रण निम्न प्रकार है। इस चित्रण में अन्तर्मुहूर्त का मान १६ समय मात्र है।

[ चित्र पृष्ठ ४२३ पर देखिये ]

## अपूर्वकरण लब्धि में गुणश्रेणी आयामः—

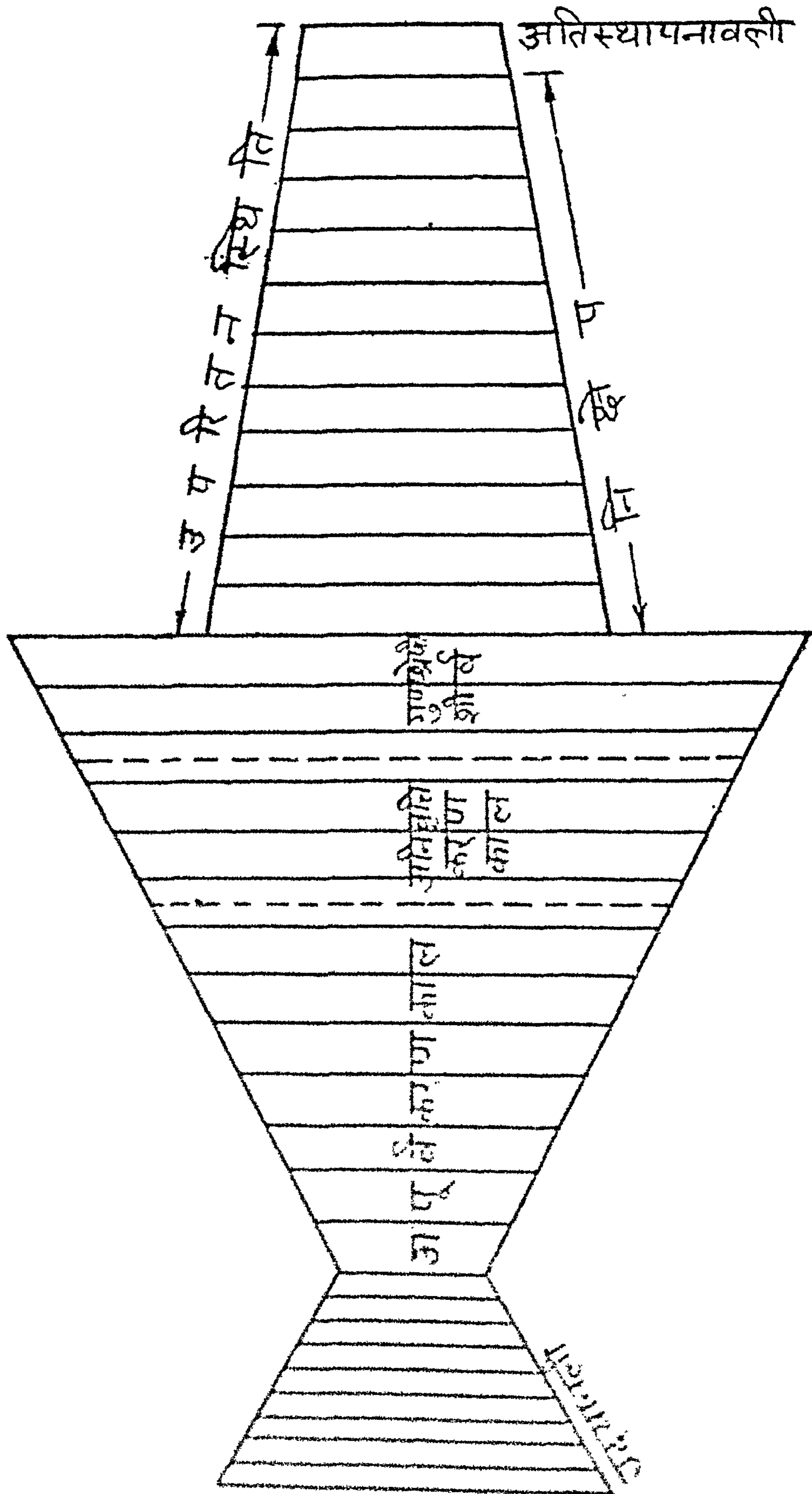
अपूर्वकरण के प्रथम समय में ही गुणश्रेणी प्रारम्भ हो जाती है। जो इस प्रकार है:—उदय में आई हुई प्रकृतियों की उदयावली से बाहर स्थितियों में स्थित प्रदेशाग्र को अपकर्षण भागहार के द्वारा खण्डित करके एक खण्ड को असंख्यात लोक से भाजित कर एक भाग को ग्रहण कर प्रथम समय में उदय में बहुत प्रदेशाग्रों को देता है। दूसरे समय में विशेष हीन प्रदेशाग्र देता है। इस प्रकार उदयावली के अन्तिम समय तक विशेष हीन विशेष हीन प्रदेशाग्र देता चला जाता है। यह क्रम उदय में आई हुई प्रकृतियों का ही है, शेष प्रकृतियों का नहीं। क्योंकि उनके प्रदेशाग्र उदयावली के भीतर नहीं दिये जाते।

उदय में आई हुई प्रकृतियों के अपकर्षित द्रव्य के शेष बहुभाग को और उदय में नहीं आई हुई प्रकृतियों के उदयावलि के बाहर की—स्थितियों में स्थित प्रदेशाग्र को अपकर्षण भागहार के द्वारा खण्डित करके एक खण्ड को अर्थात् इन दोनों को ग्रहण कर असंख्यात समय प्रबद्धों को उदयावली के बाहर की स्थिति में देता है। इससे ऊपर की स्थिति में उससे भी असंख्यातगुणित समय प्रबद्धों को देता है। तृतीय समय में उससे भी असंख्यातगुणित समय प्रबद्धों को देता है। इस प्रकार यह क्रम असंख्यातगुणित श्रेणी के द्वारा गुणश्रेणी के अन्तिम समय तक ले जाना चाहिये। उससे ऊपर की अनन्तर स्थिति में असंख्यातगुणित हीन द्रव्य को देता है। उससे ऊपर की स्थिति में विशेष हीन द्रव्य को देता है। इस प्रकार विशेष हीन [illegible] प्रदेशाग्र को निरन्तर रूप से देता है, जब तक कि अपनी अपनी उत्कर्षित (द्रव्य [illegible]) स्थिति की आवली मात्र [illegible] के द्वारा प्राप्त न [illegible] उदयावली से बाहर की अनन्तर स्थिति के द्रव्य को असंख्यात लोक से [illegible] ऐसा [illegible] निक्षेपण करता है। [illegible]

[ चित्र पृष्ठ [illegible] पर देखिये ]

समय 1 2 3 ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६

उत्कृष्ट
जघन्य
उत्कृष्ट
जघन्य
उत्कृष्ट
जघन्य
उत्कृष्ट
जघन्य
उत्कृष्ट
जघन्य
उत्कृष्ट
जघन्य
उत्कृष्ट
जघन्य
उत्कृष्ट
जघन्य
उत्कृष्ट
जघन्य
उत्कृष्ट
जघन्य
उत्कृष्ट
जघन्य
उत्कृष्ट
जघन्य
उत्कृष्ट
जघन्य
उत्कृष्ट
जघन्य
उत्कृष्ट
जघन्य
उत्कृष्ट विशुद्धि
जघन्य विशुद्धि


अतिस्थापनावली
उपरितन स्थिति
निक्षेप

## अपकर्षित द्रव्य का प्रमाणः—

प्रथम समय में अपकर्षण किये गये प्रदेशाग्र से द्वितीय समय में असंख्यातगुणित प्रदेशाग्र को अपकर्षित करता है। द्वितीय समय के प्रदेशाग्र से तृतीय समय में असंख्यातगुणित प्रदेशाग्र को अपकर्षित करता है। इस प्रकार यह क्रम सर्व समयों में ले जाना चाहिये। प्रथम समय के प्रदेशाग्र से द्वितीय समय में स्थिति के प्रति दिया जाने वाला प्रदेशाग्र असंख्यातगुणा है। इसी प्रकार सर्व समयों के भी दिये जाने वाले प्रदेशाग्रों का क्रम कहना चाहिये।

## अपूर्वकरण लब्धि में अनुभाग काण्डकों का विवेचनः—

अपूर्वकरण के प्रथम समय से अनुभाग काण्डकों द्वारा अप्रशस्त कर्मों के अनुभाग का ही घात होता है, क्योंकि विशुद्धि के कारण प्रशस्त कर्मों की अनुभाग वृद्धि को छोड़कर उसका घात नहीं बन सकता। उस अनुभाग काण्डक का प्रमाण तत्काल भावी ( विद्यमान ) द्विस्थानीय अनुभाग सत्कर्म के अनन्तबहुभाग प्रमाण है, क्योंकि करण परिणामों के द्वारा घाते जाने वाले अनुभागकाण्डक के शेष विकल्पों का होना सम्भव है।

अपूर्वकरण के प्रथम समय में द्विस्थानीय अनुभाग सत्कर्म के अनन्तवें भाग को छोड़कर शेष अनन्तबहुभाग का काण्डक रूप से ग्रहण होता है। इसी प्रकार प्रत्येक अनुभागकाण्डक में अनन्तबहुभाग का घात होता है। जिसका चित्राङ्कन निम्न प्रकार है:—

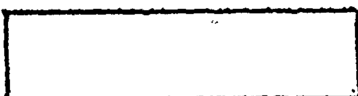
**चित्र नं० १** अपूर्वकरण से पूर्व अप्रशस्त कर्मों के अनुभाग का सत्व।

**चित्र नं० २**



प्रथम अनुभागकाण्डक के पश्चात् अप्रशस्त कर्मों का अनुभाग सत्व।

**चित्र नं० ३**



द्वितीय अनुभागकाण्डक के पश्चात् अप्रशस्त कर्मों का अनुभाग सत्व।

चित्र नं० १ से यह स्पष्ट हो जाता है कि अपूर्वकरण लब्धि से पूर्व अप्रशस्त कर्म प्रकृतियों का अनुभाग बहुत था। अपूर्वकरण लब्धि में प्रथम अनुभाग काण्डक के द्वारा उस अनुभाग का अनन्तबहुभाग

घात कर दिया, और अनन्तवाँ भाग शेष रहा, जैसा कि चित्र नं० २ से ज्ञात होता है। दूसरे अनुभाग-काण्डक के द्वारा शेष अनुभाग का अनन्त बहुभाग घात करके अनन्तवाँ भाग शेष रहता है जैसा कि चित्र नं० ३ से प्रगट होता है। इस प्रकार प्रत्येक अनुभाग काण्डक में शेष शेष अनुभाग का बहुभाग घात होता है।

### अनुभागकाण्डकों का प्रमाण:—

एक एक स्थितिकाण्डक काल में संख्यात हजार अनुभागकाण्डक हो जाते हैं। अपूर्वकरण लब्धि काल में हजारों स्थिति काण्डक होते हैं, इससे जाना जाता है कि अपूर्वकरण काल में संख्यात हजार अनुभाग काण्डक होते हैं, जिनके द्वारा अप्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग घाता जाता है। अथवा अप्रशस्त प्रकृतियों का घात करने वाले संख्यात हजार अनुभागकाण्डक हो जाने पर एक स्थिति काण्डक का काल समाप्त होता है, और ऐसे सहस्रों स्थिति काण्डकों के व्यतीत हो जाने पर अपूर्वकरण का काल समाप्त हो जाता है।

## अनिवृत्ति करण

अपूर्वकरण का काल समाप्त होने के अनन्तर आगे के समय में जीव अनिवृत्तिकरण को प्रारम्भ करता है। उसी समय दर्शनमोहनीयकर्म की अप्रशस्त उपशमना, निधत्ति और निकाचितपना नष्ट हो जाता है।

### अनिवृत्तिकरण का लक्षण:—

एक समय में वर्तमान ( विद्यमान ) जीवों के परिणामों की अपेक्षा जहाँ निवृत्ति या विभिन्नता नहीं होती है वे परिणाम अनिवृत्तिकरण कहलाते हैं। अनिवृत्तिकरण का काल अन्तर्मुहूर्त मात्र होता है।— इसलिए इसके काल के समयों की भी रचना करना चाहिए। यहाँ पर एक एक समय के प्रति एक एक ही परिणाम होता है, क्योंकि यहाँ एक समय में जघन्य और उत्कृष्ट परिणामों के भेद का अभाव है।

अनिवृत्तिकरण की प्रथम समय सम्बन्धी विशुद्धि सबसे स्तोक है। उससे द्वितीय समय की विशुद्धि अनन्तगुणित है। उससे तृतीय समय की विशुद्धि [illegible] अनन्तगुणित है। इस प्रकार यह क्रम अनिवृत्तिकरण काल के अन्तिम समय तक ले जाना चाहिए।

अनिवृत्तिकरण के प्रथम समय में भी अन्य स्थितिखण्ड, अन्य अनुभाग खण्ड और अन्य [illegible] आरम्भ करता है। [illegible] असंख्यातगुणित प्रदेश का अपकर्षण कर [illegible] करता है।

## अनिवृत्तिकरण में अन्तरकरण का विधानः—

अनिवृत्तिकरण काल का संख्यातबहुभाग व्यतीत कर चुकने पर यह जीव मिथ्यात्व कर्म का अन्तर्मुहूर्त काल ( एक स्थिति बन्धापसरण काल ) के द्वारा अन्तरकरण करता है।

### अन्तरकरणः—

विवक्षित कर्मों की अधस्तन और उपरिम स्थितियों को छोड़कर मध्यवर्ती अन्तर्मुहूर्त मात्र स्थितियों के निषेकों का परिणाम विशेष के द्वारा अभाव करने को अन्तरकरण कहते हैं।

अन्तरकरण प्रारम्भ करने के समय से पूर्व उदय में आने वाले मिथ्यात्व कर्म की अन्तर्मुहूर्तप्रमित स्थिति को उल्लंघन कर उससे ऊपर की अन्तर्मुहूर्तप्रमित स्थिति के निषेकों का उत्कीरण कर कुछ प्रदेशों को प्रथम स्थिति में क्षेपण करता है और कुछ को द्वितीय स्थिति में। अन्तरकरण से नीचे की अन्तर्मुहूर्तप्रमित स्थिति को प्रथमस्थिति और अन्तरकरण से ऊपर की स्थिति को द्वितीय स्थिति कहते हैं। इस प्रकार प्रतिसमय अन्तरायाम सम्बन्धी कर्म प्रदेशों को ऊपर नीचे की स्थितियों में तब तक देता है जब तक कि अन्तरायाम सम्बन्धी समस्त निषेकों का अभाव नहीं हो जाता। तथा अन्तरकरण करते समय वँधने वाले मिथ्यात्व कर्म को उसकी आवाधाकाल से हीन द्वितीय स्थिति में निक्षेप करता है, और अपकर्षण कर प्रथम स्थिति में भी देता है, किन्तु अन्तर काल सम्बन्धी स्थितियों में निश्चयतः नहीं देता। इस प्रकार फालियों को निक्षेप करता हुआ अन्तर्मुहूर्त ( एक स्थितिबंधापसरण काल ) के द्वारा अन्तरकरण का कार्य समाप्त करता है।

### अन्तरकरण का कालः—

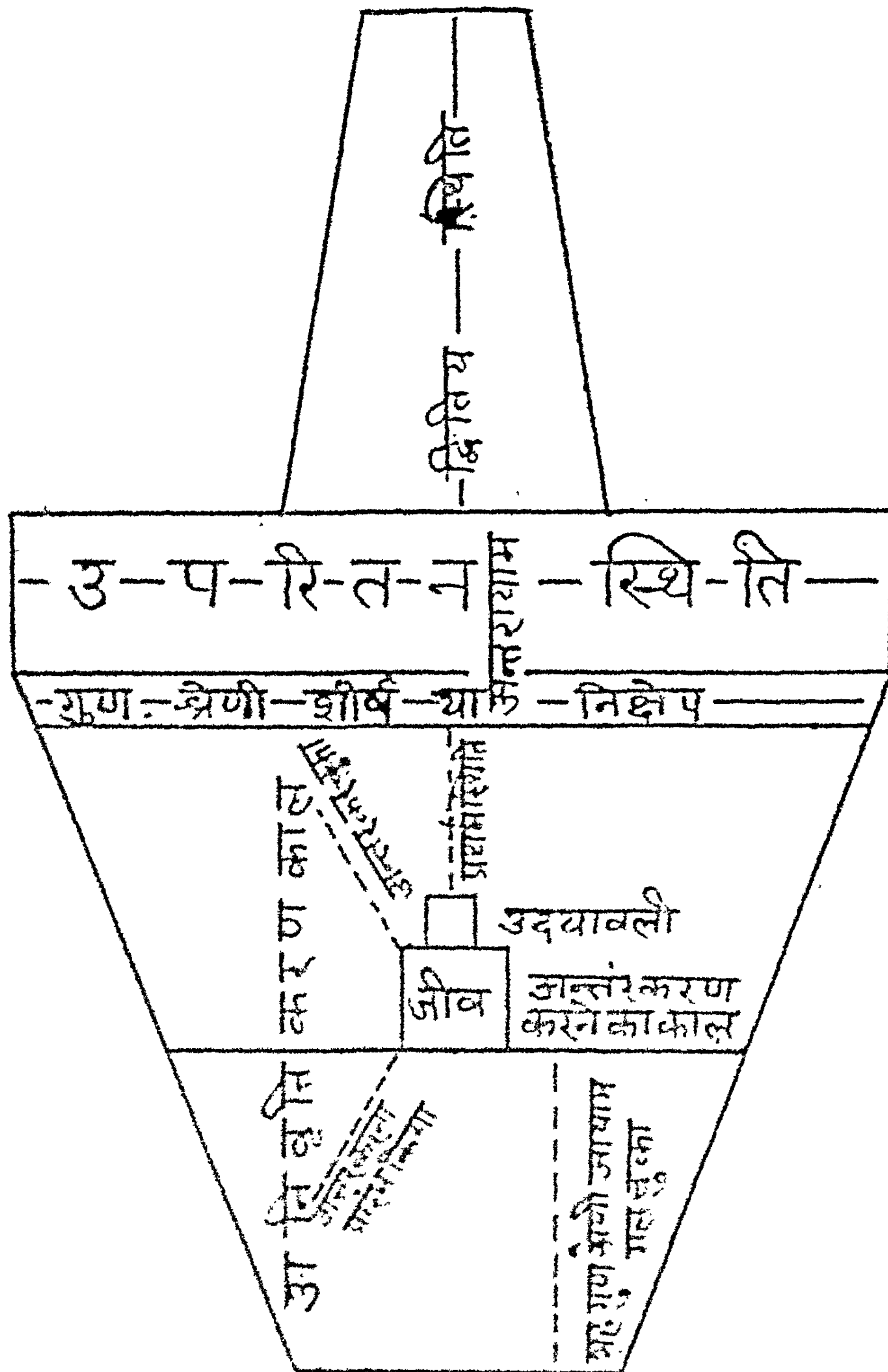
जितना एक स्थिति वन्ध बन्धापसरण या एक स्थिति काण्डक काल है, उतने ही काल में दर्शनमोहनीय के अन्तरकरण की क्रिया समाप्त कर देता है। [ चित्र पृष्ठ ४२८ पर देखिये ]

### उपशम करणः—

यद्यपि यह जीव अधःप्रवृत्तकरण के प्रथम समय से लेकर उपशामक है, तथापि यहाँ से लेकर वह विशेष रूप से उपशामक है, क्योंकि अन्तरकरणक्रिया के समाप्त होने पर यह जीव द्वितीय स्थिति में स्थित दर्शनमोहनीय कर्म की प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशों की उपशमना प्रारम्भ कर देता है। एक समय दो आवली के नवक समयप्रवद्ध के अतिरिक्त द्वितीय स्थिति में स्थित समस्त दर्शनमोहनीय सत्कर्म को अनिवृत्तिकरण के अन्त तक एक अन्तर्मुहूर्त काल के लिये उपशमा देता है।

दर्शनमोहनीय कर्म का उपशम किसे कहते हैं ?

चित्रण द्वारा अन्तर क्रिया की रचनाः—



करण परिणाम के द्वारा नि.शक्त किये गये दर्शनमोहनीय कर्म के उदय उदीरणा रूप पर्याय के बिना द्वितीय स्थिति में अवस्थित रहने को उपशम कहते हैं।

जिन आत्म परिणामों के द्वारा दर्शनमोहनीय कर्म की उपशमना की जाती है, उन आत्मपरिणामों की उपशमनाकरण संज्ञा है।

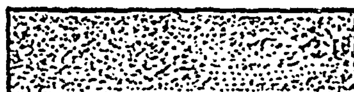
प्रथम स्थिति और द्वितीय स्थिति से तब तक आगाल ( अपकर्षण के निमित्त से द्वितीय स्थिति के कर्म प्रदेशों का प्रथम स्थिति में आना आगाल है ) और प्रत्यागाल ( उत्कर्षण के निमित्त से नवीन कर्मबन्ध के साथ प्रथम स्थिति के कर्म-प्रदेशों का द्वितीय स्थिति में जाना प्रत्यागाल कहलाता है ) होते रहते हैं, जब तक कि आवली अर्थात् उदयावली और प्रत्यावली ( उदयावली से ऊपर के आवली प्रमाण काल को द्वितीयावली या प्रत्यावली कहते हैं ) मात्र काल शेष रह जाता है। उसी समय से मिथ्यात्व की गुणश्रेणी नहीं होती, क्योंकि उस समय में उदयावली से बाहर कर्म प्रदेशों का निक्षेप नहीं होता। किन्तु आयु कर्म को छोड़कर शेष समस्त कर्मों की गुणश्रेणी होती रहती है। उस समय प्रत्यावली से ही मिथ्यात्व कर्म की उदीरणा होती रहती है। किन्तु प्रत्यावली के शेष रह जाने पर मिथ्यात्व कर्म की उदीरणा नहीं होती है। तब प्रति समय एक एक निषेक अधःस्थिति गलना के द्वारा निर्जीर्ण होता रहता है, और अन्त में यह जीव चरमसमयवर्ती मिथ्यादृष्टि अथवा अनिवृत्तिकरण वाला हुआ कहलाता है।

### अनुभाग की अपेक्षा मिथ्यात्व के तीन खण्डः—

अन्तरकरण व उपशमना करण करके मिथ्यात्व की प्रथम स्थिति को गला कर सम्यक्त्व को प्राप्त होने वाला जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्व के प्रथम समय में ही, अपूर्व आदि करण लब्धि में मिथ्यात्व कर्म का अनुभाग अनुभागकाण्डकघातों के द्वारा घाते जाने के बाद जो ( अनुभाग ) शेष बचा था, उसे अनुभागकाण्डकघात के बिना, घात कर तीन भाग करते हुये मिथ्यात्व के अनुभाग को सम्यक्त्व प्रकृति, सम्यङ्मिथ्यात्व प्रकृति और मिथ्यात्व प्रकृति रूप तीन खण्ड करता है। उन तीन खण्डों के अनुभाग की तारतम्यता निम्न प्रकार हैः—

मिथ्यात्व के अनुभाग से सम्यङ्मिथ्यात्व का अनुभाग अनन्तगुणा हीन है, और सम्यङ्मिथ्यात्व के अनुभाग से सम्यक्त्व प्रकृति का अनुभाग अनन्तगुणा हीन होता है। जैसेः—

मिथ्यात्व का अनुभाग — सम्यङ्मिथ्यात्व का अनुभाग — सम्यक्त्व प्रकृति का अनुभाग





यह उपर्युक्त क्रिया प्रथमोपशमसम्यक्त्व काल के प्रथम समय से लेकर एक अन्तर्मुहूर्त काल तक होती है। किन्तु यह काल प्रथमोपशम सम्यक्त्व के काल से स्तोक है। प्रथमोपशम सम्यक्त्व के काल में दर्शनमोहनीय के स्थिति और अनुभाग काण्डक घात नहीं होते हैं, किन्तु यदि अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना होती है तो काण्डकघात अवश्य होते हैं।

## नोट नं० १—

किन्हीं आचार्यों का मत है कि अपूर्वकरण व अनिवृत्तिकरण लब्धि काल में विशुद्ध परिणामों के द्वारा मिथ्यात्व कर्म द्रव्य के ( मिथ्यात्व सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति रूप ) तीन खण्ड करता है। जिसका उल्लेख स्वयं श्री वीरसेनाचार्य ने ध० पु० ६ पृ० ३८, ध० पु० १३ पृ० ३५८ और कषाय पाहुड़ पु० ६ पृ० ८३ पर किया है।

## नोट नं० २—

प्रथमोपशम सम्यक्त्व के प्रथम समय में ही अनादि मिथ्यादृष्टि जीव अनन्त संसार काल को छेद कर अर्धपुद्गल परिवर्तन मात्र काल कर लेता है। देखिये (ध० पु० ५ पृ० ११ किन्तु किन्हीं आचार्यों के मतानुसार अपूर्वकरण व अनिवृत्ति करण लब्धि के काल में विशुद्ध परिणामों द्वारा अनन्त संसार काल को छिन्न कर अर्धपुद्गल परिवर्तन मात्र काल कर लेता है। इस मत के अनुसार जब अर्धपुद्गल परिवर्तन काल शेष रह जाता है तब प्रथमोपशम सम्यक्त्व उत्पन्न होता है।

## प्रथमोपशम सम्यक्त्व में सम्यक्त्व व सम्यङ्मिथ्यात्व प्रकृतियों में द्रव्य की तारतम्यता:—

प्रथम समयवर्ती उपशमसम्यग्दृष्टि जीव मिथ्यात्व से प्रदेशाग्र अर्थात् कर्मप्रदेशों को लेकर उनका बहुभाग सम्यङ्मिथ्यात्व में देता है, और उससे असंख्यातगुणा हीन कर्म-प्रदेशाग्र सम्यक्त्व प्रकृति में देता है। प्रथम ( नं० १ के ) समय में सम्यङ्मिथ्यात्व में दिये गये प्रदेशों से अर्थात् उनकी अपेक्षा द्वितीय ( नं० २ के ) समय में सम्यक्त्व प्रकृति में असंख्यातगुणित प्रदेशों को देता है, और उसी समय में ( नं० २ के समय में ) सम्यक्त्व के दिये गये प्रदेशों की अपेक्षा सम्यङ्मिथ्यात्व में असंख्यातगुणित प्रदेशों को देता है। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त काल तक गुणश्रेणी के द्वारा दोनों प्रकृतियों को पूरित करता है, जब तक कि गुणसंक्रमण का अंतिम समय प्राप्त होता है। इस प्रकार सम्यक्त्व प्रकृति का द्रव्य [illegible] है, [illegible] असंख्यातगुणित सम्यङ्मिथ्यात्व का द्रव्य है, [illegible] मिथ्यात्व का द्रव्य [illegible] है। सम्यक्त्व और सम्यङ्मिथ्यात्व को अन्तर्मुहूर्त काल तक गुणश्रेणी द्वारा पूरित करने का [illegible] है। [illegible] अन्तर्मुहूर्त [illegible] समय [illegible] है। यथा—

समय

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६

सम्यङ् मिथ्यात्व
सम्यक्त्व
सम्यङ् मिथ्यात्व
सम्यक्त्व
सम्यङ् मिथ्यात्व
सम्यक्त्व
सम्यङ् मिथ्यात्व
सम्यक्त्व
सम्यङ् मिथ्यात्व
सम्यक्त्व
सम्यङ् मिथ्यात्व
सम्यक्त्व
सम्यङ् मिथ्यात्व
सम्यक्त्व
सम्यङ् मिथ्यात्व
सम्यक्त्व
सम्यङ् मिथ्यात्व
सम्यक्त्व
सम्यङ् मिथ्यात्व
सम्यक्त्व
सम्यङ् मिथ्यात्व
सम्यक्त्व
सम्यङ् मिथ्यात्व
सम्यक्त्व
सम्यङ् मिथ्यात्व
सम्यक्त्व
सम्यङ् मिथ्यात्व
सम्यक्त्व
सम्यङ् मिथ्यात्व
सम्यक्त्व
सम्यङ् मिथ्यात्व
सम्यक्त्व

## सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के कारणः—

मुख्यतः कारण दो प्रकार के होते हैं। १ उपादान कारण २ निमित्त कारण। जो स्वयं कार्यरूप परिणत होता है, उसे उपादान कारण कहते हैं, और जो कार्य की सिद्धि में सहायक होता है उसे निमित्त कारण कहते हैं। निमित्त कारण के मुख्यतः दो भेद हैं। १ अन्तरङ्ग निमित्त, २ बहिरङ्ग निमित्त। अन्तरङ्ग निमित्तः—सम्यक्त्व की प्रतिबन्धक सात अथवा पांच प्रकृतियों का उपशम होना अन्तरङ्ग निमित्त है, और सद्गुरु उपदेश, जिनबिम्ब दर्शन आदि बहिरङ्ग निमित्त हैं। अन्तरङ्ग निमित्त कारणों के मिलने पर सम्यक्त्वोत्पत्ति नियम से होती है, किन्तु बहिरङ्ग निमित्त कारणों के मिलने पर सम्यक्त्वोत्पत्ति होती भी है और नहीं भी होती। अर्थात् भजनीय है। किन्तु जब भी प्रथमोपशम सम्यक्त्व होगा, तब कोई न कोई बहिरंग कारण अवश्य होगा। प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन के बहिरंग निमित्त चारों गतियों में भिन्न भिन्न प्रकार के हैं। जैसेः—नरकगति में—तीसरे नरक तक कितने ही जीव जाति स्मरण से, कितने ही धर्मोपदेश सुनकर और कितने ही वेदना से अभिभूत होकर प्रथमोपशम सम्यक्त्व को उत्पन्न करते हैं।

**शंकाः—**

सभी नारकी जीव विभंग ज्ञान से अपने दो तीन भव जानते हैं, इसलिये सभी के जातिस्मरण होता है। अतः सभी नारकी सम्यग्दृष्टि होना चाहिये ?

**समाधानः—**

सामान्य रूप से भवस्मरण द्वारा सम्यक्त्व की उत्पत्ति नहीं होती। किन्तु पूर्व भव में धर्मबुद्धि से किये गये अनुष्ठानों की विफलता का दर्शन ही प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण है, और तीव्र मिथ्यात्वोदय के वशवर्ती सभी नारकी जीवों के पूर्वभवों का स्मरण होते हुये भी सभी के उक्त प्रकार की बुद्धि नहीं होती। अर्थात् उपयोग उन अनुष्ठानों की विफलता पर नहीं जाता।

**शंकाः—**

यदि वेदना का अनुभव सम्यक्त्वोत्पत्ति का कारण है, तो सभी नारकी जीव वेदनानुभव करते हैं। अतः सभी के सम्यक्त्वोत्पत्ति हो जाना चाहिये ?

**समाधानः—**

वेदना सामान्य सम्यक्त्वोत्पत्ति का कारण नहीं है। किन्तु जिन जीवों के ऐसा उपयोग होता है कि अमुक वेदना अमुक मिथ्यात्व के कारण या अमुक असंयम से उत्पन्न हुई है, उन्हीं जीवों की वेदना सम्यक्त्वोत्पत्ति का कारण होती है।

नीचे की चार पृथिवियों में कितने ही नारकी जीव जातिस्मरण से और कितने ही वेदनानुभव से प्रथमोपशम सम्यक्त्व उत्पन्न करते हैं।

**शंका:—**

चौथी आदि पृथिवियों में धर्मोपदेश देने में प्रवृत्त देवों का गमन नहीं है, यह तो ठीक है, किन्तु उन्हीं पृथिवियों में विद्यमान सम्यग्दृष्टि नारकी जीवों के धर्मोपदेश से सम्यक्त्वोत्पत्ति क्यों नहीं हो सकती ?

**समाधान:—**

भव सम्बन्ध से या पूर्व वैर के सम्बन्ध से परस्पर विरोधी हुये नारकी जीवों के अनुगृह्य-अनुग्राहक भाव उत्पन्न होना असम्भव है। इसलिये इन पृथिवियों में धर्मोपदेश सम्यक्त्वोत्पत्ति का कारण नहीं होता है।

**तिर्यञ्च गति:—**

संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त गर्भोपक्रान्तिक मिथ्यादृष्टि कितने ही तिर्यञ्च जातिस्मरण से, कितने ही धर्मोपदेश सुनकर और कितने ही जिनबिम्ब दर्शन से प्रथम सम्यक्त्व उत्पन्न करते हैं।

**शंका:—**

जिनबिम्ब का दर्शन प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण किस प्रकार होता है ?

**समाधान:—**

जिनबिम्ब के दर्शन से निधत्त और निकाचित रूप भी मिथ्यात्वादि कर्म कलापों का क्षय हो जाता है, जिससे जिनबिम्ब दर्शन प्रथम सम्यक्त्वोत्पत्ति का कारण होता है। जैसे कहा भी है कि:—

दर्शनेन जिनेन्द्राणां, पापसंघातकुञ्जरम् ।
शतधा भेदमायाति, गिरिर्वज्रहतो यथा ॥ध०पु० ६ पृ० ४२८। पु० १० पृ० २८९

जिनेन्द्रों के दर्शन से पाप संघातरूपी कुञ्जर के उसी प्रकार सौ टुकड़े हो जाते हैं, जिस प्रकार वज्र के आघात से पर्वत के।

**मनुष्य गति:—**

आठ वर्ष से ऊपर के गर्भोपक्रान्तिक मिथ्यादृष्टि मनुष्यों में से कितने ही मनुष्य जातिस्मरण से, कितने ही धर्मोपदेश सुनकर और कितने ही जिनबिम्ब दर्शन द्वारा प्रथम सम्यक्त्व को उत्पन्न करते हैं।

जिन महिमा दर्शन, लब्धि सम्पन्न ऋषियों के दर्शन और ऊर्जयन्त, चम्पापुर पावापुर आदि क्षेत्रों के दर्शन का जिनबिम्ब दर्शन में ही अन्तर्भाव हो जाता है। तत्त्वार्थ सूत्र में कथित नैसर्गिक प्रथमोपशम सम्यक्त्व का भी पूर्वोक्त कारणों से उत्पन्न हुये सम्यक्त्व में ही अन्तर्भाव हो जाता है, क्योंकि जातिस्मरण और जिनबिम्ब दर्शन के बिना उत्पन्न होने वाले प्रथमोपशम सम्यक्त्व का अभाव है।

**देवगतिः—**

भवनवासी देवों से लगाकर शतार-सहस्रार कल्प पर्यन्त के पर्याप्त मिथ्यादृष्टि देवों में से कितने ही देव जातिस्मरण से, कितने ही धर्मोपदेश सुनकर कितने ही जिन महिमा देखकर और कितने ही देवों की ऋद्धियां देखकर प्रथमोपशम सम्यक्त्व को उत्पन्न करते हैं।

**शंकाः—**

यहाँ जिनबिम्ब दर्शन का ग्रहण क्यों नहीं किया गया ?

**समाधानः—**

जिनबिम्ब दर्शन का जिन महिमा दर्शन में ही अन्तर्भाव हो जाता है। तथा गर्भकल्याणक, जन्मकल्याणक और तपकल्याणक जिनबिम्ब के बिना ही होते हैं। किन्तु उनमें भावी जिनबिम्ब का दर्शन पाया जाता है, इसलिये वे भी प्रथमोपशम सम्यक्त्व की उत्पत्ति में कारण हैं। अथवा, इन तीनों महिमाओं द्वारा उत्पन्न होने वाला प्रथमोपशम सम्यक्त्व जिनबिम्ब दर्शन निमित्तक नहीं है. किन्तु जिन-गुणश्रवण-निमित्तक है।

**शंकाः—**

देवर्द्धिदर्शन का जातिस्मरण में समावेश क्यों नहीं होता ?

**समाधानः—**

अपनी अणिमादि ऋद्धियों को देखकर जब यह विचार उत्पन्न होता है कि ये ऋद्धियां जिन भगवान द्वारा उपदिष्ट धर्म के अनुष्ठान से हुई हैं, तब प्रथमोपशम सम्यक्त्व में जातिस्मरण निमित्त होता है। किन्तु जब सौधर्मेन्द्रादिक देवों की महाऋद्धियों को देखकर यह ज्ञान उत्पन्न होता है कि ये ऋद्धियां सम्यग्दर्शन से संयुक्त संयम के फल से प्राप्त हुई हैं, किन्तु मैं सम्यक्त्व से रहित द्रव्य संयम के फल से वाहनादिक नीच देवों में उत्पन्न हुआ हूँ, तब प्रथम सम्यक्त्व का ग्रहण देवर्द्धिदर्शन निमित्तक होता है। अथवा जातिस्मरण उत्पन्न होने के प्रथम समय से लगाकर अन्तर्मुहूर्त काल के भीतर ही होता है। किन्तु देवर्द्धिदर्शन, उत्पन्न होने के समय से अन्तर्मुहूर्त काल के पश्चात् ही होता है। इसलिये ये दोनों कारण भिन्न भिन्न ही हैं।

आनतादि चार कल्पों के मिथ्यादृष्टि देवों में से कितने ही जातिस्मरण से, कितने ही धर्मोपदेश सुनकर और कितने ही जिन महिमा को देखकर प्रथमोपशम सम्यक्त्व उत्पन्न करते हैं।

नौ ग्रैवेयक विमानवासी मिथ्यादृष्टि देवों में से कितने ही जातिस्मरण से और कितने ही धर्मोपदेश सुनकर प्रथमोपशम सम्यक्त्व को उत्पन्न करते हैं।

## प्रथमोपशम सम्यक्त्व के सम्बन्ध में कुछ विशेष विवेचन

**उपशमः—**

करण परिणामों के द्वारा निःशक्त किये गये दर्शनमोहनीय के उदय रूप पर्याय के बिना अवस्थित रहने को उपशम कहते हैं।

प्रशमोपशम सम्यक्त्व में दर्शनमोहनीय कर्म का सर्वोपशम सम्भव नहीं है, क्योंकि उपशमपने को प्राप्त होने पर भी संक्रमण और अपकर्षण पाये जाते हैं। अन्तर में प्रवेश करने के प्रथम समय में ही दर्शनमोहनीय को उपशमा कर उपशम सम्यग्दृष्टि हो जाता है। उस समय मिथ्यात्व के द्रव्य को गुण संक्रमण भागहार से अर्थात् पल्योपम के असंख्यातवें भाग से भाजित करने पर जो लब्ध प्राप्त हो, वह द्रव्य सम्यक्त्व व सम्यङ्‌मिथ्यात्व को दिया जाता है। इस गुणसंक्रमण के काल में सूच्यङ्‌गुल के असंख्यातवें भाग के प्रतिभागी रूप विध्यात संक्रमण द्वारा सम्यङ्‌मिथ्यात्व के द्रव्य का सम्यक्त्व में संक्रमण उपलब्ध होता है।

**गुण संक्रमणः—**

उपशम सम्यग्दृष्टि जीव प्रथम समय से लेकर एकान्तानुवृद्धि से वृद्धि को प्राप्त होता हुआ मिथ्यात्व का एक अन्तर्मुहूर्त काल तक जो असंख्यातगुणाकार रूप से संक्रमण करता है वह गुणसंक्रमण कहलाता है। एकान्तानुवृद्धि का काल समाप्त हो जाने पर सूच्यङ्‌गुल के असंख्यातवें भागरूप भागहार स्वरूप विध्यात संज्ञा वाला होकर संक्रमण विशेष, गुणसंक्रमण की समाप्ति के काल में प्रारम्भ होकर उपशम सम्यग्दृष्टि और वेदक सम्यग्दृष्टि के काल तक बिना किसी प्रतिबन्ध के होता रहता है। इस समय सम्यङ्‌मिथ्यात्व का भी विध्यात संक्रमण होता रहता है।

**विध्यात संक्रमणः—**

विध्यात हुई है, अर्थात् रोकी गई है एकान्तानुवृद्धि की विशुद्धि जिसकी ऐसे जीव के स्थिति-काण्डक, अनुभागकाण्डक और गुणश्रेणी के कारणभूत परिणामों के रुक जाने पर यह संक्रमण होता है इसलिये यह विध्यात संक्रमण कहलाता है।

**सम्यक्त्वोत्पत्ति की योग्यताः—**

सम्मूर्च्छन जीवों में प्रथमोपशम सम्यक्त्व उत्पन्न नहीं होता। संज्ञी, पंचेन्द्रिय, पर्याप्त, गर्भज और उपपाद जन्म वाले पर्याप्तकों में ही प्रथमोपशम सम्यक्त्व उत्पन्न होता है।

**प्रथमोपशमसम्यक्त्वोत्पत्ति के समय लेश्याः—**

दर्शन मोह की उपशमन विधि का प्रारम्भ करने वाले के यदि अत्यन्त मन्द विशुद्धि भी हो तो तेजोलेश्या का परिणाम ही उसके योग्य होता है। अशुभ लेश्या के परिणाम उसके योग्य नहीं होते, क्योंकि वह सम्यक्त्व की उत्पत्ति के कारणभूत करण परिणामों से विरुद्ध स्वरूप हैं। अथवा विशुद्धि के समय अशुभ तीन लेश्या रूप परिणाम सम्भव नहीं हैं और न सप्तव्यसन आदि रूप प्रवृत्ति सम्भव है।

यह कथन कर्म भूमिया मनुष्य और तिर्यञ्चों की अपेक्षा से है। देवों में तो यथायोग्य शुभ तीन लेश्या रूप परिणाम ही होता है, अतः उक्त कथन का वहाँ पर कोई व्यभिचार नहीं आता। नारकियों में भी अवस्थित स्वरूप कृष्ण, नील और कापोत लेश्या रूप परिणाम होते हैं, वहाँ शुभ तीन लेश्या रूप परिणाम असम्भव हैं, इसलिये उनमें "जहण्णए तेउलेस्साए" यह सूत्र प्रवृत्त नहीं होता। इसीलिये नारकियों में अपनी अपनी लेश्याओं में ही प्रथमोपशम सम्यक्त्व का प्रारम्भ होता है।

**सम्यक्त्वोत्पत्ति के समय मिथ्यात्वोदय की व्यवस्थाः—**

अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के सम्यक्त्व का जो प्रथम लाभ होता है उसके "अणन्तरं पच्छदो य मिच्छत्तं" सूत्रानुसार अनन्तर पूर्व (पिछली) अवस्था में मिथ्यात्वी ही होता है, क्योंकि उसके प्रथम स्थिति के अन्तिम समय तक मिथ्यात्व के उदय को छोड़कर प्रकारान्तर सम्भव नहीं है। उसके प्रथमोपशम सम्यक्त्व के बाद मिथ्यात्वोदय का नियम नहीं है। क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि होकर दर्शन मोह की क्षपणा कर सकता है। अप्रथम सम्यक्त्व अर्थात् वेदक सम्यक्त्व से अनन्तर पूर्व अवस्था में मिथ्यात्वोदय का नियम नहीं है। कदाचित् मिथ्यादृष्टि होकर वेदक सम्यक्त्व को प्राप्त करता है, कदाचित् सम्यक् मिथ्यादृष्टि होकर वेदक सम्यक्त्व को प्राप्त करता है।

**निर्व्याघातः—**

दर्शनमोह के उपशामक सर्व ही जीव व्याघात से रहित होते हैं, क्योंकि दर्शनमोह के उपशम को प्रारम्भ करने वाले जीव के ऊपर यद्यपि चारों प्रकार के उपसर्ग एक साथ उपस्थित होवें, तो भी वह प्रारम्भ से लेकर दर्शनमोह की उपशमना विधि को प्रतिबन्ध के बिना समाप्त करता है। दर्शनमोह उपशामक का उस अवस्था में मरण भी नहीं होता।

**उपशमकालः—**

सभी ही दर्शनमोहनीय कर्मों का उदयाभाव रूप उपशम होने से वे अन्तर्मुहूर्त काल तक उपशान्त रहते हैं। इसके बाद उपशान्त काल के क्षीण हो जाने पर तीनों कर्मों (मिथ्यात्व, सम्यक्-मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति) में से क्रमशः जिस कर्म का वेदन करता है, उसका अपकर्षण कर उदयावलि में प्रविष्ट करता है, तथा शेष दोनों कर्मों का उदयावलि के बाहर निक्षेप करता है। इस प्रकार तीनों में से किसी एक कर्म का उदय परिणाम होने से मिथ्यादृष्टि, सम्यक् मिथ्यादृष्टि या वेदक सम्यग्दृष्टि होता है।

**प्रथमोपशम सम्यक्त्व का प्रथम लाभः—**

जो अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के सम्यक्त्व का प्रथम लाभ होता है, वह सर्वोपशम (मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति इन तीनों के [illegible] [illegible] है, तथा [illegible]

प्रकृति सम्बन्धी देशघाती स्पर्धकों के उदय को देशोपशम कहते हैं ) से ही होता है, क्योंकि उसके अन्य प्रकार से सम्यक्त्व की प्राप्ति सम्भव नहीं है। मिथ्यात्व को प्राप्त कर जो बहुत काल का अन्तर देकर सम्यक्त्व को प्राप्त करता है, वह भी सर्वोपशम से ही प्राप्त करता है।

**सम्यग्दृष्टि का लक्षणः—**

सम्यग्दृष्टि जीव निश्चय से उपदिष्ट-प्रवचन का श्रद्धान करता है। असत्भूत अर्थ का भी सम्यग्दृष्टि जीव गुरु वचन को ही प्रमाण करके स्वयं नहीं जानता हुआ श्रद्धान करता है। यह परमागम का ही उपदेश है, ऐसा निश्चय होने से उस प्रकार स्वीकार करने वाला वह जीव परमार्थ का ज्ञान नहीं होने पर भी सम्यक्त्व से च्युत नहीं होता। यदि पुनः कोई परमागम के ज्ञाता, विसम्वाद रहित दूसरे सूत्र द्वारा उस अर्थ को यथार्थ बतलावें फिर भी वह जीव असत् आग्रह वश उसे स्वीकार नहीं करता है, तो उस समय से ही वह जीव मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

## इस लेख में आये हुये कतिपय शब्दों की लक्षणावली

**अन्तः कोड़ाकोड़ी सागरोपमः—**

एक कोड़ाकोड़ी सागरोपम को संख्यात कोटियों से खण्डित करने पर जो एक खण्ड प्राप्त होता है, उसे अन्तः कोड़ाकोड़ी सागरोपम कहते हैं। इसमें सागरोपमों का प्रमाण एक करोड़ से अधिक और एक कोड़ाकोड़ी से न्यून होता है।

**स्थिति बन्धापसरणः—**

स्थिति के ह्रास होने को स्थितिबन्धापसरण कहते हैं।

**स्थितिकाण्डकघातः—**

जितने निषेक समूह की स्थिति को एक अन्तर्मुहूर्त में घात करता है, उस निषेक समूह को काण्डक कहते हैं। तथा उनकी स्थिति घात को स्थितिकाण्डक घात कहते हैं।

**अनुभाग काण्डकघातः—**

उपरितन अनुभाग वाले स्पर्धकों के समूह के अनुभागघात को अनुभागकाण्डकघात कहते हैं।

**निर्वर्गणाकाण्डकः—**

वर्गणा नाम समयों की समानता का है। उस समानता से रहित उपरितन समयवर्ती परिणामों के खण्डों के काण्डक या पर्व को निर्वर्गणाकाण्डक कहते हैं।

**उदयः—**

जो कर्मस्कन्ध अपकर्षण, उत्कर्षण आदि प्रयोग के विना स्थिति-क्षय को प्राप्त होकर अपना अपना फल देते हैं। उसे उदय कहते हैं।

**निक्षेपः—**

अपकर्षण या उत्कर्षण किया हुआ द्रव्य जिन निषेकों में मिलाया जाता है, वे निषेक निक्षेप कहलाते हैं।

**अतिस्थापनाः—**

अपकर्षण या उत्कर्षण किया हुआ द्रव्य जिन निषेकों में नहीं मिलाया जाता, वे निषेक अति स्थापना कहलाते हैं।

**गुणश्रेणीः—**

उदयावली से ऊपर अनन्तर निषेक में जितना अपकृष्ट द्रव्य देता है अगले निषेक में उससे असंख्यातगुणा द्रव्य देता है। तीसरे निषेक में उससे भी असंख्यातगुणा द्रव्य देता है। इस प्रकार असंख्यात असंख्यातगुणे द्रव्य के निक्षेपण विधान को गुणश्रेणी कहते हैं।

**गुणश्रेणी आयामः—**

जितने निषेकों में गुणश्रेणी रूप से अपकृष्ट द्रव्य दिया जाता है, उन निषेकों के आयाम को गुणश्रेणी आयाम कहते हैं।

**गलितावशेषगुणश्रेणीः—**

गुणश्रेणी प्रारम्भ करने के प्रथम समय में जो गुणश्रेणी आयाम था, उसमें एक एक समय के बीतने पर उसके द्वितीयादि समयों में गुणश्रेणी आयाम क्रम से एक एक निषेक घटता हुआ अवशेष रहता है, इसलिये उसे गलितावशेषगुणश्रेणी कहते हैं।

**गुणश्रेणी शीर्षः—**

अपूर्व करण और अनिवृत्ति करण के काल से गुणश्रेणी आयाम बड़ा है। उस गुणश्रेणी आयाम के उपरिम भाग को गुणश्रेणी शीर्ष कहते हैं।

**गुणश्रेणी निर्जराः—**

प्रति समय पूर्व पूर्व असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे द्रव्य की निर्जरा होना।

**अन्तरकरणः—**

विवक्षित कर्मों की अधस्तन और उपरिम स्थितियों को छोड़कर मध्यवर्ती अन्तर्मुहूर्त मात्र स्थितियों के निषेकों का परिणाम विशेष के द्वारा अभाव करने को अन्तरकरण कहते हैं।

**प्रथम स्थितिः—**

अन्तरकरण से नीचे की अन्तर्मुहूर्तप्रमित स्थिति को प्रथम स्थिति कहते हैं।

**द्वितीय स्थितिः—**

अन्तरकरण से ऊपर की स्थिति को द्वितीय स्थिति कहते हैं।

**उत्कीर्ण या उतकीरितः—**

ऊपर के द्रव्य को उठाकर नीचे डालने का नाम उत्कीर्ण है।

**आगालः—**

अपकर्षण के निमित्त से द्वितीय स्थिति के कर्म-प्रदेशों का अन्तर को छोड़कर प्रथम स्थिति में आना आगाल कहलाता है।

**प्रत्यागालः—**

उत्कर्षण के निमित्त से प्रथम स्थिति के कर्म-प्रदेशों का द्वितीय स्थिति में जाना प्रत्यागाल कहलाता है। किन्तु उत्कर्षण किया हुआ द्रव्य अन्तर में नहीं दिया जाता है, इसलिये इसकी उत्कर्षण संज्ञा नहीं है अपितु प्रत्यागाल है।

**आवली-प्रत्यावलीः—**

उदयावली को आवली कहते हैं। तथा उदयावली से ऊपर के आवली प्रमाण काल को द्वितीयावली या प्रत्यावली कहते हैं।

**एकान्तानुवृद्धिः—**

प्रथमोपशम सम्यक्त्व के हो जाने पर जब तक परिणामों में प्रति समय अनन्तगुणी विशुद्धि बढ़ती रहती है तब तक उन परिणामों को एकान्तानुवृद्धि कहते हैं।

**उपशमः—**

कर्म प्रदेशों में उदीरणा के अयोग्य शक्ति को उपशम कहते हैं।

**अप्रशस्त उपशमः—**

कर्मबन्ध के समय कुछ कर्म प्रदेशों में उदीरणा के अयोग्य शक्ति का उत्पन्न होना अप्रशस्त उपशम है।

**प्रशस्त उपशमः—**

करण परिणामों के द्वारा निःशक्त किये गये दर्शनमोहनीय के उदय रूप पर्याय के विना अवस्थित रहने को प्रशस्त उपशम कहते हैं।

**सर्वोपशमः—**

मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति इन तीनों कर्मों के उदयाभाव को सर्वोपशम कहते हैं।

**देशोपशमः—**

सम्यक्त्व प्रकृति सम्बन्धी देशघाती स्पर्धकों के उदय को देशोपशम कहते हैं।

**निधत्तः—**

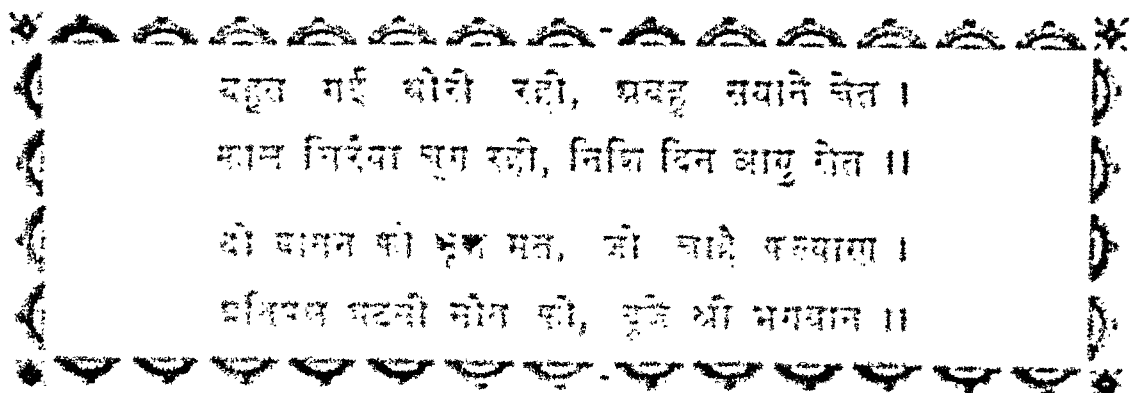
जो प्रदेशाग्र निधत्ती कृत हैं वे कर्म प्रदेशाग्र उदय में देने के लिये शक्य नहीं हैं, अन्य प्रकृति में संक्रान्त करने के लिये भी शक्य नहीं हैं, अर्थात् उन प्रदेशाग्रों की न तो उदीरणा होती है और न अन्य प्रकृति रूप संक्रमण होता है, किन्तु अपकर्षण, उत्कर्षण होना शक्य है, ऐसे कर्म-प्रदेशाग्रों की निधत्त संज्ञा है। दर्शनमोह उपशामक के अनिवृत्तिकरण में केवल दर्शनमोहनीय ही अनिधत्त होती है।

**निकाचितः—**

जो कर्म प्रदेशाग्र अपकर्षण, उत्कर्षण, अन्य प्रकृति में संक्रमण के लिये तथा उदय में देने के लिये ( उदीरणा के लिये ) शक्य नहीं हैं, उन प्रदेशाग्रों को निकाचित कहते हैं।

दर्शनमोह उपशामक के अनिवृत्तिकरण में प्रविष्ट होने पर दर्शनमोहनीयकर्म अनिकाचित हो जाता है।

## ❀ तृतीय खण्ड समाप्त ❀





शांतिवीर नगर श्री महावीरजी प्रथम पंचकल्याणक महोत्सव में
आचार्य श्री के चरणों में नत मस्तक सपत्नीक श्री रा० सा०



प्रतापगढ़ में नवदेवता विधान महोत्सव के समय पूजा में रत श्री रा० सा० एवं अन्य





परम पूज्य १०८ आचार्य

# श्री शिवसागर स्मृति-ग्रन्थ



# चतुर्थ खण्ड







# आत्मदर्शन-अध्यात्मचिन्तन

[ ले० श्री पं० कमलकुमारजी न्याय-व्याकरण-काव्यतीर्थ कलकत्ता ]

प्रत्येक संसारी आत्मा अनादि से कर्मबद्ध होने के कारण बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि रहा है। प्रत्येक का मूल निवास निगोद रहा है। यह बात उन सब संसारी आत्माओं की है जो वर्तमान में निगोद से निकल कर विभिन्न योनियों में परिभ्रमण कर रहीं हैं। इनके सिवाय ऐसी भी अनन्त आत्माएँ हैं जो अनादिकाल से निगोद में रही हैं, वर्तमान में रह रही हैं और अनन्तकाल तक रहेंगी। तात्पर्य यह है कि उन्हें निगोद के सिवाय अन्य कोई उच्च पर्याय कभी प्राप्त नहीं होगी। आगम में कहा भी है—

"अत्थि अणंता जीवा जेहिं ण पत्तो तसाण परिणामो।
भावकलङ्कसुपउरा णिगोदवासं न मुचंति ॥" ( जी० का० )

ऐसे अनन्त जीव हैं जिन्होंने त्रसपर्याय कभी प्राप्त ही नहीं की और भाव सम्बन्धी कलुषता से इतने अधिक परिपूर्ण हैं कि उस निगोदवास को कभी छोड़ते भी नहीं हैं।

जो आत्माएँ आज तक निगोद से नहीं निकलीं और न कभी निकलेंगीं उनमें बहुधा दूरानुदूर-भव्य ही हैं। अतएव वे सभी बहिरात्मा हैं और बहिरात्मा ही रहेंगी। उनमें अन्तरात्मा और परमात्मा-रूप पर्याय की प्रकटतारूप शक्ति होते हुए भी कभी उसकी व्यक्ति नहीं होगी। कारण कि उन्हें उस पर्याय की प्रकटता के कारणभूत साधनों का अभाव है। सन्तानोत्पत्ति की योग्यता रखने वाली विधवा स्त्री जिस प्रकार साधन के अभाव में पुत्र उत्पन्न नहीं कर सकती, उसी प्रकार सम्यग्दर्शनादि रूप रत्नत्रय के आविर्भाव की योग्यता रखने वालीं दूरानुदूर भव्य आत्माएँ व्यवहार राशि आदि साधनों की अनुपलब्धि के कारण अनन्तकाल तक बहिरात्मा ही बनी रहेंगी। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि जो संसारस्थ आत्माएँ नाना योनियों में परिभ्रमण करती हुई सुख दुःख भोग रही हैं, वे सभी बहिरात्म-दशा से निकल कर अन्तरात्मा और परमात्मा बन जावेंगी, क्योंकि उनमें भी अनन्त आत्माएँ अभव्य हैं जो कभी भी सम्यक्दर्शनादिरूप रत्नत्रय की पात्र नहीं होंगी अतः वे अनन्त काल तक बहिरात्मा ही बनी रहेंगी।

साधनों की उपलब्धि होते हुए भी जिस प्रकार वंध्या स्त्री अपने वंध्यापने का त्याग नहीं करती उसी प्रकार मिथ्यात्व की मन्दता में यद्यपि वे अभव्य आत्माएँ उन सिद्धात्माओं का स्तवन, पूजन तथा ध्यान आदि करती हैं तो भी अपने उपादान की निर्बलता से कभी अपनी बहिरात्मदशा का त्याग नहीं कर सकतीं। उन्हीं भ्रमणशील संसारी आत्माओं में अनन्तानन्त आत्माएँ ऐसी भी हो चुकी हैं जो बहिरात्मदशा को छोड़कर अन्तरात्मा बनीं और उसके पश्चात् परमात्मपद को प्राप्त हुई हैं। अपनी स्वाभाविक योग्यता के कारण संसार की संतति का छेदकर अब वे सिद्धालय में विराजमान हैं तथा

संसारस्थ समस्त भव्य आत्माओं को सिद्धपद प्राप्त कराने में निमित्त कारण हैं। अब रहे वे अनन्त जीव, जो निकट अथवा दूर भव्य हैं, वे सभी यथाकाल बहिरात्मा से अन्तरात्मा और अन्तरात्मा से परमात्मा बनेंगे। भव्य जीवों का परिमाण अक्षय अनन्त राशि है अतः उनका अस्तित्व कभी समाप्त नहीं होता और न परमात्मा बनने का मार्ग ही अवरुद्ध होता है। तात्पर्य यह है कि अभव्यजीव की सदा एक बहिरात्मा अवस्था ही रहती है और भव्यात्मा की बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा—तीनों अवस्थाएँ यथाक्रम से होती हैं। इनमें बहिरात्म अवस्था हेय—छोड़ने के योग्य है और परमात्म अवस्था उपादेय है। अन्तरात्म-अवस्था, परमात्मावस्था की प्राप्ति का कारण है। परमात्मा बनने पर जीव की अन्तरात्मा अवस्था स्वयमेव निवृत्त हो जाती है। इसलिए वह हेय और उपादेय—दोनों रूप है।

आगे चर्चा इस बात की करनी है कि बहिरात्मावस्था को कैसे छोड़ा जाय ? उसको छोड़ने के क्या उपाय हैं ? वे कैसे प्राप्त किये जावें ? इस संदर्भ में सर्व प्रथम यह दृढ़ निश्चय करना चाहिए कि वास्तव में आत्मा जड़शरीर से भिन्न चैतन्य स्वरूप एक स्वतन्त्र तत्व है। जैसे आत्मा स्वतन्त्र ज्ञाता-द्रष्टा—जानने देखने वाला द्रव्य है वैसे ही शरीर भी एक स्वतन्त्र पुद्‌गल द्रव्य है। यह स्वभाव से जड़—अचेतन और रूप रस गन्ध तथा स्पर्श से सहित है। यद्यपि शरीर और आत्मा अनादि काल से परस्पर हिले मिले हुए हैं तथापि अपने अपने स्वभाव को त्रिकाल में भी नहीं छोड़ते हैं। न शरीर जीवरूप होता है और न जीव शरीररूप। यही इन दोनों की स्वभावगत स्वतन्त्रता है।

द्रव्य दृष्टि से प्रत्येक आत्मा समान हैं, उनमें कोई न्यूनाधिकता नहीं है। यदि न्यूनाधिकता है तो मात्र पर्याय दृष्टि से है। पर्याय दृष्टि से तारतम्य गुणों के विकास और अविकास का है। जिस आत्मा ने अपने अखण्ड पुरुषार्थ के द्वारा आत्म गुणों का पूर्ण विकास कर लिया है वह परमात्मा है और पुरुषार्थ हीनता के कारण जिसके गुण अविकसित अथवा अर्ध विकसित हैं वह बहिरात्मा तथा अन्तरात्मा है।

अनन्तानंत गुणों के अखण्ड पिण्ड स्वरूप आत्मा में एक श्रद्धा नामका गुण है जो दर्शनमोह के उदय से मिथ्यादर्शनरूप विपरीत परिणमन कर रहा है। इसी विपरीत परिणमन के कारण यह आत्मा, शरीर का—आत्मा से भिन्न नोकर्म, द्रव्यकर्म और भावकर्म को आत्मरूप मान अनन्त संसारी बन रहा है। अपने आत्मीय परपदार्थों का कर्ता धर्ता और भर्ता मानकर उनकी इष्ट-अनिष्ट परिणति में रागद्वेष करता है [illegible] भागी हो रहा है। यह पर्यायमुखी दृष्टि ही मूलतः संसार है। जब तक इस दृष्टि का परिवर्तन नहीं होगा तब तक यह आत्मा अनन्त संसार का पात्र बना रहेगा। अतः [illegible] है कि वे अपने प्रबल पुरुषार्थ से मिथ्यात्व [illegible] हो।

[illegible] बिना सम्यक्त्व नहीं है और ज्ञान चारित्र की समीचीनता की उपलब्धि [illegible] है। कुन्दकुन्द स्वामी ने 'दंसणमूलो धम्मो' इस उक्ति द्वारा सम्यग्दर्शन [illegible] सम्यग्दर्शन से ही होता है, यह सुनिश्चित है।

सम्यग्दर्शन के होने पर ही यह जीव, सम्यग्ज्ञानी, अन्तरात्मा, आत्मज्ञानी तथा स्वपर भेदविज्ञानी आदि अनेक अवस्थाओं से व्यवहृत होने लगता है।

**स्वपरभेदविज्ञान और उसकी महत्ता:—**

बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था एक मात्र स्वपर भेदविज्ञान के असद्भाव और सद्भाव पर निर्भर करती है। जिनके स्वपर भेदविज्ञान नहीं है वे निरन्तर बन्ध को ही सँजोये रहते हैं और जिनके स्वपर भेदविज्ञान है वे कर्मबन्धन से विमुक्त हो मोक्ष के पात्र होते हैं। अमृतचन्द्र सूरि ने कहा है।

भेदविज्ञानत: सिद्धा: सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ।।

आज तक जितने सिद्ध हुए हैं वे भेदविज्ञान से ही सिद्ध हुए हैं और आज तक जितने बद्ध हैं वे सब भेदविज्ञान के अभाव से ही बद्ध हैं।

इस स्वपर भेदविज्ञान को प्राप्त करने के लिये अरहन्त भगवान् का शरण ग्रहण करना चाहिये। द्रव्य, गुण और पर्याय के द्वारा अरहन्त को जानना चाहिये। वही एक ऐसा दर्पण है जिसमें आत्मस्वरूप का अवलोकन होता है। अरहन्त को जानने वाला आत्मा को जानता है और जो आत्मा को जानता है उसका मोह नियम से विलीन हो जाता है। कुन्दकुन्द स्वामी ने प्रवचनसार में कहा भी है।

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं।।

अरहन्त भगवान्, वीतरागता, सर्वज्ञता और हितोपदेशकता के प्रतीक हैं अत: उनके दर्शन पूजन से इस जीव का उन गुणों की ओर लक्ष्य बनता है और बनने से ही उनकी प्राप्ति होती है। अरहन्त का ही दूसरा नाम परमात्मा है क्योंकि घातिचतुष्क के नष्ट होने से उनकी ही आत्मा परम— उत्कृष्ट दशा प्राप्त होती है। यह परमात्मा सकल और निष्कल के भेद से दो प्रकार का है। कल अर्थात् परमौदारिक शरीर से सहित अरहन्त सकल परमात्मा हैं, यही जीवन्मुक्त कहलाते हैं और शरीर से रहित सिद्ध भगवान् निष्कल परमात्मा हैं, यही मुक्त कहलाते हैं।

स्वपर भेदविज्ञान की प्राप्ति कराने वाले उपायों में दूसरा स्थान श्रुतावगाहन का है। वीतराग सर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनि के द्वारा प्रतिपादित और परम नि:स्पृह, परम ज्ञानी ऋषियों के द्वारा लिखित श्रुत वह अनुपम प्रकाश है, जिसमें निज और परके स्वरूप का सत्यार्थ अवभासन होता है। 'आप्तनिबन्धन-मर्थज्ञानमागम:' तथा 'आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यं' आदि वाक्यों के द्वारा आगम का मूल सम्बन्ध आप्त भगवान् के साथ जोड़ा गया है अत: उसकी प्रमाणता में सन्देह के लिये स्थान नहीं है। आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है—

एयग्गगदो समणो एयग्गं णिच्छिदस्स अत्थेसु ।
णिच्छित्ती आगमदो आगम चेट्ठा तदो जेट्ठा ।।

श्रमण-मुनि वही है जो एकाग्रता को प्राप्त हो, एकाग्रता उसी को प्राप्त होती है जिसे अर्थ—पदार्थों का निश्चय हो, निश्चय आगम से होता है इसलिये आगम के जानने की चेष्टा करना उत्तम बात है।

आगम के सतत अभ्यास से ही इस जीव को निज और परका भेदविज्ञान होता है। आगम ही तो बताता है कि—

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठ संठाणं ।।

जो रस से रहित हो, रूप से रहित हो, गन्ध से रहित हो, अव्यक्त हो, चेतना गुण से सहित हो, शब्द रहित हो, लिंग-इन्द्रियादि लिंगों से जिसका ग्रहण नहीं होता हो तथा जिसका आकार अनिर्दिष्ट हो वह आत्मा है। तथा जो रूपादि से सहित हो वह शरीर है—आत्मा से भिन्न है।

ज्ञानी अन्तरात्मा विचार करता है कि मैंने जिनेन्द्रप्रभु के दिव्यवचनरूप महा सागर का अवगाहन कर अपने शुद्धस्वरूप को जान लिया है अतएव मेरी बुद्धि किसी बाह्य पदार्थ को अपना मानने के लिये उद्यत नहीं है। अब तक मैं अज्ञान के कारण बाह्य पदार्थों को सुख दुःख का कारण मानकर उनमें रागद्वेष करता रहा हूँ पर आज मेरी दृढ़ श्रद्धा प्रकट हुई है कि यह जीव अपने किये हुए शुभ अशुभ कर्म का ही फल भोगता है कोई किसी को कुछ देने में समर्थ नहीं है। मेरा परपदार्थ के साथ स्व स्वामी सम्बन्ध नहीं है, मात्र ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध है परन्तु मैं अज्ञान वश उनका स्वामी बनकर व्यर्थ ही इष्ट अनिष्ट की कल्पना करता रहा हूँ।

स्वपर भेदविज्ञान के प्राप्त कराने वाले साधनों में तीसरा स्थान निर्ग्रन्थ सद्गुरु का है। अरहन्त भगवान्, आत्मस्वरूप की श्रद्धा को जगाते हैं जिनागम, आत्मस्वरूप के जानने में सहायक होता है और निर्ग्रन्थ गुरु सम्यक्चारित्र की ओर इस जीव का लक्ष्य मोड़ते हैं। उनकी विषय कषाय से विरक्त तथा ज्ञान ध्यान में लीन परिणति को देखकर ज्ञानी जीव विचार करता है अहो! मैंने आत्मा की श्रद्धा की तथा ज्ञान प्राप्त किया परन्तु विषय कषाय से निवृत्ति प्राप्त नहीं कर सका इसलिये सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का धारक होकर भी अव्रती बनकर इसी संसार में निवास कर रहा हूँ। मैं अनन्तज्ञान और अनन्त सुख का भाजन होकर भी दूसरों आदि के लिये इधर उधर भटक रहा हूँ। जिस प्रकार [illegible] आकांक्षा करे तो मूर्ख नाम पाता है [illegible] स्वामी होकर [illegible] ज्ञान और सुख की खोज करना [illegible] है।

इस प्रकार [illegible] भेदविज्ञान [illegible] चाहिये।



# मोक्ष–विविध दार्शनिकों के मत में

[ परम विदुषी रत्न १०५ आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी ]

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृतां ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वंदे तद्गुणलब्धये ।।१।।

"सर्वःप्रेप्सति सत्सुखाप्तिमचिरात्, सा सर्वकर्मक्षयात् ।" संसार में सभी प्राणी सच्चे सुख की प्राप्ति शीघ्र ही चाहते हैं अर्थात् ऐसे सुख को प्राप्त करना चाहते हैं कि जिसका कभी भी विनाश नहीं हो सके अथवा जिस सुख के बाद कभी भी दुःख का लेश न होवे ऐसा सुख संपूर्ण कर्मों के क्षय से ही प्राप्त हो सकता है।"कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः" संपूर्ण कर्मों से छूट जाना ही मोक्ष है। संसार में जितने भी आस्तिक्यवादी हैं, प्रायः वे सभी लोग मोक्ष में संपूर्ण दुःखों की निवृत्ति हो जाना अथवा संपूर्ण कर्मों का अभाव होना स्वीकार कर लेते हैं फिर भी सभी मतावलम्बियों के द्वारा मान्य मोक्ष का स्वरूप जैन सिद्धांत से वाधित हो जाता है क्योंकि प्रायः मोक्ष में ज्ञान और सुख का अस्तित्व मानने को कोई भी तैयार नहीं है। जब मोक्ष में ज्ञान और सुख ही नहीं रहेंगे तब मोक्ष को प्राप्त करने से लाभ ही क्या होगा ? उदाहरण के लिये देखिये—

## सांख्य द्वारा मान्य मोक्ष का खंडन

सांख्य का कहना है कि "गुणपुरुषांतरोपलब्धौ प्रतिस्वप्नलुप्तविवेकज्ञानवत् अनभिव्यक्तचैतन्य स्वरूपावस्था मोक्षः" प्रकृति और पुरुष का भेदविज्ञान हो जाने पर निद्रावस्था में विवेकशून्य चैतन्य के समान शुद्ध चैतन्य मात्र स्वरूप में आत्मा का अवस्थान हो जाना ही मोक्ष है। सांख्य की मान्यता है कि–संसार में प्रकृति और पुरुष नाम से मुख्य दो तत्त्व हैं। प्रकृति अर्थात् प्रधान जड़स्वरूप है एवं पुरुष–आत्मा चैतन्य स्वरूप है यहाँ तक तो ठीक है, किन्तु इनकी एक विचित्र मान्यता है कि ज्ञान पुरुष का स्वरूप न होकर प्रधान का धर्म है और वह अचेतन है, तथैव सुख दुःख आदि भी अचेतन हैं, प्रधान के धर्म हैं। संसारावस्था में पुरुष के साथ प्रधान का संबंध होने से ये ज्ञान और सुख भी पुरुष में संसर्गित हो गये हैं और ये चेतन के समान दिखने लगे हैं किंतु मूल में ये अचेतन हैं अतः पुरुष से प्रधान का संसर्ग छूटने के बाद आत्मा को मोक्ष होते ही आत्मा में ज्ञान और सुख का अभाव हो जाता है। यह आत्मा मात्र अपने चैतन्य स्वरूप में विलीन हो जाती है। सांख्य ज्ञानादि को अचेतन सिद्ध करने के लिये आगम के साथ ही अनुमान का प्रयोग भी दिखाता है। यथा—

"ये ज्ञान सुख आदि धर्म प्रधान के स्वभाव होने से अचेतन हैं, क्योंकि उत्पत्तिमान् हैं अर्थात् उत्पन्न होते हुये देखे जाते हैं अतः इसी हेतु से ये अनित्य भी हैं जैसे घटादि पदार्थ उत्पन्न होते हैं अतः वे प्रधान के विकार हैं और अनित्य हैं। आत्मा तो कूटस्थ नित्य है उसका धर्म या स्वभाव अनित्य कैसे हो

सकता है। अतएव ये सुखादि अचेतन ही हैं इत्यादि" एवं इन सांख्यों की एक विचित्र मान्यता और है कि संसार और मोक्ष प्रकृति को ही होता है और तो क्या उन्होंने यहां तक कह दिया कि प्रकृति प्रधान ही सर्वज्ञ बनता है न कि आत्मा। एवं प्रकृति ही सारे जगत की कर्त्री-करने वाली है इत्यादि।

इस प्रकार से सांख्य के द्वारा मान्य मोक्ष तत्त्व का जैनाचार्यों ने बड़े ही सुन्दर ढंग से खंडन कर दिया है। जैनाचार्यों का कहना है कि-हमारे यहां अनंत ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य स्वरूप चैतन्य विशेष में आत्मा का अवस्थान होना अर्थात् अनंत चतुष्टयादि गुणों को प्राप्त कर लेना ही मोक्ष माना गया है। ये ज्ञान और सुखादि आत्मा के स्वभाव हैं न कि प्रधान स्वरूप जड़ के। हम स्याद्वादियों के यहां सामान्य रूप से-द्रव्यदृष्टि से या निश्चय नय की अपेक्षा से ज्ञान और सुख उत्पत्तिमान् नहीं हैं प्रत्युत अनादि निधन आत्मा से अभिन्न होने से अनादि निधन आत्म स्वरूप ही हैं क्योंकि इन ज्ञान और सुखादि गुणों के बिना आत्मा का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं हो सकता है। पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से विशेष श्रुतज्ञान, केवलज्ञानादि रूप से एवं इन्द्रिय जन्य सुख अतीन्द्रियजन्य सुखादि की अपेक्षा से ये ज्ञान और सुख उत्पत्तिमान् भी हैं किन्तु इतने मात्र से ही ये आत्मा से भिन्न नहीं माने जा सकते हैं क्योंकि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष रूप मानस मतिज्ञान से भी ये चेतन रूप प्रसिद्ध ही हैं हमारे यहाँ आत्मा को भी कथंचित् उत्पत्तिमान् मान लिया गया है। देखो! संसार अवस्था में नर नारकादि रूप पर्यायों से आत्मा का उत्पाद व्यय देखा भी जाता है जो कि स्वसंवेदन से सिद्ध है। इसलिये आत्मा ही सर्वज्ञ होता है आत्मा ही संसारावस्था में कर्मों का कर्ता है, एवं उसके फल स्वरूप सुख दुःख का भोक्ता है, तथा आत्मा ही कर्मों का नाश करके मोक्ष को भी प्राप्त कर लेता है और वहां पर अनंतज्ञान, अनंतसुखादिकों का भोक्ता अर्थात् सुखी बन जाता है। आत्मा और प्रधान का भेदविज्ञान होने मात्र से भी मोक्ष की प्राप्ति जैन सिद्धांत में नहीं मानी गई है। अन्यथा भेदविज्ञान या पूर्णज्ञान होते ही मोक्ष हो जाने से संसारावस्था में उस सर्वज्ञ का अवस्थान न होने से मोक्षमार्ग का उपदेश आदि घटित नहीं हो सकेगा अतः सर्वज्ञ होने के बाद भी कुछ अघातिया कर्म रह जाते हैं। जिनका नाश करने के लिये ध्यान स्वरूप चारित्र ही समर्थ है अतः "सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः" सूत्र के अनुसार मात्र ज्ञान से ही मोक्ष न होकर सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र की पूर्णता से ही मोक्ष की प्राप्ति मानी गई है और यही मान्यता समीचीन है।

## वैशेषिक द्वारा मान्य मोक्ष का खंडन

वैशेषिक कहता है कि "बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्काराणामात्मगुणानामत्यन्तोच्छेदो मोक्षः" बुद्धि अर्थात् बुद्धि-ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार आत्मा के इन नौ गुणों का अत्यन्त उच्छेद हो जाना ही मोक्ष है। ये बुद्धि आदि विशेष गुण आत्मा के स्वभाव नहीं हैं [illegible] क्योंकि इनके उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पाया जाता है।" मुक्ति में सर्व [illegible] सुख, दुःख,

इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, ज्ञानादि का भी सर्वथा अभाव हो जाता है। अर्थात् वैशेषिक के यहाँ द्रव्य से गुण सर्वथा भिन्न रूप है उनका समवाय सम्बन्ध से ही सम्बन्ध होता है। जैसे—आत्मा से ज्ञान गुण सर्वथा भिन्न है उस ज्ञान गुण का समवाय सम्बन्ध से आत्मा में सम्बन्ध होता है। तथैव अग्नि से उष्णता गुण भी सर्वथा भिन्न है एवं समवाय से ही अग्नि में उष्ण गुण आता है। इसीलिये ईश्वर में भी समवाय सम्बन्ध से ही ज्ञान गुण पाया जाता है किन्तु एक सदाशिव स्वरूप परमेश्वर को छोड़कर अन्य सामान्य मुक्तात्माओं में ज्ञानादि गुणों का सर्वथा उच्छेद ही हो जाता है। वैशेषिक की इस मान्यता पर जैनाचार्यों का कहना है कि भाई! इन ज्ञानादि गुणों को आत्मा से सर्वथा भिन्न मानना उचित नहीं है। हाँ! पुण्य और पापादि के निमित्त से होने वाले जो सांसारिक इन्द्रियजन्य सुख और दुःख हैं उनका तो मुक्ति में अभाव हो जाता है क्योंकि साता असाता वेदनीय का अभाव हो जाने पर इन्द्रियजन्य सुख दुःखों का अभाव हो चुका है किन्तु आत्मा से ही उत्पन्न अतीन्द्रिय सुख का मुक्त जीवों में अभाव नहीं है प्रत्युत अनन्त अव्याबाध शाश्वत सुख वहाँ मौजूद है। तथैव ज्ञानावरण के क्षयोपशम विशेष से होने वाले क्षायोपशमिक मति, श्रुति आदि ज्ञान मुक्ति में नहीं पाये जाते हैं फिर भी ज्ञानावरण कर्म के पूर्णतया क्षय हो जाने से सिद्धों के पूर्ण केवलज्ञान पाया जाता है जो कि एक समय में भूत भविष्यत् और वर्तमान रूप त्रिकाल-वर्ती सम्पूर्ण द्रव्य गुण और उनकी अखिल पर्यायों को प्रकाशित कर देता है। फिर ऐसा कौन सा विद्वान दुनियाँ में है जो कि अपने ज्ञान एवं सुखों के विनाश के लिये मुक्ति को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करेगा? अर्थात् कोई भी विद्वान् अपने गुणों का और सुखों का नाश करना नहीं चाहता है। अतएव मुक्ति में इन विशेष गुणों का सर्वथा अभाव नहीं है पूर्ण ज्ञान एवं पूर्ण सुख वहाँ विद्यमान है। हाँ! बाकी के बचे हुये दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार इन गुणों का तो अभाव अवश्य ही हो जाता है क्योंकि ये कर्मोदय जन्य हैं।

वैशेषिक की जो मान्यता है कि ये गुण आत्मा से अत्यन्त भिन्न हैं। क्योंकि इनमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पाया जाता है किन्तु यह हेतु भी ठीक नहीं है क्योंकि जैनसिद्धान्तानुसार तो सभी द्रव्यों में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य होता है। यथा "सद्द्रव्यलक्षणं" इस सूत्र के अनुसार द्रव्य का लक्षण सत् है एवं सत् का लक्षण "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य रूप त्रिलक्षण के बिना तो कोई भी वस्तु तत्त्व सत् रूप सिद्ध नहीं हो सकता है। अतः इस हेतु से इन गुणों को आत्मा से भिन्न सिद्ध नहीं कर सकते हैं। दूसरी बात यह है कि "गुणपर्ययवद्द्रव्यं" इस लक्षण के अनुसार तो गुण और पर्यायों के समूह का नाम ही द्रव्य है पुनः गुणों को छोड़कर द्रव्य का अस्तित्व ही क्या रहेगा? क्या उष्ण गुण के बिना अग्नि का अस्तित्व सिद्ध हो सकता है? अर्थात् यह प्रश्न सहज ही हो जाता है कि अग्नि में उष्ण गुण के समवाय के पहले अग्नि उष्ण है या अनुष्ण (ठण्डी)? यदि उष्ण है तो उष्ण गुण के समवाय ने क्या किया, वह अग्नि तो स्वयं ही उष्ण है। यदि कहो कि उष्ण गुण के सम्बन्ध के पहले अग्नि अनुष्ण है, तब तो उष्ण गुण जैसे अनुष्ण अग्नि को उष्ण करता है वैसे ही पत्थर, चौकी, जल, आकाश आदि अनुष्ण वस्तुओं को भी क्यों न उष्ण करके अग्नि बना देवे किन्तु ऐसा तो देखा नहीं

जाता है। दूसरी बात यह भी है कि उष्ण गुण के समवाय के पहले न अग्नि का ही अस्तित्व सिद्ध है और न उष्ण गुण का ही अस्तित्व दिखता है। जब ये दोनों ही अग्नि और उष्ण गुण पृथक् पृथक् उपलब्ध होवें, तब तो इनका समवाय सम्बन्ध मानना भी उचित है। यदि आप कहें कि अयुत सिद्ध में ही समवाय होता है तब तो भैया ! आप इस समवाय सम्बन्ध को कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध ही कह दीजिये। बस ! झगड़ा समाप्त हो जावेगा। इसी प्रकार से आत्मा से भी ज्ञान गुण भिन्न मानने पर उपर्युक्त दोष आ जाते हैं अतएव आत्मा का ज्ञान और सुखादि गुणों के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है ऐसी मान्यता ही श्रेयस्कर है। मतलब यह है कि अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख और अनंतवीर्य रूप अनन्त चतुष्टय सिद्धों में पाये जाते हैं। तत्त्वार्थसूत्र महाशास्त्र में बताये गये "औपशमिक क्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च" इस सूत्र के अनुसार जीव के स्वतत्त्व ५ माने गये हैं जिनके उत्तर भेद ५३ हो जाते हैं। यथा—औपशमिक के २, क्षायिक के ९, क्षायोपशमिक के १८ और औदयिक भाव के २१ एवं पारिणामिक भाव के ३ भेद हैं। इन ५३ भेदों में से सिद्धों के क्षायिक भावों के ९ भाव एवं पारिणामिक भाव का एक जीवत्वभाव, ऐसे १० भाव पाये जाते हैं। यह जीवत्व भाव तो स्वाभाविक चेतना लक्षण जीवत्व की अपेक्षा से है। एवं ९ क्षायिक भाव कर्मों के क्षय से प्रगट हुये हैं बाकी के औपशमिकादि भावों के ४३ भेद रूप भावों का अभाव हो जाता है।

वैशेषिक सिद्धान्त में जो एक सदाशिव रूप महेश्वर माना गया है वह तो सर्वथा ही अघटित रूप है। सभी सिद्ध जीव संसार पूर्वक ही मुक्त हुये हैं अतः सभी सिद्ध परमेष्ठी सादि अनन्त कहे जाते हैं कोई भी ऐसा महापुरुष नहीं है जो अनादि काल से स्वयं सिद्ध शुद्ध एवं मुक्त स्वरूप होवे किन्तु सभी जीव रत्नत्रय रूप पुरुषार्थ के द्वारा कर्मों का नाश करके ही मोक्ष पद प्राप्त करते हैं। वैशेषिक ने तो इस महेश्वर को सृष्टि का कर्ता भी मान लिया है इस ईश्वर सृष्टि कर्तृत्व का खण्डन भी आप्तपरीक्षा, श्लोकवार्तिक आदि महान ग्रन्थों में विस्तार [illegible] से किया गया है अतः वैशेषिक की कल्पनानुसार विशेषगुणों का विनाश हो जाना ही मुक्ति है यह कल्पना कल्पित ही सिद्ध हो जाती है।

## वेदान्ती द्वारा मान्य मोक्ष का खण्डन

वेदान्ती-अद्वैतवादियों के यहाँ मुक्त जीव में अनन्त सुख संवेदनरूप ज्ञान तो माना गया है किन्तु बाह्य पदार्थों का ज्ञान नहीं माना गया है। इस पर प्रश्न यह होता है कि मुक्त जीव के इन्द्रियों का अभाव है इसलिये बाह्य पदार्थ का ज्ञान नहीं है, अथवा बाह्य पदार्थों का अभाव है इसलिये उनका ज्ञान नहीं है? यदि [illegible] बाह्य पदार्थों का अभाव कहो तब तो सुख का भी अभाव हो जायेगा क्योंकि [illegible] [illegible] सुख भी [illegible] [illegible] पदार्थ ही है यदि सुख का अस्तित्व मानोगे [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। यदि [illegible] [illegible] [illegible] मुक्त जीव के इन्द्रियों का अभाव है [illegible] बिना इन्द्रियों के सुख का अनुभव [illegible] [illegible] [illegible] यदि अतीन्द्रिय से सुख का अनुभव [illegible] [illegible] अतीन्द्रिय ज्ञान से बाह्य

पदार्थों का भी वेदन-अनुभव मानना ही होगा अन्यथा ब्राह्य पदार्थों को जाने बिना ज्ञान का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होगा। इसलिये यदि आप मुक्त जीव में ज्ञान का अस्तित्व स्वीकार करते हैं तब तो आपको सम्पूर्ण ब्राह्य पदार्थों का अस्तित्व भी मानना पड़ेगा। आखिर में ब्रह्माद्वैत रूप सिद्धान्त सिद्ध न होकर अन्तर्वाह्य पदार्थ स्वरूप द्वैत सिद्धान्त ही सिद्ध हो जावेगा जो कि आपके सिद्धान्त के प्रतिकूल ही है।

## बौद्धों के द्वारा मान्य मोक्ष का खण्डन

बौद्ध की मान्यता है कि—"रूपवेदनासंज्ञासंस्कारविज्ञानपंचकस्कन्धनिरोधादभावो मोक्ष:" इन बौद्धों ने भी पाँच स्कन्धों में एक विज्ञान नाम का स्कन्ध माना है और उनका कहना है कि इन पाँचों स्कन्धों का निरोध हो जाने से—निरन्वय विनाश हो जाने से प्रदीपनिर्वाणवत्-दीपक के बुझ जाने के समान जीव की मोक्ष हो जाती है। पहले तो इन बौद्धों के सिद्धान्त में प्रतिक्षण द्रव्य का निरन्वय विनाश मान करके वासना से लौकिक एवं पारलौकिक कार्यों की सिद्धि मानी गई है सो यह निरन्वय विनाश-जड़मूल से द्रव्य का विनाश मानना ही नितान्त गलत है। पुन: मुक्ति में विज्ञान का अभाव मान लेना तो कपोल कल्पित ही है। जैनाचार्यों ने इन बौद्धों के क्षणिक सिद्धान्त का अच्छा खण्डन किया है एवं मोक्ष में भी ज्ञानादि गुणों का सद्भाव माना है क्योंकि ज्ञान, सुखादि गुणों को पूर्णतया प्रकट करने के लिये ही तो मोक्ष के लिये पुरुषार्थ किया जाता है दीक्षा, तपश्चरणादि अनुष्ठान किये जाते हैं।

## जैनाचार्यों द्वारा मान्य मोक्ष का लक्षण

"निरवशेषनिराकृतकर्ममलकलङ्कस्याशरीरस्यात्मनोऽचिन्त्य स्वाभाविक ज्ञानादिगुणमव्याबाध सुखमात्यंतिकमवस्थान्तरं मोक्ष इति" जिसने सम्पूर्ण कर्ममल कलङ्क को नष्ट कर दिया है ऐसे अशरीरी आत्मा के अचिन्त्य, स्वाभाविक ज्ञानादि गुण और अव्याबाध सुख रूप अत्यन्त विलक्षण अवस्था की प्राप्ति हो जाना ही मोक्ष है। यह मोक्ष यद्यपि इन्द्रिय प्रत्यक्ष से सिद्ध नहीं है फिर भी आगम एवं अनुमान ज्ञान से जाना जाता है।

जिस प्रकार से घटी यन्त्र ( रेंहट ) का घूमना उसके धुरे के घूमने से होता है और धुरे का घूमना उसमें जुते हुये बैलों के घूमने पर। यदि बैल का घूमना बन्द हो जावे तो धुरे का घूमना भी रुक जाता है और धुरे के रुक जाने पर घटी यन्त्र का घूमना बन्द हो जाता है। उसी प्रकार से कर्मोदय रूपी बैल के चलने पर ही चार गति रूपी धुरे का चक्र चलता है और चतुर्गति रूपी धुरा ही अनेक प्रकार की शारीरिक, मानसिक आदि वेदनाओं रूपी घटीयन्त्र को घुमाता रहता है। कर्मोदय का अभाव हो जाने पर चतुर्गति का चक्र रुक जाता है और उसके रुकने से संसार रूपी घटीयन्त्र का परिचलन समाप्त हो जाता है, इसी का नाम मोक्ष है।

इस मोक्ष में सर्वथा कर्मोदय जन्य आकुलता का अभाव हो जाने से दु:खों का अभाव हो गया है आयु आदि कर्मों का अभाव हो जाने से जन्म मरण के दु:खों का भी सर्वथा विनाश हो गया है एवं

आत्मा को अपने स्वभाव की उपलब्धि, हो जाने से आत्मा पूर्ण सुखी हो चुकी है। आत्मा में अनन्तज्ञान, दर्शन आदि अनन्त गुण प्रकट हो गये हैं।

## ज्ञान आत्मा का गुण है या नहीं ? इस पर भिन्न-भिन्न मतों की समीक्षा करके जैनाचार्य का मत स्थापन

जैन सिद्धान्त में तो जीव का लक्षण करते हुये बताया है कि "उपयोगो लक्षणम्" चैतन्यानुविधायी परिणाम ही उपयोग है और यही जीव का लक्षण है। इस उपयोग के भी ज्ञान और दर्शन के भेद से दो भेद पाये जाते हैं तथा ज्ञान के भी ८ भेद हैं एवं दर्शन के ४ भेद हैं। आश्चर्य इस बात का है कि जैन सिद्धान्त को छोड़कर और कोई भी सिद्धान्तवादी ज्ञान को आत्मा का गुण मानने को तैयार नहीं है। बौद्ध ने निर्विकल्प प्रत्यक्ष को प्रमाण माना है उसके यहाँ प्रमाण के दो भेद हैं प्रत्यक्ष और अनुमान, इसमें से प्रत्यक्ष प्रमाण तो निर्विकल्प होने से पदार्थों का निर्णय नहीं करा सकता और अनुमान प्रमाण पदार्थों का निश्चय कराता है तो वह अवास्तविक है—काल्पनिक है। जैन सिद्धान्त के अनुसार विचार करके देखा जावे तो सत्ता मात्र का अवलोकन कराने वाले दर्शन के पश्चात् जो अवग्रह आदि रूप साकार ग्रहण होता है उसका नाम ज्ञान है और ये ज्ञान दर्शन रूप दोनों ही गुण आत्मा से अभिन्न होने से आत्मा के ही स्वभाव हैं। एक विशेष बात और यह है कि बौद्ध कहता है कि ज्ञान पदार्थों से ही होता है एवं पदार्थों के आकार का होता है पश्चात् उसी पदार्थ को विषय करता है यह कल्पना भी नहीं उचित ही है ! जैन सिद्धान्तानुसार तो ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम विशेष की अपेक्षा को लेकर आत्मा में ज्ञान की सातिशयता प्रगट होती है। हाँ ! क्षयोपशम ज्ञान में जो परोक्ष हैं वे इन्द्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न होते हैं और इसीलिये ही ये परोक्ष कहे जाते हैं। ये मति श्रुतज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं। बाकी अवधि और मनःपर्यय ज्ञान आत्मा से ही उत्पन्न हुये हैं एवं पूर्ण ज्ञानावरण के नष्ट हो जाने से केवलज्ञान प्रकट हो जाता है जो कि आत्मा का स्वभाव ही है। अतः बौद्ध की मान्यतानुसार ज्ञान को निर्विकल्प मानना ठीक नहीं है।

सांख्य ने तो ज्ञान और सुख को सर्वथा जड़ रूप प्रधान का धर्म स्वीकार कर लिया है और मुक्ति में प्रधान का संसर्ग छूट जाने से ज्ञान, सुख का भी अभाव मान लिया है किन्तु ज्ञान के बिना मुक्ति [illegible]

वैशेषिक और नैयायिक तो ज्ञान के समवाय से ही आत्मा को ज्ञानी मानते हैं और [illegible]

पर्याप्तक जीव के भी अति जघन्य रूप से "पर्याय" नाम के ज्ञान के अस्तित्व का प्रतिपादन किया है और इस पर्याय ज्ञान को नित्य ही प्रकटशील निरावरण माना है यथा—

सुहुमणिगोदअपज्जत्तयस्स जादस्स पढम समयम्हि ।
हवदि हु सव्वजहण्णं णिच्चुग्घादं णिरावरणं ।।३२०।।

अर्थ—सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्य पर्याप्तक जीव के उत्पन्न होने के प्रथम समय में सबसे जघन्य ज्ञान होता है। इसी को "पर्याय" ज्ञान कहते हैं। इतना ज्ञान हमेशा ही निरावरण तथा प्रकाशमान रहता है। यदि इस "पर्याय" ज्ञान पर भी आवरण आ जावे तो ज्ञान का अस्तित्व समाप्त होकर जीव का ही अभाव हो जावे। यह ज्ञान यद्यपि आत्मा का स्वभाव है फिर भी कर्मों के निमित्त से क्षयोपशम रूप अवस्था विशेष से अनेक भेद रूप हो रहा है।

एक भूत चैतन्यवादी चार्वाक सिद्धांत है जो पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु रूप भूत चतुष्टय से ही चैतन्य की उत्पत्ति मानता है उसके यहां भी यही कहा गया है कि शरीर इन्द्रिय मन और विषय ( पदार्थों ) से ही ज्ञान उत्पन्न होता है, जीव से नहीं। मतलब जब यह चार्वाक अचेतन भूत चतुष्टय से ही चैतन्य की उत्पत्ति मान लेता है तब ज्ञान को भी अचेतन से ही उत्पन्न हुआ माने इसमें आश्चर्य ही क्या है ? इसका कहना है कि "जन्म से पहले और मरण के अनन्तर आत्मा नाम की कोई चीज है ही नहीं बस ! भूत चतुष्टय का मिश्रण हुआ और चैतन्य आत्मा बन गई उसमें ज्ञान आ गया और शरीर के समाप्त होते ही आत्मा का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। यह नास्तिक सिद्धांत है इस सिद्धांत का भी जैनाचार्यों ने बहुत ही सुंदर ढंग से खंडन कर दिया है इन्होंने बताया है कि भैया ! भूत चतुष्टय चैतन्य की उत्पत्ति में उपादान कारण नहीं है किन्तु निमित्त कारण अवश्य है "शरीरवाङ्मनः प्राणापानाः पुद्गलानां" इस सूत्र के अनुसार शरीर, वचन, मन, श्वासोच्छ्वास आदि पौद्गलिक हैं ये भूत चतुष्टय से ही निर्मित हैं किन्तु उपादान स्वरूप आत्मा के मनुष्य गति, शरीर, मनुष्यायु आदि कर्मों के अनुसार यह जीव पूर्व शरीर को छोड़कर ( मरकर ) उत्तर शरीर को ग्रहण कर लेता है। इसलिये उपादान स्वरूप आत्मा से ही आत्मा की उत्पत्ति होती है न कि अचेतन से क्योंकि मरने के बाद अचेतन शरीर यों ही पड़ा रह जाता है और चैतन्य आत्मा चली जाती है इसी अवस्था को देखकर सभी आबाल गोपाल उस जीव का मरण मान लेते हैं और वह जीवात्मा अन्यत्र स्वकृत शरीर में जन्म धारण कर लेती है ऐसा समझना चाहिये।

प्रभाकार वादी तो आत्मा और ज्ञान को अत्यन्त परोक्ष मानते हैं एवं पदार्थ और जानने रूप क्रिया को प्रत्यक्ष मानते हैं। किन्तु यह भी गलत है यह आत्मा "अहं प्रत्यय" के द्वारा स्व संवेदन प्रत्यक्ष से जानी जाती है और ज्ञान के द्वारा पदार्थों का अनुभव होने से उस ज्ञान का भी अनुभव उसी ज्ञान के द्वारा ही सिद्ध है अतः आत्मा और उसका ज्ञान गुण दोनों ही स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से प्रसिद्धि में आ रहे हैं।

नैयायिक ने तो ज्ञान को अन्य दूसरे ज्ञान के द्वारा जानने योग्य मान लिया है उनका कहना है कि हमारा ज्ञान घट पट आदि पदार्थों को जानता है किन्तु स्व को नहीं जानता है तब स्व को जानने के

लिये एक दूसरा ज्ञान आता है जो कि "यह ज्ञान है" ऐसा ज्ञान करा देता है इस प्रकार से तो प्रत्येक ज्ञान स्वयं अपने को नहीं जान सकेगा और दूसरे-दूसरे ज्ञान उस उस ज्ञान का ज्ञान कराने के लिये आते रहेंगे तो बहुत बड़ी अनवस्था फैल जावेगी अतः ज्ञान को स्वयं ही स्वपर प्रकाशी मान लेना उचित है।

इसी प्रकार से मीमांसक तो सर्वथा ज्ञान को अस्वसंविदित ही मानते हैं उनका कहना है कि कोई भी आप स्वयं अपने कन्धे पर नहीं चढ़ सकता है वैसे ही ज्ञान अपने आपको नहीं जान सकता है "स्वात्मनि क्रिया विरोधात्" अर्थात् स्वात्मा में क्रिया नहीं हो सकती है। जैनाचार्यों ने बतलाया है कि क्रिया दो प्रकार की है एक धात्वर्थ लक्षणा, दूसरी परिष्पंदात्मक लक्षणा। धात्वर्थ लक्षणा क्रिया तो सर्वत्र पाई जाती है जैसे "पृथ्वी अस्ति" यह धात्वर्थ लक्षणा क्रिया है यदि यह क्रिया अपने कर्त्ता में न रहे तो वस्तु का अस्तित्व ही समाप्त हो जावे। हां ! परिष्पंदात्मक क्रिया सर्वत्र नहीं रहती। जैसे "कुंभकारः घटं करोति" यह क्रिया कर्त्ता में नहीं है इस क्रिया का ही स्वात्मा में विरोध है किन्तु ज्ञप्ति रूप क्रिया यह ज्ञान का स्वरूप है और इसका स्वात्मा से कोई विरोध नहीं है "अहं स्वसंवेदन प्रत्यक्षेण स्वमात्मानं जानामि" मैं स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा स्वयं अपने आपका अनुभव करता हूँ ऐसी प्रतीति आती है अतः ज्ञान आत्मा का स्वभाव है और वह स्वपर प्रकाशी है यह बात निर्बाध सिद्ध है।

इस जगत में कुछ अद्वैतवादी सिद्धान्त हैं ब्रह्माद्वैत, विज्ञानाद्वैत, शब्दाद्वैत, चित्राद्वैत और शून्याद्वैत आदि। इनके यहां केवल एक अद्वैत रूप ही तत्व माना गया है। ब्रह्माद्वैत वादी का कहना है कि "सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म, नेह नानास्ति किंचन। आरामं तस्य पश्यन्ति, न तं पश्यति कश्चन॥" मतलब जगत् में जितने भी चेतन अचेतन पदार्थ दिख रहे हैं वे सभी परम ब्रह्म की ही पर्यायें हैं परमब्रह्म के सिवाय इस जगत में और कुछ भी नहीं है जो कुछ भी आपको हम और आप दिख रहे हैं वह केवल अविद्या का ही विलास है।

शब्दाद्वैतवादी तो सारे विश्व को शब्द रूप ही स्वीकार कर रहे हैं वे कहते हैं कि ये सब चेतन अचेतन पदार्थ शब्द ब्रह्म से ही प्रगट हुये हैं इनको पृथक्-पृथक् समझना ही अविद्या का [illegible] है।

इसी प्रकार से विज्ञानाद्वैतवादी एक ज्ञान मात्र ही तत्व मानते हैं। चित्राद्वैतवादी सभी पदार्थों को [illegible] एवं शून्याद्वैत वादी तो सारे जगत को शून्य रूप ( अभावात्मक ) ही मान लेते हैं इन लोगों का कहना है कि जो कुछ दिख रहा है वह सब संवृति-कल्पना मात्र है। इन [illegible] बंध मोक्ष आदि की व्यवस्था नहीं बन सकती है। जैनाचार्यों ने तो आत्म द्रव्य को और जड़ द्रव्य को पृथक् २ माना है। जिसमें ज्ञान, दर्शन और सुख गुण पाये जाते हैं उसे आत्मा कहते हैं। [illegible] है क्योंकि [illegible] अनुभव कर सकते हैं और [illegible]

दूसरों को अपना ज्ञान करा सकते हैं केवल एक ज्ञान गुण ही ऐसा महान् गुण है जो कि आत्मा के अनन्त गुणों का ज्ञान कराने में समर्थ है उन सभी का मूल्यांकन कराता है और साथ ही साथ अपनी महानता को भी प्रकट कर देता है क्योंकि ज्ञान के द्वारा ही आत्मा आह्लादकारी सुख स्वरूप गुण का अनुभव करके आनन्द विभोर हो जाता है। अतएव ज्ञान का लक्षण स्वपर प्रकाशी है और वह आत्मा का ही गुण है।

## चेतन से अचेतन की उत्पत्ति मानने वाले ब्रह्मवादी एवं अचेतन से चेतन की उत्पत्ति माननेवाले भूत चतुष्टय वादी के यहाँ मोक्ष का अभाव

जगत् में एक ऐसा भी सिद्धांत है जो कि सारे जगत् को ब्रह्म स्वरूप-चैतन्य की पर्याय मान लेता है यह ऐसा अनोखा सिद्धांत है कि चेतन स्वरूप परम ब्रह्म से अचेतन रूप घट-पट, महल आदि पदार्थों की उत्पत्ति मान लेता है। तथैव चार्वाक मतानुयायी तो सर्वथा ही इस सिद्धांत के विपरीत अचेतन भूत चतुष्टय से चेतन स्वरूप आत्मा की उत्पत्ति मान रहे हैं ये दोनों ही सिद्धांत अपने आप में बड़े ही विचित्र हैं। वास्तव में विचार करके देखा जाये तो चेतन से अचेतन एवं अचेतन से चेतन की उत्पत्ति उपादान रूप से मानना सर्वथा महामोह का ही विलास है।

## प्रत्येक आत्मा की पृथक्-पृथक् सत्ता माने बिना मोक्ष का अभाव

जैनाचार्यों ने तो जैसे चेतन और अचेतन रूप दो द्रव्य माने हैं उसी प्रकार से चेतन-जीव के भी बहुत भेद प्रतिपादित किये हैं यों तो जीवराशि अनन्तानन्त है एवं पुद्गल राशि भी अनन्तानन्त है तथा धर्म अधर्म और आकाश द्रव्य एक एक हैं एवं काल द्रव्य के अणु असंख्यात हैं। मतलब यह हुआ कि प्रत्येक आत्मा की सत्ता अलग अलग है और प्रत्येक जीवात्मा संसारावस्था में शुभ अशुभ कर्मों का कर्त्ता है एवं उसके फल स्वरूप सुख और दुःख का भोक्ता भी है। जब यही आत्मा पुरुषार्थ करके-रत्नत्रय को प्राप्त कर लेता है तब मुक्तावस्था को प्राप्तकर लेता है वहां ( मुक्ति में ) भी मुक्तात्माओं की सत्ता अलग अलग ही है सभी अपने-अपने अनन्तसुखादि गुणों का अनुभव करते हुये पूर्ण सुखी हैं। यदि हम प्रत्येक जीव की सत्ता को पृथक् पृथक् नहीं मानें तब तो सबसे बड़ी आपत्ति यह आजावेगी कि जब तक एक जीव सुखी होगा तभी सब जीव सुखी हो जावेंगे और एक जीव के दुःखी होने से सभी जीव दुःखी हो जावेंगे मतलब यह सिद्ध होगा कि सभी जीवों को सुख दुःख जन्म मरण आदि का अनुभव एक साथ आने लगेगा किन्तु ऐसा तो देखा नहीं जाता। अतएव प्रत्येक आत्मा की सत्ता पृथक्-पृथक् ही है यह बात सिद्ध हो जाती है।

## संसार पूर्वक मोक्ष तत्व की सिद्धि

आत्म द्रव्य अनादि निधन है जो आत्मा संसार में कर्मों के बंधन से बद्ध होकर दुःख उठा रही है वही आत्मा कर्मों का नाशकर मोक्ष के सुख को प्राप्त कर लेती है। जैन सिद्धांत के अनुसार सभी जीव

संसार पूर्वक ही मुक्त हुये हैं क्योंकि "मुच्लृ" धातु छूटने अर्थ में है और जब कोई बंधा हुआ है तभी तो छूटेगा अन्यथा मुक्त कैसे होगा ? अतएव कर्म बंधन बद्ध आत्मा ही मुक्त होती है न कि मुक्त आत्मा।

## सर्वथा नित्यवाद और क्षणिकवाद में मोक्ष का अभाव

सांख्य के सिद्धांतानुसार यह आत्मा अनादि काल से ही कूटस्थ नित्य है, शुद्ध है, कर्ता नहीं है। वे सर्वथा नित्यवादी हैं, किन्तु "नित्यत्वैकांतपक्षेऽपि विक्रिया नोपपद्यते" इस नियम के अनुसार सर्वथा नित्यैकांतपक्ष में किसी भी प्रकार की क्रिया नहीं बन सकती है। पुनः पुण्य और पाप, बंध और मोक्ष आदि व्यवस्था भी असंभव ही है। तथैव सर्वथा क्षणिकवादी बौद्धों के यहां भी जब क्षण-क्षण में आत्मा का निरन्वय विनाश हो रहा है तब पुण्य, पाप और बंध, मोक्ष आदि की व्यवस्था किसको होगी ? जिस आत्मा ने पूजन करने का भाव किया उसका तो जड़ मूल से विनाश होकर दूसरी आत्मा आ गई उसने पूजन किया और उसका भी नाश होकर तीसरे ने पुण्य बंध किया, चौथे को उसका फल मिलेगा इत्यादि क्षण क्षय सिद्धांत तो हास्यास्पद ही है। ये दोनों ही सिद्धांत ब्रह्मवाद और भूतचतुष्टयवाद की तरह सर्वथा परस्पर में एक दूसरे के प्रतिकूल हैं।

## स्याद्वाद प्रक्रिया का सर्वोपरि स्थान

जैनाचार्य भी जीवादि द्रव्यों को कथंचित् ( द्रव्यदृष्टि से ) नित्य मानते हैं तभी तो पुण्य-पाप, बंध-मोक्ष और परलोकादि की व्यवस्था बनती है एवं कथंचित् ( पर्याय की दृष्टि से ) अनित्य भी मानते हैं तभी तो संसार में जन्म मरण सुख दुःख आदि अवस्थायें दीख पड़ती हैं।

स्याद्वाद प्रक्रिया का जैनधर्म में सर्वोपरि स्थान है। यह स्याद्वाद प्रक्रिया ही जैनधर्म का प्राण है इसके बिना जैनधर्म जीवित [illegible] नहीं रह सकता है, अतः प्रत्येक वस्तु तत्व को स्याद्वाद पद्धति से समझने का प्रयत्न करना चाहिये।

## न्यायशास्त्र की आवश्यकता

अष्टसहस्री आदि बड़े-बड़े न्याय ग्रंथों में स्याद्वाद प्रक्रिया का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया गया है। [illegible] न्याय ग्रंथों [illegible] बहुत ही कम है किन्तु इतना निश्चित है कि ये न्याय ग्रंथ [illegible] कसौटी पर [illegible] कसौटी के पत्थर हैं। जिस प्रकार कसौटी पर [illegible] सुवर्ण शुद्ध है या अशुद्ध है यह [illegible] जाता है और इस प्रकार उसकी मिलावट को जानकर [illegible] उसी प्रकार न्यायशास्त्रों के अभ्यास से हम सच्चे झूठे ज्ञान को कसौटी पर [illegible]

निकाल कर शुद्ध आत्मतत्व का निर्णय करा देता है। अतएव न्याय ग्रन्थों का अध्ययन, मनन अवश्य ही करना चाहिये तभी सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का स्वरूप अच्छी तरह समझ में आ सकता है और सम्यक्त्वादि के बल से कर्मों का नाश करके मोक्ष को प्राप्त किया जा सकता है।

## कर्म के अभाव से मुक्ति

"बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्ष:" मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद कषाय और योग ये बन्ध के पाँच कारण हैं और ये ही ५ संसार के भी कारण हैं क्योंकि कर्म बन्ध ही संसार है। इन बन्ध के हेतुओं का अभाव एवं पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा से सम्पूर्ण कर्मों का अभाव हो जाता है इसी का नाम मोक्ष है। प्रश्न यह हो सकता है कि जब कर्म बन्ध परम्परा अनादि है तब उसका अन्त भी नहीं होना चाहिये। इस पर जैनाचार्य समाधान कर देते हैं कि जैसे बीज और अंकुर की सन्तान परम्परा अनादि होने पर भी यदि आप बीज को अग्नि में जला कर भस्म कर देते हैं तब उस बीज से अंकुर उत्पन्न नहीं हो सकता, अत: बीजांकुर की परम्परा अनादि होते हुये भी सांत है। जिस प्रकार माता पिता की परम्परा अनादि है फिर भी हमने बाल्यकाल से ही ब्रह्मचर्यव्रत धारण कर लिया है अत: अब हमारी सन्तान परम्परा समाप्त हो गई। उसी प्रकार यद्यपि कर्म बन्ध की परम्परा अनादि है फिर भी भव्यों की अपेक्षा अन्त सहित है ऐसा निश्चित हो जाता है क्योंकि कर्मों का सम्बन्ध जीवात्मा से पृथक् हो जाता है तब आत्मा निरंजन बन जाती है पुन: कर्मों का सम्बन्ध इस जीव के साथ नहीं हो सकता है। आत्मा कर्म बन्ध से छूटकर सिद्ध शिला पर जा विराजती है और कर्म, कर्म पर्याय को छोड़कर अकर्म-सामान्य पुद्गलरूप हो जाते हैं।

## मुक्त जीवों का अवस्थान

प्रश्न यह होता है कि जब कर्म से यह जीव छूटता है तब ऊर्ध्वगमन भी कैसे करता है? इसका उत्तर यही है कि जीव का ऊर्ध्वगमन करना ही स्वभाव है जब तक वह संसारी रहता है तभी तक यत्र तत्र चतुर्गति में परिभ्रमण करता है किन्तु कर्म से मुक्त होने के बाद अग्नि शिखा के समान स्वभाव से ऊर्ध्वगमन कर जाता है। पुन: यह आशंका हो सकती है कि ऊर्ध्वगमन जीव का स्वभाव होने से मुक्त होने के बाद ऊर्ध्वगमन करते ही रहना चाहिये किन्तु आगम कहता है कि मुक्त जीव लोकाकाश के अग्रभाग पर जाकर स्थित हो जाते हैं उसके आगे उनका गमन क्यों नहीं होता है? इसका उत्तर है कि "धर्मास्तिकायाभावात्" इस सूत्र के नियमानुसार लोकाकाश के बाहर अलोकाकाश में धर्मास्तिकाय द्रव्य का अभाव होने से सिद्ध जीव ऊर्ध्वलोक के अग्रभाग में ही ठहर जाते हैं ऊपर नहीं जा सकते हैं। मध्यलोक में यह मनुष्य लोक ४५ लाख योजन प्रमाण वाला है और इसी मनुष्य लोक से ही जीव मुक्त होते हैं अत: सिद्ध शिला भी ४५ लाख योजन प्रमाण वाली है उसी शिला पर अनन्तानन्त सिद्ध परमेष्ठी ठहर जाते हैं। अवगाहन शक्ति होने के कारण अल्प भी अवकाश में अनेक सिद्धों का अवगाह हो जाता

है। जब मूर्तिमान् भी अनेक प्रदीप प्रकाशों का अल्प आकाश में अविरोधी अवगाह देखा गया है तब अमूर्तिक सिद्धों की तो बात ही क्या है ?

अट्ठविह कम्मवियला, सीदी भूदा णिरञ्जणा णिच्चा ।
अट्ठगुणा किदकिच्चा लोयग्गणिवासिणो सिद्धा ॥६८॥

अर्थ—जो ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मों से रहित हैं, अनन्त सुख रूपी अमृत के अनुभव करने वाले शान्तिमय हैं, नवीन कर्म बन्ध को कारणभूत मिथ्यादर्शनादि भावकर्म रूपी अंजन से रहित हैं, सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, अव्याबाध, अवगाहन, सूक्ष्मत्व और अगुरुलघु ये आठ गुण जिनके प्रगट हो चुके हैं, कृतकृत्य हैं जिनको कोई कार्य शेष नहीं है और जो लोक के अग्रभाग में निवास करने वाले हैं उनको सिद्ध कहते हैं। इस गाथा में जो सिद्ध भगवान् के आठ गुण रूप विशेषण बताये हैं ये प्राय: अन्य दर्शन के निराकरण के लिये हैं। यथा—

सदसिव संखो मक्कडि बुद्धो णेयाइयो य वेसेसी ।
ईसर मंडलि दंसण–विदूसणट्ठं कयं एदं ॥६९॥

सदाशिव: सदाकर्मा सांख्यो मुक्तं सुखोज्झितं ।
मस्करी किल मुक्तानां मन्यते पुनरागतिम् ॥
क्षणिकं निर्गुणं चैव, बुद्धो योगश्च मन्यते ।
कृतकृत्यं तमीशानो मण्डली चोर्ध्वगामिनम् ॥

भावार्थ—सदाशिव मत वाले जीव को सदा कर्म से रहित ही मानते हैं, उनके निराकरण के [illegible] सिद्धों के "अट्ठविहकम्मवियला" अष्टविध कर्म से रहित हो चुके हैं ऐसा विशेषण दिया गया है। सांख्य मत वाले मानते हैं कि [illegible] मोक्ष, सुख, दुःख आदि प्रकृति के होते हैं आत्मा के [illegible] उनके निराकरण के लिये ही सिद्ध "सीदीभूदा" सुख स्वरूप हैं ऐसा विशेषण दिया गया है। [illegible] मुक्त जीवों का पुनः आगमन मानते हैं उसको दूषित करने के लिये सिद्ध "णिरंजणा" हैं—[illegible] से रहित हैं [illegible] पुनरागमन असम्भव है ऐसा कहा गया है। बौद्धों का मत है कि [illegible] उसको दूषित करने के लिये सिद्ध "णिच्चा" हैं यह विशेषण दिया गया है। [illegible] मुक्त जीवों में बुद्ध्यादि गुणों का विनाश हो जाता है उसको दूर [illegible] ऐसा विशेषण दिया गया है। [illegible] ईश्वर को [illegible] विशेषण दिया गया है और [illegible] मण्डलीक मत वाला कहता है

कि मुक्त जीव सदा ऊपर को गमन करता ही रहता है कभी ठहरता ही नहीं है उसके निराकरण करने के लिये "लोक के अग्रभाग में स्थित हैं" ऐसा विशेषण दिया गया है।

इस प्रकार से सिद्ध परमेष्ठी तीन लोक के मस्तक पर विराजमान अनन्तानन्त काल तक अनन्त सुख का अनुभव करते रहते हैं उन सिद्धों को हमारा मन, वचन, काय पूर्वक नमस्कार होवे।

❀ णमो अतीताणागदवट्टमाणकालत्तय सिद्धाणं ❀

# मोक्ष

[ लेखक—श्री पं० बंशीधरजी न्यायालंकार, इन्दौर ]

मोक्ष शब्द का अर्थ छूटना है, अतः मोक्ष शब्द ही बद्धदशा का संकेत है। पहले बद्धदशा होगी तभी तो उससे छूटने रूप मुक्तदशा हो सकेगी। जीव की बद्धदशा अनादिकालीन है, इसका यह मतलब नहीं लगाना चाहिये कि वह कभी नष्ट नहीं होगी। भव्य जीव की बद्धदशा अनादि सान्त है। आचार्यों ने कहा है—

'कश्चिज्जीवः कृत्स्नकर्मभिर्विप्रमुच्यते, बन्धहेत्वभावनिर्जरावत्त्वात्'

अर्थात् कोई जीव समस्त कर्म प्रदेशों से विप्रमुक्त होता है क्योंकि वह बन्ध कारणों के अभाव और निर्जरा से युक्त होता है। तत्त्वार्थ सूत्रकार ने भी मोक्ष का यही लक्षण कहा है—'बन्धहेत्वभाव-निर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः' बन्धहेत्वभाव अर्थात् संवर और निर्जरा के द्वारा समस्त कर्मों का विशेषेण प्रकर्षेण—विशेष और प्रकर्षता के साथ छूट जाना मोक्ष है। यह मोक्ष मोहक्षय पूर्वक होता है। पहले मोह का क्षय होने से केवलज्ञान प्राप्त होता है और उसके बाद मोक्ष प्राप्त होता है। नाम के आदि अक्षर से सम्पूर्ण नामका बोध होता है अतः 'मो' से मोक्ष और 'क्ष' से क्षय का बोध होता है। इस प्रकार मो० क्ष० शब्द ही मोह क्षय को सूचित करता है। मोह, बन्ध का कारण है तो उसका क्षय मोक्ष का कारण अवश्य होगा।

'मलादेर्वैकल्पं हि मण्यादेर्नैर्मल्यं' मल आदि का अभाव होना ही मणि आदि की निर्मलता है। इसी प्रकार भावकर्म और द्रव्यकर्म रूप मल का अभाव होना ही आत्मा की निर्मलता है। आत्मा की निर्मलता कहो या मोक्ष, एक ही बात है। पहले भावमोक्ष होता है पीछे द्रव्य मोक्ष। भावों की मलिनता ही इस जीव को परेशान करती है। 'परः ईशानो यस्य स परेशानः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार परेशान का अर्थ परतन्त्र होना है। लोक में परेशान का अर्थ कष्टदशापन्न होता है। आत्मा यद्यपि अनन्त शक्ति सम्पन्न है

तथापि मोहजनित मलिनता उसकी उस अनन्त शक्ति को प्रकट नहीं होने देती। सब जानते हैं कि पानी आग को बुझा देता है। आग पर पानी पड़ा और आग बुझी। परन्तु जब पानी और आग के बीच एक गुरु मोटी तांबा, पीतल आदि की चद्दर होती है तब वह आग पानी को भाप बनाकर समाप्त कर देती है। इसी प्रकार आत्मा और कर्म के बीच यदि मोहजन्य मलिनतारूपी चद्दर विद्यमान है तो कर्म आत्मा को अत्यन्त दुखी कर देते हैं। जो आत्मा कर्मों को नष्ट करने का सामर्थ्य रखती है वह मोहजन्य मलिनता के सद्भाव में समय प्रबद्ध प्रमाण कर्मों के द्वारा बद्ध हो जाती है।

सांख्य कारिका में कहा है—

धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद्भवत्यधर्मेण।
ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः॥

धर्म से ऊर्ध्वगमन होता है अर्थात् स्वर्ग की प्राप्ति होती है, अधर्म से नीचे गमन होता है अर्थात् नरक की प्राप्ति होती है, ज्ञान से अपवर्ग–मोक्ष प्राप्त होता है और अज्ञान से बन्ध होता है।

यदि कर्मबन्ध से बचना है तो अज्ञान से बचो। यहाँ अज्ञान का अर्थ मोहोदय से दूषित मिथ्याज्ञान है। मोक्षाभिलाषी जीव को उससे दूर रहना चाहिये। यह जीव मोक्ष प्राप्ति के लिये प्रयत्न तो करता है परन्तु स्वरूप की ओर लक्ष्य न होने से उसका वह प्रयत्न सफल नहीं हो पाता। एक ओर पत्थरों का ढेर लगा था और एक ओर जलाशय था। पत्थरों के ढेर में 'पारसमणि' है यह सुनकर उसे प्राप्त करने के लिये कोई तैयार हुआ। 'पारसमणि के घिसने से लोहा सुवर्णमय हो जाता है' यह सुनकर पत्थरों के ढेर से एक पत्थर उठाता और लोहे पर घिसकर जलाशय में फेंक देता। यह करते करते एक बार उसके हाथ में पारसमणि आ गया परन्तु संस्कारवश उसने उसे लोहे पर घिसा और पानी में फेंक दिया। पानी में फेंक देने के बाद जब लोहे को देखता है तब वह सुवर्णमय दिखता है। अब क्या था, पारसमणि तो वह संस्कारवश पानी में फेंक चुका था। अब उसकी पुनः प्राप्ति दुर्लभ हो गई। इसी प्रकार यह जीव [illegible] क्रियाएं तो करता है परन्तु स्वभाव की ओर लक्ष्य नहीं देता। [illegible] अनुरूप क्रियाओं का करना आवश्यक है परन्तु उन क्रियाओं को करते हुए [illegible] वीतराग स्वभाव की ओर लक्ष्य भी तो रखो। इसके बिना मात्र क्रियाओं [illegible] है। [illegible] ने कहा है—

[illegible]ष्टिभिः [illegible]
[illegible] धर्म ज्योतिः [illegible]।
[illegible]
[illegible]॥

मोक्षाभिलाषी जीवों को अपने चित्त की प्रवृत्ति को उदात्त बनाकर निरन्तर इस सिद्धान्त की उपासना करना चाहिये कि मैं तो एक शुद्ध चैतन्य ज्योति:स्वरूप ही हूँ। ये जो नाना प्रकार के विकारी-भाव समुल्लसित हो रहे हैं वे सबके सब पर द्रव्य हैं, मेरे नहीं।

इतना पुरुषार्थ तो प्रत्येक जीव को करना चाहिये कि वह स्वभाव और विभाव को समझ सके। गोताखोर मनुष्य अपने मुँह में तेल भर कर गोता लगाता है। तलहटी में पहुँचने पर वह तेल को बुलक देता है जिससे वहाँ की सब वस्तुएँ उसे स्पष्ट दिखाई देने लगती हैं—यह मगर है, यह मच्छ है, यह प्रवाल है, यह मोती है। इसी प्रकार मोक्षार्थी पुरुष भेदविज्ञान के प्रकाश में स्व और परको अच्छी तरह समझने लगता है। परको पर समझ कर जो उसका परित्याग करता है और अपने स्वरूप में संवृत रहता है वही बन्ध से बचता है। कहा है—

परद्रव्यग्रहं कुर्वन् बध्येतापराधवान्।
बध्येतानपराधो ना स्वद्रव्ये संवृतो मुनिः॥

परद्रव्य को ग्रहण करने वाला मनुष्य अपराधी कहलाता है और अपराधी होने से बन्ध को प्राप्त होता है परन्तु जो मुनि स्वकीय द्रव्य में अपने ज्ञाता द्रष्टा स्वरूप में संवृत रहता है वह अपराधी नहीं कहलाता और इसीलिये बन्ध को प्राप्त नहीं होता।

यह जीव शेखचिल्ली के समान अपने आप नाना संकल्पों को करता है और उनमें निमग्न हो दुःख उठाता है! एक गाँव में शेखचिल्ली नामका एक आदमी रहता था। गरीब होने से मजदूरी करता था। एक वार एक तेलिन ने उससे कहा—भैया, शेखचिल्ली हमारी यह तेल की मटकी हमारे घर पहुँचा दो, दो पैसे तुम्हें दूंगी। दो पैसे मिलने की आशा से शेख चिल्ली ने तेल की मटकी अपने शिर पर रख ली। चलते चलते यह सोचता है कि दो पैसों से अमुक चीज लाकर बाजार में बेचूंगा तो दो आने हो जावेंगे और दो आने की अमुक चीज लाकर बेचूंगा तो दो रुपये आ जावेंगे। धीरे धीरे मैं बड़ा आदमी हो जाऊँगा, एक मकान बनवा लूंगा, घर में स्त्री आ जायगी, बाल बच्चे हो जावेंगे, दोपहर के समय बच्चे आकर कहेंगे—'दद्दा, रोटी हो गई, भोजन करलो'। तब मैं अकड़ कर कहूँगा, अभी क्या जल्दी है? इसी धुन में उसने शिर हिलाया, जिससे तेल की मटकी नीचे गिर कर फूट गई, तेल बह गया। तेलिन कहती है—यह तूने क्या किया? हमारी मटकी फोड़ दी, तेल बेकार कर दिया। शेख चिल्ली ने कहा कि तेरी तो मटकी ही फूटी है पर मेरी तो गृहस्थी चौपट हो गई। वास्तव में यही हाल संसार के प्राणियों का हो रहा है।

करिष्यामि करिष्यामि करिष्यामीति चिन्तया।
मरिष्यामि मरिष्यामि मरिष्यामीति विस्मृतम्॥

करने की चिन्ता में यह जीव मरने की बात भूल जाता है। अपनी इच्छाओं को निरन्तर बढ़ाता ही रहता है पर उनकी पूर्ति नहीं कर पाता। एक कवि ने कहा है—

निःस्वो निष्कशतं शती दशशतं लक्षं सहस्राधिपो
लक्षेशः क्षितिपालतां क्षितिपतिश्चक्रेशतां वाञ्छति ।
चक्रेशः पुनरिन्द्रतां सुरपतिर्ब्राह्मं पदं वाञ्छति
ब्रह्मा विष्णुपदं हरिर्हर पदं ह्याशावधिं को गतः ॥

जिसके पास कुछ नहीं है वह सौ मुहरें चाहता है, सौ मुहरों वाला हजार चाहता है, हजार वाला लाख चाहता है, लाख वाला राजा बनना चाहता है, राजा चक्रवर्ती होना चाहता है, चक्रवर्ती इन्द्रपद चाहता है, इन्द्र ब्रह्मा बनना चाहता है, ब्रह्मा विष्णु पद की इच्छा रखता है और विष्णु शंकर बनना चाहता है । वास्तव में आशा की सीमा को कौन प्राप्त हुआ है ? अर्थात् कोई नहीं ।

विस्तार बहुत हो गया, नहीं तो बताता कि योग, बौद्ध, वैशेषिक, सांख्य, वेदान्ती आदि मोक्ष का कैसा स्वरूप मानते हैं, उस स्वरूप में कहां क्या खामी है ? इनकी चर्चा करता । यह भी बताता कि किस गुणस्थान में किन किन कर्म प्रकृतियों का क्षय होकर अन्त में मोक्ष प्राप्त होता है परन्तु इसकी आवश्यकता नहीं देखता ।

शुद्धनय से आत्मा का जो स्वभाव कहा है उसी को प्राप्त करने का प्रयत्न होना चाहिये ।

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्ध पुट्ठं अणण्णयं णियदं ।
अविसेस मसंजुत्तं तं सुद्धणयं विजाणाहि ॥

जो आत्मा को अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष, और पर के संयोग से रहित देखता है उसे शुद्ध नय जानो ।

यही भाव अमृतचन्द्र स्वामी ने 'आत्मस्वभावं परभावभिन्नं' तथा 'एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मनः' आदि कलश काव्यों में कहा है ।

[illegible] श्रोताओं को शुद्ध करने का भाव रखते हैं । इसलिये इधर उधर की चर्चा का [illegible] छोड़ देते हैं । परन्तु यह निश्चित है कि उसको छोड़ देने से न श्रोताओं को [illegible] होगा । यथा है—

विद्वन्मन्यतया सदस्यतितरामुद्दण्डवाग्डम्बराः
शृङ्गारादिरसैः प्रमोदजनकं व्याख्यानमातन्वते ।
ये ते च प्रतिसद्म सन्ति बहवो व्यामोहविस्तारिणो
येभ्यस्तत्परमात्मतत्त्वविषयं ज्ञानं तु ते दुर्लभाः ॥

अपने को विद्वान् माननेवाले तथा सभा में उद्दण्ड वचनों का आडम्बर करने वाले वक्ता शृङ्गारादि रसों से आनन्द जनक व्याख्यान करते हैं सो व्यामोह को विस्तृत करने वाले ऐसे वक्ता घर घर में विद्यमान हैं परन्तु जिनसे परमात्म तत्त्व विषयक ज्ञान प्राप्त होता है वे वक्ता दुर्लभ हैं।

विषय का समारोप यह है कि आत्मा को समझो, उसके स्वभाव और विभाव की पहिचान करो और विभाव के कारणों को समझ कर उन्हें दूर करने का पुरुषार्थ करो, मोक्ष अवश्य प्राप्त होगा।

( सागर के श्रुत सप्ताह की देन )



# मोक्ष का हेतु रत्नत्रय धर्म है या शुभकर्म

[ लेखक—श्री दौलतरामजी 'मित्र' भानपुरा ]

(१) आचार्यों ने उद्घोष किया है कि 'सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकता मोक्ष का मार्ग है। सम्यक्त्वादि आत्मगुणों से रहित मिथ्यात्वी जीव का शुभकर्म मोक्ष का हेतु नहीं है। जैसा कि समयसार में श्री कुन्दकुन्द देव ने कहा है—

वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता।
परमट्ठ बाहिरा जे णिव्वाणं ते ण विंदंति ॥१५३॥

[ समयसार १५३ ]

अर्थात् जो व्रत नियम तथा शील धारण करते हैं, तथा तपश्चरण भी करते हैं यदि वे परमार्थ ( सम्यक्त्व ) बाह्य हैं तो मोक्ष को नहीं पाते।

मोह ण छिज्जइ अप्पा दारुण कम्मं करेइ बहुवारं।
ण हु पावइ भवतीरं किं बहुदुक्खं बहेइ मूढ़ मई ॥

[ रयणसार ६७ ]

यह आत्मा मोह ( मिथ्यात्व ) का क्षय तो करता नहीं और कठिन कर्म ( व्रत तप आदि ) बार बार करता है फिर भी संसार के तट को नहीं पाता है। हे मूढ़मति ! व्यर्थ ही दुःख क्यों उठाता है ?

क्लिश्यन्तां स्वयमेव दुष्करतरैर्मोक्षोन्मुखैः कर्मभिः
क्लिश्यन्तां च परे महाव्रततपोभारेण भग्नाश्चिरम्।
साक्षान्मोक्ष इदं निरामयपदं संवेद्यमानं स्वयं
ज्ञानं ज्ञानगुणं बिना कथमपि प्राप्तुं क्षमन्ते न हि ॥

[ समयसार कलशा १४२ ]

अर्थात् मोक्ष के उद्देश्य से किये हुए अत्यन्त कठिन कार्यों के द्वारा कोई स्वयं ही क्लेश उठावे तो भले ही उठावे। अथवा महाव्रत और तप के भार से पीड़ित हुए अन्य लोग चिरकाल तक क्लेश सहन करें तो भले ही करें। परन्तु साक्षात् मोक्ष रूप निरामयपद—निरुपद्रव स्थान तो यह ज्ञान ही है, इसका स्वयं संवेदन हो रहा है, यह स्वयं अनुभव में आ रहा है। ऐसे इस ज्ञानरूप पद को ज्ञानगुण के बिना प्राप्त करने के लिये कोई किसी भी तरह समर्थ नहीं है।

यहाँ पर ज्ञान गुण की प्रधानता देकर ज्ञान को ही मोक्ष का कारण कहा गया है इसका यह तात्पर्य ग्राह्य नहीं है कि सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र मोक्ष के लिये आवश्यक नहीं हैं। भेद विवक्षा में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों ही मोक्ष—प्राप्ति के अङ्ग हैं। परन्तु यहाँ पर सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र को ज्ञान में ही गतार्थ कर दिया है। ज्ञान की जो दृढ़ता है वही सम्यग्दर्शन है और ज्ञान में कषायोदय के कारण जो चञ्चलता आती थी उसका अभाव हो जाना सम्यक्चारित्र है।

पदमिदं ननु कर्मदुरासदं सहजबोधकलासुलभं किल।
तत इदं निजबोधकलाबलात्कलयितुं यततां सततं जगत्॥

[ समयसार कलश १४३ ]

—मोक्ष पद मात्र क्रिया काण्ड से पाना कठिन है किन्तु सहज ज्ञान की कला से सुलभ है अतः जगत् इसे आत्मज्ञान की कला से प्राप्त करने के लिये निरन्तर प्रयत्न करे।

सम्मत्त विरहिया णं सुट्ठु वि उग्गं तवं चरन्ता णं।
ण लहन्ति बोहिलाहं अवि वास सहस्स कोडी हिं॥

[ दर्शन पाहुड ५ ]

—जो सम्यक्त्व रहित हैं, वे भले प्रकार हजार कोटि वर्ष तक कठिन तप करें तो भी बोधि (रत्नत्रय) को प्राप्त नहीं होते।

उग्गतवेणण्णाणी जं कम्मं खवदि भवहि बहुएहिं।
तं णाणी तिहि गुत्तो खवेइ अंतो मुहुत्तेण॥

[ मोक्ष पाहुड ५३ ]

—अज्ञानी तीव्र तप करके अनेक भवों में जितने कर्मों का क्षय करता है, ज्ञानी उन कर्मों का अन्तर्मुहूर्त में क्षय कर देता है।

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण॥

[ प्रवचनसार ३-३८ ]

अज्ञानी जिन कर्मों का सौ हजार कोटि भव में क्षय करता है, ज्ञानी उन कर्मों का क्षय उच्छ्वासमात्र में कर देता है।

उपर्युक्त अवतरणों का तात्पर्य यह है कि ज्ञानभाव—रत्नत्रयरूप परिणाम ही मोक्षका मार्ग है। शुभाशुभ प्रवृत्ति रूप जो अज्ञानभाव है वह मोक्ष का मार्ग नहीं है। अज्ञानी जीव की जो शुभ प्रवृत्ति है वह भोग प्राप्ति के उद्देश्य से होने के कारण स्पष्ट ही बन्ध का कारण है और ज्ञानी—जीव की जो शुभ प्रवृत्ति है वह रत्नत्रय की प्राप्ति में सहायक होने के कारण उपचार से—परम्परा से मोक्ष का कारण है।

(२) सम्यक्त्वी का शुभ कर्म भी तत्काल मोक्ष का हेतु नहीं है। मोक्ष का तत्काल हेतु है—अभेद रत्नत्रय धर्म। उस रत्नत्रय के काल में पाया जाने वाला जो शुभ भावरूप राग है वह बन्ध का ही कारण है। जैसा कि कहा है—

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति॥
येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति॥
येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति॥

[ पुरुषार्थसिद्धयुपाय २१२-२१४ ]

इस आत्मा के जिस अंश से सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र है उस अंश से बन्ध नहीं है और जिस अंश से राग है उस अंश से बन्ध है।

सपयत्थं तित्थयरं अभिगदबुद्धिस्स सुत्तरोइस्स।
दूरतरं णिव्वाणं संजमतवसंपओत्तस्स॥

[ पञ्चास्तिकाय १७० ]

नव पदार्थ सहित तीर्थंकर परमदेव में जिसकी बुद्धि लग रही है, जो आगम का श्रद्धानी है, तथा संयम और तप से सहित है, प्रशस्त राग का सद्भाव होने से उसे भी निर्वाण की प्राप्ति होना दूर है।

तात्पर्य यह है कि शुभराग भाव साक्षात् तो बन्ध का ही कारण है परन्तु रत्नत्रय की प्राप्ति का साधक होने से व्यवहार से मोक्षमार्ग कहा जाता है।

यावत्पाकमुपैति कर्म विरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ् न सा
कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित् क्षतिः।

किन्त्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्म बन्धाय तत्
मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः ॥

[ समयसार कलश ११० ]

जब तक कर्म उदय को प्राप्त हो रहा है तथा ज्ञान की, रागादिक के अभाव में जैसी निर्विकल्प परिणति होती है वैसी परिणति नहीं हो जाती है, तब तक कर्म और ज्ञान दोनों का समुच्चय कहा गया है, इसमें कोई हानि नहीं है। किन्तु इस समुच्चय की दशा में भी कर्मोदय की परतन्त्रता से जो कर्म होता है अर्थात् जो शुभाशुभ प्रवृत्ति होती है वह बन्ध के लिये ही होती है—उसका फल बन्ध ही है, मोक्ष के लिये तो स्वतः स्वभाव से परसे शून्य अतएव ज्ञायकमात्र एक उत्कृष्ट ज्ञान ही हेतु रूप से स्थित है।

चतुर्थ गुणस्थान से लेकर दशम गुणस्थान तक कर्म और ज्ञान दोनों का समुच्चय रहता है, क्योंकि यथा सम्भव चारित्र मोह का उदय विद्यमान रहने से रागादिरूप परिणति रहती है और उसके रहते हुए शुभ-अशुभ कर्मों में प्रवृत्ति अवश्यंभावी है तथा दर्शनमोह का अनुदय हो जाने से ज्ञान का सद्भाव है। इस समुच्चय की दशा में इन गुणस्थानों में रहने वाले जीवों को मोक्षमार्गी माना जावे या बन्धमार्गी, यह आशंका उठ सकती है? उसका उत्तर यह है कि इस दशा में कर्मोदय की बलवत्ता से जीवों की जो कर्म में प्रवृत्ति होती है, उससे तो बन्ध ही होता है और स्वभावरूप परिणत जो उनका सम्यग्ज्ञान है वह मोक्ष का कारण है, क्योंकि ज्ञान बन्ध का कारण नहीं हो सकता। यही कारण है कि इन गुणस्थानों में गुणश्रेणी निर्जरा भी होती है और देवायु आदि पुण्य प्रकृतियों का बन्ध भी होता है। इस वास्तविक अन्तर को भूल कर कितने ही लोग शुभ प्रवृत्ति को मोक्ष का कारण कहने लगते हैं और सम्यक्त्व को तीर्थंकर प्रकृति, आहारक शरीर तथा देवायु आदि पुण्य प्रकृतियों के बन्ध का कारण कहते हैं।

प्रतिसूक्ष्मक्षणं यावद्धेतोः कर्मोदयात्स्वतः ।
धर्मो वा स्यादधर्मो वाप्येष सर्वत्र निश्चयः ॥

[ पञ्चाध्यायी २-[illegible] ]

अभिप्राय, जब तक कर्म का उदय है तब तक धर्म और अधर्म ( ज्ञान और कर्म ) दोनों ही [illegible] रहते हैं, यह सर्वत्र निश्चय है।

तात्पर्य यह है कि ४-१० गुणस्थानों [illegible] ज्ञान ( धर्म-निर्जरा ) और कर्म ( अधर्म [illegible] ) [illegible] और [illegible], [illegible] [illegible] है।

(३) प्रश्न—तो फिर ऐसा क्यों कहा जाता है कि—

उवभोग मिंदियेहिं दव्वाणं चेदणाणभिदराणं ।
जं कुणदि सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं ।।

[ समयसार १९३ ]

जह विसमुपभुज्जंतो वेज्जो पुरिसो ण मरणमुवयादि ।
पोग्गल कम्मस्सुदयं तह भुंजदि णेव बज्झए णाणी ।।

[ समयसार १९५ ]

सम्यग्दृष्टि इन्द्रियों के द्वारा चेतन अचेतन द्रव्यों का जो उपभोग करता है वह सब निजरा का निमित्त है।

जैसे वैद्य विष को भोगता हुआ भी मरता नहीं है वैसे ही ज्ञानी, पूर्वकर्म के उदय को भोगता है फिर भी बँधता नहीं है।

क्रिया साधारणी वृत्तिर्ज्ञानिनोऽज्ञानिनस्तथा ।
अज्ञानिनः क्रिया बन्धहेतुर्न ज्ञानिनः क्वचित् ।।

[ पञ्चाध्यायी २-२२९ ]

ज्ञानी और अज्ञानी की क्रिया यद्यपि समान है तथापि अज्ञानी की क्रिया बन्ध का कारण है, परन्तु ज्ञानी की क्रिया बन्ध का कारण नहीं है।

आस्तां न बन्धहेतुः स्याज्ज्ञानिनां कर्मजा क्रिया ।
चित्रं यत्पूर्वबद्धानां निर्जरायै च कर्मणाम् ।।

[ पञ्चाध्यायी २-२३० ]

ज्ञानी जीवों की कर्मोदय से होने वाली क्रिया बन्ध का कारण भले ही न हो पर आश्चर्य इस बात का है कि यह पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा का हेतु है।

चेतनायाः फलं बन्धस्तत्फले वाऽथ कर्मणि ।
रागभावान्न बन्धोऽस्य तस्मात् सा ज्ञानचेतना ।।

[ पञ्चाध्यायी २-२७६ ]

चाहे कर्म चेतना हो, चाहे कर्मफल चेतना हो—दोनों का फल बन्ध है। सम्यग्दृष्टि के राग का अभाव हो गया है अतः उसके बन्ध नहीं है। वास्तव में उसके ज्ञानचेतना है।

स्वात्मसंचेतनं तस्य कीदृगस्तीति चिन्त्यते ।
येन कर्मापि कुर्वाणः कर्मणा नोपमुज्यते ।।

[ पञ्चाध्यायी २-५०३ ]

उस सम्यग्ज्ञानी की स्वात्मचेतना कैसी विचित्र है कि वह कर्म करता है फिर भी कर्म से उपयुक्त नहीं होता है।

नैव यतोऽस्त्यनिष्टार्थः सर्वः कर्मोदयात्मकः ।
तस्मान्नाकाङ्क्षते ज्ञानी यावत् कर्म च तत्फलम् ।।

[ पञ्चाध्यायी २–५६४ ]

जितना भी कर्म के उदयस्वरूप है, सब अनिष्टार्थ है अतः कर्म और कर्मफल को ज्ञानी नहीं चाहता है। भाव यह है कि सम्यक्त्वी की क्रिया बन्ध का हेतु न होकर निर्जरा का हेतु है।

उत्तर—यद्यपि सम्यग्दृष्टि के दर्शनमोह सम्बन्धी रागभाव ( अज्ञानभाव, ममत्वभाव—विषयों में सुख आदिभाव ) नष्ट हो गया है तथापि उसके चारित्रमोह सम्बन्धी शुभरागभाव ( मन्द कषाय ) विद्यमान है अतः वह सर्वथा अबन्धक नहीं है। सम्यग्दृष्टि को अबन्धक कहने में आचार्य की तीन विवक्षाएँ हैं—प्रथम यह कि सम्यग्दर्शन बन्ध का कारण नहीं है। सम्यग्दर्शन के काल में चतुर्थादि गुणस्थानों में जो बन्ध होता है वह उस काल में पाये जाने वाले रागादि भावों के कारण होता है, सम्यग्दर्शन के कारण नहीं। जहाँ सम्यग्दर्शन को देवायु आदि पुण्य प्रकृतियों के बन्ध का कारण बताया है वहाँ उपचरित कथन समझना चाहिये। परमार्थ यह है कि सम्यक्त्वभाव न बन्ध का कारण है और न चेतन-अचेतन द्रव्यों के उपभोग का भाव निर्जरा का कारण है। बन्ध का कारण तो सम्यक्त्व के काल में पाया जाने वाला रागभाव ही है और निर्जरा का कारण उपभोग काल में पाया जाने वाला विरागभाव ही है। परन्तु सहकाल में अस्तित्व होने से वैसा कथन किया जाता है।

द्वितीय विवक्षा यह है कि सम्यग्दृष्टि शब्द से वीतराग सम्यग्दृष्टि का ग्रहण है। यह वीतराग सम्यग्दृष्टि अवस्था, यथार्थ में ग्यारहवें आदि गुणस्थानों में होती है। वहाँ बन्ध होता नहीं है, मात्र सयोगीजिन का भी ईर्यापथ आस्रव पूर्वक प्रकृति और प्रदेशबन्ध होता है वह स्थिति और अनुभागबन्ध के अभाव होने के कारण बन्ध नहीं माना गया है।

तृतीय विवक्षा यह है कि चतुर्थादि गुणस्थानों में जो बन्ध होता है वह अनन्त संसार का कारण नहीं होने से अबन्ध कहा गया है यहाँ 'अ' का अर्थ ईषत्–किञ्चित् है। अथवा पूर्व गुणस्थानों की अपेक्षा आगे के गुणस्थानों में बन्ध न्यून होता जाता है।

सम्यग्दृष्टि के ज्ञान की अद्भुत महिमा है जैसा कि कहा है—

तज्ज्ञानस्यैव सामर्थ्यं विरागस्यैव वा किल ।
यत्कोऽपि कर्मभिः कर्म भुञ्जानोऽपि न बध्यते ।।

[ समयसार कलश १३४ ]

यह ज्ञान की ही सामर्थ्य है अथवा विराग [illegible] वीतरागभाव की महिमा है कि कोई जीव सम्यग्दृष्टि [illegible] कर्मों [illegible] नहीं [illegible] है।

नाश्नुते विषयसेवनेऽपि यत् स्वं फलं विषयसेवनस्य ना।
ज्ञानवैभवविरागताबलात् सेवकोऽपितदसावसेवक: ।।

[ समयसार कलशा १३५ ]

जिस कारण ज्ञानी पुरुष विषयों का सेवन होने पर भी विषय सेवन के अपने फल को नहीं प्राप्त होता है उस कारण ज्ञान के वैभव और वैराग्य के बल से वह विषयों का सेवन करने वाला होकर भी सेवन करने वाला नहीं कहा जाता।

त्यक्तं येन फलं स कर्म कुरुते नेति प्रतीमो वयं
किन्त्वस्यापि कुतोऽपि किंचिदपितत्कर्मावशेनापतेत्।
तस्मिन्नापतिते त्वकम्पपरमज्ञानस्वभावे स्थितो
ज्ञानी किं कुरुतेऽथ किं न कुरुते कर्मेति जानाति क: ।।

[ समयसार कलशा १५३ ]

जिसने कर्म का फल त्याग दिया है, वह कर्म करता है, इसकी हम प्रतीति नहीं करते किन्तु इस ज्ञानी के भी किसी कारण से कुछ कर्म इसके वश विना आ पड़ते हैं और उनके आ पड़ने पर यह ज्ञानी निश्चल परमस्वभाव में स्थित रहता है। इस स्थिति में ज्ञानी क्या करता है और क्या नहीं करता है यह कौन जानता है ?

तात्पर्य यह है कि कर्म का बन्ध, कर्मफल के इच्छुक प्राणी के होता है। जिसने कर्मफल की इच्छा छोड़ दी उसे कर्म का बन्ध नहीं होता। यहाँ सम्यग्दृष्टि जीव को ज्ञानी कहा गया है। यद्यपि ज्ञानी के ज्ञानचेतना है, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना नहीं है फिर भी कालान्तर में जो कर्म अर्जित किये हैं वे उदय में आकर अपना रस देते हैं, उन्हें यह नहीं चाहता किन्तु चारित्रमोह के सद्भाव में पराधीनता से भोगने पड़ते हैं। भोगने पर भी अपने परम ज्ञानस्वभाव में अकम्प स्थिर रहने से कर्म, ज्ञानी का कुछ विगाड़ करने में समर्थ नहीं होते अत: निष्कर्ष निकला कि ज्ञानी क्या करता है और क्या नहीं करता है ? इसको कौन जाने ? वही जाने।

जीव के भाव, अशुभ, शुभ और शुद्ध की अपेक्षा तीन प्रकार के हैं। तीव्रकषाय के समय होने वाले विषयकषाय सम्बन्धी भाव अशुभभाव हैं, मन्द कषाय के समय होने वाले देव पूजा, पात्रदान तथा वैयावृत्य आदि के भाव शुभभाव हैं और कषाय के अभाव में होने वाले भाव, शुद्धभाव हैं। इनमें अशुभ भाव पापबन्ध का कारण है, शुभभाव पुण्यबन्ध का कारण है और शुद्धभाव निर्जरा तथा मोक्ष का कारण है। अशुभभाव सर्वथा हेय ही है और शुद्धभाव उपादेय ही है परन्तु शुभभाव, पात्रभेद की अपेक्षा उपादेय तथा हेय दोनों रूप है। अशुभभाव की अपेक्षा शुभभाव उपादेय है—ग्रहण करने के योग्य है और शुद्धभाव की अपेक्षा हेय है—छोड़ने के योग्य है। क्योंकि अशुभभाव का फल नरक है तो शुभभाव का फल स्वर्ग

है। नरक में दुःख उठाने की अपेक्षा जहाँ सम्यक्त्वादि प्राप्ति के विशेष साधन मिलने की सम्भावना है ऐसे स्वर्ग में समय व्यतीत हो यह अपेक्षा कृत उत्तम बात है। कहा है—

वरं व्रतैः पदं दैवं नाव्रतैर्वत नारकम् ।
छायातपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान् ॥

[ इष्टोपदेश ३ ]

व्रतों के द्वारा देव पद प्राप्त करना अच्छा है परन्तु अव्रतों के द्वारा नरक का पद प्राप्त करना अच्छा नहीं है क्योंकि छाया और आतप में बैठकर प्रतीक्षा करने वाले लोगों में बड़ा अन्तर होता है।

जिनागम का उपदेश नय विवक्षा को लिये हुए है और नयों की विवक्षा शिष्यों की योग्यता के अनुसार की जाती है। जो मानव, निरन्तर हिंसा, झूठ तथा क्रोध, मान आदि पाप कार्यों में निमग्न रहता है, आचार्यों ने उसे अहिंसा, सत्य, क्षमा, विनय, दया आदि शुभभावों में प्रवृत्त होने का उपदेश दिया है और जो इन्हीं शुभोपयोग के कार्यों में ही निमग्न है उसे आचार्य कहते हैं कि देख, यह शुभभाव स्वर्ण की बेड़ी है, जब तक तू इसमें बँधा रहेगा तब तक बन्धन मुक्त—मोक्ष अवस्था को प्राप्त नहीं हो सकता। शुभभाव के कारण तेरा सागरों पर्यन्त का महान् काल विषयोपभोग में—अविरत अवस्था में व्यतीत हो जाता है परन्तु शुद्धभाव—वीतरागभाव के प्रभाव से तू अन्तर्मुहूर्त में ही बन्धनमुक्त हो सकता है। अतः शुभ के विकल्प को छोड़कर मोक्ष का साक्षात् मार्ग जो रत्नत्रय है उसे ग्रहण कर। ज्ञानी जीव ( श्रमण ) अपने पद के अनुरूप शुभभाव करता हुआ भी उससे अपने आपको निर्लिप्त रखता है।

जिनागम में कहीं विरुद्ध कथन नहीं है। विरुद्ध कथन तो नयविवक्षा का परिज्ञान न होने से मालूम पड़ता है इसलिये नयविवक्षा को समझने का पुरुषार्थ करना चाहिये। वक्ता को भी चाहिये कि वे शिष्यों की ग्रहणशक्ति पर लक्ष्य रखकर अपनी नयविवक्षा को स्पष्ट करते चलें। अनुपचरित कथन की अपेक्षा रत्नत्रय ही मोक्ष का मार्ग है और उपचरित कथन की अपेक्षा शुभभाव भी मोक्ष का मार्ग है। विशेषता यह है कि अनुपचरित कथन साक्षात् मोक्षमार्ग का प्रतिपादन करता है और उपचरित कथन परम्परया मोक्षमार्ग का।



# अज्ञान से बन्ध एवं ज्ञान से मोक्ष के एकान्त का खण्डन

[ लेखिका—कु० कला 'शास्त्री' संघस्था ]

कुछ सांख्य मतानुयायी जन अज्ञान से बन्ध होना अवश्यंभावी मानते हैं इस पर जैनाचार्य समाधान करते हैं।

अज्ञानाच्चेद्‌ध्रुवो बंधो ज्ञेयानन्त्यान्न केवली ।
ज्ञानस्तोकाद्विमोक्षश्चेद ज्ञानाद्बहुतोऽन्यथा ।।९६।।

अर्थ—यदि सांख्य मतानुसार अज्ञान से बन्ध होना अवश्यंभावी माना जावे तो जानने योग्य ज्ञेय पदार्थ तो अनन्त हैं, अतः कोई भी केवली नहीं हो सकेगा और यदि अल्पज्ञान से मोक्ष होना माना जावे तब तो जिस व्यक्ति में ज्ञान अल्प है तो उसके ज्ञान अधिक है अतः अज्ञान बहुत होने के कारण बन्ध भी बराबर चलता है। मतलब एक तरफ उसी जीव के अल्पज्ञान से मोक्ष एवं एक तरफ उसी जीव के अज्ञान की बहुलता से बन्ध भी होता रहेगा पुनः बन्ध का निरोध न हो सकने से मोक्ष का होना नहीं बन सकेगा। श्री अकलङ्क देव ने राजवार्तिक में भी इसी को कहा है—

सांख्य का कहना है कि "धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद् भवत्यधर्मेण। ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः ॥" अर्थात् इस जीव का धर्म से ऊर्ध्वगमन होता है और अधर्म से अधोगमन होता है। एवं ज्ञान से मोक्ष और अज्ञान से बन्ध होता है। इस पर आचार्यों का कहना है कि यदि ज्ञान मात्र से ही मोक्ष माना जाय तो पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति के दूसरे ही क्षण में मोक्ष हो जावेगा। एक क्षण भी पूर्ण ज्ञान के बाद संसार में ठहरना नहीं हो सकेगा। उपदेश तीर्थ प्रवृत्ति आदि कुछ भी नहीं बन सकेंगे। यह सम्भव ही नहीं है कि दीपक भी जल जाय और अंधेरा भी रह जाय। उसी तरह यह सम्भव ही नहीं है कि ज्ञान भी हो जाय और मोक्ष न हो। यदि पूर्ण ज्ञान होने पर भी कुछ संस्कार ऐसे रह जाते हैं जिनका नाश हुये बिना मुक्ति नहीं होती और जब तक उन संस्कारों का क्षय नहीं होता तब तक उपदेशादि हो सकते हैं तो इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि संस्कार क्षय से मुक्ति होगी ज्ञान मात्र से नहीं। फिर यह बताइये कि संस्कारों का क्षय ज्ञान से होगा या अन्य किसी कारण से? यदि ज्ञान से, तो ज्ञान होते ही संस्कारों का क्षय भी हो जावेगा और तुरन्त ही मुक्ति हो जाने से तीर्थोपदेश आदि नहीं बन सकेंगे। यदि संस्कार क्षय के लिये अन्य कारण अपेक्षित हैं तो वह चारित्र ही हो सकता है अन्य नहीं। अतः ज्ञान मात्र से मोक्ष मानना उचित नहीं है। यदि ज्ञान मात्र से ही मोक्ष हो जाय तो शिर का मुंडाना, गेरुआ वेष, यम, नियम, जप तप दीक्षा आदि सभी व्यर्थ हो जायेंगे। अतः मोक्ष की प्राप्ति तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता से ही होती है। जैसे मात्र रसायन के श्रद्धान, ज्ञान या आचरण मात्र से रसायन का फल आरोग्य नहीं मिलता। पूर्ण फल की प्राप्ति के लिये रसायन का विश्वास ज्ञान और उसका सेवन आवश्यक ही है। उसी प्रकार संसार व्याधि की निवृत्ति भी

सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र से ही हो सकती है अतः तीनों को ही मोक्षमार्ग मानना उचित है। "अनन्ताः सामायिकसिद्धाः" यह वचन भी तीनों के मोक्षमार्ग का समर्थन करता है। ज्ञान रूप आत्मा के सम्यक् श्रद्धान पूर्वक ही सामायिक-समताभावरूप चारित्र हो सकता है। कहा भी है—

हतं ज्ञानं क्रियाहीनं हता चाज्ञानिनां क्रिया।
धावन् किलांधको दग्धः पश्यन्नपि च पंगुलः ॥१॥
संयोगमेवेह वदंति तज्ज्ञा,-न ह्येकचक्रेण रथः प्रयाति।
अंधश्च पंगुश्च वने प्रविष्टौ तौ संप्रयुक्तौ नगरं प्रविष्टौ ॥२॥

अर्थ—क्रियाहीन ज्ञान नष्ट है, और अज्ञानियों की क्रिया निष्फल है। दावानल से व्याप्त वन में जिस प्रकार अंधा व्यक्ति इधर उधर भागकर भी जल जाता है। उसी तरह लँगड़ा देखते हुये भी जल जाता है। एक चक्र से रथ नहीं चलता है अतः ज्ञान और क्रिया का संयोग ही कार्यकारी है। यदि अंधे और लँगड़े दोनों मिल जावें और अंधे के कंधे पर लँगड़ा बैठ जावे तो दोनों का ही उद्धार हो जावे। लँगड़ा रास्ता बताकर ज्ञान का कार्य करे और अंधा पैरों से चलकर चारित्र का कार्य करे तो दोनों ही नगर में आ सकते हैं।

कोई अज्ञान से बन्ध और अल्पज्ञान से मोक्ष इन दोनों को मान लेते हैं एवं कोई तो "अवाच्य" ही कह देते हैं इन पर आचार्य समझाते हैं।

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषां।
अवाच्यतैकांतेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥९७॥

अर्थ—सर्वथा एक व्यक्ति के एक काल में अल्पज्ञान से मोक्ष और बहुत अज्ञान से बन्ध इन दोनों एकान्तों के स्याद्वाद न्याय के विद्वेषियों के अविरोध सिद्ध नहीं होता अतः परस्पर विरोध के कारण उभय एकान्त नहीं बनता। अवाच्यता का एकान्त मानने में भी "अवाच्य है" यह कहना ही नहीं बनता है क्योंकि स्ववचन विरोध दोष आता है। अब जैनाचार्य स्वयं निर्दोष विधि बता रहे हैं—

अज्ञानान्मोहिनो बंधो नाज्ञानाद्वीतमोहतः।
ज्ञानस्तोकाच्च मोक्षः स्यादमोहान्मोहिनोऽन्यथा ॥९८॥

अर्थ—मोह सहित अज्ञान से बन्ध होता है अर्थात् जो अज्ञान मोहनीय कर्म से युक्त है वह अज्ञान विशिष्ट अनुभाग बन्ध [illegible] है, और जो अज्ञान मोह से रहित है वह विशिष्ट अनुभाग बन्ध [illegible] नहीं है और जो अल्पज्ञान मोह से रहित है उससे मोक्ष होता है परन्तु मोह सहित अल्पज्ञान से [illegible] होता है। तात्पर्य यह है कि [illegible]

सो यहाँ ज्ञान का सर्वथा अभाव होकर अज्ञान नहीं है वैसा अज्ञान तो अचेतन में पाया जाता है। दूसरी तरह से नकार का अर्थ है ज्ञान से भिन्न अज्ञान अर्थात् मिथ्याज्ञान। यहाँ पर मोक्षमार्ग के प्रकरण में मिथ्याज्ञान से अनन्त संसार के लिये कारणभूत अनन्तानुबन्धी कषाय रूप बन्ध हुआ करता है। चतुर्थ गुणस्थान में सम्यक्त्व हो जाने के बाद मिथ्याज्ञान नहीं रहा है फिर भी अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन आदि कषायें मौजूद हैं उन कषायों के निमित्त से स्थिति, अनुभाग बन्ध होता रहता है। दशवें गुणस्थान के अन्त में कषाय का सर्वथा अभाव होकर बन्ध का भी अभाव हो जाता है। अतएव मोह ( कषाय ) सहित अज्ञान से बन्ध माना है तथा अल्पज्ञान से मोक्ष का मतलब यह है कि केवलज्ञान होने के पहले तो सभी जीवों का ज्ञान अल्प ही है किन्तु दर्शनमोह और चारित्रमोह से रहित होने से वह अल्पज्ञान भी मोक्ष का कारण बन जाता है तथा चतुर्थ गुणस्थान में भी सम्यक्त्व होने के बाद में अल्पज्ञान भी सम्यग्ज्ञान है और मोक्ष के लिये कारणभूत है। इसका मतलब यह नहीं समझना चाहिये कि ज्ञानमात्र से ही मोक्ष हो सकती है। वीतमोह अर्थात् मोहरहित मुनिराज चारित्र के बल से ही मोह रहित हुये हैं अतः रत्नत्रय ही मोक्ष का मार्ग है यह निश्चित हो जाता है। "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" स्याद्वाद के द्वारा हम अच्छी तरह से इस बात को समझ सकते हैं। क्रोधादि कषाय से सहित मिथ्याज्ञान से बन्ध, कषाय रहित अज्ञान से बन्ध नहीं होता है उसी प्रकार से मोहरहित अल्पज्ञान से मोक्ष होता है किन्तु मोह सहित अल्पज्ञान से मोक्ष नहीं होता। "सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः"। यह जीव कषाय सहित होने से ही कर्म के योग्य पुद्गल वर्गणाओं को ग्रहण करता है उसी का नाम बन्ध है। अतएव कषाय रहित क्षीणमोह और उपशान्त जीव के अज्ञान से बन्ध नहीं होता है। इन दोनों गुणस्थानों में केवलज्ञान न होने से अज्ञान मौजूद है किन्तु बन्ध नहीं है। तथा "मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः"। इस सूत्र के अनुसार भी कषायादि से सहित ही अज्ञान बन्ध का हेतु है, एकांततः नहीं। एवं प्रकृष्ट श्रुतज्ञानादि रूप क्षायोपशमिक ज्ञान भी केवलज्ञान की अपेक्षा अल्प ही कहलाता है। वह स्तोकज्ञान छद्मस्थ वीतराग में चरम समय तक मौजूद है। उस अल्पज्ञान से भी आर्हन्त्य अवस्था लक्षण अपर मोक्ष सिद्ध है, किन्तु मिथ्यादृष्टि से लेकर दशवें गुणस्थान तक मोह कषायादि सहित ज्ञान कर्म बन्ध का ही कारण है। इसी बात को सप्तभंगी प्रक्रिया से भी समझ सकते हैं—

(१) कथंचित् मिथ्यात्व कषायादि सहित अज्ञान से बन्ध है। (२) कथंचित् मिथ्यात्व, कषायादि से रहित अज्ञान से बन्धन नहीं है। (३) कथंचित् क्रम से दोनों अपेक्षायें रखने से बन्ध अस्ति नास्ति रूप है। (४) कथंचित् एक साथ दोनों विवक्षायें कह नहीं सकने से अवक्तव्य है। (५) कथंचित् कषायादि से सहित की अपेक्षा और एक साथ न कह सकने की अपेक्षा से बन्ध अस्ति अवक्तव्य है। (६) कथंचित् कषायादि से रहित की अपेक्षा और एक साथ न कह सकने की अपेक्षा से बन्ध नास्ति अवक्तव्य रूप है। (७) कथंचित् कषायादि से सहित, रहित की क्रम से अपेक्षा और युगपद् की विवक्षा से बन्ध अस्ति नास्ति

अप्रकाश्य रूप है। तथैव कथंचित् मोह रहित अल्पज्ञान से भी मोक्ष होता है। कथंचित् मोह सहित अल्पज्ञान से मोक्ष नहीं हो सकती है इत्यादि।

यह स्याद्वाद प्रक्रिया प्रत्येक तत्त्वों को समझने के लिये अमोघ उपाय है। अपेक्षा के द्वारा नयों के परस्पर विरोध को समाप्त कर देती है। अतः अल्पक्षायोपशमिक ज्ञान को केवलज्ञान बनाने के लिये जैसे आप ज्ञान का अभ्यास करके ज्ञान की वृद्धि करने का प्रयत्न करते हैं। उससे भी अधिक आपको निर्मोही बनने का प्रयत्न करना चाहिये और क्रम-क्रम से चारित्र को बढ़ाते हुये मोहनीय कर्म का नाश कर देना चाहिये। श्री पूज्यपाद स्वामी ने भी इसी बात को कहा है—

बध्यते मुच्यते जीवः सममोनिर्ममः क्रमात्।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन निर्ममत्वं विचिंतयेत् ॥



# षट् खण्डागम के बन्ध प्रकरण का सामञ्जस्य

[ लेखक—श्री पं० दयानन्दजी सिद्धान्त शास्त्री, सागर ]

षट् खण्डागम के वर्गणा खण्ड सम्बन्धी सूत्र ३० से ३३ तक सदृश ( समान जातीय ) पुद्गलों के बन्ध को प्रचलित पद्धति के अनुसार ही प्रतिपादित किया है अर्थात् उनमें जघन्य गुण वालों का एवं समान गुणांश वालों का बन्ध नहीं होता, द्व्यधिक गुणांश वालों के साथ ही बन्ध होता है किन्तु असमान जातीय ( विसदृश स्पर्श ) पुद्गलों का जघन्य गुण वालों के सिवाय सबके साथ बन्ध होता है उनमें द्व्यधिकता का नियम नहीं है, यही बात तत्त्वार्थ सूत्र के निम्नलिखित मूल सूत्रों से भी प्रकट होती है—

“न जघन्य गुणानाम्” ( ५-३४ ) “गुण साम्ये सदृशानाम्” ( ५-३५ ) “द्व्यधिकादि गुणानां तु” ( ५-३६ ) अर्थात् जघन्य गुण वालों का बन्ध नहीं होता, समान जातीय ( स्निग्ध-स्निग्ध, रूक्ष-रूक्ष ) पुद्गलों का गुणों की समानता से बन्ध नहीं होता [illegible] ( समान जातीय पुद्गलों का ) द्व्यधिक गुण [illegible] होता है, [illegible] सदृशानाम् [illegible] सूत्र से [illegible], यही सदृशानाम् [illegible]

वास्तव में वर्गणा खण्ड के ३२ वें से ३६ वें सूत्र तक का, तत्त्वार्थ सूत्र ( पञ्चमोध्याय ) के ३३ वें से ३६ वें सूत्र तक पूर्ण प्रकाश पाया जाता है।

प्रवचनसार के ज्ञेयाधिकार में भी उक्त प्रकरण है "णिद्धा व लक्खा वा अणु परिणामा समा व विसमा वा। समतो दुराधि या जदि बज्झन्ति हि आदि परिहीणा" (७३) इसमें भी समान जाति वालों का ही द्वयधिकता में बन्ध का नियम बताया है, असमान जाति वालों का नहीं, असमान जाति वालों के बन्ध में जघन्य गुणता के सिवाय और कोई बाधक नहीं बताया है इसी विषय के उदाहरण रूप में ७४वीं गाथा निम्न प्रकार है।

"णिद्धत्तणेण दुगुणो चदु गुण णिद्धेण बन्ध मणुभवदि। लुक्खेण वा ति गुणिदो अणुबज्झदि पंचगुणजुत्तो" इस गाथा में समान जाति वालों का द्वयधिकता में बन्ध होता है इस विषय को उदाहरण द्वारा समझाया गया है असमान जाति वालों का बन्ध अनियमित होने से उसका कोई उदाहरण नहीं दिया है।

इसी गाथा की टीका में निम्नलिखित वर्गणा खण्ड का ३६ वाँ सूत्र उद्धृत किया गया है।

**णिद्धस्स णिद्धेण दुराहिएण लुक्खस्स लुक्खेण दुराहिएण।**
**णिद्धस्स लुक्खेण हवेदि बन्धो जहण्ण वज्जे विसमे समे वा ॥**

इस पद्यात्मक सूत्र से भी उक्त अर्थ सिद्ध होता है। अर्थात् समान जाति वालों का द्वयधिकता में ही बन्ध होता है असमान जाति वालों के बन्ध में कोई नियम नहीं है वहाँ बन्ध की बाधक सिर्फ जघन्य गुणता ही है, इस पद्यात्मक सूत्र में दुराहिएण का अन्वय पद्य के पूर्वार्ध में ही है उत्तरार्ध में नहीं, इस सूत्र की धवला टीका में स्पष्टतया इस प्रकार निरूपित किया गया है, उक्त रीति से प्राचीन आर्ष ग्रन्थों के बन्ध प्रकरण में पूर्ण रूप से सामञ्जस्य है।

टीका ग्रन्थों में अवश्य समान जाति वालों के समान असमान जाति वालों में भी द्वयधिकता का नियम वर्णित है जो कि विचारणीय है।

इतना लिखने के पश्चात् गोम्मटसार जीवकाण्ड की ओर दृष्टि गई उसमें भी उक्त आगमानुमोदित अर्थ की ही स्पष्ट झलक मिली, उक्त ग्रन्थ का ६११ वाँ पद्य वर्गणा खण्ड के ३४ वें पद्यात्मक सूत्र रूप ही है ऐसी अवस्था में इसकी व्याख्या धवला टीका के अनुसार की जाना ही उचित होगी, इस पद्यात्मक सूत्र द्वारा असमान जातीय पुद्गलों में रूपी ( समान गुण वालों ) एवं अरूपी ( असमान गुण वालों ) का बन्ध स्वीकृत किया गया है।

आगे चलकर—

"णिद्धिदरो ली मज्झे विसरिस जादिस्स सयगुणं एक्कं रुविति होदि सण्णा सेसाणंता अरुविति" (६१२) "दो गुण णिद्धाणुस्सय दो गुण लुक्खाणुगंहवे रुवी इगि ति गुणादि अरुवी रुक्खस्सवितंव इदि जाणे" (६१३) इन दो गाथाओं में रूपी और अरूपी का लक्षण और उदाहरण प्रकट किया गया है तदनुसार—असमान जातीय समानगुण वाले को रूपी, और असमान गुण वालों को अरूपी कहा गया है, इस तरह असमान जाति वालों के बन्ध में द्वयधिकता आवश्यक नहीं रहती जीवकाण्ड की ६१४ वीं गाथा ( पद्य ) प्रवचनसार की टीका में उद्धृत पद्य के समान वर्गणा खण्ड के ३६ वें पद्यात्मक सूत्र रूप ही है।

"दोत्तिग पभव दुउत्तर गदे सणंतरदुगाण बन्धोदु। णिद्धे लुक्खे वि तहा विजहण्णुभये वि सव्वत्थ" (६१६) इस गाथा के प्रारम्भिक ३/४ भाग में समान जाति वालों का द्वयधिकता में बन्ध प्रतिपादन कर, अन्तिम १/४ भाग में स्पष्ट उल्लेख किया है कि विजहण्णु भयेसव्वत्थविबन्धो, अर्थात् उभये-असमान जाति वालों में जघन्य गुण वालों को छोड़कर सबके साथ बन्ध होता है, यहां द्वयधिकता आवश्यक नहीं है।

इस प्रकार उक्त मूल ग्रन्थों में कोई मत भेद ज्ञात नहीं होता।



## सोना और लोहा

एक बाजार में सुनार और लुहार की दुकान पास पास थीं। दुकानों के [illegible] में सुनार की दुकान में उड़कर एक सोने का एक टुकड़ा जा पड़ा। [illegible] लुहार की दुकान में गिरा हुआ एक टुकड़ा लोहे का पड़ा था। लोहे ने सोने से पूछा कि [illegible] क्यों दुकान में [illegible] नीचे आकर गिरा। सोना [illegible] हथौड़ी (जाकि लोहे की हथौड़ी) [illegible]

# मोक्षपथ

[ लेखक—श्री पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य, सागर ]

यद्यपि जीव टङ्कोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाव वाला है तथापि अनादि काल से कर्मसंयुक्त दशा में रागी द्वेषी होता हुआ स्वभाव से च्युत हो रहा है तथा स्वभाव से च्युत होने के कारण ही चतुर्गतिरूप संसार में भ्रमण कर रहा है। इस जीव का अनन्तकाल ऐसी पर्यायों में व्यतीत हुआ है जहाँ इसे एक श्वास के भीतर अठारह बार जन्म मरण करना पड़ा है। अंतर्मुहूर्त के भीतर इसे छचासठ हजार तीन सौ छत्तीस क्षुद्रभव धारण करना पड़े हैं। इन क्षुद्रभवों के भीतर एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक की पर्यायें इसने धारण की हैं। जिस प्रकार आतिशवाजी की चकरी के घूमने में कारण, उसके भीतर भरी हुई बारूद है उसी प्रकार जीव के चतुर्गति में घूमने का कारण, उसके भीतर विद्यमान रागादिक विकारी भाव है। संसार दुःखमय है, इससे छुटकारा तबतक नहीं हो सकता जबतक कि मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो जाती। जीव और कर्म रूप पुद्गल का पृथक्-पृथक् हो जाना ही मोक्ष कहलाता है। मोक्ष प्राप्ति के उपायों का वर्णन करते हुए आचार्यों ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक् चारित्र की एकता का वर्णन किया है। जब तक ये तीनों परिपूर्णरूप से एक साथ प्रकट नहीं हो जाते तबतक मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं है। सम्यग्दर्शनादिक आत्मा के स्वभाव होने से धर्म कहलाते हैं और इसके विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र अधर्म कहलाते हैं[1]। अधर्म से संसार और धर्म से मोक्ष प्राप्त होता है। अतः मोक्षाभिलाषी जीवों को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप धर्म का आश्रय लेना चाहिये। यही मोक्षपथ है। यहाँ सम्यग्दर्शनादि का क्रम से वर्णन किया जाता है।

## सम्यग्दर्शन

### अनुयोगों के अनुसार सम्यग्दर्शन के विविध लक्षण—

जैनागम प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग के भेद से चार प्रकार का है। इन अनुयोगों में विभिन्न दृष्टिकोणों से सम्यग्दर्शन के स्वरूप की चर्चा की गई है। जिस लक्षण में आचरण की प्रधानता है वह प्रथमानुयोग है और चरणानुयोग का, जिसमें तत्त्वज्ञान की प्रधानता है वह द्रव्यानुयोग का और जिसमें बाधक कर्म प्रकृतियों के उपशमादि से होने वाले परिणामों की विशुद्धता की अपेक्षा है वह करणानुयोग का लक्षण है, ऐसी यहाँ विवक्षा है। यह विवक्षा ग्राह्य नहीं है कि जो लक्षण जिस अनुयोग के ग्रन्थ में कहा गया है वह उस अनुयोग का लक्षण है।

---

१ सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः ॥३॥ रत्नकरण्डक०

प्रथमानुयोग और चरणानुयोग की अपेक्षा सम्यग्दर्शन का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है कि परमार्थ देव-शास्त्र-गुरु का तीन मूढ़ताओं और आठ मदों से रहित तथा आठ अङ्गों से सहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है[1]। वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी व्यक्ति देव कहलाता है। जैनागम में अरहन्त और सिद्ध परमेष्ठी की देव संज्ञा है। वीतराग सर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनि से अवतीर्ण तथा गणधरादिक आचार्यों के द्वारा गुम्फित आगम शास्त्र कहलाता है और विषयों की आशा से रहित निर्ग्रन्थ—निष्परिग्रह एवं ज्ञान ध्यान में लीन साधु गुरु कहलाते हैं। हमारा प्रयोजन मोक्ष है, उसकी प्राप्ति इन्हीं देव, शास्त्र, गुरु के आश्रय से हो सकती है अतः इनकी दृढ़ प्रतीति करना सम्यग्दर्शन है। भय, आशा, स्नेह या लोभ के वशीभूत होकर कभी भी कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरुओं की प्रतीति नहीं करना चाहिये।

द्रव्यानुयोग में प्रमुखता से द्रव्य, गुण, पर्याय अथवा जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वों तथा पुण्य पाप सहित नौ पदार्थों की चर्चा आती है अतः द्रव्यानुयोग में सम्यग्दर्शन का लक्षण [2]तत्त्वार्थश्रद्धान को बताया गया है। तत्त्वरूप अर्थ, अथवा तत्त्व—अपने अपने वास्तविक स्वरूप से सहित जीव, अजीवादि पदार्थों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। अथवा परमार्थ[3] रूप से जाने हुए जीव, अजीव, पुण्य, पाप आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये नौ पदार्थ सम्यग्दर्शन हैं। यहाँ विषय और विषयी में अभेद मानकर जीवादि पदार्थों को ही सम्यग्दर्शन कहा गया है। अर्थात् इन नौ पदार्थों का परमार्थरूप से श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। इसी द्रव्यानुयोग में स्वपर के श्रद्धान को भी सम्यग्दर्शन कहा गया है, क्योंकि आस्रवादिक तत्त्व स्व—जीव और पर—कर्मरूप अजीव के संयोग से होनेवाले पर्यायात्मक तत्त्व हैं अतः स्वपर में ही गर्भित हो जाते हैं। अथवा इसी द्रव्यानुयोग के अन्तर्गत अध्यात्म-ग्रन्थों में परद्रव्यों से भिन्न [4]आत्म द्रव्य की प्रतीति को सम्यग्दर्शन कहा है, क्योंकि प्रयोजनभूत तत्त्व तो स्वकीय आत्मद्रव्य ही है। स्व का निश्चय होने से पर स्वतः छूट जाता है।

मूल में तत्त्व दो हैं—जीव और अजीव। चेतनालक्षणवाला जीव है और उससे भिन्न अजीव है। अजीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल के भेद से पांच प्रकार का है परन्तु यहां उन सबसे

---

१ श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम् ।
त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥४॥ र० श्रा०
अत्तागमतच्चाणं सद्दहणं सुणिम्मलं होइ ।
संकाइदोसरहियं तं सम्मत्तं मुणेयव्वं ॥६॥ वसुनन्दि०

२ तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥ त० सू०

३ भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्ण पावं च ।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥१३॥ स०सा०

४ दर्शनमात्मविनिश्चितिः [illegible]

प्रयोजन नहीं हैं। यहाँ तो जीव के साथ संयोग को प्राप्त हुए नोकर्म, द्रव्यकर्म और भावकर्मरूप अजीव से प्रयोजन है। चैतन्य स्वभाव वाले जीव के साथ अनादि काल से ये नोकर्म—शरीर, द्रव्यकर्म—ज्ञानावरणादिक और भावकर्म—रागादिक लग रहे हैं। ये किस कारण से लग रहे हैं, जब इसका विचार आता है तब आस्रवतत्त्व उपस्थित होता है। आस्रव के बाद जीव और अजीव की क्या दशा होती है, यह बताने के लिए बन्धतत्त्व आता है। आस्रव का विरोधी भावसंवर है, बन्ध का विरोधी भावनिर्जरा है तथा जब सब नोकर्म, द्रव्यकर्म और भावकर्म जीव से सदा के लिए सर्वथा विमुक्त हो जाते हैं तब मोक्षतत्त्व होता है। पुण्य और पाप आस्रव के अन्तर्गत हैं। इस तरह आत्मकल्याण के लिए उपर्युक्त सात तत्त्व अथवा नौ पदार्थ प्रयोजनभूत हैं। इनका वास्तविक रूप से निर्णय कर प्रतीति करना सम्यग्दर्शन है। ऐसा न हो कि आस्रव और बन्ध के कारणों को संवर और निर्जरा का कारण समझ लिया जाय अथवा जीव की रागादिकपूर्ण अवस्था को जीवतत्त्व समझ लिया जाय या जीव की वैभाविक परिणति ( रागादिक ) को सर्वथा अजीव समझ लिया जाय, क्योंकि ऐसा समझने से वस्तुतत्त्व का सही निर्णय नहीं हो पाता और सही निर्णय के अभाव में यह आत्मा मोक्ष को प्राप्त नहीं हो पाता। जिन भावों को यह मोक्ष का कारण मानकर करता है वे भाव पुण्यास्रव के कारण होकर इस जीव को देवादि गतियों में सागरों पर्यन्त के लिए रोक लेते हैं। सात तत्त्वों में जीव और अजीव का जो संयोग है वह संसार है तथा आस्रव और बन्ध उसके कारण हैं। जीव और अजीव का जो वियोग—पृथग्भाव है वह मोक्ष है तथा संवर और निर्जरा उसके कारण हैं। जिस प्रकार रोगी मनुष्य को, रोग, इसके कारण, रोगमुक्ति और उसके कारण-चारों का जानना आवश्यक है उसी प्रकार इस जीव को संसार, इसके कारण, उससे मुक्ति और उसके कारण—चारों का जानना आवश्यक है।

करणानुयोग में, मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृति और अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ इन सात प्रकृतियों के उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय से होने वाली श्रद्धागुण की स्वाभाविक परिणति को सम्यग्दर्शन कहा है। करणानुयोग के इस सम्यग्दर्शन के होने पर चरणानुयोग, प्रथमानुयोग और द्रव्यानुयोग में प्रतिपादित सम्यग्दर्शन नियम से हो जाता है। परन्तु शेष अनुयोगों के सम्यग्दर्शन होने पर करणानुयोग प्रतिपादित सम्यग्दर्शन होता भी है और नहीं भी होता है। मिथ्यात्वप्रकृति के अवान्तर भेद असंख्यात लोक प्रमाण होते हैं। एक मिथ्यात्वप्रकृति के उदय में सातवें नरक की आयु का बन्ध होता है और एक मिथ्यात्वप्रकृति के उदय में नौवें ग्रैवेयक की आयु का बन्ध होता है। एक मिथ्यात्वप्रकृति के उदय में इस जीव के मुनिहत्या का भाव होता है और एक मिथ्यात्वप्रकृति के उदय में स्वयं मुनिव्रत धारण कर अट्ठाईस मूलगुणों का निर्दोष पालन करता है। एक मिथ्यात्व के उदय में कृष्णलेश्या होती है और एक मिथ्यात्व के उदय में शुक्ललेश्या होती है। जिस समय मिथ्यात्वप्रकृति का मन्द, मन्दतर उदय चलता है उस समय इस जीव के करणानुयोग और द्रव्यानुयोग के अनुसार सम्यग्दर्शन हो गया है, ऐसा जान पड़ता है परन्तु करणानुयोग के अनुसार वह मिथ्यादृष्टि ही रहता है।

एक भी प्रकृति का उनके संवर नहीं होता है। बन्ध और मोक्ष के प्रकरण में करणानुयोग का सम्यग्दर्शन ही अपेक्षित रहता है, अन्य अनुयोगों का नहीं। यद्यपि करणानुयोग प्रतिपादित सम्यग्दर्शन की महिमा सर्वोपरि है तथापि उसे बुद्धिपूर्वक प्राप्त नहीं किया जा सकता। इस जीव का बुद्धिप्रयोग चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग में प्रतिपादित सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने के लिये ही अग्रसर होता है। अर्थात् यह बुद्धिपूर्वक परमार्थ देवशास्त्रगुरु की शरण लेता है, उनकी श्रद्धा करता है और आगम का अभ्यास कर तत्त्वों का निर्णय करता है। इन सबके होते हुए अनुकूलता होने पर करणानुयोगप्रतिपादित सम्यग्दर्शन स्वतः प्राप्त हो जाता है और उसके प्राप्त होते ही यह संवर और निर्जरा को प्राप्त कर लेता है।

### सम्यग्दर्शन के विविध लक्षणों का समन्वय—

उपर्युक्त विवेचन से सम्यग्दर्शन के निम्नलिखित पांच लक्षण सामने आते हैं:—

(१) परमार्थ देवशास्त्रगुरु की प्रतीति।

(२) तत्त्वार्थश्रद्धान।

(३) स्वपर का श्रद्धान।

(४) आत्मा का श्रद्धान।

(५) सप्त प्रकृतियों के उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय से प्राप्त श्रद्धागुण की निर्मल परिणति।

इन लक्षणों में पांचवां लक्षण साध्य है और शेष चार उसके साधन हैं। जहाँ इन्हें सम्यग्दर्शन कहा है वहाँ कारण में कार्य का उपचार समझना चाहिये। जैसे अरहन्त देव, तत्प्रणीत शास्त्र और निर्ग्रन्थ गुरु की श्रद्धा होने से व कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरु की श्रद्धा दूर होनेसे गृहीत मिथ्यात्व का अभाव होता है, इस अपेक्षा से ही इसे सम्यग्दर्शन कहा है, सर्वथा सम्यग्दर्शन का यह लक्षण नहीं है क्योंकि द्रव्यलिंगी मुनि आदि व्यवहारधर्म के धारक मिथ्यादृष्टि जीवों के भी अरहन्तादिक का श्रद्धान होता है। यद्यपि परमार्थ से उनका यह श्रद्धान, श्रद्धान नहीं है तथापि व्यवहार से श्रद्धान भी कहा जाता है। अथवा जिस प्रकार [illegible] अणुव्रत, महाव्रत धारण करने पर देशचारित्र, सकलचारित्र होना भी है और नहीं भी होता है, परन्तु अणुव्रत और महाव्रत धारण किये बिना देशचारित्र सकलचारित्र कदाचित् नहीं होता है, इसलिये अणुव्रत, महाव्रत को अन्वयरूप कारण जानकर कारण में कार्य का उपचार कर इन्हें देशचारित्र, सकलचारित्र कहा है। इसी प्रकार अरहन्तदेवादिक का श्रद्धान होनेपर सम्यग्दर्शन होता भी है और नहीं भी होता है परन्तु अरहन्तादिक की श्रद्धा के बिना सम्यग्दर्शन कदापि नहीं होता, इसलिये अन्वयव्यतिरेक के अनुसार कारण में कार्य का उपचार कर इसे सम्यग्दर्शन कहा है।

यही पद्धति तत्त्वार्थश्रद्धानरूप लक्षण में भी घटित करना चाहिये, क्योंकि द्रव्यलिंगी मुनि [illegible] के अनुसार [illegible] करता है, बुद्धिपूर्वक [illegible] [illegible] है कि [illegible] मिथ्यादृष्टि

सम्यग्दृष्टि हो जाते हैं, परन्तु परमार्थ से वह स्वयं मिथ्यादृष्टि ही रहता है। उसकी जो सूक्ष्म भूल रहती है उसे प्रत्यक्षज्ञानी जानते हैं। इतना होने पर भी यह निश्चित है कि करणानुयोगप्रतिपादित सम्यग्दर्शन की प्राप्ति तत्त्वार्थ-श्रद्धानपूर्वक होगी। अतः कारण में कार्य का उपचार कर इसे सम्यग्दर्शन कहा है।

स्थूलरूपसे "शरीर भिन्न है, आत्मा भिन्न है" ऐसा स्वपर का भेदविज्ञान द्रव्यलिंगी मुनि को भी होता है। द्रव्यलिंगी मुनि, घानी में पेल दिये जाने पर भी संक्लेश नहीं करता और शुक्ललेश्या के प्रभाव से नौवें ग्रैवेयक तक में उत्पन्न होने की योग्यता रखता है फिर भी वह मिथ्यादृष्टि रहता है। उसके स्वपरभेदविज्ञान में जो सूक्ष्म भूल रहती है उसे जनसाधारण नहीं जान सकता। इस स्थिति में यह कहा जा सकता है कि करणानुयोग प्रतिपादित सम्यग्दर्शन इससे भिन्न है परन्तु उसकी प्राप्ति में स्वपर का भेदविज्ञान कारण पड़ता है। अतः कारण में कार्य का उपचार कर उसे सम्यग्दर्शन कहा है।

कषाय की मन्दता से उपयोग की चञ्चलता दूर होने लगती है, उस स्थिति में द्रव्यलिंगी मुनि का उपयोग भी परपदार्थ से हट कर स्व में स्थिर होने लगता है। स्वद्रव्य—आत्मद्रव्य की वह बड़ी सूक्ष्म चर्चा करता है। आत्मा के ज्ञाता-द्रष्टा स्वभाव का ऐसा भावविभोर होकर वर्णन करता है कि अन्य मिथ्यादृष्टि जीवों को भी आत्मानुभव होने लगता है परन्तु वह स्वयं मिथ्यादृष्टि रहता है। इस स्थिति में इस आत्मश्रद्धान को करणानुयोग प्रतिपादित सम्यग्दर्शन का साधन मानकर सम्यग्दर्शन कहा गया है।

इन सब लक्षणों में रहने वाली सूक्ष्म भूल को साधारण मनुष्य नहीं समझ पाते, इसलिये व्यवहार से इन सबको सम्यग्दर्शन कहा जाता है। इनके होते हुए सम्यक्त्व का घात करने वाली सात प्रकृतियों का उपशमादिक होकर करणानुयोग प्रतिपादित सम्यग्दर्शन प्रकट होता है। देव-शास्त्र-गुरु की प्रतीति, तत्त्वार्थश्रद्धान, स्वपरश्रद्धान और आत्मश्रद्धान ये चारों लक्षण एक-दूसरे के बाधक नहीं हैं क्योंकि एक के होने पर दूसरे लक्षण स्वयं प्रकट हो जाते हैं। पात्र की योग्यता देखकर आचार्यों ने विभिन्न शैलियों से वर्णन मात्र किया है। जैसे आचरणप्रधान शैली को मुख्यता देने की अपेक्षा देव-शास्त्र-गुरु की प्रतीति को, ज्ञानप्रधान शैली को मुख्यता देने की अपेक्षा तत्त्वार्थश्रद्धान को और कषाय जनित विकल्पों की मन्द-मन्दतर अवस्था को मुख्यता देने की अपेक्षा स्वपरश्रद्धान तथा आत्मश्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है। अपनी योग्यता के अनुसार चारों शैलियों को अपनाया जा सकता है। इन चारों शैलियों में भी यदि मुख्यता और अमुख्यता की अपेक्षा चर्चा की जावे तो तत्त्वार्थश्रद्धानरूप ज्ञानप्रधान शैली मुख्य जान पड़ती है क्योंकि उसके होने पर ही शेष तीन शैलियों को बल मिलता है।

## सम्यग्दर्शन किसे प्राप्त होता है—

मिथ्यादृष्टि दो प्रकार के हैं—एक अनादि मिथ्यादृष्टि और दूसरे सादि मिथ्यादृष्टि। जिसे आज तक कभी सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं हुआ है वह अनादि मिथ्यादृष्टि है और जिसे सम्यग्दर्शन प्राप्त होकर छूट गया है वह सादि मिथ्यादृष्टि जीव है। अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के मोहनीयकर्म की छब्बीस प्रकृतियों की

सत्ता रहती है क्योंकि दर्शनमोहनीय की मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति इन तीन प्रकृतियों में से एक मिथ्यात्वप्रकृति का ही बन्ध होता है, शेष दो का नहीं। प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन होने पर उसके प्रभाव से यह जीव मिथ्यात्वप्रकृति के मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति के भेद से तीन खण्ड करता है, इस तरह सादि मिथ्यादृष्टि जीव के ही सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति की सत्ता हो सकती है। सादि मिथ्यादृष्टि जीवों में मोहनीय कर्म की सत्ता के तीन विकल्प बनते हैं—एक अट्ठाईस प्रकृतियों की सत्तावाला, दूसरा सत्ताईस प्रकृतियों की सत्ता वाला और तीसरा छब्बीस प्रकृतियों की सत्तावाला। जिस जीव के दर्शनमोह की तीनों प्रकृतियाँ विद्यमान हैं वह अट्ठाईस प्रकृतियों की सत्तावाला है। जिस जीव ने सम्यक्त्वप्रकृति की उद्वेलना कर ली है वह सत्ताईस प्रकृतियों की सत्ता वाला है और जिसने सम्यङ्मिथ्यात्वप्रकृति की उद्वेलना कर ली है वह छब्बीस प्रकृतियों की सत्तावाला है।

सम्यग्दर्शन के औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक इस प्रकार तीन भेद हैं। यहाँ सर्वप्रथम औपशमिक सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति की अपेक्षा विचार करते हैं, क्योंकि अनादि मिथ्यादृष्टि को सर्वप्रथम औपशमिक सम्यग्दर्शन ही प्राप्त होता है। औपशमिक सम्यग्दर्शन भी प्रथमोपशम और द्वितीयोपशम के भेद से दो प्रकार का है। यहाँ प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन की चर्चा है। द्वितीयोपशम की चर्चा आगे की जावेगी।

इतना निश्चित है कि सम्यग्दर्शन संज्ञी, पंचेन्द्रिय, पर्याप्तक भव्य जीव को ही होता है अन्य को नहीं। भव्यों में भी उसी को होता है जिसका संसार भ्रमण का काल अर्धपुद्गल परावर्तन के काल से अधिक बाकी नहीं है[1]। लेश्याओं के विषय में यह नियम है कि मनुष्य और तिर्यञ्चों के तीन शुभ

---

1. अनादिमिथ्यादृष्टेर्भव्यस्य कर्मोदयापादितकालुष्ये सति कुतस्तदुपशमः? काललब्ध्यादिनिमित्तत्वात्। तत्र काललब्धिस्तावत्—कर्माविष्ट आत्मा भव्यः कालेऽर्द्धपुद्गलपरिवर्तनाख्येऽवशिष्टे प्रथम सम्यक्त्वग्रहणस्य योग्यो भवति नाधिके इति। इयमेका काललब्धिः ( सर्वार्थसिद्धि अध्याय २ सूत्र ३ )
काललब्ध्याद्यपेक्षया तदुपशमः। कैः? काललब्ध्यादीन् प्रत्ययानपेक्ष्य तासां प्रकृतीनामुपशमो भवति। तत्र काललब्धिस्तावत्—कर्माविष्ट आत्मा भव्यः कालेऽर्धपुद्गलपरिवर्तनाख्येऽवशिष्टे प्रथम सम्यक्त्व ग्रहणस्य योग्यो भवति नाधिके, इतीयं काललब्धिरेका।
( तत्त्वार्थराजवार्तिक द्वितीयाध्याय सूत्र ३ )

इस तरह पूज्यपाद और अकलंक स्वामी के कथनानुसार अर्धपुद्गलप्रमाण काल शेष रहने पर सम्यक्त्व ग्रहण करने की योग्यता होती है परन्तु

[illegible] ( धवला पुस्तक ४ पृष्ठ ११ ) [illegible]

लेश्याओं में से कोई लेश्या हो और देव तथा नारकियों के जहाँ जो लेश्या बतलाई है उसी में औपशमिक सम्यग्दर्शन हो सकता है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये गोत्र का प्रतिबन्ध नहीं है अर्थात् जहाँ उच्च नीच गोत्रों में से जो भी सम्भव हो उसी गोत्र में सम्यग्दर्शन हो सकता है। कर्मस्थिति के विषय में चर्चा यह है कि जिसके बध्यमान कर्मों की स्थिति अन्तःकोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण हो तथा सत्ता में स्थित कर्मों की स्थिति संख्यात हजार सागर कम अन्तःकोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण रह गई हो वही सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है। इससे अधिक स्थितिबन्ध पड़ने पर सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं हो सकता। इसी प्रकार जिसके अप्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग द्विस्थानगत और प्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग चतुःस्थान गत होता है वही औपशमिक सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है। यहाँ इतनी विशेषता और भी ध्यान में रखना चाहिये कि जिस सादि मिथ्यादृष्टि के आहारक शरीर और आहारक शरीराङ्गोपाङ्ग की सत्ता होती है उसे प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन नहीं होता। अनादि मिथ्यादृष्टि के इनकी सत्ता होती ही नहीं है। इसी प्रकार प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन से च्युत हुआ जीव दूसरे प्रथमोपशम सम्यक्त्व को तब तक प्राप्त नहीं कर सकता जब तक कि वह वेदक काल में रहता है। वेदक काल के भीतर यदि उसे सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का अवसर आता है तो वह वेदक—क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन ही प्राप्त करता है।

वेदक काल के विषय में यह कहा गया है कि सम्यग्दर्शन से च्युत हुआ जो मिथ्यादृष्टि जीव, एकेन्द्रिय पर्याय में भ्रमण करता है वह संज्ञी पंचेन्द्रिय होकर प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन को तभी प्राप्त कर सकता है जब उसके सम्यक्त्व तथा सम्यङ् मिथ्यात्व इन दो प्रकृतियों की स्थिति एक सागर से कम शेष रह जावे। यदि इससे अधिक स्थिति शेष है तो नियम से उसे वेदक-क्षायोपशमिकसम्यग्दर्शन ही हो सकता है। यदि सम्यग्दर्शन से च्युत हुआ जीव विकलत्रय में परिभ्रमण करता है तो उसके सम्यक्त्व और सम्यङ् मिथ्यात्वप्रकृति की स्थिति पृथकत्वसागरप्रमाण शेष रहने तक उसका वेदककाल कहलाता है। इस काल में यदि उसे सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का अवसर आता है तो नियम से वेदक—क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन को ही प्राप्त होता है। हाँ, सम्यक्त्वप्रकृति की अथवा सम्यक्त्व प्रकृति और सम्यङ् मिथ्यात्व प्रकृति—दोनों की उद्वेलना हो गई है तो ऐसा जीव पुनः सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का अवसर आने पर प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि अनादिमिथ्यादृष्टि जीव के सर्वप्रथम प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन ही होता है और सादिमिथ्यादृष्टियों में २६ या २७ प्रकृतियों की सत्तावाले जीव के दूसरी बार भी प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन होता है किन्तु २८ प्रकृतिकी सत्तावाले जीवके वेदक कालके भीतर दूसरी बार

---

**संसारं छिंदिय अद्धपोग्गलपरियट्टमेत्तं कदेण अप्पमद्धा अंतोमुहुत्तमेत्ता अणुपालिदा। ( धवला पुस्तक ५ पृष्ठ ११ ) इत्यादि उल्लेखों से यह भाव प्रकट होता है कि सर्वप्रथम सम्यक्त्व प्राप्ति के लिये भवभ्रमण का अर्धपुद्गलप्रमाणकाल शेष रहने का नियम नहीं है। हाँ, सम्यक्त्व हो जाने पर वह उसके प्रभावसे अनन्त संसार को छेदकर अर्धपुद्गलप्रमाण कर लेता है।**

सम्यग्दर्शन हो तो वेदक—क्षायोपशमिक ही होता है। हाँ, वेदक काल के निकल जाने पर प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन होता है।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की योग्यता रखने वाला संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक, विशुद्धियुक्त, जाग्रत, साकार उपयोगयुक्त, चारों गति वाला भव्य जीव जब सम्यग्दर्शन धारण करने के सम्मुख होता है तब क्षायोपशमिक, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण इन पांच लब्धियों को प्राप्त होता है।[1] इनमें करण लब्धि को छोड़कर शेष चार लब्धियाँ सामान्य हैं अर्थात् भव्य और अभव्य दोनों को प्राप्त होती हैं परन्तु करण लब्धि भव्य जीव को ही प्राप्त होती है। उसके प्राप्त होने पर सम्यग्दर्शन नियम से प्रकट होता है। उपर्युक्त लब्धियों का स्वरूप इस प्रकार है—

**(१) क्षायोपशमिक लब्धि**—पूर्व संचित कर्मपटल के अनुभागस्पर्धकों का विशुद्धि के द्वारा प्रतिसमय अनन्तगुणित हीन होते हुए उदीरणा को प्राप्त होना क्षायोपशमिक लब्धि है। इस लब्धि के द्वारा जीव के परिणाम उत्तरोत्तर निर्मल होते जाते हैं।

**(२) विशुद्धि लब्धि**—साता वेदनीय आदि प्रशस्त प्रकृतियों के बन्ध में कारणभूत परिणामों की प्राप्ति को विशुद्धि लब्धि कहते हैं।

**(३) देशना लब्धि**—छहों द्रव्य और नौ पदार्थों के उपदेश को देशना कहते हैं। उक्त देशना के द्वारा आचार्य आदि की लब्धि को और उपदिष्ट अर्थ के ग्रहण, धारण तथा विचारणा की शक्ति की प्राप्ति को देशना लब्धि कहते हैं।

**(४) प्रायोग्य लब्धि**—आयुकर्म को छोड़कर शेष कर्मों की स्थिति को अन्तःकोडाकोडी सागर प्रमाण कर देना और अशुभकर्मों में से घातिया कर्मों के अनुभाग को लता और दारु इन दो स्थानगत तथा अघातिया कर्मों के अनुभाग को नीम और कांजी इन दो स्थान गत कर देना प्रायोग्य लब्धि है।

**(५) करण लब्धि**—करण भावों को कहते हैं। सम्यग्दर्शन प्राप्त कराने वाले करणों–भावों की प्राप्ति को करणलब्धि कहते हैं। इसके तीन भेद हैं—अधःप्रवृत्तकरण अथवा अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। जो करण—परिणाम इसके पूर्व प्राप्त न हुए हों उन्हें अथाप्रवृत्त करण कहते हैं। इसका दूसरा सार्थक नाम अधःकरण है। जिसमें आगामी समय में रहने वाले जीवों के परिणाम पिछले समयवर्ती जीवों के परिणामों से मिलते जुलते हों उसे अधःप्रवृत्तकरण कहते हैं। इसमें समसमयवर्ती तथा विषम-समयवर्ती जीवों के परिणाम सदृश और असदृश—दोनों प्रकार के होते हैं। जैसे पहले समय में रहने

---

१ चदुगदिभव्वो सण्णी पज्जत्तो सुज्झगो य सागारो।
जागारो सल्लेसो सलद्धिगो सम्ममुवगमई॥ ६५१॥ जी० का०
खयउवसमियविसोही देसणपाउग्गकरणलद्धी य।
चत्तारि वि सामण्णा करणं पुण होदि सम्मत्ते॥ ६५०॥ जी० का०

वाले जीवों के परिणाम एक से लेकर दस नम्बर तक के हैं और दूसरे समय में रहने वाले जीवों के परिणाम छह से लेकर पन्द्रह नम्बर तक के हैं। पहले समय में रहने वाले जीव के छह से लेकर दस नम्बर तक के परिणाम विभिन्न समयवर्त्ती होने पर भी परस्पर मिलते-जुलते हैं। इसी प्रकार प्रथम समयवर्त्ती अनेक जीवों के एक से लेकर दस तक के परिणामों से समान परिणाम हो सकते हैं अर्थात् किन्हीं दो जीवों के चौथे नम्बर का परिणाम है और किन्हीं दो जीवों के पांच नम्बर का परिणाम है। यह परिणामों की समानता और असमानता नाना जीवों की अपेक्षा घटित होती हैं इस करण का काल अन्तर्मुहूर्त है और उसमें उत्तरोत्तर समान वृद्धि को लिए हुए असंख्यात लोक प्रमाण करण-परिणाम होते हैं।

जिसमें प्रत्येक समय अपूर्व अपूर्व-नये नये परिणाम होते हैं—उसे अपूर्वकरण कहते हैं। जैसे पहले समय में रहने वाले जीवों के यदि एक से लेकर दस नम्बर तक के परिणाम हैं तो दूसरे समय में रहने वाले जीव के ग्यारह से बीस नम्बर तक के परिणाम होते हैं। अपूर्वकरण में समसमयवर्त्ती जीवों के परिणाम समान और असमान दोनों प्रकार के होते हैं परन्तु भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम असमान ही होते हैं। जैसे, पहले समय में रहने वाले और दूसरे समय में रहने वाले जीवों के परिणाम कभी समान नहीं होते परन्तु पहले अथवा दूसरे समय में रहने वाले जीवों के परिणाम समान भी हो सकते हैं और असमान भी। यह चर्चा भी नाना जीवों की अपेक्षा है। इसका काल भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। परन्तु यह अन्तर्मुहूर्त अधःप्रवृत्तकरण के अन्तर्मुहूर्त से छोटा है। इस अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल में भी उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होते हुए असंख्यात लोक प्रमाण परिणाम होते हैं।

जहाँ एक समय में एक ही परिणाम होता है उसे अनिवृत्तिकरण कहते हैं। इस करण में समसमयवर्ती जीवों के परिणाम समान ही होते हैं और विषमसमयवर्ती जीवों के परिणाम असमान ही होते हैं। इसका कारण है कि यहाँ एक समय में एक ही परिणाम होता है इसलिये उस समय में जितने जीव होंगे उन सबके परिणाम समान ही होंगे और भिन्न समयों में जो जीव होंगे उनके परिणाम भिन्न ही होंगे। इसका काल भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। परन्तु अपूर्वकरण की अपेक्षा छोटा अन्तर्मुहूर्त है। इसके प्रत्येक समय में एक ही परिणाम होता है। इन तीनों करणों में परिणामों की विशुद्धता उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है।

उपर्युक्त तीन करणों में से पहले अथाप्रवृत्त अथवा अधःकरण में चार आवश्यक होते हैं— (१) समय समय में अनन्तगुणी विशुद्धता होती है। (२) प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त में नवीन बन्ध की स्थिति घटती जाती है। (३) प्रत्येक समय प्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग अनन्तगुणा बढ़ता जाता है और (४) प्रत्येक समय अप्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग अनन्तवाँ भाग घटता जाता है। इसके बाद अपूर्वकरण परिणाम होता है। उस अपूर्वकरण में निम्नलिखित आवश्यक और होते हैं। (१) सत्ता में स्थित पूर्व कर्मों की स्थिति प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त में उत्तरोत्तर घटती जाती है अतः स्थितिकाण्डकघात होता है (२) प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त में उत्तरोत्तर पूर्व कर्म का अनुभाग घटता जाता है इसलिये अनुभागकाण्डकघात होता है और (३) गुणश्रेणी के काल में क्रम से असंख्यातगुणित कर्म, निर्जरा के योग्य होते हैं इसलिये

गुणश्रेणी निर्जरा होती है। इस अपूर्वकरण में गुणसंक्रमण नाम का आवश्यक नहीं होता। किन्तु चारित्रमोह का उपशम करने के लिए जो अपूर्वकरण होता है उसमें होता है। अपूर्वकरण के बाद अनिवृत्तिकरण होता है उसका काल अपूर्वकरण के काल के संख्यातवें भाग होता है। इसमें पूर्वोक्त आवश्यक सहित कितना ही काल व्यतीत होने पर[1] अंतरकरण होता है अर्थात् अनिवृत्तिकरण के काल के पीछे उदय आने योग्य मिथ्यात्वकर्म के निषेकों का अंतर्मुहूर्त के लिए अभाव होता है। अंतरकरण के पीछे उपशमकरण होता है अर्थात् अंतरकरण के द्वारा अभावरूप किये हुए निषेकों के ऊपर जो मिथ्यात्व के निषेक उदय में आनेवाले थे उन्हें उदीरणा के अयोग्य किया जाता है। साथ ही अनंतानुबंधी चतुष्क को भी उदय के अयोग्य किया जाता है। इस तरह उदययोग्य प्रकृतियों का अभाव होनेसे प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है। पश्चात् प्रथमोपशम सम्यक्त्व के प्रथम समय में मिथ्यात्वप्रकृति के तीन खण्ड करता है। परन्तु राजवार्तिक में, अनिवृत्तिकरण के चरम समय में तीन खण्ड करता है, सूचित किया है।[2] तदनन्तर चरम समय में मिथ्यादर्शन के तीन भाग करता है—सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यक्मिथ्यात्व। इन तीन प्रकृतियों तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ इन चार प्रकृतियों का इस प्रकार सात प्रकृतियों के उदय का अभाव होने पर प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है। यही भाव षट्खण्डागम ( धवला पुस्तक ६ ) के निम्नलिखित सूत्रों में भी प्रकट किया गया है—

'ओहट्टेदूण मिच्छत्तं तिण्णि भागं करेदि सम्मतं मिच्छत्तं सम्मामिच्छत्तं' ॥७॥

अर्थ—अन्तरकरण करके मिथ्यात्व कर्म के तीन भाग करता है—सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यक्मिथ्यात्व।

दंसणमोहणीयं कम्मं उवसामेदि ॥८॥

अर्थ—मिथ्यात्व के तीन भाग करने के पश्चात् दर्शनमोहनीयकर्म को उपशमाता है।

---

1 किमंतरकरणं णाम ? विवक्खियकम्माणं हेट्ठिमोवरिमट्ठिदीओ मोत्तूण मज्झे अंतोमुहुत्तमेत्ताणं ट्ठिदीणं परिणामविसेसेण णिसेगाणमभावीकरणमंतरकरणमिदि भण्णदे। जयधवल अ० प० ९५३।

अर्थ—अन्तरकरण का क्या स्वरूप है ? उत्तर—विवक्षित कर्मों की अधस्तन और उपरिम स्थितियों को छोड़कर मध्यवर्ती अन्तर्मुहूर्त मात्र स्थितियों के निषेकों का परिणामविशेष के द्वारा अभाव करने को अन्तरकरण कहते हैं।

2 अनिवृत्तिकरणचरमसमये मिथ्यादर्शनं त्रिधा विभक्तं करोति—सम्यक्त्वं मिथ्यात्वं सम्यङ्मिथ्यात्वं चेति। एतासां तिसृणां प्रकृतीनां अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभानां चोदयाभावेऽन्तर्मुहूर्तकालं प्रथम-ोपशमकसम्यक्त्वं भवति। रा० वा० अ० २, सूत्र ३।

## द्वितीयोपशमसम्यग्दर्शन—

औपशमिक सम्यग्दर्शन के प्रथमोपशम और द्वितीयोपशम इस प्रकार दो भेद हैं। इनमें से प्रथमोपशम किसके और कब होता है इसकी चर्चा ऊपर आ चुकी है द्वितीयोपशम की चर्चा इस प्रकार है। प्रथमोपशम और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन का अस्तित्व चतुर्थगुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक ही रहता है। क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन को धारण करने वाला कोई जीव जब सातवें गुणस्थान के सातिशय अप्रमत्त भेद में उपशमश्रेणी माँढ़ने के सम्मुख होता है तब उसके द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। इस सम्यग्दर्शन में अनन्तानुबन्धी चतुष्क की विसंयोजना और दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियों का उपशम होता है। इस सम्यग्दर्शन को धारण करने वाला जीव उपशमश्रेणी माँढकर ग्यारहवें गुणस्थान तक जाता है और वहाँ से पतन कर नीचे आता है। पतन की अपेक्षा चतुर्थ, पञ्चम और षष्ठ गुणस्थान में भी इसका सद्भाव रहता है।

## क्षायोपशमिक अथवा वेदक सम्यग्दर्शन—

मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन छह सर्वघाती प्रकृतियों के वर्तमान काल में उदय आनेवाले निषेकों का उदयाभावी क्षय तथा आगामी काल में उदय आनेवाले निषेकों का सदवस्थारूप उपशम और सम्यक्त्व प्रकृति नामक देशघाती प्रकृति का उदय रहने पर जो सम्यक्त्व होता है उसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। इस सम्यक्त्वमें सम्यक्त्वप्रकृतिका उदय रहनेसे चल, मल और अगाढ़ दोष उत्पन्न होते रहते हैं। छह सर्वघाती प्रकृतियोंके उदयाभावी क्षय और सदवस्थारूप उपशम को प्रधानता देकर जब इसका वर्णन होता है तब इसे क्षायोपशमिक कहते हैं। और जब सम्यक्त्व प्रकृति के उदय की अपेक्षा वर्णन होता है तब इसे वेदक सम्यग्दर्शन कहते हैं। वैसे ये दोनों हैं पर्यायवाची।

इसकी उत्पत्ति सादि मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि दोनों के हो सकती है। सादि मिथ्यादृष्टियों में जो वेदककाल के भीतर रहता है उसे वेदक सम्यग्दर्शन ही होता है। सम्यग्दृष्टियों में जो प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि है उसे भी वेदक सम्यकदर्शन ही होता है। प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि जीव को, चौथे से लेकर सातवें गुणस्थान तक किसी भी गुणस्थान में इसकी प्राप्ति हो सकती है। यह सम्यग्दर्शन चारों गतियों में उत्पन्न हो सकता है।

## क्षायिक सम्यग्दर्शन—

मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृति और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन सात प्रकृतियों के क्षय से जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है वह क्षायिक सम्यक्त्व कहलाता है। [1]दर्शन-मोहनीय की क्षपणा का आरम्भ कर्मभूमिज मनुष्य ही करता है और वह भी केवली या श्रुतकेवली के

---

१ दंसणमोहक्खवणापट्ठवगो कम्मभूमिजादो हु।
मणुसो केवलिमूले णिट्ठवगो होदि सव्वत्थ ॥६४॥ जी० का०

पादमूल में।[1] परन्तु इसका निष्ठापन चारों गतियों में हो सकता है। यह सम्यग्दर्शन वेदकसम्यक्त्वपूर्वक ही होता है तथा चौथेसे सातवें गुणस्थान तक किसी भी गुणस्थानमें हो सकता है। यह सम्यग्दर्शन सादि अनन्त है। होकर कभी छूटता नहीं है जब कि औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन असंख्यात बार होकर छूट सकते है। क्षायिकसम्यग्दृष्टि या तो उसी भवमें मोक्ष चला जाता है या तीसरे भवमें, या चौथे भवमें, चौथे भवसे अधिक संसारमें नहीं रहता।[2] जो क्षायिकसम्यग्दृष्टि बद्धायुष्क होनेसे नरकमें जाता है अथवा देवगतिमें उत्पन्न होता है वह वहाँ से मनुष्य होकर मोक्ष जाता है। इसलिये वह तीसरे भव में मोक्ष जाता है और जो भोगभूमि में मनुष्य या तिर्यञ्च होता है वह वहाँ से देवगति में जाता है और वहाँ से आकर मनुष्य हो मोक्ष प्राप्त करता है, इस प्रकार चौथे भव में उसका मोक्ष जाना बनता है।[3] चारों गतिसम्बन्धी आयुका बन्ध होनेपर सम्यक्त्व हो सकता है, इसलिये बद्धायुष्क सम्यग्दृष्टिका चारों गतियों में जाना संभव है। परन्तु यह नियम है कि सम्यक्त्व के कालमें यदि मनुष्य और तिर्यञ्च के आयुबन्ध होता है तो नियम से देवायुका ही बन्ध होता है और नारकी तथा देव के नियम से मनुष्यायु का ही बंध होता है।

## सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके बहिरङ्ग कारण—

कारण दो प्रकार का होता है एक उपादानकारण और दूसरा निमित्तकारण। जो स्वयं कार्यरूप परिणत होता है वह उपादानकारण कहलाता है। और जो कार्यकी सिद्धि में सहायक होता है वह निमित्तकारण कहलाता है। अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग के भेद से निमित्त के दो भेद हैं। सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का उपादानकारण आसन्नभव्यता आदि विशेषताओं से युक्त आत्मा है। अन्तरङ्ग निमित्तकारण सम्यक्त्व की प्रतिबन्धक सात प्रकृतियों का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम है और बहिरङ्ग निमित्तकारण सद्गुरु आदि है। अन्तरङ्ग निमित्तकारण के मिलने पर सम्यग्दर्शन नियम से होता है परन्तु बहिरङ्ग निमित्त के मिलने पर सम्यग्दर्शन होता भी है और नहीं भी होता है। सम्यग्दर्शन के बहिरङ्ग निमित्त चारों गतियों में भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं। जैसे नरकगति में तीसरे नरक तक जातिस्मरण, धर्मश्रवण और तीव्रवेदनानुभव से तीन, चौथे से सातवें तक जातिस्मरण और

---

1 स्वयं श्रुतकेवली हो जाने पर फिर केवली या श्रुतकेवली के सन्निधान की आवश्यकता नहीं रहती।

2 दंसणमोहे खविदे सिज्झदि एक्केव तदिय-तुरियभवे।
णादिक्कदि तुरियभवं ण विणस्सदि सेससम्मं व ॥[illegible]॥ जी० का० क्ष० सा०

3 चत्तारि वि खेत्ताइं, आउगबंधेण होइ सम्मत्तं।
अणुवद-महव्वदाइं ण लहइ देवाउगं मोत्तुं ॥६५३॥ जी० का०

4 [illegible]
[illegible]

तीव्रवेदनानुभव ये दो, तिर्यञ्च और मनुष्यगति में जातिस्मरण, धर्मश्रवण और जिनबिम्बदर्शन ये तीन, देवगति में बारहवें स्वर्ग तक जातिस्मरण, धर्मश्रवण, जिनकल्याणकदर्शन और देवर्द्धिदर्शन ये चार, तेरहवें से सोलहवें स्वर्ग तक देवर्द्धिदर्शन को छोड़कर तीन और उसके आगे नौवें ग्रैवेयक तक जातिस्मरण तथा धर्मश्रवण ये दो बहिरङ्ग निमित्त हैं। ग्रैवेयक के ऊपर सम्यग्दृष्टि ही उत्पन्न होते हैं, इसलिये वहाँ बहिरङ्गनिमित्त की आवश्यकता नहीं है। इस सन्दर्भ में सर्वार्थसिद्धि का निर्देशस्वामित्व, आदि सूत्र तथा धवला पुस्तक ६ पृष्ठ ४२० आदि का प्रकरण द्रष्टव्य है।

**सम्यग्दर्शन के भेद—**

उत्पत्ति की अपेक्षा सम्यग्दर्शन के निसर्गज और अधिगमज के भेद से दो भेद हैं। जो पूर्व संस्कार की प्रबलता से परोपदेश के बिना हो जाता है वह निसर्गज सम्यग्दर्शन कहलाता है और जो परके उपदेशपूर्वक होता है वह अधिगमज सम्यग्दर्शन कहलाता है। इन दोनों भेदों में अन्तरङ्ग कारण— सात प्रकृतियों का उपशमादिक समान होता है, मात्र बाह्यकारण की अपेक्षा दो भेद होते हैं।

करणानुयोग की पद्धति से सम्यग्दर्शन के औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक, ये तीन भेद होते हैं। जो सात प्रकृतियों के उपशम से होता है वह औपशमिक कहलाता है। इसके प्रथमोपशम और द्वितीयोपशम की अपेक्षा दो भेद हैं। जो सात प्रकृतियों के क्षय से होता है उसे क्षायिक कहते हैं और जो सर्वघाती छह प्रकृतियों के उदयाभावीक्षय और सदवस्थारूप उपशम तथा सम्यक्त्वप्रकृतिनामक देशघाती प्रकृति के उदय से होता है उसे क्षायोपशमिक अथवा वेदक सम्यग्दर्शन कहते हैं। कृतकृत्य वेदक सम्यग्दर्शन भी इसी क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन का अवान्तर भेद है। दर्शनमोहनीय की क्षपणा करने वाले जिस क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि के मात्र सम्यक्त्व प्रकृति का उदय शेष रह गया है, शेष की क्षपणा हो चुकी है उसे कृतकृत्यवेदकसम्यग्दृष्टि कहते हैं।

चरणानुयोग की पद्धति से सम्यग्दर्शन के निश्चय और व्यवहार की अपेक्षा दो भेद होते हैं। वहाँ परमार्थ देव-शास्त्र-गुरु की विपरीताभिनिवेश से रहित श्रद्धा करने को निश्चयसम्यग्दर्शन कहा जाता है और उस सम्यग्दृष्टि की पच्चीस दोषों से रहित जो प्रवृत्ति है उसे व्यवहारसम्यग्दर्शन कहा जाता है। शङ्कादिक आठ दोष, आठ मद, छह अनायतन और तीन मूढ़ताएँ ये व्यवहारसम्यग्दर्शन के पच्चीस दोष कहलाते हैं।[1]

द्रव्यानुयोग की पद्धति से भी सम्यग्दर्शन के निश्चय और व्यवहार की अपेक्षा दो भेद होते हैं। यहाँ जीवाजीवादि सात तत्त्वों के विकल्प से रहित शुद्ध आत्मा ही को निश्चयसम्यग्दर्शन कहते हैं और सात तत्त्वों के विकल्प से सहित श्रद्धान को व्यवहार सम्यग्दर्शन कहते हैं।[2]

---

१ मूढत्रय मदाश्चाष्टौ तथाऽनायतनानि षट्।
अष्टौ शङ्कादयश्चेति दृग्दोषाः पञ्चविंशतिः॥

२ जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं जिणवरेहि पण्णत्तं।
ववहारा णिच्छयदो अप्पाणं हवइ सम्मत्तं ॥२०॥ दर्शनपाहुड

अध्यात्म में वीतराग सम्यग्दर्शन और सराग सम्यग्दर्शन के भेद से दो भेद होते हैं। यहाँ आत्मा की विशुद्धिमात्र को वीतराग सम्यग्दर्शन कहा है और प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य इन चार गुणों की अभिव्यक्ति को सरागसम्यग्दर्शन कहा है।

[1]आत्मानुशासन में ज्ञानप्रधान निमित्तादिक की अपेक्षा १. आज्ञा सम्यक्त्व, २. मार्गसम्यक्त्व, ३. उपदेश सम्यक्त्व, ४. सूत्र सम्यक्त्व, ५. बीज सम्यक्त्व, ६. संक्षेप सम्यक्त्व, ७. विस्तार सम्यक्त्व, ८. अर्थ सम्यक्त्व, ९. अवगाढ सम्यक्त्व और १० परमावगाढ सम्यक्त्व ये दश भेद कहे हैं।

मुझे जिन आज्ञा प्रमाण है, इस प्रकार जिनाज्ञा की प्रधानता से जो सूक्ष्म, अन्तरित एवं दूरवर्ती पदार्थों का श्रद्धान होता है उसे आज्ञा सम्यक्त्व कहते हैं। निर्ग्रन्थ मार्ग के अवलोकन से जो सम्यग्दर्शन होता है उसे मार्ग सम्यक्त्व कहते हैं। आगमज्ञ पुरुषों के उपदेश से उत्पन्न सम्यग्दर्शन उपदेश सम्यक्त्व कहलाता है। मुनि के आचार का प्रतिपादन करने वाले आचारसूत्र को सुनकर जो श्रद्धान होता है उसे सूत्र सम्यक्त्व कहते हैं। गणितज्ञान के कारण बीजों के समूह से जो सम्यक्त्व होता है उसे बीज सम्यक्त्व कहते हैं। पदार्थों के संक्षेपरूप विवेचन को सुनकर जो श्रद्धान होता है उसे संक्षेप सम्यक्त्व कहते हैं। विस्ताररूप जिनवाणी को सुनने से जो श्रद्धान होता है उसे विस्तार सम्यक्त्व कहते हैं। जैन शास्त्र के वचन बिना किसी अन्य अर्थ के निमित्त से जो श्रद्धा होती है उसे अर्थ सम्यक्त्व कहते हैं। श्रुतकेवली के तत्त्वश्रद्धान को अवगाढ सम्यक्त्व कहते हैं। और केवली के तत्त्वश्रद्धान को परमावगाढ सम्यक्त्व कहते हैं। इन दश भेदों में प्रारम्भ के आठ भेद कारण की अपेक्षा और अन्त के दो भेद ज्ञान के सहकारीपना की अपेक्षा किये गये हैं।

इस प्रकार शब्दों की अपेक्षा संख्यात, परिणामों की अपेक्षा असंख्यात और अविभागप्रतिच्छेदों की अपेक्षा सम्यग्दर्शन के अनन्त भेद होते हैं।

## सम्यग्दर्शन का निर्देश आदि की अपेक्षा वर्णन—

तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वामी ने पदार्थों के जानने के उपायों का वर्णन करते हुए निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान इन छह उपायों का वर्णन किया है।[2] यहाँ सम्यग्दर्शन के सम्बन्ध में इन उपायों पर भी विचार करना उचित जान पड़ता है। वस्तु के स्वरूप निर्देश को निर्देश कहते हैं। वस्तु के अधिपत्य को स्वामित्व कहते हैं। वस्तु की उत्पत्ति के निमित्त को साधन कहते हैं। वस्तु के आधार को अधिकरण कहते हैं। वस्तु की कालावधि को स्थिति कहते हैं और वस्तु के प्रकारों को विधान कहते हैं। सम्यग्दर्शन के विषय में भी इन छह उपायों का आलम्बन लिया जाता है।

---

१ आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात्सूत्रबीजसंक्षेपात्।
विस्तारार्थाभ्यां भवमवगाढपरमावगाढं च ॥११॥ आत्मानुशासन

२ निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः ॥ —त० सू० १-७।

**यहाँ सम्यग्दर्शन का निर्देश स्वरूप क्या है ?** इसका उत्तर देने के लिए कहा गया है कि यथार्थ देव-शास्त्र-गुरु का श्रद्धान करना, अथवा सप्त तत्त्व, नौ पदार्थ का श्रद्धान करना आदि सम्यग्दर्शन का निर्देश है। सम्यग्दर्शन का स्वामी कौन है ? इस प्रश्न का विचार सामान्य और विशेषरूप से किया गया है। सामान्य की अपेक्षा सम्यग्दर्शन संज्ञी, पंचेन्द्रिय, पर्याप्तक, भव्य जीव के ही होता है अतः वही इसका स्वामी है। विशेष की अपेक्षा विचार इस प्रकार है[1]—

गति की अपेक्षा नरकगति में सभी पृथिवियों के पर्याप्तक नारकियों के औपशमिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यग्दर्शन होते हैं। प्रथम पृथिवी में पर्याप्तकों के औपशमिक क्षायोपशमिक और क्षायिक ये तीन सम्यग्दर्शन होते हैं तथा अपर्याप्तकों के क्षायिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यग्दर्शन होते हैं। द्वितीयादि पृथिवियों में अपर्याप्तकों के एक भी सम्यग्दर्शन नहीं होता तिर्यञ्चगति में औपशमिक सम्यग्दर्शन पर्याप्तक तिर्यञ्चों के ही होता है और क्षायिक तथा क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन पर्याप्तक अपर्याप्तक दोनों के होते हैं। अपर्याप्तक तिर्यञ्चों के सम्यग्दर्शन भोगभूमिज तिर्यञ्चों की अपेक्षा होते हैं। तिरश्चियों के पर्याप्तक तथा अपर्याप्तक दोनों ही अवस्थाओं में क्षायिक सम्यग्दर्शन नहीं होता, क्योंकि दर्शनमोह की क्षपणा का प्रारम्भ कर्मभूमिज मनुष्य के ही होता है और क्षपणा के पहले तिर्यञ्च आयु का बन्ध करने वाला मनुष्य, भोगभूमि के पुरुषवेदी तिर्यञ्चों में उत्पन्न होता है स्त्रीवेदी तिर्यञ्चों में नहीं। नवीन उत्पत्ति की अपेक्षा पर्याप्तक तिरश्चियों के औपशमिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यग्दर्शन होते हैं। मनुष्यगति में पर्याप्तक और अपर्याप्तक मनुष्यों के क्षायिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यग्दर्शन होते हैं। औपशमिक सम्यग्दर्शन पर्याप्तक मनुष्यों के ही होता है, अपर्याप्तक मनुष्यों के नहीं, क्योंकि प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन में किसी का मरण होता नहीं है और द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन में मरा हुआ जीव नियम से देवगति में ही जाता है। मानुषी—स्त्रीवेदी मनुष्यों के पर्याप्तक अवस्था में तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं परन्तु अपर्याप्तक अवस्था में एक भी नहीं होता। मानुषियों के जो क्षायिक सम्यग्दर्शन बतलाया है वह भाववेद की अपेक्षा होता है द्रव्यवेद की अपेक्षा नहीं। देवगति में पर्याप्तक और अपर्याप्तक-दोनों के तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं। द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि जीव मरकर देवों में उत्पन्न होते हैं इस अपेक्षा वहाँ अपर्याप्तक अवस्था में भी औपशमिक सम्यग्दर्शन का सद्भाव रहता है। भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष्क देव, उनकी देवाङ्गनाओं तथा सौधर्मैशान की देवाङ्गनाओं के अपर्याप्तक अवस्था में एक भी सम्यग्दर्शन नहीं होता, किन्तु पर्याप्तक अवस्था में नवीन उत्पत्ति की अपेक्षा औपशमिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यग्दर्शन होते हैं। स्वर्ग में देवियों का सद्भाव यद्यपि सोलहवें स्वर्ग तक रहता है तथापि

---

१ विशेष की अपेक्षा निम्नलिखित चौदह मार्गणाओं में होता है—

गइ इन्दिये च काये जोगे वेदे कसाय णाणे य।

संजम दंसण लेस्सा भविया सम्मत्त सण्णि आहारे॥ जी०का०।

उनकी उत्पत्ति दूसरे स्वर्ग तक ही होती है इसलिये आगे की देवियों का समावेश पहले-दूसरे स्वर्ग की देवियों में ही समझना चाहिये।

इन्द्रियों की अपेक्षा संज्ञी पञ्चेन्द्रियों को तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं। अन्य इन्द्रियवालों के एक भी नहीं होता। काय की अपेक्षा त्रसकायिक जीवों के तीनों होते हैं परन्तु स्थावर कायिक जीवों के एक भी नहीं होता। त्रियोगियों के तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं परन्तु अयोगियों के मात्र क्षायिक ही होता है। वेद की अपेक्षा तीनों वेदों में तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं परन्तु अपगत वेद वालों के औपशमिक और क्षायिक ही होते हैं। यहाँ वेद से तात्पर्य भाववेद से है। कषाय की अपेक्षा क्रोधादि चारों कषायों में तीनों होते हैं परन्तु अकषाय—कषाय रहित जीवों के औपशमिक और क्षायिक ये दो होते हैं। औपशमिक मात्र ग्यारहवें गुणस्थान में होता है। ज्ञान की अपेक्षा मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ज्ञान के धारक जीवों के तीनों होते हैं परन्तु केवलज्ञानियों के एक क्षायिक ही होता है। संयम की अपेक्षा सामायिक और छेदोपस्थापना संयम के धारक जीवों के तीनों होते हैं, परिहारविशुद्धिवालों के औपशमिक नहीं होता, शेष दो होते हैं, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात वालों के औपशमिक और क्षायिक ये दो होते हैं। और संयतासंयत तथा असंयतों के तीनों होते हैं। दर्शन की अपेक्षा चक्षु, अचक्षु और अवधि दर्शन के धारक जीवों के तीनों होते हैं परन्तु केवलदर्शन के धारक जीवों के एक क्षायिक ही होता है। लेश्या की अपेक्षा छहों लेश्या वालों के तीनों होते हैं परन्तु लेश्यारहित जीवों के एक क्षायिक ही होता है। भव्य जीवों की अपेक्षा भव्यों के तीनों होते हैं परन्तु अभव्यों के एक भी नहीं होता। सम्यक्त्व की अपेक्षा जहाँ जो सम्यग्दर्शन होता है वहाँ उसे ही जानना चाहिये। संज्ञा की अपेक्षा संज्ञियों के तीनों होते हैं असंज्ञियों के एक भी नहीं होता। संज्ञी और असंज्ञी के व्यपदेश से रहित सयोगकेवली और अयोगकेवली के एक क्षायिक ही होता है। आहार की अपेक्षा आहारकों के तीनों होते हैं, छद्मस्थ अनाहारकों के भी तीनों होते हैं परन्तु समुद्घातकेवली अनाहारकों के एक क्षायिक ही होता है।

**सम्यग्दर्शन के साधन क्या हैं?** इसका उत्तर सम्यग्दर्शन के अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग कारणों के प्रसङ्ग में आ गया है।

**सम्यग्दर्शन का अधिकरण क्या है?**

अधिकरण के बाह्य और आभ्यन्तर की अपेक्षा दो भेद हैं। आभ्यन्तर अधिकरण स्वस्वामि-सम्बन्ध के योग्य आत्मा ही है और बाह्य अधिकरण एक राजु चौड़ी तथा चौदह राजु लम्बी लोकनाड़ी है।

**सम्यग्दर्शन की स्थिति क्या है?**

औपशमिक सम्यग्दर्शन की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है। क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट [illegible] सागर प्रमाण है। क्षायिक सम्यग्दर्शन [illegible]

अपेक्षा जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त सहित आठ वर्ष कम दो करोड़ पूर्व वर्ष तथा तेतीस सागर की है।

## सम्यग्दर्शन का विधान क्या है ?

सम्यग्दर्शन के विधान—भेदों का वर्णन पिछले स्तम्भ में आ चुका है।

## सम्यक्त्व मार्गणा और उसका गुणस्थानों में अस्तित्व—

सम्यक्त्व मार्गणा के औपशमिक सम्यग्दर्शन, क्षायिक सम्यग्दर्शन, क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन, सम्यङ्मिथ्यात्व, सासादन और मिथ्यात्व ये छः भेद हैं। औपशमिक सम्यग्दर्शन के दो भेद हैं प्रथमोपशम और द्वितीयोपशम। इनमें प्रथमोपशम चौथे से लेकर सातवें तक और द्वितीयोपशम चौथे से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक होता है। क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन चौथे से लेकर सातवें तक होता है और क्षायिक सम्यग्दर्शन चौथे से लेकर चौदहवें तक तथा सिद्ध अवस्था में भी रहता है। सम्यङ्-मिथ्यात्व मार्गणा तीसरे गुणस्थान में, सासादनमार्गणा दूसरे गुणस्थान में और मिथ्यात्वमार्गणा पहले गुणस्थान में ही होती है। सम्यङ्मिथ्यात्वमार्गणा, सम्यङ्मिथ्यात्वप्रकृति के उदय से होती है। इसमें जीव के परिणाम दही और गुड़ के मिले हुए स्वाद के समान सम्यक्त्व और मिथ्यात्व-दोनोंरूप होते हैं। इस मार्गणा में किसी का मरण नहीं होता और न मारणान्तिक समुद्घात ही होता है। औपशमिक सम्यक्त्व का काल एक समय से लेकर छह आवली तक शेष रहने पर अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ में से किसी एक कषाय का उदय आने से जिसका सम्यक्त्व आसादना—विराधना से सहित हो गया है वह सासादन कहलाता है। जहाँ मिथ्यात्वप्रकृति के उदय से अतत्त्वश्रद्धानरूप परिणाम होता है वह मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व के अगृहीत और गृहीत की अपेक्षा दो भेद, एकान्त, विपरीत, संशय, अज्ञान और वैनयिक की अपेक्षा पाँच भेद अथवा गृहीत, अगृहीत और सांशयिक की अपेक्षा तीन भेद होते हैं[1]।

## सम्यग्दर्शन के आठ अङ्ग—

जिन्हें मिला कर अङ्गी की पूर्णता होती है अथवा अङ्गी को अपना कार्य पूर्ण करने में जो सहायक होते हैं उन्हें अंग कहते हैं। मनुष्य के शरीर में जिस प्रकार हाथ, पैर आदि आठ अंग होते हैं उन आठ अंगों के मिलने से ही मनुष्य के शरीर की पूर्णता होती है और वे अंग ही उसे अपना कार्य पूर्ण करने में सहायक होते हैं उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के निःशङ्कित आदि आठ अंग हैं। इन आठ अंगों के मिलने से ही सम्यग्दर्शन की पूर्णता होती है और सम्यग्दर्शन को अपना कार्य करने में उनसे सहायता मिलती है। कुन्दकुन्दस्वामी ने अष्टपाहुड़ के अन्तर्गत चारित्रपाहुड़ में चारित्र के सम्यक्त्वाचरण और संयमाचरण इस तरह दो भेद कर सम्यक्त्वाचरण का निम्नलिखित गाथाओं में वर्णन किया है।

---

१ केषाचिदन्धतमसायतेऽगृहीतं ग्रहायतेऽन्येषाम्।
मिथ्यात्वमिह गृहीतं शल्यति सांशयिकमपरेषाम् ॥५॥ सा०ध०

एवं चिय णाऊण य सव्वे मिच्छत्तदोससंकाई।
परिहरि सम्मत्तमला जिणभणिया तिविहजोएण ॥६॥
णिस्संकिय णिक्कखिय णिव्विदिगिंछा अमूढदिट्ठी य।
उवगूहण ठिदिकरणं वच्छल्ल पहावणा य ते अट्ठ ॥७॥
तं चेव गुणविसुद्धं जिणसम्मत्तं सुमुक्खठाणाय।
जं चरइ णाणजुत्तं पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं ॥८॥

ऐसा जान कर हे भव्य जीवों! जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे हुए तथा सम्यक्त्व में मल उत्पन्न करने वाले शङ्का आदि मिथ्यात्व के दोषों का तीनों योगों से परित्याग करो।

निःशङ्कित, निःकाङ्क्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये आठ सम्यक्त्व के गुण हैं।

निःशङ्कितादि गुणों से विशुद्ध वह सम्यक्त्व ही जिनसम्यक्त्व कहलाता है तथा जिनसम्यक्त्व ही उत्तम मोक्षरूप स्थान की प्राप्ति के लिये निमित्तभूत है। ज्ञानसहित जिनसम्यक्त्व का जो मुनि आचरण करते हैं वह पहला सम्यक्त्वाचरण नामक चारित्र है।

भावार्थ यह है कि शंकादिक दोषों को दूर कर निःशंकितादि गुणरूप प्रवृत्ति करना सम्यक्त्वाचरण कहलाता है, यही दर्शनाचार कहलाता है। स्वरूपाचरण इससे भिन्न है।

चारित्रपाहुड के अतिरिक्त समयसार की गाथाओं ( २२८ से लेकर २३६ ) में भी कुन्द-कुन्द स्वामी ने सम्यग्दृष्टि के निःशंकित आदि गुणों का वर्णन किया है। यही आठ गुण आगे चलकर आठ अंगों के रूप में प्रचलित हुए हैं। रत्नकरण्डश्रावकाचार में समन्तभद्रस्वामी ने इन आठ अंगों का संक्षिप्त किन्तु हृदयग्राही वर्णन किया है। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में अमृतचन्द्रस्वामी ने भी इनके लक्षण बतलाने के लिए आठ श्लोक लिखे हैं। इन आठ अंगों की सार्थकता सम्यग्दर्शन का पूर्ण विकास करने के लिए आवश्यक है। इनकी आवश्यकता बतलाते हुए समन्तभद्रस्वामी ने लिखा है कि जिस प्रकार एक अक्षर से हीन मंत्र विष की वेदना को नष्ट करने में समर्थ नहीं होता है उसी प्रकार अंग हीन सम्यग्दर्शन संसार की सन्तति के छेदने में समर्थ नहीं होता है। [illegible]

[illegible]

सम्यग्दर्शन के अन्य गुणों की चर्चा—

प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य ये सम्यग्दर्शन के चार गुण हैं। बाह्य दृष्टि से ये भी सम्यग्दर्शन के लक्षण हैं। इनके स्वरूप का विचार पञ्चाध्यायी के उत्तरार्ध में विस्तार से किया गया है। संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—

[1]पंचेन्द्रियों के विषयों में और असंख्यात लोक प्रमाण क्रोधादिक भावों में स्वभाव से मन का शिथिल होना प्रशम भाव है। अथवा उसी समय अपराध करने वाले जीवों के विषय में कभी भी उनके मारने आदि की प्रयोजक बुद्धि का न होना प्रशमभाव है।

[2]धर्म में और धर्म के फल में आत्मा का परम उत्साह होना अथवा समानधर्म वालों में अनुराग का होना या परमेष्ठियों में प्रीति का होना संवेग है।

[3]अनुकम्पा का अर्थ कृपा है या सब जीवों पर अनुग्रह करना अनुकम्पा है या मैत्री भाव का नाम अनुकम्पा है या मध्यस्थभाव का रखना अनुकम्पा है या शत्रुता का त्याग कर देने से निःशल्य हो जाना अनुकम्पा है।

[4]स्वतः सिद्ध तत्त्वों के सद्भाव में निश्चय भाव रखना तथा धर्म, धर्म के हेतु और धर्म के फल में आत्मा की अस्ति आदि रूप बुद्धि का होना आस्तिक्य है।

उपर्युक्त प्रशमादिगुणों के अतिरिक्त सम्यग्दर्शन के आठ गुण और भी प्रसिद्ध हैं। जैसा कि निम्नलिखित गाथा से स्पष्ट है—

संवेओ णिव्वेओ णिंदा गरुहा य उवसमो भत्ती।
वच्छल्लं अनुकम्पा अट्ठ गुणा हुंति सम्मत्ते ।। (वसु० श्रावकाचार)

---

१ प्रशमो विषयेषूच्चैर्भावक्रोधादिकेषु च।
लोकासंख्यातमात्रेषु स्वरूपाच्छिथिलं मनः ॥४२६॥
सद्यःकृतापराधेषु यद्वा जीवेषु जातुचित्।
तद्वधादिविकाराय न बुद्धिः प्रशमो मतः ॥४२७॥ पञ्चाध्यायी।

२ संवेगः परमोत्साहो धर्मे धर्मफले चितः।
सधर्मेष्वनुरागो वा प्रीतिर्वा परमेष्ठिषु ॥४३१॥

३ अनुकम्पा कृपा ज्ञेया सर्वसत्त्वेष्वनुग्रहः।
मैत्रीभावोऽथ माध्यस्थ्यं नैःशल्यं वैरवर्जनात् ॥४३२॥

४ आस्तिक्यं तत्त्वसद्भावे स्वतः सिद्धे विनिश्चितिः।
धर्मे हेतौ च धर्मस्य फले चात्स्यादिमतिश्चितः ॥४५२॥ पंचाध्यायी उ०।

संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकम्पा ये सम्यक्त्व के आठ गुण हैं।

वास्तव में ये आठ गुण उपर्युक्त प्रशमादि चार गुणों से अतिरिक्त नहीं हैं क्योंकि संवेग, उपशम और अनुकम्पा ये तीन गुण तो प्रशमादि चार गुणों में नामोक्त ही हैं। निर्वेद, संवेग का पर्यायवाची है। तथा भक्ति और वात्सल्य संवेग के अभिव्यंजक होनेसे उसमें गतार्थ हैं तथा निन्दा और गर्हा उपशम ( प्रशम ) के अभिव्यंजक होनेसे उसमें गतार्थ हो जाते हैं।

## सम्यग्दर्शन और स्वानुभूति—

सम्यग्दर्शन दर्शनमोहनीय का त्रिक और अनन्तानुबन्धी का चतुष्क इन सात प्रकृतियों के अभाव ( अनुदय ) में प्रकट होनेवाला श्रद्धागुण का परिणमन है और स्वानुभूति स्वानुभूत्यावरणनामक मतिज्ञानावरण के अवान्तरभेद के क्षयोपशम से होनेवाला क्षायोपशमिक ज्ञान है। ये दोनों सहभावी हैं, इसलिए कितने ही लोग स्वानुभूति को ही सम्यग्दर्शन कहने लगते हैं पर वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। दोनों ही पृथक्-पृथक् गुण हैं। छद्मस्थ का ज्ञान लब्धि और उपयोगरूप होता है अर्थात् उसका ज्ञान कभी तो आत्मा के विषय में ही उपयुक्त होता है और कभी संसार के अन्य घट-पटादि पदार्थों में भी उपयुक्त होता है। अतः सम्यग्दर्शन और उपयोगात्मक स्वानुभूति की विषम व्याप्ति है। जहाँ स्वानुभूति होती है वहाँ सम्यग्दर्शन अवश्य होता है पर जहाँ सम्यग्दर्शन है वहाँ स्वानुभूति भी होती है और घट-पटादि अन्य पदार्थों की भी अनुभूति होती है। इतना अवश्य है कि लब्धिरूप स्वानुभूति सम्यग्दर्शन के साथ नियम से रहती है। यहाँ यह भी ध्यान में रखने योग्य है कि जीव को ज्ञान तो उसके क्षयोपशम के अनुसार स्व और पर की भूत, भविष्यत्, वर्तमान की अनेक पर्यायों का हो सकता है परन्तु उसे [illegible] वर्तमान पर्यायमात्र का ही होता है। वस्तुतः सम्यग्दर्शन सूक्ष्म है और वचनों का अविषय है इसलिये कोई भी जीव [illegible] से उसके कहने और सुनने का अधिकारी नहीं है अर्थात् वह कहने और सुनने की सामर्थ्य नहीं है कि यह सम्यग्दृष्टि है अथवा इसे सम्यग्दर्शन है। किन्तु ज्ञान के [illegible] से ही उसकी सिद्धि होती है। यहाँ ज्ञान से स्वानुभूतिरूप ज्ञान विवक्षित है। जिस जीव के यह स्वानुभूति होती है उसे सम्यग्दर्शन अवश्य होता है क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना स्वानुभूति नहीं होती। [illegible] है कि जिस समय सम्यग्दृष्टि जीव विषयभोग या युद्धादि कार्यों में संलग्न होता है उस समय [illegible] नहीं रहता है [illegible] यह है कि उसका सम्यग्दर्शन उसमें रहता है परन्तु उस [illegible] स्वानुभूति में उपयुक्त न होकर अन्य पदार्थों में उपयुक्त हो रहा है। इसलिए ऐसा

---

१ [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

जान पड़ता है कि इसका सम्यग्दर्शन नष्ट हो गया है पर वास्तविकता यह है कि उस अवस्था में भी सम्यग्दर्शन विद्यमान रहता है। लब्धि और उपयोगरूप परिणमन ज्ञान का है सम्यग्दर्शन का नहीं। सम्यग्दर्शन तो सदा जागरूक ही रहता है।

## सम्यग्दर्शन को घातने वाली प्रकृतियों की अन्तर्दशा—

मुख्यरूप से सम्यग्दर्शन को घातने वाली दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियाँ हैं—मिथ्यात्व, सम्यङ्-मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति। इनमें मिथ्यात्व का अनुभाग सबसे अधिक है, उसके अनन्तवें भाग सम्यङ्‌मिथ्यात्व का है और उसके अनन्तवें भाग सम्यक्त्वप्रकृति का है। इनमें सम्यक्त्वप्रकृति देशघाती है। इसके उदयसे सम्यग्दर्शनका घात तो नहीं होता, किन्तु चल, मलिन और अगाढ़ दोष लगते हैं। 'यह अरहन्तादिक मेरे हैं यह दूसरे के हैं' इत्यादिक भाव होने को चल दोष कहते हैं। शंकादिक दोषों का लगना मल दोष है और शान्तिनाथ शान्ति के कर्ता हैं इत्यादि भाव का होना अगाढ़ दोष है। ये उदाहरण व्यवहारमात्र हैं नियमरूप नहीं। परमार्थ से सम्यक्त्वप्रकृति के उदय में क्या दोष लगते हैं, उन दोषों के समय आत्मा में कैसे भाव होते हैं, यह प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय है। इतना नियमरूप जानना चाहिये कि सम्यक्त्वप्रकृति के उदय में सम्यग्दर्शन निर्मल नहीं रहता। क्षायोपशमिक या वेदक सम्यग्दर्शन में इस प्रकृति का उदय रहता है।

क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन को धारण करने वाला कर्मभूमिज मनुष्य जब क्षायिक सम्यग्दर्शन के सम्मुख होता है तब वह तीन करण करके मिथ्यात्व के परमाणुओं को सम्यङ्‌मिथ्यात्वरूप और सम्यक्त्वप्रकृति रूप परिणमाता है। उसके बाद सम्यङ्‌मिथ्यात्व के परमाणुओं को सम्यक्त्वप्रकृति रूप परिणमाता है, पश्चात् सम्यक्त्वप्रकृति के निषेक उदय में आकर खिरते हैं। उसकी अधिक स्थिति को स्थितिकाण्डकादि घात के द्वारा घटाता है। जब उसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त की रह जाती है तब कृतकृत्यवेदक सम्यग्दृष्टि कहलाता है। पश्चात् क्रम से इन निषेकों का नाश कर क्षायिक सम्यग्दृष्टि होता है। अनन्तानुबन्धी का स्वमुख प्रदेश क्षय नहीं होता किन्तु अप्रत्याख्यानावरणादिरूप करके उसकी सत्ता का नाश करता है जिसे विसंयोजन कहते हैं। इस प्रकार इन सात प्रकृतियों को सर्वथा नष्ट कर क्षायिक सम्यग्दृष्टि होता है।

सम्यक्त्व होते समय अनन्तानुबन्धी की दो अवस्थाएँ होती हैं—या तो स्तुबुक संक्रमण होता रहता है या विसंयोजन हो जाता है। अपूर्वादि करण करने पर उपशम विधान से जो उपशम होता है उसे प्रशस्त उपशम कहते हैं और उदयाभाव काल में जो प्रति समय संक्रमण होता है उसे स्तुबुक संक्रमण कहते हैं। इनमें अनन्तानुबन्धी का तो प्रशस्त उपशम होता नहीं है, मोह की अन्य प्रकृतियों का होता है। इसका जो विसंयोजन होता है उसे प्रशस्तोपशम भी कहते हैं। तीन करण कर अनन्तानुबन्धी के परमाणुओं को जो अन्य चारित्रमोहनीय की प्रकृतिरूप परिणमाया जाता है उसे विसंयोजन कहते हैं। प्रथमोपशम सम्यक्त्व में अनन्तानुबन्धी का स्तुबुक संक्रमण होता है। द्वितीयोपशम सम्यक्त्व की

[illegible] में अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना नियम से होती है ऐसा किन्हीं आचार्यों का मत है और किन्हीं आचार्यों का मत है कि विसंयोजना का नियम नहीं है। क्षायिक सम्यक्त्व में नियम पूर्वक विसंयोजना होती है। जिन उपशम और क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि के विसंयोजना के द्वारा अनन्तानुबन्धी की सत्ता का नाश होता है वह सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट होकर मिथ्यात्व में आने पर अनन्तानुबन्धी का जब नवीन बन्ध करता है तब ही उसकी सत्ता होती है। अथवा सासादन गुणस्थान में आने पर अप्रत्याख्यानावरणादि प्रकृतियों से अपना अवशिष्ट द्रव्य वापिस लेकर अपनी सत्ता बना लेती है।

यहाँ कोई प्रश्न कर सकता है कि जब अनन्तानुबन्धी चारित्रमोहनीय की प्रकृति है तब उसके द्वारा चारित्र का ही घात होना चाहिये, सम्यग्दर्शन का घात उसके द्वारा क्यों होता है? इसका उत्तर यह है कि अनन्तानुबन्धी भी सम्यक्त्व की घातक[1] है। दूसरी बात यह है कि इसके उदय में जो विपरीताभिनिवेश होता है वह सम्यक्त्व का घात करता है इसीलिये द्वितीय गुणस्थान के ज्ञान को कुज्ञान कहा है। इसका विपरीताभिनिवेश मिथ्यात्व के विपरीताभिनिवेश से भिन्न है अतः सम्यक्त्व का घात तो करता है किन्तु मिथ्यात्व को उत्पन्न नहीं करता।

प्रश्न—यदि अनन्तानुबन्धी चारित्रमोहनीय की प्रकृति है तो उसके उदय का अभाव होने पर असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में भी कुछ चारित्र होना चाहिये, उसे असंयत क्यों कहा जाता है?

उत्तर—अनन्तानुबन्धी का उदय अप्रत्याख्यानावरणादि के द्वारा रोके हुए संयम में मात्र अनन्त प्रवाह देता है, चारित्र को रोकता नहीं है इसीलिये इसके अभाव में चारित्र प्रकट नहीं होता, मात्र अनन्त प्रवाह समाप्त हो जाता है। यदि अनन्तानुबन्धी के अभाव में संयम माना जाय तो तृतीयगुणस्थान में एवं विसंयोजना करने वाले मिथ्यादृष्टि जीव के प्रथम गुणस्थान में भी एक आवली तक संयम का प्रसंग आ जायगा जो इष्ट नहीं है।

जो एकदेश चारित्र का घात करे वह अप्रत्याख्यानावरण है, जो सकलचारित्र का घात करे वह प्रत्याख्यानावरण है और जो यथाख्यात चारित्र का घात करे वह संज्वलन है। असंयत सम्यग्दृष्टि के अनन्तानुबन्धी का अभाव होने से कषाय की मन्दता होती है तथापि ऐसी मन्दता नहीं होती कि [illegible] ... [illegible]

1 [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

इतना जानना चाहिये कि कषायस्थान का नाम चारित्र नहीं है वह तो उसकी निर्मलता का घातक ही है किन्तु अप्रत्याख्यानावरण और अप्रत्याख्यानावरण के अनुदय से परिणामों में जो निर्मलता प्रकट होती है वह देशसंयम और सकल संयम है।

## सम्यग्दर्शन की महिमा—

सम्यग्दर्शन की महिमा बतलाते हुए समन्तभद्रस्वामी ने कहा है[1]—

'ज्ञान और चारित्र की अपेक्षा सम्यग्दर्शन श्रेष्ठता को प्राप्त होता है इसलिये मोक्षमार्ग में उसे कर्णधार—खेवटिया कहते हैं।

जिस प्रकार बीज के अभाव में वृक्ष की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फल की प्राप्ति नहीं होती उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के अभाव में सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फल की प्राप्ति नहीं होती।

'निर्मोह—मिथ्यात्व से रहित—सम्यग्दृष्टि गृहस्थ तो मोक्षमार्ग में स्थित है परन्तु मोहवान्—मिथ्यादृष्टि मुनि मोक्षमार्ग में स्थित नहीं है। मोही मुनि की अपेक्षा मोहरहित गृहस्थ श्रेष्ठ है।'

'तीनों कालों और तीनों लोकों में सम्यग्दर्शन के समान अन्य कोई वस्तु देहधारियों के लिए कल्याणरूप और मिथ्यात्व के समान अकल्याणरूप नहीं है।'

'सम्यग्दर्शन से शुद्ध पूर्वाबद्धायुष्क मनुष्य व्रतरहित होने पर भी नरक और तिर्यञ्च गति, नपुंसक और स्त्री पर्याय, नीचकुल, विकलाङ्गता, अल्पायु और दरिद्रता को प्राप्त नहीं होते।'

[2]यदि सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के पहले किसी मनुष्य ने नरक आयु का बन्ध कर लिया है तो वह पहले नरक से नीचे नहीं जाता है। यदि तिर्यञ्च और मनुष्यायु का बन्ध कर लिया है तो भोगभूमि का तिर्यञ्च और मनुष्य होता है और यदि देवायु का बन्ध किया है तो वैमानिक देव ही होता है, भवनत्रिकों में उत्पन्न नहीं होता। सम्यग्दर्शन के काल में यदि तिर्यञ्च और मनुष्य के आयुबन्ध होता है तो नियम से देवायु का ही बन्ध होता है और नारकी तथा देव के नियम से मनुष्यायु का ही बन्ध होता है।[3] सम्यग्दृष्टि जीव किसी भी गति की स्त्री पर्याय को प्राप्त नहीं होता। मनुष्य और तिर्यञ्च गति में नपुंसक भी नहीं होता।'

'सम्यग्दर्शन से पवित्र मनुष्य, ओज, तेज, विद्या, वीर्य, यश, वृद्धि, विजय और वैभव से सहित उच्च कुलीन, महान् अर्थ से सहित श्रेष्ठ मनुष्य होते हैं।'

---

१ रत्नकरण्डश्रावकाचार ३१-४१ तक।

२ दुर्गतावायुषो बन्धे सम्यक्त्वं यस्य जायते।
गतिच्छेदो न तस्यास्ति तथाप्यल्पतरा स्थितिः॥

३ हेट्ठिमछप्पुढवीणं जोइसिवणभवणसव्वइत्थीणं।
पुण्णिदरे ण हि सम्भो ण सासणो णारयापुण्णे ॥१२७॥ जी० का०

'सम्यग्दृष्टि मनुष्य यदि स्वर्ग जाते हैं तो वहाँ अणिमा आदि आठ गुणों की पुष्टि से सन्तुष्ट तथा सातिशय शोभा से युक्त होते हुए देवाङ्गनाओं के समूह में चिर काल तक क्रीडा करते हैं।'

'सम्यग्दृष्टि जीव स्वर्ग से आकर नौ निधि और चौदह रत्नों के स्वामी समस्त भूमि के अधिपति तथा मुकुटबद्ध राजाओं के द्वारा वन्दित चरण होते हुए सुदर्शन चक्र को वर्तानें में समर्थ होते हैं— चक्रवर्ती होते हैं।'

'सम्यग्दर्शन के द्वारा पदार्थों का ठीक-ठीक निश्चय करने वाले पुरुष अमरेन्द्र, असुरेन्द्र, नरेन्द्र तथा मुनीन्द्रों के द्वारा स्तुतचरण होते हुए लोक के शरणभूत तीर्थंकर होते हैं।'

'सम्यग्दृष्टि जीव अन्त में उस मोक्ष को प्राप्त होते हैं जो जरा से रहित है, रोग रहित है, जहाँ सुख और विद्या का वैभव चरम सीमा को प्राप्त है तथा जो कर्ममल से रहित है।' सम्यग्दर्शन की वास्तविक महिमा यह है कि वह अनन्त संसार को काट कर अर्ध पु० कर देता है अर्थात् अपरिमित संसार को परिमित कर देता है। ( ध० पु० ५ पृ० ११ )

'जिनेन्द्र भगवान् में भक्ति रखने वाला—सम्यग्दृष्टि भव्य मनुष्य, अपरिमित महिमा से युक्त इन्द्रसमूह की महिमा को, राजाओं के मस्तक से पूजनीय चक्रवर्ती के चक्ररत्न को और समस्त लोक को नीचा करने वाले धर्मेन्द्रचक्र—तीर्थंकर के धर्मचक्र को प्राप्त कर निर्वाण को प्राप्त होता है।

## सम्यग्दर्शन और अनेकान्त—

पदार्थ द्रव्यपर्यायात्मक है। अतः उसका निरूपण करने के लिये आचार्यों ने द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय इन दो नयों को स्वीकृत किया है। द्रव्यार्थिक नय मुख्यरूप से द्रव्य का निरूपण करता है और पर्यायार्थिक नय मुख्यरूप से पर्याय को विषय करता है। अध्यात्मप्रधान ग्रन्थों में निश्चयनय और व्यवहारनय की चर्चा आती है। निश्चयनय गुण-गुणी के भेद से रहित तथा परके संयोग से शून्य शुद्ध वस्तुतत्त्व का कथन करता है और व्यवहारनय, गुण-गुणी के भेदरूप तथा परके संयोग से उत्पन्न अवस्था से युक्त वस्तुतत्त्व का प्रतिपादन करता है। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक तथा निश्चय और व्यवहार नय के विषय परस्पर विरोधी हैं। द्रव्यार्थिकनय पदार्थ को नित्य तथा एक कहता है तो पर्यायार्थिकनय अनित्य तथा अनेक कहता है। निश्चयनय आत्मा को स्वभावरूप तथा अभेदरूप [illegible] कहता है तो व्यवहारनय विभावरूप पर्यायों [illegible] भेदरूप बतलाता है। नयों के इस विरोध को दूर [illegible] परस्पर विरोधी धर्मों [illegible] [illegible]

सकता है।[1] सम्यग्दृष्टि जीव निश्चयाभास, व्यवहाराभास और उभयाभास को समझ कर उन्हें छोड़ता है तथा वास्तविक वस्तुस्वरूप को ग्रहणकर कल्याणपथ में प्रवर्तता है।

## सम्यग्दृष्टि की अन्तर्दृष्टि—

श्री अमृतचन्द्र स्वामी ने कहा है—'सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञान-वैराग्यशक्तिः' सम्यग्दृष्टि जीव के नियम से ज्ञान और वैराग्य की शक्ति प्रकट हो जाती है इसलिए वह संसार के कार्य करता हुआ भी अपनी दृष्टि को अन्तर्मुखी रखता है। 'मैं अनन्त ज्ञान का पुञ्ज, शुद्ध—रागादि के विकार से रहित चेतन द्रव्य हूँ, मुझमें अन्य द्रव्य नहीं हैं, मैं अन्य द्रव्य में नहीं हूँ और आत्मा के अस्तित्व में दिखने वाले रागादिक भाव मेरे स्वभाव नहीं हैं।' इस प्रकार स्वरूप की ओर दृष्टि रखने से सम्यग्दृष्टि जीव, अनन्त संसार के कारणभूत बन्ध से बच जाता है। प्रशम-संवेगादि गुणों के प्रकट हो जाने से उसकी कषाय का वेग ईंधनरहित अग्नि के समान उत्तरोत्तर घटता जाता है। यहाँ तक कि बुराई होने पर उसकी कषाय का संस्कार छह महीने से ज्यादा नहीं चलता। यदि छह माह से अधिक कषाय का संस्कार किसी मनुष्य का चलता है तो उसके अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय है और उसके रहते हुए वह नियम से मिथ्यादृष्टि है[2] ऐसा समझना चाहिये। सम्यग्दृष्टि जीव अपनी वैराग्यशक्ति के कारण सांसारिक कार्य करता हुआ भी जल में रहने वाले कमलपत्र के समान निर्लिप्त रहता है। वह मिथ्यात्व, अन्याय और अभक्ष्य का त्यागी हो जाता है। भय, आशा, स्नेह या लोभ के वशीभूत होकर कभी भी कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरुओं की उपासना नहीं करता। किसी पर स्वयं आक्रमण नहीं करता। हाँ, किसी के द्वारा अपने ऊपर आक्रमण होने पर आत्मरक्षा के लिए युद्ध आदि भी करता है। मांस-मदिरा आदि अभक्ष्य पदार्थों का सेवन नहीं करता। तात्पर्य यह है कि सम्यक्दृष्टि की चाल-ढाल ही बदल जाती है।

# सम्यग्ज्ञान

मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत जीवाजीवादि सात तत्त्वों को संशय विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित जानना सम्यग्ज्ञान है। यह सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन के साथ ही होता है—जिस प्रकार मेघपटल के दूर होने पर सूर्य का प्रताप और प्रकाश एक साथ प्रकट हो जाते हैं उसी प्रकार मिथ्यात्व का आवरण दूर होने पर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक साथ प्रकट हो जाते हैं। यद्यपि ये दोनों एक साथ प्रकट होते हैं फिर भी दीपक और प्रकाश के समान दोनों में कारण-कार्यभाव हैं। अर्थात् सम्यग्दर्शन कारण है और सम्यग्ज्ञान कार्य है। यहाँ प्रश्न उठता है कि जब पदार्थ का सम्यग्ज्ञान होगा तभी तो सम्यक् श्रद्धा होकर सम्यग्दर्शन हो सकेगा, इसलिए सम्यग्ज्ञान को कारण और सम्यग्दर्शन को कार्य मानना चाहिए ?

---

१ व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थः।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः॥ पुरुषार्थ०

२ अंतोमुहुत्त पक्खो छम्मासं संख संख णंतभवं।
संजलणमादियाणं वासणकालो दु णियमेण ॥गो०क०कां०

उत्तर—यह है कि सम्यग्दर्शन होने के पहले इतना ज्ञान तो होता ही है कि जिसके द्वारा तत्त्वस्वरूप का निर्णय किया जा सके, परन्तु उस ज्ञान में सम्यक्पद का व्यवहार तभी होता है जब सम्यग्दर्शन हो जाता है। पिता और पुत्र साथ-ही-साथ उत्पन्न होते हैं क्योंकि जब तक पुत्र नहीं हो जाता तबतक उस मनुष्य को पिता नहीं कहा जा सकता, पुत्र के होते ही पिता कहलाने लगता है। पुत्र होने के पहले वह, मनुष्य तो था, पर पिता नहीं। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन के होने के पहले ज्ञान तो रहता है पर उसे सम्यग्ज्ञान नहीं कहा जा सकता। सम्यग्ज्ञान का व्यवहार सम्यग्दर्शन के होने पर ही होता है। जिस प्रकार पिता-पुत्र साथ-साथ होने पर भी पिता कारण कहलाता है और पुत्र कार्य, उसी प्रकार साथ-साथ होने पर भी सम्यग्दर्शन कारण और सम्यग्ज्ञान कार्य कहलाता है।

यह सम्यग्ज्ञान मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल के भेद से पाँच प्रकार का है। इनमें मति और श्रुत ज्ञान परोक्ष ज्ञान कहलाते हैं क्योंकि उनकी उत्पत्ति इन्द्रियादि परपदार्थों की सहायता से होती है और अवधि, मनःपर्यय तथा केवल ये तीन प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाते हैं क्योंकि इनकी उत्पत्ति इन्द्रियादि परपदार्थों की सहायता से न होकर स्वतः होती है। इनमें भी अवधि और मनःपर्ययज्ञान एक देश प्रत्यक्षज्ञान कहलाते हैं क्योंकि सीमित क्षेत्र और सीमित पदार्थों को ही जानते हैं परन्तु केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष कहलाता है क्योंकि वह लोकालोक के समस्त पदार्थों को स्पष्ट जानता है।

मतिज्ञान—जो पाँच इन्द्रियों और मन की सहायता से पदार्थ को जानता है वह मतिज्ञान कहलाता है। इसके मूल में अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार भेद होते हैं। ये चार भेद बहु आदि बारह प्रकार के पदार्थों के होते हैं इसलिये बारह में चार का गुणा करने पर अड़तालीस भेद होते हैं। ये अड़तालीस भेद पाँच इन्द्रियों और मन के द्वारा होते हैं इसलिए अड़तालीस में छह का गुणा करने पर दो सौ अठासी भेद होते हैं। अवग्रह के व्यञ्जनावग्रह और अर्थावग्रह इस प्रकार दो भेद हैं। व्यञ्जनावग्रह—अस्पष्ट पदार्थ का अवग्रह चक्षु और मन से नहीं होता, इसलिए बहु आदि बारह पदार्थों में चार का गुणा करने पर इसके अड़तालीस भेद होते हैं। अर्थावग्रह के उपर्युक्त भेद दो सौ अठासी में शामिल हो गये हैं। उन्हीं दो सौ अठासी में व्यञ्जनावग्रह के अड़तालीस भेद जोड़ देने से मतिज्ञान के कुल भेद तीन सौ छत्तीस होते हैं। मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध—अनुमान आदि मतिज्ञान के ही विभिन्न नामान्तर हैं।

[illegible]

[illegible]

इसका भावार्थ विशेषार्थ में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—यहाँ मतिज्ञान के अवान्तरभेदों का विस्तार के साथ विवेचन किया गया है। मूल में अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार भेद हैं। इन्हें पाँच इन्द्रिय और मन से गुणित करने पर २४ भेद होते हैं। इनमें व्यञ्जनावग्रह के ४ भेद मिलाने पर २८ भेद होते हैं। ये २८ उत्तरभेद हैं, इसलिए इनमें अवग्रह आदि ४ मूलभंग मिलाने पर ३२ भेद होते हैं। ये तो इन्द्रियों और अवग्रह आदि की अलग-अलग विवक्षा से भेद हुए। अब जो बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिःसृत, अनुक्त और ध्रुव ऐसे ६ प्रकार के पदार्थ तथा इनके प्रतिपक्षभूत ६ इतर पदार्थों को मिलाकर बारह प्रकार के पदार्थ बतलाये हैं उनसे अलग उक्त विकल्पों को गुणित किया जाता है तो सूत्रोक्त मतिज्ञान के सभी विकल्प उत्पन्न होते हैं। यथा—४×६=२४, २४×६=१४४, २६×६=१९२; ४×१२=४८, २४×१२=२८८, २८×१२=३३६, ३२×१२=३८४।

उक्त सन्दर्भानुसार विवक्षावश मतिज्ञान के ३८४ भेद भी होते हैं। धवला के इसी सन्दर्भ में अवग्रह के अवग्रह, अवधान, सान, अवलम्बना और मेधा, ईहा के—ईहा, ऊहा, अपोहा, मार्गणा, गवेषणा और मीमांसा, अवाय के—अवाय, व्यवसाय, बुद्धि, विज्ञप्ति, आमुण्डा और प्रत्यामुण्डा तथा धारणा के—धरणी, धारणा, स्थापना, कोष्ठा और प्रतिष्ठा ये एकार्थक—पर्यायवाची नाम दिये हैं। इनका शब्दार्थ धवला से ही ज्ञात करना चाहिये।

**श्रुतज्ञान**—मतिज्ञान के बाद अस्पष्ट अर्थ की तर्कणा को लिये हुए जो ज्ञान होता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। यह श्रुतज्ञान पर्याय, पर्यायसमास आदि बीस भेदों में क्रम से वृद्धि को प्राप्त होता है। दूसरी शैली से श्रुतज्ञान के अङ्गबाह्य और अङ्गप्रविष्ट की अपेक्षा दो भेद होते हैं। इनमें अङ्गबाह्य के अनेक भेद हैं और अंगप्रविष्ट के १. आचाराङ्ग २. सूत्रकृतांग, ३. स्थानांग, ४. समवायांग, ५, व्याख्याप्रज्ञप्ति अंग, ६. धर्मकथांग, ७. उपासकाध्ययनांग, ८. अन्तकृद्दशांग, ९. अनुत्तरौपपादिकदशांग, १०. प्रश्नव्याकरणांग, ११ विपाकसूत्रांग और १२. दृष्टिवादांग ये बारह भेद हैं। इनमें बारहवें दृष्टिवाद अंग के १. परिकर्म, २ सूत्र, ३. प्रथमानुयोग, ४. पूर्वगत और ५. चूलिका इस प्रकार पाँच भेद हैं। परिकर्म के १. चन्द्रप्रज्ञप्ति, २. सूर्यप्रज्ञप्ति, ३. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ४, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति और ५, व्याख्याप्रज्ञप्ति इस प्रकार पाँच भेद हैं। पूर्वगत के १. उत्पाद पूर्व, २, अग्रायणीयपूर्व, ३. वीर्यानुवादपूर्व, ४. अस्तिनास्तिपूर्व, ५. ज्ञानप्रवादपूर्व, ६ सत्यप्रवादपूर्व, ७ आत्मप्रवादपूर्व, ८. कर्मप्रवादपूर्व, ९. प्रत्याख्यान-पूर्व, १०. विद्यानुवादपूर्व, ११. कल्याणवादपूर्व, १२, प्राणवादपूर्व, १३. क्रियाविशालपूर्व और १४. त्रिलोकबिन्दुसार ये चौदह भेद हैं। चूलिका के १. जलगता, २. स्थलगता, ३. मायागता, ४. आकाशगता और ५. रूपगता इस प्रकार पाँच भेद हैं। सूत्र और प्रथमानुयोग का एक-एक ही भेद है।

अङ्गबाह्य के १. सामायिक, २. चतुर्विंशतिस्तव, ३. वन्दना, ४. प्रतिक्रमण, ५. वैनयिक, ६. कृतिकर्म, ७. दशवैकालिक, ८ उत्तराध्ययन, ९. कल्पव्यवहार, १०. कल्प्याकल्प्य, ११. महाकल्प, १२. पुण्डरीक, १३. महापुण्डरीक और १४. निषिद्धका ये चौदह भेद हैं।

इन सबके वर्णनीय विषय तथा पद आदि की संख्या के लिये जीवकाण्ड की श्रुतज्ञान मार्गणा देखना चाहिये।

यह श्रुतज्ञान स्वार्थ और परार्थ की अपेक्षा दो प्रकार का है। उनमें परार्थ श्रुतज्ञान द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक, नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द समभिरूढ और एवंभूतनय, अर्थनय, शब्दनय, निश्चयनय तथा व्यवहारनय आदि भेदों को लिये हुए अनेक नयरूप है।

समन्तभद्रस्वामी ने रत्नकरण्डश्रावकाचार में सम्यग्ज्ञान का अधिक विस्तार न कर मात्र श्रुतज्ञान की मुख्यता देते हुए समस्त शास्त्रों को १. प्रथमानुयोग, २. करणानुयोग, ३. चरणानुयोग और ४. द्रव्यानुयोग के भेद से चार अनुयोगों में विभक्त किया है। मनुष्य, इन चार अनुयोगों का अभ्यास कर अपने श्रुतज्ञानरूप सम्यग्ज्ञान को पुष्ट कर सकता है। अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान तो तत्तद् आवरणों का अभाव होने पर स्वयं प्रगट हो जाते हैं, उनमें मनुष्य का पुरुषार्थ नहीं चलता। पुरुषार्थ चलता है सिर्फ अनुयोगात्मक श्रुतज्ञान में। अतः आलस्य छोड़कर चारों अनुयोगों का अभ्यास करना चाहिये।

**अवधिज्ञान —**

परपदार्थों की सहायता के बिना द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा लिये हुए रूपी पदार्थों को जो स्पष्ट जाने उसे अवधिज्ञान कहते हैं यह अवधिज्ञान, भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय के भेद से दो प्रकार का होता है। भवप्रत्ययनामका अवधिज्ञान देव और नारकियों के होता है, मनुष्यों में तीर्थंकरों के भी होता है। सर्वाङ्ग से होता है। गुणप्रत्यय अवधिज्ञान पर्याप्त मनुष्य संज्ञी और पंचेन्द्रिय पर्याप्तक तिर्यंचों के होता है। यह नाभि के ऊपर स्थित शंखादि चिह्नों से होता है। इसके अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थित इस प्रकार छः भेद होते हैं। इनकी परिभाषाएँ नामों से स्पष्ट हैं। भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय—दोनों ही अवधिज्ञानों में अन्तरङ्ग कारण अवधिज्ञानावरणकर्म का क्षयोपशम है।

इसके सिवाय अवधिज्ञान के देशावधि, परमावधि और सर्वावधि ये तीन भेद और होते हैं। ऊपर कहा हुआ भवप्रत्यय अवधिज्ञान देशावधि में अन्तर्भूत होता है। देशावधि चारों गतियों में हो [illegible] है परन्तु परमावधि और सर्वावधि चरमशरीरी मुनियों के ही होते हैं। देशावधिज्ञान प्रतिपाती है [illegible] अप्रतिपाती है। [illegible] मुनि मिथ्यात्व और असंयम अवस्था को प्राप्त [illegible] अवधिज्ञानों का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट विषय [illegible] अवधिज्ञान [illegible] है।

[illegible] मिथ्यादृष्टि [illegible] विभङ्गज्ञान [illegible]
है [illegible] है।

## मनःपर्ययज्ञान—

इन्द्रियादिक की सहायता के बिना दूसरे के मन में स्थित रूपी पदार्थों को जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा लिये हुए स्पष्ट जानता है उसे मन:पर्ययज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान मुनियों के ही होता है गृहस्थों के नहीं। इसके दो भेद हैं—एक ऋजुमति और दूसरा विपुलमति। ऋजुमति, सरल मन-वचन-काय से चिन्तित, परके मन में स्थित, रूपी पदार्थ को जानता है और विपुलमति सरल तथा कुटिलरूप मन-वचन काय से चिन्तित परके मन में स्थित रूपी पदार्थ को जानता है। ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति में विशुद्धि अधिक होती है। ऋजुमति सामान्य मुनियों को भी हो जाता है परन्तु विपुलमति उन्हीं मुनियों के होता है जो उपरितन गुणस्थानों से गिर कर नीचे नहीं आते। तथा तद्भवमोक्षगामी होते हैं। इसके दोनों भेदों का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट विषय आगमग्रन्थों से जानना चाहिये। मन:पर्ययज्ञान ईहामतिज्ञानपूर्वक होता है। इसका अन्तरङ्ग कारण मन:पर्ययज्ञानावरण का क्षयोपशम है।

## केवलज्ञान—

जो बाह्य पदार्थों की सहायता के बिना लोकालोक के समस्त पदार्थों को उनकी त्रिकाल सम्बन्धी अनन्त पर्यायों के साथ स्पष्ट जानता है उसे केवलज्ञान कहते हैं इसकी उत्पत्ति मोहनीय तथा शेष तीन घातियाकर्मों का क्षय होने पर तेरहवें गुणस्थान में होती है। यह क्षायिक ज्ञान कहलाता है और तद्भवमोक्षगामी मनुष्यों के ही होता है। इसे सकलप्रत्यक्ष भी कहते हैं। यह ज्ञानगुण की सर्वोत्कृष्ट पर्याय है तथा सादि अनन्त है। इसे प्राप्त कर मनुष्य देशोनकोटि वर्ष पूर्व के भीतर नियम से मोक्ष चला जाता है। यह ज्ञान इच्छा के बिना ही पदार्थों को जानता है।

## प्रमाण और नय—

तत्त्वार्थसूत्रकार ने जीवाजीवादि तत्त्वों तथा सम्यग्दर्शनादि गुणों के जानने के उपायों की चर्चा करते हुए 'प्रमाणनयैरधिगमः' इस सूत्र द्वारा प्रमाण और नयों का उल्लेख किया है। जो वस्तु में रहने वाले अस्ति-नास्ति, एक-अनेक, भेद-अभेद आदि समस्त धर्मों को एक साथ ग्रहण करता है उसे प्रमाण कहते हैं और जो उपर्युक्त धर्मों को गौणमुख्य करता हुआ क्रम से ग्रहण करता है उसे नय कहते हैं। प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष की अपेक्षा दो भेद हैं। प्रत्यक्ष भी सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष और पारमार्थिक प्रत्यक्ष के भेद से दो प्रकार का है। अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान ये दो ज्ञान एकदेशप्रत्यक्ष कहलाते हैं और केवलज्ञान सकलप्रत्यक्ष कहलाता है।

परोक्ष प्रमाण के स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम के भेद से पांच भेद हैं। इन सबके लक्षण अन्य ग्रन्थों से जानना चाहिये।

नय के मुख्यरूप से द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इस प्रकार दो भेद हैं। द्रव्यार्थिक के नैगम, संग्रह और व्यवहार ये तीन भेद हैं और पर्यायार्थिक नय के ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत इस प्रकार चार भेद हैं। अथवा अर्थनय और शब्दनय की अपेक्षा नय के दो भेद हैं। नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र ये चार अर्थनय हैं और शब्द, समभिरूढ तथा एवंभूत ये तीन शब्दनय हैं।

# सम्यक्चारित्र

समन्तभद्र स्वामी ने सम्यक् चारित्र प्राप्त होने का क्रम, स्वामी और उद्देश्य का वर्णन करते हुए रत्नकरण्डकश्रावकाचार में कहा है—

मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः।
रागद्वेषनिवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः।।

मोह—मिथ्यात्व रूपी अन्धकार का नाश होने पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होने से जिसे सम्यग्ज्ञान प्राप्त हो चुका है ऐसा साधु—भव्यजीव, राग-द्वेष को दूर करने के लिये चारित्र को प्राप्त होता है।

जिनागम में मिथ्यादृष्टि के ज्ञान और चारित्र की कुछ भी प्रतिष्ठा नहीं है। मिथ्यात्व रूपी अन्धकार के नष्ट होने पर ही इस जीव को स्व-पर का भेदविज्ञान होता है—मैं ज्ञाता द्रष्टास्वभाव वाला चेतन द्रव्य हूँ और मेरे साथ लग रहे भावकर्म, द्रव्यकर्म तथा नोकर्म अचेतन द्रव्य हैं। इस भेद विज्ञान के होने पर ही इस जीव का लक्ष्य अपने स्वभाव तथा उस पर लगे हुए विभाव की ओर जाता है। अहो! रागद्वेष रूप विभाव अनादि काल से साथ लग कर मेरे वीतराग स्वभाव को दबाये हुए हैं इनके नष्ट करने का मैंने आज तक पुरुषार्थ किया ही नहीं। सच बात तो यह है कि इस मिथ्यात्व रूपी तिमिर में मुझे स्वभाव और विभाव की परख हुई ही नहीं, इन्हें नष्ट करने का भाव कैसे होता? परन्तु आज पुण्योदय से वह मिथ्यात्व रूपी अन्धकार नष्ट हो गया है। इसलिये मुझे स्पष्ट रूप से स्वभाव और विभाव की परख हो रही है। अब मैं इस विभाव को अपने शुद्ध चैतन्य से दूर करने का पुरुषार्थ करता हूँ। ऐसा दृढ़ निश्चय कर यह पुरुष चारित्र को धारण करता है। [illegible] ऐसा भाव संसार का ही कारण है। चारित्र धारण करने का मूल प्रयोजन तो रागद्वेष को दूर करना है।

[illegible] विभाव के [illegible] होने से [illegible] और [illegible] से निवृत्ति—उदासीन [illegible] पिता, माता, स्त्री [illegible]

मेरा परस्वभाव ही है। इस तरह बन्धुवर्ग से निर्ममत्व होता हुआ; गुणी, कुल, रूप तथा अवस्था से विशिष्ट सुयोग्य गणी—आचार्य के पास जाकर गद्‌गद कण्ठ से प्रार्थना करता है। हे प्रभो ! मां प्रतीच्छ—हे प्रभो ! मुझे स्वीकृत करो, मैं संसार के इस जन्म मरण से भयभीत हो चुका हूँ, मेरी रक्षा करो। मैंने निश्चय कर लिया है कि मैं किसी अन्य का नहीं हूँ और न कोई अन्य मेरा है। मैंने अपनी इन इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर ली है। मैं यथाजात—दिगम्बर मुद्रा धारण करना चाहता हूँ।

आचार्य की कृपापूर्ण दृष्टि को प्राप्त कर वह उनकी आज्ञानुसार उस जिनलिङ्ग—दिगम्बर वेष को धारण करता है जो तत्कालोत्पन्न बालक के समान निर्ग्रन्थ होता है, जिसमें पहिले केशलोंच करना पड़ता है, जो हिंसादि पापों से रहित है, जिसमें किसी सजावट की आवश्यकता नहीं है सब प्रकार के आरम्भ और मूर्च्छाभाव—ममत्व परिणाम जिसमें छूट जाते हैं। जो उपयोग और योग सम्बन्धी शुद्धि से सहित है, परकी अपेक्षा से रहित है तथा अपुनर्भव का कारण है—मोक्ष प्राप्ति का परम सहायक है।

[1]पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पंचेन्द्रियनिरोध, षडावश्यक, केशलोंच, वस्त्रत्याग, अस्नान, भूमिशयन, अदन्तधावन, स्थिति भोजन और एक बार भोजन इन अट्ठाईस मूलगुणों को धारण करता है। सप्तम गुणस्थान की भूमिका में पहुंच कर भावलिङ्गी मुनिराज बनकर अप्रमत्त दशा के उस आत्मीक आनन्द का अनुभव करता है जो आज तक उसे प्राप्त हुआ ही नहीं था।

आचार्य कहते हैं कि ऐसा भावलिङ्ग इस जीव को बत्तीस बार से अधिक धारण नहीं करना पड़ता। उतने के मध्य ही यह जीव संसार सागर से पार हो जाता है। द्रव्यलिङ्ग धारण करने की कुछ सीमा नियत नहीं है। उसे यह जीव अनन्त बार धारण करता है परन्तु संसार सागर से पार होने का अवसर नहीं आता। अन्तर्मुहूर्तबाद प्रमाद का उदय आने के कारण सप्तम गुणस्थान की भूमिका से उतर कर छठवें गुणस्थान की भूमिका में आता है परन्तु फिर अपनी अप्रमत्त दशा का चिन्तन कर सप्तम गुणस्थान की भूमिका में प्रवेश करता है। इस प्रकार षष्ठ और सप्तम गुणस्थान की भूमिका में हजारों बार आरोहण और अवरोहण कर कदाचित् यह जीव उपरितन गुणस्थानों में प्रवेश कर उपशम श्रेणी या क्षपकश्रेणी मांडता है। उपशम श्रेणी से चढ़कर ग्यारहवें गुणस्थान तक पहुँचता है किन्तु चारित्रमोह का उदय आने के कारण वहाँ से पतन कर नीचे आता है। पुनः पुरुषार्थ करता है और क्षपकश्रेणी का आलम्बन प्राप्त कर दशम गुणस्थान के अन्त में पतन का कारण जो मोह कर्म था उसके अस्तित्व को समाप्त कर छद्मस्थ वीतराग दशा को प्राप्त होता है। वहाँ उस निर्विकल्प यथाख्यात चारित्र को प्राप्त कर स्वरूप में समावेश करता है जिसमें कि ध्यान, ध्याता आदि का कुछ भी विकल्प शेष नहीं रह जाता। शुक्ल ध्यानरूपी अग्नि में घातियाकर्मरूपी ईंधन को भस्म कर वीतराग सर्वज्ञ दशा को प्राप्त हो जाता है। आचार्य कहते हैं कि वीतराग भाव की अपरम्पार महिमा को देख, उसके प्राप्त

---

१ वदसमदिंदियरोधो लोचावस्सकमचेलमह्लाणं।
खिदिसयणमदंतवणं ठिदिभोयणमेयभत्तं च ॥८॥ प्रवचन० चारित्राधिकार

होने पर यह आत्मा नियम से अन्तर्मुहूर्त के भीतर सर्वज्ञ दशा को प्राप्त करता है। क्षपक श्रेणी वाला जीव दशम गुणस्थान के बाद बारहवें गुणस्थान में जाता है और वहाँ अन्तर्मुहूर्त रुककर शेष घातिया कर्मों का क्षय कर तेरहवें गुणस्थान में अरहन्त अवस्था प्राप्त करता है। इसके प्राप्त करने पर यदि आयु कर्म की स्थिति अल्प है तो अन्तर्मुहूर्त में ही सर्व कर्म क्षय करके निर्वाण को प्राप्त हो जाता है और आयुकर्म की स्थिति अधिक है तो अधिक से अधिक आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त कम एक करोड़ वर्ष पूर्व तक इस मनुष्य शरीर में रहता है इसके बाद नियम से अशरीर अवस्था को प्राप्त होता है।

इस प्रकार मोक्ष का साक्षात् कारण सम्यक् चारित्र है इसके बिना मोक्ष प्राप्त होने वाला नहीं। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान को प्राप्त कर तो यह जीव सागरों पर्यन्त इस संसार में वास करता है परन्तु सम्यक् चारित्र प्राप्त कर अन्तर्मुहूर्त में भी संसार से पार हो जाता है। मोह—मिथ्यात्व और क्षोभ—रागद्वेष से रहित आत्मा की जो निर्मल परिणति है वही चारित्र कहलाती है। इस निर्मल परिणति को प्राप्त करने के लिये सहायक महाव्रतादि के आचरण रूप जो प्रवृत्ति है वह भी उपचार से सम्यक्चारित्र कहलाती है।

चरणानुयोग हमें आज्ञा देता है कि हे भव्य ! तू संसार सागर से पार होना चाहता है तो बुद्धिपूर्वक महाव्रतादि के आचरण रूप व्यवहार चारित्र का आलम्बन ले। इसका आलम्बन लेकर ही तू इस निर्विकल्प निश्चयचारित्र को प्राप्त कर सकता है। इसके बिना उसकी प्राप्ति सम्भव ही नहीं है।

यहाँ प्रसंग पाकर व्यवहार चारित्र के अन्तर्गत मुनि के २८ मूल गुणों का कुछ विशद वर्णन किया जाता है—

**महाव्रत**—हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह इन पांच पापों का सर्वदेश त्याग करना महाव्रत कहलाता है इसके निम्न प्रकार पांच भेद हैं—

**१ अहिंसा महाव्रत**—त्रस और स्थावर जीवों की संकल्पी, आरम्भी, विरोधी और उद्यमी—चारों प्रकार की हिंसा का मन वचन काय और कृत, कारित, अनुमोदना इन नौ कोटियों से त्याग करना अहिंसा महाव्रत है। इस व्रत की रक्षा के लिये वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति और आलोकित पान भोजन इन पांच भावनाओं का सदा ध्यान रखना है।

**२ सत्य महाव्रत**—[illegible] असत्य का नौ कोटियों से त्याग करना सत्य महाव्रत है। [illegible]

**३ अचौर्य महाव्रत**—[illegible] नौ कोटियों से [illegible] अचौर्य महाव्रत है। [illegible]

**४ ब्रह्मचर्य महाव्रत**—चेतन अचेतन स्त्रियों का मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना से परित्याग करना ब्रह्मचर्य महाव्रत है इस व्रत का धारक जीव स्त्री सम्बन्धी राग को बढ़ाने वाली कलाओं का श्रवण, उनके मनोहर अंग को देखना, कामोत्तेजक गरिष्ठ आहार पूर्वरतस्मरण तथा शरीरसंस्कार आदि का त्याग करता है। सहस्रों सुरसुन्दरियों के बीच निर्विकार रहने वाला नग्न-निर्ग्रन्थ मुनि ब्रह्मचर्य का महान् आदर्श उपस्थित करता है।

**५ अपरिग्रह महाव्रत**—मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ तथा हास्यादिक नौ कषाय इन चौदह प्रकार के अन्तरङ्ग परिग्रह, तथा चेतन, अचेतन और उभय के भेद से तीन अथवा [1]क्षेत्र, वास्तु आदि दश प्रकार के परिग्रह का मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना से त्याग करना अपरिग्रह महाव्रत है। इस व्रत का धारी पुरुष [2]तिलतुष मात्र भी परिग्रह अपने पास नहीं रखता और न उसके लेने देने का स्वामित्व स्वीकृत करता है।

**समिति-'सम्यगयनं समितिः'**—इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रमाद रहित प्रवृत्ति को संयम कहते हैं। गुप्ति— मन वचन काय का सम्यक् प्रकार से निरोध करना उत्कृष्ट संयम है परन्तु उसका पालन करना सरल नहीं है अतः प्रवृत्ति करना पड़ती है ? मनुष्य को गमन, वचन, भोजन, वस्तुओं का रखना उठाना तथा मलोत्सर्ग, ये पाँच काम करना पड़ते हैं इनमें सावधानी वरतने से निम्नलिखित पांच समितियाँ होती हैं।

**१ ईर्या समिति**—दिन में जब मार्ग चालू हो जावे तब चार हाथ भूमि अच्छी तरह देखकर गमन करना ईर्या समिति है। जो मुनि ईर्या समिति से नहीं चलते वे अहिंसा महाव्रत का भी पालन नहीं करते हैं।

**२ भाषा समिति**—हित मित प्रिय-प्रामाणिक वचन बोलना भाषा समिति है।

**३ एषणा समिति**—दिन में एक बार शुद्ध—छयालीस दोष और बत्तीस अन्तराय रहित आहार ग्रहण करना एषणा समिति है।

**४ आदान निक्षेपण समिति**—पांख की पीछी, कमण्डलु तथा शास्त्रों को देखभाल कर उठाना रखना तथा वन्द करना आदान निक्षेपण समिति है।

**५ उत्सर्ग समिति**—जन्तु रहित स्थान में मल मूत्र आदि छोड़ना उत्सर्ग समिति है।

**इन्द्रिय दमन**—इन्द्रिय सम्बन्धी विषयों से राग-द्वेष नहीं करना इन्द्रिय दमन है। इसके निम्नाङ्कित पाँच भेद हैं—

**१ स्पर्शनेन्द्रियदमन**—शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, कोमल, कड़ा, लघु तथा गुरु इन आठ प्रकार के स्पर्शों में रागद्वेष नहीं करना स्पर्शनेन्द्रिय दमन है।

---

१ क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं द्विपदं च चतुष्पदम्।
कुप्यं भाण्डं हिरण्यं च सुवर्णं च बहिर्दश॥

२ जहजाय रूवसरिसो तिलतुसमेत्तं न गिहदि हत्थेसु।
जइ लेइ अप्प बहुयं तत्तोपुण जाइ णिग्गोदं॥१८॥ सूत्रपाहुड

२ रसनेन्द्रिय दमन—खट्टा, मीठा, कडवा, कषायला और चरपरा इन पांच अथवा घी, दूध, दही, गुड़, तेल और नमक इन छह रसों में रागद्वेष नहीं करना रसनेन्द्रिय दमन है।

३ घ्राणेन्द्रियदमन—सुगन्ध और दुर्गन्ध में हर्ष विषाद नहीं करना घ्राणेन्द्रियदमन है।

४ चक्षुरिन्द्रियदमन—काला, पीला, नीला, लाल, सफेद इन पांच मूल वर्णों तथा इनके संयोग से बननेवाले अनेक वर्णों में रागद्वेष नहीं करना चक्षुरिन्द्रिय दमन है।

५ श्रवणेन्द्रिय दमन—निषाद, ऋषभ, गान्धार, षड्ज, मध्यम, धैवत और पञ्चम इन सात प्रकार के स्वरों में अथवा स्तुति और निन्दा विषयक शब्दों में रागद्वेष नहीं करना श्रवणेन्द्रियदमन है।

आवश्यक—अवश-मुनि के करने योग्य अथवा अवश्य-अनिवार्य रूप से करने योग्य कार्यों को आवश्यक कहते हैं। मुनि के लिये प्रतिदिन निम्नाङ्कित छह आवश्यक अवश्य ही करने के योग्य हैं।

१ समता—सब जीवों अथवा इष्ट अनिष्ट वस्तुओं में मध्यस्थभाव रखना समता है।

२ स्तुति—चौबीस तीर्थंकरों का स्तवन करना स्तुति है।

३ वन्दना—किसी एक तीर्थंकर की प्रमुखरूप से वन्दना करना, वन्दना है।

४ प्रतिक्रमण—दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक तथा साम्वत्सरिक प्रतिक्रमण करना प्रतिक्रमण कहलाता है। सूर्योदय के समय रात्रिक और सूर्यास्त के पूर्व दैवसिक प्रतिक्रमण किया जाता है। प्रतिक्रमण में लगे हुए दोषों पर पर्यालोचन किया जाता है।

५ स्वाध्याय—अकाल को छोड़कर विधिपूर्वक शास्त्र पढ़ना, सुनना, चिन्तन करना तथा दूसरे से चर्चा करना स्वाध्याय है।

६ कायोत्सर्ग—सामायिक, स्वाध्याय तथा शरीर सम्बन्धी क्रियाओं के आदि अन्त में होने वाले कायोत्सर्ग को [illegible] करना कायोत्सर्ग है।

१ केशलोंच—[illegible] २ माह, मध्यम ३ माह और जघन्य ४ माह में दाढ़ी मूंछ और सिर के [illegible] केशलोंच [illegible] मूलगुण है।

२ आचेलक्य—[illegible] दिगम्बर मुद्रा में रहना तथा शीत ऋतु आदि के समय भी किसी [illegible] मूलगुण है।

३ अस्नान—[illegible] मूलगुण है।

४ क्षितिशयन—[illegible] मूलगुण है।

५ अदन्तधावन—[illegible] मूलगुण है।

६ स्थितिभोजन—[illegible] मूलगुण है।

१ एक भक्त—दिन में एक बार ही आहार करना एक भक्त है।

इस प्रकार पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रियदमन, छह आवश्यक तथा केशलोंच आदि शेष सात गुण—सब मिलाकर २८ मूल गुण होते हैं। मुनि को इनका पालन करना अनिवार्य है। जो मुनि इन २८ मूलगुणों में बुद्धिपूर्वक दोष लगाते हैं वे चरणानुयोग की अवहेलना करते हैं अतः वन्दनीय नहीं हैं।

## चौरासी लाख उत्तर गुण—

यहाँ प्रसङ्गोपात्त मुनियों के चौरासी लाख उत्तर गुणों का दिग्दर्शन करना भी अपेक्षित जान पड़ता है—

१ हिंसा २ असत्य ३ चोरी ४ मैथुन ५ परिग्रह ६ क्रोध ७ मान ८ माया ९ लोभ १० जुगुप्सा ११ भय १२ अरति १३ रति १४ मनोदुष्टता १५ वचन दुष्टता १६ कायदुष्टता १७ मिथ्यात्व १८ प्रमाद १९ पिशुनता २० अज्ञान और इन्द्रियानिग्रह ये इक्कीस दोष छोड़ने के योग्य हैं। इनकी [1]अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार इन चार दोषों द्वारा प्रवृत्ति होती है अतः इक्कीस में चार का गुणा करने पर चौरासी होते हैं। उपर्युक्त चौरासी दोष [2]दशकाय सम्बन्धी दश असंयमों से होते हैं अतः ८४ में १०० का गुणा करने पर चौरासी सौ भेद होते हैं। उनमें शील की [3]दश विराधनाओं का गुणा करने पर चौरासी हजार भेद होते हैं। इनमें [4]आकम्पित आदि आलोचना के दश दोषों का गुणा करने

---

१ अतिक्रमो मानस शुद्धिहानिर्व्यतिक्रमो यो विषयाभिलाषः।
तथातिचारः करणालसत्वं भङ्गोह्यनाचार इह व्रतानाम्॥
अथवा
क्षतिं मनःशुद्धिविधेरतिकर्म व्यतिक्रमं शीलवृतेर्विलङ्घनम्।
प्रभोऽतिचारं विषयेषु वर्तनं वदन्त्यनाचारमिहातिसक्तताम्॥ अमितगति•

२ पृथिवीकायिकादि पांच स्थावर और द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, सेनी पञ्चेन्द्रिय और असेनी पञ्चेन्द्रिय ये दश काय हैं। एकेन्द्रियादि ५ जीवों का पांच प्रकार का प्राणिसंयम और स्पर्शनादि पांच इन्द्रियों का पांच प्रकार इन्द्रियासंयम, दोनों मिलाकर दश प्रकार का असंयम कहलाता है। दश काय में दश असंयमों का गुणा करने पर सौ भेद होते हैं।

३ १ स्त्रीसंसर्ग, २ सरसाहार, ३ सुगन्धसंस्कार, ४ कोमलशयनासन, ५ शरीरमण्डन, ६ गीवादिश्र, ७ अर्थग्रहण, ८ कुशीलसंसर्ग, ९ राजसेवा और रात्रिसंचरण ये शील की दश विराधनाएं हैं।

४ आकंपिय अणुमाणिय जं दिट्ठं वायरं च सुहुमं च।
छण्णं सद्दाउलयं बहुजणमव्वत्त तस्सेवी॥

पर आठ लाख चालीस हजार भेद होते हैं। इनमें उत्तम क्षमा आदि दश धर्मों का गुणा करने पर चौरासी लाख भेद होते हैं।

सामान्य मुनियों से इनका पूर्ण पालन नहीं होता परन्तु उनके पालन करने की श्रद्धा अवश्य रखते हैं।

एषणा समिति का पालन करने के लिये मुनि को आहार सम्बन्धी ४६ दोषों का परिहार करना आवश्यक है। सोलह उद्गम दोष, सोलह उत्पादन दोष, दस एषणा दोष और चार संयोजन, अप्रमाण, अंगार तथा धूम दोष, सब मिलाकर ४६ दोष होते हैं। सोलह उद्गम दोष इस प्रकार हैं—१ उद्दिष्ट २ अध्यधि ३ पूति ४ मिश्र ५ स्थापित ६ बलि ७ प्राभृत ८ प्राविष्कृत ९ क्रीत १० प्राभृष्य ११ परिवर्त १२ अभिहृत १३ उद्भिन्न १४ मालिकारोहण १५ आच्छेद्य और १६ अनिसृष्ट। इनका स्वरूप इस भाँति है—

**१ उद्दिष्ट**—जो आहार संयतों अथवा पाषण्डियों को उद्दिष्ट कर बनाया गया है वह उद्दिष्टाहार है।

**२ अध्यधि**—तैयार होते हुए भोजन में मुनि के पहुँचने पर और अधिक चावल तथा जल डाल कर जो भोजन तैयार किया जाता है वह अध्यधि दोष कहलाता है। अथवा जब तक भोजन बन कर तैयार नहीं हो जाता तब तक मुनि को उच्चासन पर ही रोके रखना अध्यधि दोष है।

**३ पूतिदोष**—मिथ्यादृष्टि पड़ोसी, कांसे आदि से निर्मित जिन पात्रों में भोजन रखकर मिथ्यादृष्टियों को दिया करते हैं उन्हीं पात्रों को पड़ोसी के यहाँ से लेकर उनमें आहार रख मुनियों को देना पूति दोष कहलाता है।

**४ मिश्रदोष**—जो प्रासुक अप्रासुक आहार से मिला हो वह मिश्र दोष से दूषित है जैसे अधिक [illegible] जल के साथ मिलाकर पीने के योग्य बनाना।

**५ स्थापित दोष**—पकाने के बर्तन से निकाल कर जो अन्न, अन्य बर्तन में रखा जाता है और [illegible] के लिये [illegible] बर्तन में रखा जाता है वह स्थापित दोष से दूषित है। पकाने के बर्तन से निकाल [illegible] मुनि के लिये आहार दिया जाय तो दूषित है [illegible] दोष [illegible] है।

**६ बलि**—[illegible] बलि कहलाता है [illegible] है।

**७ प्राभृत**—[illegible] मुनि के लिये [illegible] दोष से दूषित है।

**८ प्राविष्कृत**—[illegible] है।

**९ क्रीत**—नृत्यगान आदि विद्या अथवा वस्त्र या बर्तन आदि के द्वारा तैयार आहार खरीद कर देना क्रीत दोष है।

**१० प्रामृष्य**—ऋण लेकर जो आहार तैयार किया जाता है वह प्रामृष्य दोष से दूषित है।

**११ परिवर्त्त**—अपने मोटे चाँवल देकर बदले में लिये हुए महीन चाँवल आदि से निर्मित आहार परिवर्त दोष से दूषित कहलाता है।

**१२ अभिहत**—दूसरे गाँव, मोहल्ला अथवा घर से लाया हुआ आहार अभिहत कहलाता है।

**१३ उद्भिन्न**—जो आहार उघड़ा पड़ा हो वह उद्भिन्न कहलाता है।

**१४ मालारोहण**—जो वस्तु आहार के समय ऊपर अटारी आदि पर चढ़कर नीचे लाई गई हो वह मालारोहण दोष से दूषित है जैसे नीचे की भूमि में आहार हो रहा हो आवश्यकता देख ऊपर जाकर घी आदि निकाल लाना। इस तरह से लाई हुई वस्तु मुनि के योग्य नहीं है।

**१५ आच्छेद्य**—राजा अथवा चोर आदि के भय से जो वस्तु छिपाकर दी जाती है वह आच्छेद्य कहलाती है।

**१६ अनिसृष्ट**—घर के स्वामी अथवा अन्य सदस्यों की सम्मति के बिना जो आहार दिया जाता है वह अनिसृष्ट कहलाता है।

ये सोलह दोष आहार—देय पदार्थ से सम्बद्ध हैं तथा श्रावक के आश्रित हैं अर्थात् इनका दायित्व श्रावक के ऊपर है।

सोलह उत्पादन दोषों के नाम इस प्रकार हैं—१ धात्रीवृत्ति २ दूतत्व ३ भिषग्वृत्ति ४ निमित्त ५ इच्छा विभाषण ६ पूर्व स्तुति ७ पश्चात् स्तुति ८-९-१०-११ क्रोधादि चतुष्क, १२ वश्यकर्म १३ स्वगुणस्तवन १४ विद्योपजीवन १५ मन्त्रोपजीवन और १६ चूर्णोपजीवन।

इनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

**१ धात्रीवृत्ति**—बालकों के लालन पालन तथा शिक्षा आदि के द्वारा गृहस्थों को प्रभावित कर जो आहार प्राप्त किया जाता है वह धात्रीत्व दोष है।

**२ दूतत्व**—दूरवर्ती बन्धुजनों अथवा सम्बन्धियों के सन्देश वचन ले जाना अथवा ले आना, और इस विधि से गृहस्थों को प्रभावित कर आहार प्राप्त करना दूतत्व दोष है।

**३ भिषग्वृत्ति**—गजचिकित्सा, विषचिकित्सा, झाड़ना फूंकना आदि बालचिकित्सा तथा इसी प्रकार की अन्य चिकित्साओं से गृहस्थों को प्रभावित कर आहार प्राप्त करना भिषग्वृत्ति है।

**४ निमित्त**—स्वर, अन्तरिक्ष (ज्योतिष) भौम, अङ्ग, व्यञ्जन, छिन्न, लक्षण और स्वप्न इन अष्टाङ्गनिमित्तों से गृहस्थों को आकृष्ट कर आहार प्राप्त करना निमित्त दोष है।

५ इच्छा विभाषण—गृहस्थ की इच्छानुकूलभाषण कर जो आहार प्राप्त किया जाता है वह इच्छाविभाषण दोष है।

६ पूर्व स्तुति—आहार के पूर्व गृहस्थ की स्तुति करना कि आप बड़े दानी हैं धर्मात्मा हैं आदि, पूर्वस्तुति दोष है।

७ पश्चात् स्तुति—आहार के पश्चात् दातार की प्रशंसा करना कि ऐसे ही लोगों से धर्म का मार्ग चलता है आदि पश्चात् स्तुति है।

८-९-१०-११-क्रोधादि चतुष्क—क्रोध, मान, माया अथवा लोभ दिखा कर आहार प्राप्त करना क्रोधादि चतुष्क है।

१२ वश्यकर्म—वशीकरण के मन्त्र तन्त्र आदि के उपदेश द्वारा गृहस्थ को प्रभावित कर जो आहार प्राप्त किया जाता है वह वश्यकर्म है।

१३ स्वगुणस्तवन—अपना तप, शास्त्रज्ञान, जाति तथा कुल आदि का वर्णन कर जो आहार प्राप्त किया जाता है वह स्वगुणस्तवन है।

१४ विद्योपजीवन—स्वयं सिद्ध अथवा अनुष्ठान के द्वारा सिद्ध की हुई अपनी विद्याओं का प्रदर्शन कर जो आहार प्राप्त किया जाता है वह विद्योपजीवन दोष है।

१५ मन्त्रोपजीवन—गृहस्थों को नाना प्रकार के मन्त्र तन्त्र सिखा कर जो आहार प्राप्त किया जाता है वह मन्त्रोपजीवन है।

१६ चूर्णोपजीवन—चूर्ण आदि बनाने का उपदेश देना चूर्णोपजीवन है।

ये सोलह दोष आहार प्राप्त करने के उपायों से सम्बद्ध हैं और मुनि के आश्रित हैं अर्थात् इनका [illegible] मुनि [illegible] है।

आहार सम्बन्धी दश दोष इस प्रकार हैं—१ शंकित २ म्रक्षित ३ निक्षिप्त ४ पिहित ५ [illegible] ६ [illegible] ७ [illegible] ८ मिश्र ९ [illegible] और १० लिप्त। इनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

१ शंकित—[illegible]

२ म्रक्षित—[illegible] आदि से जो आहार दिया जाता है वह म्रक्षित दोष है।

३ निक्षिप्त—सचित्त [illegible] आदि पर रखा हुआ जो आहार दिया जाता है वह निक्षिप्त [illegible] है।

४ पिहित—[illegible] आदि से ढका हुआ जो आहार दिया जाता है वह पिहित दोष है।

५ [illegible]—[illegible]

**६ व्यवहार**—मुनियों के आ जाने से उत्पन्न सम्भ्रम—हड़बड़ाहट अथवा आहार की अधिकता से वस्त्र तथा बर्तन आदि को बिना देखे जल्दी घसीटना व्यवहार नामका दोष है।

**७ दातृ**—ऐसा दाता दान देने का अधिकारी नहीं है—जो निर्वस्त्र हो, अथवा एक वस्त्र का धारक हो, मद्यपायी हो, पिशाच की बाधा से पीड़ित हो, अन्धा हो, जाति का पतित हो, मृतक की शव यात्रा में गया हो, तीव्ररोगी हो, जिसे कोई घाव हो रहा हो, कुलिंगी—मिथ्या साधु का वेष रखे हो, जहाँ मुनि खड़े हों उससे बहुत नीचे अथवा ऊँचाई पर खड़ा हो, आसन्न गर्भिणी हो, प्रसूता हो, वेश्या हो, दासी हो, परदे के भीतर छिपकर खड़ी हो, मूत्र आदि की बाधा से निवृत्त होकर जिसने शुद्धि नहीं की हो तथा अभक्ष्य भक्षण करने वाली हो। इन अयोग्य दाताओं के द्वारा दिया हुआ दान दातृ दोष से दूषित है।

**८ मिश्र**—जिस आहार में छह काय के जीव मिल गये हों उसे मिश्र कहते हैं।

**९ अपक्व**—जो आहार अच्छी तरह पका न हो उसे लेना अपक्व दोष है।

**१० लिप्त**—घी आदि से लिप्त चम्मच आदि के द्वारा जो आहार दिया जाता है वह लिप्त दोष से दूषित है।

चार अतिरिक्त दोष इस प्रकार है—

**१ संयोजना**—स्वाद के निमित्त भोजन को जो एक दूसरे के साथ मिलाया जाता है वह संयोजना नामका दोष है जैसे शीत वस्तु में उष्ण तथा उष्ण में शीत वस्तु का मिलाना। यह संयोजन अनेक रोग तथा असंयम का स्थान है।

**२ अप्रमाण**—प्रमाण का उल्लंघन कर गृध्रतावश अधिक आहार ग्रहण करना अप्रमाण दोष है।

**३ अङ्गार**—इष्ट अन्न पान के मिलने पर रागभाव से सेवन करना अंगार दोष है।

**४ धूम**—अनिष्ट आन पान के मिलने पर द्वेष भाव से सेवन करना धूम दोष है।

एषणा समिति की रक्षा के लिये जिस प्रकार उपर्युक्त ४६ दोष टाले जाते हैं उसी प्रकार निम्नलिखित अन्तरायों का भी बचाव किया जाता है—

[1]आहार करते समय गीले पीव हड्डी मांस रक्त चमड़ा तथा विष्ठा आदि पदार्थ देखने में आ जावे, शरीर पर कौआ आदि पक्षी बीट कर दे, अपने आपको वमन हो जावे, कोई आहार करने से रोक दे,

---

१ एतद्दोषविहीनान्नभुक्तेरन्तरकारिणः। अन्तरायाः कियन्तोऽत्र वर्ण्यन्ते वर्णिनामिमे ॥४॥
रसपूयास्थिमांसासृक्चर्मामेध्यादिवीक्षणम्। काकाद्यमेध्य पातोऽङ्गे वमनं स्वस्य रोधनम् ॥५॥
अश्रुपातश्च दुःखेन पिण्डपातश्च हस्ततः। काकादिपिण्ड हरणं पतनं त्यक्त सेवनम् ॥६॥
पादान्तरात्मात्पञ्चाक्षजातिपञ्चेन्द्रियात्ययः। स्वोदरकृमिविण्मूत्ररक्तपूयादिनिर्गमः ॥७॥

दुःख के कारण अश्रुपात हो जावे, हाथ से ग्रास गिर जावे, कौआ आदि पक्षी झपट कर हाथ से ग्रास उठा ले जावे, आहार करने वाला दुर्बलता से गिर पड़े, छोड़ी हुई वस्तु सेवन में आ जावे, मुनि के पैरों के बीच में कोई पंचेन्द्रिय जीव निकल जावे, अपने उदर से कृमि, विष्ठा, मूत्र, रक्त तथा पीव आदि निकल जावे, थूक देना, डाढ़ों वाले कुत्ता आदि प्राणि काट खावे, दुर्बलता के कारण बैठ जाना पड़े, हाथ अथवा मुख में किसी मृत जन्तु हड्डी, नख अथवा रोम आदि दिख जावे, कोई किसी को मार दे, गांव में आग लग जावे, अशुभ कठोर अथवा घृणित शब्द सुनने में आवें, उपसर्ग आ जावे, दाता के हाथ से पात्र गिर जावे, अयोग्य मनुष्य के घर प्रवेश हो जावे, और घुटने से नीचे के भाग का स्पर्श हो जावे... इत्यादि अनेक अन्तराय माने गये हैं। इन अन्तरायों में कितने ही अन्तराय लोक रीति से उत्पन्न होते हैं जैसे ग्राम दाह आदि। यदि इस समय मुनि आहार नहीं छोड़ते हैं तो लोक में अपवाद हो सकता है कि देखो गांव के लोग विपत्ति में पड़े हैं और ये भोजन किये जा रहे हैं। कुछ संयम की अपेक्षा होते हैं जैसे जीवजन्तुओं का निकलना आदि। कुछ वैराग्य के कारण होते हैं जैसे साधु का गिर पड़ना आदि। इस समय साधु सोचते हैं कि देखो यह शरीर इतना अशक्त हो गया कि स्ववश खड़ा रहा नहीं जाता और मैं आहार किये जा रहा हूँ। कुछ अन्तराय जुगुप्सा—ग्लानि की अपेक्षा होते हैं जैसे पेट से कृमि तथा मलमूत्र के निकलने पर ग्लानि का भाव होता है। और कितने ही अन्तराय संसार के भय से उत्पन्न होते हैं जैसे काक आदि पक्षियों के द्वारा हाथ का ग्रास झपट ले जाना। इस समय साधु विचार करते हैं कि देखो, संसार कितना दुःखमय है जहां क्षुधा से पीड़ित हुए जन्तु आहार की घात में निरन्तर लीन रहते हैं।

यह सकल चारित्र का वर्णन है जिसके धारण करने के अधिकारी मुनि हैं अब प्रसंग वश देश-चारित्र के ऊपर भी थोड़ा प्रकाश डाला जाता है जिसके धारण करने के अधिकारी गृहस्थ हैं।

देशचारित्र—

हिंसादि पांच पापों का एकदेश से त्याग करना देशचारित्र है करणानुयोग की दृष्टि में यह अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ के अनुदय से होता है। इसलिए पूर्व इस जीव के मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम होकर सम्यग्दर्शन प्रगट हो चुकता है। देशचारित्र के पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत के भेद से बारह भेद होते हैं। पांच अणुव्रत निम्न प्रकार हैं—

---

[illegible] ॥८॥

[illegible] ॥९॥

[illegible] ॥१०॥

[illegible] ॥११॥

[illegible]

**१ अहिंसाणुव्रत**-- त्रस जीवों की संकल्पी हिंसा का त्याग करना तथा स्थावर जीवों के निरर्थक घात से दूर रहना अहिंसाणुव्रत है। अहिंसाणुव्रत का धारक श्रावक त्रस जीवों की आरम्भी, विरोधी, और उद्यमी हिंसा का त्याग नहीं कर पाता है।

**२ सत्याणुव्रत**---लोक में जो असत्य के नाम से प्रसिद्ध है ऐसे स्थूल असत्य का त्याग करना सत्याणुव्रत है।

**३ अचौर्याणुव्रत**—सार्वजनिक उपयोग के लिये निर्मुक्त जल और मिट्टी के सिवाय अन्य अदत्त वस्तुओं के ग्रहण का त्याग करना अचौर्याणुव्रत है।

**४ ब्रह्मचर्याणुव्रत**—जिसके साथ धर्मानुकूल विवाह हुआ है ऐसी स्वस्त्री को छोड़कर अन्य स्त्रियों का त्याग करना ब्रह्मचर्याणुव्रत है।

**५ परिग्रहपरिमाणाणुव्रत**—आवश्यकतानुसार परिग्रह का परिमाण करना परिग्रहपरिमाणाणुव्रत है।

**गुणव्रत**—जो अणुव्रतों का उपकार करे उसे गुणव्रत कहते हैं। उमास्वामीमहाराज के निर्देशानुसार गुणव्रत के तीन भेद निम्न प्रकार हैं।

**१ दिग्व्रत**—जीवन पर्यन्त के लिये दशों दिशाओं में आने जाने की सीमा निश्चित करना दिग्व्रत है।

**२ देशव्रत**—दिग्व्रत में की हुई विस्तृत सीमा को समय की अवधि लेकर संकोचित करना देशव्रत है।

**३ अनर्थदण्डव्रत**—निरर्थक कार्यों का त्याग करना अनर्थदण्डव्रत है। इसके पापोपदेश, हिंसादान, दुःश्रुति, अपध्यान और प्रमादचर्या इन पाँच निरर्थक कार्यों का त्याग करने से पाँच भेद होते हैं।

समन्तभद्रस्वामी ने दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोगपरिमाणव्रत इन तीन को गुणव्रत माना है। यहाँ समन्तभद्र स्वामी का ऐसा अभिप्राय जान पड़ता है कि भोगोपभोग की वस्तुओं का परिमाण करने से परिग्रहपरिमाणाणुव्रत की रक्षा होती है इसलिये इसे गुणव्रत में सम्मिलित करना चाहिये। जो वस्तु एक बार भोगने में आवे उसे भोग कहते हैं। जैसे भोजनादि और जो बार बार भोगने में आवे उसे उपभोग कहते हैं जैसे वस्त्र आदि। अपनी आवश्यकतानुसार भोग और उपभोग की वस्तुओं का यम अथवा नियम रूप से परिमाण करना भोगोपभोगपरिमाणव्रत है। जीवन पर्यन्त के लिये किसी वस्तु का त्याग करना यम है तथा समय की मर्यादा लेकर त्याग करना नियम है।

**शिक्षाव्रत**—जिनसे मुनिव्रत की शिक्षा मिले उन्हें शिक्षाव्रत कहते हैं। उनकी संख्या चार है इस विषय में सर्व आचार्य सहमत हैं परन्तु उनके नाम निर्धारण में विभिन्न मत हैं। सर्व प्रथम कुन्दकुन्दाचार्य ने १ सामायिक, २ प्रोषध, ३ अतिथिपूजा और ४ सल्लेखना इन चार को शिक्षाव्रत माना है। तत्पश्चात् उमास्वामी ने १ सामायिक, २ प्रोषधोपवास, ३ भोगोपभोगपरिमाण और ४ अतिथिसंविभाग, इन चार को शिक्षाव्रत कहा है। इनके अनन्तर समन्तभद्रस्वामी ने १ देशावकाशिक, २ सामायिक, ३ प्रोषधोपवास

और ४ वैयावृत्य, इन चार को शिक्षाव्रतों में परिगणित किया है। आचार्य वसुनन्दी ने १ भोगपरिमाण, २ उपभोगपरिमाण, ३ अतिथिसंविभाग और ४ सल्लेखना इन चार को शिक्षाव्रत माना है। यतश्च सामायिक और प्रोषध को तृतीय और चतुर्थ प्रतिमा का रूप दिया गया है, इसलिये वसुनन्दी ने उन्हें शिक्षाव्रतों में शामिल नहीं किया है। कुन्दकुन्दस्वामी ने देशावकाशिक का वर्णन गुणव्रतों में किया है। इसी प्रकार समन्तभद्रस्वामी ने भोगोपभोग परिमाणव्रत को भी गुणव्रतों में शामिल किया है। कुन्दकुन्द स्वामी की सल्लेखना को शिक्षाव्रत मानने सम्बन्धी मान्यता अन्य आचार्यों को संमत नहीं हुई क्योंकि सल्लेखना मरण काल में ही धारण की जा सकती है और शिक्षाव्रत सदा धारण किया जाता है। इसी दृष्टि से अन्य आचार्यों ने सल्लेखना का वर्णन बारह व्रतों के अतिरिक्त किया है। इसके स्थान पर उमास्वामी ने अतिथिसंविभाग और समन्तभद्र ने वैयावृत्य को शिक्षाव्रत स्वीकृत किया है। वैयावृत्य, अतिथिसंविभाग व्रत का ही विस्तृत रूप है। कुन्दकुन्द स्वामी ने सल्लेखना को जो शिक्षाव्रत में सम्मिलित किया है इसमें उनका अभिप्राय सल्लेखना की भावना से जान पड़ता है अर्थात् शिक्षाव्रत में सदा ऐसी भावना रखनी चाहिये कि मैं जीवनान्त में सल्लेखना से मरण करूं। ऐसी भावना सदा रखी जा सकती है। सामायिक आदि का स्वरूप इस प्रकार है—

**सामायिक शिक्षाव्रत**—प्रतिदिन प्रातः साय और मध्याह्न में कम से कम दो घड़ी तक समता भाव से सामायिक करना सामायिक शिक्षाव्रत है।

**प्रोषधोपवास**—प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी को उपवास, अनुपवास अथवा एकाशन करना प्रोषधोपवास है।

**भोगोपभोगपरिमाण**—शक्ति अनुसार भोग और उपभोग की वस्तुओं की सीमा निश्चित कर अधिक का त्याग करना भोगोपभोग परिमाणव्रत है।

**अतिथिसंविभागव्रत**—पात्र के लिये चार प्रकार का दान देना अतिथिसंविभागव्रत है।

**ग्यारह प्रतिमाएँ**—

[illegible] देशसंयमी, जिनमें ११ [illegible] हैं—१ दर्शन, २ व्रत, ३ सामायिक, ४ प्रोषध, ५ सचित्तत्याग, ६ रात्रिभुक्तित्याग, ७ ब्रह्मचर्य, ८ आरम्भत्याग, ९ परिग्रहत्याग, १० अनुमतित्याग और ११ उद्दिष्टत्याग। इनका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—

१ **दर्शनप्रतिमा**—सम्यग्दर्शन के साथ अष्ट मूलगुण [illegible] दर्शनप्रतिमा है।

२ **व्रतप्रतिमा**—[illegible] तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत, इस प्रकार बारह व्रतों का [illegible] व्रतप्रतिमा है।

**३ सामायिकप्रतिमा**—प्रतिदिन तीनों संध्याओं में विधिपूर्वक सामायिक करना सामायिक प्रतिमा है।

**४ प्रोषधप्रतिमा**—प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी को उपवास करना प्रोषध प्रतिमा है।

**५ सचित्तत्यागप्रतिमा**—सचित्त वस्तुओं के सेवन का त्याग करना सचित्तत्यागप्रतिमा है।

**६ रात्रिभुक्तित्यागप्रतिमा**—मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना से रात्रिभोजन का त्याग करना रात्रिभुक्ति त्याग प्रतिमा है। अथवा इस प्रतिमा का दूसरा नाम दिवामैथुन त्याग भी है जिसका अर्थ है नव कोटियों से दिन में मैथुन का त्याग करना।

**७ ब्रह्मचर्यप्रतिमा**—स्त्री मात्र का परित्याग कर ब्रह्मचर्य से जीवन व्यतीत करना ब्रह्मचर्य प्रतिमा है।

**८ आरम्भत्यागप्रतिमा**—व्यापार आदि आरम्भ का त्याग करना आरम्भ त्याग प्रतिमा है।

**९ परिग्रहत्यागप्रतिमा**—निर्वाह के योग्य वस्त्र तथा बर्तन रख कर समस्त परिग्रह का स्वामित्व छोड़ना परिग्रहत्यागप्रतिमा है।

**१० अनुमति त्याग प्रतिमा**—व्यापार आदि लौकिक कार्यों की अनुमति का त्याग करना अनुमति त्याग प्रतिमा है।

**११ उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा**—अपने निमित्त से बनाये हुए आहार का त्याग करना उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा है। इस प्रतिमा धारी के ऐलक और क्षुल्लक के भेद से दो भेद हैं। ऐलक, मात्र एक लंगोट रखते हैं तथा क्षुल्लक लंगोट के अतिरिक्त एक छोटी चादर भी रखते हैं। क्षुल्लक, पात्र में भोजन करते हैं और ऐलक, बैठकर हाथ में भोजन करते हैं।

**व्यवहार सम्यक् चारित्र**—उपर्युक्त सकल चारित्र और देशचारित्र व्यवहार चारित्र में गर्भित हैं। इनमें सकल चारित्र संयम और देशचारित्र संयमासंयम कहलाता है।

अन्य दृष्टि से संयम के सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार-विशुद्धि, सूक्ष्म साम्पराय और यथाख्यात ये पाँच भेद होते हैं।

**निश्चय चारित्र**—रागद्वेष जनित चञ्चलता के समाप्त हो जाने से आत्मस्वरूप में जो स्थिरता होती है उसे निश्चय चारित्र कहते हैं। यह निश्चय चारित्र साध्य है और व्यवहार चारित्र साधन है। जो व्यवहार चारित्र, निश्चय चारित्र की प्राप्ति में सहायक नहीं है वह नाम मात्र का चारित्र है उससे यथार्थ लाभ नहीं होता।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की पूर्णता ही मोक्ष का साक्षात् मार्ग है।

*

# सम्यक्त्व-ज्योति

[ लेखक—विद्वद्रत्न, धर्म दिवाकर पं० सुमेरुचन्द्रजी दिवाकर शास्त्री, न्यायतीर्थ,
बी. ए. एल. एल. बी. सिवनी ]

आचार्य समन्तभद्र ने कहा है—जो जीव को उत्तम सुख में प्रतिष्ठित करता है वह धर्म है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र के द्वारा यह जीव अविनाशी और अव्याबाध सुख का अधीश्वर बन जाता है। सम्यग्दर्शन आदि को जैन शास्त्रों में रत्नत्रय कहा जाता है, क्योंकि जीव के गुणों में ये सर्वोपरि हैं। श्रेष्ठ का वाचक रत्न शब्द है। श्रेष्ठ पुरुष को पुरुषरत्न, श्रेष्ठ गज को गजरत्न आदि कहते हैं। जीव के सम्यग्दर्शनादि तीन गुणों के द्वारा आत्मा का भव-भ्रमण छूट जाता है और जीव अविनाशी, अविकार परमानन्द के मन्दिर सिद्धपद को प्राप्त करता है।

**सम्यक्त्व का स्थान**—इन तीन रत्नों में सम्यग्दर्शन का असाधारण तथा महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके अभाव में ज्ञान और चारित्र निर्वाणप्रद नहीं होते। बिना नींव के जैसे भवन नहीं बनता है वैसे ही सम्यग्दर्शनरूपी नींव के बिना जीव सच्चा आत्महित नहीं कर सकता है। कुन्दकुन्द स्वामी ने 'दंसणमूलो धम्मो'—सम्यग्दर्शन को धर्मरूपी वृक्ष की जड़ कहा है। इसलिये कल्याण हेतु सत्पुरुष को उस सम्यक्त्व का सत्स्वरूप ज्ञात कर अपनी आत्मा को उससे अलंकृत करना श्रेयस्कर है।

**स्वरूप**—चतुर चिकित्सक, रोगी की अवस्था आदि को दृष्टिपथ में रखते हुए उसको रोग मुक्त बनाने की पवित्र भावना से देश, काल, परिस्थिति आदि को ध्यान में रखता हुआ औषध देता है। मलेरिया ज्वर से पीड़ित तरुण को वह कड़वी कुनैन की गोली खिलाता है, किन्तु बालक को शक्कर से मिश्रित गोली बनाकर वह उसे वह औषध देता है। शक्कर रोग का इलाज नहीं है, किन्तु बालक के पेट के भीतर कड़वी कुनैन पहुँचाने के लिये मधुर स्वाद वाली शक्कर का भी आश्रय लिया जाता है; इसी प्रकार धर्मगुरु, भोग और विषयों के विकराल विषम ज्वर [illegible], बालक, कामिनी के दास गृहस्थ के [illegible] के लिये सम्यक्त्व की ऐसी देशना करते हैं जिससे वह गृहस्थ [illegible] में समर्थ हो जाये। [illegible] महान ऋषि कुन्दकुन्द स्वामी ने सम्यग्दर्शन का स्वरूप [illegible] प्रकार कहा है—

जीवादी सद्दहणं सम्मत्तं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
ववहारा णिच्छयदो अप्पाणो हवइ सम्मत्तं ॥२०॥

[illegible]

[illegible]

वह अरहन्त भगवान् की देशना है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि दोनों नयों की दृष्टि से कथन जीव के हितार्थ किया गया है। यहाँ यह बात विचारणीय है कि जैनधर्म के पालन करने वालों के श्रमण और श्रावक ये दो भेद पाये जाते हैं। श्रमण अर्थात् मुनिपद को धारण करने वाली महान् आत्माएँ होती हैं। उस पदवी को प्राप्त करने में असमर्थ, किन्तु उस पद के प्रति हार्दिक श्रद्धावान् तथा आगामी काल में उसे प्राप्त करने के लिये कृतसंकल्प अल्पआत्मबलयुक्त, माया तथा ममता के चक्कर में फँसे व्यक्ति को गृहस्थ या उपासक कहते हैं।

**श्रमण की अपेक्षा**—मोक्ष पाहुड़ में श्रमणों को लक्ष्य करके सम्यग्दर्शन का स्वरूप 'स्वद्रव्य'—आत्मस्वरूप में रत रहना अर्थात् निजस्वरूप में निमग्नता कहा है।

सद्दव्वरओ समणो सम्माइट्ठी हवेइ णियमेण ।
सम्मत्तपरिणओ उण खवेइ दुट्ठट्ठ कम्माइं ।।१४।।

स्वद्रव्य में रत रहने वाला श्रमण सम्यग्दृष्टि है। वह सम्यक्त्वपरिणत श्रमण दुष्ट कर्माष्टकों का क्षय करता है।

**गृहस्थ की परिस्थिति**—गृहस्थ आर्त्त-रौद्रध्यान की महामारी से पीड़ित हो मूर्च्छित होता हुआ परिग्रह के संग्रह, संरक्षण और संवर्धन में निरन्तर लगा रहता है। वह आहार, भय, मैथुन, परिग्रह-संज्ञास्वरूप ज्वर से जर्जरित हो रहा है। वह स्वद्रव्य में कैसे रत हो सकता है? वह स्व अर्थात् आत्मा को नहीं किन्तु स्व अर्थात् धन को स्वद्रव्य समझा हुआ है। इसीसे वह दुःखाग्नि से सदा दग्ध होता रहता है।

'दाम बिना निर्धन दुखी तृष्णावश धनवान'

यह सूक्ति बताती है कि श्रमण का 'स्व' आत्मद्रव्य है तो मोही गृहस्थ का 'स्व' धन धान्यादि बन गया है। वह मूढ़ गृहस्थ, कैसी बड़ी भूल जानते हुए करता है, उसे इष्टोपदेश में इन शब्दों में कहा गया है—

वपुर्गृहं धनं दाराः पुत्रा मित्राणि शत्रवः ।
सर्वथान्यस्वभावानि मूढः स्वानि प्रपद्यते ।।८।।

शरीर, घर, धन, स्त्री, पुत्र, मित्र तथा शत्रु सर्वथा भिन्न स्वभाव वाले हैं, किन्तु मूढ़ जीव उनको अपना समझा करता है।

**गृहस्थ का सम्यक्त्व**—परिग्रह की मूर्च्छा से मूर्च्छित गृहस्थ के हृदय में सम्यग्दर्शन-रसायन को पहुँचाने के लिये आचार्य कुन्दकुन्द ने गृहस्थ के लिये परिपालनीय सम्यग्दर्शन का यह स्वरूप मोक्ष पाहुड में कहा है—

हिंसा रहिए धम्मे अट्ठारह दोस वज्जिये देवे ।
णिग्गंथे पव्वयणे सद्दहणं होइ सम्मत्तं ॥९०॥

हिंसा रहित धर्म में, अष्टादश दोष रहित जिनेन्द्र देव में, निर्ग्रन्थ गुरु की वाणी में अथवा निर्ग्रन्थ गुरु और जिनवाणी में श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। यह सम्यग्दर्शन का स्वरूप श्रावकों की अपेक्षा है, यह तथ्य गाथा ८५ में कुन्दकुन्द स्वामी ने प्रतिपादित किया है। गाथा इस प्रकार है—

एवं जिणेहि कहियं सवणाणं सावयाण पुण सुणसु ।
संसार विणासयरं सिद्धियरं कारणं परमं ॥८५॥

इस प्रकार पहले श्रमणों की अपेक्षा जिनेन्द्र भगवान् ने सम्यक्त्व का स्वरूप कहा है ( गाथा १४ सद्दहणओ समणो सम्माइट्ठी हवेइ )। आचार्य कहते हैं—अब श्रावकों की अपेक्षा संसार का क्षय करने वाले, सिद्धि प्रदाता, तथा मोक्ष के मुख्य कारण सम्यक्त्व का स्वरूप सुनो।

वह सम्यक्त्व का स्वरूप पूर्वोक्त गाथा ९० में कहा गया है। जिनेन्द्र देव, अहिंसाधर्म, निर्ग्रन्थ गुरु तथा जिनवाणी का श्रद्धान करना आगम में व्यवहार सम्यक्त्व कहा है। इससे यह स्पष्ट होता है कि श्रावकों की आत्मिक दुर्बलता को लक्ष्य करते हुए जिनेन्द्र भगवान् ने श्रावकों के लिये आत्मा से भिन्न जिनेन्द्रादि पदार्थों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन कहा है जिसे व्यवहार सम्यक्त्व संज्ञा प्रदान की गई है।

**जिनबिम्ब का प्रभाव**—जिनेन्द्र भगवान् के निमित्त से आत्मा की रुचि उत्पन्न होती है। षट्खण्डागम सूत्र में मनुष्य के प्रथमोपशम सम्यक्त्व की उत्पत्ति के तीन कारण कहे हैं—जातिस्मरण, धर्मश्रवण तथा जिनबिम्ब का दर्शन, इनके द्वारा प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। कहा भी है—

मणुस्सा मिच्छाइट्ठी कदिहि कारणेहि पढमसम्मत्तमुप्पादेंति ? तीहि कारणेहि पढमसम्मत्तमुप्पादेंति, केई जाइस्सरा, केई सोऊण, केई जिणबिंबं दट्ठूण ॥२९–३०
( जीवट्ठाण चूलिका )

जिनेन्द्र भगवान् की वीतराग मूर्ति का [illegible] पर जो प्रभाव पड़ता है उसे कविवर पंडित [illegible] ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—

[illegible] 'जिनबिम्ब' [illegible] ।
[illegible] ॥

[illegible]

वयन नहिं कहैं लखि होत सम्यक वरं भवन बावन्न प्रतिमा नमौं सुखकरं ।
कोटि शशि भानु द्युति तेज छिप जात है महा वैराग परिणाम ठहरात है ॥

योग्य आत्मा ही सन्निमित्त के सम्पर्क से लाभ उठाती है, अपात्र व्यक्ति उस सम्यक् सम्पर्क को प्राप्त करते हुए भी अपनी अपात्रता का परित्याग नहीं करता है। पारस का स्पर्श लोहे को स्वर्ण बनाता है, अन्य धातु को नहीं।

**अरहन्त की भक्ति सम्यक्त्व है**—कुन्दकुन्द स्वामी ने शीलपाहुड में **'अरहन्ते सुहभत्ती सम्मत्तं'** ॥४० —अरहन्त देव में पवित्र भक्ति को भी सम्यक्त्व कहा है। गुणों के अनुराग को भक्ति कहा गया है। उसकी यह भी परिभाषा कही गई है—

मनसा कर्मणा वाचा जिननामाक्षरद्वयम् ।
सदैव स्मर्यते यत्र सार्हद्भक्तिः प्रकीर्तिता ॥

अर्हन्त भक्ति वह है, जिसमें मन वचन काय द्वारा जिन नाम के दो अक्षरों का निरन्तर स्मरण किया जाता है। जिनेन्द्र देव की भक्ति द्वारा हृदय के परिपूर्ण होने पर वह भव्यात्मा निरन्तर जिनेश्वर के पुण्य नाम को जपता है, उनकी आध्यात्मिक अमृत को वर्षाने वाली पावन जीवनी को पढ़ता है और उनके सर्वोच्च गुणों का विचार करता है।

भीषण वन में छोड़ी गई सती शिरोमणि सीता देवी ने राम को सन्देश में कहा था—

जिनधर्मे मा मुचो भक्तिंयथा त्यक्ताहमीदृशी ।

जैसे लोकापवाद से तुमने मेरा परित्याग किया है, इस प्रकार कहीं जिनेन्द्र भगवान की भक्ति का परित्याग नहीं कर बैठना, क्योंकि—

'सम्यग्दर्शन रत्नं तु साम्राज्यादपि सुदुर्लभम्'

सम्यग्दर्शनरूपी रत्न साम्राज्य की अपेक्षा अधिक दुर्लभ है। इस प्रकार गृहस्थ को स्वहितार्थ जिनेन्द्र भक्ति रूप व्यवहार सम्यग्दर्शन द्वारा स्वहित सम्पादन करना श्रेयस्कर होगा।

**जिनभक्ति का फल**—जिनभक्ति के द्वारा यह जीव सप्त परम स्थानों का स्वामी होता है, उनमें अभ्युदय के सिवाय निर्वाण प्राप्ति का भी कथन है।

सज्जातिः सद्गृहस्थत्वं पारिव्राज्यं सुरेन्द्रता ।
साम्राज्यं परमार्हन्त्यं निर्वाणं चेति सप्तधा ॥

**भक्ति से मोक्ष**—कुन्दकुन्द स्वामी भावपाहुड में जिनचरणों की आराधना द्वारा मोक्ष प्राप्ति को स्वीकार करते हैं—

जिणवर चरणंबुरुहं णमंति जे परमभत्तिरायेण ।
ते जम्मवेलिमूलं खणंति वरभावसत्थेण ॥१५३॥

जो सत्पुरुष श्रेष्ठ भक्तिरूप प्रशस्त रागभाव से जिनेन्द्र के चरण कमलों को प्रणाम करते हैं वे श्रेष्ठ भावरूप शस्त्र से संसार रूप बेल की जड़ का उच्छेद करते हैं।

**रहस्य की बात**—मुक्ति का कारण रागद्वेषरूप विकृति का अभाव होकर वीतरागता की ओर प्रवृत्ति करना है। जिसके हृदय में वीतराग जिनेन्द्र बस जाते हैं, उसके दुष्ट कर्मों का क्षय बहुत शीघ्रता से आरम्भ होता है। कल्याण मन्दिर स्तोत्र में कहा है—

हृद्वर्तिनि त्वयि विभो शिथिलीभवन्ति जन्तोः क्षणेन निबिडा अपि कर्मबन्धाः ।
सद्यो भुजङ्गममया इव मध्यभागमभ्यागते वनशिखण्डिनि चन्दनस्य ॥८॥

हे प्रभो ! आपके हृदय में विराजमान होने पर जीव के अत्यन्त सुदृढ़ कर्मों के बन्धन उस प्रकार शिथिलता को प्राप्त होते हैं, जिस प्रकार वनमयूर के आने पर मध्यभाग में लिपटे हुए सर्पों के बन्धन तत्काल ढीले हो जाते हैं।

**आशङ्का**—कभी कभी मन में यह आशङ्का उत्पन्न होती है कि मैंने तो अनेक बार भगवान् का पुण्य नाम सुना, महिमा का गुणगान किया, प्रभु का दर्शन भी अनेक बार किया तब भला विपत्तियों का शिकंजा मेरा पिण्ड क्यों नहीं छोड़ता है ?

**समाधान**—इस आशंका का समाधान कल्याण मन्दिर के ही इस कथन से होता है कि मैंने [illegible] पूर्वक आपकी आराधना नहीं की। मनोयोग शून्य क्रियाएँ सफल नहीं होतीं। कहा भी है—

आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या ।
जातोऽस्मि तेन जनबान्धव दुःखपात्रं यस्मात्क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः ॥

जिसके मनोमन्दिर में जिन भगवान् सदा विराजमान रहते हैं, उस पवित्र हृदय सत्पुरुष की [illegible] सदा उपस्थित हुआ करती है।

[illegible]

[illegible]

अव्याबाधमचिन्त्यसारमतुलं त्यक्तोपमं शाश्वतं ।
सौख्यं त्वच्चरणारविन्दयुगलस्तुत्यैव संप्राप्यते ।।६।।शान्ति भक्ति।।

भगवन् ! सम्पूर्ण बाधाओं से विमुक्त, अचिन्त्यरूप, अतुल, अनुपम तथा अविनाशी सुख की प्राप्ति आपके चरणारविन्दों की स्तुति द्वारा ही होती है ।

**उनका व्यक्तित्व**—पूज्यपाद स्वामी का महान् व्यक्तित्व और उच्च साधना उक्त कथन के महत्व की गम्भीरता तथा वास्तविकता को स्पष्ट करते हैं । उन आचार्य शिरोमणि के चरण से स्पर्श किया हुआ जल लोहे को स्वर्णरूपता प्रदान करता था । श्रवणवेलगोला में यह शिलालेख उक्त कथन को सूचित करता है—

श्रीपूज्यपादमुनिरप्रतिमौषर्धाद्धिर्जीयाद् विदेहजिनदर्शनपूतगात्रः ।
यत्पादधोत जलसंस्पर्शप्रभावात् कालायसं किल तदा कलकी चकार ।।

पूज्यपादस्वामी ने जिनेन्द्र भक्ति का प्रत्यक्षफल स्वयं अपने जीवन में भी अनुभव किया था । उनके नेत्रों की ज्योति एक बार चली गई थी, उस समय उन्होंने शान्तिनाथप्रभु की स्तुतिरूप 'शान्त्यष्टक' की रचना कर प्रार्थना की थी—

'कारुण्यान्मम भक्तिकस्य विभो दृष्टिं प्रसन्नां कुरु'

भगवन् ! करुणा करके मुझ भक्त की दृष्टि को निर्मल कर दीजिये । तत्काल कर्मों का तीव्र उदय मन्द हो गया और नेत्रों में ज्योति आ गई । पूज्यपादस्वामी ने बाल्यकाल में ही दिगम्बर मुद्रा धारण कर संघनायक—आचार्य का पद प्राप्त किया था । वे सदा हृदय में यही अध्यात्मभावना प्रदीप्त रखते थे—मयाहमेव उपास्यः—( समाधिशतक ३१ , मेरे द्वारा मेरा आत्मा ही उपास्य है, आराधना के योग्य है, क्योंकि जो परमात्मा है, वह मैं हूँ । वह सुन्दर पद्य इस प्रकार है—

यः परात्मा स एवाहं योऽहं स परमस्ततः ।
अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः ।।३१।।

**मार्मिक बात**—इस उच्च अध्यात्म चिन्तन की देशना करने वाले महर्षि वृद्धावस्था में अपनी आराधना के फल स्वरूप भगवान् से यह प्रार्थना करते हैं—'जिनेश्वर ! आपकी बाल्यकाल से अब तक की गई आराधना का मुझे यही प्रसाद चाहिये कि परलोक प्रयाण काल में मेरा कण्ठ स्पष्ट रूप से आपका पावन नाम स्मरण करने की शक्ति समन्वित रहा आवे' । इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि महर्षि कुन्दकुन्द ने क्यों 'अरहन्ते सुहभत्ती सम्मत्तं' अरहन्त देव में निर्मल भक्ति को सम्यक्त्व कहा है ।

**णमोकार**—अवश्यंभावी मरण के काल में पञ्च नमस्कार मन्त्र ही जीव को कल्याणकारी कहा है ।

महान् महिमाशाली समन्तभद्र स्वामी ने जिनके भावि-तीर्थंकरपने को बताने वाला शिला लेख पाया जाता है, जिनकी भक्ति की श्रेष्ठता के कारण पाषाण पिण्ड के भीतर से भगवान् चन्द्रप्रभ तीर्थंकर की दिव्य प्रतिमा प्रादुर्भूत हुई थी—अपने रत्नकरण्डश्रावकाचार में कहा है—'पञ्च नमस्कारमनास्तनुं त्यजेत् सर्वयत्नेन' ( १२८ ) पूर्ण सावधानी पूर्वक पञ्च नमस्कार मन्त्र में चित्त को लगाकर अपने शरीर का परित्याग करे। यह सभी जिनेन्द्र भक्ति सम्यक्त्वरूप है। यह भक्ति रूप सम्यग्दर्शन की ज्योति जिस आत्मा को प्रकाशित करती है, उसका अद्भुत विकास और उन्नति हुआ करती है। सोमदेव सूरि का यह पद्य बड़ा मनोहर है—

चक्रिश्रीः संश्रयोत्कण्ठा नाकिश्रीर्दर्शनोत्सुका।
तस्य दूरे न मुक्तिश्रीर्निर्दोषं यस्य दर्शनम् ॥

जिसका सम्यग्दर्शन आठ दोषों से विरहित है, चक्रवर्ती की लक्ष्मी उसका आश्रय लेने को उत्कण्ठित रहती है, स्वर्ग लक्ष्मी उसके दर्शन के लिये उत्सुक होती है तथा मुक्ति लक्ष्मी भी उसके समीप रहती है।

**सम्यक्त्व के अङ्ग**—सम्यग्दर्शन को निर्मल बनाने के लिये निःशंकितादि गुणों का सद्भाव आवश्यक है। छिद्रयुक्त पात्र में रखा गया क्षीर जैसे जमीन पर गिर जाता है उसी प्रकार शंकादि आठ दोष रूप छिद्र सहित हृदय में सम्यग्दर्शन रूप अमृत नहीं टिक पाता है।

**आगम पर श्रद्धा**—जिसके हृदय में जिन भक्तिरूप प्रभाकर प्रकाशमान होता है वह सम्पूर्ण जिनवाणी के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा रखता है। वह सभी आर्ष ग्रन्थों पर पूर्ण श्रद्धा रखता है। सत्य महाव्रती आचार्यों की वाणी, सर्वज्ञ जिनेन्द्र की दिव्यध्वनि द्वारा प्रतिपादित धर्मामृत से परिपूर्ण रहती है। अतः अनुयोग, आप्त की वाणी होने से समानरूप से सम्यग्दृष्टि के द्वारा पूज्य तथा वन्दनीय होते हैं। [illegible] शास्त्रों के प्रति सम्यग्दृष्टि श्रद्धा रखता है, उसे ही परम सत्य स्वीकार करता हुआ वह, उस आगम का अवलंबन ले कर अपनी मलिन धारणा तथा बुद्धि का संशोधन करता है। सम्यक्त्वी श्रावक [illegible] आगमचक्षु होते हैं। वे आगम [illegible] को आगम की [illegible] मानते हैं।

**नय की बात**—यह [illegible] है कि [illegible] सम्यग्ज्ञान का एक भेद व्यवहार नय है, [illegible] दूसरा भेद निश्चयनय है। निश्चय नय के समान व्यवहार नय भी सर्वज्ञ प्रतिपादित है। वह भी सम्यग्ज्ञान रूप है। शुद्ध द्रव्य का निरूपण करने वाला निश्चय नय है 'शुद्धद्रव्य निरूपणात्मको निश्चय नयः' और अशुद्ध द्रव्य का निरूपण करने वाला व्यवहार नय है 'अशुद्धद्रव्य निरूपणात्मको व्यवहारनयः' ( [illegible] )। वस्तु शुद्ध अशुद्ध दोनों रूप पाई जाती है, अतः दोनों [illegible] हैं।

[illegible] **[illegible] की व्याख्या**—[illegible] नय के द्वारा शुद्धात्मा का ग्रहण होता है। अशुद्ध नय [illegible]

(२) गृहस्थ के अशुद्धात्मा का अनुभव होता है, क्योंकि उसके समस्त विरति का अभाव है। इससे यह तर्कशुद्ध तत्त्व प्राप्त होता है कि अशुद्धात्मा का अनुभव करने वाले गृहस्थ के लिये उपयुक्त अशुद्धनय अर्थात् व्यवहार नय होगा। वह निश्चयनय का अधिकारी नहीं है।

परिग्रही गृहस्थ परमभाव अर्थात् शुक्ल ध्यान का अपात्र है। वह अपरमभाव—शुभोपयोगयुक्त धर्मध्यान का पात्र होने से व्यवहारनय की देशना के योग्य है। समयसार में कहा है—

ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमेट्ठिदा भावे ।।१२।।

इस प्रसंग में एक बात विशेष उल्लेखनीय है कि 'प्रत्यगात्म दर्शिभिः व्यवहारनयो नानुसर्तव्यः' —शुद्धात्मतत्त्व का दर्शन करने वालों के द्वारा व्यवहार नय आश्रय योग्य नहीं है। ( समयसार गाथा टीका ११ ) यहाँ 'प्रत्यगात्मदर्शिभिः—शुद्धात्मा का दर्शन करने वाले, इन शब्दों की ओर दृष्टि न रहने से सामान्यतया यह सन्देह या भ्रम हो जाता है, कि गृहस्थ को भी व्यवहार नय का आश्रय नहीं लेना चाहिये। जब गृहस्थ के अशुद्ध आत्मा की उपलब्धि होती है, तब यह स्वीकार करना होगा कि उसका कल्याण व्यवहार नय द्वारा प्ररूपित पथ को अंगीकार करने में है।

**श्रमण की पात्रता**—निश्चय नय की पात्रता मुनियों में ही है, यह समयसार की गाथा से स्पष्ट ज्ञात होता है—

णिच्छयणयासिदा पुण मुणिणो पावंति णिव्वाणं ।।२७२।।

निश्चयनय का आश्रय लेने वाले मुनिगण निर्वाण को प्राप्त होते हैं।

परिग्रही गृहस्थ निर्वाण का पात्र नहीं है। श्वेताम्बर मान्यता अवश्य है कि परिग्रही गृहस्थ मोक्ष पाता है। उन्होंने इस अवसर्पिणी काल में मुक्त होने वालों में सर्व प्रथम स्थान—भगवान् वृषभनाथ के पहले माता मरुदेवी को दिया है। दिगम्बर मान्यता के अनुसार गृहस्थ मोक्ष का पात्र नहीं है। इससे उसे निश्चय नय का अपात्र ही मानना चाहिये। आश्चर्य है कि इस स्थिति का विस्मरण कर आज कल अव्रती गृहस्थ भी अपने आपको निश्चय का पात्र मानते हुए स्वच्छन्दता पूर्ण आचरण का पोषण करते हैं।

**पराश्रयदृष्टि**—समयसार की उक्त गाथा की टीका में कहा है—'आत्माश्रितो निश्चयनयः पराश्रितो-व्यवहारनय'—आत्मनिर्भर निश्चयदृष्टि है, पराश्रित व्यवहारनय है। असमर्थ आत्मा को अन्य का आश्रय तथा सहारा लेना आवश्यक है। देव, गुरु, शास्त्र का आश्रय लिये बिना प्राथमिक अवस्था में हित होना संभव नहीं है। सर्व प्रथम देव-गुरु-शास्त्रादिक का आश्रय लेना दुर्ध्यान तथा विषय कषायों से बचने के हेतु अनिवार्य है, ऐसा न करने वाला मोही प्राणी आर्त्त, रौद्रध्यान के कुचक्र में फँस जाता है तथा संसार में परिभ्रमण करता हुआ दुःख पाता है।

**दो प्रकार कथन**—तत्त्वानुशासन ग्रन्थ में व्यवहार-निश्चयदृष्टि का आश्रय लेते हुए यह महत्त्व-पूर्ण बात कही गई है—

निश्चयाद्व्यवहाराच्च ध्यानं द्विविधमागमे ।
स्वरूपालम्बनं पूर्वं परालम्बनमुत्तरम् ॥९॥

आगम में निश्चय तथा व्यवहार नय की दृष्टि से ध्यान के दो भेद किये गये हैं। इनमें स्वरूप का अवलम्बनरूप निश्चयध्यान है तथा पर का अवलम्बनरूप व्यवहारध्यान है।

परावलम्बन लेकर अर्थात् अरहंतादिक का आश्रय लेकर ध्यान का अभ्यास करने वाला ही स्वावलम्बनरूप निश्चयध्यान की योग्यता प्राप्त करता है। प्रारम्भ में सहायता आवश्यक है। तत्त्वानुशासन में यह भी लिखा है—

'भिन्ने हि विहिताभ्यासोऽभिन्नं ध्यायत्यनाकुलः'।

भिन्न में अभ्यास करने वाला व्यक्ति अनाकुल होता हुआ अभिन्न का ध्यान करता है।

व्यवहार दृष्टि—व्यवहार दृष्टि की अपेक्षा ध्याता और ध्येय में भिन्नता रहती है। व्यवहार-सम्यक्त्वी अरहंतादि परमेष्ठियों को आराध्य मानता है। उसकी दृष्टि में ध्येय जिनेन्द्र रहते हैं, वह उनका आराधक रहता है। पञ्चनमस्कार मन्त्र में यही भेददृष्टि प्रतिष्ठित है, जो व्यवहारनय की मुख्यता को घोषित करती है।

चार घातिया कर्मों के क्षय करने वाले अरहंतों को, सिद्धों के पूर्व प्रणाम किया गया है, क्योंकि इस लोक में अरहंत भगवान् की दिव्यवाणी द्वारा जीवों को मार्ग की देशना प्राप्त होती है, उस उपकार के कारण उन्हें पूर्व में प्रणामाञ्जलि अर्पित की गई है। दर्शन पाहुड की यह गाथा महत्त्वपूर्ण है।

चउसट्ठिचमरसहिओ चउतीसहि अइसयेहिं संजुत्तो ।
अणुचरबहुसत्तहिओ कम्मक्खयकारणणिमित्तो ॥२९॥

चौंसठ चमर सहित तथा चौंतीस अतिशययुक्त अरहंतदेव निरन्तर बहुत जीवों का हित करते हैं। वे जीवों के कर्मक्षय के निमित्त कारण होते हैं।

यह भी विचारणीय है कि [illegible]

[illegible]

**णमोकार मन्त्र व्यवहार दृष्टि का विषय है**—णमोकार मन्त्र की आराधना व्यवहार नय का विषय है। गौतमगणधर ने भी महाकम्मपयडि पाहुड ग्रन्थ के प्रारम्भ में व्यवहार नय का आश्रय लेकर 'णमो जिणाणं' आदि सूत्रों के रूप में मङ्गलस्मरण किया है। उन्होंने कहा है 'ववहारणओ बहुजीवाणुग्गह कारी सो चेव समसिदव्वो' व्यवहारनय बहुत जीवों का उपकारी है अतः उस व्यवहारनय का आश्रय लेना चाहिये। इतना ही नहीं, उन्होंने निर्ग्रन्थशिरोमणि होते हुए भी व्यवहारनय का स्वयं अवलम्बन लिया था अतः सम्यक्त्वी जीव को नय व्यवस्था के समझने में सावधानी रखना चाहिये।

**अपरमभाव**—जब व्यवहारनय की देशना का पात्र अपरमभाव वाला है, तब न केवल गृहस्थ, बल्कि इस काल के सभी श्रमण भी उसी नय के पात्र हैं, क्योंकि शुद्धभावरूप शुक्लध्यान की पात्रता इस पंचमकाल में भी नहीं है।

भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स ।।७६।। ( मोक्ष पाहुड )

धर्मध्यान शुभभावरूप है 'सुहधम्मं' ( भाव पाहुड गाथा ७६ )

**निःशङ्कितदृष्टि**—इस स्थिति को ध्यान में रखकर भव्य जीवों को नयों के विषय में स्याद्वादमयी प्रतिपादना के प्रतिकूल प्रचार से बचना चाहिये। कारण, आगम के विपरीत श्रद्धा करना सम्यक्त्वी का स्वरूप नहीं है। सम्यक्त्वी धर्मात्मा है, वह आगम की देशना को देखकर तत्काल अपने मिथ्या विचारों का संशोधन करता है। इस निःशङ्कित अङ्ग के न होने पर वह जीव मिथ्यात्व के कुचक्र में फँस जाता है।

**अन्य अंग**—सम्यग्दर्शन का दूसरा अङ्ग निःकांक्षित है, जिसमें सांसारिक भोगों की आकांक्षा का त्याग कहा है। संयमी जनों को देख कर विचिकित्सा अर्थात् ग्लानि का त्याग करना निर्विचिकित्सा है। अमूढ़दृष्टि अंग मूढ़ता का त्याग करनेरूप है। उपगूहन अंग द्वारा असमर्थजनों के दोषों का प्रकाशन नहीं करके धर्म का संरक्षण किया जाता है। विचित्र परिस्थितियों के कारण श्रद्धा तथा संयम के उज्ज्वल पथ से विचलित होने वालों का जो स्थितिकरण किया जाता है वह स्थितिकरण अंग है। साधर्मी वर्ग के प्रति प्रेमभाव को वात्सल्य अंग कहा है। दान, तप, जिनपूजा आदि के द्वारा जिनेन्द्रदेव के शासन की महिमा को प्रकाशित करना तथा रत्नत्रय के तेज से स्वयं के जीवन को समुज्ज्वल बनाना प्रभावना अंग है। ये आठ अंग सम्यक्त्वी के लिये आवश्यक हैं। अंगहीन सम्यग्दर्शन संसार भ्रमण का उच्छेद नहीं कर पाता है।

**प्रभावना के अंग**—यह बात ध्यान देने की है, कि रत्नत्रय धर्म का अंग सम्यग्दर्शन है। उसके आठ अंगों में प्रभावनांग दान-पूजा आदि के द्वारा धर्म की महिमा प्रकाशित करने से सम्बन्धित है। अतः दान पूजा आदि भी प्रभावनाकारी होने से सम्यग्दर्शनधर्मरूप हो जाते हैं। कोई कोई विचित्र बुद्धि, पूजादि को धर्म मानने वाले को मिथ्यादृष्टि कह दिया करते हैं उनकी यह धारणा उनके ही तीव्र

मिथ्यात्व को सूचित करती है। आर्षग्रन्थ महापुराणरूप आगम में कहा है कि दान, पूजा, शील तथा उपवास यह श्रावक का चार प्रकार का धर्म है—

दानं पूजा च शीलं च दिने पर्वण्युपोषितम् ।
धर्मश्चतुर्विधः सोऽय मात्मनो गृहमेधिनाम् ॥

**धर्म के विषय में**— धर्म के विषय में भ्रान्ति निवारणार्थ कार्तिकेयानुप्रेक्षा की यह गाथा विशेष ध्यान देने योग्य है—

धम्मो वत्थुसहावो खमादिभावो य दसविहो धम्मो ।
रयणत्तयं च धम्मो जीवाणं रक्खणं धम्मो ॥४७६॥

वस्तु का स्वभाव धर्म है, उत्तम क्षमादि दश भेदरूप धर्म है, रत्नत्रयरूप भी धर्म है, जीवों की रक्षा करना भी धर्म है।

गौतम गणधर ने दया को धर्म का मूल कहा है 'धर्मस्य मूलं दया'। कुन्दकुन्द स्वामी ने रयणसार गाथा ८८ में कहा है—'दया विणा धम्मं णिप्फलं जाण'। भावपाहुड में कुन्दकुन्द स्वामी मुनियों को दया पालन के लिये प्रेरणा करते हैं 'कुण दया मुणिवर' ॥१३२॥ इस प्रकार विविधदृष्टियों से धर्म का वर्णन किया जाता है।

**गणधर वाणी**—केवलिप्रणीत धर्म को मंगल कहा गया है, 'केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं' उस केवलिप्रणीत धर्म का क्या लक्षण है? इस सम्बन्ध में 'बृहत्प्रतिक्रमण' में चार ज्ञान के धारी महर्षि गौतम गणधर ने कहा है—

'इमस्स (धम्मस्स) अणुत्तरस्स केवलिपण्णत्तस्स अहिंसालक्खणस्स सच्चाहिट्ठियस्स विणयमूलस्स' (पृष्ठ १०७)

केवलिप्रणीत धर्म का लक्षण अहिंसा है। उसे अनुत्तर अपूर्व, सत्याधिष्ठित तथा विनयमूलक कहा है। [illegible] धर्म का लक्षण अहिंसा कहा है, तब इस प्रकाश में दान पूजा आदि प्रवृत्तियों को धर्म [illegible] है। कारण, [illegible] हिंसात्मक प्रवृत्तियों तथा मलिन भावनाओं का [illegible] है। [illegible] को धर्म मानना उचित है। क्योंकि इनमें अहिंसा [illegible] है। [illegible] है।

**सूत्रकार की दृष्टि से सम्यग्दर्शन**—[illegible]

**युक्तिवाद**—इस सप्ततत्त्व व्यवस्था का उचितपना तत्त्वार्थसार में अमृतचन्द्र सूरि इस प्रकार समझाते हैं---

जीव तो उपादेय तत्त्व है और अजीव तत्त्व हेय है। अजीव के ग्रहण करने का हेतु आस्रव है। हेयरूप अजीव को ग्रहण करने का कारण वन्ध तत्त्व कहा गया है। हेय रूप अजीव के निराकरण का कारण संवर तथा निर्जरा रूप दो तत्त्व माने गये हैं। हेय का अत्यन्त क्षय होने को मोक्ष कहा है। इससे सम्यक्त्वी, मोक्ष के साधनरूप संवर-निर्जरा को उपादेय मानता हुआ आस्रव-बन्ध को हेय जानता है।

संवर और निर्जरा के लिये वह जिनेन्द्र भक्ति का आश्रय लेता है। जयधऽवला टीका में कहा है—

'अरहंतणमोकारो संपहि बंधादो असंखेज्जगुणकम्मक्खयकार ओ त्ति'

अरहन्त भगवान् के नमस्कार द्वारा वर्तमान में होनेवाले पुण्यबन्ध की अपेक्षा असंख्यातगुण-श्रेणीरूप कर्मों का क्षय होता है।

**संयम की लालसा**—अविरत सम्यग्दृष्टि जीव के हृदय में संयमी जीवन के प्रति अपार आदर और लालसा रहती है। असमर्थता वश वह संयम के प्रशस्त पथ पर नहीं चल पाता है, किन्तु वह सदा संयमी जनों का विनय करता है। द्यानतरायजी ने कहा है—

तप चाहें सुर राय करमशिखर को वज्र है।
द्वादशविध सुखदाय क्यों न करे निज शक्ति सम ॥

विषयासक्त मनुष्य, संयमी जीवन की पर्याप्त पात्रता होते हुए भी, स्वल्प मात्रा में भी व्रतादि को नहीं पालता है तथा व्रत पालन करने वालों के छिद्रों को ढूंढ़ा करता है और उनको द्रव्यलिंगी, व्यर्थ में शरीर को कष्ट देने वाला, कहकर हतभाग्य अल्पज्ञों को भी अपने ही समान इन्द्रियों का दास वनाता है। ऐसी प्रवृत्ति इस बात को सूचित करती है कि इन जीवों की खोटी बुद्धि कर्मानुसारिणी होनहार है।

सम्यग्दर्शन से जिसकी आत्मा अलंकृत होती है, वह उस समय की प्रतीक्षा करता है, जब वह श्रेष्ठ संयम को धारण कर सकेगा और ऐसी तल्लीनता को प्राप्त करेगा कि उसकी 'सुथिर मुद्रा देख मृगगण उपल खाज खुजावते'—

**महत्त्वपूर्ण मार्गदर्शन**—दर्शन पाहुड में कुन्दकुन्द स्वामी का यह मार्गदर्शन अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण है—

जं सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्केइ तं च सद्दहणं।
केवलिजिणेहिं भणिदं सद्दहमाणस्स सम्मत्तं ॥२२॥

जितनी शक्ति है, उतना चारित्र का पालन करो। जिसमें शक्ति न हो वह उस संयमी जीवन के प्रति श्रद्धा धारण करे। केवली भगवान् ने कहा है कि श्रद्धावान् जीव के सम्यग्दर्शन होता है। सम्यग्दर्शन के समान कोई भी उपकारी नहीं है, यह परम सत्य है।

शिक्षा—धर्मात्मा पुरुषों को यह शिक्षा अपने अन्तःकरण में प्रतिष्ठित करना चाहिये—

भयं याहि भवाद् भीमात् प्रीतिं जिनशासने ।
शोकं पूर्वंकृतात्पापाद् यदीच्छेद्धितमात्मनः ॥

हे भद्र ! यदि तू अपना कल्याण चाहता है तो इस भीषण संसार से भय को प्राप्त हो, जिनेन्द्र भगवान् के धर्म में प्रीति धारण कर, तथा पूर्वकृत पापों के प्रति हृदय में शोक कर।

सार्थिक दृष्टि—सम्यग्दृष्टि का ध्येय स्वरूप की उपलब्धि है – 'सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः' उसकी पूर्तिनिमित्त वह श्रद्धा को निर्मल रखता हुआ आचरण के क्षेत्र में प्रमाद छोड़ प्रगति करता है। नीति वाक्यामृत में कहा है—'स्वयमनाचरतो मनोरथाः स्वप्नराज्यसमाः' स्वयं आचरण न करके बड़े बड़े मनोरथ बनाना स्वप्न के राज्य समान है। एक मुस्लिम ज्ञानी से पूछा गया था—'आलिम (ज्ञानी) बे अमल (आचरण शून्य) कैसा है?' उस सन्त ने उत्तर दिया था, दरख्त (वृक्ष) है बेसमर (किन्तु फल नहीं है)। सम्यग्दर्शन सदाचारपूर्ण जीवन के लिये बाधक नहीं है। वह पुरुषार्थ [illegible] जीवन शोधन करता है।

[illegible] बुरा बताता है। [illegible]

बुरा जो देखन मैं चला बुरा न दीखा कोय ।
जो घट खोजा आपना मुझसा बुरा न कोय ॥

[illegible]

[illegible]

सम्यक्त्वी, आत्मपोषण के कार्य में शरीर का विशेष ध्यान नहीं रखता है। कारण, पूज्यपाद स्वामी ने कहा है—

यज्जीवस्योपकाराय तद्देहस्यापकारकम् ।
यद्देहस्योपकाराय तज्जीवस्यापकारकम् ।। (इष्टोपदेश)

मनुष्य के शरीर में श्वास के समान सम्यग्दृष्टि के जीवन में जिनेन्द्र भक्ति का वह स्थान है। उस सच्ची भक्ति के प्रकाश में वह साधक आगे कदम बढ़ाता हुआ मुक्ति मन्दिर में चला जाता है। सम्यक्त्वी के हृदय में यह भक्तिरूपी दीपिका प्रकाश देती है—

जिनेभक्तिर्जिने भक्तिर्जिने भक्तिर्दिने दिने ।
सदा मेऽस्तु सदा मेऽस्तु सदा मेऽस्तु भवे भवे ।।



सूर्य के दूर रहते हुए भी उसकी किरणों का ताप कमल को खिला सकता है तो हमारे अन्तरङ्ग में यदि त्रैलोक्यनाथ विराजमान हों तो क्या आत्म स्वरूप का विकास नहीं होगा ? अपितु अवश्य होगा ही ।

# धर्म और पुण्य का विश्लेषण

[ लेखक-पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य, सागर ]

'वत्थुसहावो धम्मो' इस लक्षण के अनुसार आत्मा का जो ज्ञायक स्वभाव है, वही धर्म है। ज्ञायकस्वभाव आत्मा को निजधर्म से विचलित करने वाला मोह कर्म है। इस कर्म के दर्शनमोह और चारित्रमोह ऐसे दो भेद हैं। दर्शनमोह के उदय से यह जीव स्व को छोड़कर पर में आत्मबुद्धि करने लगता है और चारित्रमोह के उदय से पर में ममत्व बुद्धि कर उनमें इष्ट अनिष्ट की कल्पना करता हुआ रागद्वेष रूप परिणमन करता है। आत्मा की यह अशुद्ध अथवा विभाव-परिणति यद्यपि आत्मा के ही उपादान से होती है तथापि इसमें मोहनीय कर्म की उदयावस्था निमित्त कारण है। जब तक आत्मा में यह अशुद्ध परिणति विद्यमान रहती है तब तक आत्मा धर्मरूप परिणत नहीं होता। कुन्दकुन्द स्वामी ने प्रवचनसार में धर्म की परिभाषा करते हुए कहा है—

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥

अर्थात् चारित्र ही वास्तव में धर्म है, जो धर्म है वह समभाव है और मोह-मिथ्यात्व तथा क्षोभ-रागद्वेष से रहित आत्मा का जो परिणाम है वह समभाव है। इस कथन का तात्पर्य यह है कि मिथ्यात्व और रागद्वेष से रहित आत्मा की जो परिणति है वह धर्म है, यह धर्म ही चारित्र कहलाता है। वस्तुतः में आत्मा की यह वीतराग परिणति ही धर्म है।

पं० दौलतरामजी ने भी यही भाव दर्शाया है—

'ये भाव मोहतें न्यारे, दृग ज्ञान व्रतादिक सारे।
सो धर्म जबै जिय धारे, तब ही सुख अचल निहारे ॥'

मोह से रहित जितने दर्शन ज्ञान व्रतादिक हैं वे सर्व धर्म हैं। ऐसे धर्म को जब यह जीव धारण करता है तब ही अचल—अविनाशी—मोक्ष सुख को प्राप्त होता है। मोक्ष की प्राप्ति इस वास्तविक धर्म के प्रकट हुए बिना नहीं हो सकती।

व्यवहार में दया, दान, पूजा आदि शुभ क्रियाओं को भी धर्म कहा जाता है, वह इसलिए कि [illegible] वास्तविक धर्म की प्राप्ति में सहायक होने से कहा जाता है। [illegible]

मनुष्य मात्र बाह्य क्रियाओं को धर्म मानकर करता रहे और उनसे प्राप्त होने वाले वीतराग परिणति-रूप वास्तविक धर्म पर लक्ष्य न रखे तो उसे धर्म पुरुषार्थ से साध्य होने वाले मोक्ष पुरुषार्थ की प्राप्ति नहीं हो सकती।

आजकल 'पुण्य धर्म है या नहीं ?' यह प्रश्न विवाद का विषय बना हुआ है। परन्तु आचार्यों के द्वारा अनेकान्तशैली से निरूपित वस्तुस्वरूप का विचार करने पर यह विवाद अनायास शान्त हो सकता है। 'मोहजन्य विकार से रहित आत्मा की निर्मल परिणति ही धर्म है' जब धर्म के इस लक्षण पर विचार किया जाता है तब मोह के मन्द उदय में होने वाली शुभ परिणतिरूप पुण्य को धर्म नहीं माना जाता और जब उस धर्म की प्राप्ति में सहायक होने के कारण, कारण में कार्य का उपचार कर कथन किया जाता है। तब दया, दान, पूजा आदि के शुभ परिणामरूप पुण्य को धर्म माना जाता है।

यही बात अहिंसा और दया के विषय में आती है। राग-द्वेष रूप परिणति का अभाव होना अहिंसा और परदुःख निवृत्ति का जो शुभराग है वह दया है। अहिंसा और दया के तथोक्त लक्षणों पर विचार करने से दोनों का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। इन लक्षणों के अनुसार आत्मा की वीतरागपरि-णतिरूप होने से अहिंसा धर्म है। आगम व लोक व्यवहार में जहाँ दया को धर्म कहा गया है वहाँ अहिंसा धर्म का साधक होने से उसे धर्म कहा गया है।

दया धर्म नहीं है, पूजा धर्म नहीं है, दान धर्म नहीं है। इन सब कथनों का फलितार्थ यह नहीं है कि ये सब अधर्म हैं, अन्याय हैं। इनका फलितार्थ इतना ही है कि ये आत्मा की शुद्ध परिणति नहीं हैं। जब तक मोहजन्य विकार की एक कणिका भी विद्यमान रहेगी तब तक वह शुद्ध परिणति नहीं कही जा सकती। विकार की एक कणिका भी इस जीव को मोक्ष प्राप्त होने में बाधक कारण है। इस विकारकणिका के रहते हुये देवायु आदि पुण्यप्रकृतियों का बन्ध होता है और उसके फलस्वरूप यह आत्मा संयम से च्युत हो असंयम दशा में आ जाता है और कुछ समय के लिये नहीं किन्तु सागरों पर्यन्त के लिये। वास्तविक पुरुषार्थ में जरासी कमी रह जाने के कारण यह जीव सागरों पर्यन्त के लिये अपने लक्ष्य से मोक्ष प्राप्ति से भटक जाता है।

यहाँ दान, दया आदि पुण्य क्रियाओं के करने का निषेध नहीं है। ये क्रियाएँ तो अपने पद के अनुसार करना ही चाहिये। लकड़ी के भीतर जलते हुए नागयुगल को देखकर गृहस्थावस्था में भगवान् पार्श्वनाथ की आत्मा में भी दया का भाव आता है, वे उसकी रक्षा के लिये कमठ के जीव को उपदेश देते हैं। परन्तु ज्ञानी जीव इन सब क्रियाओं को करता हुआ भी श्रद्धा में इन्हें साक्षात् मोक्षमार्ग नहीं मानता। उसकी श्रद्धा है कि इस शुभरागरूपपरिणति से देवायु का बन्ध होगा मोक्ष नहीं। आस्रव, बन्ध, संवर और निर्जरा के भावों का यथार्थ बोध सम्यग्ज्ञानी जीव को ही होता है। जो आस्रव और बन्ध के कारणों को संवर और निर्जरा का तथा संवर और निर्जरा के कारणों को आस्रव और बन्ध का कारण मानता है वह तत्वश्रद्धानी कैसे हो सकता है ? आत्मा में इन भावों की अलग अलग दूकानें

नहीं है। एक ही आत्मा में ये सब भाव होते हैं, उनका भेद रखना भेदविज्ञान का कार्य है। शरीर और आत्मा जुदे जुदे हैं, यहाँ से भेदविज्ञान शुरू होता है और आत्मा का शुद्धज्ञायकभाव तथा उसके साथ मिले हुये मोहजन्य विकारी भाव जुदे जुदे हैं, यहाँ भेदविज्ञान समाप्त होता है। भेदविज्ञान का यह अन्तिम रूप प्राप्त होने पर ही 'ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठितं' की दशा आती है। इस भेद विज्ञान की महिमा में अमृतचन्द्र स्वामी ने कहा है—

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा के किल केचन ।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥

आज तक जितने सिद्ध हुए हैं वे सब भेदविज्ञान से ही सिद्ध हुये हैं और जितने संसार के अन्दर बद्ध हैं वे सब भेदविज्ञान के अभाव से ही बद्ध हैं।

ज्ञान में से मोहजन्य विकार के दूर होने पर यह जीव अन्तर्मुहूर्त के भीतर नियम से केवलज्ञानी बन जाता है। छद्मस्थ वीतराग दशा का काल अन्तर्मुहूर्त ही है। श्रद्धा की भी बड़ी महिमा है। रागादिक विकारी भावों का सर्वथा अभाव दशम गुणस्थान के अन्त में ही होता है उसके पूर्व नहीं। परन्तु श्रद्धा के कारण यह जीव चतुर्थ गुणस्थान में ही कथञ्चित् मोक्षमार्गी बन जाता है। चतुर्थगुणस्थानवर्ती जीव के मात्र अनन्तानुबन्धी सम्बन्धी राग छूटा है अप्रत्याख्यानावरणादिप्रकृतियों से सम्बन्ध रखने वाला राग विद्यमान रहता है और उस राग के सद्भाव में यह एक दो नहीं, छियानवे हजार तक स्त्रियों के उपभोग में प्रवृत्त होता है। एक दो ग्राम नहीं किन्तु छह खण्ड का स्वामी होता है, इतने पर भी वह मोक्षमार्गी कहलाता है। और यथार्थ श्रद्धा के अभाव में मुनिलिङ्ग को धारण करने वाला व्यक्ति भी संसारमार्गी कहा जाता है।

मकान नींव से ही बनता है ऊपर से नहीं। इसी प्रकार धर्म सम्यग्दर्शन से ही शुरू होता है ऊपर से नहीं। सम्यग्दर्शन के बिना ऊपर से शुरू हुआ धर्म कब नष्ट हो जायेगा, इसकी कुछ गारन्टी नहीं है। इस कथन का यह भी तात्पर्य नहीं ग्रहण करना चाहिये कि सम्यग्दर्शन से धर्म शुरू हो गया अतः अब आगे बढ़ने की आवश्यकता नहीं है। अरे भाई! धर्म की पूर्णता तो सम्यक्चारित्र की पूर्णता पर ही निर्भर है। जब तक यह जीव पूर्ण चारित्र को प्राप्त नहीं कर लेता तब तक मोक्ष को प्राप्त नहीं हो सकता। इसीलिये आत्मकल्याण के लिये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनों की परम आवश्यकता है। यही कारण है कि समन्तभद्र स्वामी ने—

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः ।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः ॥

इस श्लोक द्वारा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को धर्म कहा है तथा इन्हीं को मोक्षमार्ग और इनसे विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र को संसार का मार्ग कहा गया है।

शरीर का धर्म स्पर्श, रस, गन्ध और रूप है तथा आत्मा का धर्म सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र अथवा अध्यात्म की भाषा में वीतरागपरिणति है। इस जीव का कल्याण वीतराग परिणति से होगा, शरीरधर्म से नहीं इसलिये वास्तविक धर्म को अंगीकार कर कल्याण के मार्ग में अग्रसर होना चाहिये।



# "पुण्य और पाप के विषय में अनेकांत"

[ लेखिका—( संघस्था ) कु० माधुरी 'शास्त्री' ]

पापं ध्रुवं परे दुःखात् पुण्यं च सुखतो यदि।
अचेतनाकषायौ च बध्येयातां निमित्ततः ॥९२॥

अर्थ—यदि पर को दुःख उत्पन्न कराने से नियम से पाप बन्ध होता है और पर को सुख उत्पन्न कराने से नियम से पुण्य का बन्ध होता है ऐसा एकान्त सिद्धान्त मान लिया जावे तब तो अचेतन पदार्थ विषकंटकादि तथा दुग्ध, अमृतादि को भी पाप और पुण्य का बन्ध होना चाहिये। अथवा कषाय रहित महामुनि को भी बन्ध होना चाहिये क्योंकि ये भी पर के सुख दुःख में निमित्त देखे जाते हैं। मतलब जब पर में सुख दुःख का उत्पादन ही पुण्य पाप का एक मात्र कारण है ऐसा माना जावेगा तो दूध, मलाई तथा विष, कंटक, शस्त्र आदि अचेतन पदार्थ जो दूसरों को सुख दुःख उत्पन्न कराने में कारण बनते हैं उनको भी पुण्य और पाप का बन्ध क्यों नहीं हो जावेगा ? यदि आप कहें कि अचेतन को पुण्य पाप का वन्ध होना कोई भी नहीं मानते हैं, किसी के पैर में कांटा चुभने से उसे दुःख होता है इतने मात्र से कांटे को कोई पापी नहीं कहता और न पापरूप फलदायक कर्म परमाणु ही उस कांटे से चिपकते हैं। इसी प्रकार दूध मलाई आदि बहुतों को आनन्द प्रदान करते हैं किन्तु उनके भी पुण्य कर्मों का बन्ध नहीं होता। अतएव पर में सुख दुःख उत्पन्न कराने मात्र से पुण्य पाप का बन्ध मानना ठीक नहीं है।

यदि आप कहें कि चेतन ही बन्ध के योग्य है अचेतन नहीं तो फिर कषाय रहित वीतरागी मुनियों के भी बन्ध होने लगेगा वे भी अनेक प्रकार से दूसरों के सुख दुःख में कारण बनते हैं। उदाहरण के लिये देखिये! साधु किसी को मुनिदीक्षा देते हैं, उपवासादि कराते हैं उनके सम्बन्धियों को और उपवास करने वालों को दुःख तो होता है। पूर्ण सावधानी के साथ ईर्यापथ से चलते हुये भी कभी-कभी अचानक कोई जीव कूदकर पैर तले दबकर मर जाता है। कायोत्सर्ग पूर्वक ध्यानावस्था में स्थित होने पर भी यदि कोई जीव उड़कर आकर उनके शरीर से टकरा जाता है और मर जाता है तो इस तरह से उस जीव के बाधक होने से मुनि दुःख के कारण बनते हैं, निर्जित कषाय ऋद्धि धारी वीतरागी साधुओं

के शरीर के स्पर्श मात्र से अथवा उनके शरीर को स्पर्श की हुई वायु के लगने से ही रोगी जन निरोगी हो जाते हैं और यथेष्ट सुख का अनुभव करते हैं ऐसे और भी अनेक प्रकार हैं जिन में वेदूसरों के सुख दुःख के कारण बनते हैं। यदि दूसरों के सुख दुःख का कारण बनने से ही आत्मा में पुण्य पाप का आस्रव होता है तो फिर ऐसी हालत में वे कषाय रहित साधु पुण्य पाप के बन्धन से कैसे बच सकेंगे ? और यदि वीतरागी के भी बन्ध होता ही रहेगा तब तो किसी को कभी भी मोक्ष की व्यवस्था ही नहीं बन सकेगी किन्तु बन्ध का कारण तो आगम में कषायें कही गई है "कषाय मूलं हि सकलं बंधनं" "सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बंधः"। इस नियम के अनुसार तो कषाय रहित जीव को बन्ध नहीं होना चाहिये। अन्यथा जब अकषायी साधु भी बन्ध को प्राप्त होने लगेंगे तब मोक्ष किसको होगी ? यदि आप कहें कि वीतरागी मुनियों के मनोभिप्राय नहीं है अतः पर में सुख दुःख उत्पन्न करने मात्र से ही उन्हें बन्ध नहीं होता है तब तो पर में सुख दुःख उत्पन्न करने मात्र से ही पुण्य पाप का बन्ध होता है यह एकान्त कहाँ रहा ? लोक व्यवहार में भी ऐसे अनेकों उदाहरण देखे जाते हैं कि मनोभिप्राय के बिना दूसरों में सुख दुःख उत्पन्न करने मात्र से ही अच्छा बुरा नहीं कहा जा सकता है। जैसे डाक्टर सुख पहुँचाने के अभिप्राय से पूर्ण सावधानी के साथ रोगी के फोड़े का ऑपरेशन करता है, फोड़े को चीरते समय रोगी को कुछ अनिवार्य दुःख भी पहुँचाता है किन्तु इस प्रकार से पर में दुःख पहुँचाने के कारण डाक्टर को पाप बन्ध न होकर पुण्य का ही बन्ध होता है। वेश्या व्यभिचारियों को सुख उत्पन्न कराती है किन्तु पाप का ही बन्ध करती है न कि पुण्य का। इसलिये पर में सुख दुःख उत्पन्न करने मात्र से पुण्य पाप का बन्ध सिद्ध नहीं हुआ।

अब कोई स्व में सुख दुःख से पाप पुण्य का बन्ध होता है इस प्रकार का एकान्त स्वीकार करते हैं उसका भी समाधान किया जाता है—

पुण्यं ध्रुवं स्वतो दुःखात्पापं च सुखतो यदि ।
वीतरागो मुनिर्विद्वांस्ताभ्यां युंज्यान्निमित्ततः ॥९३॥

अर्थ—यदि कोई कहे कि अपने में दुःख को उत्पन्न करने से पुण्य एवं सुख के उत्पन्न करने से पाप होता है तब तो, वीतरागी मुनि [illegible] कायक्लेश तपश्चरणादि अनुष्ठान से अपने में दुःख उत्पन्न करते हैं तब उन्हें पुण्य बन्ध होता रहेगा और फिर उनको कभी भी मुक्ति नहीं मिल सकेगी। तथा विद्वान् मुनि [illegible] अपने में सुख की उत्पत्ति करते हैं उनको भी पाप का बन्ध होने लगेगा। यदि आप कहें कि [illegible] वीतरागी मुनि और विद्वान् मुनि को आसक्ति या इच्छा नहीं है अतः वे पुण्य पाप से नहीं बंधते हैं, तब तो अपने में दुःख उत्पन्न करने से पुण्य एवं सुख उत्पन्न करने से पाप का बन्ध होता है [illegible] अलग-अलग [illegible] है। [illegible] पुण्य पाप [illegible] हैं—

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वाद न्याय विद्विषां ।
अवाच्यतैकांतेऽप्युक्ति र्नावाच्यमिति युज्यते ॥६४॥

अर्थ—स्याद्वाद न्याय के विद्वेषी अन्य मतावलम्बियों के यहाँ परस्पर सापेक्ष मान्यता न होने से दोनों को स्वीकार करना परस्पर विरुद्ध ही है। एवं जो तत्व को अवाच्य कहते हैं वे भी स्ववचन विरोधी ही हैं। अब जैनाचार्य स्वयं पुण्य पाप की निर्दोष व्यवस्था बताते हुये स्याद्वाद की सिद्धि करते हैं—

विशुद्धि संक्लेशांगं चेत्, स्वपरस्थं सुखासुखं ।
पुण्यपापास्रवौ युक्तौ न चेद् व्यर्थस्तवार्हतः ॥६५॥

अर्थ—विशुद्धि के निमित्त से होने वाले सुख अथवा दुःख चाहे स्वयं में हों चाहे पर में हो चाहे उभय में हों वही पुण्यास्रव का हेतु है तथा संक्लेश के निमित्त से होने वाला सुख अथवा दुःख चाहे वह स्व में हो चाहे पर में हो चाहे उभय में हो वही संक्लेश ही पापास्रव का हेतु है और यदि विशुद्धि तथा संक्लेश दोनों में से कोई न रहे तब तो हे भगवन् ! केवल पर में सुख दुःख उत्पन्न करने से या स्व में सुख दुःख उत्पन्न करने मात्र से कर्मबन्ध नहीं हो सकता वह तो व्यर्थ ही है। यहाँ संक्लेश से अभिप्राय आर्त रौद्रध्यान के परिणामों से है और विशुद्धि शब्द से धर्म शुक्लध्यान से धर्म शुक्ल रूप परिणाम समझना चाहिये। यहाँ विशुद्ध परिणाम प्रशस्त माने गये हैं एवं संक्लेश परिणाम अप्रशस्त माने गये हैं।

विशुद्धि के कारण, विशुद्धि के कार्य और विशुद्धि के स्वभाव को "विशुद्धि अंग" कहते हैं तथा संक्लेश के कारण, संक्लेश के कार्य एवं संक्लेश के स्वभाव को संक्लेशांग कहते हैं। अपने में हो चाहे पर में, सुख उत्पन्न हो या दुःख, यदि विशुद्धि अंग को लिये हुये है तब तो वह पुण्य रूप शुभ बन्ध का हेतु होता है और यदि संक्लेश का अंग रूप है तब तो पापबन्ध का हेतु होता है अन्यथा नहीं।

"मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगाः बन्ध हेतवः" इस सूत्र के द्वारा मिथ्यादर्शन, अविरति प्रमाद, कषाय और योग ये बन्ध के कारण ही संक्लेश के कारण हैं। हिंसादि क्रिया रूप कार्य संक्लेश कार्य हैं एवं आर्त रौद्रध्यान रूप परिणाम संक्लेश स्वभाव हैं। उसी प्रकार से सम्यग्दर्शनादि विशुद्धि के कारण हैं, धर्मध्यान, शुक्लध्यान उसके स्वभाव हैं और विशुद्ध परिणाम उसके कार्य हैं। "कायवाङ्मनः कर्मयोगः" "स आस्रवः" "शुभः पुण्यस्याशुभःपापस्य" इन तीनों सूत्रों के द्वारा शुभकायादि व्यापार को पुण्याश्रव का हेतु और अशुभकायादि व्यापार को पापास्रव का हेतु बताया गया है। वह कथन भी इस "समन्तभद्र स्वामि के कथन के अभिप्राय से विरुद्ध नहीं है क्योंकि विशुद्धि और संक्लेश के कारण, कार्य और स्वभाव के द्वारा विशुद्ध परिणाम और संक्लेश परिणाम की व्यवस्था बन जाती है।

आर्तध्यान के इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, वेदना और निदान नाम के चार भेद हैं। तथा रौद्रध्यान के हिंसानन्दी, मृषानन्दी, चौर्यानन्दी और परिग्रहानन्दी ऐसे चार भेद हैं। तथा संक्लेश के अभावरूप धर्म्यध्यान के भी आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय ये चार भेद हैं। शुक्लध्यान के पृथक्त्ववितर्क, एकत्व वितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति एवं व्युपरतक्रियानिवृत्ति नाम के चार भेद हैं। आर्त-रौद्रध्यान तो संसार के हेतु हैं और धर्म तथा शुक्लध्यान मोक्ष के हेतु माने गये हैं क्योंकि सम्यग्दर्शनादि परिणाम रूप धर्म शुक्ल ध्यान से ही आत्मा में स्थिरता आती है।

सारांश यह निकला कि यदि हमारे परिणाम संक्लेश रूप हैं तो चाहे पर में सुख उत्पन्न हो चाहे दुःख अथवा अपने में ही चाहे सुख उत्पन्न हो चाहे दुःख, किन्तु पापकर्म का आस्रव हमें अवश्य ही हो जाता है। इसी प्रकार से यदि हमारे परिणाम विशुद्धि रूप हैं तो चाहे पर में सुख हो या दुःख अथवा अपने में सुख हो चाहे दुःख किन्तु पुण्य कर्मों का ही आस्रव होता है। पुनः धीरे धीरे विशुद्धि बढ़ते-बढ़ते जब यह जीव कषाय रहित हो जाता है तब पुण्य पाप का बन्ध समाप्त हो जाता है केवल संवर निर्जरा होती है और पूर्ण संवर निर्जरा से मोक्ष हो जाती है। पहले गुणस्थान से लेकर दसवें तक कषाय का अस्तित्व होने से कर्मबन्ध होता रहता है क्योंकि स्थिति और अनुभाग बन्ध में कषाय ही हेतु है और ये ही दो बन्ध दुःखदायी हैं शुभ अशुभ फल देने वाले हैं। इसके बाद ११ वें से तेरहवें गुणस्थान तक योग के निमित्त से प्रकृति और प्रदेश बन्ध होता है जिसकी स्थिति न पड़ने से वह कार्यकारी नहीं है। चौदहवें गुणस्थान में बन्ध के पाँचों ही ( मिथ्यादर्शनादि ) कारणों का अभाव हो जाने से सर्वथा बन्ध का अभाव होकर मोक्ष हो जाता है। अतः संक्लेश परिणामों से ( कारण, कार्य स्वभावों से ) सदैव बचना चाहिये और परिणामों को सदैव निर्मल विशुद्ध धर्मध्यान रूप बनाते रहना चाहिये इसी से शुद्ध स्वभाव की सिद्धि होकर कर्मों का नाश हो सकेगा। अब आचार्य सप्तभंगी की प्रक्रिया का अच्छा दिग्दर्शन कराते हैं—

(१) कथंचित् स्वपर में स्थित सुख दुःख पुण्यास्रव के हेतु हैं क्योंकि विशुद्धि के अंग स्वरूप हैं।

(२) कथंचित् स्वपर में स्थित सुख दुःख पापास्रव के हेतु हैं क्योंकि संक्लेश के अंग स्वरूप हैं।

(३) कथंचित् स्वपर में स्थित सुख दुःख पुण्यास्रव और पापास्रव के हेतु हैं क्योंकि क्रम से विशुद्धि और संक्लेश हेतु विवक्षित हैं।

(४) कथंचित् स्वपर में स्थित सुख दुःख अवक्तव्य हैं क्योंकि दोनों हेतु एक साथ कहे नहीं जा सकते हैं।

(५) कथंचित् स्वपर में स्थित सुख दुःख पुण्यास्रव के हेतु [illegible]
[illegible]

(६) कथंचित् स्वपर में स्थित सुख दुःख पापास्रव के हेतु एवं अवक्तव्य हैं क्योंकि क्रम से संक्लेश हेतु और एक साथ न कह सकने की विवक्षा है।

(७) कथंचित् स्वपर में स्थित सुख दुःख पुण्यास्रव, पापास्रव के हेतु और अवक्तव्य हैं क्योंकि क्रम से विशुद्धि, संक्लेश परिणाम होना और एक साथ दोनों को कह न सकना ये दोनों बातें क्रम और युगपत् से विवक्षित हैं।

इस सप्तभङ्गी प्रक्रिया के द्वारा हम किसी बात का एकान्त हठाग्रह नहीं पकड़ते हैं और कथंचित् रूप अनेकान्त पद्धति से वस्तु तत्व को अच्छी तरह से समझ लेते हैं और विशेष समझने के लिये अष्टसहस्री आदि ग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिये।



# विश्वतत्त्वप्रकाशक स्याद्वाद

[ लेखक श्री पं० दयाचन्द्रजी साहित्याचार्य, सागर ]

विश्व के दर्शनों में प्राचीन भारतीय जैन दर्शन का अस्तित्व प्रागैतिहासिक माना गया है जो कि वेदों, पुराणों और पुरातत्वसामग्री से सिद्ध होता है। जो द्रव्यभावकर्मरूप शत्रुओं पर विजय प्राप्त करे वह जिन कहा जाता है, जिन के द्वारा प्रणीत धर्म जैनधर्म कहा गया है। अथवा जिन मानवों का देवता जिन देव है वे जैन कहे जाते हैं, जैनों का धर्म जैनधर्म कहा जाता है। सामान्यतः उसको जैनदर्शन भी कहते हैं। अहिंसा-अनेकान्त-( स्याद्वाद )-कर्मवाद-द्रव्यवाद-अध्यात्मवाद और अपरिग्रहवाद ये जैनधर्म के मौलिक सिद्धान्त हैं। उनमें जैन दर्शन का दिव्यचक्षु विश्वतत्त्वप्रकाशक, वस्तुतत्त्व-प्रदर्शक ऐसा स्याद्वादमार्तण्ड एक प्रधान सिद्धान्त है। यह निश्चयतः जैनदर्शनभवन के आधारशिला रूप से अपनी सत्ता को स्थापित करता है।

विश्वशान्तिप्रद अहिंसा धर्म की प्रतिष्ठा के लिये दार्शनिक क्षेत्र में यह अपूर्व स्याद्वादसिद्धान्त अखिल विश्व के समक्ष जैन दर्शन की बड़ी देन है। सत्यासत्य निर्णायक, विश्वमैत्री विधायक यह स्याद्वाद सूर्य के समान मिथ्याज्ञानरूप तिमिर को नयप्रमाणरूप किरणों के द्वारा समूल विनष्ट कर देता है। इसीलिये उसकी आवश्यकता प्रतीत होती है। उसके बिना मानव की आत्मा में विश्व तत्त्वों का आलोक नहीं हो सकता है।

**स्याद्वाद का उदय—**

जैनदर्शन की मान्यता है कि जगत् की प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्म विशिष्ट है यह युक्ति प्रमाण और स्वानुभव से सिद्ध है। जैसे कदलीफल में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व,

अमेयत्व, अदेयत्व, क्षुधानुत्पादित्पित्तशान्तिकरत्व, कफकरत्व आदि अनेक दोष एवम् गुण हैं। निश्चयतः एक पूर्णज्ञान उन अनन्त धर्मों को युगपत् जानने के लिये समर्थ है परन्तु एक समय में क्रमशः उत्पन्न अल्पप्रयोग या अपूर्ण ज्ञान, वस्तु के एक ही धर्म या गुण को एकदेशरूप से ही कहने में समर्थ है सर्वगुणों को नहीं। जैसे नारिकेलफल में क्रम से मधुरता, शीतलता, सुगन्धता आदि का कथन। द्रव्य के नित्य अनित्य आदि परस्परविरुद्ध दो गुणों का सापेक्षकथन स्याद्वाद के माध्यम से ही लोक में सफल होता है। उसके द्वारा ही समस्त द्रव्यों के पूर्णतत्त्वों का ज्ञान होता है अतएव स्याद्वाद का माध्यम वस्तु विज्ञान के लिये, कथन का पारस्परिक विरोध दूर करने के लिये और लौकिक विवाद की शान्ति के लिये परम आवश्यक है। इसी लक्ष्य से श्री ऋषभदेव-महावीर आदि तीर्थंकर परमदेवों ने अपने दिव्य उपदेश से उस स्याद्वादसिद्धान्त ( अनेकान्तवाद ) का सफल आविष्कार या विकास किया है।

स्याद्वाद की रूपरेखा—

अनन्तगुणात्मक द्रव्य के, स्यात्=अपेक्षावश, वाद=किसी एक गुण का मुख्यतः कथन करना तथा अन्य गुणों की सत्तामात्र सिद्ध करना स्याद्वाद अथवा अनेकान्तवाद कहा जाता है। अथवा वस्तु के परस्पर विरोधी दो धर्मों का स्यात्—अपेक्षा या दृष्टिकोण से कथन करना स्याद्वाद कहा जाता है। अथवा जहाँ पर वस्तु के गुणों के कथन में अपेक्षा या दृष्टिकोण का सूचक अपि ( भी ) का प्रयोग हो, किन्तु एव ( ही ) का प्रयोग न हो उसे स्याद्वाद कहते हैं। जैसे वस्तु नित्य भी है और अनित्य भी है। वस्तु नित्य ही है ऐसा कहने से एक ही गुण का कथन होता है जब कि वस्तु में अनेक गुण पाये जाते हैं। जैन दार्शनिकों ने स्याद्वाद की व्याख्या अनेक प्रकार से व्यक्त की है। तथाहि—

"अनेकान्तात्मकार्थकथनं स्याद्वादः"

( लघीयस्त्रय में-श्री भट्टाकलङ्कदेव )

अर्थात्—अनेकधर्म वाली वस्तु में प्रयोजनवश गुणों का कथन करना स्याद्वाद है।

"अर्पितानर्पितसिद्धेः"

( तत्त्वार्थसूत्र अ० ५, सू० ३२ )

अर्थात्—विवक्षा, नय अथवा दृष्टिभेद से एक वस्तु में विरुद्ध अनेक धर्मों का कथन करना स्याद्वाद है। इस प्रकार एक वस्तु में स्याद्वाद शैली से नित्य-अनित्य, एकत्व-अनेकत्व, सामान्य-विशेष, भाव-अभाव, मूर्तत्व-अमूर्तत्व, [illegible] आदि अनेक धर्मों की सत्ता सिद्ध होती है।

स्याद्वाद और अनेकान्तवाद—

कोई कोई विद्वानों ने स्याद्वाद और अनेकान्तवाद के दो स्वतन्त्र भेद माने हैं। इनमें कोई अन्तर है या नहीं? यह प्रश्न विचारणीय है।

सामान्य विवक्षा की अपेक्षा से अनन्त द्रव्य के अनन्तगुणों की [illegible] होने से स्याद्वाद और अनेकान्तवाद में कोई अन्तर नहीं है। इन दोनों में [illegible]

एवं निर्विवाद लौकिक व्यवहार सिद्ध होता है। दार्शनिक ग्रन्थों में तथा धर्मग्रन्थों में प्रायः अनेकान्त पद से स्याद्वाद का और स्याद्वादपद से अनेकान्त का ग्रहण किया गया है। तथाहि—

"सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम्"

( पुरुषार्थ सिद्धच् ुपाय श्लोक–२ )

अर्थात्–समस्त नयों से प्रकाशित द्रव्यगुणों के विरोध का विनाशक ऐसे अनेकान्त या स्याद्वाद को मैं अमृतचन्द्र प्रणाम करता हूं। उक्त प्रमाण से स्याद्वाद और अनेकान्त में अभेद सिद्ध होता है।

शब्द और अर्थ विशेष की अपेक्षा से उन दोनों में अन्तर सिद्ध होता है। तथाहि–अनेकान्त अर्थात् अनेक धर्मों की एक द्रव्य में सत्ता सिद्ध करना। स्याद्वाद अर्थात् विभिन्न दृष्टिकोणों से वस्तु के अनेक धर्मों या गुणों का क्रमशः कथन करना। अपि च–अनेकान्तवाद–साध्य, लक्ष्य, वाच्य, प्रमाण और निश्चयरूप है तथा स्याद्वाद साधक, वाचक, ज्ञायक, निर्देशक और व्यवहाररूप है। सारांश यह है कि अनेकान्त, वस्तु में अनेक गुणों की सत्ता दर्शाता है और स्याद्वाद विवक्षा से उन गुणों का क्रमशः कथन करता है इस दृष्टि से अनेकान्त और स्याद्वाद में वाच्य वाचक का भेद होता है। अनेकान्त वाच्य है और स्याद्वाद वाचक।

## स्याद्वाद के विविध प्रयोग—

यह स्याद्वाद सात प्रकार की शैली के माध्यम से वस्तु या द्रव्य के गुणों का प्रदर्शन करता है। सापेक्ष वस्तु के गुणों का कथन, सत्य का अन्वेषण, विवाद की शान्ति और परस्पर मैत्री कराने के लिये स्याद्वादशैली परमोपयोगी है। वह सात प्रकार की है जिसको सप्तभङ्गी [ Seven aspects ] भी कहते हैं। सप्तभङ्गी की रूपरेखा इसप्रकार है—

"प्रश्नवशादेकस्मिन्वस्तुनि अविरोधेन विधिप्रतिषेधविकल्पना सप्तभङ्गी"

( तत्त्वार्थराजवार्तिक अ० १ सू० ६ )

अर्थात्–एक द्रव्य के एक धर्म या गुण का अविरोध रूप से सद्भाव अथवा निषेध की रीति द्वारा सात प्रकार का कथन करना सप्त भङ्गी ( सात प्रकार ) कहलाती है। जैसे रस की सप्तभङ्गी–रस के मूल प्रकार तीन होते हैं १ मधुर, २ खट्टा, ३ कटुक। इन तीनों प्रकारों से सात तरह का रस बन जाता है, १ मधुर, २ खट्टा, ३ कटुक, ४ मधुरखट्टा, ५ मधुरकटुक, ६ खट्टाकटुक, ७ मधुरखट्टाकटुक। उसी प्रकार द्रव्य के एक गुण अस्तित्व के मूल भेद तीन होते हैं, १—विधि ( सद्भाव ), २ निषेध, ३ अवक्तव्य। इन तीनों से सप्तभङ्ग ( सातप्रकार ) हो जाते हैं, १ अस्तित्व, २ नास्तित्व, ३ अवक्तव्य, ४–अस्तिनास्तित्व, ५ अस्ति अवक्तव्य, ६ नास्ति अवक्तव्य, ७ अस्तिनास्ति अवक्तव्य। इसी प्रकार द्रव्य के अनन्तगुणों में प्रत्येक के ७–७ प्रकार होने से द्रव्य अनन्तगुणों या धर्मों का आधार सिद्ध होता है। एक गुण के सात प्रयोग स्पष्टतया इसप्रकार होते हैं १–स्वद्रव्यक्षेत्रकालभाव की अपेक्षा से पुस्तक है। २ अन्य

द्रव्य या वस्तु-क्षेत्र के चतुष्टय की अपेक्षा से पुस्तक नहीं है। ३-पुस्तक के अस्ति-नास्ति रूप दो धर्मों का शब्दों के द्वारा एक साथ कथन नहीं हो सकता है अतः पुस्तक अवक्तव्य ( नहीं कहने योग्य ) है। ४-स्व-चतुष्टय की अपेक्षा से पुस्तक है और उसी काल में परचतुष्टय की अपेक्षा से पुस्तक नहीं है, इस विवक्षा से पुस्तक उभयरूप है। ५-यद्यपि स्वचतुष्टय की अपेक्षा पुस्तक है तथापि उस गुण को शब्दों द्वारा निश्चय से कह नहीं सकते हैं, अतः पुस्तक अस्ति अवक्तव्य है। ६-यद्यपि परचतुष्टय की अपेक्षा पुस्तक नहीं है तथापि पुस्तक के नास्तित्वगुण को निश्चय से शब्दों द्वारा नहीं कह सकते हैं अतः पुस्तक नास्ति अवक्तव्य है। ७-यद्यपि स्वपरवस्तु चतुष्टय की अपेक्षा पुस्तक अस्तिनास्ति रूप है तथापि पुस्तक के उभय रूप गुण को निश्चयतः शब्दों द्वारा नहीं कहा जा सकता है, अतः पुस्तक अस्तिनास्ति अवक्तव्यगुण सहित है। कारण कि शब्दों में वस्तु के गुणों को एक साथ कहने की सामर्थ्य नहीं है।

इस प्रकार प्रत्येक वस्तु के प्रत्येक गुण का कथन या व्यवहार सप्तविध शैली से हो सकता है। शङ्कान्वेषकों की जिज्ञासा सात प्रकार से होती है। एवं विधि, निषेध और अवक्तव्य इन तीन मूल भेदों से सात ही अपुनरुक्त प्रकार हो सकते हैं, इन तीन युक्तियों से स्याद्वाद की वर्णन शैली सात प्रकार ही सिद्ध होती है इससे अधिक या कम प्रकार से नहीं।

'स्यात्' पद की व्याख्या—

संस्कृत व्याकरण में 'स्यात्' यह तिङन्तप्रतिरूपक अव्यय है जो विवक्षा का द्योतक ( वाचक ) है। इसका पर्यायवाचक शब्द "कथञ्चित्" है। इसका स्पष्ट अर्थ—विवक्षा, अपेक्षा, दृष्टिकोण, एक देशत्व और सत्यार्थत्व है। स्यात्—इस अव्यय का शायद, सम्भव कदाचित्, सन्देह, अनुमान, अनिश्चय ये लोकप्रसिद्ध अर्थ उपयुक्त नहीं है। प्राकृतभाषा और पालीभाषा में "स्यात्" के अर्थ में 'सिया' शब्द का प्रयोग होता है। जो वस्तु के निश्चित् भेद या गुण ( धर्म ) का वाचक प्रसिद्ध है। जैसे दीघनिकाय 'मज्झिमनिकाय' के महा राहुलोवादसुत्त में कहा गया है—"कतमा च राहुल आपो धातु ? आपो धातु सिया अज्झत्तिका सिया बाहिरा" प्रश्न—जलधातु कितने प्रकार की है ? उत्तर—जलधातु सिया ( स्यात्—किसी अपेक्षा से ) आभ्यन्तररूप है और किसी अपेक्षा से बाह्यरूप है इन दृष्टिकोणों से जलधातु दो प्रकार की है।

इसी प्रकार स्यात्—किसी अपेक्षा से 'पुस्तक है' यहाँ पर स्यात् पद विवक्षित अस्तित्व ( है ) का वाचक है और अविवक्षित नास्तित्व ( नहीं है ) का द्योतक है। "द्योतकाश्च भवन्ति निपाताः" [illegible]

( [illegible] पृ० २३ )

[illegible]

क्रमिकविवक्षा से ही मुख्य गुण का कथन और गौण गुण का सूचन 'स्यात्' पद के द्वारा होता है। इसी विषय का स्पष्टीकरण आप्तमीमांसा में भी किया गया है—

वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्यम्प्रतिविशेषकः।
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात्तव केवलिनामपि ॥१०३॥
स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात्किंवृत्तचिद्विधिः।
सप्तभङ्गनयापेक्षो हेयादेयविशेषकः ॥१०४॥ इति

## विविध दर्शनों के समन्वय में स्याद्वाद—

प्राचीन काल में भारत में दर्शनों का आविष्कार धार्मिक सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा के लिये हुआ था और धार्मिक सिद्धान्त सदा लोकहितकारी होते हैं। इसलिये दर्शन का परम लक्ष्य भी लोककल्याण सिद्ध होता है। राष्ट्रों में सर्वदा दर्शन, धर्म, सिद्धान्त और विविध विचारों का विवाद, संघर्ष तथा परस्पर प्रतिक्रिया हुई है और हो रही है। इस दूषित वातावरण से दर्शन के लोकहित रूप लक्ष्य की पूर्ति कभी नहीं हो सकती है। इसलिये दर्शनों, सिद्धान्तों और विचारों के समन्वय की इस विज्ञान युग में अत्यावश्यकता है। वस्तुतत्त्व ज्ञान के बिना दर्शनों का समन्वय होना दु:साध्य है और वह सत्यार्थ वस्तुविज्ञान स्याद्वादशैली के माध्यम से ही व्यक्त होता है। इसलिये स्याद्वाद विविध दर्शनों के एकीकरण का मूल साधन है।

श्री ऋषभदेव आदि २४ तीर्थंकरों ने और उनकी शिष्य परम्परा में होने वाले प्राचीन आचार्यों ने स्याद्वाद के माध्यम से भाषाशक्ति तथा वर्णनसौन्दर्य को दर्शाकर और अनेकान्त के माध्यम से निष्पक्षता एवं वस्तुतत्त्व को प्रदर्शित कर मतान्तरों का समन्वय, समस्याओं का समाधान, विचारों का संशोधन, हिंसा आदि दुष्कृतों का बहिष्कार और मानव समाज के सुधारों को किया था। इसलिये समस्त एकान्त वादों का अनेकान्त में अन्तर्भाव सिद्ध हो जाता है। यह स्याद्वाद की ही महती कृपा है।

जिस प्रकार एक गज के विषय में सात जात्यन्ध पुरुषों के उत्पन्न विवादों को एक स्याद्वादी समाप्त कर उनको प्रसन्न कर देता है। उसी प्रकार दर्शनों तथा विचारों के विवादों को समाप्त कर एक स्याद्वादी सब मानवों को समानरूप से प्रसन्न कर देता है।

## दार्शनिक क्षेत्र में स्याद्वाद का प्रभाव—

स्याद्वाद के माध्यम से दर्शनों और सम्प्रदायों का समन्वय होने पर स्याद्वाद का उन दर्शनों तथा सम्प्रदायों पर प्रभाव स्वयमेव सिद्ध हो जाता है। लोक का संयोग वियोगरूप विधान तथा लोक का व्यवहार भी सापेक्षरूप से ही उपयोगी सिद्ध होता है। अन्यथा लोक क व्यवस्था तथा व्यवहार न्यायपूर्ण हो ही नहीं सकता। अतएव इस लोक को "दुनिया" ( निश्चय-व्यवहाररूप दो नय वाला ) इस सार्थक नाम से कहा जाता है। जैनदार्शनिकों की मान्यता है कि विश्व के दर्शन या वाद स्याद्वाद में ही अन्तर्गत

हो जाते हैं अतएव ये सब स्याद्वाद से प्रभावित देखे जाते हैं। जैसे ऋजुसूत्रनय से बौद्धदर्शन, संग्रहनय से वेदान्त दर्शन, नैगमनय से न्याय तथा वैशेषिक दर्शन, शब्दनय से शब्दब्रह्मदर्शन और व्यवहार नय से चार्वाकदर्शन प्रभावित हैं। ( अहिंसादर्शन पृ० २९९-३०० )

## विज्ञान के आलोक में स्याद्वाद—

जिस प्रकार दार्शनिक क्षेत्र में स्याद्वाद का अस्तित्व और महत्त्व सिद्ध होता है उसी प्रकार वैज्ञानिक क्षेत्र में भी उसका अस्तित्व एवं महत्त्व सिद्ध होता है। वास्तविक स्याद्वाद से अनभिज्ञ व्यक्तियों का मत हो सकता है कि स्याद्वाद और विज्ञान में विरोध है। परन्तु तर्क पूर्ण विचारों से सिद्ध होता है कि स्याद्वाद तथा विज्ञान में कोई विरोध नहीं है। कारण कि स्याद्वाद और विज्ञान दोनों द्रव्य की शक्तियों के परीक्षक, आविष्कारक और प्रतिपादक होने से कार्यकारी ( उपयोगी ) सिद्ध होते हैं। विश्व के प्रसिद्ध वैज्ञानिकों ने भी परमाणुओं में अनन्त शक्ति, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य ( नित्यता ), संयोग वियोग, गति, स्थिति, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श को अपेक्षाकृत स्वीकार किया है। अन्तर इतना है कि दार्शनिक तीर्थंकर सर्वज्ञ के पूर्णज्ञाता तथा अन्वेषक थे और आधुनिक वैज्ञानिक मात्र जड़वस्तु के ही एकदेश ज्ञाता और अन्वेषक हैं। आत्मा आदि द्रव्यों का अन्वेषण तथा परीक्षण उनकी दृष्टि से दूर है।

आधुनिक अनेक वस्तुओं के आविष्कार में अपेक्षावाद या स्याद्वाद की रीति से ही वस्तुतत्त्वों का परीक्षण होता है, प्रयोग होता है, आविष्कार या विकास होता है। अतः स्याद्वाद भौतिक आविष्कारों का भी एक प्रधान माध्यम है।

जर्मन देश के विज्ञानवेत्ता सर अल्बर्ट आइन्स्टाइन महोदय ने दर्शनशास्त्र का अध्ययन कर सन् १९०५ में सापेक्षवाद ( The Theory of Relativity ) सिद्धान्त का आविष्कार करते हुए मानव जीवन के व्यवहार में और विविध समस्याओं के समाधान में उसका उपयोग किया है। उनके अंग्रेजी गद्यांश का अनुवाद इस प्रकार है—

"हम केवल सापेक्ष सत्य को ही जान सकते हैं, वस्तु के पूर्ण सत्यांशों को ( निरपेक्ष सत्य को ) केवल विश्वद्रष्टा ही जान सकता है कारण कि वस्तु में अनेक गुण रहते हैं और वे स्याद्वाद से ही अपेक्षाओं द्वारा जाने जा सकते हैं"।

( अणुव्रत [illegible] अप्रैल [illegible] । [illegible] वर्ष [illegible] पृ० [illegible] )

अमेरिका के प्रसिद्ध वैज्ञानिक [illegible] महोदय ने स्याद्वाद की [illegible] निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया है—

"[illegible] is an important principle of Jain logic, not commonly accepted by the [illegible] metaphysical [illegible]."

( [illegible] Vol [illegible] )

सारांश—अनेकान्त जैनदर्शन का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है जिसको पश्चिमी वैज्ञानिकों और हिन्दु तर्कशास्त्रियों द्वारा सामान्यरूप से ही नहीं स्वीकृत किया गया है किन्तु उसको भौतिक एकता या समझौता द्वारा विश्व शान्ति के लिये भी प्रमुख सिद्धान्त माना गया है।

श्री डा० सम्पूर्णानन्द महोदय का मत—

"जैनदर्शन ने दर्शन शब्द की काल्पनिक भूमि को छोड़कर वस्तुतत्त्व के परिज्ञान में वस्तु स्थिति के आधार से समीकरण और यथार्थ तत्त्वज्ञान की अनेकान्त दृष्टि तथा स्याद्वादभाषा विश्व के लिये प्रदान की है"।

( जैनदर्शन पृ. ५६० )

उक्त प्रमाणों से स्याद्वाद ( अनेकान्तवाद ) एक वैज्ञानिक सिद्धान्त सिद्ध होता है।

## राष्ट्रीयक्षेत्र में स्याद्वाद—

जिसप्रकार एक वस्तु में परस्पर विरुद्ध दो धर्मों अथवा अनेक धर्मों के विरोध को नयचक्र से दूरकर स्याद्वाद एकीकरण करता हुआ वस्तुस्वरूप की व्यवस्था को बनाता है। उसी प्रकार महाद्वीपों राष्ट्रों और विभिन्न देशों में निवास करने वाले मानवों के विविध विचारों, धर्मों और सम्प्रदायों में विभिन्न दृष्टिकोणों से पारस्परिक विरोध को दूर कर उनमें मैत्री की भावना को जागृत करता है। वह स्याद्वाद सामाजिक विरोध, विप्र आदि वर्णविरोध, जीवनविरोध, भाषाविरोध, प्रान्तविरोध और पदाधिकार के विरोध को तार्किक तथा नैतिक दृष्टि से दूर कर राष्ट्रीय क्षेत्र में एकता एवं शान्ति स्थापित करता है।

एकीकरण अथवा शान्ति की भावना से राष्ट्रों के विरोध को दूर कर अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा भारतचीन, भारतपाक आदि देशों की समस्याओं का उचित समाधान कर पंचशील के दृष्टिकोण से वह स्याद्वाद विश्वशान्ति स्थापित करने में पूर्ण समर्थ है।

## लोकव्यवहार में स्याद्वाद—

मानव का समस्त व्यवहार और वातावरण सापेक्ष है। यदि निरपेक्ष माना जाय तो क्षणमात्र भी लोक की व्यवस्था और व्यवहार उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकता है। अपेक्षावाद से सत्यकर्तव्य का अन्वेषण होता है और सत्य के अन्वेषण में मानव की सदैव स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। सत्य-व्यवहार में उपस्थित विरोध एवं समस्या का निराकरण स्याद्वाद ही करता है इसीलिये वह जैनदर्शन में लोकव्यवहार का नेता कहा गया है। कहा भी है—

"जेण विणा लोगस्सति, विवहारो सव्वहान निव्वडई।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो, णमो अणेगंत वायस्स ॥"

( सन्मति तर्क प्रकरण—३/६८ )

अर्थात्—जिनके बिना सब प्रकार का लोक व्यवहार सिद्ध नहीं होता है ऐसे लोक के प्रधान गुरु उस अनेकान्तवाद को नमस्कार है।

विश्व में मानव एक बुद्धिसम्पन्न प्राणी है। वह अपनी बुद्धि से किसी भी विषय पर सब प्रकार से परामर्श करके सत्य-असत्य के निर्णय में, हेय-उपादेय के निश्चय में और उपयोगी वस्तु के निरीक्षण करने में समर्थ होता है। अतः परीक्षा प्रधानी मानव किसी अन्य व्यक्ति की वार्ता को सुनकर स्याद्वाद शैली से विचार करते हुए ही उसका हेय-उपादेयरूप निश्चय करता है। अन्यथा पक्षपातपूर्वक एक ही पक्ष का विचार करने पर निश्चय ही कलह या विरोध आगे दौड़ता है। वस्तु का सही उपयोग जीवन में नहीं हो पाता है। हमारा कथन सत्य ही है और अन्य का कथन असत्य ही है इस प्रकार का हठवाद वस्तु निर्णय के लिये स्याद्वादी मानव को लोकव्यवहार में उपयोगी नहीं है।

इस स्याद्वादशैली के उपयोग से मानव के जीवन का विकास, मैत्रीभाव सहयोग और सामाजिक सुधार आदि महान् कार्य होते हैं। इसके अतिरिक्त दैनिक कर्तव्य, दहेजप्रथा, धार्मिक उत्सव, व्यापार, भोजन, चिकित्सा, व्यायाम, विद्याभ्यास आदि समस्त कार्यों में अविरोध रूप से सफलता प्राप्त होती है।

## साम्प्रदायिकता के निराकरण में स्याद्वाद—

मानव के हृदय में विभिन्न मान्यताओं, विचारों और मतभेदों का उदय सर्वत्र होता रहता है और उनके निमित्त से संघर्ष भी सर्वत्र होते रहते हैं। विश्व तथा भारतीय इतिहास में साम्प्रदायिक संघर्ष, विरोध और परिवर्तनों की सैकड़ों घटनाएं भरी पड़ी हैं। विचार किया जाय तो इन मतभेदों तथा मान्यताओं के एकीकरण का एवं सामाजिक शान्ति का मूल मन्त्र स्याद्वाद ही सिद्ध होता है। यह ही कट्टरता और साम्प्रदायिकता तथा पक्षपात को निरस्त करने में समर्थ है।

## धार्मिक मतभेदों में स्याद्वाद—

वर्तमान युग में धर्म के विषय में अनेक मान्यताओं तथा विचारों का उदय और तन्निमित्तक विरोध [illegible] बुद्धि का [illegible] किया जा रहा है। जैसे निमित्त-उपादान, निश्चय-व्यवहार, पुण्य-पाप, [illegible], क्रमबद्ध-अक्रमबद्धपर्याय, बन्ध-मोक्ष इत्यादि। इन विषयों का समाधान या निर्णय स्याद्वादपद्धति द्वारा ही उचित रीति से हो सकता है। व्यक्तिगत एवं सामाजिक विवाद तथा विरोध, [illegible] करना चाहिये और आत्मकल्याण के मार्ग का [illegible] चाहिये। इस शैली से ही [illegible] के पद से [illegible] आचार्य ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—

[illegible] ।
[illegible] ॥८॥

( [illegible] ८ )

अर्थात्—जो मानव वस्तुस्वरूप के द्वारा व्यवहारनय और निश्चयनय को सत्यता से जानकर पक्षपात रहित होता है वह मानव ही गुरु द्वारा दिये गये उपदेश के सच्चे कल्याणकारी फल को प्राप्त होता है।

## अहिंसा के लोक में स्याद्वाद—

जैनदर्शन में स्याद्वादशैली से ही अहिंसा की साधना दर्शाई गई है जो अहिंसा प्राणियों के जीवन संरक्षण करने में तथा आत्मा के विकारों को दूर करने में श्रेष्ठ माता के समान है। अनेकान्त की दृष्टि से वस्तुओं के यथार्थ तत्त्वों का ज्ञान होता है और तत्त्वज्ञान से मानस की शुद्धि होती है। क्रोध, घमण्ड, लोभ, छल आदि दोष रहित मानस या आत्मा की शुद्धि ही मानसिक अहिंसा है। वस्तुतत्त्व को सत्यता से कहने के लिये स्याद्वादशैली से कहा गया सत्यवचन ही वाचनिक अहिंसा है और दोनों की शुद्धिपूर्वक शरीर से किया गया स्वपरहितकारी कार्य ही कायिक अहिंसा है। इस प्रकार अनेकान्तशैली से तीनों प्रकार की अहिंसा सिद्ध होती है और जीवन में उस अहिंसा का प्रयोग स्याद्वाद की शैली से होता है, उससे आत्महित एवं लोकशान्ति सिद्ध होती है।

## दैनिक जीवन में स्याद्वाद—

स्याद्वादसिद्धान्त केवल शास्त्रीयसिद्धान्त ही नहीं, अपितु स्वाभाविक एवं प्रयोगात्मक भी माना गया है। उसका प्रयोग असत्य अन्याय तथा पापकार्यों में नहीं करना चाहिये। किन्तु परीक्षाप्रधानी मानव उसका प्रयोग दैनिक कार्यों में, सत्य विचारों में, नैतिकव्यवहार और उपयोगी वार्तालापों में अवश्य करे। अन्यथा कार्य की सफलता मिलना असम्भव है। इसके अतिरिक्त गृहकार्यों में, भोजन, यात्रा, व्यापार, संस्था का कार्य, सेवा, व्यायाम, औषधि सेवन, स्नान, शयन, अध्ययन, परीक्षा, पूजन, महोत्सव आदि कार्यों में द्रव्य-क्षेत्र-कालभाव की अपेक्षा नियम से होती है और कार्य की सफलता के लिये अपेक्षा करना ही चाहिये। यद्यपि जीवन के सभी कार्यों में अपेक्षा शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता है तथापि गुप्तरूप से उसका सम्बन्ध अवश्य जानना चाहिये। जैसे कोई पुरुष अपने पुत्र को कहता है कि हे पुत्र ! तुम अध्ययन करो। यहाँ अपेक्षा का स्पष्ट कथन नहीं किया गया है तो भी उसका ग्रहण अवश्य कर लेना चाहिये। कारण कि वह पुत्र भी अपने पुत्र की अपेक्षा पिता भी है। एक ही पुरुष में पिता पुत्र दोनों का व्यवहार देखा जाता है। इसलिये इस विरोध का उचित समाधान स्याद्वाद ही कर देता है। अन्यथा अभीष्ट कार्य की सिद्धि तथा व्यवहार नहीं हो सकता है।

एवं स्वस्थमानव को स्नान हितकर और रोगीजन को वह अहितकर है अतः स्नान हितकर तथा अहितकर दोनों रूप है। स्वस्थ मानव को अन्न, ठण्डा पानी बलप्रद है और रोगी को अहितकर ( मरण का कारण ) है अतः अन्नजल जीवनकारक भी है और मरणकारक भी है। मात्रा की अपेक्षा औषधि प्राणदायक और मात्रा की अधिकता में दवा प्राणनाशक है। अतः दवा प्राणदायक भी है और

[illegible] भी है। न्याय की अपेक्षा धनोपार्जन करना कर्तव्य और अन्याय की अपेक्षा धनोपार्जन करना अकर्तव्य है अतः धनोपार्जन कर्तव्य भी है और अकर्तव्य भी है। समय पर उचित निद्रा लेना आरोग्य-प्रद है और असमय में वह रोग का कारण है अतः निद्रा आरोग्यदायक भी है और रोगकारक भी है इत्यादि दैनिक कार्यों में स्याद्वाद विरोध को दूर कर सुखप्रद सफलता बना देता है।

एक समय बादशाह अकबर ने विनोद के प्रसंग में तख्ते ( ब्लैकबोर्ड ) पर एक लम्बी रेखा खींचकर बीरबल के प्रति कहा। बीरबल ! यदि तुम बुद्धिमान् हो, तो इस रेखा को बिना मिटाये ही छोटी कर दो। मन्द हास्य करते हुए बीरबल ने उस रेखा के नीचे उससे भी लम्बी रेखा खींच दी और बादशाह से कहा—हुजूर ! यह आपके प्रश्न का उत्तर है। कारण कि नीचे की बड़ी रेखा की अपेक्षा ऊपर की रेखा बिना मिटाये ही छोटी सिद्ध हो जाती है। स्याद्वादशैली से बीरबल के इस उत्तर को देखकर अकबर बहुत प्रसन्न हुआ और उपलक्ष्य में बीरबल के लिये उसने पारितोषिक प्रदान किया। इस प्रकार विनोद के अवसरों में भी स्याद्वाद के प्रयोग से अच्छी सफलता प्राप्त होती है।

एक विद्यालय में पढ़ाते समय शिक्षक महोदय एक छात्र के प्रति प्रश्न करते हैं कि अ-ब-स इन तीन वर्णों की श्रेणी में 'ब' किस भाग में स्थित है ? छात्र स्याद्वादशैली से उत्तर प्रदान करता है—स की अपेक्षा ब वामभाग में और अ की अपेक्षा ब दक्षिणभाग में स्थित है। इसलिये अपेक्षाकृत 'ब' दक्षिण तथा वाम दोनों भागों में स्थित है। स्याद्वाद रीति से छात्र के इस उत्तर को सुनकर शिक्षक महोदय हँसने लगे।

इसी प्रकार मध्यमा अंगुली अनामिका की अपेक्षा छोटी और कनिष्ठा की अपेक्षा बड़ी है अतः मध्यमा अंगुली अपेक्षाकृत छोटी भी है और बड़ी भी है। इस प्रकार मानव के जीवन में स्याद्वादशैली के आधार पर अनेक व्यवहार होते हैं।

### व्यापकीय स्याद्वाद—

अनेकान्त दर्शन से जब मानसिक विचारों का निर्णय तथा शुद्धि हो जाती है तब स्वभाव से ही मानव के [illegible] विरोधित हो जाते हैं। अतएव [illegible] स्याद्वादी मानव विभिन्न विचारों का [illegible], विवादों का [illegible], विरोधों का [illegible] और विभिन्न दर्शनों तथा सम्प्रदायों का समन्वयविधायक हो जाता है। वह स्याद्वादी पुरुष ( [illegible] ) से किसी मानव का बहिष्कार या [illegible] नहीं करता है, अपितु [illegible] ( भी शब्द का प्रयोग ) से उसका समर्थन करता है। वह [illegible] विचारों के [illegible] [illegible] है। अतएव स्याद्वाद [illegible] और श्रेणी से [illegible] जाता है। [illegible] है कि स्याद्वादी [illegible] कलह, [illegible] और दुष्कर्मों को [illegible] नहीं [illegible] है। वह [illegible], [illegible] का [illegible], [illegible] और [illegible] होता है।

## अनेकान्त के प्रकार—

वस्तु के स्वरूप की सत्ता या सिद्धि स्याद्वाद से होती है और उसका लौकिक शब्द व्यवहार भी स्याद्वाद अथवा अनेकान्तवाद से होता है। पूर्णज्ञान वस्तु के तत्त्व को एक साथ सम्पूर्ण जानता है और एकदेश ज्ञान ( नयज्ञान ) वस्तु के तत्त्व को क्रमशः एक एक गुण को कहता है। इसी नयज्ञान की शैली को ही स्याद्वाद कहते हैं। अनेकान्तवाद अनेक प्रकार का होता है जो वस्तु के अनन्त गुणों को दर्शाता है। १–सप्तभङ्गरूप अनेकान्त अर्थात् वस्तु के एक एक गुण के सात सात प्रकार होते हैं। २–उत्पाद, व्यय, नित्य रूप अनेकान्त अर्थात् द्रव्य में उत्पत्ति, विनाश तथा नित्यता पाई जाती है। ३–गुण पर्याय रूप अनेकान्त। ४–सामान्य विशेषरूप अनेकान्त इत्यादि।

वह युक्ति सिद्ध अनेकान्त भी अनेकान्तरूप है। कारण कि प्रमाण की दृष्टि से वस्तु में अनेक धर्म सिद्ध होते हैं अर्थात् सर्वज्ञ परमात्मा का पूर्णज्ञान वस्तु के अनन्त धर्मों को जानता है और नय ( एकदेश ज्ञान ) की दृष्टि से द्रव्य में एक ही धर्म का मुख्यता से कथन होता है अर्थात् नयज्ञान एक समय में एक ही धर्म को अपेक्षा से जानता है। अतः द्रव्य अनेकान्तरूप और एकान्तरूप भी अपेक्षाकृत सिद्ध होता है। श्री आचार्य समन्तभद्र की वाणी भी इस विषय को प्रमाणित करती है।

अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः।
अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात् ॥

( वृ० स्व० स्तोत्र श्लोक १०३ )

अर्थात्—प्रमाण ( पूर्णज्ञान ) एवं नय ( एकदेश ज्ञान ) से सिद्ध होने वाला अनेकान्त भी अनेकान्तरूप है। पूर्णज्ञान की दृष्टि से द्रव्य अनेक गुणों का आधार है और विवक्षित दृष्टिकोण से द्रव्य एक गुण का आधार है। इसलिये द्रव्य अनेकान्तमय तथा एकान्तमय भी सिद्ध होता है।

जैसे वस्तु के एक धर्म ( गुण ) का सात प्रकार से कथन होता है। वैसे ही वस्तु के अनेकधर्मों का भी सात–सात प्रकार से कथन होता है। अतः वस्तु के सप्तभङ्ग भी अनन्त होते हैं। इस प्रकार जैनदर्शन में प्रत्येक द्रव्य अनन्तगुण या शक्ति वाला सिद्ध किया गया है। आधुनिक वैज्ञानिक भी प्रत्येक वस्तु को तथा परमाणु को अनन्त शक्ति वाला सिद्ध करते हैं।

## उपसंहार—

इस प्रकार मुक्ति तथा प्रमाणों से सिद्ध, स्वानुभवगम्य, सप्तशैलीयुक्त, समन्वयविधायक, विज्ञानसम्मत, राष्ट्रीयतासम्पादक, लोकव्यवहारसाधक, अहिंसा का प्रतिष्ठापक, दैनिक जीवन का निर्वाहक, साम्प्रदायिकता का विनाशक और न्यायाधीश वह स्याद्वाद जैनदर्शन का एक प्रभावक सिद्धान्त है जिसको दूसरे शब्दों में अनेकान्तवाद, नयवाद, विवक्षावाद, दृष्टिकोण, अपेक्षावाद, The

Theory of Relativity कहते हैं। यह हठवाद, पाखण्डता और संकुचितमनोवृत्ति को तिरस्कृत कर, दिवाकर के समान मिथ्याज्ञानतिमिर को चीरकर, समीचीन वस्तुतत्त्व को प्रकाशित कर प्राणीमात्र के सर्वोदय को करता है। इस सिद्धान्त ने समस्त मानवसमाज के लिये उन्नति का द्वार खोल दिया है।

इत्यज्ञानविमूढानां ज्ञानमात्रं प्रसाधयन् ।
आत्मतत्त्वमनेकान्तः स्वयमेवानुभूयते ॥१६॥

( समयसार कलश स्या० अ० श्लो० १६ )

भावार्थ है—कि अनेकान्तवाद ज्ञानशून्य मूढ़मानवों के लिये ज्ञानसहित आत्मतत्त्व के दर्शन कराता है और वह स्वयं ही अनुभव से जाना जाता है।



# प्रमाण का विशेष विवरण

[ लेखक—पंडित श्री सर्वेन्द्रकुमार जैन शास्त्री, बी० ए० टिकैतनगर, उ० प्र० ]

## प्रमाणनयैरधिगमः

प्रमाण और नयों के द्वारा ही सात तत्त्व नव पदार्थ आदि का ज्ञान होता है। इसलिये सबसे पहले हम प्रमाण और नयों का लक्षण अच्छी तरह से समझ लेना चाहिये। "सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं" सूत्र के अनुसार सच्चे ज्ञान को प्रमाण कहते हैं।

"मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानं" सूत्र के अनुसार ज्ञान के पांच भेद हैं। इनमें आदि के मति और श्रुत ये दोनों परोक्ष प्रमाण हैं एवं अवधि मनःपर्यय और केवलज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। इनमें भी अवधि, मनःपर्यय एक देश प्रत्यक्ष हैं एवं केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है। इनका विशेष विवरण तत्त्वार्थ सूत्र के प्रथम अध्याय में कहा गया है। आदि के मति, श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान मिथ्यात्व के उदय से मिथ्याज्ञान भी हो जाते हैं तब वे अज्ञान कहलाते हैं। न्याय ग्रन्थों में प्रमाण का लक्षण और भी सूक्ष्म विवेचन सहित है। यथा—

"स्वापूर्वार्थ व्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणं"

जो अपने और अपूर्वार्थ का निश्चय कराने वाला ज्ञान है वह प्रमाण है यह लक्षण सभी प्रमाणों में पाया जाता है अतः अव्याप्ति दोष से दूषित नहीं है। प्रश्न यह हो सकता है कि केवलज्ञान अपूर्वार्थ विषय का ग्राहक कैसे है? जब कि एक साथ में सम्पूर्ण भूत, भावि वर्तमान रूप त्रिकालवर्ती सूक्ष्माति सूक्ष्म पर्यायों को भी जान लेता है। इसका भी उत्तर आचार्यों ने बड़े सुन्दर ढंग से दे दिया है कि केवली भगवान् एक समय में सम्पूर्ण विश्व को जान चुके हैं पुनः दूसरे समय में भी जान रहे हैं तो प्रथम समय का क्षण केवलज्ञान में भूतकाल बन गया है वर्तमान क्षण वर्तमान रहा तथा अगला क्षण भविष्य रहा। पुनरपि तीसरे क्षण में उनके ज्ञान में भविष्यत् क्षण वर्तमान रूप को ले रहा है और वर्तमान क्षण भूत कालीन बन गया है इत्यादि ये ही अपूर्वार्थता केवलज्ञान में बन जाती है ऐसा समझना चाहिये। प्रमाण का दूसरा लक्षण इस प्रकार से है। "हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत्"। जो हित की प्राप्ति और अहित का परिहार कराने में समर्थ है वही प्रमाण है और वह ज्ञान ही हो सकता है। न्याय ग्रन्थों में मतिज्ञान को तो सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कह दिया है और परोक्ष प्रमाण के स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम के भेद से ५ भेद कर दिये हैं। मतलब श्रुतज्ञान को परोक्ष के भेद में रखा है। इसका मतलब यही है कि हम चक्षु के द्वारा देखकर, कर्णेन्द्रिय से सुनकर चीजों को प्रत्यक्ष प्रमाणीक मान लेते हैं। यह इन्द्रिय जन्य मतिज्ञान सम्यक् प्रकार से लोक व्यवहार में प्रत्यक्ष माना जा रहा है अतएव इसे सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कह देते हैं किन्तु सैद्धान्तिक भाषा में यह ज्ञान परोक्ष ही है। अपेक्षावाद में विरोध नहीं आता है। न्यायशास्त्रों में बताया गया है कि कुछ लोग ( सांख्य , इन्द्रिय के व्यापार को ही प्रमाण मान लेते हैं। वैशेषिक कहता है कि इन्द्रियों के द्वारा पदार्थों का स्पर्श होकर जो ज्ञान होता है वही सन्निकर्ष ज्ञान प्रमाण है। बौद्ध निर्विकल्प प्रत्यक्ष को प्रमाण मान रहा है, किन्तु आचार्यों ने ऐसा समझाया है कि भाई ! इन्द्रियों का व्यापार तो अचेतन है। सन्निकर्ष भी अचेतन है भले ही इनमें आत्मा का उपयोग सहायक है किन्तु ये प्रमाण नहीं हैं ज्ञान रूप प्रमाण में सहायक मात्र हैं। तथैव निर्विकल्प प्रत्यक्ष भी अपने का और पदार्थों का निश्चय नहीं करा सकता है अतः वह भी प्रमाण नहीं बन सकता है। ज्ञान के बिना इन्द्रिय व्यापार और इन्द्रियों से पदार्थ का स्पर्श होना ही असम्भव है अतः ज्ञान ही प्रमाण है।

श्री समन्तभद्र स्वामी ने भी कहा है—

तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत् सर्वभासनं।
क्रम भावि च यज्ज्ञानं स्याद्वाद नय संस्कृतं ॥१०१॥

अर्थ—हे भगवन् ! आपके मत में तत्त्वज्ञान ही प्रमाण है। उसमें युगपत् सम्पूर्ण पदार्थों को प्रकाशित करने वाला केवलज्ञान है और क्रम भावि मति आदि ज्ञान हैं वे परोक्ष ज्ञान हैं जो कि स्याद्वाद और नयों से संस्कृत हैं।

उपेक्षा फलमाद्यस्य शेषस्यादान हानधीः ।
पूर्वा वा ज्ञान नाशो वा सर्वस्यास्य स्वगोचरे ॥१०२॥

अर्थ—केवलज्ञान का फल तो उपेक्षा ( वीतरागता ) है और शेष ज्ञानों का फल ग्रहण करने योग्य को ग्रहण करना, त्यागने योग्य का त्याग करना एवं उपेक्षा करना है। तथा अपने-अपने विषय में अज्ञान का नाश होना यह सभी प्रमाणों का फल है। इसी को परीक्षामुख में भी कहा है—"अज्ञान-निवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलं" यह प्रमाण सामान्य विशेषात्मक वस्तु को विषय करने वाला है। यहाँ अति संक्षेप में प्रमाण का वर्णन किया है। इसी के अंतर्गत जो स्याद्वाद-अनेकान्त है उसका स्पष्टीकरण करते हैं।

स्याद्वादः सर्वथैकांत त्यागात् किं वृत्त चिद्विधिः ।
सप्तभङ्गनयापेक्षो हेयादेय विशेषकः ॥१०४॥

अर्थ—"स्यात्" यह शब्द निपात है और यह सर्वथा एकान्त का त्यागी होने से "कथञ्चित्, कथञ्चन" आदि शब्द के अर्थ का वाची है जिसे हिन्दी भाषा में "भी" शब्द से स्पष्ट समझ लेते हैं। जैसे—जीव नित्य भी है अनित्य भी है इत्यादि। इसमें बताया है कि स्याद्वाद सप्तभङ्गनय की अपेक्षा रखता है अत: सप्तभंगी का स्पष्टीकरण किया जाता है।

सप्तभंगी प्रक्रिया—

"प्रश्नवशादेकस्मिन् वस्तुन्यविरोधेन विधि प्रतिषेध विकल्पना सप्तभंगी" प्रश्न के निमित्त से एक ही वस्तु में, प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम आदि प्रमाणों से अविरुद्ध विधि और प्रतिषेध की कल्पना करना सप्तभंगी है। इसी को "सप्तभङ्गी" शब्द से कथित करते हैं।

स्यादस्ति [illegible]भङ्गी, स्यान्नास्ति [illegible]भङ्गी, स्यादस्ति नास्ति [illegible]भङ्गी, स्यादवक्तव्य[illegible]भङ्गी, स्यादस्ति अवक्तव्य[illegible]भङ्गी, स्यान्नास्ति अवक्तव्य[illegible]भङ्गी, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्य[illegible]भङ्गी।

[illegible] कथञ्चित् अस्तित्व का [illegible] एवं अनेकान्त का द्योतक-प्रकट करने वाला कथञ्चित्, [illegible] "स्यात्" शब्द निपात है।

(१) [illegible] सप्तभङ्गी [illegible] है।

(२) [illegible] सप्तभङ्गी [illegible] है [illegible]
[illegible] है।

(३) [illegible] है।

(४) [illegible]
[illegible] है।

(५) स्वचतुष्टय तथा युगपत् स्वपर चतुष्टय की अपेक्षा से पाँचवें भंग में ग्रन्थ अस्ति अवक्तव्य है।

(६) पर चतुष्टय एवं युगपत् स्वपर चतुष्टय की अपेक्षा से छठे भंग में ग्रन्थ नास्ति अवक्तव्य है।

(७) क्रम से स्वपर चतुष्टय एवं युगपत् स्वपर चतुष्टय की अपेक्षा से सातवें भंग में ग्रन्थ अस्ति नास्ति अवक्तव्य है।

यह सप्तभंगी कथन बिल्कुल ठीक ही है क्योंकि सभी वस्तुयें स्वरूप से मौजूद रहती हैं, पररूप से गैर मौजूद हैं। उभय रूप से अस्ति नास्ति रूप रहती ही हैं इत्यादि।

यदि कोई कहे कि वस्तु में विधि-अस्तित्व की कल्पना करना ही ठीक है निषेध की नहीं। तो इस पर आचार्य कहते हैं कि—

"भावैकांते पदार्थानामभानामपह्नवात्।
सर्वात्मकमनाद्यंतमस्वरूपमतावकम् ॥९॥"

अर्थात् सभी पदार्थों को एकान्त से अस्ति रूप ही स्वीकार कर लेने से तो अभावों का लोप हो जावेगा पुनः प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, इतरेतराभाव और अत्यन्ताभावरूप चारों अभावों को लोप कर देने पर हे भगवन्! आपसे भिन्न अन्य एकान्तवादियों के यहाँ सभी वस्तुयें सभी रूप हो जावेगी। अर्थात् इतरेतराभाव का अभाव कर देने से सभी वस्तुयें सभी रूप बन जावेंगी। प्रागभाव का लोप करने से सभी वस्तुयें अनादि हो जावेंगी, प्रध्वंसाभाव को न मानने से अनन्त हो जावेंगी एवं अत्यन्ताभाव का लोप करने से सभी वस्तु अपने स्वभाव से शून्य-निःस्वरूप हो जावेंगी। इन अभावों का विशेष स्पष्टीकरण अष्टसहस्री में देखना चाहिये।

बौद्ध कहता है कि सभी वस्तुयें द्वितीय भंग से नास्ति रूप ही हैं तो आचार्य कहते हैं कि इससे शून्यवाद आ जाता है जो कि स्वयं तुम्हारे अस्तित्व को भी समाप्त कर देता है। मतलब यह है कि प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मात्मक है उसके किसी एक धर्म का वर्णन सात भंगों द्वारा किया जाता है उसी का नाम अनेकान्त है। प्रथम भंग में अस्ति धर्म प्रधान है बाकी के छह भंग अप्रधान हैं।

द्वितीय भंग में नास्ति धर्म प्रधान है बाकी के ६ भंग गौण हैं। ऐसे ही सातों भंगों में समझना चाहिये।

**शङ्का**—एक ही वस्तु में प्रत्यक्षादि से विरुद्ध विधि प्रतिषेध की कल्पना भी सप्तभंगी बन जावेगी। जैसे-रात्रिभोजन करना धर्म भी है एवं अधर्म भी है इत्यादि।

**समाधान**—नहीं! क्योंकि सूत्र में "अविरोधेन" यह पद दिया है जिसका अर्थ है कि प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम से जिसमें बाधा न आवे उसी में सप्तभंगी घटित हो सकती है किन्तु रात्रि भोजन त्याग, हिंसा आदि में सप्तभंगी नहीं लग सकती है।

शंका—अनेक वस्तु के आश्रय से भी विधि निषेध कल्पना करने पर सप्तभंगी बन जावेगी। जैसे—अष्टसहस्री कथञ्चित् अस्ति रूप है। श्लोकवार्तिक नास्ति रूप है। राजवार्तिक अस्ति नास्ति रूप है इत्यादि।

समाधान—यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि सूत्र में "एकस्मिन्वस्तुनि" यह पद है जिसका अर्थ एक ही वस्तु में सातों भंग घटित करना है जैसे—अष्टसहस्री अस्तिरूप है वैसे ही श्लोकवार्तिक की अपेक्षा से वही अष्टसहस्री नास्ति रूप है इत्यादि।

शंका—एक भी जीवादि वस्तु में विधि योग्य और निषेध योग्य अनन्त धर्म पाये जाते हैं अतः इन अनन्त धर्मों की कल्पना तो अनन्तभंगी बनेगी न कि सप्तभंगी।

समाधान—नहीं! एक वस्तु में अनन्त धर्म हैं और इन अनन्तों धर्मों में एक-एक धर्म के प्रति सप्तभंगी का प्रयोग करना पड़ेगा अतः अनन्त सप्तभंगी बनेंगी न कि अनन्त भंगी। जैसे—जीव में नित्य धर्म है वैसे ही भेद धर्म है, अस्ति धर्म है इन तीनों में सप्तभंगी घटाइये। हां! प्रतिपक्षी धर्म को साथ में लेकर जैसे नित्य के साथ अनित्य धर्म प्रतिपक्षी-विरोधी है वह द्वितीय भंग रूपसे स्वयं आ जाता है।

शंका—वस्तु में सात ही भंग क्यों होते हैं?

समाधान—शिष्यों के द्वारा सात ही प्रश्न किये जाते हैं क्योंकि सूत्र में "प्रश्नवशादेक" ऐसा पद है। सात ही प्रश्न क्यों हैं तो, सात प्रकार की ही जिज्ञासा होती है। जिज्ञासा-जानने की इच्छा भी सात प्रकार की ही क्यों है तो, इस संशय के विषयभूत वस्तु धर्म सात प्रकार के ही हैं। एवं यह सात प्रकार का व्यवहार निर्विषयक नहीं है क्योंकि इन सात प्रकारों से ही वस्तु का यथार्थ ज्ञान, उसमें प्रवृत्ति और उसकी प्राप्ति का निश्चय देखा जाता है। अतएव अमृतचन्द्र देव ने भी इस सप्तभंगी को "स्याद्वादामृतगर्भिणी" कहा है। यदि इस स्याद्वाद में कुशल हैं तो स्यात्, कथञ्चित् आदि शब्द के प्रयोग [illegible] भी वस्तु को अनेकान्तात्मक सिद्ध कर देते हैं। जैसे "सर्वं सत्" इतने मात्र वाक्य से भी [illegible]

[illegible]

शंका—एक ही वस्तु में विरुद्ध दो धर्म शीत स्पर्शवत् सम्भव नहीं हैं जो वस्तु नित्य है वही अनित्य नहीं हो सकती है अन्यथा अनर्थ हो जावेगा।

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि जिस समय वस्तु द्रव्य दृष्टि से नित्य है उसी समय पर्याय दृष्टि से अनित्य है। जैसे-जीव द्रव्य से नित्य है अतः पुनर्जन्म देखा जाता है और पर्याय से अनित्य है अतः मनुष्य पर्याय का नाश होकर देव पर्याय का उत्पाद देखा जाता है। ऐसे अनेक विरोधी धर्म अपेक्षा की शैली से एक ही वस्तु में रह जाते हैं, बाधा नहीं आती है। ऐसे ही स्वक्षेत्र-परक्षेत्र, स्वकाल-परकाल, स्वभाव-परभाव से भी वस्तु में अस्ति नास्ति आदि विरोधी धर्म एक साथ रह जाते हैं बाधा नहीं आती है।

## "प्रमाण सप्तभंगी एवं नय सप्तभंगी में अन्तर"

द्रव्यार्थिक से अभेद वृत्ति एवं पर्यायार्थिक नय से अभेदोपचार द्वारा अनन्तधर्म वाले पदार्थ को युगपत् कहने वाला प्रमाण वाक्य है। तथा—

एक देश से जानी हुई वस्तु को भेद वृत्ति एवं भेदोपचार के क्रम से कहने वाले वाक्य नय कहलाते हैं। कहा भी है—"सकलादेशः प्रमाणाधीनः, विकलादेशो नयाधीनः" अर्थात् वस्तु के सम्पूर्ण धर्म प्रमाण के आधीन हैं—प्रमाण के द्वारा जाने जाते हैं। एवं वस्तु के एक-एक धर्म नयों के आधीन हैं अर्थात् नयों की अपेक्षा से जाने जाते हैं।

इसी अनेकान्त के विषय में राजवार्तिक ग्रन्थ में भी बड़े ही सुन्दर प्रश्नोत्तर रखे गये हैं। यथा—

प्रश्न—यदि अनेकान्त में भी यह विधि प्रतिषेध कल्पना लगती है तो जिस समय अनेकान्त में नास्ति भंग-द्वितीय भंग प्रयुक्त होगा उस समय एकान्तवाद का प्रसंग आ जावेगा और अनेकान्त में अनेकान्त लगाने पर अनवस्था दोष आ जाता है। अतः अनेकान्त को अनेकान्त ही कहना चाहिये।

उत्तर—अनेकान्त में भी प्रमाण और नय की दृष्टि से अनेकान्त और एकान्त रूप से अनेक मुखी कल्पनायें हो सकती हैं। अनेकान्त और एकान्त दोनों ही सम्यक् और मिथ्या के भेद से दो-दो प्रकार के हैं। (१) सम्यगेकान्त (२) मिथ्याएकान्त (३) सम्यगनेकान्त (४) मिथ्याअनेकान्त।

सम्यगेकान्त—प्रमाण के द्वारा निरूपित वस्तु के एक देश को युक्ति सहित (नय की विवक्षा से) ग्रहण करने वाला सम्यक् एकान्त है। जैसे-जीव निश्चय नय से शुद्ध ही है।

मिथ्या एकान्त—वस्तु के एक ही धर्म का सर्वथा अवधारण करके अन्य धर्मों का निराकरण करने वाला मिथ्या एकान्त है। जैसे-जीव सर्वथा—संसारी अवस्था में भी शुद्ध ही है अशुद्ध है ही नहीं इत्यादि।

सम्यक् अनेकान्त—एक ही वस्तु में युक्ति और आगम से अविरुद्ध अनेक विरोधी धर्मों को ग्रहण करने वाला सम्यक् अनेकान्त है। जैसे-जीव अनन्तधर्मात्मक है। शुद्धाशुद्धात्मक है।

मिथ्या अनेकान्त—वस्तु को अस्ति नास्ति आदि स्वभाव से शून्य कहकर उसमें अनेक धर्मों की कल्पना करना अर्थशून्य वचन विलास मिथ्या अनेकान्त है।

"सम्यक् एकान्त नय कहलाता है तथा सम्यक् अनेकान्त प्रमाण।" यदि अनेकान्त को अनेकान्त ही माना जावे और एकान्त का लोप किया जावे तो सम्यक् एकान्त के अभाव में शाखादि के अभाव में वृक्ष के अभाव के समान तत्समुदाय रूप अनेकान्त का भी अभाव हो जावेगा। यदि एकान्त ही माना जावे तो अविनाभावी इतर धर्मों का लोप होने पर प्रकृत शेष का भी लोप होने से सर्वलोप का प्रसंग आ जावेगा।

कोई कोई अनेकान्त को छल रूप मानते हैं परन्तु यह धारणा भी गलत है क्योंकि जहाँ वक्ता के अभिप्राय से भिन्न अर्थ की कल्पना करके वचन विघात किया जाता है वहाँ छल हो जाता है। जैसे—"नवकम्बलो देवदत्तः"। यहाँ "नव" शब्द के दो अर्थ होते हैं। एक ९ संख्या रूप दूसरा नया। तो "नूतन" विवक्षा से कहे गये "नव" शब्द का ९ संख्या रूप अर्थ विकल्प करके वक्ता के अभिप्राय से भिन्न ही अर्थ कहना छल कहलाता है किन्तु सुनिश्चित मुख्य गौण विवक्षा से सम्भव अनेकों धर्मों का सुनिर्णीत रूप से प्रतिपादन करने वाला अनेकान्तवाद छलवाद नहीं है। जैसे—जब हम जीव को नित्य कहते हैं तब जीव का अनित्य धर्म गौण है और जब हम जीव को अनित्य कहते हैं तब "नित्य" धर्म गौण है अतः हम दृढ़ता से जीव को नित्य कह देते हैं क्योंकि हमारे पास द्रव्यदृष्टि विद्यमान है और हम जब जीव को अनित्य कहते हैं तब भी दृढ़ता है वहाँ पर्यायदृष्टि प्रधान है। अतः अनेकान्त में वचन विघात न होने से वह छल रूप नहीं है प्रत्युत अनेकान्त से ही वस्तु तत्व का यथावत् निरूपण किया जाता है।

संशय का स्वरूप भी अनेकान्त में नहीं घटता है क्योंकि संशय में तो व्यक्ति दो में झूला करता है। यह स्थाणु है या पुरुष? किन्तु अनेकान्त में यह बात नहीं है वहाँ तो जीव द्रव्यार्थिक नय से नित्य ही है एवं पर्यायार्थिक नय से अनित्य ही है, इसमें संशय नहीं है। जैसे एक ही देवदत्त अपने पिता का पुत्र है, अपने पुत्र का पिता है, अपने मामा का भानजा एवं भानजे का मामा है। जो पिता है वह पुत्र कैसे? एक ही व्यक्ति में परस्पर विरोधी दो धर्मों का अवस्थान कैसे रहेगा? किन्तु यह शंका सर्वथा निर्मूल है, वह देवदत्त जिसका पुत्र है यदि उसी का पिता होवे तब तो आशंका आ सकती किन्तु ऐसा तो है नहीं वह अपने पिता की अपेक्षा पुत्र है और अपने पुत्र की अपेक्षा से पिता है। इस प्रकार से विरोध भी न तो संशय है और न विरोध ही है। यही समन्तभद्र स्वामी ने भी स्वयम्भू स्तोत्र में कहा है—

अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः।
अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात्॥

अर्थ—अनेकान्त भी अनेकान्त रूप है क्योंकि प्रमाण और नय से सिद्ध है। प्रमाण की अपेक्षा से अनेकान्त अनेकान्तरूप है एवं अर्पित-विवक्षित नय की अपेक्षा से अनेकान्त एकान्त रूप है। अतएव अनेकान्त में भी सप्तभंगी घटित हो जाती है। यथा—अनेकान्त कथञ्चित् अनेकान्त रूप है क्योंकि प्रमाण की अपेक्षा है।

अनेकान्त द्वितीय भंग में कथञ्चित् एकान्त रूप है क्योंकि सम्यक् नय की अपेक्षा है इत्यादि।

अनेके अन्ताः धर्माः अस्मिन् असौ अनेकान्तः। अनेक अन्तधर्म जिसमें पाये जाते हैं उसे अनेकान्त कहते हैं।

श्री समन्तभद्रस्वामी ने तो स्याद्वाद का महत्व बतलाते हुये उसे केवलज्ञान के सदृश कह दिया है। यथा—

स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्वप्रकाशने।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत् ॥१०५॥

अर्थ—स्याद्वाद और केवलज्ञान ये दोनों ही सम्पूर्ण तत्त्वों को प्रकाशित करने वाले हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि स्याद्वाद रूप श्रुतज्ञान असाक्षात्-परोक्ष रूप से पदार्थों को क्रमशः प्रकाशित करता है। एवं केवलज्ञान प्रत्यक्ष रूप से युगपत् सम्पूर्ण तत्त्वों को प्रकाशित करता है इन दोनों ज्ञानों में से जो किसी के द्वारा वाच्य नहीं है वह वस्तु ही नहीं है अवस्तु है। मतलब यह रहा कि श्रुत केवली मुनिराज पूर्ण श्रुतज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण तत्त्वों को जान लेते हैं अन्तर इतना ही रहता है कि वे क्रम क्रम से एवं परोक्ष रूप से जानते हैं और केवली भगवान् सम्पूर्ण जगत् को प्रत्यक्ष रूप से तथा युगपत् जान लेते हैं।

शंका—"मतिश्रुतयोर्निबंधो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु" मति और श्रुतज्ञान का विषय सम्पूर्ण द्रव्य और उनकी कुछ कुछ पर्यायें हैं। इस सूत्र के अनुसार श्रुतज्ञान सभी तत्वों को प्रकाशित करता है यह कहाँ रहा ?

समाधान—"सर्वतत्त्व प्रकाशने" यह विशेषण पर्याय की अपेक्षा से नहीं लेना, मात्र सामान्य सात तत्त्वों की अपेक्षा से लेना चाहिये। यहाँ तक प्रमाण के अन्तर्गत स्याद्वाद का वर्णन अच्छी तरह से किया गया है। प्रमाण के द्वारा गृहीत पदार्थ के एक धर्म को ग्रहण करने वाला ज्ञाता का अभिप्राय नय कहलाता है।"

मूल में नय के दो भेद हैं द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय। द्रव्यार्थिक नय के ३ भेद हैं—नैगम, संग्रह, व्यवहार। पर्यायार्थिक नय के ४ भेद हैं—ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत।

आध्यात्मिक भाषा में भी नय के दो भेद हैं। निश्चय और व्यवहार नय। निश्चय नय तो जीव की या किसी भी द्रव्य की शुद्ध अवस्था को या द्रव्य की शक्ति विशेष को प्रतिपादित करता है और

व्यवहार नय कर्म के सम्बन्ध सहित जीव की वर्तमान अशुद्धावस्था का दिग्दर्शन कराता है। ये नय यद्यपि आपस में एक दूसरे के विरोधी अर्थ को ग्रहण करने वाले हैं फिर भी यदि परस्पर में एक दूसरे की अनुकूलता को रखते हैं तब तो सम्यक् नय हैं यदि एक दूसरे की अपेक्षा को न रखकर अपना-अपना विषय ही पुष्ट करते हैं तब वे ही नय मिथ्या हो जाते हैं। इस प्रकार से प्रमाण और नयों के द्वारा सात तत्वों का सम्यक् प्रकार से ज्ञान हो जाता है।

★

# "नयों का लक्षण"

[ लेखिका—( संघस्थ ) कुमारी मालती शास्त्री ]

"प्रमाणगृहीतार्थैकदेशग्राही प्रमातुरभिप्रायो नयः"

प्रमाण के द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थ के एक देश को ग्रहण करने वाला जो ज्ञाता का अभिप्राय है उसे नय कहते हैं। कहा भी "सकलादेशः प्रमाणाधीनो, विकलादेशो नयाधीनः" पदार्थ के सम्पूर्ण धर्मों को विषय करने वाला प्रमाण है एवं एक धर्म को विषय करने वाला नय है। अष्टसहस्री में भी इसी बात को बतलाया है।

"सधर्मणैव साध्यस्य साधर्म्यादविरोधतः।
स्याद्वादप्रविभक्तार्थ-विशेषव्यंजको नयः ॥१०६॥

अर्थ—स्याद्वादरूप परमागम से विभक्त किये गये अर्थ विशेष का जो साधर्म्य के द्वारा साध्य के [illegible] रूप से व्यंजन—प्रकाशन करने वाला है उसको नय कहते हैं।

"नीयते गम्यते साध्योऽर्थोऽनेन इति नयः"

[illegible] उसे नय कहते हैं। [illegible]

अनेकरूप अर्थ को विषय करने वाला अनेकान्त का ज्ञान प्रमाण है, अन्य धर्मों की अपेक्षा करके उसके एक अंश का ज्ञान नय है। एवं अन्य धर्मों का निराकरण करके एक अंशग्राही दुर्नय है। यह दुर्नय अन्य धर्मरूप विपक्ष का विरोधी होने से केवल स्वपक्ष मात्र का हठग्राही है।

कोई कहता है कि—एक वस्तु में अनेक धर्म हैं और उन धर्मों को पृथक् २ ग्रहण करने वाले नय हैं, परस्पर विरोधी अनेक नयों के द्वारा जानी गई वस्तु ही द्रव्य है उन मिथ्याभूत एकान्तों का समुदाय मिथ्या रूप ही है, पुनः नयों को आपने सम्यक् कैसे कहा है? यथा—

मिथ्यासमूहो मिथ्याचेन्न मिथ्यैकान्ततास्ति नः।
निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत ॥१०८॥

अर्थ—एकान्तों को तो आप मिथ्या बतलाते हैं तब नयों और उप नयों रूप एकान्तों का जो समूह द्रव्य है वह मिथ्या समूह ठहरा, क्योंकि मिथ्याओं का जो समुदाय होगा वह मिथ्या ही तो होगा। अनेक अंधे मिल जाने से क्या दृष्टि आ जाती है? आचार्य कहते हैं कि यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि जैन सिद्धान्त में इस प्रकार से मिथ्या एकान्तता नहीं है। जो नय परस्पर में एक दूसरे की अपेक्षा न रखते हुये परस्पर निरपेक्ष हैं वे ही मिथ्यानय कहलाते हैं एवं जो नय परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा करते हैं वे नय सम्यक् कहलाते हैं। उनके विषय ही अर्थक्रियाकारी हैं, इसलिये उनका समुदाय ही वस्तुभूत है मिथ्या नहीं है। अतएव प्रमाण का विषय अनेक धर्मों को ग्रहण करना है, नयों का विषय भिन्न भिन्न धर्मों को गौण करके एक धर्म को प्रधान रूप से ग्रहण करना है और दुर्नयों का विषय धर्मान्तरों का निराकरण करके एक धर्म मात्र को ही ग्रहण करना है क्योंकि प्रमाण से तत् अतत् स्वभाव का ज्ञान होता है नय से एक धर्मांश का ज्ञान एवं दुर्नय से अन्य का निराकरण करके निरपेक्ष एक अंश का ज्ञान होता है। नयों के मूल में २ भेद हैं।

णिच्छयववहारणया मूलमभेयाण याण सव्वाणं।
णिच्छय साहणहेओ दव्वयपज्जत्थिया मुणह ॥

नयों के मूलभूत निश्चय और व्यवहार दो भेद माने गये हैं। उसमें निश्चय नय तो द्रव्याश्रित है और व्यवहार नय पर्यायाश्रित है ऐसा समझना चाहिये। श्री उमास्वामी आचार्य ने तत्वार्थसूत्र में नयों के ७ भेद किये हैं—"नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूता नयाः।"

आलापपद्धतिकार श्री देवसेनाचार्य ने नयों के ९ भेद किये हैं। इन्हीं नैगमादि सात नयों में उन्होंने प्रथमतः द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दोनों को मिला दिया है। पुनः इन नौ नयों के भी २८ भेद कर दिये हैं। जैसे—द्रव्यार्थिक नय के १० भेद, पर्यायार्थिक नय के ६ भेद, नैगम के ३ भेद, संग्रह

नय के २, व्यवहार के २ भेद, ऋजुसूत्र के २, शब्द का १, समभिरूढ़ नय का १ भेद तथा एवंभूत नय का १ भेद इस प्रकार १०+६+३+२+२+२+१+१+१=२८ भेद होते हैं।

आलापपद्धतिकार ने उपनय के भी मूल में ३ भेद किये हैं। सद्भूतभूतव्यवहार, असद्भूत व्यवहार एवं उपचरितासद्भूत व्यवहार। इनके भी उत्तर भेद ८ माने गये हैं। जैसे सद्भूत व्यवहार के २ भेद, असद्भूत व्यवहार के ३ भेद एवं उपचरितासद्भूत के ३ भेद होते हैं। इनके लक्षण और उदाहरण आलाप पद्धति में देखना चाहिये।

अध्यात्म भाषा में भी नयों के मूल में दो भेद हैं निश्चयनय और व्यवहार नय। "तत्र निश्चयनयोऽभेदविषयः, व्यवहारो भेद विषयः।" उनमें निश्चयनय तो अभेद रूप द्रव्य को विषय करने वाला है एवं व्यवहार नय भेद रूप पर्यायों को ग्रहण करने वाला है निश्चयनय के भी दो भेद हैं १-शुद्धनिश्चय २-अशुद्ध निश्चय नय। उपाधि रहित गुण और गुणी में अभेद को विषय करने वाला शुद्ध निश्चय नय है जैसे केवलज्ञानादि रूप ही जीव है। उपाधि सहित ( कर्म के सम्बन्ध से सहित ) गुण और गुणी में अभेद को विषय करने वाला अशुद्ध निश्चय नय है जैसे मतिज्ञानादि रूप जीव है।

व्यवहार नय के भी दो भेद हैं। सद्भूत व्यवहार नय, असद्भूत व्यवहार नय। उनमें एक ही वस्तु को भेद रूप से ग्रहण करें सो सद्भूत व्यवहार नय है।

भिन्न २ वस्तुओं को सम्बन्ध रूप से ग्रहण करे उसे असद्भूत व्यवहार नय कहते हैं। सद्भूत व्यवहार नय के भी दो भेद हैं। उपचरित सद्भूत व्यवहार और अनुपचरित सद्भूत व्यवहार। जो उपाधि सहित गुण गुणी को भेद रूप ग्रहण करे उसे उपचरित सद्भूत व्यवहार नय कहते हैं। जैसे—मतिज्ञानादि गुण जीव के हैं।

कर्मों की उपाधि से रहित गुण गुणी में भेद कल्पना से ग्रहण करे उसे अनुपचरितसद्भूत व्यवहार नय कहते हैं। जैसे—केवलज्ञानादि गुण जीव के हैं। असद्भूत व्यवहार के दो भेद हैं उपचरिता-सद्भूत, अनुपचरितासद्भूत।

संश्लेष रहित वस्तु को सम्बन्ध रूप से ग्रहण करें उसे उपचरित असद्भूत व्यवहार नय कहते हैं। जैसे देवदत्त का धन।

संश्लेष सहित वस्तु को सम्बन्ध रूप से ग्रहण करें उसे अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय कहते हैं। जैसे—जीव का शरीर।

अध्यात्म ग्रन्थ में भी निश्चय नय को सत्य एवं व्यवहार नय को असत्य बतलाया है।

"स्याद्वाद में नयों की विवक्षा"

[illegible]

[illegible]

अर्थ—हे शान्तिनाथ भगवन् ! नय, जन्तु और ऋतु ये तीनों ही विरोधी आपके मत में अविरोधी होकर रहते हैं और आप दिव्य देवोपनीत अतिशय तथा केवलज्ञानादि महान् ऋद्धियों से विभूषित हैं।

विशेष—निश्चय नय और व्यवहार नय, द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय ये परस्पर विरोधी नय, वस्तु के अनन्त धर्म में सत्-असत्, भेद-अभेद, आदि विरोधी धर्मों को ग्रहण करते हैं, फिर भी परस्पर सापेक्ष रूप से रहते हुये विरोध को न ग्रहण करते हुये अविरोधी रहते हैं। तथा उसी प्रकार से जन्म जात विरोधी सिंह, हरिण नकुल सर्पादि जीव भी परस्पर में विरोध को छोड़कर परम मैत्री भाव का आश्रय कर लेते हैं। उसी प्रकार षट् ऋतुओं के फल फूल जो एक साथ नहीं आ सकते हैं फिर भी आप जहाँ पर विराजमान रहते हैं अथवा ध्यान करते हैं वहाँ पर साथ ही सभी ऋतुयें आ जाती हैं। अतएव आपके आश्रय में परस्पर विरोधी नय, जन्तुगण एवं ऋतुयें अपना-अपना विरोध छोड़कर परस्पर में मैत्री भाव का आश्रय लेते हैं। सारांश यह हुआ कि परस्पर विरोधी नय आपके मत में सापेक्ष रूप होते हुये ही सम्यक् हैं अन्यथा आपके मत से बाह्य मिथ्या ही हैं।

अस्तित्व, नास्तित्व, नित्य-अनित्य, आदि परस्पर जो मिथ्या धर्म हैं उनका समूह भी मिथ्या ही है अनेकान्त और समीचीन नहीं है। यदि आप ऐसा प्रश्न करें तो—जैनाचार्य उत्तर देते हैं कि हमारे यहाँ मिथ्या एकान्तता नहीं है क्योंकि परस्पर में मुख्य गौण रूप से एक दूसरे की अपेक्षा न रखते हुये नय मिथ्या ही हैं परन्तु जो नय प्रधान अप्रधान रूप से परस्पर में एक दूसरे की अपेक्षा रखते हुये वस्तु स्वरूप का कथन करते हैं तो वे नय वास्तविक हैं और अर्थक्रियाकारी हैं अर्थात् परस्पर सम्बन्धित नयों से ही पदार्थों का वास्तविक बोध होता है।

**एकेनाकर्षंती श्लथयंती वस्तुतत्वमितरेण।**
**अंतेन जयति जैनो नीतिर्मंथाननेत्रमिव गोपी ॥२२५॥**

(पुरुषार्थसिद्ध्युपाय)

अर्थ—जैनी नीति अर्थात् स्याद्वाद मय जैनधर्म की पद्धति दही को मंथन करने वाली गोपी के समान है। जैसे—गोपिका एक तरफ से रस्सी को खींचती है तो दूसरी तरफ की रस्सी को ढीली कर देती है छोड़ती नहीं है, उसी प्रकार वस्तु तत्व को समझने के लिये एक नय से कथन करते हुये उसकी प्रधानता करने से दूसरा विरोधी नय अप्रधान हो जाता है परन्तु उसका निषेध नहीं होता है।

एकान्तोद्विविधः—सम्यगेकान्तो मिथ्यैकान्त इति। अनेकान्तोऽपिद्विविधः—सम्यगनेकान्तो मिथ्यानेकान्त इति। सम्यगेकान्तो हेतुविशेषसामर्थ्यापेक्षः प्रमाणप्ररुपितार्थैकदेशादेशः। एकात्मावधारणेन अन्याशेषनिराकरणप्रवणप्रणिधिर्मिथ्यैकान्तः। एकत्र सप्रतिपक्षानेकधर्मस्वरूपनिरूपणो युक्त्यागमा-

[illegible]विरुद्धः सम्यगनेकान्तः । तदतत्स्वभाववस्तु शून्यं परिकल्पितानेकात्मकं केवलं वाग्विज्ञानं मिथ्यानेकान्तः । तत्र सम्यगेकान्तो नय इत्युच्यते । सम्यगनेकान्तः प्रमाणं ।

[ राजवार्तिक प्रथमोऽध्यायः ]

एकान्त के दो भेद हैं सम्यक् एकान्त, मिथ्या एकान्त तथा अनेकान्त के भी दो भेद हैं सम्यक् अनेकान्त और मिथ्या अनेकान्त । हेतु विशेष सामर्थ्य की अपेक्षा को रखने वाला प्रमाण से प्ररूपित पदार्थ के एक देश को कथन करने वाला सम्यग् एकान्त है । वस्तु के एक धर्म को अवधारण करके अन्य अशेष धर्मों का निराकरण करने में जो कुशल अभिप्राय है उसे मिथ्यैकान्त कहते हैं । एक ही वस्तु में नित्य-अनित्य, एक-अनेक आदि अनेक विरोधी धर्म के स्वरूप का निरूपण करने वाला है तथा युक्ति और आगम से अविरुद्ध है उसे सम्यक् अनेकान्त कहते हैं । अस्तित्व, नास्तित्व आदि स्वभाव से रहित कल्पना से बढ़ा चढ़ा कर कल्पित कल्पना करने वाला जो केवल वचनों का विज्ञान रूप कथन है उसे मिथ्या अनेकान्त कहते हैं । इसमें सम्यक् एकान्त को नय और सम्यक् अनेकान्त को प्रमाण कहते हैं ।

[illegible]न्यविरोधेन हेत्वर्पणात्साध्यविशेषस्य याथात्म्यप्रापणप्रवणप्रयोगो नयः ।

( सर्वार्थसिद्धि )

अर्थ—अनेक धर्मात्मक वस्तु में अविरोध रूप से हेतु की विवक्षा से साध्य विशेष के वास्तविक अर्थ को ग्रहण करने में जो कुशल प्रयोग है उसे नय कहते हैं ।

जइ जिणमयं पवंजह ता मा ववहारणिच्छयं मुयह ।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं ॥

अर्थ—जो तू जिनमत में प्रवर्तन चाहता है तो व्यवहार और निश्चय में मोह को प्राप्त मत हो, क्योंकि व्यवहार के बिना [illegible] तीर्थ का नाश हो जायेगा और निश्चय नय के बिना तत्त्व का नाश हो जायेगा ।

[illegible], [illegible]: [illegible] ।
[illegible], [illegible]: [illegible] भुवि निमां स एकः ॥

( [illegible] )

[illegible]

स्वच्छन्द प्रवृत्ति करता है तथा जो क्रियानय को ही ग्रहण करता है ज्ञाननय को नहीं जानता है वह भी शुभ कर्म में सन्तुष्ट होता हुआ इस निष्कर्म भूमि को प्राप्त नहीं कर सकता है।

"किं च यद्यपि प्राथमिकापेक्षया प्रारम्भप्रस्तावे सविकल्पावस्थायां निश्चयसाधकत्वात् व्यवहार-नय: सप्रयोजनस्तथापि विशुद्धज्ञानदर्शनलक्षणे शुद्धात्मस्वरूपे स्थितानां निष्प्रयोजन:।"

( समयसार टीका गाथा २७२ की )

"अग्निसुवर्णपाषाणयोरिव निश्चयव्यवहारनययो: परस्परसाध्यसाधकभावदर्शनार्थमिति।"

( समयसार टीका २३६ की )

"भक्ति: पुन: सम्यक्त्वं भण्यते व्यवहारेण सरागसम्यग्दृष्टीनां पंचपरमेष्ठ्याराधनरूपा। निश्चयेन वीतरागसम्यग्दृष्टीनां शुद्धात्मभावना रूपा:।"

( समयसार गाथा १७३ से १७६ की टीका में )

"व्यवहारो हि व्यवहारिणां म्लेच्छभाषेव म्लेच्छानां परमार्थप्रतिपादकत्वादपरमार्थोऽपि तीर्थप्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयितुं न्याय्य एव। तमंतरेण तु शरीराज्जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनात् त्रसस्था-वराणां भस्मन इव नि:शंकमुपमर्दनेन हिंसाभावाद् भवत्येव वधस्याभाव:। तथा रक्तो द्विष्टो विमूढो जीवो वध्यमानो मोचनीय इति रागद्वेषमोहेभ्यो जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनेन मोक्षोपाय परिग्रहणा-भावात् भवत्येव मोक्षस्याभाव:।"

( समयसार गाथा ४६ की टीका अमृतचन्द्र सूरि कृत )

"ततश्च पुण्यरूपधर्माभाव इत्येकं दूषणं तथैव, शुद्धनयेन रागद्वेषमोहरहित: पूर्वमेव मुक्तो जीवस्तिष्ठतीति मत्वा मोक्षार्थमनुष्ठानं कोऽपि न करोति ततश्च मोक्षाभाव इति द्वितीयं च दूषणं।"

अब क्रमश: सभी के अर्थ दे रहे हैं।

अर्थ—यद्यपि प्राथमिक अपेक्षा में प्रारम्भिक प्रस्ताव में सविकल्प अवस्था में निश्चयनय के लिये साधक स्वरूप व्यवहार नय प्रयोजनभूत है तो भी विशुद्धज्ञान, दर्शन लक्षण शुद्धात्मस्वरूप में स्थित योगियों के लिये निष्प्रयोजनभूत हैं।

अग्नि और स्वर्णपाषाण के समान निश्चय और व्यवहार नय में साध्य साधक भाव दिखलाने के लिये है अर्थात् निश्चय साध्य और व्यवहार नय साधक है। भक्ति सम्यक्त्व को कहते हैं वह भक्ति व्यवहार नय से सराग सम्यग्दृष्टि को पञ्चपरमेष्ठी के आराधनरूप है और निश्चय नय से वीतराग सम्यग्दृष्टि जीवों के शुद्धात्मभावनारूप है।

व्यवहार नय व्यवहारी जीवों के तीर्थ प्रवृत्ति के लिये अपरमार्थ रूप होते हुये भी परमार्थ प्रतिपादक होने से बतलाना उचित ही है। जिस प्रकार से म्लेच्छ को म्लेच्छ भाषा में समझाना होता है। व्यवहार नय को माने बिना शरीर से जीव में वास्तव में भेद मान लिया जाता है अतः त्रस स्थावर जीवों को भस्म ( राख ) के समान निःशंक रूप से उपमर्दन करने से हिंसा का अभाव ही हो जावेगा, किन्तु ऐसा है नहीं।

शुद्धनय से बन्ध का अभाव ही है तथा रागी द्वेषी और मोही जीव बँधा हुआ है उसे छुड़ाना चाहिये। इस प्रकार से रागद्वेष और मोह का जीव के साथ वास्तव में भेद होने से मोक्ष के उपाय को ग्रहण करने का ही अभाव हो जावेगा। इस प्रकार से तो मोक्ष का भी अभाव ही हो जावेगा अतः पुण्य रूप धर्म का अभाव हो जावेगा यह एक दूषण आवेगा। इसी प्रकार से शुद्धनय से राग, द्वेष और मोह से रहित जीव तो पहले ही मुक्त रूप है इसलिये ऐसा समझकर मोक्ष के लिये अनुष्ठान कोई भी नहीं करेगा इसलिये सर्वथा मोक्ष का अभाव ही हो जावेगा इस प्रकार से यह दूसरा दूषण आ जावेगा।

सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरसीहिं।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमेट्ठिदा भावे ॥१२॥

( समयसार )

अर्थ—जो शुद्धनय तक पहुँचकर पूर्णज्ञान और चारित्रवान् हो गये हैं उन्हें तो शुद्ध द्रव्य का कथन करने वाला शुद्धनय जानने योग्य है, जो जीव ऊपर के भाव में अर्थात् श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र के पूर्णभाव को नहीं पहुँच सके हैं [illegible] अवस्था में ही ठहरे हुये हैं उनके लिये व्यवहार नय भी [illegible] है।

"[illegible] पूर्वं गाथायां भणितं भूतार्थमाश्रितो जीवः सम्यग्दृष्टिर्भवति। अत्र तु न केवलं भूतार्थो निश्चयनयो निर्विकल्पसमाधिरतानां प्रयोजनवान् भवति किन्तु निर्विकल्पसमाधिरहितानां पुनः षोडश-वर्णिकसुवर्णलाभाभावे अधस्तनवर्णिकसुवर्णलाभवत् केषांचित् प्राथमिकानां कदाचित् सविकल्पा-वस्थायां मिथ्यात्वविषयकषायदुर्ध्यानवंचनार्थं व्यवहारनयोऽपि प्रयोजनवान् भवति ........ [illegible] [illegible] [illegible]"

[illegible]

से वचने के लिये व्यवहार नय भी प्रयोजनवान् है और अपरम भाव का अर्थ है कि अशुद्ध अर्थात् असंयतसम्यग्दृष्टि अथवा देशसंयत श्रावक की अपेक्षा सराग सम्यग्दृष्टि लक्षण प्रमत्त अप्रमत्त गुणस्थान-वर्ती मुनियों के और शुभोपयोग में स्थित जीवों के लिये व्यवहार नय प्रयोजनवान् माना गया है। सारांश यह है कि समयसार में सातवें गुणस्थान तक व्यवहार नय को प्रयोजनभूत बतलाया गया है और आज कुछ निश्चयाभासी लोग चौथे गुणस्थानवर्ती जीवों को ही व्यवहार नय के त्याग का उपदेश देने लगे हैं। अतएव आचार्यों के वाक्यों को ठीक से समझकर तदनुरूप श्रद्धालु बनकर संयमी अथवा देशसंयमी बनकर अपनी आत्मा का हित करना चाहिये।

क्योंकि तत्त्वार्थसूत्र महाशास्त्र में भी कहा है।

"अर्पितानर्पितसिद्धेः" अर्थात् एक नय को मुख्य करके दूसरे नय को गौण कर देना अर्पित अनर्पित कहलाता है। इस प्रधान, गौण की विवक्षा से ही वस्तु तत्त्वों का सम्यक् ज्ञान होता है जब निश्चयनय प्रधान है तब व्यवहार नय गौण है, मिथ्या नहीं है एवं जब व्यवहार नय प्रधान है तब निश्चय नय गौण है। यही सम्यक् व्यवस्था है और यही पद्धति जैन धर्म का प्राण है यदि इस सूत्र को जैन सिद्धान्त से निकाल दिया जावे तो जैनधर्म निष्प्राण हो जावेगा। अतः जिनधर्म के मर्म को समझने के लिये नयों की मुख्य गौण व्यवस्था को समझने में प्रमाद नहीं करना चाहिये।



एक मिथ्यादृष्टि मिथ्यात्व अवस्था में बन्ध करता है, तथा दूसरा मिथ्यादृष्टि प्रायोगलब्धि में बन्ध करता है, तथा तीसरा मिथ्यादृष्टि अनिवृत्ति करण के चरम समय में बन्ध करता है, और अन्तर्मुहूर्त में क्षपकश्रेणी चढ़कर निर्वाण को प्राप्त कर लेता है। क्या तीनों का बन्ध समान है ?

# मुनिचर्या

[ लेखिका कु० ब्र० विद्युल्लता हिराचन्द शहा, B.A.B.Ed. श्राविका संस्थानगर, सोलापुर ]

चारित्र चक्रवर्ती स्व० १०८ आचार्य शान्तिसागरजी की उज्ज्वल आचार्य परंपरा का निर्मल प्रवाह इस स्मृति ग्रन्थ के मूल नायक परम श्रद्धेय १०८ गुरुराज शिवसागरजी महाराज तक पहुँचा था। दिगम्बर संप्रदाय समस्त साधु वृंद की जीवन चर्या से समाज सुपरिचित तथा प्रभावी है।

इस निर्दोष साधु चर्या से अपरिचित, अज्ञानी, मोही, लौकिक दृष्टि जनों के मन में कुछ भ्रमोत्पादक प्रश्न उठा करते हैं, वे प्रश्न केवल भ्रममात्र हैं। भ्रमरोग की दवा समीचीन ज्ञानके सिवा और कुछ नहीं है।

कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न ये हैं—

१ दिगम्बर जैन साधु नग्न क्यों रहते हैं ?

२ दिगम्बर जैन साधु दंत धावन क्यों नहीं करते ?

३ दिगम्बर जैन साधु स्नान क्यों नहीं करते ?

१ समाधान—

निर्ग्रन्थ दिगम्बरत्व, जिनभगवान का निर्दोष चिह्न नग्नता ही है। वादि प्रवादियों के द्वारा इस विषय में विवाद उठाये जाने पर श्रीमद् भट्टाकलंक देव ने मार्मिक उत्तर दिया है।

'[illegible]'

प्रकृति के साथ [illegible] दिगम्बर मुद्रा साधु प्राकृतिक [illegible] [illegible]

दिगम्बर महा साधु का जीवन समाज के सामने खुली पुस्तक सदृश है, बंद पुस्तक का विषय समझने-समझाने में शंकाके लिये गुंजाइश है, परन्तु इनके जीवन की प्रत्येक क्रिया प्रतिक्षण हमें चाहे जो पत्र उलटकर पढ़ने के लिये सुअवसर देती है।

मूर्तियाँ कितनी ही प्रकार की बनती हैं परन्तु दिगम्बर मूर्ति का मूल्य अन्य मूर्तियों की अपेक्षा कई गुना अधिक रहता है। क्योंकि उस पाषाण के दूषण किसी प्रकार छिपाये नहीं जाते।

निर्विकारी अवस्था में नग्नत्व अनिवार्य है। बाह्य-वेष अंतरंग विरागता का सूचक है। इसीलिये आगम ग्रन्थों में २८ मूलगुणों में नग्नता का अन्तर्भाव किया है।

## २ अदन्त धावन स्वीकार—

दि० महासाधु २८ मूलगुणों का परिपालन यथा शक्ति, निरतिचार करते ही हैं। उनका जीवन अन्तर्बाह्य वैराग्य रस से परिप्लुत होता है। संसार-देह-भोगों के प्रति निर्ममत्वता उनकी प्रत्येक क्रिया सिद्ध करती है। देहधारी को देह से निर्ममत्व-केवल 'जीव जुदा-पुग्गल जुदा' कहने मात्र से अनुभूत नहीं होता। एक क्षेत्रावगाही रूप से देह का आत्मा के साथ अनादिकाल से संसार में वास्तव्य है। 'शरीर मेरा नहीं' 'मैं शरीर रूप नहीं' इस तत्त्व का अनुभव इन मूलगुणों का पालन करते समय ही हो जाता है।

अदन्त धावन क्रिया-मूलगुणों में एक मूलगुण है। दि० महा साधु का अपने शरीर एवं सौन्दर्य के प्रति कितना ठोस निर्मोह है, यह इस पर से समझ में आ सकता है। रत्नत्रय की साधना का काम लेने में वह शरीर जब तक सहायक रहता है तभी तक उसे सम्हाल कर उसके स्वास्थ्यादिक का आवश्यक ख्याल रखते हैं। शरीर की बेईमानी नजर में आते ही उसकी पूर्ण उपेक्षा करके 'सल्लेखना' महाव्रत द्वारा उसे बड़े शांति समाधान से त्यागते हैं।

मंजन, पेस्ट, ब्रुश आदि द्वारा दन्तधावन यद्यपि वे नहीं करते तथापि दन्त-बीमारी के वे शिकार प्रायः नहीं बनते। दिन में १ बार, खड़े होकर निर्दोष एवं सात्विक पाणिपात्र में आहार लेते हैं। गरम-प्रासुक जल भी उसी समय लेते हैं। आहार के बाद गरम पानी से बैठकर मुंह साफ करने से दाँतों का मल दूर हो जाता है, साधु का शुद्ध मिताहार ही उनकी आरोग्यता के लिये हितकारी है। इसीलिये अदन्त धावन मात्र से उन्हें रोगादिक का भय नहीं है।

## ३ अस्नान—

जलादिक स्नान से केवल बाह्य शरीर की शुद्धि आंशिक रूपसे होती है। जल स्नान के सिवा वैद्यक शास्त्र में धूप-स्नान अत्युत्तम कहा है। सूरज की रोशनी से दि० महासाधु प्रतिदिन विना सायास ही नहाकर शुचिभूंत होते हैं। मन्त्र-जप स्नान भी अन्तर्बाह्य शुचिता लाता है। कपड़े के अन्दर पसीना

आदि में जीवोत्पत्ति होकर रोगादिक का भय स्वाभाविक है लेशमात्र आवरण नहीं होने से दि० महा साधु को स्नानाभाव मात्र में दोष नहीं होता।

दिगम्बरत्व उनका अम्बर समझा गया है। अचैलक्यता की वह साकार-प्रतिमा है। प्रतिदिन साबुन आदि शृंगारी वस्तुओं से स्नान करने वाले मनुष्यों की अपेक्षा उनकी काया विशेष तेजः पुंज बन जाती है। स्वयं अपने देह के प्रति निर्ममत्वभाव कठोरता से इतना गहराई तक पहुँचाया है कि उस शरीरादि का दर्शन करने वाले भक्त या अन्य जनमन में भी विकार भाव की कतई उद्भूति न हो और इसीलिये आचार्यों ने उन्हें अदन्त धावन, अस्नान और केश लुञ्चन करने का आदेश दिया है जिससे उनका शरीर अजनबी मुर्दे के सदृश रहता है। वैराग्य की हवा से उनका अन्तर्द्वन्द मिटकर शान्ति समाधान का पुष्प प्रफुल्लित होता है।

बिना दिगम्बर-मुद्रा अर्थात् मुनिव्रत धारण किये बिना मोक्ष-महल तक पहुँचना असम्भव है। अतः ये मूलगुण मोक्ष महल के सोपान हैं। समता-शान्ति-सुखादिक वृक्षों की जड़ है। रत्नत्रय मन्दिर की दृढ़ दीवारें हैं—अतः मुमुक्षु दि० महासाधु की ये मूलगुण-पालन से निर्दोष चर्या होती है।






ज्यों मति-हीन विवेक बिना, नर साजि मतंगज ईंधन ढोवै।
कंचन भाजन धूल भरै शठ, मूढ़ सुधारस सौं पग धोवै॥
बाहित काग उड़ावन कारन, डार महा मणि मूरख रोवै।
त्यों यह दुर्लभ देह बनारसि, पाय अजान अकारथ खोवै॥





परम पूज्य १०८ आचार्य

# श्री शिवसागर स्मृति-ग्रन्थ



# प्रकीर्णक









# दर्शन पाठ

दृष्टे त्वयि जिनाधीश ! भवाम्भोधिमतारिषम् ।
आप्तमभ्युदयं सर्वं निःश्रेयसमशिश्रयम् ॥१॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! आपके दर्शन करने से मैंने संसार समुद्र को पार कर लिया, सब वैभव प्राप्त कर लिया और मोक्ष रूप परम कल्याण को हस्तगत कर लिया ॥१॥

दृष्टे त्वयि जगद्वन्द्य ! दृष्टो दुःखाम्बुधेस्तटः ।
दृष्टश्चाभ्युदयोपायो दृष्टः पन्थाश्च निर्वृतेः ॥२॥

अर्थ—हे जगद्वन्द्य ! आपके दर्शन करने से मैंने दुःख रूपी सागर का तट देख लिया, सांसारिक सुख का उपाय देख लिया और निर्वाण का मार्ग देख लिया ॥२॥

दृष्टे त्वयि जगन्नाथ ! दृष्टाशेषजगत्त्रय ।
धन्योऽस्मि पुण्यवानस्मि पूतोऽस्मि महितोऽस्म्यहम् ॥३॥

अर्थ—हे लोकत्रय को देखने वाले जगन्नाथ ! आपके दर्शन करने से मैं धन्य हो गया, पुण्यवान् हो गया, पवित्र हो गया और प्रशंसनीय हो गया ॥३॥

दृष्टे त्वयि जगत्त्रात ! जन्ममृत्युजरापह !
जन्म मे सफलं सद्यः सफले मम चक्षुषी ॥४॥

अर्थ—हे जगतपिता ! हे जन्म मृत्यु और जरा से रहित ! आपके दर्शन करने से मेरा जन्म सफल हो गया और मेरे नेत्र सफल हो गये ॥४॥

दृष्टे त्वयि महौदार्य ! दृष्टः कल्पमहीरुहः ।
दृष्टा कामदुघा धेनुर्दृष्टश्चिन्तामणिः स्फुटम् ॥५॥

अर्थ—हे अत्यन्त उदार भगवन् ! आपके दर्शन करने से मैंने कल्पवृक्ष को देख लिया, मनोरथों को पूर्ण करने वाली कामधेनु देख ली और स्पष्ट ही चिन्तामणि रत्न को देख लिया ॥५॥

दृष्टे त्वयि महिष्ठोक्ते ! दृष्टिस्त्रैलोक्यदुर्लभा ।
स्पष्टीभवति मे देव ! दृष्टैः किं फल्गुभिः परैः ॥६॥

अर्थ—हे अतिशय श्रेष्ठ दिव्यध्वनि से युक्त जिनेन्द्र ! आपके दर्शन करने से मेरी त्रिलोकदुर्लभ दृष्टि स्पष्ट हो जाती है—खुल जाती है। हे देव ! अन्य व्यर्थ के देवों के दर्शन से क्या लाभ है ?

दृष्टे त्वयि परंज्योतिर्मिथ्यात्वध्वान्त-सन्ततिः ।
प्रध्वंसं प्रतिपन्नैव दुःखसन्तानकारणम् ॥७॥

अर्थ—हे परम ज्योति स्वरूप ! आपके दर्शन करने से दुःख सन्तति का कारण जो मिथ्यात्व रूपी अन्धकार का समूह है वह नियम से नाश को प्राप्त हो गया है ॥७॥

दृष्टे त्वयि जगन्मित्र ! ज्ञानो मे पुण्यशासन !
जन्म-जन्मकृताशेष-घोरपापक्षयोऽधुना ॥८॥

अर्थ—हे जगत् के मित्र ! हे पवित्र उपदेश के दाता ! आपके दर्शन करने से इस समय मेरे जन्म जन्म में किये हुए समस्त भयङ्कर पापों का क्षय हो गया है ॥८॥

दृष्टे त्वयि निराबाध ! दुष्टा दुर्गतिराक्षसी ।
न द्रक्ष्यति मुखं जातु मदीयं सद्गतिप्रद ! ॥९॥

अर्थ—हे बाधा से रहित ! हे शुभ गति को देने वाले जिनेन्द्र ! आपके दर्शन करने से दुष्ट दुर्गति रूपी राक्षसी अब कभी मेरा मुख नहीं देख सकेगी ॥९॥

दृष्टे त्वयि प्रभो ! तिर्यग्गतिकारागृहादहम् ।
निर्गतः पुनरावृत्त्या निसर्गाद् युगदुःखतः ॥१०॥

अर्थ—हे प्रभो ! आपके दर्शन करने से मैं तिर्यञ्च गति रूपी कारागृह से बाहर निकल आया हूँ [illegible] स्वाभाविक शारीरिक तथा मानसिक—दोनों प्रकार के दुःखों से [illegible] ॥१०॥

दृष्टे त्वयि भवान्तेश ! मानुष्यादिभवार्तयः ।
न स्युर्मे दैन्यनिन्दाद्या [illegible] ॥११॥

अर्थ—हे [illegible] ! आपके दर्शन करने से अब मुझे मनुष्यादि [illegible] जिस प्रकार सूर्य का दर्शन करने वाले को अन्धकार प्राप्त नहीं होता [illegible] दीनता तथा निन्दा आदि नहीं प्राप्त हो सकती ॥११॥

दृष्टे त्वयि महादेव ! दुर्देवाद्दुर्दशा ।
[illegible] ॥१२॥

अर्थ—हे महादेव ! [illegible]

[illegible] ॥१२॥

**दृष्टे त्वयि जगवन्ध्यो चतुर्धीदुःखसन्ततिः ।**
**न स्पृशेदेव मां देव हिमानीवाग्निसेविनं ॥१३॥**

अर्थ—हे जगबन्धु देव ! आपके दर्शन करने से चारों गतियों के दुःख मुझे छू भी नहीं सकते जैसे अग्नि सेवन करने वाले को शीत छू नहीं सकता ॥१३॥

**दृष्टे त्वयि जिन ! प्राप्तं यन्त्रधारागृहं मया ।**
**संसारग्रीष्म-घर्मांशुतप्तेनातितरां चिरम् ॥१४॥**

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! आपके दर्शन करने से, संसार रूपी ग्रीष्म ऋतु के सूर्य से अतिशय संतप्त हुए मैंने चिरकाल बाद यन्त्र रूप धारा गृह को—पानी के फुव्वारे को प्राप्त किया है ॥१४॥

**दृष्टे त्वयि महोपाय ! दृष्टः कारुणिको भिषक् ।**
**चिरं भव-महाव्याधिबाधितेन मयाधुना ॥१५॥**

अर्थ—हे महान् उपायों से युक्त जिनेन्द्र ! मैं चिरकाल से संसार रूपी महा बीमारी से पीड़ित हो रहा था सो अब आपके दर्शन करने से मैंने परम दयालु वैद्य को देख लिया है। अर्थात् आप परमदयालु वैद्य के समान मेरी संसार रूपी बीमारी को नष्ट करेंगे ॥१५॥

**दृष्टे त्वयि जगत्पूज्य ! प्राप्तं राज्यमिदं मया ।**
**आजवंजवदारिद्र्य- दह्यमानेन सन्ततम् ॥१६॥**

अर्थ—हे जगत् पूज्य ! मैं संसार रूपी दरिद्रता से निरन्तर जल रहा हूँ। आज आपके दर्शन करने से मैंने यह राज्य प्राप्त कर लिया है अर्थात् आपके दर्शन करने से मेरी समस्त दरिद्रता दूर हो गई है ॥१६॥

**दृष्टे त्वयि महाविद्य ! सद्वेद्यं सद्विपाककम् ।**
**शुभायुर्नाम-गोत्राणि संचितान्येव साम्प्रतम् ॥१७॥**

अर्थ—हे केवलज्ञान रूप महाविद्या से युक्त जिनेन्द्र ! आपके दर्शन करने से मैंने इस समय सुख दायक सातावेदनीय, शुभ आयु, शुभनाम तथा शुभ गोत्र का संचय किया है अर्थात् पुण्य प्रकृतियों का बन्ध किया है ॥१७॥

**दृष्टे त्वयि जगज्येष्ठ ! शिष्टाभीष्टफलप्रद ।**
**दृष्टार्थसिद्धिरेवाद्य दृष्टा साक्षादनेकधा ॥१८॥**

अर्थ—हे जगत् ज्येष्ठ ! हे शिष्टजनों को मनोवाञ्छित फल देने वाले ! आज आपके दर्शन करने से मैंने साक्षात् प्रत्यक्षवर्ती अनेक पदार्थों की सिद्धि देख ली है अर्थात् आपके दर्शन करने से मेरे भाव मनोरथ पूर्ण हुए हैं ॥१८॥

दृष्टे त्वयि महादानं दत्तं कल्पमहाद्रुम ।
स्वर्भोगकर्मभूभाविविविधाभ्युदयश्रियः ॥१९॥

अर्थ—हे कल्पवृक्षरूप जिनेन्द्र ! आपके दर्शन से आपने मुझे स्वर्ग, भोगभूमि तथा कर्मभूमि के अनेक अभ्युदयरूप लक्ष्मी का महान् दान दिया है अर्थात् आपके दर्शन से मुझे स्वर्गादिक की विभूति प्राप्त हुई है ॥१९॥

दृष्टे त्वयि महाब्रह्मन्ननुभावपराक्रमैः ।
न हि मे दुर्लभः सार्व ! सार्वभौमादिसंभवः ॥२०॥

अर्थ—हे महाब्रह्मन् ! हे सर्वहितकारिन् ! आपके दर्शन करने से, आपके प्रभाव से मुझे चक्रवर्ती आदि की उत्तम पर्याय दुर्लभ नहीं है अर्थात् आपके दर्शन की महिमा से मैं चक्रवर्ती आदि की उत्तम पर्याय प्राप्त कर सकता हूँ ॥२०॥

दृष्टे त्वयि त्रिलोकीश ! भुवनत्रयजामराः ।
शोच्या एव मम भ्रान्तेः का कथा खचराधिपाः ॥२१॥

अर्थ—हे त्रिलोकीनाथ ! आपके दर्शन करने से तीन लोक के देव तथा विद्याधर शोचनीय मालूम होने लगते हैं—हीन दिखाई देने लगते हैं मेरी थकावट की तो कथा ही क्या है—वह तो अनायास ही दूर हो जाती है ॥२१॥

दृष्टे त्वयि च्युतानन्त ! नित्यानन्दपदप्रद !
इन्द्राहमिन्द्र-संपत्तिं बहु मन्ये न नश्वरीम् ॥२२॥

अर्थ—हे [illegible] ! हे नित्यानन्द से युक्त मोक्ष पद के देने वाले ! आपके दर्शन करने से मैं इन्द्र और अहमिन्द्र की विनाशीक लक्ष्मी को बहुत नहीं मानता हूँ ॥२२॥

दृष्टे त्वयि गुणाम्भोधे ! गुणानां महतां गणः ।
शीलानां निचयः सद्यो मयात्मादि दुरासदः ॥२३॥

अर्थ—हे गुणों के सागर ! आपके दर्शन करने से मैंने शीघ्र ही बड़े बड़े गुणों का समूह तथा शीलव्रतों का दुर्लभ समूह प्राप्त कर लिया है ॥२३॥

दृष्टे त्वयि मुनिश्रेष्ठ ! मुनीनां [illegible] ।
[illegible] समासन्न हि मे ध्रुवं ॥२४॥

अर्थ—हे मुनियों के [illegible] ! हे स्वामिन् ! आपके दर्शन करने से मुनियों और [illegible] तथा [illegible] मुझे प्राप्त हुआ है ॥२४॥

**दृष्टे त्वयि पुमर्थस्य परां काष्ठामधिष्ठित !**
**नैःश्रेयसं सदा सौख्यं शस्तं हस्ते कृतं मया ॥२५॥**

अर्थ—हे पुरुषार्थ की परम सीमा—मोक्ष को प्राप्त जिनेन्द्र ! आपके दर्शन करने से मैंने मोक्ष का उत्तम सुख सदा के लिये प्राप्त कर लिया है ॥२५॥

**यो भव्यो भगवन् ! पश्येत् सर्वदा भक्तिनिर्भरः ।**
**तस्य यद् दुर्लभं सौख्यं नाभून्नास्ति न भावितम् ॥२६॥**

अर्थ—हे भगवन् ! जो भव्य जीव भक्ति से युक्त हो कर सदा आपके दर्शन करता है उसके लिये जो सुख दुर्लभ है वह न था, न है और न होगा अर्थात् उसे सभी सुख सुलभ रहते हैं ॥२६॥

**ततस्त्वमेव लोकानामनिमित्तैकबान्धवः ।**
**त्वमेव सर्वलोकैकहितधर्मोपदेशकः ॥२७॥**

अर्थ—इसलिये हे भगवन् ! आप ही लोगों के अकारण बन्धु हैं तथा आप ही सब लोगों के लिये एक हितकारी धर्म का उपदेश देने वाले हैं ॥२७॥

**त्वामेव मोक्षमार्गस्य नेतारं कर्मभूभृताम् ।**
**भेत्तारं विश्व-तत्त्वानां ज्ञातारं मुनयो विदुः ॥२८॥**

अर्थ—मुनि आपको ही मोक्षमार्ग के नेता कर्मरूपी पर्वतों को भेदने वाले और समस्त तत्त्वों के ज्ञाता जानते हैं। अर्थात् आप ही हितोपदेशी, वीतराग और सर्वज्ञ हैं ॥२८॥

**त्वया योगाग्निना घातिगहनं भस्मसात्कृतम् ।**
**त्वयाप्तं विश्व विश्वैकसारानन्त-चतुष्टयम् ॥२९॥**

अर्थ—हे भगवन् ! आपने ध्यान रूपी अग्नि के द्वारा घातिया कर्म रूपी वन को भस्म किया है और समस्त संसार के सारभूत अनन्त चतुष्टय को प्राप्त किया है ॥२९॥

**नमस्तुभ्यं चतुस्त्रिंशत्प्रवरातिशयास्पद !**
**नमस्तुभ्य महाप्रातिहार्याष्टकपरिष्कृत ! ॥३०॥**

अर्थ—हे चौतीस श्रेष्ठ अतिशयों के स्थान ! आपको नमस्कार हो। हे आठ महा प्रातिहार्यों से सुशोभित ! आपको नमस्कार हो ॥३०॥

**नापरस्त्वद्दतेः देवो नापरोऽस्ति महेश्वरः ।**
**नापरस्त्वद्दते ब्रह्मा नापरः पुरुषोत्तमः ॥३१॥**

अर्थ—हे भगवन् ! आपके सिवाय कोई दूसरा देव नहीं है, आपके सिवाय कोई दूसरा महेश्वर नहीं है, आपके सिवाय कोई दूसरा ब्रह्मा नहीं है और आपके सिवाय कोई दूसरा नारायण नहीं है अर्थात् आप ही ब्रह्मा, विष्णु और महेश हैं ॥२१॥

त्वयैव सत्यस्तत्त्वोपदेशः स्यात्पदलाञ्छितः ।<br>त्वयैव मतमार्याणां स्वर्मोक्षापादनक्षमम् ॥२२॥

अर्थ—हे नाथ ! आपने ही स्यात्पद से चिह्नित सत्य तत्त्वोपदेश दिया है तथा आपका ही मत आर्य पुरुषों को-भव्यजीवों को स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त कराने में समर्थ है ॥२२॥

त्वय्येवानन्यसामान्यपञ्चकल्याणसम्पदः ।<br>त्वय्येवान्यसंभाव्यनवकेवललब्धयः ॥२३॥

अर्थ—जो दूसरों में न पाई जावें ऐसी पञ्चकल्याणक रूपी संपदाएं आपमें ही पाई जाती है। इसी तरह जिनकी दूसरों में संभावना नहीं है ऐसी नव केवल लब्धियां आपमें ही विद्यमान हैं ॥२३॥

ख्यापिताशेषवेदार्थक्षपितागतिनाशन !<br>सज्ज्ञान ! ज्ञाननेत्राणामज्ञानं हर मे हर ! ॥२४॥

अर्थ—प्रकट किये हुए समस्त आगम के रहस्य से जिन्होंने प्रतिवादियों के मान को नष्ट कर दिया है ऐसे हे जिनेन्द्र ! तथा ज्ञानरूपी नेत्र से युक्त मनुष्यों के लिये सम्यग्ज्ञान के दायक हे महेश ! आप मेरे अज्ञान को दूर करें ॥२४॥

जयाखिलजगज्ज्योतिःस्वरूपानन्दमन्दिर ! ।<br>जय त्रैलोक्यराज्याधिपनिन्द्यमहिमास्पद ! ॥२५॥

अर्थ—हे समस्त जगत् के लिये ज्योति-स्वरूप ! हे आनन्द मंदिर ! आपकी जय हो । हे तीन लोक के राज्य के स्वामित्व रूपी महिमा के धाम ! आपकी जय हो ॥२५॥

जय विश्वप्रपन्चादिगुण[illegible] ! ।<br>जय [illegible] ! ॥२६॥

अर्थ—हे विश्वप्रपन्च आदि [illegible] से रहित ! भगवन् ! आपकी जय हो । जिनकी आत्मा [illegible] भगवन् ! आपकी जय हो ॥२६॥

जय [illegible] ! ।<br>जय [illegible] ! ॥२७॥

अर्थ—सात भवों के स्वरूप को दिखलाने वाले भामण्डल में सुशोभित हे जिनेन्द्र ! आपकी जय हो। तथा जिनका दिव्यध्वनि रूपी दर्पण समस्त जगत् को दिखलाने वाला है ऐसे हे नाथ ! आपकी जय हो ॥३७॥

जय लोकत्रयाराध्य ! जय लोकैकमङ्गल ।
जय लोकशरण्यार्हन् ! जय लोकोत्तम ! प्रभो ! ॥३८॥

अर्थ--हे तीनों लोकों के द्वारा आराधनीय ! आपकी जय हो, हे लोक के एक-अद्वितीय मङ्गल ! आपकी जय हो, हे लोक के रक्षक अर्हन्त ! आपकी जय हो, हे लोकोत्तम ! प्रभो ! आपकी जय हो ॥३८॥

जयानन्तगुणाधार ! जय वाचामगोचर ! ।
जय भक्तजनस्तुत्य ! जय भक्तवरप्रद ! ॥३९॥

अर्थ--हे अनन्तगुणों के आधार ! आपकी जय हो, हे वचनों के अगोचर ! आपकी जय हो, भक्त जनों के द्वारा स्तुति करने योग्य ! आपकी जय हो, हे भक्तों को वर प्रदान करने वाले जिनेन्द्र ! आपकी जय हो ॥३९॥

यस्त्वां पश्यति विश्वलोकतिलक श्रीमज्जिनेन्द्रप्रभो,
भक्त्या भव्यवरः स एव सुकृती प्राज्ञः कृतार्थः कृती ।
विद्या-विक्रम-कीर्ति-पुण्य-निलयो भोगोपभोगानसौ,
भुक्त्वा मुक्तिमुपैति सप्त-परम-स्थानक्रमेण ध्रुवम् ॥४०॥

अर्थ--हे समस्त लोक के तिलक ! हे श्रीमन् जिनेन्द्र ! प्रभो ! जो श्रेष्ठ भव्य, भक्ति पूर्वक आपके दर्शन करता है वही पुण्यात्मा है, बुद्धिमान है, कृतकृत्य है, चतुर है, विद्या पराक्रम कीर्ति और पुण्य का घर है तथा वही भोग और उपभोगों को भोग कर सात परम स्थानों के क्रम से निश्चित ही मुक्ति को प्राप्त होता है ॥४०॥

देवाद्वितीयबहुसद्गुणरत्नराशे !
देवासुराधिपतिपूज्य ! शुभैकलभ्यम् ।
त्वद्दिव्यपादकमलं जिन पश्यतो मे,
त्वय्येव भक्तिरचला भवतु प्रभूता ॥४१॥

अर्थ--हे देव ! अद्वितीय अनेक उत्तम गुणरूपी रत्नों की राशि ! हे देव और धरणेन्द्रों के द्वारा पूज्य ! जिनेन्द्र ! एक पुण्य से ही प्राप्त होने योग्य आपके मनोज्ञ चरण कमलों का दर्शन करता हुआ मैं यही चाहता हूं कि मेरी अविनाशी तथा बहुत भारी भक्ति आप में ही लीन रहे ॥४१॥

*

# वीतराग स्तवनम्

[ अमरेन्द्र यति ]

द्रुतविलम्बितं छन्दः

जिनपते द्रुतमिन्द्रियविप्लवाद् दमवताभवतामवतारणं ।
वितनुषे भववारिधितोऽन्वहं सकलया कलयाकलया कया ॥१॥

हे जिनपते ! इन्द्रियविप्लवात् अवताम् दमवताम् भववारिधितः अवतारणम् अन्वहं द्रुतम् सकलया अकलया कया कलया वितनुषे इत्यन्वयः ।

हे जिनपते जिनेन्द्र ! इन्द्रियविप्लवात्— स्पर्शनादिहृषीकोपद्रवात्, अवतां-रक्षतां, दमवतां-साधूनां, भववारिधितः-संसारसागरात्, द्रुतं-शीघ्रम् अवतारणम्-निष्क्रमणं, अन्वहं-प्रतिदिनं, सकलया-सम्पूर्णया, अकलया-अशरीरया—अदृश्यमानयेति यावत्, कया—किन्नामधेयया कलया-चातुर्या वितनुषे-करोषि ।

जय सनातन-सिद्धि-समागमं विनयतो नयतोऽनयतो जिनम् ।
जिनपते सविवेकसुदृक्त्वया ऽधिकमलाकमला कमलाश्रया ॥२॥

हे जिनपते ! अनयतोजिनं सनातनसिद्धिसमागमं नयतः तव सविवेकं विनयतः अधिकमला [illegible] कमलाश्रया [illegible] इत्यन्वयः ।

हे जिनपते ! हे जिनेन्द्र ! अनयतोजिनं—अनयं [illegible] अनयतोजिनं, [illegible] । सनातनसिद्धिसमागमं-शाश्वतमुक्तिसंगमं, नयतः-प्रापयतः, [illegible] विनयतः-विनयात् [illegible], अधिकमला- [illegible] । [illegible] कमलाश्रया- [illegible] भवति, [illegible]

[illegible] ।
[illegible] ॥३॥

[illegible]

यतः कारणात् कमलागमः-कमलायाः-लक्ष्म्या, आगमः-प्राप्तिः, भवविवृद्धिकृतः—कृता भवविवृद्धिर्येन सः, आहिताग्निः-अग्न्याहितः इत्यादिवत् निष्ठायाः क्त प्रत्ययस्य पर प्रयोगः अस्तीति शेषः। अतःअस्मात् कारणात् जिनं-जिनेन्द्रं, नमतो-नमस्कुर्वतः, मम, न मतः-नो इष्टः अमरभूरुहकामना-अमरभूरुहस्य-कल्पवृक्षस्य कुकामना-वाञ्छा रतिदा-प्रीतिप्रदा न वर्तते। सुरमणी-इन्द्रः द्विरूपकोषे ईकारान्तोऽपि मणिशब्दोवर्तते, तस्य रमणी-वल्लभा इन्द्राणीत्यर्थः, तस्या रमणीयता सुन्दरता, रतिदा-प्रीतिप्रदा न वर्तते ॥३॥

**किल यशः शशिनि प्रसृते शशी नरकतारक तारकतामितः ।**
**व्रजति शोषमतोऽपि महामहोविभवतो भवतो भवतोयधिः ॥४॥**

हे नरकतारक ! भवतः यशःशशिनि प्रसृते सति शशी किल तारकताम् इतः अतोऽपि भवतः महामहोविभवः भवतोयधिः शोषं व्रजतीत्यन्वयः।

हे नरकतारक ! हे नरकनिष्क्रमयितः, भवतः-तव, यशःशशिनिकीर्तिचन्द्रे, प्रसृते-प्रसरोपेते सति, शशी-चन्द्रः, किल वाक्यालंकारे, तारकतां-नक्षत्रताम् इतः प्राप्तः, तारकवत् निष्प्रभ आसीदित्यर्थः। अतोऽपि किञ्च भवतः-तव, महामहो विभवतः-महामहसो-महातेजसो विभवः-सामर्थ्यं तस्मात्, भवतोयधिः-संसारसागरः शोषं-शुष्कतां व्रजति-गच्छति ॥४॥

**न मनसोऽमनसो न जिनेश ते रसमयः समयः समयत्यसौ ।**
**जगदभेदि विभाव्य ततः क्षणा दुपरता परता परतापकृत् ॥५॥**

हे जिनेश ! अमनसः ते रसमयः [ मे ] मनसः असौ समयः न समयति इति न ( अपितु समयत्येव ) इति विभाव्य जगद् अभेदि ततः क्षणात् परतापकृत् परता उपरता इत्यन्वयः।

हे जिनेश-जिनेन्द्र ! अमनसो-भावमनोरहितस्य, ते-तव, रसमयः स्नेहमयः भक्तिपूर्ण इति यावत्, मे-मम, मनसो मानसस्य, असौ प्रसिद्धः समयः-आचारः प्रवृत्तिरित्यर्थः न समयति-न गच्छति इति न अपितु समयत्येव इति विभाव्य-विचार्य, जगद्-संसारः अभेदि-भिन्नः खण्डितोऽभूद् इत्यर्थः। ततः-तस्मात् कारणात्, परतापकृत-परश्चासौ तापश्च परतापः तं करोतीति परतापकृत, अत्यधिकसंताप-कृत्, परतापरतन्त्रता, उपरता-नष्टा ॥५॥

**त्वयि बभूव जिनेश्वर शाश्वती शमवतां ममता मम तादृशी ।**
**यतिपते तदपि क्रियते न किं शुभवता भवता भवतारणम् ॥६॥**

हे जिनेश्वर ! शमवतां यादृशी ममता भवति मम त्वयि तादृशी शाश्वती ममता बभूव हे यतिपते ! तदपि शुभवता भवता भवतारणं किं न क्रियते इत्यन्वयः।

हे जिनेश्वर-हे जिनेन्द्र ! शमवतां-शान्तिसहितानां मुनीनां, यादृशी ममता-आत्मीयबुद्धिः-भवति मम त्वयि तादृशी-तथाभूता, शाश्वती अनपायिनी, ममता-आत्मीयबुद्धिः भक्तिरित्यर्थः बभूव ।

हे यतिपते ! मुनिनाथ ! तदपि शुभवता-कल्याणवता, भवता-त्वया भवतारणं-संसारसागर-निस्तारणं किं न क्रियते ममेति शेषः ॥६॥

भवति यो जिननाथ मनःशमं वितनुते तनुतेऽतनुतेजसि ।

कमिव नो भविनं तमसोऽसुख-प्रसविनः सविता स विनाशयेत् ॥७॥

हे जिननाथ ! यः वितनुते अतनुतेजसि भवति मनःशमं तनुते सविता सः कमिव भविनं असुख-प्रसविनः तमसः नो विनाशयेत् इत्यन्वयः ।

हे जिननाथ ! हे जिनेन्द्र ! यो-जनः, वितनुते-विगता तनुता-कृशता हीनतेति यावत् यस्य स तस्मिन् [illegible] इत्यर्थः, अतनुतेजसि-अतनु-अकृशं महदित्यर्थः, तेजो यस्य स तस्मिन्, भवति-त्वयि, मनःशमं-[illegible] शमः—शान्तिः [illegible] यावत् तनुते-विस्तारयति करोतीत्यर्थः । सविता—सूर्यस्वरूपः स कमिव भविनं-[illegible] प्राणिनं, असुखप्रसविनो—दुःखोत्पादकात्, तमसो—मोह तिमिरात्, नो विनाशयेत् न निष्कासयेत् अपि तु सर्वमेव विनाशयेत् ॥७॥

परमया रमयाऽरमयानया-रुचिरकमलं कमलं कमलं भयम् ।

न नतमान नमाम नमामनं गविविभार-विभार-विभासुरम् ॥८॥

हे नतमान ! [ वः ] कमलं कमलं [ प्रति ] भयं तव अंघ्रिकमलं परमया रमया अरम् अयात् [illegible] विभासुरं [illegible] न [illegible] इत्यन्वयः ।

हे नतमान ! [illegible] हे नतमान ! [illegible] इति [illegible] कमलं—जलजं नीरे [illegible] [illegible] कमलं [ प्रति ] भयं [illegible] [illegible] परमया—उत्कृष्टया, रमया—लक्ष्म्या, अरम्—अत्यर्थं [illegible] [illegible] विभासुरं [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] इति [illegible] [illegible] ॥८॥

[illegible] ।

[illegible] ॥९॥

हे निहतमोहतमोरिपुवीर जिन ! अमरसामरसामरनिर्म्मिता ते असौ नुतिः ननु तिग्मरुचेः रुचिः यथा चिरसौख्यपदप्रदा [ अस्ति ] इत्यन्वयः ।

निहतो विनष्टो, मोहतम एव-मिथ्यात्वान्धकार एव, रिपुवीरः शत्रुभटो येन तत्सम्बुद्धौ हे जिन ! अमरसामरसामरनिर्म्मिता-अमरादेवाः, सामरा-इन्द्राः, सामराः साम-शान्ति रान्ति ददतीति सामरा-यतयः-एषां अमराश्च सामराश्च सामराश्च इति अमरसामरसामरसामरास्तै र्निमिता-रचिता कृतेति यावत्-पक्षे, श्लेषेण अमर सामरश्च अमरेन्द्रश्चासौ सामरो यतिश्च तेन अमरेन्द्रयतिना निर्मिता-रचिता, ते-तव, असौ-एषा प्रसिद्धा नुति स्तुतिः, ननु-निश्चयेन, तिग्मरुचेःसूर्यस्य रुचिर्यथा कान्तिरिव, चिरसौख्यपदं—मोक्षं प्रददातीति, चिरसौख्यपदप्रदा अस्तीति शेषः ॥९॥

इति अमरेन्द्रयतिविरचितं वीतरागस्तवनं समाप्तम् ।

( संस्कृतटीकेयं पन्नालालेन सागरस्थेन रचिता ) दि० १५-१-१९६९ ई०



# श्री पार्श्वनाथ स्तोत्रम्

[ श्री राजसेन भट्टारक विरचितम् ]

मालिनीछन्दः

अजरममरसारं मारदुर्वारवारं गलित-बहुलखेदं सर्वतत्त्वानुवेदम् ।
कमठमदविदारं भूरिसिद्धान्तसारं विगतवृजिनयूथं नौम्यहं पार्श्वनाथम् ॥१॥

अर्थ—जो वृद्धावस्था से रहित हैं, देवों में श्रेष्ठ हैं, काम के दुःख दायक प्रहार को नष्ट करने वाले हैं, अत्यधिक खेद से रहित हैं, समस्त तत्त्वों के ज्ञाता हैं, कमठ के गर्व को नष्ट करने वाले हैं, अत्यधिक सिद्धान्त श्रेष्ठ हैं और पाप समूह से रहित हैं उन पार्श्वनाथ भगवान् की मैं स्तुति करता हूं ॥१॥

प्रहतमदनचापं केवलज्ञानरूपं मरकतमणिदेहं सौम्यभावानुगेहम् ।
सुचरितगुणपूरं पञ्चसंसारदूरं विगतवृजिनयूथं नौम्यहं पार्श्वनाथम् ॥२॥

अर्थ—जिन्होंने काम के धनुष को तोड़ दिया है, जो केवल ज्ञान रूप हैं, जिनका शरीर मरकत मणि के समान है, जो सौम्यभाव के सनातन गृह हैं, जिन्होंने गुणों के पूर का अच्छी तरह आचरण किया है, जो पञ्च परावर्तन रूप संसार से दूर हैं, तथा जिनके पापों का समूह नष्ट हो चुका उन पार्श्वनाथ भगवान की मैं स्तुति करता हूँ ॥२॥

सकलसुजनभूपं ध्वस्तनिःशेषतापं भवगहनकुठारं सर्वदुःखापहारम् ।
अतुलितवरकायं पापघातिप्रणाशं विगतवृजिनयूथं नौम्यहं पार्श्वनाथम् ॥३॥

अर्थ—जो समस्त सज्जनों के शिरोमणि हैं, जिन्होंने समस्त सन्ताप को नष्ट कर दिया है, जो संसार रूपी वन को कुठार के समान हैं, जो समस्त दुःखों को दूर करने वाले हैं, जिनके शरीर का लावण्य अनुपम है, और जिन्होंने पापों का समूह नष्ट कर दिया है उन पार्श्वनाथ भगवान् की मैं स्तुति करता हूँ ॥३॥

अमरनुतमहिमानं पूज्यमानं नमानं त्रिभुवनजनतेशं क्लेशवल्लीहुताशम् ।
सुसुमनसमीशं शुद्धबोधप्रकाशं विगतवृजिनयूथं नौम्यहं पार्श्वनाथम् ॥४॥

अर्थ—जिनकी महिमा अनुपम है, जो सब के द्वारा पूजे जाते हैं, जो मान से रहित हैं, जो तीन लोक की जनता के स्वामी हैं, जो दुःख रूपी लता को जलाने के लिये अग्नि रूप हैं, जो उत्तम हृदय को धारण करते हैं, परमेश हैं, जिनके ज्ञान का प्रकाश अत्यन्त शुद्ध है, रागादि से रहित हैं तथा जिनके पापों का समूह नष्ट हो चुका है उन पार्श्वनाथ भगवान् की मैं स्तुति करता हूँ ॥४॥

हतमदकरमोहं दिव्यनिर्घोषवाहं विधुततिमिरजालं मोहमल्लप्रमन्थम् ।
विमलमधुरकायं मुक्तिनामैकगेहं विगतवृजिनयूथं नौम्यहं पार्श्वनाथम् ॥५॥

अर्थ—जिनका मद को उत्पन्न करने वाला मोह नष्ट हो चुका है, जो दिव्यध्वनि को धारण करने वाले हैं, जिन्होंने अन्धकार के समूह को नष्ट कर दिया है, जो मोह रूपी मल्ल को पछाड़ने के लिये [illegible] हैं, जिनका निर्मल शरीर सुशोभित हो रहा है जो मुक्ति की [illegible] के घर हैं और जिनके पापों का समूह नष्ट हो चुका है उन पार्श्वनाथ भगवान् की मैं स्तुति करता हूँ ॥५॥

गुणगणसनाथं योगिनां ध्यानगम्यं गुणिजनजनवन्द्यं साधुलोकप्रबोधम् ।
[illegible] विगतवृजिनयूथं नौम्यहं पार्श्वनाथम् ॥६॥

अर्थ—[illegible] गुणसमूह से सुशोभित हैं, [illegible] के समान [illegible] हैं, जिनका [illegible] उत्पन्न हुआ है, जो [illegible] को [illegible] करने वाले हैं, जिनका मोह नष्ट हो चुका है, [illegible] हैं और जिनके पापों का समूह नष्ट हो चुका है उन पार्श्वनाथ भगवान् की मैं स्तुति करता हूँ ॥६॥

**अनुपमसुखमूर्ति प्रातिहार्याष्टपूर्ति खचरनरसुतोषं पञ्चकल्याणकोषम् ।**
**धृतफणिमणिदीपं सर्वजीवानुकम्पं विगतवृजिनयूथं नौम्यहं पार्श्वनाथम् ।।७।।**

अर्थ—जो अनुपम सुख की मूर्ति हैं, जो अष्ट प्रातिहार्यों की पूर्ति से सहित हैं, जो विद्याधर एवं भूमिगोचरी मनुष्यों को सन्तुष्ट करने वाले हैं, जो पञ्च कल्याणकों के कोष-खजाना रूप हैं, जिन्होंने धरणेन्द्र के फणों पर मणिमय दीपक धारण कराये हैं, जो सब जीवों पर अनुकम्पा करने वाले हैं और जिनके पापों का समूह नष्ट हो चुका है उन श्री पार्श्वनाथ भगवान् की मैं स्तुति करता हूँ ।।७।।

**अमरगुणनृपालं किन्नरीनादशालं फणिपतिकृतसेवं देवराजाधिदेवम् ।**
**असमबलनिवासं मुक्तिकान्ताविलासं विगतवृजिनयूथं नौम्यहं पार्श्वनाथम् ।।८।।**

अर्थ—जो अविनाशी गुणों के राजा हैं, किन्नरियों के मधुर गीतों से सुशोभित हैं, धरणेन्द्र के द्वारा जिनकी सेवा की गई है, इन्द्र जिन्हें अपना अधिदेव-मान्य मानता है, जो अतुल्यबल के घर हैं, मुक्ति रूप कान्ता के साथ विलास करने वाले हैं और जिन्होंने पापों का समूह नष्ट कर दिया है उन पार्श्वनाथ भगवान् की मैं स्तुति करता हूँ ।।८।।

**मदनमदहरश्रीवीरसेनस्य शिष्यैः सुभगवचनपूरैः राजसेनैः प्रणीतम् ।**
**जपति पठति नित्यं पार्श्वनाथाष्टकं यः स भवति शिवभूपो मुक्तिसीमन्तिनीशः ।।९।।**

अर्थ—काम के मद को हरने वाले श्री वीरसेन के शिष्य तथा सुन्दर वचनों के समूह से युक्त राजसेन भट्टारक के द्वारा रचित इस पार्श्वनाथाष्टक का जो निरन्तर जाप करता है, तथा पाठ करता है वह मोक्ष का स्वामी तथा मुक्ति रूपी स्त्री का वल्लभ होता है ।।९।।



---

यदि वक्ता आगम का ज्ञाता नहीं है और चारित्र को समीचीन रूप से पालन भी करता है तो भी ज्ञान से उद्धत अल्प ज्ञानियों के द्वारा समीचीन मोक्ष मार्ग की हँसी ही करावेगा ।

---

# श्री पार्श्व जिन स्तोत्र

( शृंखलायमकालंकतम् )

तोटक छन्द

अमरेश्वर-कीर्तित-कीर्तिभरं भरतेश्वरकारित बिम्बवरम् ।
वरवाणिजलोद्धृत-पापमलं मल-वर्जित-देह-महाधवलम् ॥१॥

इन्द्रों के द्वारा जिनकी कीर्ति का समूह गाया गया है, भरत चक्रवर्ती ने जिनकी श्रेष्ठ प्रतिमाएँ बनवाई थीं, उत्कृष्ट वाणीरूपी जल के द्वारा जिन्होंने पाप रूपी मल को नष्ट कर दिया था, जो मल रहित शरीर से अत्यन्त उज्ज्वल थे ॥१॥

दलिताखिल-मोह-महाद्रिहरं हरकण्ठविनीलशरीर-रुचम् ।
रुचिराकृति-हासित-विघ्नमतं मतमान-समूह-समर्च्यमहम् ॥२॥

जो पल में दलित मोह रूपी महापर्वत को हरने वाले थे, जिनके शरीर की कान्ति महादेव के कण्ठ के समान अत्यन्त नील थी, मनोहर आकृति से जिन्होंने विघ्नकारक मतों—दर्शनों को नष्ट कर दिया था, अभिमान—स्वाभिमानी मानवों के समूह से जिनके कल्याणकों की पूजा होती थी ॥२॥

महनीयपदं हतमानपदं पदनम्रभयंकर-पन्नगकम् ।
मुख-दर्पण-शोभित-पूर्णविधुं विधुरीकृत-लोभ-भुजङ्ग-गरम् ॥३॥

जिनके चरण पूजनीय थे, जिन्होंने अहंकार के स्थानों को नष्ट कर दिया था, जिनके चरणों में भयंकर सिंह नम्रीभूत रहते थे, जिनके मुखरूपी दर्पण पर पूर्णचन्द्र शोभित होता था—जिनका मुख पूर्णचन्द्र से भी कहीं अधिक मनोहर था, जिन्होंने लोभ रूपी सर्प के जहर को नष्ट कर दिया था ॥३॥

कर-पल्लव-शोभित-कोकनदं नरदेवमहानमदन्तकृतम् * ।
कृतकामुकवी कृतनीति-मार्गं गणनीयित-सद्गुणधाम-परम् ॥४॥

[illegible] ॥४॥

---

* [illegible]

परतीर्थिक–मुञ्चित–मूढपदं पदरोपण–हर्षितभोग–धरम् ।
धरणेन्द्र–फणौघ–निरुद्धजलं जलजाहितकोमल–श्रीचरणम् ।।५।।

अन्य मतावलम्बियों से जिन्होंने मूर्ख जनों के पदों—चरणों के आश्रय का त्याग कराया था अपना पैर रखने से जिन्होंने भोगधर सर्प के वेष को धारण करने वाले धरणेन्द्र को हर्षित किया था, धरणेन्द्र के फनों के समूह से जिनपर पड़ने वाला जल रुक गया था, विहार काल में जिनके कोमल श्रीचरण कमलों-देवरचित कमलों पर पड़ते थे ।।५।।

रणरागनिवारित–दुर्यवनं वन–कुञ्जरगर्जितभीम–भुवम् ।
भुवनत्रयचारुविकासकरं करपूरित–दैत्य–विलौल्यहरम् ।।६।।

जिन्होंने दुष्ट यवनों—म्लेच्छों को रण सम्बन्धी राग से दूर किया था जिनकी समीपवर्ती भूमि जङ्गली हाथियों की गर्जना से भयंकर थी, जो तीनों लोकों के सुन्दर विलास को करने वाले थे, जो विक्रिया निर्मित कर—हाथों से युक्त दैत्यों की चपलता को हरने वाले थे ।।६।।

हरशुम्भितमौलि–विलासध्रुवं ध्रुव–शक्र–समर्चितस्तोत्रमहम् ।
मह पार्श्वजिनेश्वरमीदरतं रतलोभितपाप–विशुद्धकरम् ।।७।।

जो रुद्र के शोभायमान मस्तक के विलासों की ध्रुव अवधिभूत थे—जिनके समीप रुद्र ने अपना सुशोभित मस्तक झुकाया था, जिनके स्तुतियों का उत्सव निरन्तर इन्द्र के द्वारा पूजित रहता था, जिनका रत—अनुराग ईद—लक्ष्मी को देने वाला है। ( ईं लक्ष्मीं ददातीति ईदं, ईदं रतम् अनुरागो यस्य तथाभूतम् ) और जो रत-भोग से लुभाये हुए पापी मनुष्यों को शुद्ध करने वाले हैं। ऐसे पार्श्व-जिनेन्द्र की पूजा करो ।।७।।

कर–मोक्ष–सुखे पदप्राप्तिधरं घर–संपदमुत्र सुयोगसुखम् ।
सुखमष्टककाव्यमहो मतिदं त्रिदशं भज पार्श्वजिनेशवरम् ।।८।।

तथा उसके फलस्वरूप करगत—प्राप्त हुए मोक्ष सुख में स्थान प्राप्ति को धारण करने वाले, संपत्ति एवं पारलौकिक सुयोग सुख-इष्टजनों के संयोग से प्राप्त होने वाले सुख को धारण करो। अहो भव्यजीवो ! यह अष्टक काव्य सुख कारक तथा मतिदं—सम्यग्ज्ञान को देने वाला है इसके द्वारा तुम श्री पार्श्वजिनेन्द्र की सेवा करो ।।८।।

★

# श्री महावीर स्तोत्रम्

विद्यास्पदार्हन्त्य-पदंपदं पदं-प्रत्यग्रसत्पद्म-परं परं परम् ।
हेयेतराकार-बुधं बुधं बुधं वीरं स्तुवे विश्वहितं हितं हितम् ॥१॥

संस्कृत टीका—अहं हि निश्चयेन तं प्रसिद्धं वीरं भगवन्तं—महावीरं स्तुवे-स्तौमि । कमित्याह विद्यास्पदार्हन्त्यपदं—विद्यानां निखिलज्ञानानाम्, आस्पदमाधारभूतं यद् आर्हन्त्यम्-अर्हदवस्था तस्य पदं स्थानम्, पुनः कथंभूतं ? पदपदं प्रतिचरणन्यासं, प्रत्यग्राणां नवीनानां सतां मनोहराणां पद्मानां कमलानां परं श्रेष्ठा परम्परा यस्य [illegible]। पुनश्च कथंभूतं ? हेयेतराकारौ—त्याज्योपादेयाकारौ बोधयतीति हेयेतराकारबुधस्तम्, पुनश्च कथंभूतं बुधम्-पण्डितं—केवलज्ञानिनमित्यर्थः, पुनश्च कथंभूतं ? बुधं-धीरं सौम्यं वा 'बुधस्तु सुधी धीरे सौम्ये च बुधिते त्रिषु । बुधः स्यात्पण्डिते सौम्ये बुधः क्वापि तथागते' इति विश्वलोचनः । पुनः कथंभूतं ? विश्वस्मै हितं विश्वहितं निखिलजनहितकरं संसारहितकरं वा । पुनश्च कथंभूतं ? हितम्—परमपदप्राप्तं ज्ञानवृद्धं वा । हि गतौ वृद्धौ चेति धातोर्निष्पन्नं ( क्तप्रत्ययान्तं रूपम् ) ॥१॥

अर्थ—मैं निश्चय से उन वीर—महावीर भगवान् की स्तुति करता हूँ जो कि समस्त विद्याओं के आधारभूत आर्हन्त्य—अरहन्त अवस्था के पद स्थान हैं, जिनके पद-पद—डग-डग पर नवीन एवं मनोहर कमलों की श्रेष्ठ परम्परा विद्यमान थी, जो हेय—त्यागने योग्य और अहेय—ग्रहण करने योग्य आकार को बतलाने वाले थे, जो बुध—केवलज्ञानी थे, बुध—सौम्य थे, विश्वहितं—संसार अथवा समस्त जनों के हितकारक थे, और हित—परमपद को प्राप्त अथवा ज्ञान वृद्ध थे ॥१॥

दिव्यं वचो यस्य सभा सभा सभा निर्दोष पीयूषमितं मितं मितम् ।
[illegible] सुरा मनुजासुरा सुरा वीरं स्तुवे विश्वहितं हितं हितम् ॥२॥

संस्कृत टीका—अहं हि निश्चयेन विश्वहितं हितं च वीरं स्तुवे, यस्य दिव्यं वचो, दिव्यध्वनिं, [illegible] ... [illegible] । कथंभूता सभा ? सभा—[illegible] ... [illegible]

अर्थ—मैं उन विश्वहितकारी [illegible] ... [illegible]

सुरा-अत्यन्त शोभमान अथवा असुरा—प्राणों की रक्षक—दयावन्त सभा—समवसरण भूमि, सन्तुष्ट हो गई थी—भोगाकांक्षा से रहित हुई थी ।।२।।

**शत्रुप्रमाणैरजिता जिता जिता, गुणावली येन धृता धृता धृता ।**
**संवादिनं तीर्थकरं करं करं, वीरं स्तुवे विश्वहितं हितं हितम् ।।३।।**

संस्कृत टीका—अहं हि—निश्चयेन विश्वहितं तं वीरं स्तुवे येन गुणावली-सम्यक्त्वादीनां गुणानामावली-पंक्ति धृता । कथंभूता गुणावली ? आजि—आजि विवादयुद्धमभिमुखीकृत्य आ आजि दीर्घे कृते आजि, अव्ययीभावसमासेऽव्ययसंज्ञकत्वान्निर्विभक्तिपदम् । शत्रुप्रमाणैः कुवादितर्कैः, अजिता अपराभूता, पुनः कथंभूता ? ताजितताभिः तपोलक्ष्मीभिरजिता प्राप्ता, 'अज गतिक्षेपणयोः' इत्यस्य क्तप्रत्ययान्तप्रयोगः, अथवा तैः पालनैः पालकैर्वा आजिता आसमन्तात् अजिता प्राप्ता 'पालने पालके तः स्याद्' इनि विश्वलोचनः, पुनश्च कथंभूता गुणावली ? धृताधृता—धृतैः कामादिपिशाचगृहीतैः अधृता न धृता । कथंभूतं वीरं ? संवादिनं सम्यक् वदतीत्येवं शीलस्तं श्रेष्ठवक्तारम्, तीर्थकरं—तीर्थस्य—संसार-सिन्धु-संतरणहेतोः कर्तारम्, करं—कम् आत्मसुखं राति ददातीति करः तम्, पुनः करम्—कः सूर्य इव राजते इति करः तम् 'को ब्रह्मानिलसूर्याग्नियमात्मद्योत-र्बहिषु । कं सुखे वारि शीर्षे च' इति विश्वलोचनः ।।३।।

अर्थ—मैं उन विश्वहितकारी, ज्ञानवृद्ध अथवा परमपद को प्राप्त महावीर स्वामी की निश्चय से स्तुति करता हूँ जो संवादी हैं—समीचीन वक्ता हैं, तीर्थंकर हैं,—संसार समुद्र से पार करने के हेतुभूत तीर्थ-घाट को करने वाले हैं, कर—अनन्त सुख को देने वाले हैं तथा कर—उगते हुए सूर्य के समान शोभमान हैं । साथ ही जिन्होंने उस गुणावली-गुणों की पंक्ति को धारण किया था जो आ आजि-आजि—विवाद के समय शत्रुओं—प्रतिवादियों के प्रमाणों से अजिता अपराजित थी, ताजिता—तपरूप लक्ष्मी के द्वारा अजिता-प्राप्त थी अथवा अजिता—संग्रामता से जिता—सिद्ध थी, तथा धृताधृता-धृत—कामादिपिशाच से गृहीत मनुष्य जिसे धारण नहीं कर सकते थे ।।३।।

**मयूखमालीव महामहा महा लोकोपकारं सविता विताविता ।**
**विभाति यो गन्धकुटी कुटी कुटी वीरं स्तुवे विश्वहितं हितं हितम् ।।४।।**

संस्कृत टीका—अहं हि निश्चयेन विश्वहितं हितं तं वीरं स्तुवे यः मयूखमालीव सूर्य इव विभाति शोभते । यश्च महामहाः महत् विपुलं कोटी सूर्यसदृश महस्तेजो यस्य तथाभूतः महा मान् विधीन् कर्माणीत्यर्थः हन्तीति महा-कर्महा 'मः शिवे पुंसि मश्चन्द्रे मो विधौ' इति विश्वलोचनः । लोकोपकारं भव्यजनानामुपकारं सविता जनकः 'कटं कर्ता' इतिवत् द्वितीयाप्रयोगः, विताविता-विगता सा लक्ष्मीर्येषां ते विताः निर्ग्रन्थास्तेषां अविता रक्षकः, अवधातोस्तृच् प्रत्ययान्तः प्रयोगः । गन्धकुटी—गन्धेन उपलक्षितः कुटी यस्य सः-गन्धकुटी 'कुटी वेश्मनि तु द्वयोः इति विश्वलोचनात्-कुटीशब्दस्य पुंस्यपि

संकोचो भवति । कुटी—कुटो घटः सामुद्रिकरूपेण घटचिह्नं यस्य सः कुटी घटचिह्नसहितः इत्यर्थः, पुनश्च [illegible] कुटी कूर्मवत् संकोचनशीलः संसारिकसुखपराङ्मुखः इत्यर्थः 'कुटो घटे शिलाकुट्टे कुटी वेश्मनि सु स्त्रियोः' इति विश्वलोचन ॥४॥

अर्थ—मैं उन विश्वहितकारी, ज्ञानवृद्ध अथवा परमपद को प्राप्त महावीर स्वामी की निश्चय से स्तुति करता हूं जो कि मयूखमाली-सूर्य के समान सुशोभित हैं, महामहाः—महा तेजस्वी हैं, महा—कर्मों का नाश करने वाले हैं, लोकोपकार के सविता—जनक हैं, वितावित निर्ग्रन्थ मुनियों के रक्षक हैं, गन्धकुटी—जिनका निवास स्थान गन्धलोकोत्तर सुवास से सहित है, जो कुटी—कुट-मङ्गलमय घट चिह्न से सहित हैं तथा कुटी—कूर्म के समान संकोचशील हैं—संसार सुख से विमुख हैं ॥४॥

**सारागसंस्तुत्यगुणं गुणं गुणं समाजयिष्णुं स शिवं शिवं शिवम् ।**
**लक्ष्मीवतां पूज्यतमं तमं तमं वीरं स्तुवे विश्वहितं हितं हितम् ॥५॥**

संस्कृत टीका—अहं हि निश्चयेन विश्वहितं हितं तं वीरं स्तुवे इति कर्तृ—क्रिया—सम्बन्धः । अथ कर्मतापन्नं वीरं विशेषयितुमाह—साराग संस्तुत्यगुणं—सारभूतः श्रेष्ठः यो अगः पर्वतः सुमेरुरित्यर्थः तत्र संस्तुत्याः सम्यक्प्रकारेण स्तवनीया गुणा यस्य स तं, अथवा सा लक्ष्मीः तस्यामरागा रागरहिता ये [illegible] तैः संस्तुत्या गुणा यस्य तं, अथवा सा सरस्वती तस्यां रागः प्रीतिर्येषां ते सारागा [illegible] संस्तुत्या गुणा यस्य तं 'सा पुंस्यच्चो स्त्रियां स्यात्तस्यां से श्रीश्च तेऽपि सः' इति विश्वलोचनः । गुणं—गुणयतीति सम्यग्दर्शनादि गुणस्तं । अत्र [illegible] प्रयोगः, गुणं—गुणाः सत्त्वादयः सम्यग्दर्शनादयो वा सन्ति यस्य तं 'अर्शआदिभ्योऽच्' इति मत्वर्थे अच् प्रत्ययः । समाजयिष्णुं समाजयितुं शीलः [illegible] तम् 'समाज प्रीतिसेवनयोः' इति चौरादिकधातोः ष्णुच् प्रत्ययः । सशिवं—शिवेन सुखेन सहितं, शिवं—मोक्षस्वरूपम्, शिवं—शुभस्वरूपम् 'शिवं मोक्षे शुभे जले, कुशलेऽपि' इति विश्वलोचनः । लक्ष्मीवतां—लक्ष्मी-सम्पन्नानां पूज्यतमं अतिशयेन पूज्यतमं, तमं अतिशायनेऽर्थे तमप् प्रत्ययः, तमं—[illegible] इति तमः तम् ॥५॥

अर्थ—मैं उन विश्वहितकारी, ज्ञान वृद्ध अथवा परमपद को प्राप्त महावीर स्वामी की निश्चय से स्तुति करता हूं जो कि सारागसंस्तुत्यगुण हैं—श्रेष्ठ सुमेरु पर्वत पर जिनके गुण स्तुति के योग्य हैं, [illegible] जिनके गुण स्तुत्य हैं, जो गुण हैं—त्रिभुवन [illegible] हैं, गुण हैं—सम्यग्दर्शनादि अनेक गुणों से सहित हैं, समाजयिष्णु—प्रीति शील हैं, [illegible] सहित हैं, शिव—मोक्षरूप हैं, शिव—शुभ स्वरूप हैं, लक्ष्मीवानों द्वारा पूज्यतम—जिनका [illegible] शान्ति के लिये [illegible] हैं, [illegible] हैं ॥५॥

**शिवार्थं—[illegible] सदा ।**
**[illegible] वीरं स्तुवे विश्व हितं हितं हितम् ॥६॥**

संस्कृत टीका—अहं हि निश्चयेन विश्वहितं हितं तं वीरं स्तुवे यस्य वीरस्य उपदिष्टात् उपरि द्यु सदा दिविगगने सीदति गच्छतीति द्यु सद् तेन देवैः विद्याधरैः वा, कुसुमं पुष्पं जातित्वादेकवचनम्, ववृषे वृष्टं कर्मवाच्यप्रयोगः । कथंभूतेन द्यु सदा ? आनन्दा आ समन्तात् नन्दयतीति आनन्द तेन क्विप्प्रत्ययान्तप्रयोगः, आसदा-आ सीदति आगच्छति इति आसद् तेन । सदा सर्वदा, कथंभूतं वीरम् ? सिद्धार्थसन्नन्दनं सिद्धार्थस्य तन्नामनरेन्द्रस्य समीचीनो नन्दनः पुत्रस्तम् । आनमानम, अननं प्राणनम् आनः जीवनमित्यर्थः आनमभिव्याप्य, इति आ आनं सन्धौ सति आनं, आनं मानो यस्य स तं आनमानं जीवनव्याप्य मानसहितं । पुनश्च कथंभूतं वीरं सुमं सुष्ठु मा अष्टप्रातिहार्यरूपा लक्ष्मीः यस्य स तं । पुनश्च कथं भूतं ? सुमं—सुष्ठु मा मितिः प्रमाणं ज्ञानं वा यस्य स तम् ॥६॥

अर्थ—मैं उन विश्वहितकारी, ज्ञानवृद्ध अथवा परमपद को प्राप्त महावीर स्वामी की निश्चय से स्तुति करता हूँ जो कि सिद्धार्थ सन्नन्दनम्–राजा सिद्धार्थ के श्रेष्ठ पुत्र थे, आनमानम्–जीवन पर्यन्त जिन्हें मान–आदर प्राप्त होता रहा, जिनके ऊपर आनन्दा–आनन्द से युक्त, आसदा-सब ओर से उपस्थित होने वाले द्यु सदा-देव एवं विद्याधरों ने सदा–हमेशा कुसुमं-पुष्प ववृषे–बरसाये थे, जो सुमं-श्रेष्ठ लक्ष्मी के सहित थे तथा सुमं-श्रेष्ठ प्रमाण से युक्त थे ॥६॥

**प्रत्यक्षमध्यैदचितं चितं चितं योऽमेयमर्थं सकलं कलं कलम् ।**
**व्यपेतदोषावरणं रणं रणं वीरं स्तुवे विश्वहितं हितं हितम् ॥७॥**

संस्कृत टीका—अहं हि निश्चयेन विश्वहितं हितं तं वीरं स्तुवे यः, अमेयम् अपरिमितं, सकलं सम्पूर्णं कल—कं सुखं लाति ददातीति कलः तम्, कलं—कं मृत्युं लाति ददातीति कलस्त, चितं 'त्रिलोक्यां व्याप्तं, अचितं चेतनेतरं पुद्गलादिपञ्चप्रकारं चितं चेतनं जीवमित्यर्थं प्रत्यक्षं यथा स्यात् तथा अध्येत् जानाति स्म । को ब्रह्मानिलसूर्याग्नियमात्मद्योतबर्हिषु । क सुखे वारि शीर्षे च' इति विश्वलोचनः । कथं भूतं वीरमित्याह—व्यपेतदोषावरणं—दोषा रागादयः आवरणं ज्ञानावरणं दर्शनावरणं च, व्यपेतानि दोषावरणानि यस्य तं, रण युद्धस्वरूपं कर्माणि जेतुमिति यावत् रणं–रोध्वनिः णः निर्णयरूपो यस्य स तम् 'रणः कोणेक्वणे युद्धे' 'णकारोनिर्णये ज्ञाने' इति विश्वलोचनः ॥७॥

अर्थ—मैं उन विश्व हितकारी, ज्ञान वृद्ध अथवा परमपद को प्राप्त महावीर स्वामी की निश्चय से स्तुति करता हूँ जो कि अचितं-अचेतन अर्थात् पुद्गल धर्म अधर्म आकाश और काल द्रव्य को, चितं चेतन द्रव्य को चितं–समस्त लोक में व्याप्त, अमेयं–अपरिमित–अनन्त सकलं–समस्त कलं–सुखदायक, कलं–दुःखदायक अर्थ–पदार्थ को प्रत्यक्षं प्रत्यक्ष रूप से अध्येत्–जानते हैं, जो व्यपेतदोषावरण–जिनके रागादिक दोष और ज्ञानावरणादि आवरण नष्ट हो चुके हैं, जो रण–कर्म रूप शत्रुओं को नष्ट करने के लिये रण–युद्ध रूप हैं तथा रणम्–स्पष्ट ध्वनि के सहित हैं ॥७॥

**युक्त्यागमाबाधगिरं गिरं गिरं चित्रीयिताख्येयभरं भरं भरम् ।**
**संख्यावतां चित्तहरं हरं हरं वीरं स्तुवे विश्वहितं हितं हितम् ॥८॥**

संस्कृत टीका—अहं हि निश्चयेन विश्वहितं हितं तं वीरं स्तुवे । कथं भूतं वीरमिति प्रश्ने तमेव विशेषयितुमाह—युक्त्यागमाबाधगिरं—युक्त्यागमाभ्यां तर्कागमाभ्यां अबाधा बाधरहिता गीर्वाणी यस्य स तं, गिरम्—गिरतीति गिरस्तं पापभक्षकमित्यर्थः. गिरम्—गिरः सरस्वत्याः अः ब्रह्मा पितेत्यर्थः, निर्गलिता विस्मयावहा आश्चर्यभराः पूर्वजन्मकथा समूहा यस्य तं, भरं-बिभर्तीतिभरो जगत्पालकस्तम्, भरं भान् भ्रमरान् राति आकर्षति इति भरस्तम् 'पुंसि पुष्पंधये तु भः' इति विश्वलोचनः । संख्यावतां विदुषां चित्तहरं मनोहरं हरं हरतिकर्मशत्रूनिति हरस्तम्, हरं हं दिनं राति ददातीति हरस्तं अथवा हे हरे नः कामो यस्य स तं मदनविजेतारम् इतियावत् ॥८॥

अर्थ—मैं उन विश्वहितकारी, ज्ञान वृद्ध अथवा परमपद को प्राप्त महावीर स्वामी की निश्चय से स्तुति करता हूं जिनकी वाणी युक्ति और आगम से अबाधित है, जो गिरं-पाप को निगलने वाले हैं, गिरं-गिर्-सरस्वती की उत्पत्ति के लिये अ ब्रह्मस्वरूप हैं, जिनका पूर्व कथाओं का समूह आश्चर्य को करने वाला है, जो भरं-जगत् का भरण-पोषण करने वाले हैं, भरं-स्वशरीर की गन्ध से भ्रमरों को आकर्षित करने वाले हैं, संख्यावान्-विद्वानों के चित्त को हरने वाले हैं, हरं-कर्मों का हरण करने वाले हैं तथा हरम्-दिन को करने वाले हैं-प्रकाश के कर्ता हैं ॥८॥

अध्यैष्टागममध्यगीष्टपरमं शब्दं च युक्तिं विदा-
ञ्चक्रे यः परिशीलितारिमदभिद्देवागमालंकृतिः ।
विद्यानन्दिगुरोरमरादियशसा तेनामुना निर्मितं,
श्रीमदर्हत्परमेश्वरीय-यमकस्तोत्राष्टकं मङ्गलम् ॥९॥

संस्कृत टीका—सुगम है ॥९॥

अर्थ—जिसने आगम-सिद्धान्त ग्रन्थों का अध्ययन किया, उत्कृष्ट शब्द शास्त्र-व्याकरण को पढ़ा, युक्ति-न्याय शास्त्र को जाना तथा शत्रुओं-प्रतिवादियों के मद को नष्ट करने वाले देवागम स्तोत्र के अलङ्कार स्वरूप अष्टसहस्री ग्रन्थ का परिशीलन-मनन किया है उस, विद्यानन्दि भट्टारक के शिष्य अमरकीर्ति भट्टारक ने श्री महावीर अर्हन्त भगवान का यह यमकालंकार से अलंकृत आठ श्लोकों का मङ्गलमय स्तोत्र बनाया है ॥९॥

भट्टारकः कृतं स्तोत्रं यः पठेद्यमकाष्टकम् ।
प्रोच्चैः स भवेद् भव्यो मार्गानुगतदर्शनः ॥१०॥

अर्थ—भट्टारक अमरकीर्ति के द्वारा कृत यमकाष्टक नाम इस स्तोत्र का जो भव्य निरन्तर, पाठ करता है वह [illegible] के [illegible] होता है—[illegible] सम्यग्दर्शन [illegible] होती है ॥१०॥

*

# सरस्वती स्तुतिः

[ श्री ज्ञानभूषण मुनि विरचित ]

द्रुतविलम्बित-छन्दः

त्रिजगदीश-जिनेन्द्र-मुखोद्भवा, त्रिजगति-जन-जाति-हितंकरा ।
त्रिभुवनेशनुता हि सरस्वती, चिदुपलब्धिमियं वितनोतु मे ।।१।।

जो तीन जगत् के नाथ जिनेन्द्र भगवान् के मुख से उत्पन्न हुई है, जो तीनों जगत् के जन समूह का हित करने वाली है तथा तीनों लोकों के इन्द्र जिसकी स्तुति करते हैं ऐसी यह सरस्वती मेरे लिये चित्स्वरूप की प्राप्ति करे ।।१।।

अखिलनाक-शिवाध्वनि-दीपिका, नवनयेषु विरोधविनाशिनी ।
मुनिमनोऽम्बुजमोदनभानुभा, चिदुपलब्धिमियं वितनोतु मे ।।२।।

जो समस्त स्वर्ग और मोक्ष के मार्ग की दीपिका है नौ नयों के विरोध को नष्ट करने वाली है, तथा मुनियों के मन रूपी कमलों को विकसित करने के लिये जो सूर्य की प्रभा है ऐसी यह सरस्वती मेरे लिये चित्स्वरूप की प्राप्ति करें ।।२।।

यतिजनाचरणादिनिरूपणा, द्विदशभेदगता गतदूषणा ।
भवभयातपनाशनचन्द्रिका, चिदुपलब्धिमियं वितनोतु मे ।।३।।

जो मुनिजनों के आचरण आदि का निरूपण करने वाली है, बारह भेदों में विभक्त है—द्वादशांग रूप है, पूर्वापर विरोध आदि दोषों से रहित है तथा संसार के भय रूपी आतप को नष्ट करने के लिये चाँदनी स्वरूप है ऐसी यह सरस्वती मेरे लिए चित्स्वरूप की प्राप्ति करे ।।३।।

गुणसमुद्रविशुद्धपरात्मना, प्रकटनैककथा सुपटीयसी ।
जितसुधा निजभक्त-शिवप्रदा, चिदुपलब्धिमियं वितनोतु मे ।।४।।

जो गुणों के सागर स्वरूप विशुद्ध परमात्मा को प्रकट करने वाली अत्यन्त चातुर्य पूर्ण कथा है, जिसने अमृत को जीत लिया है तथा जो अपने भक्तों को मोक्ष प्रदान करने वाली हैं ऐसी यह सरस्वती मेरे लिए चित्स्वरूप की प्राप्ति करे ।।४।।

विविधदुःखजले भवसागरे, मदजरादिकमीनसमाकुले ।
असुमतां किल तारणनौसमा, चिदुपलब्धिमियं वितनोतु मे ॥५॥

नाना दुःख रूप जल से युक्त तथा रोग और बुढ़ापा आदि मछलियों से भरे हुए संसार सागर में प्राणियों को पार करने के लिये नौका के समान है ऐसी यह सरस्वती मेरे लिये चित्स्वरूप की प्राप्ति करे ॥५॥

गगनपुद्गलधर्मतदन्यकैः सह सदा सगुणांश्चिदनेहसः ।
कलयतीह नरो यदनुग्रहात्, चिदुपलब्धिमियं वितनोतु मे ॥६॥

जिसके अनुग्रह से मनुष्य आकाश, पुद्गल, धर्म और अधर्म के साथ अपने अपने गुणों से सहित जीव और काल द्रव्य को जानता है ऐसी यह सरस्वती मेरे लिये चित्स्वरूप की प्राप्ति करे ॥६॥

गुरुरयं हितवाक्यमिदं गुरोः शुभमिदं जगतामथवाशुभम् ।
यतिजनो हि यतोऽत्र विलोकते, चिदुपलब्धिमियं वितनोतु मे ॥७॥

यह गुरु है, यह जगत् का कल्याण करने वाला गुरु का शुभ वाक्य है अथवा यह अशुभ वाक्य है । मुनिजन जिसके द्वारा इन सबको देखते हैं जानते हैं, ऐसी यह सरस्वती मेरे लिए चित्स्वरूप की प्राप्ति करे ॥७॥

त्यजति दुर्मतिमेव शुभे मतिं, प्रतिदिनं कुरुते च गुणे रतिम् ।
जडनरोऽपि यथार्पितशोधन—श्चिदुपलब्धिमियं वितनोतु मे ॥८॥

जिसके द्वारा बुद्धि रूपी धन को प्राप्त कर मूर्ख मनुष्य भी दुर्मति को छोड़ देता है, शुभ कार्य में बुद्धि लगाता है तथा प्रतिदिन गुणों में प्रीति करता है ऐसी यह सरस्वती मेरे लिए चित्स्वरूप की प्राप्ति करे ॥८॥

[illegible] नरस्य मनो रमणीजने, न रमते रमते परमात्मनि ।
यदनु[illegible] [illegible], चिदुपलब्धिमियं वितनोतु मे ॥९॥

जिसकी भक्ति के प्रताप से [illegible] मनुष्य का मन स्त्रियों में नहीं रमता है किन्तु परमात्मा में रमता है ऐसी यह सरस्वती मेरे लिए चित्स्वरूप की प्राप्ति करे ॥९॥

[illegible], [illegible] ।
[illegible], चिदुपलब्धिमियं वितनोतु मे ॥१०॥

जिसकी भक्ति से सहित मनुष्य में नाना काव्यों की रचना करने लिये तथा उनका अर्थ विचार करने में बुद्धि-प्रतिभा की उत्पत्ति होती है ऐसी यह सरस्वती मेरे लिए चित्स्वरूप की प्राप्ति करे ।।१०।।

( वसन्ततिलका छन्दः )

**योऽहर्निशं पठति मानसमुक्तभारः स्यादेव तस्य भवनीर-समुद्रपारः ।**
**युङ्क्ते जिनेन्द्रवचसां हृदये च हारः श्रीज्ञानभूषणमुनिः स्तवनं चकार ।।**

जो मनुष्य हृदय से काम विकार को दूर कर रात दिन इस स्तोत्र का पाठ करता है वह संसार रूपी समुद्र से पार हो जाता है तथा उसके हृदय में जिनेन्द्र भगवान् के वचनों का हार सुशोभित होता है—उसे जिनवाणी का अच्छा अभ्यास होता है । श्री ज्ञान भूषण मुनि ने यह स्तवन बनाया है ।।११।।



# कल्याणमन्दिर चतुर्थपादपूर्तिवीरस्तवः

**श्री लक्ष्मीसेन मुनिकृतः**

[ प्रेषक:—श्री अगरचन्द्रजी नाहटा, बीकानेर ]

श्रीमत्पवित्रचरितस्य मनोज्ञमूर्ते—रानन्दपूरपरिपूरितमानसस्य ।
पादद्वयं प्रणमतां भुवनाम्बुराशौ पोतायमानमभिनम्य जिनेश्वरस्य ।।१।।

योऽचीचलत्कनकशैलशिखां पदेन योऽबीभजत्सुरमदं रमणे शिशुत्वे ।
अद्यापि शासनमिदं जयति क्षमायां तस्माहमेष किल संस्तवनं करिष्ये ।।२।। [ युग्मम् ]

शान्तस्य चण्डकिरणस्य जिनस्य कान्त्या राहुद्विषोऽस्तमगतस्य गतस्य तुल्यम् ।
विद्वज्जनः सकलशास्त्रविदां वरस्ते रूपं प्ररूपयति किं किल घर्मरश्मेः ।।३।।

सज्ज्ञान नीरभीरनिर्मलबुद्धिर्नैवे—यत्ता सुरेन्द्रगुरुणाऽमित सद्गुणस्य ।
केन क्रियेत तव वक्त्रजवाङ्मयस्य मीयेत केन जलधेर्ननु रत्नराशिः ।।४।।

योगीश्वरैरपि तव स्तवनस्य पारं नासादितं स्फुटमलं सहसा चिकीर्षुः ।
मन्ये जनोऽयमतिहीनमतिर्वराको विस्तीर्णतां कथयति स्वधियाम्बुराशेः ।।५।।

[illegible] न नो विभावो विख्यातवाग्विबुधवाक्यकथानुगाः स्मः ।
कीरादयोऽप्यनुगिरं हि नृणां भवन्तं जल्पन्ति वा निजगिरा ननु पक्षिणोऽपि ॥६॥

त्वद्दर्शनं सकलकिल्बिषहारि हारि स्यादेव देव सुखकारि तवागमोऽपि ।
श्रान्तान् भवभ्रमणतोऽनुसृतो निदाघे प्रीणाति पद्मसरसः सरसोऽनिलोऽपि ॥७॥

चित्ताभिवस्य (?) भविनां नु चिरं प्रसक्ताः शैथिल्यतां दधति तावकनाम रूपे ।
क्रोधादयो [illegible] भवदा निकाम—मभ्यागते वनशिखण्डिनि चन्दनस्य ॥८॥

नैयन्त एव [illegible] संसारिणः प्रबलमोहनिमीलिताक्षाः ।
[illegible] किन्तेभ्य इहानुगानां चौरैरिवाशु पशवः प्रपलायमानैः ॥९॥

[illegible] विदधाति मनोहरं वै श्रोत्रामृतस्तुतिकरं स भवत्प्रभावः ।
[illegible] मृदु गुञ्जति [illegible]—[illegible] मरुतः स किलानुभावः ॥१०॥

[illegible] विविधदुःखदुर्विनेयै निन्नं किमत्र भवता विहितं ममत्वम् ।
[illegible] जिन यदपि येन वारि पीतं न किं तदपि दुर्धरवाडवेन ॥११॥

[illegible] प्राक् प्रथक्षु गुष्ठेन भो कथमनायि सुमेरुशैलः ।
[illegible] नित्यो न हन्त महतां यदि वा प्रभावः ॥१२॥

[illegible] यज्वांसि ।
[illegible] विपिनानि न किं हिमानी ॥१३॥

[illegible] प्रभवति प्रतिकागमोऽपि ।
[illegible] ननु कर्णिकायाः ॥१४॥

[illegible] न [illegible] ।
[illegible] भानुभेदाः ॥१५॥

[illegible] प्रशंसा ।
[illegible] महानुभावाः ॥१६॥

[illegible] ।
[illegible] ॥१७॥

[illegible] ।
[illegible] ॥१८॥

[illegible] ।
[illegible] ॥१९॥

येषां त्वदर्पितधियां जिन कार्मणानि छिन्नानि ते भवजलात्सहसोपरिष्टात् ।
येषां च तानि कुदृशां सुदृढानि ते च गच्छन्ति नूनमध एव हि बन्धनानि ॥२०॥

सच्चन्दनद्रुमनभोगतिमार्गसंस्था वृक्षाः सुसारहृदया इह चन्दनत्वम् ।
श्री निर्जरामर तवागममार्गगा ये भव्या व्रजन्ति तरसाप्यजरामरत्वम् ॥२१॥

ये मानवास्तव पदाब्ज युगे न नम्रास्ते प्राप्नुवन्ति किल निम्नगतिं हताशाः ।
आश्चर्यमस्ति महदीश्वर ये च नम्रास्ते नूनमूर्द्ध्वगतयः खलु शुद्धभावाः ॥२२॥

वर्षन्तमत्र हरिसङ्घघटोद्घटाभिर्नीरौघमाशु तव मूर्ध्नि सतः पिबन्ति ।
योगोत्सवे कनकविष्टरसंस्थिते यंत् चामीकराद्रिशिरसीव नवाम्बुवाहम् ॥२३॥

संसारिणो विषयरागवतः सुरस्य यात्येव देव विषयेषु च रागभावम् ।
भक्तो जिनेश किल ते विषयद्विषस्तु नीरागतां व्रजति को न सचेतनोऽपि ॥२४॥

सर्वैः सुरासुरगणै रजितस्य शत्रो मोहस्य वीर विजयं परिशंसतीव ।
मर्त्यासुरामरगणेभ्य इहाहमेवं मन्ये नदन्नभिनभः सुरदुन्दुभिस्ते ॥२५॥

आत्मस्थितान् गुणगणान्परिवर्द्धयन्तं दृष्ट्वा भवन्तमजितं विनुतं सुरेशैः ।
छत्रत्रयस्य विशदस्य विशुद्धधर्मोव्याजात्त्रिधा धृततनुध्रुवमभ्युपेतः ॥२६॥

भ्राजिष्णुना सकल निर्जर सार्वभौमक्षुद्रैरशिष्ट मतिभिः किल दुर्ग्रहेण ।
सज्ज्ञानदर्शनचरित्रगुणात्मकेन सालत्रयेण भगवन्नभितो विभासि ॥२७॥

मूर्द्धाक्षिकर्णरसनं सदनुक्रमेण पादास्यवाक्यधरणास्तवनेभ्य आशु ।
अन्यत्र नाथ भवतः परमेश्वरस्य त्वत्सङ्गमे सुमनसो न रमन्त एव ॥२८॥

रागाद्यरीनगणितानजितान् परैस्तु वृन्दारकैरसि गदादिकशस्त्रभृद्भिः ।
विश्वप्रभोऽभिनदधीश भवानशिष्टान् चित्रं प्रभो यदसि कर्मविपाक शून्यः ॥२९॥

चित्रं दधत्यविशदं तनु नश्वरञ्च देवेष्वहङ्कृतिभृतश्च तथापि ते स्युः ।
निर्मानता तव विभो किल कीर्तनीया ज्ञानं त्वयि स्फुरति विश्वविकाशहेतुः ॥३०॥

ये निर्मिताः किल सुराधमसंगमेनाषण्मासमेव भयदप्रकटोपसर्गाः ।
तैनैव नाथ तव मानसविप्लवोऽभूद् ग्रस्तस्त्वमीभिरयमेव परं दुरात्मा ॥३१॥

येनोज्झितो भुवननीरधिपोतकस्त्वं सांसारिकः सुरगणश्च समाश्रितश्च ।
सम्बन्धि विश्वजलधेर्विहितं जडेन तेनैव तस्य जिन दुस्तर वारिकृत्यम् ॥३२॥

त्वद्दीक्षितेन त्वयकैव सुशिक्षितेन चोत्थापितस्तव मतश्च जमालिकेन ।
दुर्मन्त्रवत्तु नितरां विपरीत वृत्तिः सोऽस्याभवत्प्रतिभवं भवदुःखहेतुः ॥३३॥

संसारसागरमिमं सुगमं सृजन्ति सेवन्ति ये भगवतो बहुभक्तिपीनाः ।
[illegible]पारगतद्विदावपि पादद्वयं तव विभो भुवि जन्मभाजः ॥३४॥

त्वद्ध्यानपीनमनसः करुणापरस्य भूमिस्पृशस्तव सुभक्तिमयी सुविद्या ।
वर्त्तेत यस्य हृदयौकसि वैनतेयी किं वा विपद्विषधरी सविषं समेति ॥३५॥

दुःखार्णवं [illegible] विषयैरमीभिरत्यन्त सक्तमिह तुच्छसुखप्रसक्तः ।
[illegible] भवेद्यदि न तर्हि कथं भवेऽस्मिन् जातो निकेतनमहं मथिताशयानाम् ॥३६॥

[illegible]भवेऽद्य गृहे खेदं न चेज्जिन दिशः प्रविशन्ति नूनम् ।
मिथ्यात्विनश्च मदनादयस्तपःस्थान् प्रोद्यत्प्रबन्धगतयः कथमन्यथैते ॥३७॥

कृतानि किं न भवता रसनाहितानि घ्राणादिकर्णं तनुतृप्तिकराणि नूनम् ।
[illegible] न नतस्तव कर्मबन्धो यस्मात्क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः ॥३८॥

[illegible] कथापद विरुद्धकुबुद्धिबद्धस्तूर्णं जिनेश तव सेवनया विमुक्तः ।
[illegible] पुनरपि मुहुः करुणामनन्यां दुःखाङ्कुरोद्दलनतत्परतां विधेहि ॥३९॥

किं [illegible] भगवन्त महं भवन्तं नत्वा जयेति वचनं खलु कर्मशत्रोः ।
[illegible]भिः पुनरहं ननु प्रत्तानि वन्द्योऽस्मि तद्भुवनपावन हा हतोऽस्मि ॥४०॥

[illegible] पारगताय कुर्वन्तु प्रणतिमंमेयम् ।
[illegible] मां [illegible] मानु [illegible] भयदव्यसनाम्बुराशेः ॥४१॥

[illegible] यतः [illegible]मपि [illegible] प्राप्तं पदं सुकुलजन्म सुरूपमायुः ।
[illegible] मम देव सदैव भूयाः स्वामी त्वमेव भुवनेश भवान्तरेऽपि ॥४२॥

[illegible] परिपूरित मानसास्तु त्वद्ध्यानभानु[illegible] ।
[illegible] संसारं नव विभो [illegible] भव्याः ॥४३॥

[illegible] सिद्धम् ।
[illegible] ॥४४॥

[illegible]—
[illegible] ।
[illegible]
[illegible] ॥४५॥



पू० आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज



पू० १०८ श्री श्रुतसागरजी महाराज

"जिस अमावस्या ने परमोपकारक आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज को छीनकर हम लोगों से अलग किया था उसी अमावस्या ने श्री १०८ श्री श्रुतसागरजी महाराज जैसे महान् सन्त को पैदा किया, जिनके द्वारा हमें अंधकार में प्रकाश की किरण मिली।"

# पुण्य तिथि एवं जन्म तिथि

[ रचयिता—पूज्य श्री आर्यिका विशुद्धमती माताजी ]

फाल्गुन अमावस काली
लाई दुख सुख की लाली
दिगम्बर जैनाचार्य
शिवसागर गुरुवर की
आज है पुण्य तिथि
और है आज ही
जन्म तिथि
सूरि कल्प
श्रुत के भण्डार
श्री
श्रुत सागर महाराज की
× × ×
कैसे थे शिवसागर ?
अनुपम समन्वय था
दर्शन अरु ज्ञान का
समीचीन तप
एवं
उत्कट चारित्र का
संयम स्वरूप थे
पञ्चाचार रूप थे
३६ गुण धारी के
मुख पर था
ओज तेज
अखण्ड ब्रह्मचर्य का
आगम आधार थे
प्रतिभा सम्पन्न थे
अनुपम गुणों के
अद्वितीय भण्डार थे

सम्बल थे
एक मात्र
निराधार जीवों के
वात्सल्य गुण से था
हृदय ओत प्रोत
किन्तु थे
कठोर अनुशासक
शिष्य वर्ग के
पालक थे
रक्षक थे
जगत् उद्धारक थे
सच्चे मार्ग दर्शक को
रोती है दांईं आँख
पल पल बहाती अश्रु
क्योंकि
वह चाहती है
दर्शन
पूज्य गुरुवर
श्री शिवसागर महाराज के
× × ×
अरे ! बांईं आंख भी तो
बहा रही अश्रु कण
किन्तु वे हैं
हर्ष, मोद, और
उत्साह के
क्योंकि
अन्धकार में
दिया है प्रकाश

जिनने
ऐसे श्री श्रुतसागर
जन्मे थे
आज दिन
कैसे हैं श्रुतसागर !
चारित्र पतवार के
खेवटिया आप हैं
अनुशासन प्रिय
ज्ञान ध्यान के
आधार हैं
शतायु हों
चिरायु आप
वृद्धि करें संयम की
अति शीघ्र छेद करें
सन्तति संसार की
यही शुभ भावना है
मन की विशुद्धि हो
राग द्वेष मोह त्याग
शिव के भरतार हों
× × ×
आज हैं
समक्ष नहीं
गुरुवर शिवसागरजी
किन्तु
मन मन्दिर में
यथावत्
संजोकर
रखे हैं आदेश
अरु
उपदेश अभी तक
आप चर्म चक्षुओं से
दीखते नहीं हैं
किन्तु
हृदय पटल पर
दर्श
होते साक्षातवत्
मेरा हो समाधिमरण
आप गहें
मोक्ष नगर
चरणों में करती हूँ
अर्पित श्रद्धाञ्जलि
यही वर दीजिये कि
होवे
"विशुद्ध" मन

## श्रद्धांजलि



[illegible]

[illegible]